लोकप्रियशास्त्रीयग्रन्थमाला–३

आचार्यकृष्णमाधवझा-विरचिता
आत्मतत्त्वविवेक-संक्षिप्त-व्याख्या

विवेकार्थप्रकाशिकोपेतः

संपादकः
अच्युतानन्ददाशः
संस्कृतविभागः
डॉ. सरहरीसिंहगौरकेन्द्रियविश्वविद्यालयः
सागरम्

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
मानितविश्वविद्यालयः
नवदेहली

प्रकाशकः
कुलसचिवः
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
५६–५७, इंस्टीट्यूशनल एरिया
जनकपुरी, नवदेहली–११००५८

e-mail : rsks@nda.vsnl.net.in
website : www.sanskrit.nic.in

ISBN : 978-81-86111-29-1

प्रथम संस्करण : २०१०

मूल्यम् : ४७०/– रु०

मुद्रकः
अमर प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली–९
[illegible] - [illegible]@[illegible].[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]

आमुख

श्रीउदयनाचार्यविरचित *आत्मतत्त्वविवेक* पर *विवेकार्थप्रकाशिका* व्याख्याके कर्ता समादरणीय श्रीकृष्णमाधव झा 'पण्डितजी' हमारे घरमें मेरे जन्मसे पूर्व ही आ कर निवास कर रहे थे। अतः होश सम्भालनेके साथ ही मैंने अपने घरके तीन–चार पण्डितजनोंमें एक इनको भी 'अपने पण्डितजी' के रूपमें ही जाना था। आज जब अपनी शैशवावस्थाका स्मरण करता हूँ, तो यह एक अन्य कथा है कि हम सभी भाई–बहनोंको इनसे भी पहले श्रीबबुनन्दन झा पण्डितजीके पास महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यविरचित षोडशग्रन्थकी कारिकाओंको कण्ठाग्र करने हमारे घरकी पाठशालामें नीचे बैठना पड़ता था। वयसा कुछ ज्येष्ठ हमारे किशोरावस्थावाले पित व्योंको, सम्भवतः लघुकौमुदी, श्रीमार्कण्डेय ठाकुर पण्डितजी पढ़ाते थे, श्रीकृष्णमाधव झा पण्डितजी तो हमारे ज्येष्ठतम पित व्य गोस्वामी श्रीकृष्णजीवनजी महाराजको न्यायशास्त्र पढ़ानेके लिए ही हमारे पितामह द्वारा नियुक्त थे। पण्डितजी अक्सर अपने संस्मरण सुनाते थे कि कैसे उनके मोटा मन्दिरमें रहने आने पर बारह–चौदह वर्षके मेरे पित चरण गोस्वामी दीक्षितजी अति उत्कण्ठा भरे उन्हें देखनेको उनके कक्षमें आये थे! बादमें मेरी किशोरावस्थासे ले कर युवावस्था तक हमारे घरमें विविध शास्त्रोंका अध्यापक विद्वान् यदि कोई बचा था तो एक ये थे; दूसरे, मुंबईकी एलफिन्स्टन् कॉलेजमें संस्कृतके प्राध्यापक सुखठनकर श्रीसुब्रह्मण्य शास्त्रीजी थे। क्योंकि परिवारके अधिकांश बच्चोंमें अंग्रेजी स्कूलोंमें विद्योपार्जनकी रीति चल पड़ी थी।

प्रातःस्मरणीय पण्डितजीके पास, जहां तक मुझे याद आता है, सर्वप्रथम हमारे सम्प्रदायके *'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध'* नामक ग्रन्थकी कारिकायें शुद्ध उच्चारणके हेतु मुखाग्र करने मैंने जाना शुरु किया था। ये बात तो जब मेरी पाँच या आठ वर्षकी आयु थी तबकी है। इस बीचमें पहले मेरे किशनगढ़निवास एवं बादमें नाशिकनिवास की अवधिमें इनसे सम्पर्क टूट सा गया था, चौदह–पंद्रह वर्षकी आयुमें पुनः मुंबई लौट कर आनेपर पण्डितजीके पास बैठ कर *सिद्धातकौमुदी, तर्कसंग्रह रघुवंश उत्तररामचरित किरातार्जुनीय मुद्राराक्षस* तथा *चन्द्रालोक* ग्रन्थोंको

पढ़नेका सौभाग्य मुझे मिला था, न्याय–व्याकरण आदि अनेक शास्त्रोंके पारंगत विद्वान् होनेपर भी पण्डितजी कितने सरल–कोमल हृदयके थे यह भवभूतिके उत्तररामचरित पढ़ाते समय उनके नयनों में अश्रुबिन्दु छलकनेके कारण पता चलता था। बादमें *श्रीहर्षविरचित खण्डनखण्डखाद्यके* प्रथम प्रकरणका और *अद्वैतसिद्धिके* मिथ्यात्वनिरुक्तिप्रकरणका भी अध्ययन मैंने पण्डिजीके पास किया। मुझे पढ़ाते समय पण्डितजीने ग्रन्थग्रन्थिभेदिका एक सरल व्याख्या *खण्डनखण्डखाद्य* पर लिखी थी। वो पता नहीं कैसे–कहां खो गयी! इसी तरह मेरे पित चरण द ग्गणित ज्योतिषके पक्षपाती थे और मेरे ज्योतिषशास्त्रके विद्यागुरु श्री चन्द्रशेखर चतुर्वेदीजी ग्रहलाघवकी प्राचीन परिपाटीके पक्षपाती थे। अतः हम पिता–पुत्रोंके बीच जो शास्त्रचर्चा निरन्तर चलती रहती थी, उसमें यह भी विवाद एकबार, जब मलमास आनेवाला, था, तब छिड़ गया था। अतः जब भी मुझे कुछ भी विवादास्पद शास्त्रीय विषयके बारेमें जिज्ञास्य अथवा उपपत्तिकी अपेक्षा होती तब पण्डिजीके अलावा अन्य किसके पास कुछ पूछने या जानने जाता! सो हमारे पिता–पुत्रके बीच चल रहे विवादकी कथा मैंने पण्डितजीको सुनाई और उनका अभिप्राय जानना चाहा। सन् १९५९/६० के आसपास मलमास आया था तबकी यह बात है, मिथिलामें भी तब मलमास तथा क्षयमास का विवाद छिड़ा हुआ था सो पण्डितजीने *'मलमासविचारः'* नामिका लघुपुस्तिका भी उसी समय लिख कर प्रकाशित करवायी थी। इसी अवधिमें न्यायशास्त्रके मूर्धन्यतम विद्वान् श्रीबच्चा झाके *सिद्धान्तलक्षणगूढार्थतत्त्वालोक* की सुबोधिनी व्याख्या भी पण्डितजीने लिखनी शुरु की थी। तब पण्डितजी अक्सर वाराणसीके किसी नैयायिक विद्वान्की *''श्रीबच्चा झाकी व्याख्या इतनी कठिन है कि न्यायशास्त्र पढ़ना चाहते विद्यार्थीकी ब्रह्महत्याका पाप ग्रन्थकारको लगेगा!''* ऐसी उक्तिका सोपहास स्मरण कर, उसे सुबोध बनाना चाहते थे।

पण्डितजीकी दैनिक जीवनचर्या तथा गुणगाथा

पण्डितजी शास्त्रवर्णित ब्राह्मण्यके, हमारे ही घरमें निवास करने वाले, एक मूर्तिमान् आदर्शरूप थे, पण्डितजीकी ब्राह्मणोचित स्वाध्यायनिरत जीवनप्रणाली, सरलता, निःस्प हता तथा सादगी तो स्मरणमात्रसे नयनोंके समक्ष आज भी मंडराने लगती है।

सायं–प्रातः कूपजलसे स्नान करके आर्द्र वस्त्रोंमें ग हकार्योपयोगी जल भर कर लाना, सन्ध्या–तर्पण शालग्राम तथा शिवलिंग तथा गोमतीचक्र का नित्यनियत अर्चन करना, अपने हाथोंसे ही तीन–चार रोटी बना कर सेंकना, साथमें तवेपर ही

अल्पतम मात्रामें एकाद्य कोई शाक भी बना लेना, इसी तरह रात्रिको दूधके साथ रोटी खाना, रसोईके बरतनोंको अपने हाथोंसे मांज कर चौकेको बिलकुल साफ–सुथरा रखना ये सारी जीवनप्रणाली प्रायः उसकी छोटी सी कोठरीमें पढ़ने जानेके समय अथवा कुछ जिज्ञासाके समाधानार्थ जाते समय चकित तथा पुलकित हो कर बचपनसे युवावस्था तक मैंने खूब निहारी थी, पूजा–अर्चनाके समय उनकी आध्यात्मिक भावप्रवण मुखमुद्रा तो आज भी भुलाये नहीं भूल पाता हूँ।

मुंबईके हमारे मोटा मन्दिरमें बरसों मैं एक नियम निभा पाया था कि गुरुपूर्णिमाके दिन एक धोती और सौ रुपया उनको गुरुभेंट करता था। यह बात बतानेका एकमात्र उद्देश्य यही है कि हमारे घरमें सन् १६३० के दशकमें हमारे पितामहके समय हमारे बड़े काकाजीको अध्यापनार्थ जो मानदेय पण्डितजीका निर्धारित हुआ था, वह तब तो पर्याप्त या उचित भी होगा ही, परन्तु, वर्षानुवर्ष, बढ़ती चली गयी महँगाईका विचार करनेपर मेरी युवावस्थाके समय तो वह इतनी क्षुद्र अर्थराशि रह गयी थी कि आज तो उस बारेमें सोचनेपर भी मुझे पारिवारिक लज्जाकी एवं विद्यागुरुके प्रति अपराधबोधकी अनुभूति होता है।

परन्तु पण्डितजीने कभी एक शब्द भी इस विषयमें अर्थात् बढ़ी महँगाईके सन्दर्भमें उनकी अधिक आवश्यकताके बारेमें या अर्थराशि कितनी अल्पतम थी, उसके बारेमें कोई भी उपालम्भपूर्ण कोई बात मुखतः कहनी तो दूर ध्वनित भी की हो ऐसा मुझे स्म तिपथमें नहीं आता। उन्हें आर्थिक संकोच तो कितना अधिक था यह तो इसी से जाना जा सकता है कि मुंबईकी जे.वी.एम. (जीवन वसनजी मनजी) संस्कृत महाविद्यालय जूनी हनुमान गली, कालवादेवी रोड, मुम्बई पढ़ाने जाना पड़ता था, इसी तरह जैनमुनियोंको भी पढ़ाने जाना पड़ता था, फिरभी पण्डितजीके पास हमारे घर–परिवारके कोई बालक पढ़नेकी अभिलाषा प्रकट करता तो, किसी भी तरहसे पण्डितजीको कभी किसीने श्रान्त या अनुत्सुक नहीं पाया। वस्तुतः अब इस विषयमें मुझे निश्चित ही अपराधबोध होता है, परन्तु पारिवारिक कलहसे ग्रस्त संयुक्तपरिवारके सदस्योंकी विडम्बना तो ऐसी ही निष्ठुर होती है!

एकबार गोस्वामिकुलके दूरके हमारे एक महानुभावने पण्डितजीको अपने पुत्र–पुत्रियोंको अध्यापनार्थ आमंत्रित किया और पण्डितजी कितना पारिश्रमिक लेंगे यह साग्रह पूछा, तब पहले तो पण्डितजी भावपूर्वक यही कहते रहे कि गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीके परिवारसे उन्हें पर्याप्त धनराशि मिलती है, अतः बिना किसी

पारश्रमिकग्रहणके उनके पुत्र–पुत्रियोंको अध्यापन कराने उद्यत हैं। फिरभी कितना मासिक पारिश्रमिक देना पड़ेगा इस बारेमें हठाग्रहपूर्ण जिज्ञासा रखनेवाले उन महानुभावको पण्डितजीने अन्तमें सुस्पष्ट शब्दोंमें यह कह ही दिया–

''मुझे क्या पता कि आप एतदर्थ कितना पारश्रमिक मुझे देना चाहते हो! मैं जो भी मांगूँगा उससे तो आप कुछ अधिक ही देना चाहते होंगे। सो स्वयं निर्धारित करके दे देना, मैं स्वीकार कर लूंगा!''

तब तो वे महानुभाव एक भी शब्द बिना कहे अपने घर लौट गये! प्रायः ये बात पण्डितजी इस सन्दर्भमें दोहराते रहते थे कि वे महानुभाव कैसे हमारे घरके आस्थानपण्डितको मासिक पारिश्रमिक पूछ कर हमारे परिवारकी हेठी दिखाना चाहते थे और कैसे उनकी बोलती बंद हो गयी! कहां तो हमारे परिवारके प्रति उनका इस तरहका निश्छल स्वाभिमान और आत्मीय स्नेह का मनोभाव; और, कहां हमारे परिवारमें उनके प्रति बरता गया बेदरकारीभरा व्यवहार! दोनोंका तालमेल नहीं बैठता, फिरभी ऐसे विद्यागुरुके शिष्य होनेके आत्मगौरवके मनोभावका संवरण भी शक्य नहीं है, इसलिये यह प्रसंग कह देनेको मन हुआ है।

शेषजीवनचर्यामें भी इन्हीं, आदर्शगुणोंका आजीवन निर्वाह

पण्डितजी (जन्मः सन् १८६६ देहत्याग : १६८५) के जन्मशतवार्षिकस्म ति–ग्रन्थ *कृष्णमाधवचिन्तामणि* में पण्डितजीकी विदुषी पुत्रवधू श्रीमती नीरजा रेणु किशोरनाथजीकी धर्मपत्नी *'संस्मरणक क्षण* में' से कुछ अंश यहाँ उद्ध त करना चाहूंगा, आश्चर्यजनक रूपमें पण्डितजीके एक अन्यतम विद्यार्थी होनेके रूपमें पूर्वावस्थामें उन्हें अपने घरमें निहारनेवाले मेरी और पण्डितजीकी शेषावस्थामें पुत्रवधू होने के रूपमें उन्हें अपने घरमें अतिनिकटतासे निहारनेवाली उनकी पूत्रवधूकी बातोंमें कितनी एकरूपता है! पण्डितजीकी ऐसी गरिमामयी जीवनप्रणाली उनकी आयुके शेषभागमें भी, जब वे वाराणसी–प्रयागमें तीर्थवास करने चले गये, तब भी निरन्तर बनी रही, यह कितनी उल्लेखनीय समानता है!

''जीवनक पचहत्तरिम वर्षधरि ओ एकाकी रहलाह अपन पठन–पाठन, भोजनव्यवस्था आदि सभटा स्वयं करैत रहलाह। कोनो नोकर–चाकर नहि, बिना कोनो शिष्य सहायता लेने ओ अपन रहन–सहनक पूरा व्यवस्था अपनै हाथें करैत रहलाह, स्व. बाबाका स्वावलम्बन अनुकरणीय छल. नित्य शतरुद्रीय मन्त्रसे

नर्मदेश्वरक स्नपन पूजा करैत छलाह, शालग्राम तथा गोमतीचक्रक पूजन सेहो। सारइ–भाजन अपनहि हाथें मजैत छलाह। पूजाक ठांओ सेहो अपनै हाथ करैत छलाह। घरमें बेटा–पुतोहु, पौत्र–पौत्री सभ छलनि, मुदा कहियो ककरहु भरोसे ओ पूजाक सङोर नै छोड़लनि। भोरे स्नान करैत छलाह। आ अपन कपड़ा अपनै हाथै खीचैत छलाह... कहियो–कहियो, बहुत आग्रह करैत रहियनि तँ छोड़ि दैत रहथि, मुदा मोनमें जेना एहेन भाव रहैत छलनि–कतेक करती, घरक आनो काज बहुत रहैत छैन्हि।''

(कृष्णमाधवचिन्तामणि भाग.१। प . ३६)

(पण्डितजी द्वारा लिखित निजपरिचय)

पण्डिजीने अपने निजवंशके परिचय–प्रदानार्थ कुछ श्लोक रचे हैं, यथाः–

जगन्नाथो धीमान् विमलयशसा भूषिततनुः
'भवानीदत्ता'ख्यः समजनि ततो नामगुणकः।।
स्वसुः पुत्रात् प्राप्त्वा सुविपुलधनं **माधव**न पात्
सती राज्ञी भूता कुलकमलरूपा स्य भगिनी।।१।।
तस्यानुजो **रमादत्तो** महोदारपदाभिभाक्।।
रसकौस्तुभकर्ता च **वेणीदत्तो** महान् कविः।।२।।
कृष्णदत्तः सदा पूज्यो **भवानीदत्त**देहजः।।
हरिनाथः सुतस्तस्य **'हेमदत्तो'** पराभिधः।।३।।
लक्ष्मीनाथः सुतस्तस्य **पुष्पानाथः** सदा सुखी।।
बुद्धिनाथः कनिष्ठस्तु रघुनाथो पि बुद्धिमान्।।४।।
'गोवर्धना'परं नाम **बुद्धिनाथ**स्य कथ्यते।।
ततो पि **यदुनाथो** भूत् **चेतनाथो** महान् बली।।५।।
डिम्भनाथो विमातुश्च द्वौ पुत्रौ रसवैद्यकौ।।
जीवनाथो वयोज्येष्ठो **लोकनाथो** भिषग्वरः।।६।।
गोवर्धनसुतो ज्येष्ठश् **'चोआनाथ'** पदाभिधः।।
'कृष्णमाधव' संज्ञापि मातामहकृतापरा।।७।।
कृष्णमाधवपुत्रो यं **'गुणनाथ(जगदीश)'** पदाभिधः।।
आङ्गले वचने दक्षो **गंगानाथो** ग हार्चकः।।८।।
विद्याभ्यासरतो धीमान् व द्धसेवारतः सदा।।
किशोरो पि कनिष्ठो मे मेधावी सन् सुशीलकः।।९।।

वल्लभवंश–सुपंकजसूर्यो ।।
गोकुलनाथो ह्याश्रयदो मे ।।१०।।

गोरक्षां यः सकलवयसा कृष्णसेवा च कृत्वा
नित्यां लीलां चरमसमये प्राप्तवान् वल्लभीयः ।।
तस्माद् जातो **'गिरिधर'**गिरा कथ्यमानो नुरूपो
धर्मक्षेत्रे समरविजयी भ त्यसन्तोषकारी ।।११।।

मुम्बापुर्यां निवसति ब हन्मन्दिरे चन्दिरे स्मिन्
विद्याशाला जनकसुकृता रक्षिता येन शश्वत् ।।
तस्यां मह्यं परमगुरुता द्रव्यदातुर्हि तस्य
हस्ते चाहं सविनयमिमं पुष्पहारं ददामि ।।१२।।

नरोन–वंशजातो हि **'शिवनन्दन'**नामकः ।।
जगन्नाथः सुतस्तस्य मातुलो मे विराजते ।।१३।।

मत्पूर्वजजगन्नाथसुता धर्मपरायणा ।।
पत्नी **राघवसिंह**स्य बिट्ठोग्रामे मठं व्यधात् ।।१४।।

प्रभो राघवसिंहस्य सत्या राज्ञ्या कृतं पुरा ।।
'राघवकान्तेश्वर'ग हं **मुकुन्देन** तु संस्कृतम् ।।१५।।

कोटीशत्वन्तु प्राप्तो पि मदेन रहितो ह्यसौ ।।
लोकोपकारनिरतो ग्रामशोभाविधायकः ।।१६।।

आवुत्तो मैथिलेशस्य राज्ञः **कामेश्वरस्य** हि ।।
'बिट्ठो'ग्रामनिवासी स **'मुकुन्दः'** परिकथ्यते ।।१७।।

तस्मै सपिण्डभ्रात्रे च प्रथितप्रोच्चकर्मणे ।।
साशिषं धन्यवादं च वितीर्याथ जरातुरः ।।१८।।

मूले च **'बेहट'**ग्रामे कर्महासंसमुद्भवः ।।
कृष्णमाधवशर्मा च विश्राम्यति स्वलेखनात् ।।१६।।

(कृष्णमाधवचिन्तामणि भाग.१। प . १–२)

(पण्डितजीकी प्रकाशित-अप्रकाशित कृतियां)

१. पण्डितजीकी प्रकाशित कृतियोंमें सर्वप्रथम *परमलघुम जुषातत्त्वप्रकाशिका* सन् १६४० में प्रकाशित हुयी थी।

२. *रसगंगाधरतारिणी* यह ग्रन्थ पण्डितजीने अपनी द्वितीय धर्मपत्नीके नामसे लिखना प्रारम्भ किया था परन्तु श्रीमती तारिणी देवीके महामारीके प्रकोपवश दिवंगत हो जानेके कारण पण्डिजीका उत्साह खण्डित हो गया और वह न तो पूरी लिखी जा सकी और न अपूर्ण ही अब कहीं उपलब्ध होती है।

३. *पूर्वोल्लिखित गूढार्थतत्त्वालोकसुबोधिनी* पण्डितजीकी प्रौढ़तम कृति है तथा राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान (दिल्ली) के अन्तर्भूत गंगानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठ (प्रयाग) द्वारा सन् १९८२ में प्रकाशित भी हो चुकी है। यह ग्रन्थ तो स्वयं **''न कारणात् स्वाद् बिभेदे कुमारः प्रज्वालितो दीपइव प्रदीपः''** इस कविकुलगुरु–कालिदासोक्तिको चरितार्थ करनेवाले पण्डितजीके त तीयात्मज श्रीकिशोरनाथजी द्वारा सम्पादित है। १९८४ ई. में यह व्याख्या उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ से शाङ्कर पुरस्कार से सम्मानित हुई है।

४. *मलमासविचारः* इसका विवरण दिया ही जा चुका है।

५. *अलंकारविद्योतनम्* भी हाल में प्रकाशित हो गया है।

६. *सिद्धान्तबिन्दुव्याख्या* भी पण्डितजीने लिखी थी परन्तु उपलब्ध नहीं हो पायी।

७. जैसा पूर्वमें उल्लेख किया पण्डितजी खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ जब मुझे पढ़ाना शुरु किया तब साथ ही साथ व्याख्या भी लिखने जाते थे। दुर्भाग्यवश यह व्याख्या कहां खो गयी अब पता नहीं चल रहा।

८. एक व्याख्या या टिप्पणी अब बराबर याद नहीं आता परन्तु जैनमतके श्रीवादिराजसूरिकृत *प्रमाणनयतत्त्वालोक* पर पण्डितजीने अपने आत्मजको अध्यापनके समय लिखी थी परन्तु वह भी उपलब्ध न होनेसे अप्रकाशित ही रह गयी है।

९. प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीउदयनाचार्यकृत *आत्मतत्त्वविवेकः* ग्रन्थपर पण्डितजी द्वारा विरचित *'विवेकार्थप्रकाशिका'* नामिका व्याख्या है।

(आत्मतत्त्वविवेक ग्रन्थमें प्रतिपाद्यविषय)

आत्मतत्त्वविवेक ग्रन्थ, श्रीउदयनाचार्यने, मूलमें सौगतमतको पूर्वपक्षतया स्वीकार कर लिया है। भगवान् बुद्धकी दार्शनिक मान्यताओंमें आधारशिलारूप दो अवधारणायें है :

१. प्रमाणकोटिके अन्तर्गत वेदवचनोंके पारमार्थिक प्रामाण्यका अस्वीकार।

२. प्रमेयकोटिके अन्तर्गत अनित्यतावाद। इस अनित्यवादके अन्तर्गत बाह्यार्थतया गुण–कर्माश्रयीभूत नित्य द्रव्यका अनंगीकार तथा आभ्यन्तरार्थतया नित्य चेतना रूपी द्रव्य या आत्माका भी अनंगीकार।

प्रमाणकोटिके अन्तर्गत बौद्ध मतके साथ सहमत न होनेवाले आस्तिक विचारकोंके मतमें वेदवचनोंको नित्यशब्दराशिके रूपमें मान्य किया गया है और इसी रूपमें उनका प्रामाण्य स्वीकारना पूर्वोत्तरमीमांसाओंको अभिप्रेत है। जबकि नित्यद्रव्यवादी वैदिक वचनोंको प्रमाण माननेपर भी वैदिक शब्दराशिको नित्य न माननेवालोंमें नैयायिकका मत प्रमुख है।

प्रमेयकोटिके अन्तर्गत बौद्ध मतका अस्वीकार करनेवाले आस्तिक विचारकोंमें कुछ बाह्यार्थको नित्य मानते हैं। कुछ नित्यानित्य और कुछ तो अनित्य होनेके कारण मिथ्या भी मानते हैं। परन्तु आभ्यन्तर चेतन तत्त्व सभी आस्तिक विचारकोंके मतमें नित्य या सनातन ही होता है।

न्यायमतमें कुछ जीवात्मा–परमात्मा या आकाश–काल सद श द्रव्योंको एकान्तिकतया नित्य माना गया है। इसके विपरीत कुछ द्रव्योंको उनके आरम्भक परमाणुओंके रूपमें नित्य स्वीकारनेपर भी तत्तत् परमाणुओंसे आरब्ध कार्यके रूपमें अनित्य द्रव्य स्वीकारा गया है। बौद्ध मतमें, इसके विपरीत, बाह्य–आभ्यन्तर वस्तुमात्रको **''सर्वं क्षणिकम्''** की अवधारणाके अनुसार एकान्तिकतया अनित्य स्वीकारा गया है।

अतएव *आत्मतत्त्वविवेककारने* अपने इस ग्रन्थमें सर्वप्रथम बौद्धोंके क्षणभंगवादको ही पूर्वपक्षतया चुन कर उसके निरसनार्थ अपना अग्रिम युक्तिव्यूह वादभूमिपर उपस्थापित किया है। क्योंकि नित्य कुछ भी हो ही न सकता हो तो जीवात्मा या परमात्मा को भी क्षणिक अनित्य स्वीकारना पड़ेगा, तब इस ओर वेदादि शास्त्रोंमें विहित–निषिद्ध कर्मोंके कालान्तर या देहान्तर में फलोंको भोगनेवाले कर्मकर्ताके रूपमें जीवात्मा असिद्ध हो जायेगा। उस ओर वेदादि–शास्त्रोंद्वारा जीवात्माओंके कर्मोंका उपदेशक तथा कर्मफलोंके प्रदाता होनेके रूपमें परमात्मा भी असिद्ध हो जायेगा। यों वेदादि शास्त्रोंमें विहित–निषिद्ध कर्मोंकी पुण्य–पापरूपता भी निरस्त हो जायेगी।

निष्कर्षरूपेण यद्यपि भगवान् बुद्धने मूलतः ''वेद प्रमाण हैं या नहीं?'' ऐसे प्रश्नको अव्याकरणीय माना है तथापि अर्थापत्तिद्वारा वेदका अप्रामाण्य सिद्ध हो ही

जाता है अतः अनुपादेयतया व्याकरणीय बना देनेका युक्तिचातुर्य प्रदर्शित किया है जो सफल हो जाता है। एतदर्थ वेदादि शास्त्रोंके वचनोंके प्रामाण्यसिद्धिपूर्वक प्रमेयसिद्धिके व्यायाममें उलझनेके बजाय अनिराकरणार्ह प्रमेयकी सिद्धिद्वारा वेदादि शास्त्रोंके प्रमाण्यसिद्धिकी प्रयोजनपूर्त्यर्थ ग्रन्थकार प्रव त्त हुवे हैं। अतएव *आत्मतत्त्वविवेक* और *न्यायकुसुमा जलि* रूप दो वादग्रन्थ श्रीउदयनाचार्यने प्रकट किये। ये दोनों ही ग्रन्थ आस्तिक–नास्तिक दर्शनोंके बीच चलती दीर्घकालिक विचारयात्रामें अतिमहत्त्वपूर्ण क्रोशस्तम्भके जैसे हैं।

(आत्मतत्त्वविवेक ग्रन्थपर उपलब्ध होती व्याख्यासामग्री)

इस ग्रन्थपर विद्वान् श्रीकिशोनाथजीके अनुसार ६/७ व्याख्या लिखी गयी होनेके उल्लेख मिलते हैं। सम्प्रति, श्रीशंकर मिश्रकी कल्पलता, श्रीराम तर्कालंकार भट्टाचार्यकी टिप्पणीसमेत श्रीरघुनाथ शिरोमणिकी *दीधिति* श्रीभगीरथ ठक्कुरकी *प्रकाशिका पण्डित श्रीनारायणकी नारायणी व्याख्या उपलब्ध तथा प्रकाशित भी हैं, इन व्याख्याओंमेंसे कल्पलता, दीधिति तथा प्रकाशिकाका पण्डितजीके आत्मज श्रीकिशोरनाथ झाने परिश्रमपूर्वक कुशल सम्पादन करके प्रस्तुत आमुखलेखके पित चरणद्वारा स्थापित श्रीवल्लभविद्यापीठ–श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट कोल्हापुर द्वारा प्रकाशित भी करवा दी हैं।*

यह अतीव हर्ष एवं सन्तोष का विषय है कि अब इसी *आत्मतत्त्वविवेक* ग्रन्थपर पण्डितजीकी अद्ययावत् अप्रकाशित *विवेकाप्रकाशिका* व्याख्याका भी प्रकाशन होने जा रहा है। इसका सम्पादन, सौम्यताके मूर्तिमान् रूप विद्वान् प्रिय श्रीअच्युतानन्द दाशने किया है। पश्चात् उनकी वधूने संस्थान प्रकाशनार्थ दिया है। राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय) के गुणग्राही कुलपति आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठीने इसके प्रकाशन की व्यवस्था की है। इसके प्रकाशनसे *आत्मतत्त्वविवेक* ग्रन्थके अध्ययनार्थी जनोंका महान् उपकार सिद्ध होगा इसमें तो किसी तरहके संशयको अवकाश ही नहीं है। एतदर्थ सम्बद्ध सभी महानुभावोंको हमारे हार्दिक अभिनन्दन!

गोस्वामी श्याम मनोहर
(दिनांकः १/१२/२००६)

६३, स्वस्तिक सोसायटी,
४ था रस्ता, जुहुस्कीम,
पारले (प.), मुंबई. ४०० ०५६

व्याख्याकारस्य परिचयः

नाम — कृष्णमाधव झा

पिता — पण्डित गोवर्धन झा

जन्म — चैत्रशुक्लप्रतिपत् १३०६ साल (यावनाब्दः) तदनु १८६६ ख्रीष्टाब्दः।

स्थायीपत्रसङ्केतः — ग्राम — बिट्ठो, पत्रालयः — सरिसब–पाही, मण्डलम्–मधुबनी, पिन–८४७४२४ (बिहार)

शैक्षिकीयोग्यता — न्यायाचार्यः (क्वीन्सकॉलेज वाराणसी) व्याकरणोपाध्यायः (बिहार)

अध्ययनकालः — ख्रीष्टाब्दः १६१८–१६२७, वाराणस्याम्

अध्यापकाः — म.म. वामाचरणभट्टाचार्यः म.म. फणिभूषणतर्कवागीशः, पण्डितराजराजेश्वरशास्त्री, महावैयाकरणः प. दीनबन्धुझा, शास्त्रार्थमार्तण्डः प. मार्कण्डेयमिश्रः।

आश्रयदाता — मुम्बईमहानगरस्थितः प्रातः स्मरणीयः गोस्वामीगोकुलनाथ जी महाराजः (गोविन्दभुवन) बड़ामन्दिर भूलश्वेर, मुम्बई ४००००२, (१६१८ तः १६७२ ख्रीष्टाब्दं यावत्)।

प्रकाशिताः कृत्यः — १. परमलघुम जूषायाः प्रकाशिकाव्याख्या २. अलङ्कार–विद्योतनम्। ३. मलमासविचारः। ४. सिद्धान्तलक्षणस्य धर्मदत्त (बच्चा) झा कृत गूढार्थतत्त्वालोकव्याख्यायाः व्याख्यासुबोधनी।

शिष्याः — गोस्वामीकृष्णजीवनजी, गोस्वामी श्रीश्याममनोहरजी, गोस्वामी श्रीरमेशजी, गोस्वामी श्रीअनिरुद्धलालजी, प. साम्बशिवनर–सिंहगुल्लपिल्ली, प. रामसुखपाण्डेय, प. माधवाचार्यः (वड़गादी, मुम्बई) प. आत्मारामद्विवेदी, प. सूर्यवल्लीद्विवेदी, प. शत्रुघ्नझा, प. नित्यानन्दझा, डा. किशोरनाथझा, डा. उदयनाथझा अन्ये च।

सम्मानः — (क) उत्तरप्रदेश संस्कृतसंस्थान लखनऊतः सिद्धान्तलक्षणस्य सुबोधनीव्याख्या (१६८४ ख्रीष्टाब्दे) शाङ्करपुरस्कारमलभत।

(ख) अस्मिन्नेव वर्षे पटनाचेतनासमितितः ताम्रपत्रेण सदक्षिणाकेण ऊर्णोत्तरीयेण सम्मानितः।

वैकुण्ठवासः — फाल्गुनशुक्लचतुर्दश्यां तदनु मार्च ५, १६८५ ई. स्वकीय–ग्रामस्थितावास एव।

विषयसूची

लोकप्रियशास्त्रीयग्रन्थमाला–३

आचार्यकृष्णमाधवझा-विरचिता

आत्मतत्त्वविवेक-संक्षिप्त-व्याख्या

विवेकार्थप्रकाशिकोपेतः

संपादकः

अच्युतानन्ददाशः

लोकप्रियसाहित्यग्रन्थमाला–९

मञ्जुनाथग्रन्थावलिः

(मञ्जुनाथोपाह्वभट्टश्रीमथुरानाथशास्त्रिणां काव्यरचनानां सङ्ग्रहः)

प्रथमभागे

द्वितीयखण्डः

साहित्यवैभवम्

साहित्यवैभवम्

विवेकार्थप्रकाशिकोपेतः

अच्युतानन्ददाशः

श्रीमदुदयाचार्यप्रणीतः

आत्मतत्त्वविवेकः

आचार्यकृष्णमाधवझाप्रणीतया विवेकार्थप्रकाशिकया सहितः

अथ प्रथमपरिच्छेदः

क्षणभङ्गवादः

स्वाम्यं यस्य निजं जगत्सु जनितेष्वादौ ततः पालनं
व्युत्पत्तेः करणं हिताहितविधिव्यासेधसम्भावनम्।
भूतोक्तिः सहजा कृपा निरुपधिर्यत्नस्तदर्थात्मक-
स्तस्मै पूर्वगुरूत्तमाय जगतामीशाय पित्रे नमः।।

स्वाम्यं यस्य निजं जगत्सु इति। यस्य ईशस्य आत्मनः **स्वजनितेषु** जगत्सु लोकादिषु पुत्रादिषु पितुरिव **आदौ** = प्रथमतः, **स्वाम्यम्** = यथेष्टविनियोगाधिकारः। **निजम्** = स्वाभाविकम् । **ततः** = तदनन्तरम् पितुरिव **पालनम्** = हितोपदेशसदाचरणादिना भोजनाच्छादनचिकित्सादिना च रक्षणम्। **व्युत्पत्तेः करणम्** = यथा पुत्रान् अध्यापनादिना व्युत्पादयति बुद्धिं वर्धयति पिता तथा ईश्वरो पि प्रयोज्यप्रयोजकदेहभेदम् आश्रित्य प्राणिनो गवादिपदसमुदाये पटादिनिर्माणे च व्युत्पादयति। एकत्र शक्तिं ग्राहयति, अन्यत्र शिक्षयति। **हिताहितविधिव्यासेधसंभावनम्**। एवं 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधिना हितं कल्याणकरं, स्वर्गादिहितस्य ज्ञापनम्। 'न कल जं भक्षयेद्' इत्यादिना निषेधविधिना कल जादिभक्षणादिकं निषेधति। हिताहितम् उपदिश्य ज्ञापयति। पितापि हितम् उपदिशति अहितं च निषेधति। **भूतोक्तिः** = पितुः यथा पुत्रान् प्रति विधिनिषेधयोः सत्योक्तिः, तथैव ईश्वरस्यापि सत्योक्तिः। तस्य अप्रतारकत्वात्।

नन्वत्र ईश्वरस्य सत्योक्तौ किं मानमिति चेद् ? अत आह – **सहजा।** सत्योक्तिधर्मिग्राहकमानेन आप्तत्वे सिद्धे भ्रमप्रमादविप्रलिप्साविरहात् तदुक्तिः सत्या बोध्या। स्वप्रयोजनासत्त्वे पि परदुःखप्रहाणेच्छया अस्य ईश्वरस्य जीवान् प्रति **कृपा** भवति, दया भवति।

ननु परं दुःखिनं द ष्ट्वा स्वस्मिन् दुःखोत्पत्तिरिति चेत्? न। तस्याः परहितेच्छारूपायाः कृपाया उपाधिरहितत्वात्। **निरुपधिः।** उपाधिश्च स्वहितानु–

सन्धानम्, तच्छून्यत्वम् ईश्वरयत्ने वर्त्तते। ईश्वरेच्छाजन्यस्य यत्नस्य नित्यत्वेन कारणाजन्यत्वात्। उपाधिरूपं स्वहितानुसन्धानं च करणम्। **निरवधि**पाठे तु अवधिः सीमा, तच्छून्या। ईश्वरयत्नस्य नित्यत्वेन सर्वपुरुषीयः सः सकलहितविषय–कत्वात्।

ननु जगत्कर्तुरीश्वरस्य ताद शदया सत्त्वे न को प्यस्मिन् संसारे दुःखी स्यात्। ताद शदयया सर्वान् सुखिन एव स स जेद् इति चेत् ? न। कार्यस्य सामग्रीव्यापकत्वेन सामग्रीघटकतया अद ष्टस्य पतितत्वात्। अद ष्टसापेक्ष ईश्वरः स ष्टिं करोति इति सिद्धान्तात् संसारस्य सुखित्वदुःखित्वादिना वैषम्योपपत्तेः। ईश्वरयत्नो पि तदर्थात्मकः। तत् जन्माद्युक्तिपर्यन्तम् अर्थः प्रयोजनं यस्य स एव आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा। अथवा तस्याः कृपायाः अर्थः परदुःखप्रहाणं तदात्मको यत्नः। **पूर्वगुरूत्तमाय** = पूर्वगुरवो मनुकपिलादयः, तेभ्यः उत्तमाय तेषामपि जनकायेति भावः। अथवा ईश्वर एव वेदवक्ता तदनुस्मर्त्तारः मन्वादयः। अत एवोत्तमत्वं तेषां बोध्यम्। **पित्रे** = अविप्रलम्भकाय इत्यर्थः।

एव च रूपकस्य उपमाभेदत्वेन रूपकतानिर्वाहाय पित साम्यम् ईश्वरे दर्शितं **स्वाम्यम् इत्यादिभिः**। अत्रोपमानं पिता (विषयी) ईश्वरश्चोपमेयः (विषयः)। 'मुखं चन्द्रवत्' बोध्यम्। एतेन ग्रन्थकर्तुरीश्वरविषयकभावो व्यङ्ग्यः। कि च यथा पिता पुत्रान् हितेष्वेव नियुङ्क्ते तथैव मामपि ईश्वरो नियु जीत इत्यपि लभ्यते। नमस्कारश्च नमःपदेन लभ्यः। नमःपदयोगे पित पदाच्चतुर्थीत्यलम्।

इह खलु निसर्गप्रतिकूलस्वभावं सर्वजनसंवेदनसिद्धं दुःखं जिहासवः सर्व एव तद्धानोपायमविद्वांसो नुसरन्तश्च सर्वाध्यात्मविदेकवाक्यतया तत्त्वज्ञानमेव तदुपायमाकर्णयन्ति न ततो न्यम्। प्रतियोग्यनुयोगितया च आत्मैव तत्त्वतो ज्ञेयः। तथाहि यदि नैरात्म्यं यदि वात्मास्ति वस्तुभूतः उभयथापि नैसर्गिकमात्मज्ञानमतत्त्वज्ञानमेव इत्यत्राप्येकवाक्यतैव वादिनामत आत्मतत्त्वं विविच्यते।

प्रेक्षावतां प्रव त्तये प्रयोजनाभिधेयसंबन्धान् आह – **इह** इत्यादिना **विविच्यते** इत्यन्तेन। प्रयोजनम् अपवर्गः। अभिधेयम् आत्मतत्त्वम्। सम्बन्धो ग्रन्थात्म–तत्त्वज्ञानापवर्गाणां हेतुहेतुमद्भावः। अधिकारी मुमुक्षुः कथकश्च। ग्रन्थात्मतत्त्वयोः ज्ञाप्यज्ञापकभावः। प्रतिकूलस्वभावं दुःखं सर्व एव जानन्ति। संसारपतितानां च सुखानि दुःखानि च चक्रवत्परिवर्तन्ते। एकान्ततः तद्धानोपायं न सर्वे जानन्ति। दुःखप्रागभावासमानकालीनध्वंसः दुःखात्यन्ताभावरूपो वा मोक्षः कथं नः (अस्माकम्) स्यात्, येन प्रतिकूलवेदनीयं दुःखं न भवेदिति अनुसन्धानेन 'तमेव विदित्वा अतिम त्युमेति, नान्यः पन्था विद्यते अयनाय' इति श्रुतिसिद्धं सर्वशास्त्राणाम् ऐकमत्येन च सिद्धम्।

आत्मतत्त्वज्ञानमेव मोक्षोपायभूतम् आमनन्ति अवधारयन्ति च। आत्मानम् अधिकृत्य प्रवर्तते इत्यध्यात्मं शास्त्रम्। एकवाक्यता ऐकमत्यम्। सर्वतान्त्रिकसिद्धं तत्त्वज्ञानस्य मोक्षोपायत्वमिति ज्ञेयम्। न ततो न्यस्तदुपायः।

ननु तत्त्वज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वे आत्मनिरूपणं किमर्थं क्रियते इति चेत्? बौद्धा नैरात्म्यज्ञानं तत्त्वज्ञानमाहुः। अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानं कारणमिति प्रतियोगितया आत्मनिरूपणम्। शरीरादिभिन्न आत्मेतिवादिमते अनुयोगितया तन्निरूपणम्। विषयतया ज्ञानं प्रति तादात्म्येन विषयस्य कारणत्वात्। ननु अहं गौर इत्यादिप्रकारकम् आत्मज्ञानम् अयत्नसिद्धम् एव इति किमर्थं तदर्थप्रयासेन इति चेत् ? न। अस्य शरीरविषयकत्वेन तत्त्वज्ञानाभावात्। न च 'अहं सुखी' इत्यादि ज्ञानं तत्त्वज्ञानमिति वाच्यम्। एतस्य मिथ्याज्ञानानिवर्तकत्वेन मोक्षोपायत्वाभावात्। अतत्त्वज्ञानमेव तत् कार्याक्षमत्वात्। 'अहं सुखी' इत्यादिकं तत्त्वज्ञानं बलवता मिथ्याज्ञानसन्तानेन तिरस्कृतं न मोक्षरूपकार्यं जनयति। अतः सकलदुःखप्रहाणाय आत्मैव तत्त्वतो ज्ञेयः। आत्मा च देहादिभिन्नः अनादिनिधनः ज्ञानादिमान्। यस्तु वस्तुभूतः अनुयोगितया ज्ञेयः। नैरात्म्यज्ञानं तत्त्वज्ञानमिति बौद्धमते प्रतियोगितया आत्मा ज्ञेयः। आत्मनिरूपणं विना तज्ज्ञानं न संभवति। तस्माद् आत्मतत्त्वमस्मिन् ग्रन्थे विविच्यते।

तत्र बाधकं भवदात्मनि क्षणभङ्गो वा बाह्यार्थभङ्गो वा गुणगुणिभेदभङ्गो वा अनुपलम्भो वेति।

ननु सति बलवत्तरबाधकप्रमाणे साधकसहस्रम् (प्रमाणम्) अपि अकिंचित्करम्। प्रतिबन्धकाभावस्य सामग्रीघटकत्वात्। अतस्तदेवादौ निरस्यति – **बाधकं भवत् क्षणभङ्गो वा** इत्यादिना। तथा च 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिश्रुतिभ्यः समधिगते पि आत्मनि (सङ्कसुकतायाः) अस्थिरतायाः निव त्तये न्यायः प्रवर्तनीयः। स च न्यायः बाधनिरासमन्तरेण नाङ्गं धारयति। अतः पूर्वमेव बाधनिरास इत्यभिप्रायः दर्शितसन्दर्भस्य। क्षणभङ्गादिपदं च तत्साधकप्रमाणपरम्। तत्र क्षणभङ्गे नित्यत्वभङ्गः। सर्वेषां पदार्थानां क्षणभङ्गात्मकत्वे प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वं नित्यत्वं न कस्यापि पदार्थस्य सिद्ध्येत्। सर्वेषां तेषां ध्वंसप्रतियोगित्वात्। तथा च नित्यात्मापि न सेत्स्यति इति आत्मैव तत्त्वतो ज्ञेय इति ग्रन्थो न सङ्गच्छते।

आत्मवादिनस्तु स्तनन्धयस्य स्तन(दुग्ध)पाने प्रथमप्रव त्त्या नित्यात्मानं साधयन्ति। प्रव त्तौ च इष्टसाधनताज्ञानं कारणम्। जानाति, इच्छति, यतते इति सर्वे आमनन्ति। यत्नाच्च प्रवर्तन्ते। न तस्मिन् समये तस्य इष्टसाधनताज्ञानं संभवति। आत्मनित्यत्ववादिमते जीवस्य अद ष्टोद्बुद्धसंस्कारस्य जन्मान्तरीयानुभवजन्यस्य नित्यात्मनि तस्मिन् स्तनन्धये सत्त्वेन स्तनपाने तस्य प्रव त्तिरुपपद्यते। ताद शसंस्कार–

जन्येष्टसाधनतास्मरणात्मकज्ञानस्य स्तनन्धये सत्त्वादिति वदन्ति।

नैरात्म्यद ष्टिं मोक्षस्य हेतुं केचन (बोद्धाः) **मन्वते।**
आत्मतत्त्वधियं त्वन्ये न्यायवेदानुसारिणः।।

सर्व एव हि भोगभाजः स्थिरतरमात्मानं मन्वानाः सुखादिकं कामयन्ते। यदाहुः –

सुखी भवेयं दुःखी वा माभूवमिति त ष्यतः।
यैवाहमिति धीः सैव सहजं सत्त्वदर्शनम्।। इति।

सत्त्वम् = आत्मा। सत्त्वं प चस्कन्धाः इति बौद्धाः। कामयमानाश्च सुखादिकं विहितं निषिद्धं वा साधनस्य अनुतिष्ठन्तः कर्माशयान् (धर्माधर्मान्) आचिन्वानाः जन्मादिकमनुभवन्ति। अतः कथं तेषां मोक्षः संभवति? यदि पुनरमी किमपि नाहम्। नाहमास्पदमस्ति कि चिदपि वस्तु स्थिरम्। विश्वमेव क्षणभङ्गुरम् अलीकं वेति अवधारयेरन्, न किमपि कामयेरन्। न चाकामयमानाः केचिदपि प्रवर्तन्ते। न चाप्रवर्तमाना अपि कर्माशयेन बध्यन्ते। न चान्तरेण कर्माशयं संभवो भोगस्येति भवति नैरात्म्यदर्शनं साधनम् अपवर्गस्येति केचित् (बौद्धाः)।

नैयायिकाः वेदानुसारिणस्तु अनादिनिधनमात्मानं पूर्वोक्तरीत्या न्यायादिना निर्णयन्तः तदीयं तत्त्वज्ञानमेव न्यायागमाभ्यां मोक्षहेतुमाचक्षते। ''ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'', ''तमेव विदित्वा तिम त्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'' इत्यादिश्रुतयस्तत्र प्रमाणीभूताः वर्तन्ते। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिकं तस्य लक्षणं चामनन्ति। तस्मात् सिद्ध्यति आत्मवस्तु लक्षणप्रमाणाभ्याम्।

'नित्यमात्मा', 'नास्त्यात्मा' चेति विप्रतिपत्तिवाक्यम् आत्मनि सन्देहम् उत्पादयत् आत्मतत्त्वं निश्चेतुं प्रवर्तमानानां निश्शङ्कं प्रव त्तिं रुणद्धि। सन्देहश्च एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धकोटिद्वयावगाहिज्ञानम्। स च समानबलोपस्थित्योः कोटिद्वयविषयकयोः भवति, न तु विषमबलयोस्तयोः उपस्थित्योः। भङ्गसाधकमानाद् भङ्गार्थसिद्धिरेव स्थिरत्वे बाधिकेति। सति बाधके नात्मनि स्थिरत्वसिद्धिरिति नित्यात्मत्वकोटि–कोपस्थितेर्दौर्बलत्वे समानबलत्वाभावात् आत्मा नित्यो न वेति, पदार्थः स्थैर्यवान् न वेति सन्देहानुदयेन नैरात्म्यज्ञानमेव मोक्षोपयोगि।

तदेव तत्त्वज्ञानं नात्मज्ञानं तत्त्वज्ञानमिति मनसिकृत्य **क्षणभङ्गो वा बाह्यार्थभङ्गो वा गुणगुणिभेदभङ्गो वा अनुपलम्भो वेति** नित्यात्मनि चत्वारो विकल्पाः नित्यात्मनः भवन्ति बाधका इति पूर्वपक्षतयैतान् अवतारयति ग्रन्थकृद्–**उदयनः**। तत्र क्षणभङ्गो वेत्यनेन स्थिरत्वे बाधः प्रदर्शितः। बाह्यार्थभङ्गमानात् बाह्यार्थासिद्धिः। गुणगुणिभेदभङ्गमानाद् गुणगुणिभेदासिद्धिश्च ज्ञानसुखाद्याश्रयात्म–

बाधः प्रदर्शितः। अनुपलम्भमानात् सर्वेषां पदार्थानामनुपलम्भसिद्धिः, आत्मन उपलम्भे बाधिका। एवं च न को पि पदार्थो नित्यः क्षणभङ्गादिति सिद्धौ न पराभिमतात्मा स्थिरो भवितुमर्हति। तस्यापि सर्वपदार्थान्तर्गतत्वात्। क्षणभङ्गश्च क्षणिकत्वम्। तच्च स्वाधिकरणसमयप्रागभावाधिकरणक्षणानुत्पत्तिकत्वे सति कादाचित्कत्वम्। स्वाधिकरणक्षणव त्तिध्वंसप्रतियोगि–अव त्तित्वं वा। क्षणत्वं च स्वव त्तिध्वंसप्रतियोग्यनारम्भ–त्वम्।

तत्र न प्रथमः प्रमाणाभावात्। यत् सत् तत् क्षणिकं यथा घटः संश्च विवादाध्यासितः शब्दादिरिति चेत्, न प्रतिबन्धासिद्धेः।

तत्र = क्षणभङ्गो वेत्यादि चतुर्षु बाधकेषु मध्ये **न प्रथमः**। न क्षणभङ्गो वेति प्रथमः बाधः संभवति। **प्रमाणाभावात्** = पदार्थानां क्षणभङ्गे (क्षणिकत्वे) प्रमाणस्य असत्त्वात्। पदार्थानां क्षणिकत्वे बौद्धाचार्यः **ज्ञानश्रीमित्रः** प्रमाणम् उपन्यस्यति – '**यत् सत् तत् क्षणिकं, यथा जलधरः सन्तश्च भावा इमे**' इत्यादि पद्यं द्रष्टव्यम्। यथा घटः संश्च विवादाध्यासितः शब्दादिः। बौद्धश्च अनुमितिकारणं व्याप्तिः, पक्षधर्मताज्ञानं च तज्जनकम् उदाहरणमुपनयश्च। तयोर्द्वयोरेव न्यायत्वमिति उदाहरणोपनयद्वयावयववादी बौद्धो भवति। अतः यत् सत् तत् क्षणिकम्, यथा घटः इत्युदाहरणं प्रदर्शितम्। संश्च विवादाध्यासितः शब्दादिरित्युपनयः प्रदर्शितः। तथा च शब्दादिः स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरकालीन–ध्वंसप्रतियोगी न वेति विप्रतिपत्तौ विधिकोटिः बौद्धानाम्, निषेधकोटिः नैयायिकानाम्। नैयायिकाः योग्यविभुगुणानां स्वोत्तरगुणनाश्यत्व–मभ्युपगच्छन्ति। शब्दश्च त तीयक्षणव त्ति ध्वंसप्रतियोगी भवति न प्रथमक्षणव त्ति–ध्वंसप्रतियोगीति वदन्ति। **शङ्कर- मिश्रा**स्तु सत्त्वमुत्पत्तिव्याप्यं न वा, भावः स्वोत्पत्त्य–व्यवहितोत्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगी न वेति विप्रतिपत्तिं वदन्ति। द्वितीयप्रतिपत्तौ एकदेशिमतेन अन्त्यशब्दे नैयायिकस्य विधिकोटिः प्रसिद्ध्यति निषेधकोटिश्च अलीके सौगतानां मते प्रसिद्ध्यति। प्रथमविप्रतिपत्तौ विधिकोटिः सौगतानाम्। निषेधकोटिः नैयायिकानाम्। सत्त्वस्य उत्पत्तिव्याप्यत्वसिद्धौ आत्मापि न नित्यः स्यात्। तस्यापि सत्त्वान्तर्गतत्वात्। उत्पत्तिमांश्चानित्य एव। **दीधिति**कारैस्तु सत्त्वमुत्पत्तिव्याप्यं न वेत्यादिकं तु न युक्तम्। तथा सति सत्त्वादेरेव उत्पत्तिव्याप्यत्वादिकस्य साधयितुम् उचितत्वादिति खण्डितम्। शब्दादिः क्षणिको न वेति व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता तेन। **संश्च विवादाध्यासितः शब्दादि**रिति ग्रन्थ एव तत्र प्रमाणमित्युक्तम्।

आत्मतत्त्वविचारस्य प्रस्तुतत्वेन आत्मविचारः कर्तव्यः। तथा च आत्मा नित्यो न वा इत्यत्र आत्मा न नित्यः क्षणिकत्वाद् इति खण्डयन्ति बौद्धाः। आत्मा च सन्निति प्रकृतोपयोगित्वेन सत्त्वम् उत्पत्तिव्याप्यं न वेति विप्रतिपत्तिमुपदर्शितवान् **शङ्करमिश्रः।** शब्दादिः क्षणिको न वेति मूलोक्तादिपदग्राह्यं सत्त्वादिकं

बोध्यम्। तत्र शब्दस्य प्रथमोपादानं पदार्थानां क्षणिकत्वसिद्धये। अन्त्यशब्दे क्षणिकत्वं नैयायिका अपि स्वीकुर्वन्ति। प्रथमत्यागे मानाभाव इति मत्त्वा **रघुनाथशिरोमणयः** शब्दः क्षणिको न वेति वदन्ति। **यत् सत् तत् क्षणिकमिति** खण्डयितुमाह – **इति चेत् ? न** इति, मूलम्। तत्र युक्तिमाह – **प्रतिबन्धासिद्धेरिति**। प्रतिबन्धो त्र व्याप्तिः, तस्याः क्षणिकत्वनिरूपिताया असिद्धेरित्यर्थः। तथाच सत्त्वे क्षणिकत्वनिरूपित–व्याप्त्यसिद्ध्या आत्मा पदार्थो वा क्षणिकः सत्त्वाद् इत्यनुमानं न पदार्थानां क्षणिकत्वे प्रमाणं भवितुमर्हति। क्षणिकत्वनिरूपिता व्याप्तिः अन्त्यशब्दत्वादौ प्रसिद्धा सत्त्वे प्रतिषिध्यते इति नाप्रसिद्धिः।

सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गेण भेदसिद्धौ तत्सिद्धिरिति चेत्। न, विरुद्धधर्मसंसर्गासिद्धेः। प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां तत्सिद्धिरिति चेत्। न, सामर्थ्यं हि करणत्वं वा, योग्यता वा। नाद्यः, साध्याविशिष्टत्वप्रसङ्गात्। व्याव त्तिभेदादयमदोष इति चेत्। न, तदनुपपत्तेः। व्यावर्त्यभेदेन विरोधो हि तन्मूलम्।

स च न तावन्मिथो व्यावर्त्यप्रतिक्षेपाद् गोत्वाश्वत्ववत्। तथा सति विरोधादन्यतरापाये बाधासिद्ध्योरन्यतरप्रसङ्गात्।

ननु कुसूलस्थबीजं नाङ्कुरं जनयति। तदेव क्षेत्रपतितं सत् तज्जनयति इति तत्तदकुर्वाणात् तत्तत्कारिणो भेदसिद्ध्या तेषु बीजेषु क्षणिकत्वसिद्धौ क्षणिकत्वसत्त्वयोः व्याप्तिसिद्धिरिति मनसिकृत्य बौद्धः शङ्कते – **सामर्थ्यासामर्थ्य–लक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गेण भेदसिद्धौ तत्सिद्धि**रिति। सहानवस्थानरूपविरोधवतोः नैकाधिकरण्यं संभवति। तथा च कुसूलस्थबीजं न क्षेत्रपतितबीजाभिन्नं भवितुमर्हति। अन्यथा तस्यापि कुसूलस्थस्यापि अङ्कुरजनकत्वापत्तेः। समर्थस्य कार्यजनकत्वात्। यदि तद् अङ्कुरजनने असमर्थं तदा क्षेत्रपतितमपि बीजं नाङ्कुरं जनयेत्। अतः कल्प्यते कुसूलस्थबीजमङ्कुरजनने समर्थं क्षेत्रपतितं च बीजं समर्थम् इति। एककार्यं प्रति सामर्थ्यासामर्थ्य–विरुद्धधर्मसंबन्धेन उभयोः बीजयोः भेदसिद्धौ क्षणिकत्वसिद्धिः इति। अनया रीत्या 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' इति सामान्यव्याप्तिसिद्धौ न को पि पदार्थो नित्य इति आत्मनि न नित्यत्वं सेत्स्यति। सिद्धव्याप्तिकात् सत्त्वात् सन्मात्रे क्षणिकत्वानुमानात् इति शङ्कां खण्डयति **इति चेत् न** इति मूलम्। तत्र युक्तिमाह– **विरुद्धधर्म-संसर्गासिद्धे**रिति। सामर्थ्यं फलोपधानरूपम् कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणव त्तित्वरूपम्। असामर्थ्यं च फलानुपधानरूपं कार्याव्यवहितप्राक्क्ष–णावच्छेदेन कार्याधिकरणाव त्तित्वरूपम्। तदा तदविरुद्धमेव। सहकारिसमवधाने सति फलोपधानत्वं भवति कारणस्य, तदसमवधाने सति न तद् भवति। तदुभयोः कालभेदेन एकत्र असमावेशात् सहानवस्थानरूपविरोध एव नास्ति।

यदि स्वरूपयोग्यत्वतदभावरूपे सामर्थ्यासामर्थ्ये, तदा तस्य प्रकृते असत्त्वमेव। कारणातावच्छेदकवत्त्वरूपस्वरूपयोग्यत्वस्य उभयत्र सत्त्वेन तदभावरूपासामर्थ्यस्य तत्र सत्त्वेन विरुद्धयोस्तयोः तत्र संसर्गासिद्धिः इति बोध्यम्।

ननु **प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां तत्सिद्धिः**। प्रसङ्गाभ्यां विपर्ययाभ्यां च, **तत्** = सामार्थ्यासामर्थ्ययोः तस्य तत्तद्बीजे सिद्धिः। तथाहि – यदि कुसूलस्थबीजम् अङ्कुरजनने समर्थं स्यात् अङ्कुरं कुर्यात् इति प्रसङ्गः। न च करोति, तस्मान्न समर्थम् इति विपर्ययः। एवं क्षेत्रपतितं बीजं यदि अङ्कुरे असमर्थं स्यात् नाङ्कुरं कुर्यात् इति प्रसङ्गः, अङ्कुरं करोति तस्मात् नासमर्थम् इति विपर्ययः, इति प्रसङ्गाभ्यां विपर्ययाभ्यां च कुसूलस्थक्षेत्रपतितबीजयोः भेदः सिद्ध्यति। सिद्धे च भेदे क्षणिकत्वं तत्र सिद्ध्यति इति शङ्कां खण्डयति – **इति चेत् ? न।**

तत्र युक्तिं साधयितुं विकल्पयति – **सामर्थ्यं हि कारणत्वं वा योग्यता वेति**। सामर्थ्यं हि कारणत्वम्। तद् द्विविधम्। फलोपधानं योग्यता च। फलोपधानं च फलाव्यवहितप्राक्कालसंबन्धः। कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरण–व त्तित्वम्। तदेव करणं कारित्वं च। योग्यतापि द्वयी। सहकारियोग्यता स्वरूपयोग्यता च। चरमा स्वरूपयोग्यता द्विविधा। जनकतावच्छेदकरूपं बीजत्वादि (न्यायमते)। (बौद्धमते) कुर्वद्रूपत्वं वा सहकारिविरहप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं च। तत् क्रमेण विकल्प्य दूषयति – **सामर्थ्यं हि करणत्वं वा योग्यता वेति।**

नाद्यः। साध्याविशिष्टत्वप्रसङ्गादिति। **साध्यं** = व्यापकम्, तच्चात्र आपाद्य–रूपम्। तथा च आपाद्याविशिष्टत्वाद् इत्यर्थः। व्यापकत्वं च स्वाधिकरणव त्त्यभाव–प्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वस्वरूपम्। तथा च आपाद्यानुमानाभ्याम् आपादका–नुमापकयोः अविशेषप्रसङ्गादित्यर्थः। साध्यसाधनयोरिव आपाद्यापादकयोरपि भेदे सति आपादनप्रव त्तेः। एवं च कुसूलस्थबीजं यदि अङ्कुरजननसमर्थं स्यात् अङ्कुरं कुर्यात्। न करोति तस्मान्न समर्थम्। एवं क्षेत्रपतितं बीजं यदि असमर्थं स्यात् अङ्कुरं न कुर्यात् करोति चाङ्कुरं तस्मात् नासमर्थम् इत्यापादनं न कर्तुं शक्यते। समर्थत्वकारित्वयोः आपाद्यापादकयोरैक्यात्। अङ्कुरसमर्थत्व–अङ्कुरकारित्वयोः आपाद्यापादकयोरैक्याद्वा। एवम् असमर्थत्व–अकारित्वयोः आपाद्यापादकयोः ऐक्यात्।

ननु असमर्थव्याव त्तिरापादिका। अकारित्वव्याव त्तिश्च आपाद्येति नापाद्यविशेष–त्वम् आपादकस्य। यदि कुसूलस्थबीजम् अङ्कुरजननसमर्थं स्यात् तदा अङ्कुरं कुर्याद् इत्यत्र समर्थ–कारि–पदाभ्याम्, असमर्थत्वव्याव त्त्यकारित्व– व्याव त्त्योर्भिन्नयोरेव अभिधानात् न **साध्याविशेषः** = आपाद्याविशेषः आपादके वर्तते इति चेद् ? अत आह – **व्याव त्तिभेदाद् अयमदोष** इति। तद् खण्डयति – **इति चेत्? न।** तत्र युक्तिमाह

– **तदनुपपत्तेरिति**। प्रकृते व्याव त्त्योरपि भेदो नास्ति। व्याव त्तिभेदानुपपत्तेरिति मूलार्थः। व्याव त्त्यभेदानुपपत्तिं दर्शयति – **व्यावर्त्यभेदेन विरोधो हि तन्मूलम्** इति। एकस्य व्यावर्त्यस्य अपरव्यावर्त्याद् भेदेन विरोधः। स च विरोधः व्याव त्तिभेदमूलम्। तथा च व्यावर्त्यभेदनिबन्धनो विरोधः व्याव त्तिभेदमूलम्। तच्चेह नास्तीति। न च व क्षशिंशपारूपव्यावर्त्त्ययोर्भेदस्य परस्परविरोधाभाव इति वाच्यम्**।** व्यावर्त्त्यभेदः एकेन व्यावर्त्त्यस्य विशेष्यस्य भेदः अपरव्यावर्त्त्यात्, एकोपग हीतस्य अपरेण परित्याग इति यावद् इत्यर्थकत्वेन अदोषात्। तथा च एकेन अव क्षव्याव त्तिस्वरूपेण व्यावर्त्त्यस्य व क्षस्य आम्रादेः अशिंशपाया अव्याव त्तेः, व्यावर्त्त्यायाः शिंशपायाः भेदो स्तीति भावः। तदेव व्युत्पादयति – **स चेति**। **स च** = विरोधः। न तावत् परस्परव्यावर्त्त्य–प्रतिक्षेपात् गोत्वाश्वत्ववद् भवितुमर्हति। यथा गोत्वस्य व्यावर्त्त्यां विशेष्यां गोव्यक्तिम् अश्वत्वं प्रतिक्षिपति, अश्वत्वस्य व्यावर्त्त्यां चाश्वव्यक्तिं गोत्वं प्रतिक्षिपति। अतः तयोर्भेदः। प्रकृते तु नैवमित्यर्थः। समर्थत्वकारित्वयोः परस्परक्षेपाभावेन विरोधाभावात्। ऐक्यमिति आपाद्यापादकयोः ऐक्येन कुसूलस्थबीजं यदि अङ्कुरजननसमर्थं स्यात् तदा अङ्कुरं कुर्यादिति आपादयितुं शक्यते इति बोध्यम्।

ननु प्रकृते पि तथैव किं न स्यात् (समर्थत्व–कारित्वयोः कथं न परस्य क्षेपकत्वं स्वीक्रियते?)। तथा च परस्य क्षेपकत्वात् परस्परभेदसिद्धौ आपाद्यापादकयोः ऐक्याभावात् तदापादयितुं शक्यते। अत आह – **तथा सति** इति। यदि कारित्वं सामर्थ्येन प्रतिक्षिप्येत तदा आपाद्यबाधः स्यात्। यदि कारित्वेन सामर्थ्यं प्रतिक्षिप्येत तदा आपादकासिद्धिरित्यर्थः। कुसूलस्थं बीजं यदि अङ्कुरसमर्थं स्यात् तदा अङ्कुरं कुर्यादित्यत्र यदि अङ्कुरसामर्थ्येन आपादकेन अङ्कुरकारित्वरूपमापाद्यं प्रतिक्षिप्येत तदा आपाद्यस्य अङ्कुरकारित्वस्य बीजे बाधः। यदि तत्र अङ्कुरकारित्व–रूपापाद्येन अङ्कुरसमर्थत्वं प्रतिक्षिप्येत तदा कुसूलस्थबीजे आपादकस्य अङ्कुरसमर्थत्वस्य असिद्धिः।

नापि तदाक्षेपप्रतिक्षेपाभ्यां व क्षत्वशिंशपात्ववत् परापरभावानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा समर्थस्याप्यकरणमसमर्थस्यापि वा करणं प्रसज्येत। नाप्युपाधिभेदात् कार्यत्वानित्यत्ववत् तदभावात्। न च शब्दमात्रमुपाधिः पर्यायशब्दोच्छेदप्रसङ्गात्।

ननु गोत्वाश्वत्वयोरिव समर्थत्वकारित्वयोः परस्परात्यन्ताभावसामानाधि–करण्यं मास्तु। व क्षत्वशिंशपात्वयोरिव असमर्थत्व–अकारित्वव्यावर्त्त्ययोः (असमर्थ–व्याव त्ति–अकारित्वव्याव त्त्ययोः समर्थत्वकारित्वरूपयोः) व्याप्यव्यापकभाव एवास्तु। तावतापि परस्परभेदसिद्धौ कुसूलस्थं बीजं यदि अङ्कुरजननसमर्थं स्यात् तदा अङ्कुरं कुर्याद् इति आपादयितुं शक्यते। व्याप्यत्वस्य व्यापकत्वस्य भेदघटितस्वरूपपक्षे

व्याप्य–व्यापकयोः भेदस्य प्रसिद्धत्वात्। अत आह – **नापि तदाक्षेपप्रतिक्षेपाभ्याम् इति**। **आक्षेपः** = सङ्ग्रहः। **प्रतिक्षेपः** = व्यवच्छेदः। तथा च व क्षत्वस्य पनस–सङ्ग्राहकत्वं शिंशपात्वस्य च तद्व्यवच्छेदकत्वम्। व क्षत्वेन पनसव क्षो पि ग ह्यते, शिंशपात्वेन स न ग ह्यते। न चैकस्य एतद् (संग्राहकत्वं व्यवच्छेदकत्वं च) उपपद्यते। अतः तयोः व क्षत्वशिंशपात्वयोः भेदो स्तु। स च व्याप्यव्यापकभावाधीनः। प्रकृते च तथाभ्युपगमे सामर्थ्यस्य व्यापकत्वे कथम् आपादकत्वम्? व्यभिचारात्। व्याप्यत्वे तु सामर्थ्यं विनापि कारित्वं स्याद् इत्यनिष्टम् इत्यर्थः। कुसूलस्थं बीजं यदि अङ्कुरजनने समर्थं स्याद् इत्यत्र समर्थत्वमापादकम् तदा अङ्कुरं कुर्याद् इत्यत्र अङ्कुरकारित्वम् आपाद्यम्। आपादकं व्याप्यम्, आपाद्यं च व्यापकम् भवति। आपाद्याभावेन आपादकाभावः सिद्ध्यति। अतः क्षेत्रपतितबीजात् तस्य भेदसिद्धौ क्षणिकत्वं सिद्ध्यति। तन्न सिद्ध्येत्। समर्थत्वस्य व्यापकत्वे आपादकत्वं न स्यात्। तस्य व्याप्यत्वनियमात्। सामर्थ्यस्य व्याप्यत्वे सामर्थ्यं विनापि कारित्वं स्यात्। धूमेन विनापि यथा बह्निर्भवति अयोगोलके।

ननु गोत्वाश्वत्वयोः परस्परात्यन्ताभाव–समानाधिकरणयोर्यथा भेदः, व क्षत्व–शिंशपात्वयोः सामान्यविशेषत्वेन भेद इव असमर्थत्वव्याव त्ति अकारित्वव्याव त्त्योः भेदो समर्थत्वकारित्वरूपयोः मास्तु। आपाद्यबाधरूपदोषस्य आपादकासिद्धिरूपदोषस्य च सत्त्वात्। किन्तु कार्यत्वानित्यत्वयोः समव्याप्तिकयोः साध्यसाधनभावो भेदाधीन इव आपाद्यापादकभावो भवतु। समर्थत्वकारित्वयोरित्यत आह – **नाप्युपाधिभेदात् कार्यत्व-नित्यत्ववदिति।** प्रागभावावच्छिन्नसत्तायोगित्वं कार्यत्वम्। ध्वंसावच्छिन्न–सत्तायोगित्वमनित्यत्वम् इत्युपाधिभेदात् कार्यत्वानित्यत्वयोर्यथा भेदः, तथा समर्थत्वकारित्वयोरपि उपाधिभेदात् भेदो स्तु। भेदात् आपाद्यापादकभावो स्तु। प्रकृते तथा उपाध्यसत्त्वेन परस्परभेदस्य कथयितुम् अशक्यत्वाद् अत आह – **तदभावादिति**।

ननु समर्थपदवाच्यत्व–कारिपदवाच्यत्वयोः परस्परभिन्नत्वेन कथं न समर्थत्वकारित्वयोः भेद इति नोक्तदोष इत्यत आह – **न च शब्दमात्रम् उपाधिः** इति। एतत् खण्डयति – **पर्यायशब्दोच्छेदप्रसङ्गादिति**। शब्दभेदादेव यद्यर्थभेदः, तदा एकस्मिन्नर्थे शब्दानां व त्तिः पर्यायत्वम्, तन्न स्यादित्यर्थः। यद्यपि शब्दभेदस्य उपाधित्वे पि अभिन्नप्रव त्तिनिमित्तकतया पर्यायत्वं स्यादेव, तथापि शब्दभेदादर्थभेदः कल्प्यते इति मते पर्यायशब्दोच्छेदो दूषणं बोध्यम्। भिन्नयोः अभिन्नप्रव त्तिनिमित्तकत्वं पर्यायः।

नापि विकल्पभेदः स्वरूपकृतस्य तस्य व्याव त्तिभेदकत्वे समर्थव्याव त्तेरपि भेदप्रसङ्गात्। विषयकृतस्य तु तस्य भेदकत्वे न्योन्याश्रयप्रसङ्गात्। न च निर्निमित्त एवायं व्याव त्तिभेदव्यवहारो तिप्रसङ्गात्।

ननु कारित्वप्रकारकज्ञानात् समर्थत्वप्रकारकं ज्ञानं भिन्नमिति ज्ञानरूप–उपाधिभेदात् कारित्व–समर्थत्वयोः परस्परं भेद इति आपाद्यापादकभावो भविष्यतीति चेद् ? अत आह – **नापि विकल्पभेद** इति। विकल्पो ज्ञानम्। तत् खण्डयति **स्वरूपकृतस्येति।** स्वरूपकृतस्य = ज्ञानव्यक्तिभेदमात्रकृतस्य तस्य = सविकल्पकस्य ज्ञानस्य, **व्याव त्तिभेदकत्वे** (असमर्थत्वव्याव त्तिज्ञानस्य अकारित्वव्याव त्तिभेदकत्वे, समर्थत्व–ज्ञानस्य कारित्वभेदकत्वे) **असमर्थव्याव त्तेरपि भेदप्रसङ्गात्।** असमर्थव्याव त्तिः असमर्थभिन्नः तद्विषयकज्ञानात् समर्थविषयकभेदो वर्तते। कि च विभिन्नपुरुषज्ञानानां भिन्नत्वेन तत्तदसमर्थव्याव त्तिज्ञानानां परस्परभेदापत्तेः। तथा च व्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानाभ्यां विषयीकृतयोः भेदे क्व प्रसङ्गवार्त्तेति भावः। ज्ञानभेदस्य व्याव त्तिभेदकत्वे हेतुकृताया असमर्थव्याव त्तेरपि ईद शत्वात्। विभिन्नाभ्यां व्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानाभ्यां भेदात् (असमर्थव्याव त्त्योर्भेदात्) कथमेकत्र हेतौ व्याप्ति–पक्षधर्मताज्ञाने स्तः? येन प्रसङ्गः तद्धेतुत्वे साधकः स्यात्। न च परामर्शात्मकविशिष्टज्ञानविषयत्वं हेतोः, तत्परामर्शस्य एकत्वेन हेतोरैक्यात् नोक्तदोष इति वाच्यम्। तन्मते परामर्शानङ्गीकारात्। न च विषयकृतस्य तस्य (विकल्पस्य) भेदकत्वमिति न पूर्वोक्तदोषः। तत्र विषयस्य असमर्थव्याव त्तेरैक्यादिति वाच्यम्। तथासति **अन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्**। विषयभेदाधीनो विकल्पभेदः, विकल्पभेदाधीनश्च विषयभेद इत्यन्योन्याश्रयापत्तेः।

न च निर्निमित्त एव (निष्कारणक एव) **अयं व्याव त्तिभेदव्यवहारः**। तथा च असमर्थत्वव्याव त्तिः कारित्वाद् (कार्यकारित्वाद्) भिन्नेति व्यवहाराद् आपाद्यापादकभावोपपत्त्या प्रसङ्गः संभवतीति वाच्यम्। **अतिप्रसङ्गात्**। स्वस्या अपि व्याव त्तेः स्वभेदव्यवहारापत्तेः। व्याव त्तिभेद–व्यवहारस्य अनियामकत्वात्।

नापि द्वितीयः। सा हि सहकारिसाकल्यं वा प्रतिस्विकी वा। न तावदाद्यः पक्षः सिद्धसाधनात्, परानभ्युपगमेन हेत्वसिद्धेश्च। यत् सहकारिसमवधानवत् तद्धि करोत्येवेति को नाम नाभ्युपैति, यमुद्दिश्य साध्यते। न चाकरणकाले सहकारिसमवधानवत्त्वमस्माभिरभ्युपेयते यतः प्रसङ्गः प्रवर्तेत।

सामर्थ्यं कारणत्वमिति पक्षं खण्डयित्वा योग्यता वेति द्वितीयं पक्षं खण्डयितुमाह – **नापि द्वितीय** इति। तां खण्डयितुं विकल्पयति – **सा हीति।** सा योग्यता हि **सहकारिसाकल्यं वा प्रातिस्विकी वेति।**

सहकारिकारणसाकल्यरूपा योग्यतेति कथयितुं न शक्यते, सिद्ध–साधनापत्तेः। **परानभ्युगमेन हेत्वसिद्धिश्च**। **यत्** (कारणम्) **सहकारि- समवधानवत्** (सहकारिकारणसहितम्) **तत्** (कारणम्) कार्यं **करोत्येवेति को नाम नाभ्युपैति** ? सर्वे स्वीकुर्वन्त्येव। अतः त्वया परं प्रति तन्न साधनीयम्। अन्यथासिद्धस्य साधनापत्तेः।

अङ्कुरमकुर्वतः कुसूलस्थबीजस्य परेण = स्थिरवादिनैयायिकेन सहकारिसमवधाना– भ्युपगमात्। पराभ्युपगममादायैव प्रव त्तेरित्यर्थः। नैयायिकैस्तु क्षेत्रपतिते बीजे म त्तिका– जलादि संयोगरूपसहकारिसमवधानमुच्यते।

प्रातिस्विकी तु योग्यता अन्वयव्यतिरेकविषयीभूतं बीजत्वं वा स्यात् तदवान्तरजातिभेदो वा सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं वा।

न तावदाद्यः, अकुर्वतो पि बीजजातीयस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। तवापि तत्राविप्रतिपत्तेः।

न द्वितीयः, तस्य कुर्वतो पि मयानभ्युपगमेन द ष्टान्तस्य साधन-विकलत्वात्। को हि नाम सुस्थात्मा प्रमाणशून्यमभ्युपगच्छेत्। स हि न तावत् प्रत्यक्षेणानुभूयते तथानवसायात्। नाप्यनुमानेन लिङ्गाभावत्। यदि न कश्चिद्विशेषः कथं तर्हि कारणाकरणे इति चेत्, क एवमाह नेति। परं किं जातिभेदरूपः सहकारिलाभालाभरूपो वेति नियामकं प्रमाणमनुसरन्तो न पश्यामः। तथापि यो यं सहकारिमध्यमध्यासीनो क्षेपकरणस्वभावो भावः, स यदि प्रागप्यासीत् तदा प्रसह्य कार्यं कुर्वाणो गीर्वाणशापशतेनाप्यपहस्तयितुं न शक्यते इति चेत्, युक्तमेतत्। यद्यक्षेपकरणस्वभावत्वम् भावस्य प्रमाणगोचरः स्यात्, तदेव कुतः सिद्धमिति नाधिगच्छामः। प्रसङ्गतद्विपर्ययाभ्यामिति चेत्। न, परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। एवंस्वभावत्वसिद्धौ हि तयोः प्रव त्तिः तत्प्रव त्तौ चैवंस्वभावत्वसिद्धिरिति।

प्रातिस्विकीरूपां च योग्यतां खण्डयितुमाह – **प्रातिस्विकी तु योग्यतेति।** प्रातिस्विकी तु प्रतिकारणजातीयनियता। सा च योग्यता किम् (i) **अन्वयव्यति-रेकग्रहविषयीभूतम् बीजत्वं वा** ? (ii) **तदवान्तरजातिभेदो वा** ? (iii) **सहकारिवैकल्यप्रयुक्त-कार्याभाववत्त्वं वेति**। बीजे सति अङ्कुरं तद् विना न इत्यन्वयव्यतिरेकौ। **तदवान्तरजातिभेदः** = कुर्वद्रूपवत्त्वं बौद्धाभ्युपगतम्। उभय–(बौद्धनैयायिकोभय–, स्थिरास्थिरपदार्थवाद्युभय–) साधारणीं योग्यतामाह – **सहकारीति।** सहकारिवैकल्यप्रयुक्तो व्याप्यो यः कार्याभावस्तद्वत्त्वमित्यर्थः। शिलाशकले कार्याभावः (अङ्कुराभावः) न सहकारिवैकल्यप्रयुक्तः, किन्तु शिलात्वप्रयुक्तः। बीजे सहकारिसाकल्ये कार्याभावो न भवत्येव। यत्र सकलसहकारिसहितं कारणं वर्तते तत्र कार्यकारित्वं वर्तत एव।

अन्वयव्यतिरेकविषयीभूतं बीजत्वं वेति प्रातिस्विकीं योग्यतां खण्डयितुमाह – **न तावदाद्य** इति। अत्र हेतुमाह – **अकुर्वतो पीति**। अङ्कुरम् अकुर्वतो पि कुसूलस्थस्य बीजजातीयस्य बीजत्ववतः प्रत्यक्षसिद्धत्वात् **तवापि** = अस्थिरवादिनो

बौद्धस्य **तत्र** = कुसूलस्थबीजे **अविप्रतिपत्तेः**। नेदं बीजमिति न विप्रतिपत्तिः = ज्ञानम्। अथवा इदं बीजं न वेति न सन्देहः। तथा च यदि कुसूलस्थं बीजं स्यात् तदा अङ्कुरं कुर्यात् इति प्रसङ्गः। न चाङ्कुरं करोति तस्मान्न बीजमिति विपर्ययश्च व्यभिचार–बाधाभ्यामनुपपन्न इत्यर्थः। अङ्कुरकारित्वरूप–आपाद्याभाववति कुसूलस्थबीजे बीजत्वस्य आपादकस्य सत्त्वात् व्यभिचारः। आपाद्याभाववति आपादकस्य सत्त्वात्। कुसूलस्थं बीजं नाङ्कुरं करोति तस्मान्न बीजमिति विपर्ययः। बीजत्वाभावाभावस्य (आपाद्याभावस्य) पक्षे कुसूलस्थे बीजे सत्त्वेन साध्याभावपक्षकत्वाद् आपादके अङ्कुरकारित्वाभावे सत्त्वाद् बाधः। अथवा बीजभिन्नभेदस्य कुसूलस्थबीजे सत्त्वेन अङ्कुरकारित्वाभावस्य आपादकस्य आपाद्याभाववत्पक्षकत्वाद् बाधः।

प्रातिस्विकीं योग्यतां तदवान्तरजातिभेदरूपां कुर्वद्रूपत्वस्वरूपां खण्डयितुमाह – **न द्वितीय इति**। **तस्य** = कुर्वद्रूपत्वस्य, **मया** = स्थिरवादिना नैयायिकेन **अनभ्युपगमेन** = अस्वीकारेण, **द ष्टान्तस्य** = उभयपक्षसिद्धस्य, **साधनविकलत्वात्** = हेत्वभाववत्त्वात्। कुसूलस्थं बीजं यदि कुर्वद्रूपत्वजातिमत् स्यात् तदा अङ्कुरं कुर्यात् क्षेत्रपतितबीजवत् इति प्रसङ्गं निरस्यति – **न द्वितीय** इति। **तस्य** = कुर्वद्रूपत्वस्य जातिविशेषस्य कुर्वत्यपि = अङ्कुरं कुर्वत्यपि क्षेत्रपतिते बीजे, **मया** = स्थिरवादिना नैयायिकेन, **अनभ्युपगमेन** = अस्वीकारेण **द ष्टान्तस्य** = क्षेत्रपतितबीजस्य **साधनविकलत्वात्** = कुर्वद्रूपत्वशून्यत्वात्। क्षेत्रपतिते पि बीजे कुर्वद्रूपत्वं नास्ति। तथा च आपादकविकलो द ष्टान्तः।

ननु स्थिरवादिनस्तवानभ्युपगममात्रेण कथं क्षेत्रपतिते बीजे जातिविशेषस्य कुर्वद्रूपत्वस्य विरह इत्यत आह – **को हीति।** कुर्वद्रूपत्वे प्रमाणस्य अभावेन तं जातिविशेषं निष्प्रमाणकं सुस्थात्मा कः अभ्युपगच्छेत्? तथा च कुर्वद्रूपत्वे प्रमाणाभावाधीन एव अनभ्युपगमो ममेति भावः। प्रमाणाभावमेवोपपादयति – **स हीति**। **हि** = यस्मात्, **स** = कुर्वद्रूपत्व– जातिविशेषः। न प्रत्यक्षेण निर्विकल्पकेन अनुभूयते। निर्विकल्पकज्ञानस्यैव बौद्धमते प्रमाणत्वात्। कुर्वद्रूपत्वविषयके निर्विकल्पकज्ञानाभावे प्रमाणं कथयितुमाह – **तथानवसायादिति**। कुर्वद्रूपत्वप्रकारकसविकल्पक–ज्ञानाभावात्। निर्विकल्पकज्ञानजन्यसविकल्पज्ञानरूपकार्याभावेन कारणाभावानुमानं भवति। सविकल्पज्ञानमेव निर्विकल्पज्ञानोन्नायकम्। तदभावे निर्विकल्पकज्ञाने प्रमाणान्तरं नास्तीति भावः। कुर्वद्रूपत्वे अनुमानप्रमाणं नास्तीति कथयितुमाह – **नाप्यनुमानेनेति**। क्षेत्रपतिते बीजे कुर्वद्रूपत्वमस्ति इत्यत्र अनुमानं प्रमाणं न भवितुमर्हति। लिङ्गज्ञानं विना अनुमानस्य अप्रव त्तेः। कुर्वद्रूपत्वानुमितिसाधकलिङ्गस्य अनुपलम्भेन तस्य अभावात्। अनुपलम्भाभावप्रयोज्यः कुर्वद्रूपत्वसाधक–लिङ्गाभावो बोध्यः। तदुक्तं मूले – **लिङ्गाभावादिति**।

ननु क्षेत्रपतितं बीजं कुर्वद्रूपत्वं विना अङ्कुरं प्रति कारणमेव न स्यात्। अन्यथा बीजत्वाविशेषेण कुसूलस्थबीजस्यापि अङ्कुरं प्रति कारणत्वापत्तेः। अतः कुसूलस्थे बीजे कुर्वद्रूपत्वाभावो स्ति। यदि कुसूलस्थं बीजं कारणं स्यात् तदा अङ्कुरं जनयेत्। न जनयति अतस्तत् अकारणमिति क्षेत्रपतितस्य बीजस्य कारणत्वान्यथानुपपत्त्या कुर्वद्रूपत्वम् उन्नेयम्। कुसूलस्थबीजस्याकारणत्वात् कुर्वद्रूपत्वाभाव उन्नेय इति मनसि कृत्याह – **यदि न कश्चिद् विशेषः कथं तर्हि करणाकरणे इति चेत्**? यदि कुर्वद्रूपत्वं नास्ति तर्हि अङ्कुरं प्रति क्षेत्रपतितं बीजं कारणं कुशूलस्थं तत् न कारणमिति विभागो नोपपद्येत। अर्थापत्तौ अन्यथोपपत्तिशङ्कामाह – **क एवमाहे**ति। क्षेत्रपतिते बीजे कुसूलस्थबीजाद् भेदो नास्तीति क आह? न को पीति भावः। क्षेत्रपतितबीजे सहकारिसमवधानात् कारणत्वम्, कुसूलस्थे बीजे तदभावात् अकारणत्वमिति विशेषो स्ति, इति यद्यपि निश्चय एवास्ति, तथापि आपाततः सन्देहादपि अर्थापत्तिर्दूषिता भवति। तमेवाह – **परमिति**। कुसूलस्थबीज–क्षेत्रपतितबीजयोः बीजत्वरूप–जातीयत्वाविशेषे पि प्रयोजकविशेषं विना करणाकरणे नोपपद्येते। अतः कारणोपपादकतया विशेषः सिद्ध्यन् परिशेषात् कुर्वद्रूपत्वरूपः जातिविशेष एव सिद्ध्यति। तदभावादेव अकारणमित्यर्थापत्त्या कुर्वद्रूपत्वात्मकजातिविशेषं साधयितुं न शक्नोति। कारणाकारणयोः नियामकः जातिभेदरूपः (कुर्वद्रूरूपत्व–जातिविशेषः), तदभावः किं वा **सहकारि**–(जलपवना–दिसंयोग–रूप–सहकारि–)**लाभालाभो वेति नियामकं प्रमाणम् अनुसरन्तो** वयं **न पश्यामः।** अर्थात् कुर्वद्रूपत्वं बीजादेः कारणतानियामकः न तु सहकारिलाभः अत्र नियामकं न पश्याम इति तात्पर्यम्। तथा च सन्देहे पि न परिशेषावकाश इति परिशेषात् कुर्वद्रूपत्वात्मकजातिविशेषो न सेत्स्यति। सहकारिलाभस्यापि संभवात्।

ननु स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरकालव त्ति–कार्यमात्रकारित्वं, स्वकार्य– व्यवहित–प्राक्कालाव त्तित्वं, स्वकार्यप्रागभाव–समानकालीनध्वंस–प्रतियोगिसमयाव त्तित्वं, स्वोत्पत्तिक्षण एव कारित्वं वा अक्षेपकारित्वम् इति **अक्षेपकरणस्वभावो भावः सहकारिमध्यमध्यासीनो यदि** प्रागपि स्यात् तदा प्रसह्य (हठात्) कार्यं कुर्वाणो (कारणरूपो भावः) **गीर्वाण(देवता)-शापशतेना पि अपहस्तयितुं** (निरोधयितुम्) न **शक्यते।** तथा च पूर्वं कार्यानुत्पादात् तदानीन्तनानाम् अक्षेपकरणस्वभावस्य विरहेण बीजत्वस्य तत्(अक्षेपकारित्व)नियामकत्वानुपपत्त्या तत् (अक्षेपकारित्व)नियामकं कुर्वद्रूपत्वं नाम जात्यन्तरमास्थेयम्। तत् कुर्वद्रूपत्वं कुसूलस्थबीजे नास्ति क्षेत्रपतितबीजे चास्तीत्युभयोर्बीजयोर्भेदः क्षणिकत्वं विना नोपपद्यते इति भावानां क्षणिकत्वं सेत्स्यतीति चेत्? (न) युक्तमेतत् यद्यक्षेपकरणस्वभावत्वं भावस्य प्रमाण–गोचरः स्यात् तदा कुर्वद्रूपत्वं साधयितुं शक्येत। **तदेव** (अक्षेपकरण–स्वभावत्वम्) **कुतः** (कस्मात् प्रमाणात्) सिद्धमिति नाधिगच्छामः। तथा च अक्षेपकरणस्वभावत्वं भावानां न प्रमाणसिद्धमिति, तन्न मन्तव्यमिति तद्बलेन कुर्वद्रूपत्वं कथं सेत्स्यति?

ननु यन्न यत्कार्याक्षेपकारि तन्न तत्कारि, यथा अलीकम् शशश ङ्गादि, शिलाशकलं वा। नाङ्कुराक्षेपकारि च सामग्री समवहितं बीजमुपेयते परैरिति प्रसङ्गः। यद्यङ्कुरं करोति तत्तदक्षेपकारि यथा धरण्यादिभेदः, करोति च अङ्कुरमिदं बीजमिति विपर्ययः। ताभ्यां प्रसङ्ग–विपर्ययाभ्याम् अक्षेपकारित्वं भावानां सिद्ध्यतीति पूर्वोक्तरीत्या क्षणिकत्वं भावानां सिद्ध्यति इति मनसि कृत्य शङ्कते बौद्धः – **प्रसङ्ग-तद्विपर्ययाभ्यामिति**। तत् खण्डयति भावस्थिरवादी नैयायिकः – **इति चेत्? न, परस्पराश्रयप्रसङ्गादिति**। अथवा बीजं यदि अक्षेपकरणस्वभावं न स्यात् अङ्कुरं न कुर्यात्, करोति (अङ्कुरं करोति) च। तस्माद् अक्षेपकारिस्वभावमिति प्रसङ्ग–विपर्ययाभ्यां यत् अक्षेपकारिस्वभावो बीजे बौद्धेन साधितः, तं खण्डयति स्थिरवादी – **परस्परेति**। अक्षेपकरण–स्वाभाव्यस्य प्रतियोगिनः प्रसिद्धौ तदभावमादाय प्रसङ्ग–विपर्यययोः प्रव त्तिः, तत्प्रव त्तौ च (प्रसङ्गविपर्ययप्रव त्तौ च) स्वाभाव्यसिद्धिरिति स्वग्रहसापेक्षग्रह–सापेक्षग्रहविषयत्वेन परस्पराश्रयत्वापत्तेः। परास्पराश्रयत्वे च नाक्षेपकरणस्वभावसिद्धिः। परस्पराश्रयं दर्शयितुमाह – **स्वभावत्वसिद्धौ हि तयोः** (प्रसङ्गविपर्यययोः) **प्रव त्तिः। तत्प्रव त्तौ** (प्रसङ्गविपर्ययप्रव त्तौ) **चैवं स्वभावत्व-सिद्धिरिति।**

स्यादेतत्। कार्यजन्मैव अस्मिन्नर्थे प्रमाणं विलम्बकारिस्वभावानुव त्तौ कार्यानुत्पत्तिः सर्वदेति चेत्, न। विलम्बकारिस्वभावस्य सर्वदैवाकरणे तत्त्वव्याघातात्। ततश्च विलम्बकारीत्यस्य यावत्सहकार्यसन्निधानं तावन्न करोतीत्यर्थः। एवं च कार्यजन्मसामग्र्यां प्रमाणयितुं शक्यते न तु जातिभेदे। ते तु किं यथानुभवं विलम्बकारिस्वभावाः परस्परं प्रत्यासन्नाः कार्यं कृतवन्तः किं वा यथा त्वत्परिकल्पनं क्षिप्रकारिस्वभावा इत्यत्र कार्यजननमजागरूकमेवेति।

अपेक्षकारित्व–स्वभावसिद्धये बौद्धः शङ्कते – **स्यादेतदिति**। अक्षेपकारित्वे अर्थे कार्यजन्मैव = कार्योत्पत्तिरेव प्रमाणम्। विलम्बकारि– स्वभावानुव त्तौ कदापि कार्यजन्म न स्यादिति कार्यजन्मान्यथानुपपत्त्यैव अक्षेपकारित्वं सिद्ध्यति। अयं भावः – अक्षेप–विलम्बयोः अन्यस्य प्रकारस्य अभावः, क्षेत्रपतिते च बीजे अङ्कुरबिलम्बस्य बाध इति परिशेषात् तत्र अक्षेपः सिद्ध्यतीति। ताद शाक्षेपसिद्धिं खण्डयति – **इति चेत्? न, विलम्बकारिस्वभावस्येति**। अयं भावः – विलम्बो हि अत्र अकारणम्। तच्च सर्वदैव, किं वा कदाचित्? आद्ये विलम्बकारित्वाप्रसिद्धिः। अकारणं कदापि न कार्यं जनयति। द्वितीये कार्योत्पत्तेः अविरोधात् न परिशेषावतारः। तथा च अक्षेपकरणस्वभावस्यासिद्धौ न तन्नियामकत्वेन कुर्वद्रूपत्वस्य सिद्धिः। तदसिद्धौ च कुसूलस्थ–क्षेत्रपतितयोः बीजयोः परस्परभेदासिद्धौ कुतः पदार्थानां क्षणिकत्वं स्यात् ? अक्षरार्थस्तु विलम्बकारिस्वभावस्य कारणस्य सर्वदैव कार्यस्य अकरणे

तत्त्व–(कारणत्व–)व्याघातात्। कारणं कदापि कार्यं न करोतीति व्याघातः। कार्यजनकत्वं कारणत्वम्। तत्र कार्यजनकत्वं नास्तीति व्याघातः।

ननु कारणे विलम्बकारित्वस्वाभाव्यं चेत् तदा स्वध्वंसपर्यन्तं तत्स्वाभाव्यानुव त्तौ कार्यजन्म न स्यादेवेति विलम्बकारित्वमन्यथा समर्थयति – **ततश्चेति**। विलम्बकारीत्यस्य यावत् सहकारिणो सन्निधानं तावत् कारणं कार्यं न करोतीत्यर्थः। ततश्च यदधीनं कार्यजन्म तत् (कार्यजन्म) तदेव गमयेत्, नाक्षेपकारित्वमित्याह – **एवं चेति**। कार्यजन्मसामग्र्यां प्रमाणयितुं शक्यते, न तु जातिभेदे (कुर्वद्रूपत्वे) सामग्र्याः यावत्कारणरूपायाः कार्यजन्मव्याप्यत्वेन कार्यजन्मसामाग्र्या अधीनमिति कार्यजन्मसामग्र्यां प्रमाणम्, न तु कुर्वद्रूपत्वे भवितुमर्हति। **ते** = बीजादयः **तु किं यथानुभवं** (अनुभवमनतिक्रम्य) **विलम्बकारिस्वभावाः परस्परं प्रत्यासन्नाः** (संबद्धाः) बीजादयः कार्यं कृतवन्तः किंवा यथा त्वत्परिकल्पनं (त्वत्परिकल्पनानतिक्रमेण = यथा बौद्धपरिकल्पनम् अपेक्षकारिस्वभावम् अनतिक्रमेण) कार्यं कुर्वन्ति। क्षिप्रकारिस्वभावाः = शीघ्रकार्यकारिस्वभाववन्तः ते बीजादय इत्यत्र कार्यजननम् अजागरूकमेवेति। अयंभावः – बीजादयः किं परस्परं संबद्धा सन्तः कार्यं कुर्वन्ति आहोस्वित् अक्षेपकारिस्वभावम् अनतिक्रम्य कार्यं कुर्वन्ति इति कार्यजन्म न निर्णेतुं शक्नोति, किन्तु बीजादेव अङ्कुरोत्पत्तिरिति निर्णेतुं शक्नोति इति। येन विना यद् न भवति तत्तन्निर्णयति।

नापि त तीयः, विरोधात्। सहकार्यभावप्रयुक्तकार्याभाववाँश्च सहकारिविरहे कार्यवाँश्चेति व्याहतम्। तस्माद् यद् यदभाव एव यन्न करोति तत् तत्सद्भावे तत् करोत्येव इति तु स्यात्। एतच्च स्थैर्यसिद्धेरेव परं बीजसर्वस्वमिति।

एतेन समर्थव्यवहारगोचरत्वं हेतुरिति निरस्तम्। ताद ग्व्यवहारगोचर-स्यापि बीजस्याङ्कुराकरणदर्शनात्। नासौ मुख्यस्तत्र व्यवहारः, तस्य जनननिमित्तकत्वात्। अन्यथा त्वनियमप्रसङ्गादिति चेत्। कीद शं पुनर्जननं मुख्यसमर्थव्यवहारनिमित्तम्। न तावदक्षेपकरणं, तस्यासिद्धेः नियमस्य च सहकारिसाकल्ये सत्येव करणं करणमेवेत्येवं स्वभावत्वेनाप्युपपत्तेः। ततश्च जनननिमित्त एवायं व्यवहारो न च व्याप्तिसिद्धिरिति।

ननु कुसूलस्थं बीजं यदि सहकारिविरहप्रयुक्तं कार्याभाववत् स्यात् तदा कार्यं कुर्यात् (कारणस्य कार्यजनकत्वात्), न च कार्यं करोति, तस्मान्न तथा (न सहकारिविरहप्रयुक्तकार्याभाववत्), किन्तु अङ्कुरजनकतावच्छेदककुर्वद्रूपत्वरूप–जात्यभावप्रयुक्तकार्याभाववत्। तथा च तत्कुर्वद्रूपत्वं कुसूलस्थबीजे न वर्तते किन्तु क्षेत्रपतितबीजे वर्तते। अत उभयोर्भेदः क्षणिकत्वेन विना न संभवति। अतो यत् सत्

तत् क्षणिकमिति सिद्धम् इति मनसिकृत्याह – **नापि त तीय इति**। सहकारिवैकल्य–प्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं वेति प्रातिस्विकी योग्यता न कथयितुं शक्यते, **विरोधात्**। सहकार्यभावप्रयुक्तकार्याभाववान् यः स सहकारिविरहे कार्यवान् इति व्याहतम् = विरुद्धम्। उभयोः सहानवस्थानात्। कुसूलस्थस्य बीजस्य सहकारि– वैधुर्यम् उभयवादिसिद्धम्। तथा च सहकारिविधुरं कुसूलस्थं बीजं यदि सहकारि–विरहप्रयुक्त–कार्याभाववत् स्यात् तदा अङ्कुररूपं कार्यं कुर्यात्, कारणस्य कार्यजनकत्वात् इति विरुद्धम्। तस्मात् यत् (कारणम्) सहकारिविरहान्न कार्यं करोति तदेव सहकारि सत्त्वे कार्यं करोतीत्यायातम्। तच्च भावस्य स्थैर्यसिद्धावेव स्यात् इत्यत आह – **तस्मात् यत् यदभावे एव यन्न करोतीति तत् तत्सद्भावे तत् करोत्येवेति तु स्यात्। एतच्च स्थैर्यसिद्धेरेव परं बीजसर्वस्वमिति।** बीजं सलिलादि–सहकारिविरहे यत् (अङ्कुररूपकार्यम्) न करोति तत् (बीजम्) तत्सद्भावे (सलिलादिरूपसहकारिसद्भावे) तत् (अङ्कुरकार्यं) करोत्येव इत्येव स्यात्। एतच्च भावानां स्थैर्यसत्त्वे एव सिद्ध्यतीति परं बीजसर्वस्वमिति। बीजं च अत्र प्रत्यभिज्ञानम्। तदेव बीजम् इत्यादि प्रत्यभिज्ञानम्। तस्य सर्वस्वम् उपपादकत्वात्। स्थिरत्वस्य प्रत्यभिज्ञैव उपपादिका।

ननु कुसूलस्थं बीजं यदि समर्थव्यवहारगोचरः स्यात् तदा अङ्कुरं कुर्यात्। न च अङ्कुरं करोति। तस्मान्न समर्थव्यवहारगोचर इति प्रसङ्गविपर्ययौ स्यातामित्यत आह – **एतेन समर्थव्यवहारगोचरत्वं हेतुरिति निरस्तम्।** अत्रापि प्रसङ्गे मूलशैथिल्यम्, विपर्यये च बाध इत्याह – **ताद शव्यवहारगोचरस्यापि बीजस्याङ्कुराकरणदर्शनात्।** अयं भावः – क्षेत्रपतितबीजस्य सलिलादिसत्त्वे पि अङ्कुरजननसमर्थव्यवहारगोचरत्वे पि कदाचित् अङ्कुराकरणेन व्यभिचाराद् व्याप्त्यभाव एव प्रसङ्गहेतौ मूलशैथिल्यम्। अङ्कुरजनकत्वाभाववति अङ्कुरजनन–समर्थव्यवहारगोचरत्वस्य सत्त्वेन आपाद्याभाववति आपादकस्य सत्त्वात् व्यभिचारः। साध्याभाववद्व त्तित्वस्यैव व्यभिचारत्वात्। अङ्कुरजनकत्वाभाववत् सलिलादियुक्त–क्षेत्रपतितबीजपक्षकत्वस्य क्षेत्रपतितबीजे सत्त्वेन तत्र अङ्कुरजननसमर्थ–व्यवहारगोचरत्वस्य आपादकस्य सत्त्वेन बाधः। साध्याभाववत्–पक्षकत्वस्यैव बाधत्वात्।

ननु मुख्यसमर्थव्यवहारजनकत्वनिबन्धनौ प्रसङ्गविपर्ययौ इति नोक्तदोषः। पूर्वोक्तस्थले मुख्यसमर्थव्यवहारगोरत्वाभावादिति शङ्कते – **नासौ मुख्यस्तत्र व्यवहारः। तस्य तज्जनननिमित्तकत्वात्। अन्यथा तु अनियमप्रसङ्गादिति चेत्?** यत्र बीजादङ्कुरः उत्पद्यते तत्रैव समर्थव्यवहारस्य मुख्यत्वम्। यत्र बीजादङ्कुरः नोत्पद्यते तत्र न बीजस्य समर्थव्यवहारस्य मुख्यत्वमिति नोक्तव्यभिचारः। तस्य

मुख्यसमर्थव्यवहारस्य जननिमित्तकत्वात्। अङ्कुरादिकार्यस्य जननं निमित्तं यस्य मुख्यसमर्थव्यवहारस्य, स जननिमित्तकः, तस्य भावः, जननिमित्तकत्वं, तस्मात्।

अन्यथा = यथाकथचित् समर्थव्यवहारस्य हेतुनिश्चायकत्वे। भ्रान्त–ताद श–व्यवहारगोचर–शिलाशकलादपि अङ्कुरापत्तेः। तथा च यदि यथाकथचित् समर्थ–व्यवहारनिबन्धनमेव करणं स्यात्, तदा भ्रान्तताद शव्यवहारगोचरशिलाशकलादपि अङ्कुरः स्यादित्यर्थः। यद्वा कुसूलस्थस्य अपि बीजस्य मुख्यसमर्थव्यवहारगोचरत्वे ततो पि अङ्कुरः स्यादिति अनियमप्रसङ्ग इत्यर्थः।

मुख्यव्यवहारं प्रति निमित्तं विकल्प्य दूषयितुमाह – **कीद शं पुनर्जननं मुख्यव्यवहारनिमित्तम्? न तावत् अक्षेपकरणम् तस्यासिद्धेः। नियमस्य च सहकारिसाकल्ये सत्येव करणं करणमेव इत्येवं स्वभावत्वेनापि उपपत्तेः। ततश्च जननिमित्त एवायं व्यवहारो न च व्याप्तिसिद्धिरिति।** अक्षेपकरणं मुख्यसमर्थव्यवहारे न हेतुर्भवितुं योग्यः। अक्षेपकरणस्य तवाभिमतस्य इदानीम् असिद्धत्वात्। नोभयवादिसिद्धम् अक्षेपकरणम्। अनियमप्रसङ्गं परिहरति – **नियमस्य चेति**। बीजम् अङ्कुरादिकार्यं जनयत्येव इति अत्यन्तायोगव्यवच्छेदो नियमः। सहकारि–समवहितमेव बीजम् अङ्कुरादिकार्यं जनयति। जनयत्येव इत्यन्ययोगायोगाभ्यां नियमः। शिलाशकले न प्रथमः। केवले बीजे कुसूलस्थे न द्वितीयः। तथाच कुसूलस्थस्य बीजस्य मुख्यसमर्थव्यवहारगोचरत्वे पि अङ्कुराजननं सहाकारि–(म त्तिकासलिलादि)–वैधुर्यप्रयुक्तमिति नानियम इति बोध्यम्। मुख्यसमर्थव्यवहार–गोचरत्वम् उपसंहरति – **ततश्चेति**। कदाचिज्जननमेव (बीजात् कदाचिद् अङ्कुर–जननमेव) शिलाशकलादिविलक्षणं मुख्यसमर्थव्यवहारगोचरत्वे मूलम्। तद्वैलक्षण्यं बीजे वर्तते न तु शिलाशकले। तथा च यदि समर्थव्यवहारगोचरः स्यात् तदा अङ्कुरादिकार्यं कुर्यादिति न व्याप्तिरस्ति इत्यतः प्रसङ्गे मूलशैथिल्यम्। यद्वा सत्त्वक्षणिकत्वयोरेतावता न व्याप्तिसिद्धिः इत्यर्थः।

स्यादेतत्। एतावतापि भावस्य कः स्वभावः समर्थितो भवति न हि क्षेपाक्षेपाभ्यामन्यः प्रकारो स्तीति चेत्। न, दूषणाभिधानसमये निश्चयाभावेनैव सन्दिग्धासिद्धिनिर्वाहे कथापूर्वरूपपर्यवसानात्। उत्तरपक्षावसरे तु सो पि न दुर्वचः।

तथाहि करणं प्रत्यविलम्ब इति को र्थः। किमुत्पत्तेरनन्तरमेव करणं सहकारिसमवधानानन्तरमेव वा। विलम्ब इत्यपि को र्थः। किं यावन्न सहकारिसमवधानं तावदकरणं सर्वथैवाकरणमिति वा। तत्र प्रथमचतुर्थयोः प्रमाणाभावादनिश्चये पि द्वितीयत तीययोः प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। बीजजातीयस्य

हि सहकारिसमवधानानन्तरमेव करणं करणमेवेति प्रत्यक्षसिद्धमेव। तथा सहकारिसमवधानरहितस्याकरणमित्यपि।

अत्र च भवानपि न विप्रतिपद्यत एव प्रमाणसिद्धत्वात् विपर्यये बाधकाच्च। तथाहि यदि सहकारिविरहे कुर्वाणस्तत्समवधाने पि न कुर्यात् तज्जातीयमकरण-मेव स्यात्। समवधानासमवधानयोरुभयोरप्यकरणात्। एवं तत्समवधानविरहे पि यदि कुर्यात् सहकारिणो न कारणं स्युः, तानन्तरेणापि करणात्। तथा चानन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकवतामप्यकारणत्वे कार्यस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गः। तथा च कादाचित्कत्वविहतिरिति।

ननु पदार्थानां क्षेपकारित्वस्वभावत्वे सर्वदैवाकरणमिति कार्योत्पत्तिर्न स्यात्। अतो क्षेपकारिस्वभावत्वं कल्पनीयम्। तच्च स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षण एव करणे सति स्यात्। तथा च कार्यजनने समर्थासमर्थबीजक्षणयोर्भेदसिद्धौ सिद्धं क्षणिकत्वम् इत्याशयेन भावस्वाभाव्यं (स्वभावं) प च्छति – **स्यादेतदिति। नहीति**। क्षेपाक्षेपयोः परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरिति यत इति भावः। अयं भावः – भावानां क्षेपाक्षेपकारि– स्वभावातिरिक्तस्वभावो न भवितुमर्हति। तत्र क्षेपस्वभावत्वस्वीकारे कार्यानुपपत्तिरिति कार्यान्यथानुपपत्त्या अक्षेपकारि–स्वभावत्वमङ्गीकार्यम्। तथा च कुसूलस्थबीज–क्षेत्रपतितबीजयोः स्वभावभेदाद् भिन्नत्वं क्षणिकत्वं विना नोपपद्यते इति भावानां क्षणिकत्वमङ्गीकार्यमिति। अक्षेपकारित्वस्वाभाव्यं सामर्थ्यम् (अङ्कुरादिकार्य–जननसामर्थ्यम्) आलम्ब्य यदि समर्थं (अङ्कुरादि–कार्यजनने कुसूलस्थबीजं समर्थम्) स्यात् तदा अङ्कुरं कुर्यादिति प्रसङ्गः त्वया वतारितः। तत्र च तत्स्वाभाव्य–(अक्षेपकारित्वस्वाभाव्य–)सन्देहादपि सन्दिग्धासिद्धिदूषणमुक्तम्। एतावतैव परोक्तसाधने दूषणाभिधानस्य कथापूर्वरूपस्य पर्यवसानात् तव पराजय इत्याह – **न दूषणाभिधानेनेति।**

अयं भावः। दूषणावसरे भावानाम् (बीजादीनाम्) अक्षेपकारित्वस्वभावत्वस्य निश्चयाभावेनैव भावः क्षणिकः अक्षेपकारिस्वभावत्वाद् इत्यत्र हेतोः अक्षेपकारित्व–स्वभावत्वस्य सन्दिग्धत्वम्। भावः अक्षेपकारित्वस्वभावत्ववान् न वेति सन्देह– विरोधिनः अन्यतरकोटिकनिश्चयस्य अभावात्। एवं च हेतोः सन्दिग्धासिद्धत्वे परपक्षखण्डनपूर्वक–स्वपक्षस्थापनरूपजल्पकथायाः पूर्वरूपम् प्रतीकम् परपक्षखण्डनम्। तस्याभावेन जल्पकथा कर्तुं न शक्यते। तत्र परोक्तसाधने दोषस्यावश्यकत्वादिति पराजयः।

ननु परपक्षखण्डनपूर्वक–स्वपक्षस्थापनरूपायां जल्पकथायां स्वपक्ष– स्थापनाय स्वपक्षसाधनमपि वक्तुमुचितमित्यत आह – **उत्तरेति।** परपक्षखण्डनम् उत्तरः पक्षः। प्रकृते स्वपक्षस्य भावस्थैर्यस्य स्थापनम्। तथा च स्वपक्षस्य पदार्थस्थैर्यस्थापनस्य

अवसरे तु **सो पि** = नियमो पि **न दुर्वचः**। स्थैर्यपक्षे दुर्वचत्वाभावं दर्शयितुमाह – **तथाहि करणं प्रत्यविलम्ब इति को र्थ इति**। क्षेपाक्षेपयोः अविवेचितयोः एकतरकोटिपरिग्रहो नुचित इति विवेक्तुं विकल्पयति – (i) **किम् उत्पत्तेरनन्तरम् एवेति**। **किमुत्पत्तेः** = कारणोत्पत्तेः **अनन्तरमेव** स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षण एव कार्यस्य करणम्, (कार्यस्य जनकत्वं कारणे मन्तव्यम्?) (ii) **किंवा सहकारिसमवधानानन्तरम् एव** कार्यस्य करणम्। **विलम्ब इत्यपि को र्थः**। (iii) **किं यावन्न सहकारिसमवधानं तावद्** (कार्यस्य) **अकरणम्** (iv) **सर्वथैव वा** (कार्यस्य) **अकरणम्?** उत्पत्त्यनन्तरमेव कारणे कार्यकरणत्वमित्यत्र न प्रमाणमिति प्रमाणाभावात् अनिश्चये सति सर्वथैव कार्यस्याकरणत्वं कारणे इति पक्षे प्रमाणस्याभावेन अनिश्चये सति सहकारिसमवधानानन्तरमेव कारणं कार्यं करोति, किं वा यावन्न सहकारिसमवधानं तावत् कारणं कार्यं न करोति इति द्वितीय–त तीयविकल्पयोः प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्।

बीजत्वेनैव कारणतेति विवक्षन्नाह – **बीजजातीयस्य** इति। ताद्रूप्येण अन्वयव्यतिरेकदर्शनात्। बीजजातीयस्य हि सहकारि–समवधानानन्तरमेव कार्यकरणं कार्यस्य करणमेवेति, अन्वयव्यतिरेकबलप्रव त्तम् प्रत्यक्षसिद्धम् एवेति। तथा सहकारिसमवधानरहितस्य कारणस्य कार्याकरणम् इत्यपि प्रत्यक्षसिद्धमेव। अत्र च भवानपि (बौद्धो पि) न विप्रतिपद्यत एव = न सन्दिह्यते, प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वात्। **विपर्यये** (सहकारिसमवधानानन्तरं कारणं कार्यं न करोतीत्यादिविपर्यये) बाधकाच्च। तथाहि यदि सहकारि– कारणविरहे अकुर्वाणः (कारणपदार्थः) तत्(सहकारि) समवधाने पि न कुर्यात् तज्जातीयम् (बीजत्वादिजातीयम्) कार्याकरणम् एव स्यात्। समवधाना– समवधानयोः उभयोरप्यकरणात् (कार्याकरणात्)। एवं तत्(सहकारि)– समवधानविरहे पि यदि कारणं बीजादि कार्यम् अङ्कुरादिकं कुर्यात् तदा सहकारिणो न कारणं स्युः। तान् (सहकारिणः) अन्तरेणापि कार्यकरणात्। तथा च अनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेक–(तत्सत्त्वे तत्सत्ता तदभावे तदभावः) वतामपि बीजादीनाम् अकारणत्वे कार्यस्य आकस्मिकत्वप्रसङ्गः (कार्यस्य अकारणकत्वप्रसङ्गः)। तथा च कार्यस्य किंचित्काले सतः किंचित्काले सत्त्वरूपकादाचित्कत्वविहतिरिति।

एवं च द्वितीयपक्षविवक्षायामक्षेपकारित्वमेव भावस्य स्वभावः। त तीयपक्षविवक्षायां तु क्षेपकारित्वमेव भावस्य स्वरूपमिति नोभयप्रकारनिव त्तिरिति।

तथापि किमसमर्थस्यैव सहकारिविरहः स्वरूपलाभानन्तरं कर्तुरेव वा सहकारिसमवधानम् अन्यथा वेति। किं नियामकमिति चेत् इदमुच्यते कुसूलस्थबीजस्याङ्कुरानुकूलः शिलाशकलात् कश्चिदस्ति विशेषो न वा। न

चेन्नियमेनैकत्र प्रव त्तिः अन्यस्मान्निव त्तिश्च तदर्थिनो न स्यात्। परम्परयाङ्कुर-प्रसवसमर्थबीजक्षणजननादस्त्येवेति चेत् कदा पुनः परम्परयापि तथाभूतं करिष्यतीति। तत्र सन्देह इति चेत् स पुनः किमाकारः। किं सहकारिषु समवहितेष्वपि करिष्यति न वेति। उतासमवहितेष्वपि तेषु करिष्यति न वेति। अथ यदा सहकारिसमवधानं तदैव करिष्यत्येव परं कदा तेषां समवधानमिति सन्देहः।

ननु तथापि भावस्य कः स्वभाव इति प्रश्ने किमुत्तरमत आह – **एव च द्वितीयपक्षविवक्षायामिति**। सहकारिसमवधानानन्तरमेव कारणं कार्यं करोतीति द्वितीयपक्षविवक्षायाम् अक्षेपकारित्वमेव भावस्य स्वभावः। यावन्न सहकारिसमवधानं तावत् कार्याकरणं कारणस्येति। त तीयपक्षविवक्षायां तु क्षेपकारित्वमेव भावस्य स्वरूपम्। एव च सहकारि–समवधानासमवधान– रूपावच्छेद(क)भेदमादाय अक्षेपकारित्व–क्षेपकारित्वयोः उभयोरपि एकस्मिन् बीजजातीये दर्शनात् नानयोः अक्षेपकारित्व–क्षेपकारित्वयोर्विरोधः; उभयोः एकत्र सहानवस्थानात्। तथा च कुसूलस्थबीजात् क्षेपकारित्व–स्वभाववतः, क्षेत्रपतितस्य अक्षेपकारिस्वभाववतो न भेदः सिद्ध्यति। कुतो भावानां क्षणिकत्वमिति बौद्धानाम् अत्र भ्रम एव।

ननु बीजानां बीजत्वेन सामर्थ्ये सिद्धे समर्थानां बीजजातीयानाम् इव एकस्यापि बीजस्य सहकारिसाकल्य–वैकल्याभ्याम् एव कार्यकरणाकरणयोः उपपत्तौ सिद्ध्यति स्थैर्यम्। न त्वेतदस्ति समर्थस्य, क्षेपायोगात्। यदि अङ्कुरजनने कुसूलस्थं बीजं समर्थं स्यात् तदा अङ्कुरं कुर्यात्, अङ्कुरजनने समर्थस्यास्य सहकारिमुखनिरीक्षणं न युक्तम्। अतः बीजादीनां कारणानां कुर्वद्रूपत्वेनैव सामर्थ्यं न बीजत्वेन। समर्थ एव हि सहकारिणां लाभो न तु समर्थभिन्ने। तथाच न सहकारि–साकल्य–वैकल्य–प्रयुक्ते कारणाकारणे भवतः; किन्तु सामर्थ्यासामर्थ्यप्रयुक्ते एव। तथाच कुसूलस्थं बीजं न अङ्कुरजनने समर्थम्, कुर्वद्रूपत्वाभावात्। क्षेत्रपतितं च तत् समर्थम् कुर्वद्रूपत्वात्। विरुद्धाभ्यां कुर्वद्रूपत्वाकुर्वद्रूपत्वाभ्याम् इति उभयोः बीजयोः भेदसिद्धौ सुतरां क्षणिकत्वं सिद्ध्यति। अन्यथा भेदासिद्धेः इत्याशयेन आशङ्कते – **तथापीति**।

ननु भावानाम् अक्षेपकारित्व–क्षेपकारित्वरूप–स्वभावस्थितावपि न स्थैर्यम्। यतः कुर्वद्रूपस्यैव सहकारिसमवधानम् अकुर्वद्रूपस्यैव तद्विरह इति क्षणिकत्वे पि उपपद्यते इत्यभिप्रेत्याह – **तथापीति**। किमसमर्थस्यैव सहकारिविरहः, स्वरूपलाभानन्तरं कर्तुरेव वा सहकारिसमवधानम्, अन्यथा वेति किं नियामकमिति चेत् इति। असमर्थस्य अकुर्वद्रूपस्य बीजस्य सहकारिविरहः स्वरूपलाभानन्तरं **कर्तुरेव** = कुर्वद्रूपत्वजातिमत एव सहकारिसमवधानमिति क्षणिकत्वं विना भावानां न सिद्ध्यति। अतः क्षणिकत्वं भावानां मन्तव्यम्। **अन्यथा वेति**। समर्थस्यापि कदाचित् सहकारिणां

वैकल्यं कदाचित् साकल्यम्। तेन समर्थमपि बीजं कदाचित् कार्यं करोति कदाचिन्न करोति इत्यत्र किं नियामकमिति चेत् ?

श्रूयताम्। कार्यमकुर्वदपि कुसूलस्थं बीजं बीजत्वालिङ्गितं समर्थमेवेति एकस्यैव सहकारिलाभालाभाभ्यां कार्यकरणाकरणे भवत इति स्थैर्यम् एव बीजादिभावानाम् इत्यभिप्रेत्य प च्छति – **कुसूलस्थेति। कुसूलस्थ- बीजस्य अङ्कुरानुकूलः शिलाशकलाद् विशेषः कश्चिदस्ति न वा?** यदि उभयोर्न विशेषो स्ति तदा अङ्कुरार्थिनां नियमेन कुसूलस्थे बीजे प्रव त्तिः, अन्यस्माद् शिलाशकलाद् निव त्तिः न स्यात्। उभयोरविशेषात्।

ननु असमर्थमपि कुसूलस्थं बीजम् अङ्कुरजननसामर्थ्यं जनयिष्यति शिलाशकलं तु न तथेत्युभयोर्विशेषो स्तीति शङ्कते – **परम्परयेति। परम्परया** (कुसूलस्थबीजान्तरं ततो पि बीजान्तरमिति परम्परया) कुसूलस्थ– बीजं अङ्कुर–प्रसवसमर्थ–क्षेत्रपतितबीजक्षण(क्षणिक)जननाद् अस्त्येव विशेषः कुसूलस्थबीजे शिलाशकलादिति अङ्कुरार्थिनः कुसूलस्थे बीजे प्रव त्तिः, शिलाशकलाद् निव त्ति–श्चोपपद्यते इति। काचिद् भुक्ता नष्टा च व्यक्तिः (बीजव्यक्तिः) समर्थलक्षणं सदपि (समर्थं बीजम्) नाङ्कुरं जनयति। अथ च तत्रापि तदर्थं प्रव त्तिरिति बीजत्वेनैव सामर्थ्यं वाच्यमिति हृदये निधाय पूर्वोक्तं खण्डयितुं प च्छति – **कदेति**। कदा पुनः कुसूलस्थं बीजं तथाभूतम् (अङ्कुरप्रसवसमर्थ–बीजक्षणजननं) करिष्यतीति? परम्पराकारणे प्रव त्तौ कालावच्छेदज्ञानमतन्त्रम् इत्याशयेनाह – **तत्रेति**। कदा कुसूलस्थं बीजम् अङ्कुरजनसमर्थं बीजान्तरं जनयिष्यतीत्यत्र सन्देह इति चेत्? सः = सन्देहः पुनः किमाकारः? बीजं सहकारिसमवधाने कार्यं करिष्यत्येव। समवधानं तु कदा इति सन्देहो वाच्यः। तथा च बीजत्वेनैव बीजे सामर्थ्यं वाच्यम् इत्याशयेन संशयेन संशयाकारं विकल्पयति – **स पुनरिति**। संशयः किमाकारः? किं सहकारिषु समवहितेष्वपि करिष्यति न वेति? उतासमवहितेष्वपि तेषु करिष्यति न वेति? अथ यदा सहकारिसमवधानं तदैव (कार्यं) करिष्यत्येव। परं कदा तेषां (सहकारिणां) समवधानम् इति सन्देहः।

न तावत् पूर्वः, सामान्यतः कारणत्वावधारणे तस्यानवकाशात्। अवकाशे वा कारणत्वानवधारणात्। नापि द्वितीयः, सहकारिणां तत्वावधारणे तस्यानवकाशात्, अवकाशे वा तेषां तत्त्वानवधारणात्। त तीये तु सर्व एव तत्सन्तानान्तःपातिनो बीजक्षणाः समानशीलाः प्राप्नुवन्ति, यत्र यत्र सहकारिसमवधाने सति करणनियमात् सर्वत्र च सहकारिसमवधानसम्भवात्।

तान् सन्देहान् खण्डयितुमाह – **न तावत् पूर्व इति**। सहकारिषु समवहितेष्वपि कारणं कार्यं करिष्यति न वेति सन्देहो न युक्तः। बीजादेः अङ्कुरादिकं प्रति

कारणत्वावधारणे तस्य सन्देहस्य अनवकाशात्। सन्देहस्य तस्य अवकाशे वा बीजादेः अङ्कुरादिकार्यं प्रति कारणत्वानवधारणात्। अनन्यथासिद्धत्वे सति नियतपूर्वव त्तित्वस्यैव कारणत्वात्।

नापि द्वितीयः। असमवहितेष्वपि सहकारिषु कारणं बीजादि अङ्कुरादिकार्यं करिष्यति न वेति द्वितीयसन्देहो पि न युक्तः। सहकारिणां तत्त्वावधारणे = सहकारित्वावधारणे तस्य सन्देहस्य अनवकाशात्। तदवच्छिन्न–असमवधानप्रयुक्त–फलोपधायकत्वाभाववत्त्वं सहकारित्वम् इति सहकारिणो लक्षणात्। यथा दण्डत्वावच्छिन्न–असमवधानप्रयुक्तः कुलाले घटं प्रति फलोपधायकत्वाभावो भवति इति दण्डादिकं सहकारिकारणं भवति। फलोपधायकत्व च कार्याव्यवहित–प्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणव त्तित्वम् (कारणस्येति) बोध्यम्। स्वरूपयोग्यत्व च कारणातावच्छेदकरूपवत्त्वम्। सन्देहस्य अवकाशे वा तेषां सहकारिणां तत्त्वा–(सहकारित्वा)–नवधारणात्।

त तीये तु यदा सहकारिसमवधानं तदैव बीजादिकारणम् अङ्कुरादिकार्यं करिष्यत्येव। परं तु कदा तेषां सहकारिणां समवधानमिति सन्देहे तु सर्व एव तत्सन्तानान्तःपातिनो बीजक्षणाः समानशीलाः = समानयोग्यताकाः (समानं सामर्थ्यरूपं शीलं येषां ते बीजक्षणाः) प्राप्नुवन्ति यत्र तत्र सहकारिसमवधाने सति करणनियमात् (कार्यकरणनियमात्) सर्वत्र बीजादिषु सहकारिसमवधानसंभवात्।

अयं भावः। यदि सर्वे बीजक्षणाः समानयोग्यताकाः समानसामर्थ्यवन्तः भवद्भिः स्वीक्रियन्ते तदा बीजत्वेनैव तेषां बीजक्षणानां कारणत्वमायाति। तथा च बीजत्वस्य क्षेत्रपतितबीजे इव कुसूलस्थबीजे पि सत्त्वेन तस्यापि अङ्कुरादिकं प्रति कारणत्वं स्वीकृतं त्वया। तच्च कारणत्वं स्वरूपयोग्यत्वं न तु फलोपधायकत्वरूपमिति विशेषः। न च सहकारिषु समवहितेष्वपि कारणं बीजादि अङ्कुरादिकार्यं करिष्यति न वेति सन्देहो न युक्तः। सामान्यतः बीजत्वेन बीजानां कारणात्वावधारणे तस्य सन्देहस्य अनवकाशादिति कथनं सौगतं (बौद्धं) प्रति न युक्तम्। तेन बौद्धेन अङ्कुरसमर्थबीजक्षणस्य बीजत्वेन (सामान्येन) कारणत्वानभ्युपगमात्। तेन (सौगतेन) कुर्वद्रूपत्वेनैव तस्य बीजस्य कारणत्वं स्वीक्रियमाणत्वादिति वाच्यम्। बीजजातीयस्य सहकारिसमवधाने सत्येव अङ्कुरकरणमेवेति प्रत्यक्षसिद्धमित्यादिना तत् साधनात् (बीजत्वेन बीजस्य अङ्कुरकरणत्वसाधनात्)। न च समवहितेष्वपि सहकारिषु बीजादिकम् अङ्कुरादि करिष्यति न वेति द्वितीयसन्देहस्य सहकारिणां तत्त्वाव–धारणे तस्य सन्देहस्य अनवकाशादिना निराकरणं न युक्तम्, बौद्धेन जल–पवन–म त्तिकादिनां सहकारित्वानभ्युपगमात्। बीजादीनां कुर्वद्रूपत्वेनैव कारणत्वस्य स्वीकृतत्वादिति वाच्यम्। एवं तत्समवधानविरहे पि यदि कारणं कार्यं कुर्यात् तदा

सहकारिणो न कारणं स्युः; तान् अन्तरेण करणादित्यनेन पूर्वमेव सहकारिणः कारणत्वसाधनात्।

समर्थ एव क्षणे क्षित्यादिसमवधानमिति चेत् तत् किमसमर्थे सहकारिसमवधानमेव नास्ति, समवधाने सत्यपि वा तस्मान्न कार्यजन्म। नाद्यः, शिलाशकलादावपि क्षितिसलिलतेजःपवनयोगदर्शनात्। न द्वितीयः, शिलाशकलादिव कदाचित् सहकारिसाकल्यवतो पि बीजादङ्कुरानुत्पत्ति-प्रसङ्गात्।

एवमपि स्यात्। को दोष इति चेत्, न तावदिदमुपलब्धम्। आशङ्क्यत इति चेत् न, तत्समवधाने सत्यपि अकरणवत् तद्विरहे करणमप्याशङ्क्येत। आशङ्क्यतामिति चेत् तर्हि बीजविरहे प्याशङ्क्येत। तथा च सति साध्वी प्रत्यक्षानुपलम्भपरिशुद्धिः।

ननु समर्थ एव (कार्यजनने समर्थ एव) क्षणे = बीजादौ क्षित्यादिसहकारि–समवधानमिति सर्वेषां बीजादीनां न समानशीलत्वम्। तथा च कुसूलस्थबीजे कुर्वद्रूपत्वाभावेन नाङ्कुरकार्यजनकत्वं क्षेत्रपतिते च बीजे तत्सत्त्वेन अङ्कुरजन–कत्वमिति परस्परभेदः सिद्ध्यन् क्षणिकत्वं गमयतीति चेत्? न। विकल्पासहत्वात्। तथाहि तत् किमसमर्थे क्षणे सहकारिसमवधानमेव नास्ति, समवधाने सत्यपि तस्मान्न कार्यजन्म।

नाद्यः। शिलाशकले अङ्कुरजननासमर्थे क्षणे क्षिति–सलिल–तेजः– पवनानां सहकारिणां योगदर्शनात्।

न द्वितीयः। शिलाशकलादिव कदाचित् सहकारि–साकल्यवतो पि बीजात् अङ्कुरकार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्।

ननु सहकारिसमवहितादपि बीजात् अङ्कुरानुत्पत्तौ को दोष इति चेत् ? न। तथानुपलम्भात्। सहकारिसमवहिताद् बीजात् क्षेत्रे ङ्कुरोत्पत्तेः दर्शनात्। न च स्थिरवादिनस्तव मते समर्थमपि कुसूलस्थं बीजं यथा अङ्कुरं न जनयति तथा क्षेत्रपतितमपि बीजं सहकारिसमवहितं नाङ्कुरं जनयिष्यति इत्याशङ्का स्यादिति वाच्यम्। तथा सति बीजस्य सहकारिसमवधानवतः क्षेत्रपतिताङ्कुरकार्या–जनकत्वाशङ्काया इव सहकारिसमवधानविरहवतो पि कुसूलस्थबीजस्य अङ्कुरकार्य–जनकत्वाशङ्काया विनिगमकाभावेन आपत्तेः। अतः शङ्का नानुभवम् अतिक्रामति।

न च आशङ्क्यतां न कापि क्षतिः, क्षणिकत्वस्याक्षतेरिति वाच्यम्। अनिबन्धनाशङ्काया अङ्गीकरणे बीजविरहे पि अङ्कुरोत्पत्तेरपि आशङ्क्य–मानत्वापत्तेः। न च इष्टापत्तिः। अङ्कुरार्थिनो बीजे नियतप्रव त्त्यनुपपत्तेः। तथाच

सति **साध्वी प्रत्यक्षानुपलम्भपरिशुद्धिः** = प्रत्यक्षानुपलम्भौ अन्वयव्यतिरेकौ, तत्परिशुद्धिः = तदुपस्थितकार्यकारणभावनिश्चयः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव कार्यकारणभावनिश्चयो भवति। कारणतानिश्चये सति अङ्कुरादिकार्यार्थी तत्कारणे बीजादौ प्रवर्त्तते, तदकार्यार्थी च तत्कारणात् निवर्त्तते। सति च कार्यकारणभावानिश्चये प्रव त्तिनिव त्त्योः अभावे निरीहं जगज्जायेतेति भावः।

स्यादेतत् न बीजादीनां परस्परसमवधानवतामेव कार्यकरणमङ्गीकृत्या शङ्क्यते, येन समवधानानियमात् सर्वेषामेव तज्जातीयानामेकरसतानिश्चयः स्यात्। नापि यत्र तत्र समर्थोत्पत्तिमङ्गीकृत्य येन विकलेभ्यो पि कदाचित् कार्यजन्मसम्भावनायां प्रत्यक्षानुपलम्भविरोधः स्यात्।

किन्नाम बीजादिषु समवहितेष्ववान्तरजातिविशेषमाश्रित्यापि कार्यजन्म सम्भाव्यत इति। न, द ष्टसमवधानमात्रेणैवोपपत्तौ तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात्, कल्पनागौरवप्रसङ्गप्रतिहतत्वात्, अतीन्द्रियेन्द्रियादिविलोपप्रसङ्गात्, विकल्पानुपपत्तेः, विशेषस्य विशेषं प्रति प्रयोजकत्वाच्चेति।

ननु नियतान्वयव्यतिरेकाभ्यां बीजजातीयस्य अङ्कुरं प्रति सामर्थ्यम् एव अवध तम्। तच्च सामर्थ्यं न बीजत्वेन, समर्थस्य क्षेपायोगात्। कुसूलस्थादेरपि बीजादङ्कुरोत्पादप्रसङ्गात्। परन्तु बीजत्वावान्तरकुर्वद्रूपत्वेन बीजादीनां कारणत्वं कल्पनीयम्। समर्थानां च स्वकारणसामर्थ्याधीनः समाजनियमः (सहकारिनियमः) प्रमाणबलादेव कल्प्यते। एकविरहे परस्मात् कार्योत्पादे तस्य अकारणत्वप्रसङ्गात्। अनुत्पादे च सामर्थ्यायोगात्। शिलादिमिलितास्तु बीजविरहिणः क्षित्यादयो न समर्थाः, कार्याजनकत्वात् इत्याशयेन शङ्कते – **स्यादेतदिति**। पूर्वं कुर्वद्रूपत्वे साधकाभाव उक्तः, इदानीं विस्तरेण बाधकमभिधीयते इति न पौनरुक्त्यम्। परस्परसमवधानवताम् एव बीजादीनां कार्यकारणभावमङ्गीकृत्य कदा सहकारिसमवधानं स्यादिति न शङ्क्यते; येन समवधानानियमात् सर्वेषामेव बीजत्वादिजातीयानाम् अङ्कुरादिकार्यं प्रति कारणतानिश्चयः स्यात्। नापि यत्र तत्र समर्थोत्पत्तिम् (अङ्कुरजननसमर्थोत्पत्तिम्) अङ्गीकृत्य शङ्क्यते, येन सहकारिविकलैरपि बीजादिभिः कदाचित् कार्यजन्म संभावनायां प्रत्यक्षानुपलम्भविरोधः (ग हीतान्वयव्यतिरेकभङ्गः) स्यात्। किं नाम बीजादिषु समवहितेषु (क्षिति–पवन–तेजः–संयुक्तेषु) अवान्तरजातिविशेषम् (बीजत्वव्याप्यं कुर्वद्रूपत्वम्) आश्रित्य कार्यजन्म संभाव्यते (बीजत्वं वा कारणतावच्छेदकम्, कुर्वद्रूपत्वं वा कारणतावच्छेदकमिति सन्दिह्यते) इति।

तन्न युक्तम्। क्षिति–जल–पवन–तेजः–समवहित–बीजात् अङ्कुर–जननस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन बीजानां बीजत्वेनैव अङ्कुरजनकता प्रत्यक्षादिप्रमाणेन अङ्गीकरणीया, न कुर्वद्रूपत्वेन तेषां कारणता मन्तव्या। कुर्वद्रूपत्वकल्पनायां

प्रमाणाभावात्। बीजत्वे प्रत्यक्षादिप्रमाणस्य सत्त्वात्। बीजादिषु कुर्वद्रूपत्वकल्पनाया गौरवप्रसङ्गप्रतिहतत्वात्। कुर्वद्रूपत्वे विप्रतिपत्तिः। अङ्कुरकारणतावच्छेदकं फलोपहितबीजमात्रव त्ति न वेति। विधिकोटिः बौद्धस्य। ते फलोपहितक्षेत्रपति– तबीजमात्रे कुर्वद्रूपत्वं स्वीकुर्वन्ति। निषेधकोटिः नैयायिकाम्। बीजत्वं फलोपहिते क्षेत्रपतिते क्षेत्रापतिते च कुसूलस्थे बीजे ते स्वीकुर्वन्ति। कुर्वद्रूपत्वस्य प्रत्यक्ष– योग्यबीजे योग्यानुपलब्ध्या अभावः सिद्ध्यति। बीजत्वेनैव प्रत्यक्षसिद्धेन अङ्कुरकारणतावच्छेकं संभवति तदर्थम् अतीन्द्रियजातिकल्पना न संभवति इति दोषान्तरं च विद्यते। दोषान्तरमाह – **अतीन्द्रियेति**। बाह्यालोकादेरेव कुर्वद्रूपात् साक्षात्कारोपपत्तौ अतीन्द्रियेन्द्रियादिविलोपप्रसङ्गात्। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणतावच्छेदकत्वस्य बीजत्वे प्रत्यक्षसिद्धत्वे पि यथा कुर्वद्रूपत्वं मत्वा तदपलपन्ति। तथा प्रमाणसिद्धामपि चक्षुषः कारणतां बाह्यालोके कुर्वद्रूपत्वं मत्वा चक्षुर्न मन्तव्यम्। दोषान्तरमाह –**विकल्पानुपपत्तेरिति।** अङ्कुरकुर्वद्रूपत्वस्य शालित्वेन समं व्याप्यव्यापकभावो विरोधो वेति पक्षद्वयस्यैवानुपपत्तेः। शालित्वाभाववति यवबीजे कुर्वद्रूपत्वं वर्तते। कुर्वद्रूपत्वाभाववति कुसूलस्थे शालिवीजे शालित्वं वर्तते इति तयोः न व्याप्यव्यापकभावो भवितुमर्हति। दोषान्तरमाह – **विशेषस्येति।** बीजत्वसामान्यस्य क्वचित् प्रयोजकत्वमावश्यकम्। तच्च निरूप्यमाणम् अङ्कुरं प्रत्येव स्यादित्यर्थः।

तथाहि उत्पत्तेरारभ्य मुद्गरप्रहारपर्यन्तं घटस्तावत् जात्यन्तरानाक्रान्त एवानुभूयमानः क्रमवत्सहकारिवैचित्र्यात् कार्यकोटीः सरूपा विरूपाः करोति। तत्र एतावतैव सर्वस्मिन् सम जसे अनुपलभ्यमानजातिकोटिकल्पना केन प्रमाणेन केन वोपयोगेन, येन कल्पनागौरवप्रसङ्गदोषो न स्यात्। यो यदर्थं कल्प्यते तस्यान्यथासिद्धिरेव तस्याभाव इति भवानेवाह इति।

द ष्टं च जातिभेदं तिरस्कृत्य स्वभावभेदकल्पनयैव कार्योत्पत्तौ सहकारिणो पि द ष्टत्वात् कथचित् स्वीक्रियन्ते। अतीन्द्रियेन्द्रियादिकल्पना तु विलीयेत, मानाभावात्।

तत्राद्यम् (द ष्टसमवधानमात्रेणैवोपपत्तौ तत्कल्पनायां प्रमाणाभावाद् इत्याद्यम्) विव णोति – **तथा हि उत्पत्तेरारभ्येति**। उत्पत्तेरारभ्य मुद्गर– प्रहारपर्यन्तं घटः तावत् जात्यन्तरानाक्रान्त एव अनुभूयमानः क्रमवत् (दण्डचक्रम त्तिकादिरूप)सहका– रिवैचित्र्यात् कार्यकोटीः (घटकुण्डादिक– जलाहरणानि) सरूपाः विरूपाश्च करोति। यदि घटः जात्यन्तराक्रान्तः स्यात् तदा तथोपलभ्येत। न चोपलभ्यते तस्मान्न जात्यन्तराक्रान्तः इति बोध्यम्। तत्र एतावता एव सर्वस्मिन् सम जसे अनुपलभ्यमान(कुर्वद्रूपत्व)जातिकोटिकल्पना केन प्रमाणेन केन वा विनिगमेन, येन कल्पनागौरवप्रसङ्गदोषो न स्यात्?

कल्पनागौरवप्रसङ्गाद् इति द्वितीयहेतुं विव णोति – **यो यदर्थम् इति।** यः कुर्वद्रूपत्वरूपः पदार्थः बीजे स्वीक्रियते तस्य = कुर्वद्रूपत्वस्य, अन्यथासिद्धिरेव। कुर्वद्रूपत्वं विनापि सहकारिसमवधानसहितेभ्यो बीजेभ्यो अङ्कुरोत्पत्तेः द ष्टत्वेन तस्य अन्यथासिद्धत्वम्। अवश्यक्ल प्तनियतेन कार्यसंभवे तदभिन्नस्य अन्यथासिद्धत्वात्। **तस्य** = कुर्वद्रूपत्वस्य अभाव इति भवान् एव आह। यं विनापि कार्यं भवति तस्य निष्प्रयोजकत्वात् अस्वीकरणीयत्वम्। अन्यथा कल्पनागौरवापत्तेः।

अतीन्द्रियेन्द्रियादिविलोपप्रसङ्गादिति त तीयहेतुं विशदयति – **द ष्टं च जातिभेदमिति**। द ष्टं च बीजत्वरूपं जातिविशेष अन्वयव्यतिरेकविषयीभूतं तिरस्कृत्य = अस्वीकृत्य स्वभावभेद–(कुर्वद्रूपत्व)–कल्पनयैव अङ्कुरकार्योत्पत्तौ क्षितिपवन–तेजःजलादयः सहकारिणो पि द ष्टत्वात् = क्षेत्रपतितबीजाद् अङ्कुरोत्पत्तौ द ष्टत्वात् स्वीक्रियन्ते इति अनुमन्यामहे। एवं सति अतीन्द्रियेन्द्रियादिकल्पना तु विलीयेत। सहकारिणा एव कुतश्चित् कुर्वद्रूपात् प्रत्यक्षादिकार्योपपत्तेः इन्द्रियं न कल्पनीयमित्यर्थः। अतीन्द्रियेन्द्रियादीत्यत्र आदिपदात् समनन्तरप्रत्ययादीनां बौद्धस्वीकृतानां ग्रहणम्। अतएव आह – **मानाभावादिति**। कार्यान्यथानुपपत्तिः अतीन्द्रिय– कल्पनायां मानम्, सा नास्ति। अत इन्द्रिये न प्रमाणम् अस्ति। प्रमाणाभावात् इन्द्रियं न मन्तव्यम्। यदि गोलकादीनाम् इन्द्रियत्वं स्वीकरोषि अद ष्टादिकुर्वद्रूपत्वविशिष्टं तत् अतीन्द्रियमेव। अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिर्वा।

विकल्पानुपपत्तेश्च, स खलु जातिविशेषः शालित्वसंग्राहको वा स्यात् तत्प्रतिक्षेपको वा। आद्ये, कुसुलस्थस्यापि शालेः कथं न तद्रूपत्वम्। द्वितीये त्वभिमतस्यापि शालेः कथं तद्रूपत्वम्। एवं शालित्वमपि तस्य संग्राहकं प्रतिक्षेपकं वा। आद्ये शालेरतत्त्वापत्तिः, द्वितीये तु शालेरेवातत्त्वप्रसङ्गः।

न च नोभयमपीति वाच्यम्। विरोधाविरोधयोः प्रकारान्तराभावात्। व्यक्तिभेदेन सङ्ग्रहप्रतिक्षेपावपि न विरुद्धाविति चेत्, विलीनमिदानीं तदतज्जातीयताविरोधेन। परिद श्यमानकतिपयव्यक्तिप्रतिक्षेपे पि मिथः क्वचित् तुरगविहगयोरपि सम्भेदसम्भवात्।

विकल्पानुपपत्तेरिति चतुर्थं हेतुं विशदयति – **विकल्पानुपपत्तेश्चेति।** त्वदभ्युपगतानां विधानां = विकल्पानाम् अनुपपत्तेः। **स** = कुर्वद्रूपत्वरूपः जातिविशेषः शालित्वसंग्राहको वा स्यात् (शालित्वव्यापको वा स्यात्), तत्प्रतिक्षेपको वा स्यात् = शालित्वविरोधी वा स्यात्। **(i)** आद्ये कुसूलस्थस्यापि शालेः कथं न तद्रूपत्वम् = अङ्कुरजनकतावच्छेदककुर्वद्रूपत्ववत्त्वम्। शालित्वरूपव्याप्यस्य तत्र सत्त्वेन व्यापकस्य कुर्वद्रूपत्वस्य अवश्यं तत्र स्वीकरणीयत्वात्। अन्यथा तत्समानाधिकरणाभाव–अप्रतियोगिरूप–व्यापकत्वस्य कुर्वद्रूपत्वे नुपपत्तेः। **(ii)** द्वितीये तु अभिमतस्यापि

शालेः कथं तद्रूपत्वम् = कुर्वद्रूपत्ववत्त्वम्? शालित्व–कुर्वद्रूपत्वयोः परस्परविरोधात्। **विरोधश्च** वध्यघातकभाव–सहानवस्थान–अन्यतररूपः। एवं शालित्वमपि **तस्य** = कुर्वद्रूपत्वस्य **संग्राहकम्** = व्यापकम्, **प्रतिक्षेपकं** = विरोधि वा। आद्ये अशालेः शालिभिन्न–यवादेः, **अतत्त्वप्रसङ्गः** = अङ्कुरजनकतावछेदक–कुर्वद्रूपत्वा–भावप्रसङ्गः। तत्र कुर्वद्रूपत्वव्यापकशालित्वाभावात्। व्यापकाभावात् व्याप्याभावः सर्वैः स्वीकृतः। तथा च यवादीनाम् अङ्कुरकारित्वं न स्यात्। द्वितीये तु शालेरेव अतत्त्वप्रसङ्गः = अङ्कुरख्जनकतावच्छेदक–कुर्वद्रूपत्वाभावप्रसङ्गः। विरोधिनोः एकत्र सह अनवस्थानात्। अन्यथा विरोधानुपपत्तेः। **न च नोभयम् अपीति वाच्यम्** = न संग्राहकं = व्यापकं, नापि प्रतिक्षेपकं = विरोधीति वाच्यम्। विरोधाविरोधयोः प्रकारान्तराभावात्। सहावस्थानानवस्थानयोः प्रकारान्तराभावात्। ननु व्यक्तिभेदेन सङ्ग्रह–प्रतिक्षेपावपि न विरुद्धाविति चेत्? सहकारि– समवहित–क्षेत्रपतितशालि–व्यक्तिविशेषव त्तित्वावच्छिन्नशालित्वस्य कुर्वद्रूपत्वव्यापकत्वम्, कुसूलस्थशालिव्यक्ति–विशेषव त्तित्वावच्छिन्नशालित्वस्य कुर्वद्रूपत्व–विरोधित्वमिति स्वीकारे ताद शशालित्वकुर्व–द्रूपत्वयोर्न विरुद्धत्वमिति चेत्? विलीनमिदानीं तदतज्जातीयता। विरोधेन = परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोरपि जात्योः सामानाधिकरण्ये जातिप्रतिनियमो न स्याद् इत्यर्थः। अत्रेयं जातिः वर्तते, न तद्विरुद्धेति नियमो न स्यात्। एतदेव आह – **परिद श्यमानेति**। यथा परिद श्यमान–कतिपयव्यक्तौ कुसूलस्थबीजे शालित्व–कुर्वद्रूपत्वयोः प्रतिक्षेपे पि = विरोधे पि मिथः परस्परं क्वचित् = क्षेत्रपतिते सहकारिमिलिते बीजे शालित्वकुर्वद्रूपत्वयोः सामानाधिकरण्याद् कस्मिँश्चिद्देशे तुरगविहगयोरपि **संभेदसंभवात्** सामानाधिकरण्यसंभवात्।

अयं भावः। तुरगत्व–विहगत्वादीनाम् अविशेषितानामेव सर्वसम्मतो विरोधो विलीयते, तेषां सामानाधिकरण्ये पि उक्तदिशा (व्यक्तिविशेषव त्तित्वावच्छिन्न–व्यापकत्वव्यक्तिविशेषव त्तित्वावच्छिन्नप्रतिक्षेपकत्वेति दिशा) संग्रहप्रतिक्षेपोपपत्तेरिति। क्षेत्रपतितबीजे बीजत्वस्य विरुद्ध–कुर्वद्रूपत्व–सामानाधिकरण्यम्। कुसूलस्थे तस्मिन् प्रतिक्षेपः। एवं तुरगत्व–विहगत्वादीनाम् अविशेषितानामेव सर्वसम्मतो विरोधो विलीयेत। उक्तदिशा क्वचिद् सामानाधिकरण्यसंभवात्।

यद्वा तुरगभयभीतस्य विहगस्य न तुरगाधिकरणव त्तित्वं संभवति परन्तु नटेन शिक्षितस्य तस्य यथा तुरगसामानाधिकरण्यं क्रीडास्थले तथा शालित्वस्य विरोधि–कुर्वद्रूपत्व–सामानाधिकरण्यं स्यादिति सहजविरोधित्वानुपपत्तिरिति।

यश्च यस्य जातिविशेषः स चेत् तं व्यभिचरेद् व्यभिचरेदपि शिंशपा पादपमविशेषात्। तथा च गतं स्वभावहेतुना। विपर्यये बाधकं विशेष इति चेत् न, तस्येहापि सत्त्वात्। तदभावे स्वभावत्वानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा किं

बाधकानुसरणव्यसनेनेति, विशेषस्य विशेषं प्रति प्रयोजकत्वाच्च। तथाहि कार्यगतमङ्कुरत्वं प्रति बीजत्वस्याप्रयोजकत्वे बीजादपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गः।

बीजस्य विशेषः कथमबीजे भविष्यतीति चेत् तर्हि शालेर्विशेषः कथमशालौ स्यादित्यशालेरङ्कुरानुत्पत्तिप्रसङ्गः। अशालिवदबीजे प्यसौ भवतु विशेषः। तथापि बीजत्वैकार्थसमवेत एवासावङ्कुरं प्रति प्रयोजक इति चेत् न शालित्वव्यभिचारे शालित्वैकार्थसमवायवद् बीजत्वव्यभिचारे बीजत्वैकार्थ-समवायेनापि नियन्तुमशक्यत्वादविशेषात्।

तस्माद् यो यथाभूतो यथाभूतमात्मनो न्वयव्यतिरेकावनुकारयति तस्य तथाभूतस्यैव तथाभूते सामर्थ्यम्। तद्विशेषास्तु कार्यविशेषं प्रयोजयन्ति शाल्यादिवदिति युक्तमुत्पश्यामः।

यस्य व्यापकजातेः यः जातिविशेषः (व्याप्यजातिः) स (व्याप्यजातिः) चेत् (यदि) तं (व्यापकजातिं) व्यभिचरेत्, तदा शिंशपा पि पादपं (पादपत्वं) व्यभिचरेत्। शालित्वव्याप्यं कुर्वद्रूपत्वं यदि शालित्वाभाववति यवे पि स्यात् तदा व क्षत्वव्याप्यशिंशपात्वं व क्षत्वाभाववति व त्तिः स्यात्। कि चात इत्यत आह – **तथा च गतं स्वभावहेतुनेति। स्वभावहेतुना** = तादात्म्यहेतुना। अयं व क्षः शिंशपायाः इत्यत्र तादात्म्यहेतोः व क्ष–व्यभिचारित्वेन अहेतुत्वापत्तेः।

ननु यदि शिंशपा व क्षं व्यभिचरेत् तदा आत्मानमपि = शिंशपामपि व्यभिचेरदिति विपक्षबाधकबलेन स्वभावहेतुः = तादात्म्यहेतुः प्रवर्तताम् इति शङ्कते – **विपर्यये** = तादात्म्यस्य हेतुत्वाभावे, **बाधकं** = हेतुत्वसाधकं विशेषः = तदा आत्मानमपि व्यभिचरेदिति विशेष इति चेत् ? **न। तस्य इहापि सत्त्वात्।** तस्य = विपर्ययबाधकस्य, इहापि = कुर्वद्रूपत्वे पि सत्त्वात्। कुर्वद्रूपत्वं यदि शालित्वं व्यभिचरेत् तदा स्वात्मानमपि व्यभिचरेदिति कुर्वद्रूपत्वस्यापि शालित्वस्वभावत्वाद् विपक्षबाधकस्य अस्य सत्त्वात्। तदभावे = विपक्षबाधकाभावे कुर्वद्रूपत्वस्य स्वभावत्वानुपपत्तेः = शालिस्वभावस्य शालितादात्म्यस्य अनुपपत्तेः। उपपत्तौ वा = विपक्षबाधकाभावे पि स्वभावत्वोपपत्तौ वा किं बाधकानुसरणव्यसनेन = विपर्ययबाधकानुसरणं व्यर्थं स्यात्।

विशेषस्य विशेषं प्रति प्रयोजकत्वाच्च (हेतुत्वाच्च)। तथा हि अङ्कुरत्वावच्छिन्ने कार्ये बीजत्वावच्छिन्नमेव कारणम् शाल्यङ्कुरत्वावच्छिन्ने शालिबीजत्वं कारणतावच्छेदकम् कार्यगतमङ्कुरत्वं प्रति = शाल्यङ्कुरं प्रति बीजत्वस्य अप्रयोजकत्वे = अङ्कुरत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतानवच्छेदकत्वे अबीजादपि = बीजभिन्नशिला–शकलादपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गः = अङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्गः। अङ्कुरत्वं यदि जातित्वे जन्यतावच्छेकत्वे वा सति बीजमात्रव त्ति–धर्मावच्छिन्नकारणता–निरूपितकार्यता–

वच्छेदकं न स्यात् तदा बीजाजन्यव त्ति स्यात्, बीजजन्यान्यव त्ति वा स्यात्। अथवा अङ्कुरत्वं यदि बीजमात्रव त्तिधर्मावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकं न स्यात् तदा अङ्कुरमात्रव त्तिजातिर्न स्यात्।

ननु बीजस्य विशेषः = कुर्वद्रूपत्वजातिविशेषः कथमबीजे = शिलाशकले भविष्यतीति। न शिलाशकलात् अङ्कुरोत्पत्तिरिति शङ्कते – **बीजस्य विशेष** इति। बीजस्य बीजत्वेन अङ्कुरं प्रति अजनकत्वे पि कुर्वद्रूपत्वेन जनकत्वमिति अङ्कुरत्वं यदि जन्यतावच्छेकत्वे सति बीजमात्रव त्तिबीजत्वावच्छिन्न–कारणता–निरूपितकार्यतावच्छेदकं न स्यादिति आपादकस्य असिद्धिरिति शङ्का बोध्या। एवं तर्हि शालेर्विशेषः = कुर्वद्रूपत्वजातिविशेषः, कथमशालौ = शालिबीजभिन्न–यवादिबीजे स्यात् इति। अशालेः यवादेः अङ्कुरानुपपत्तिप्रसङ्गः। अङ्कुरजनकतावच्छेदकस्य कुर्वद्रूपत्वस्य शालिमात्रव त्तित्वेन यवादौ अव त्तित्वात् अङ्कुरं प्रति यवादेरजनकत्वेन यवाङ्कुरानुपपत्तिरिति। बीजस्य विशेषः बीजैकदेशव त्तिजातिः, तस्याः शाल्येकदेशक्षेत्र–पतितबीजे व त्तित्वेन शालित्वव्यभिचारित्ववद् बीजैकदेशव त्तेरपि जातेः बीजत्वव्यभिचारि–त्वसंभवात् अङ्कुरजनकतावच्छेदकत्वेन अभिमतस्य कुर्वद्रूपत्वस्य न बीजमात्रव त्तित्वम् इति यवादिबीजस्य अङ्कुरजनकत्वानुपपत्तिरिति बोध्यम्।

कस्य पुनः प्रमाणस्यायं व्यापारकलाप इति चेत् तदुत्पत्तिनिश्चयहेतोः प्रत्यक्षानुपलम्भात्मकस्येति ब्रूमः। अथ न्यायेन विना न ते परितोषः, श णु तमपि। तदा यदङ्कुरं प्रत्यप्रयोजकं न तद्बीजजातीयं यथा शिलाशकलम्। अङ्कुरं प्रत्यप्रयोजकं च कुसूलनिहितं बीजमभ्युपेतं परैरिति व्यापकानुपलब्धिः प्रसङ्गहेतुः।

विपर्यये पि किं बाधकमिति चेत्, अङ्कुरस्य जातिप्रतिनियमाकस्मि-कत्वप्रसङ्ग इत्युक्तम्। बीजत्वं तस्य प्रत्यक्षसिद्धमशक्यापह्नवमिति चेदस्तु तर्हि विपर्ययः। यद्बीजं तदङ्कुरं प्रति प्रयोजकं यथान्त्यसामग्रीमध्यमध्यासीनं बीजम्। बीजं चेदं विवादास्पदमिति स्वभावहेतुः।

ननु बीजादपि क्वचिद् अङ्कुर उत्पद्यते क्वचिन्नेति बीजस्यापि अङ्कुरं प्रति कारणत्वं नाध्यवसितमिति प्रमाणं विना सर्वेषां प्रमाणानां तं प्रति कारणत्वापत्तिः, कार्यस्य कारणं विना नुपपत्तेरिति परः प च्छति – **कस्य पुनः प्रमाणस्यायं व्यापारकलाप इति चेदिति।** बीजत्वम् एव अङ्कुरं प्रति स्वरूपयोग्यतावच्छेदकं नत्वङ्कुरे कुर्वद्रूपत्वमिति प्रतिपादनार्थं यः पूर्वोक्त**व्यापारस्य कलापः** = समुदाय इति प्रश्नः। उत्तरयति – **तदुत्पत्तीति**। तत उत्पत्तिः **तदुत्पत्तिः,** प्रत्यक्षत उत्पत्तिः, स च कार्यकारणभावः प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्याम् अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् अवगम्यते। तथा च

सति बीजे अङ्कुरः, तं विना नाङ्कुर इति प्रत्यक्षादेव अन्वयव्यतिरेकग्रह सहकारिणः, अनुमानाद्वा ग ह्यते इति का तत्र कथन्ता ?

ननु कथायां न्यायः प्रदर्शनीयो भवतीति मनसिकृत्य सौगतमतानुसारेणैव न्यायमुपदर्शयितुमाह – **अथ न्यायेन विनेति।** यदि तव न्यायं विना न संतोषः तदा न्यायं श णु। यद् (कुसूलस्थबीजम्) **अङ्कुरं प्रति अप्रयोजकम्** (अङ्कुराजनकम्) **तद् न बीजजातीयम्** (नाङ्कुरजनकबीजजातीयम्), **यथा शिलाशकलम्।** अङ्कुरं प्रति **अप्रयोजकं** च (अजनकं च) कुसूलनिहितं बीजं **परैः सौगतैः** अभ्युपगतम्। तथा च बीजजातीयं नाङ्कुरं प्रति प्रयोजकमिति त्वया अभ्युपगम्यते। तदा त्वदभ्युपगमानुसारेण कुसूलस्थस्य बीजस्य बीजजातीयत्वं न स्यात्। एव च यदि कुसूलस्थं बीजम् अङ्कुरं प्रति प्रयोजकं (जनकम्) न स्यात् तदा बीजं न स्यात् इत्यस्मद्दिशा तर्कोक्तिः। आपाद्यस्य तर्के आहार्यारोपः। तथा च आपाद्यस्य व्यापकस्य अभावेन व्याप्यस्य आपादकस्य अभावः सिद्ध्यति। एतदर्थं तर्कः प्रवर्तते। बीजभेदाभावेन कुसूलस्थबीजे अङ्कुरजनकभेदाभावः सिद्धः।

ननु कुसूलस्थस्य बीजस्य अङ्कुराप्रयोजकत्वम् आपादकम् एव असिद्धम् इत्यत आह – **अभ्युपेतं परैरिति (सौगतैरिति)**। तथा च पराभ्युगममात्रेणैव तर्कप्रव त्तेः। तत्र नापादकासिद्धिः दोषो भवति। व्यापकस्य (बीजत्वव्यापकस्य) अङ्कुरप्रयोजकत्वस्य कुसूलस्थबीजे त्वया अस्वीक्रियमाणत्वेन त्वन्मतेन व्यापकानु–पलब्धिः प्रसङ्गात्मको हेतुः विपर्ययानुमाने बोध्यम्। तथा च कुसूलस्थं बीजम्, बीजत्वाभाववत्, अङ्कुरजनकत्वाभावादिति विपर्ययानुमानं बोध्यम्।

विपर्यय इति। यदि अङ्कुराप्रयोजकमपि बीजं स्यादित्यत्र किं बाधकमिति शङ्का। यदि अङ्कुराप्रयोजकमपि बीजं स्यात् तदा शिलाशकलमपि बीजं स्यादिति तर्कापत्तिः। अतो ङ्कुराप्रयोजकस्य न बीजत्वं मन्तव्यम्। यदि कुसूलस्थं बीजम् अङ्कुरं प्रति प्रयोजकं न स्यात् तदा बीजं न स्यादिति तर्कमूलव्याप्तौ विपक्षे बाधकमाह – **अङ्कुरस्येति।** यदि बीजत्वेन बीजस्य अङ्कुरप्रयोजकता न स्यात् तदा कदाचित् अबीजादपि (शिलाशकलादपि) अङ्कुरः स्यादित्यनिष्टापत्तिः। **जातेः प्रतिनियमः** = शाल्यङ्कुरः शलिबीजादेवोत्पद्यते इति नियमः, तदभावे अङ्कुरस्य **आकस्मिकत्वप्रसङ्गः** = आकस्मिकत्वापत्तिः। शालिबीजभिन्नादपि शाल्यङ्कुरा– पत्तिरिति **अङ्कुरस्ये**त्यादेर्भावः।

ननु बीजत्वं तस्य = बीजस्य प्रत्यक्षसिद्धम् अशक्यापह्नवम् बीजत्वमेव अङ्कुरजनकतावच्छेदकमिति तदभावेन शिलाशकलात् न अङ्कुरोत्पत्तिः आपादनीया इति नाङ्कुरस्य आकस्मिकत्वम्। अथवा यदि अङ्कुराप्रयोजकमपि बीजं स्यात् तदा शिलाशकलमपि बीजं स्यात् इति तर्कमात्रम् अतन्त्रमित्यत आह – **अस्तु तर्हि**

इति। बीजत्वमेव स्वभावहेतुः। तच्च (बीजत्वम्) कुसूलस्थे बीजे स्वरूपासिद्धं मा स्यादिति प्रथमत एव **परम् (सौगतम्)** अङ्गीकारयति **बीजत्वं तस्येति।** अर्थक्रमानु–रोधेन पाठक्रमम् अनाद त्येदं प्रतीकधारणम्। कुसूलस्थं बीजम् अङ्कुरप्रयोजकम्, बीजत्वात् क्षेत्रपतितबीजवत्। यद् बीजं तत् अङ्कुरं प्रति प्रयोजकम्, यथा सामग्रीमध्यमध्यासीनं बीजम् (जल–म त्तिका–पवन–तेजःसमवहितं बीजम्)। बीजमिदं (कुसूलस्थं बीजम्) विवादास्पदमिति बीजत्वं स्वभावहेतुः।

अङ्कुरस्य हि जातिप्रतिनियमो न तावन्निर्निमित्तः, सार्वत्रिकत्व-प्रसङ्गात्। नाप्यन्यनिमित्तः, तथाभूतस्य तस्याभावात्।

सेयं निमित्तवत्ता विपक्षाद् व्यावर्तमाना स्वव्याप्यमादाय बीजप्रयोजकता-यामेव विश्राम्यतीति प्रतिबन्धसिद्धिः।

अथवा कृतमङ्कुरग्रहेण। बीजस्वभावत्वं क्वचित् कार्ये प्रयोजकं न वा। न चेत्, न तत्स्वभावं बीजं, तेन रूपेण क्वचिदप्यनुपयोगात्। एवं च प्रत्यक्षसिद्धं बीजस्वभावत्वं नास्ति, सर्वप्रमाणागोचरस्तु विशेषो स्तीति विशुद्धा बुद्धिः। क्वचिदुपयोगे प्येकस्य तेन रूपेण सर्वेषामविशेषस्ताद्रूप्यात्। तथा च कथं कि चिदेव बीजं स्वकार्यं कुर्यात् नापराणि। न च वस्तुमात्रं तत्कार्यम् अबीजात् तदनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नापि बीजमात्रम् अङ्कुरकारिणो पि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नाप्यङ्कुराद्यन्यतममात्रम्, प्रागपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्।

उक्तम् आकस्मिकत्वप्रसङ्गं प्रप चयति – **अङ्कुरस्य हीति।** अङ्कुरस्य हि **जातिप्रतिनियमः** (शालिबीजादेव शाल्यङ्कुरोत्पत्तिः इति नियमः) **न तावत् निर्निमित्तः** = नियतजातीयकारणाप्रयोज्यः, **सार्वत्रिकत्वप्रसङ्गात्** = अङ्कुरातिरिक्त–व त्तित्वप्रसङ्गात्। अङ्कुरत्वं यदि बीजत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकं न स्यात् तदा अङ्कुरमात्रव त्तिजातिर्न स्याद् द्रव्यत्वादिवत्।

ननु कुर्वद्रूपत्वादिनिमित्तकमेव तत् (अङ्कुरत्व–कार्यतावच्छेदकम्) स्यादित्यत आह – **नापीति**। नापि अन्यनिमित्तः = बीजत्वान्यकुर्वद्रूपत्व– निमित्तः (जातिप्रतिनियमः)। तथाभूतस्य = अङ्कुरमात्रनियामकस्य तस्य = कुर्वद्रूपत्वस्य अभावात्। तत्र प्रमाणाभावेन तस्य अप्रामाणिकत्वम् इत्यस्वीकार्यत्वात्। **सेयं निमित्तवत्तेति।** अङ्कुरत्वं यदि बीजत्वावच्छिन्न– कारणतानिरूपित–कार्यतावच्छेकं न स्यात् तदा अङ्कुरमात्रव त्तिजातिर्न स्यादिति तर्केण लब्धस्य अङ्कुरे जातिप्रतिनियमस्य निमित्तवत्ता सेयम्, विपक्षात् = निर्निमित्तात् बीजाप्रयोज्याद्वा निवर्तमाना स्वव्याप्यं बीजप्रयोज्यताम् आदाय (बीजप्रयोज्यताव्याप्यकार्यमात्रव त्ति–जातित्वमादाय) बीजप्रयोज्यतायाम् अङ्कुरस्य विश्राम्यति। प्रयोजकतायाम् इति

पाठे तु बहुव्रीहिः। बीजं प्रयोजकं यस्य तत् बीजप्रयोजकं तस्य भावः बीजप्रयोजकता तस्याम् इति। **प्रतिबन्धसिद्धिः।** यद् यद् बीजं तत्सर्वम् अङ्कुरप्रयोजकमिति व्याप्तिसिद्धिः। एव च कूशूलस्थं बीजप्रयोजकं सहकारिसमवधानरहितं नाङ्कुरं जनयतीति प्रत्यक्षप्रमाणसिद्ध–अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् बीजस्य अङ्कुरं प्रति कारणत्वसिद्धौ कुर्वद्रूपत्वस्य प्रमाणाभावेन असिद्ध्या भावानां न क्षणिकत्वं सिद्ध्यति।

अथवा कृतमङ्कुरग्रहणेनेति। परेषां बौद्धानां जातिमात्रस्य जनकता–वच्छेदकत्वनैयत्यम् अभिप्रेत्याह – **बीजस्वभावत्वम् इत्यादि। बीजस्वभावत्वं क्वचित् कार्ये प्रयोजकं न वा?** बीजत्वं किंचित्कार्य–जनकतावच्छेकं न वेति फलितार्थः। नेति पक्षे दूषणमाह – न तत्स्वभावं = न क्वचित्कार्ये प्रयोजकस्वभावम्। तेन रूपेण = बीजत्वरूपेण क्वचिदपि अनुपयोगात्। क्षेत्रपतितबीजमपि सहकारिसमवहितं नाङ्कुरं जनयेत्। बीजस्य कस्मिन्नपि कार्ये नुपयोगात् कस्यापि कार्यस्याजनकत्वात्। तत्रेष्टापत्तावाह – **एव चेति।** एव च प्रत्यक्षसिद्धं बीजस्वभावत्वं नास्ति, सर्वप्रमाणागोचरस्तु विशेषः = कुर्वद्रूपत्वम् अस्तीति तव **विशुद्धा बुद्धिः** = तव मूर्खतेति भावः।

प्रयोजकमिति पक्षं दूषयति – **क्वचिद्** इत्यादिना। क्वचिदपि = क्वचिदपि अङ्कुरादिकार्ये, एकस्य = कुर्वद्रूपस्य बीजस्य, तेन रूपेण = बीजत्वेन रूपेण, उपयोगे तु = जनकत्वे तु सर्वेषाम् अङ्कुराद्यकुर्वाणानाम् अपि बीजानाम् अविशेषः = अङ्कुरादिकारणत्वेन न विशेषः। कुसूलस्थबीजात् अङ्कुराजनकात् सहकारि–समवहितक्षेत्रपतितबीजे न विशेषः, ताद्रूप्यात् = अङ्कुरादिजनकतावच्छेदक–बीजत्वशालित्वात्। तथा च क्षणिकत्वं बीजानां सिद्ध्यति। तथा च कथं किंचिदेव बीजम् (क्षेत्रपतितम्) स्वकार्यम् = अङ्कुरादिकार्यम् कुर्यात्, नापराणि = कुसूलस्थबीजानि अङ्कुराद्यकुर्वद्रूपाणि, कथं न कुर्युः? यदि समर्थस्य अङ्कुरादिकार्य–करणसमर्थस्य सहकारिविरहात् न अकरणम्।

ननु वस्तुमात्रं कार्यमात्रम् यद्वा सर्वं वस्तु क्षणिकम् एवेति तदभिप्रायेणोक्तं **वस्तुमात्रमिति। तत्कार्यम्** = बीजत्वावच्छिन्नकार्यम्। अस्माकं वस्तुमात्रस्यैव क्षणिकत्वेन कार्यत्वात्। (न च तत् अङ्कुरादिजनकं कुसूलस्थबीजम्, अकुर्वद्रूपत्वात्)। न च वस्त्वकारि कार्याजनकम् किंचिदपि बीजमित्याशङ्क्य निराकुरुते – न चेत्यादिना। न च वस्तुमात्रं तत्कार्यम् = बीजकार्यम्, अबीजात् = बीजासमवधाने दण्डादिना घटादि– कार्यानुत्पादप्रसङ्गः। बीजस्य वस्तुमात्रं प्रति कारणत्वेन बीजभिन्नात् म त्तिकादण्डादेः तदनुत्पत्तिप्रसङ्गात् = घटादिवस्त्वनुत्पादप्रसङ्गात्। वस्तुजनकस्य बीजस्य तत्राभावात्।

ननु बीजाद् बीजमेव कार्यमस्तु। सभागसन्तानस्यैव मया = क्षणिकत्ववादिना अभ्युपगमादित्यत आह – **नापीति।** बीजात् बीजमात्रम् उत्पद्यते बीजमात्रं प्रत्येव

बीजस्य कारणत्वात् अङ्कुरं नोत्पद्यते तत् प्रति बीजस्य त्वन्मते अकारणत्वात्। तव मते पूर्वपूर्वबीजक्षणम् उत्तरोत्तरबीजक्षणं प्रत्येव कारणम्। नत्वङ्कुरं प्रति बीजं कारणम्। एव च चरमादपि बीजात् बीजमेव उत्पद्येत, नाङ्कुरम्। अङ्कुरं प्रत्यपि कारणत्वं बीजस्य अभ्युपगम्यते चेत् तदा बीजात् अङ्कुरस्याप्युत्पादे वा समानदेशता विरोधः। बीजसन्तानस्य अङ्कुरस्य च समानदेशत्वम् बीजसन्तानानुपरमः प्राथमिकबीजानुत्पत्तिश्चेति बोध्यम्।

ननु बीजम् अङ्कुरमबीजानुभवश्चेति कार्याणि बीजत्वावच्छिन्न– कारणात् जायन्तामित्यत आह – **नापि अङ्कुराद्यन्यतममात्रमिति।** (बीजस्य कार्यमिति शेषः)। तर्हि उत्पन्नमात्रादपि बीजात् एतानि कार्याणि स्युरित्याह – **प्रागपीति**। सहकारिसमवधानादिति शेषः। सहकारिसमवधाने उत्पन्नमात्रमपि बीजम् बीजम् अङ्कुरम् बीजानुभव च जनयेत्।

यदा यदुत्पन्नं सत् यत्कार्यानुकूलसहकारिमध्यमधिशेते तदा तदेव कार्यं प्रति तस्य प्रयोजकत्वमिति चेत्, तत् किमवान्तरजातिभेदमुपादाय बीजस्वभावेनैव वा। आद्ये स एव जातिभेदस्तत्र प्रयोजकः, किमायातं बीजत्वस्य। द्वितीये तु समानशीलानामपि सहकारिवैकल्यादकरणमित्यायातम्। तत्तत्सहकारि-साहित्ये सति तत्तत्कार्यं प्रति प्रयोजकस्य बीजस्वभावस्य सर्वसाधारणत्वादिति।

सहकारिसमवधानं शङ्कते – **यदेति।** यदा यत्कार्यमुत्पन्नं सत् यत्कार्यानुकूलसहकारिमध्यमधिशेते तदा तदेव कार्यं प्रति तस्य = उत्पन्नबीजस्य प्रयोजकत्वम् = जनकत्वमिति। नैकस्मिन् काले बीजात् ताद शान्यतमकार्यस्यापत्तिरिति चेत्? न। विकल्पासहत्वात्। तथाहि – **तत् किम् अवान्तरजातिभेदमुपादाय बीजस्वभावेनैव वा।** अवान्तरजातिभेदः = अङ्कुरकुर्वद्रूपत्वादिः। आद्ये स एव = अङ्कुरादिजनकतत्तत्कुर्वद्रूपत्वम् एव तत्र = अङ्कुरादिकार्ये प्रयोजकः = जनकः। किमायातं बीजत्वस्य = बीजत्वस्य किं प्रयोजनम्। अङ्कुरं प्रति बीजं कारणं न वेति प्रस्तुते विचारे जात्यन्तरम् अतन्त्रम्। न च बीजस्य कुर्वद्रूपत्वेनैव अङ्कुरं प्रति कारणत्वं न तु बीजत्वेनेति बोधनाय जात्यन्तरस्य कुर्वद्रूपत्वस्य कथनमावश्यकमिति तत्कथनं न निष्प्रयोजकमिति वाच्यम्। तस्याः जातेः अनुपलम्भबाधितत्वेन असत्त्वात्। सहकारिसमवहितबीजत्वेनैव प्रत्यक्षसिद्धेन बीजस्य अङ्कुरं प्रति जनकत्वे सिद्धे तज्जातौ प्रमाणाभावेन अनङ्गीकरणीयत्वाच्च। द्वितीये तु समानशीलानामपि बीजानां सहकारिसमवधाने कारणत्वं तदसमवधाने अकारणत्वम् इत्यायातम्। तथा च तत्तत्सहकारिसाहित्ये सति तत्तत्कार्यं प्रति प्रयोजकस्य = तत् कार्यं प्रति तेन धर्मेण कारणत्वेन अभिमतस्य बीजस्वभावस्य = बीजत्वस्य सर्वसाधारणत्वात् = क्षेत्रपतितेबीजे इव कुसूलस्थे बीजे पि तस्य सत्त्वात्। तथा च कारणतावच्छेदकावच्छिन्ने कुसूलस्थबीजे

स्वरूपयोग्यत्वरूपकारणत्वस्य सत्त्वे पि सहकारिसमवधानाभावेन फलोपहित– तत्कारणत्वाभावे पि क्षणिकत्वासिद्धिः, स्वभावभेदाभावात्।

अत्रापि प्रयोगः। यद्येन रूपेणार्थक्रियासु नोपयुज्यते न तत् तद्रूपम्। यथा बीजं कु जरत्वेन कि चिदप्यकुर्वन्न कु जरस्वरूपम्। तथा च शाल्यादयः सामग्रीप्रविष्टा बीजत्वेनार्थक्रियासु नोपयज्यन्त इति व्यापकानुपलब्धिः प्रसङ्ग्रहेतुः। तद्रूपताया अर्थक्रियां प्रति योग्यतया व्याप्तत्वात्। अन्यथाति-प्रसङ्गात्।

तद्रूपत्वमेतस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादशक्यापह्नवमिति चेत्, अस्तु तर्हि विपर्ययः। यद्यद्रूपं तत् तेन रूपेणार्थक्रियासूपयुज्यते। यथा स्वभावेन सामग्रीनिवेशिनो भावाः, बीजजातीयाश्चैते कुशूलस्थादय इति स्वभावहेतुः। तद्रूपत्वमात्रानुबन्धित्वाद् योग्यतायाः।

ततश्चास्ति कि चित् कार्यं यत्र बीजत्वेन बीजमुपयुज्यते इति। बीजानुभव एवासाधारणं कार्यम्, यत्र बीजत्वं प्रयोजकं तत्र सर्वस्मादेव बीजाद्भवतीति किमनुपपन्नमिति चेत्, न। यौगिकतदनुभवस्य तदन्तरेणा-प्युपपत्तेः। लौकिक इति चेत्, न। सत्यमेतत् न त्विदमवश्यं सर्वस्माद्-बीजाद्भवति इन्द्रियादिप्रत्यासत्तेरसदातनत्वात्, असार्वत्रिकत्वाच्च।

अत्रापि प्रयोगः। यद्येनेति। यज्जात्यवच्छेदेन (बीजत्व– जात्यवच्छेदेन) यस्य = बीजस्य कि चित्कार्यं प्रति = अङ्कुरं प्रति न कारणता (बौद्धेन अङ्कुरं प्रति बीजस्य कूर्वद्रूपत्वेन कारणता स्वीक्रियते न तु बीजत्वेन तस्य कारणत्वं स्वीक्रियते)। तत् = बीजं तज्जातीयम् = बीजत्वजातीयम् न भवति। यथा बीजं न कु जरत्ववत्। कु जरत्वेन तस्य कार्यं प्रति कुत्रापि अकारणत्वात्। त्वया च क्षेत्रपतितानामपि शाल्यादीनां बीजत्वेन अङ्कुरं प्रति कारणता नाभ्युपगम्यते इति, ते शाल्यादयः बीजजातीया न भवेयुः। अङ्कुरं प्रति कुर्वद्रूपत्वेन शाल्यादीनां कारणत्वं स्वीकुर्वन्ति बौद्धाः। यद्यपि गुणानां गुणत्वेन न कि चित्कार्यं प्रति कारणता। न च ते गुणाः न गुणजातीयाः भवेयुः, तथापि परमताभिप्रायेण अयं प्रयोगः। **व्यापकेति।** यज्जात्यवच्छेदेन अर्थक्रियाकारित्वं तज्जातीयत्वव्यापकम्। तस्य अनुपलब्धिः तद्विपरीतोपलब्धिः त्वदभ्युपगमेन। बीजत्वजात्यवच्छेदेन बीजस्य अर्थक्रियाकारित्वम् अङ्कुरजनकत्वं तज्जातीयत्वस्य = बीजत्वजातीयत्वस्य अङ्कुरकारित्वं प्रति व्यापकत्वम्। यत्र यत्र अङ्कुरकारित्वं तत्र तत्र बीजत्वजातीयत्वम्। तस्य व्यपकस्य अनुपलब्धिः, त्वया कुसूलस्थबीजे अङ्कुरकारित्वस्य अस्वीकृतत्वात्। अतो व्यापकानुपलब्धिः प्रसङ्गहेतुभर्वति। कुसूलस्थबीजं यदि अङ्कुरकारि न स्यात् तदा

बीजत्वजातीयं न स्यात्। तस्मिन् बीजत्वजातीयत्वाभावेन अङ्कुरकारित्वाभावाभावः सिद्ध्यति। आपाद्याभावेन आपादकाभावः सिद्ध्यति। आपाद्याभावस्य आपादकाभावव्याप्यत्वात्। प्रसङ्गमूलभूतां व्याप्तिमाह – **तद्रूपताया इति।** तद्रूपताया बीजत्वजातीयतायाः अर्थक्रियां प्रति अङ्कुरादिकार्यं प्रति योग्यतया स्वरूपयोग्यतया (कारणतावच्छेदक– रूपवत्तया) व्याप्तत्वात्। अन्यथा = तद्रूपताया अर्थक्रियां प्रति योग्यतया व्याप्त्यस्वीकारे अतिप्रसङ्गात् = बीजमपि कु जरजातीयं स्यात्।

ननु कुसूलस्थस्यापि बीजस्य बीजजातीयत्वम् अनुभवसिद्धत्वात् अशक्यापह्नवमित्याह – **तद्रूपत्वमिति**। एतस्य = कुसूलस्थबीजस्य तद्रूपत्वम् = बीजत्ववत्त्वम् बीजजातीयत्वम् प्रत्यक्षसिद्धत्वात् अशक्यापह्नवमिति चेत्? अस्तु तर्हि विपर्ययः। यद् = कूशूलस्थबीजम् यद्रूपम् = यत्स्वरूपम् यद्धर्मवत् तत् = कुसूलस्थबीजम्, तेन रूपेण = बीजत्वेन अर्थक्रियासु = अङ्कुरादिकार्येषु उपयुज्यते = कारणं भवति। यथा स्वभावेन = कुर्वद्रूपत्वेन सामग्रीनिवेशिनो भावाः = समग्रीघटका भावाः, स्वानुमाने उपनयावयवमाह – **बीजजातीयाश्च एते कुसूलस्थादयः**। अत्र आदिना कृषीबलनीयमानबीजसंग्रहः इति। स्वभावहेतुः तादात्म्यहेतुः। योग्यतायाः = स्वरूपयोग्यकारणतायाः तद्रूपत्वमात्रानुबन्धात् कारणतावच्छेदकरूपवत्वात् ताद शरूपसंबन्धित्वात्। ततश्चास्ति कि चित् अङ्कुरादि कार्यम्, यत्र = अङ्कुरादौ बीजम् = कुसूलस्थम् उपयुज्यते = कारणं भवति। तथा च कुसूलस्थं बीजं बीजत्वेनैव अर्थक्रिया–(अङ्कुरादि– कार्य)प्रयोजकम् कारणम्, बीजत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा कु जर इति व्यतिरेक्यनुमानम्। त्वयापि कुर्वद्रूपत्वजातेः अङ्कुरप्रयोजकतायाम् एवं प्रयोक्तव्यमित्याह – **यथा स्वभावेनेति।** कुर्वद्रूपत्वेन इत्यर्थः। तथाहि सामग्रीमध्यगतं बीजम् अङ्कुरकुर्वद्रूपत्वजातीयम्, अङ्कुरप्रयोजकत्वात् अङ्कुरजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा शिलाशकलमिति। स्वानुमाने उपनयावयवमाह – **बीजजातीयाश्च एते इति।** अत्र आदिना कृषीबलनीयमानबीजसंग्रहः।

तदेवं यत् तच्छब्दतः कार्यकारणाभावसिद्धौ (सामान्यतः सिद्धौ) बीजत्वेन अङ्कुरं प्रति विशेषतः प्रयोजकत्व(कारणत्व)साधनाय परिशेषमुपक्रममाणः शङ्कते – **बीजानुभव एवेति।** बीजानुभव एव = बीजविषयकनिर्विकल्पकानुभव एव बीजस्य कार्यम्, न तु अङ्कुरम्। अङ्कुरं प्रति तु कुर्वद्रूपमेव कारणमिति एवकारेण द्योत्यते। तथा च कुसूलस्थ–क्षेत्रपतितबीजयोः अङ्कुरजनकत्वाजनकत्वाभ्यां परस्परभेदात् क्षणिकत्वं सिद्धम्। यत्र अनुभवे बीजत्वं प्रयोजकम् = कारणतावच्छेदकम् तच्च = अनुभवरूपकार्य च सर्वस्मादेव बीजाद् भवति न तु अङ्कुरं सर्वस्मादेव बीजाद् भवति। अतः अङ्कुरं प्रति न कारणतावच्छेदकं बीजत्वम्। कारणतावच्छेदकावच्छिन्नस्य सत्त्वे कार्यस्य अवश्यंभावित्वादिति किम् अनुपपन्नम्। अङ्कुरं प्रति कारणतावच्छेदकं कुर्वद्रूपत्वं सिद्ध्यत् क्षणिकत्वस्य भावानां सिद्ध्या मम मतम् उपपन्नमिति चेत्?

यौगिकबीजविषयक– निर्विकल्पकानुभवस्य त्रैकालिकत्वेन बीजमन्तरेणापि उपपत्तेरिति। बीजविषयकयौगिकनिर्विकल्पके व्यभिचारेण तं प्रति बीजस्य अकारणत्वात्।

ननु विषयतासंबन्धेन लौकिकप्रत्यक्षं प्रति तादात्म्येन विषयस्य कारणत्वात् लौकिक–बीजविषयक–निर्विकल्पकानुभवस्य बीजकार्यत्वं व्यभिचाराभावेन उपपन्नम्। यौगिकप्रत्यक्षस्य योगजसन्निकर्षेण जायमानत्वाद् अलौकिकत्वम् इत्यत आह – **लौकिक इति चेदिति।** सत्यमेतत्। न तु इदम् बीजविषयक–लौकिक–निर्विकल्पकप्रत्यक्षम् अवश्यं सर्वस्माद् बीजाद् भवति, इन्द्रियादिप्रत्यासत्तेरसदातनत्वात्। इन्द्रियादिप्रत्यासत्तिसत्त्वे तेजो– ज्ञानं भवति तदसत्त्वे न भवति। तथा च बीजसत्त्वे पि बीजविषयक– निर्विकल्पकानुभवस्य अजायमानत्वेन अन्वयव्यभिचारात् बीजस्य तं प्रति न कारणत्वं सिद्ध्यतीति।

ततश्च योग्यमपि सहकार्यसन्निधानान्न करोतीत्यर्थसिद्धम्। कार्यान्तर-मेवातीन्द्रियं सर्वबीजाव्यभिचारि भविष्यतीति चेत्, तन्न तावदुपादेयम्। अमूर्तस्य मूर्तानुपादेयत्वात् परिद श्यमानमूर्तघटिततया मूर्तान्तरस्य तद्देशस्यानुपपत्तेः। नापि सहकार्यं मिथः सहकारिणामव्यभिचारानुपपत्तेः।

अपि चैवं सति प्रयोजकस्वभावो नान्वयव्यतिरेकगोचरः। तद्गोचरस्तु न प्रयोजकः। द श्यं च कार्यजातमद श्येनैव स्वभावेन क्रियते, द श्येन त्वद श्यमेवेति। सो यं यो ध्रुवाणीत्यस्य विषयः।

अथवा व्यतिरेकेण प्रयोगः। विवादाध्यासितं बीजं सहकारिवैकल्य प्रयुक्ताङ्कुरादिकार्यवैकल्यं, तदुत्पत्तिनिश्चयविषयीभूतबीजजातीयत्वात्। यत् पुनः सहकारिवैकल्यप्रयुक्ताङ्कुरादिकार्यवैकल्यं न भवति न तदेवम्भूतबीज-जातीयं यथा शिलाशकलमिति।

ननु यद् बीजम् इन्द्रियप्रत्यासन्नं तद् बीजम् निर्विकल्पकं जनयत्येवेति न व्यभिचार इत्यह आह – **ततश्चेति।** ततश्च योग्यमपि = निर्विकल्पकजनने समर्थमपि सहकार्यसन्निधानात् न कार्यं करोति इत्यर्थात् सिद्धम्। तथा च कुसूलस्थबीजमपि कारणं बीजत्वेन सलिलादिसहकारिणो समवधानेन नाङ्कुरं जनयति इति कुर्वद्रूपत्वासिद्ध्या कुसूलस्थ–क्षेत्रपतित–बीजयोः भेदासिद्ध्या क्षणिकत्वं भावानां न सिद्ध्यति। भावानां स्थैर्यं विना सहकारिसमवधानासिद्धेः।

ननु कार्यान्तरमेव अतीन्द्रियम् सर्वबीजाव्यभिचारि = सर्व– बीजजन्यम् भविष्यति। तथा च बीजत्वेन रूपेण अर्थक्रियासु = अतीन्द्रियकार्यान्तरेषु सर्वेषां बीजानाम् उपयोगित्वम् = कारणत्वम् सिद्धम् इति। बीजस्वरूपत्वं सर्वेषां तेषां सिद्ध्यतीति न पूर्वोक्तदोष इति चेत्? तत् = अतीन्द्रियकार्यम् न तावत् उपादेयम् =

समवेतम्। समवेतातीन्द्रियकार्यम् सर्वबीजजन्यम्। अमूर्तस्य अतीन्द्रियकार्यस्य मुर्तानुपादेयत्वात् मूर्तबीज– समवेत–कार्यत्वाभावात्। ननु सर्वबीजानाम् अतीन्द्रियं मूर्तमेव कार्यमिति नोक्तदोष इत्यत आह – **परिद श्यमानेति।** तव मते कुर्वद्रूपत्ववद् बीजम् अङ्कुरं मूर्तातीन्द्रियकार्यान्तरं च जनयति। परिद श्यमानाङ्कुररूप–मूर्तघटिततया मूर्त्तान्तरस्य = अतीन्द्रियकार्यान्तरस्य अङ्कुरदेशत्वापत्तिः। अथवा परिद श्यमानम् परेषां बोद्धानाम् उत्तरोत्तरबीजम्, तद् घटिततया मूर्तान्तरस्य अतीन्द्रियमूर्तकार्यान्तरस्य तद्देशस्य अनुपपत्तेः बीजदेशस्य उपपत्त्यभावात्। मूर्तयोरुभयोः समानदेशत्वाभावात्। अतः बीजकार्यम् अङ्कुरमेव, नातीन्द्रियकार्यान्तरम्। तथा च कुसूलस्थबीजस्य अङ्कुरं प्रति अनुपयोगित्वे (अकारणत्वे) तस्य बीजजातीय–त्वानुपपत्तिः। अतो ङ्कुरं प्रति तस्योपयोगित्वे पि सहकारिसमवधानाभावेन नाङ्कुरं जनयति कुसूलस्थं बीजमिति। क्षेत्रपतिताद् बीजात् वीजत्वेनास्य भेदाभावेन न क्षणिकत्वं भावानामिति बोध्यम्।

ननु तत् अतीन्द्रियकार्यं प्रति बीजत्वावच्छिन्नं निमित्तिकारणमेव स्यादित्यत आह – **नापीति।** सहकार्यम् = उपादानसाहित्येन यत् क्रियते तत्सहकार्यम्। तथा च सहकारिसमवहितबीजनिमित्तकमेव अतीन्द्रिय– कार्यम्। एताद शकार्यं प्रति सर्वबीजानाम् उपयोगित्वमिति न पूर्वोक्तदोष इति विज्ञयेम्। पूर्वकार्यान्तरं प्रति उपादानकारणम् समवायिकारणं बीजमुक्तम्। इदानीं निमित्तकारणम् उक्तमिति न पुनरुक्तम्।

स्यादेवं यदि सकलेषु बीजेषु सहकारिसमवधानं ध्रौव्यं भवेत्। तथाच यदेव बीजं तत् (सहकारि) असमवहितं तस्यैव = सहकार्यसमवहितबीजस्य तत्कार्यम् = अतीन्द्रियकार्यान्तरं न भवेदिति सर्वेषां बीजानां नोपयोगित्वं कारणत्वम्, सिद्धमिति पूर्वोक्तं बीजत्व–तज्जातीयत्वं न स्यादिति दूषणं तदवस्थमिति विज्ञेयमित्याह – **मिथः सहकारिणाम् अव्यभिचारानुपपत्तेरिति।** तथा च उपादानविरहे सहकारिसत्त्वे, सहकारिविरहे चोपादानसत्त्वे कार्यस्य उत्पादे व्यतिरेकव्यभिचारात् तयोरकारणत्वम्। कार्यस्यानुत्पादे च सिद्धं समर्थस्यापि सहकारिविरहात् अकारणम् कार्याजनकमिति। अथवा अव्यभिचारानुपपत्तेः = कार्याव्यभिचारानुपपत्तेः। नहि सर्वेषां सहकारिणाम् एकं किंचित् सार्वत्रिकं कार्यमिति नियमो स्ति। अथ अक्ल प्तकार्य(अतीन्द्रि–यकार्य)तदुपादान(बीज)वत् उपादान–(बीज)–अविनाभावो पि सहकारिणः कल्पयिष्यते तत्राह – **अपि चैवं सतीति।** एताद शकल्पने सति प्रयोजकस्वभावः = कारणस्वभावः (कारणत्वम्) नान्वयव्यतिरेकगोचरः। अन्वयव्यतिरेकगोचरस्तु न प्रयोजकः (कारणम्)। अथवा "यदि बीजत्वावच्छेदेनैव अतीन्द्रियं कार्यम्"[1] अतीन्द्रियकार्यं प्रति बीजत्वा–वच्छिन्नं सकलबीजं कारणम्, यदि च कुर्वद्रूपत्वम् अतीन्द्रियम् अङ्कुर–जनकतावच्छेदकं न तु बीजत्वं त्वया स्वीक्रियते। तदा प्रयोजकस्वभावः

बीजरूपकारणस्वभावो नान्वयव्यतिरेकगोचरः, अन्वयव्यतिरेकगोचरस्तु न प्रयोजकः = जनकः। द श्यं च कार्यजातम् अङ्कुरादिकम् अद श्येनैव कुर्वद्रूपेण स्वभावेन क्रियते, द श्येन = बीजेन तु अद श्यमेव = अतीन्द्रियकार्यान्तरमेवेति। सो यम् यो ध्रुवाणीत्यस्य विषयः। कारणतावच्छेदकत्वस्य बीजत्वस्य, कार्यतावच्छेदकस्य अङ्कुर–त्वादेः प्रत्यक्षसिद्धत्वमेव ध्रुवत्वम्। कुर्वद्रूपत्वस्य अतीन्द्रियकार्यान्तरस्य च प्रत्यक्षा–सिद्धत्वमेव अध्रुवत्वम्।

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि।।

इति सर्वप्रकारिका नुपपत्तिरित्यर्थः।

सो यं वादी प्रघट्टकार्थी वा प्रथमप्रघट्टकार्थमेव सिंहावलोकनन्यायेन व्यतिरेकमुखेन प्रयोगमारोप्य दर्शयति – **अथवा व्यतिरेकेण प्रयोग** इति। विवादा–ध्यासितं बीजं (कूशूलस्थबीजम्) सलिल–पवनादिसहकारि–वैकल्यप्रयुक्त– अङ्कुरा–दिकार्यवैकल्यम् (अजनकम्), तदुत्पत्ति (अङ्कुरोत्पत्ति)–निश्चयविषयीभूत– बीज–(क्षेत्रपतितबीज)–जातीयत्वात्, यत् पुनः सहकारिवैकल्यप्रयुक्त–अङ्कुरादि–कार्यवैकल्यं (कार्यप्रागभावकम्) न भवति न तदेवंभूतबीज–(क्षेत्रपतितबीज)–जातीयम् यथा शिलाशकलम् इति। कार्यवैकल्यम् = कार्यप्रागभावः। क्षेत्रपतितबीजजातीयमेव कुसूलस्थबीजम्। अतः सहकारिविरहादेव नाङ्कुरं जनयति। अस्य अङ्कुरं प्रति कारणत्वमस्त्येव। तथा च क्षेत्रपतितबीजाद् अस्य भेदासिद्धेः क्षणिकत्वं भावानां न सिद्ध्यति।

न च किमुक्तसाध्यव्याव त्तेरुक्तसाधनव्याव त्तिरुदाहृतात् किं वा परम्परयापि तथाविधप्रसवसामर्थ्यविरहादिति व्यतिरेकसन्देह इति वाच्यम्। प्रगेव शङ्काबीजस्य निराकृतत्वादिति।

स्यादेतत्। माभूत् सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गः। अस्तु बीजत्वमेव प्रयोजकम्। भवतु वा सहकारिसमवधाने सति कर्त स्वभावत्वं भावस्य। तथा च तदसन्निधाने करणमप्युपपद्यताम्। तथापि तज्जातीयमात्र एवेयं व्यवस्था, न त्वेकस्यां व्यक्तौ। करणाकरणलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गस्य प्रात्यक्षसिद्धतया तत्र दुर्वारत्वादिति चेत्, न विरोधस्वरूपानवधारणात्।

स खलु धर्मयोः परस्पराभावरूपत्वं वा स्यान्नित्यत्वानित्यत्ववत्। धर्मिणि तदापादकत्वं वा शीतोष्णत्ववत्। तद्वत्ता व दण्डित्वकुण्डलित्ववत्।

ननु शिलाशकले सहकारिविरहप्रयुक्ताङ्कुरादिकार्यवैकल्याभावात् तदुत्पत्ति–निश्चयविषयीभूत–बीजजातीयत्वाभावः, किंवा परम्परया पि तथाविध–(अङ्कुर)–प्रसवसामर्थ्यविरहात् तदुत्पत्तिनिश्चयविषयीभूत–बीज– जातीयत्वाभाव इति व्यतिरेकव्याप्तिसन्देहः साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वं प्रति व्याप्तित्वमिति शङ्कते – **न च किमुक्तेति।** तथा च व्यतिरेकव्याप्तिसन्देहे तदनिश्चयेन तदनुमानम् असिद्धमिति बोध्यम्। प्रागेव शङ्काबीजस्य निराकृतत्वादिति = बीजत्वस्य अङ्कुरप्रयोजकत्व– व्यवस्थापनेन। तथाच एककोटिकनिश्चयेन तत्संदेहासंभवः।

वक्ष्यमाणप्रघट्टकार्थात् उक्त प्रघट्टकत्रयस्यार्थं विवेक्तुं तत् त्रयार्थानुवादपूर्वकं प्रघट्टकान्तरमवतारयति – **स्यादेतदिति।** सामर्थ्यासामर्थ्यरूप–विरुद्धधर्मसंसर्गः मा भूत् = बीजे अङ्कुरजननसामर्थ्यासामर्थ्यरूपविरुद्धधर्मसंसर्गः मा भूत्। अस्तु बीजत्वमेव अङ्कुरादिकार्यप्रयोजकम्। भवतु च सहकारिसमवधाने सति कर्तृस्वभावत्वं भावस्य = बीजस्य अङ्कुरजनकस्वभावत्वम्। तथा च तदसन्निधाने = सहकार्यसन्निधाने अकरणमपि उपपद्यताम् = बीजम् अकारणमपि स्यात्। अङ्कुरस्य अजननात्। तथा च कुसूलस्थस्यापि बीजस्य बीजत्वेन सामर्थ्यसाधनं भा भूत् इत्यादिना कृतम्। अस्त्वित्यादिना बीजे कुर्वद्रूपत्वाकुर्वद्रूपत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासो पि नात्रेति भावः। भवतु वा इत्येनन बीजे क्षेपकारित्वाक्षेपकारित्वलक्षणो पि न विरुद्धधर्माध्यासः। कर्तृस्वभावत्वम् जनकस्वभावत्वम्। तथापि कुसूलस्थे बीजे क्षेत्रपतितबीजजातीयमात्र एवेयं व्यवस्था। सहकारिलाभालाभाभ्यां बीजत्वजात्यवच्छिन्नं किञ्चिज्जनयति, किञ्चिन्नेति व्यवस्था भवतु। न त्वेकैकव्यक्तिः कदाचित् जनिका कदाचिदजनिकेति व्यवस्था सहकारिलाभालाभाभ्यां कर्तुं शक्येति शङ्कते – **तथापि तज्जातीयत्वमात्रे एवेयं व्यवस्था नत्वेकस्यां व्यक्ताविति।** विरोधमेव न जानन्ति भवन्तः, अतः शङ्कन्ते। यद्यपि पूर्वमपि व्यक्तिमेवादाय सामर्थ्यासामर्थ्यादिकं चिन्तितं क्षणभङ्गानुकूलत्वात्, तथापि एकस्या व्यक्तेः फलोपधानानुपधानलक्षण–विरुद्धधर्माध्यासः प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् दुरपह्नव इत्यभिप्रायेण शङ्केति न पौनरुक्त्यम्।

सः = विरोधः खलु करणाकरणयोः धर्मयोः परस्पराभावरूपत्वं वा स्यात् नित्यत्वानित्यत्ववत्, धर्मिणि परस्परविरहापादकत्वं वा शीतोष्णत्ववत्। तच्च परस्पराभावत्वं परस्पराभावापादकत्वं परस्परविरहव्याप्यतया निर्वहति। यथा शैत्यं जले औष्ण्याभावमाक्षिपति, औष्ण्यं च तेजसि शैत्याभावम्। तद्वत्ता वा = धर्मयोः परस्परभेदमात्रं वा विरोधः दण्डित्वकुण्डलित्ववत्।

न प्रथमः, निर्विशेषणस्यासिद्धत्वात्, यावत् सत्त्वं किञ्चित् कारणात्। सविशेषणस्य तु विरोधसिद्धावप्यध्यासानुपपत्तेः। यदा यदकरणं हि तदा तत्करणस्याभावो न त्वन्यदा तत्करणस्य। न चैतयोरेकधर्मिसमावेशमातिष्ठामहे।

न द्वितीयः, भावाभावव्यतिरिक्तयोः करणाकरणयोरसिद्धेः। व्यापाराप व्यपदेशसहकारिभावाभावौ हि करणाकरणे कार्यभावाभावौ वेति। अतिरेकसिद्धावपि स्वकाल एव स्वभावप्रतिक्षेपवत् अकरणाभावमाक्षिपेत् करणं न त्वन्यदा। न हि यो यदा नास्ति स तदा स्वाभावं प्रतिक्षेप्तुमर्हतीति, विरोध्यभावं वा आक्षेप्तुम्। तथा सति न कदापि तन्न स्यात्, न वा कदापि तद्विरोधी भवेदिति। नासतौ विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत इत्यायातम् न वा विरोधः।

न प्रथमः। निर्विशेषणस्य असिद्धेः। कार्यविशेषानियन्त्रितस्य अकरणस्य वस्तुनि क्षणभङ्गवादिनाम् असिद्धेः विरोधस्य असिद्धत्वात्। तथा च अकरणत्वमात्रस्य बीजव्यक्तावसिद्धेः। तदेवाह – **यावत् स्वत्त्वं किंचित् करणात्।** अन्ततः संयोगादेरपि जननात्। सविशेषणस्य तु यदा तदेति विशेषणसहितस्य विरोधसिद्धावपि अध्या–सानुपपत्तेः। तदेवाह – **यदेति।** यदा यदकरणं हि तदा तत्करणस्य अभावः, न तु अन्यदा तत्करणस्याभावः। अनयोः विरोधसंभवे पि अध्यासो नास्तीत्याह – **न चेति।** न चैतयोः करणाकरणयोः एकधर्मिणि समावेशमातिष्ठामहे। नहि यद् बीजं यदैव यदङ्कुरं करोति तदैव न करोतीत्यभ्युपगच्छामः।

न द्वितीयः। धर्मिणि तदापादकत्वं वेति द्वितीयविकल्पो न इत्यर्थः। तदापादकत्वम् इत्यस्य परस्परविरहापादकत्वम् इत्यर्थः। तच्च परस्पर– विरहव्याप्यतया निर्वहति। करणाकरणयोस्तु परस्परविरहव्याप्यत्वेन तयोः परस्परविरहा–पादकत्वासंभवात्। तदेव मनसिकृत्याह **भावाभावव्यतिरिक्तयोः करणाकरणयोरसिद्धेरिति।** परस्परविरहव्याप्यत्वम् इति। कथं परस्परविरहापादकत्वं संभवति? व्यापारापरव्यपदेशसहकारिभावाभावौ हि करणाकरणे कार्यभावाभावौ वा? व्यापारापरव्यपदेशः सहकारी चरमो व्यापारः। एतौ वा परस्परविहररूपावेव करणाकरणे। तथा च अन्त्यतन्तुसंयोगादिवत् चरमसामग्रीनिवेशित–सहकारिभावाभावौ फलो–पधानानुपधाने वा करणाकरणे परस्परविरहात्मनी एव। सहकारिसत्त्वं करणत्वं सहकार्यसत्त्वम् अकरणत्वमिति परस्परविरहरूपे करणाकरणे, न तु परस्परविरहव्याप्यत्वे। एव च परस्परविरहाव्याप्यत्वेन कथं परस्परविरहापादकत्वं विरोधित्वं संभवति। तद्व्याप्यस्यैव तदापादकत्वम्, न तु तद्विरहस्य तदापादकत्वम्। करणाभावातिरिक्तम् अकरणमिति स्वीकारे दोषमाह – **अतिरेकेति।** करणाभावातिरिक्ताकरणस्य सिद्धावपि स्वकाल एव = करणकाल एव स्वाभावप्रतिक्षेपवत् अकरणाभावमाक्षिपेत् करणम्, न तु अन्यदा करणकालातिरिक्तकाले करणं नाकरणाभावम् आक्षिपति। यथा घटः स्वावच्छिन्ने एव काले=स्वाश्रये एव काले, स्वाभावं=घटाभावं प्रतिक्षिपति=निषेधति। न तु स्वानवच्छिन्ने पि काले स्वानाधारे पि काले स्वाभावं घटाभावं प्रतिक्षिपति। तथा करणमपि = कार्यकरणमपि स्वावच्छिन्न एव काले स्वविरोधिनो करणस्य अभावं

प्रतिक्षिपेत्, न स्वानवच्छिन्ने पि स्वानाधारे पि काले स्वविरोध्यभावमाक्षिपेत्। न हि नीलगुणः स्वाकाले रक्तत्वाभावं प्रतिषेधति। तथा सति अश्यामो घटः सति पाके रक्तो न स्यात्। द ष्टान्तमुपपादयति – **न हीति।** यः = पदार्थः यदा = यस्मिन् काले नास्ति, स = पदार्थः तदा = स्वाभावकाले स्वाभावं प्रतिक्षेप्तुं = निषेधयितुं हि = यस्मात् नार्हतीति। प्रतिक्षेप्तुमर्हति प्रतिक्षेपात्मा भवतीति भावः। दार्ष्टान्तिकमाह – **विरोधीति।** विरोधिनो भावं वा आक्षेप्तुं = निषेधयितुं वा अर्हति। उभयत्र विपक्षे दण्डमाह – **तथा सतीति।** स्वासत्त्वकाले पि स्वाभावप्रतिक्षेपे तदा = स्वासत्त्वकाले पि तदभावो = स्वाभावो न स्यात्। स एव = स्व एव स्यात्। स्वासत्त्वकाले पि च स्वविरोधिनो भावाक्षेपे तदानीमपि = स्वासत्त्वकाले पि तद्विरोधी = स्वविरोधी न स्यात्। तथा च स्वानवच्छिन्नकाले पि यदि स्वाभावं प्रतिक्षिपेत् तदा यदा यो न स्यात् तदैव स स्याद् इत्यायातम्। यदा स्वयं न स्यात् तदा स्वविरोध्यपि न स्यात् स्वयमेव स्यात् इति विचित्रो विरोधः। ततः किमित्यत आह – **नासत इति।** असतो भावो न विद्यते सतः अभावो न विद्यते इत्यायातम्। तथा च भावानां क्षणिकत्वसाधने प्रव त्तस्य तव नित्यत्वमेव तेषां (भावानां) पर्यवसितम्। स्वसत्त्वकाले स्वो यथा वर्त्तते तथैव स्वाभावकाले पि यदि वर्तेत तदा स्वस्य नित्यत्वं स्यात्, सर्वदा वर्तमानत्वात्। एवं स्वविरोधिकाले पि स्वस्य सत्त्वे सर्वदा सत्त्वमिति स्वस्य नित्यत्वमेव स्यात्, सर्वदावर्त्तिनो नित्यत्वात्। न वा विरोधः। स्व–स्वविरोधिनोः सहावस्थानात्।

नन्वेवं सति परिमाणभेदो पि कालभेदेन न विरुद्ध्यते। तत्राप्येवं वक्तुं सुकरत्वात्। न, बाधकबलेन तत्र कालभेदस्य विवक्षितत्वात्। तथाहि नारब्धद्रव्यैरेव द्रव्यावयवैर्द्रव्यान्तरमारभ्यते मूर्तत्वसमानदेशत्वयोरेकदा विरोधात्। तथा चारम्भपक्षे पूर्वद्रव्यनिव त्तिः अनिव त्तावनारम्भ इति। तत्र निव त्तावाश्रयभेदादेव परमाणभेदः। अनिव त्तौ संयोगिद्रव्यान्तरानुपचये क्व परिमाणभेदोपलम्भो यो विरोधमावहेत्। तदुपचये तु क्व परिमाणान्तरोत्पत्तिः, आश्रयानुत्पत्तेः। अत एव स्थौल्यातिशयप्रत्ययो पि तत्र भ्रान्तः। तस्मात् कालभेदेनापि न परिमाणभेदः एकस्मिन् धर्मिण्युपसंहर्तुं शक्यत इत्यादि पदार्थचिन्ताचतुरैः सह विवेचनीयम्।

नन्वेवं सति (विरोधिनः काले पि स्वस्य सत्त्वस्वीकारे) ह्रस्वत्व– दीर्घत्वे अपि परिमाणे कालभेदेन विरुद्धे न स्याताम्। तथा च कालादिप्रत्यभिज्ञापि प्रमैव स्यात्। ह्रस्वकाले सो यं दीर्घकालः, दीर्घकाले सो यं ह्रस्वकाल इति प्रत्यभिज्ञा प्रमा स्यात्। स्वविरोधिकाले पि स्वसत्त्वाभ्युपगमाद् इत्यत आह **नन्वेवमिति।** नन्वेवं सति परिमाणभेदो पि कालभेदेन न विरुद्ध्येत। तत्रापि एवं वक्तुं सुकरत्वात् = स्वकाल एव स्वविरोधिपरिमाणं प्रतिक्षिपेत्, न तु स्वाकाले पि इति वक्तुं सुकरत्वात्। एवं कथयितुं न शक्यते भिन्नकालयोरपि परिमाणयोः एकत्र धर्मिणि विरोधस्य

प्रमाणसिद्धत्वादित्याह – **नेति**। बाधकबलेन तत्र = परिमाणस्थले कालभेदस्य विवक्षितत्वात्। तत्र परिमाणभेदो द्रव्यनाशे सत्येव भवेत् न तु पूर्वद्रव्ये सतीति – तथाहि इत्यादिना विवेचनीयम् इत्यन्तेन उपपादयति। **तथाहीति।** अविनष्टे एव पूर्वद्रव्ये (पूर्वावयविनि) यदि तेषु अवयवेषु द्रव्यान्तरम् (पूर्वावयवि–भिन्नावयवी) उत्पद्येत, तदा मूर्तयोः अपकृष्ट– परिमाणवतोः समानदेशत्वम् = सामानाधिकरण्यम् आपद्येत इत्याह – **नारब्धेति।** आरब्धद्रव्यैरेव द्रव्यावयवैर्द्रव्यान्तरं नारभ्यते मूर्तत्वयोः अपकृष्ट– परिमाणवतोः एकदा समानदेशत्वविरोधात्। ननु घटादौ चक्षुरालोकयोः मूर्तयोः एकदेशव त्तित्वेन कथं मूर्तयोः समानदेशत्वविरोधः? चक्षुरालोकयोः समानदेशत्वं पदार्थस्य प्रत्यक्षाय सर्वानुमतत्वादिति चेत्? न। तत्र चालनीन्यायेन उभयव त्त्यभ्युपगमात्। निबिडा(सघना)वयवमूर्तद्वयाभिप्रायेण वा विरोधस्योक्तत्वात्। ननु तथापि एकतन्तुकपटे तन्तूनां पटस्य च अंशुव त्तित्वमेव स्यात्। तथा च कथं न तत्र मूर्तद्वयसमानदेशता विरोध इति चेत्? न। तत्र पट एव नोत्पद्यते किन्तु संस्थानविशेषाधीनः (अवयवसंयोग–विशेषाधीनः) पटव्यवहार इत्यभ्युपगमात्। यद्वा अंशु–तन्तुसंयोगः पटा–समवायिकारणम्। न च तत्रैवांशौ पटव त्तित्वमिति। तथापि तन्तुना पटस्य समानदेशत्वमेवेति वाच्यम्। अन्यूनदेशयोरेव मूर्तयोः समानदेशत्वविरोधाभ्युपगमात्। तथा च आरम्भपक्षे पूर्वद्रव्यनिव त्तिः। अनिव त्तावनारम्भ इति। पूर्वपरिमाणस्य नाशे परिमाणान्तरारम्भपक्षे पूर्वद्रव्यस्य = पूर्वपरिमाणवतः अवयविनो निव त्तिः = नाशः। पूर्वद्रव्यस्य पूर्वावयविनो निव त्तौ अनाशे अनारम्भः परिमाणान्तरानारभ्भः। तत्र निव त्तौ पूर्वपरिमाणवतो वयविनो नाशे भिन्नावयविनः उत्पादे आश्रयभेदादेव परिमाणभेदः। नत्वेकत्र ह्रस्वत्व–दीर्घत्वे तिष्ठतः। **अनिव त्ताविति** = पूर्वद्रव्यं यदि न निवर्तते तदा समवायि– (परिमाणान्तरस्य समवायि–) कारणान्तरानुप्रवेशो पि नास्तीति कथं दीर्घत्वोपलम्भः। ह्रस्वसमवायिकारणं तु न दीर्घपरिमाणस्य समवायिकारणम्। दीर्घस्य समवायिकारण च नोत्पन्नम् इत्यनुत्पन्नदीर्घपरिमाणस्य कथमुपलम्भः स्यादिति भावः। यः = दीर्घस्य उपलम्भः ह्रस्वोपलम्भस्य विरोधमावहेत्।

ननु स्थूलप्रत्ययो द श्यते। स च प्रत्ययः संयोगिद्रव्यान्तरानुप्रवेशं विना कथं स्यादित्यत आह – **तदुपचये त्विति।** पूर्वद्रव्यस्योपचये तु क्व परिमाणान्तरोत्पत्तिः, परिमाणान्तरस्य यत् समवायिकरणं तन्नोत्पन्नम् इति। अनुत्पन्नस्य परिमाणान्तराजन–कत्वेन आश्रयानुपपत्तेः, परिमाणान्तरस्य असत्त्वात्। अत एव तत्र स्थौल्यातिशय–प्रत्ययो पि भ्रान्तः। द्रव्यान्तरं चेत् नोत्पद्यते तदा तत्र स्थौल्यप्रत्ययो धान्यराशौ इव भ्रान्तः।

ननु यदि द्रव्यान्तरं नोत्पन्नं तर्हि य एव कृशः आसीत् स एवेदानीं स्थूल इति प्रत्यभिज्ञा कथं जायते, अत आह – **अत एवेति।** तस्मात् (पूर्वद्रव्यस्य अनाशे

परिमाणान्तरस्य अनुत्पत्तेः) कालभेदेनापि न परिमाणभेदः एकस्मिन् धर्मिणि उपसंहर्तुं शक्यते इत्यादि पदार्थचिन्ताचतुरैः = वैशेषिकैः सह विवेचनीयम्।

अस्तु तर्हीहापि बाधकं बलम्, प्रसङ्गतद्विपर्यययोरुक्तत्वादिति चेत्, न। तयोः सामर्थ्यासामर्थ्यविषयत्वात्, तत्र च उक्तत्वात्। स्तां वा न तथापि ताभ्यां शक्त्यशक्त्योरविवक्षितत्वात् कालभेद एव विरोधः साध्यते तथोपसंहर्तु-मशक्यत्वात्। यदा तदेत्युपेक्ष्य यत् समर्थं तत्करोत्येवेत्युपसंहर्तुं शक्यमिति चेन्न। कालनियमाविवक्षायां यत् समर्थं तत्करोत्येवेति कदाचित् स्यात्। तथा च सम्भवविधेरत्यन्तायोगो विरुद्धो न त्वयोगः नीलं सरोजं भवत्येवेतिवत्।

ननु यदसमर्थं प्रथममासीत् तस्य सामर्थ्यं पश्चादपि कुत आगतम्। प्रथमं समर्थस्य वा पश्चात् कुत्र गतम्। नैतदेवं तत्तत्सहकारिमतस्तत्तत्कारकत्वं हि सामर्थ्यम्। अतद्वतस्तदन्यवतो वा तदकर्तृत्वमसामर्थ्यम्। इदं चौत्पत्तिकमस्य रूपं, ते च सहकारिणः स्वोपसर्पणकारणवशाद् भिन्नकाला इत्यर्थात् कार्याणामपि भिन्नकालतेति। तथाप्येककालस्थ एव भावो जातनष्टस्तदा तदा तत्कार्यं करोतु उत्पन्नमात्रस्य तत्स्वभावत्वात् एकदेशस्थवदिति चेत्।

अस्तु तर्हीहापि बाधकबलम्। प्रसङ्गतद्विपर्ययोः उक्तत्वाद् इति चेत्? न। यदि इदं द्रव्यं दीर्घं स्यात् तदा ह्रस्वं न स्यात् इतिवत्, यदि इदं बीजं कारि (कार्यकारि) स्यात् तदा अकारि (कार्याकारि) न स्यात्। अकारि चैतत् (कुसूलस्थं बीजम्) तस्मान्न कारीति प्रसङ्ग–विपर्ययौ स्यातामिहापि। इहापि कुसूलस्थबीजं कार्यकारि। बाधकं बलं तर्हि अस्तु। तच्च प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां सिद्ध्यति। तयोरुक्तत्वादिति शङ्का। कारित्वा– कारित्वे यदि सामर्थ्यासामर्थ्ये एव तत्र प्रसङ्ग–विपर्ययौ पूर्वमेव निरस्तौ इत्याह – **नेति**। ननु सामर्थ्यासामर्थ्ये प्रति प्रसङ्ग–तद्विपर्ययौ नोच्येते, येन न पूर्वं निरस्तत्वं स्यात्। किं तर्हि कारित्वाकारित्वे च ताभ्याम् सामर्थ्या– सामर्थ्याभ्याम् अन्ये एवेत्यत आह – **स्तां वेति। शक्त्यशक्त्योरिति।** कारित्वाकारित्वयोः। अविवक्षितकालभेद एव विरोधः साध्यते। यः कारि भवति स नाकारि भवति। कुसूलस्थं बीजं नाङ्कुरं जनयति, अतस्तत् कारिभिन्नम्। क्षेत्रपतित च बीजमङ्कुरं जनयति अतो कारिभिन्नम् इत्युभयोः भेदः कुर्वद्रूपत्वाकुर्वद्रूपत्वाभ्यामेव सेत्स्यति इति क्षणिकत्वं सिद्धम्। बीजस्य क्षणिकत्वं परस्परभेदासिद्धेः न संभवति। **तथेति**। कालभेदम् अनन्तर्भाव्य सामान्यतः तयोरेकत्र धर्मिणि उपसंहाराभावात्। एतदेव शङ्कापूर्वकं दर्शयति – **यदा तदेति।** यदा तदेत्युपेक्ष्य, उभयोः कारित्वाकारित्वयोः एककालत्वं तिरस्कृत्य यत् समर्थं तत् करोत्येव इत्युपसंहर्तुं शक्यमिति चेत्? न। कालनियमाविवक्षयां यत् समर्थं तत् करोत्येव कदाचिदिति स्यात्। यज्जातीयं समर्थं तज्जातीयं करोत्येव वा इति

विवक्षितम्। तथा प्रसङ्गे इष्टापत्तिः। तदेव स्फुटयति – **तथा च संभवेति।** समर्थस्य (अङ्कुरकरणत्वस्य) अत्यन्तासंबन्धः विरुद्धः। कदाचित् तेन अङ्कुर–जननात्। न त्वयोगः = अङ्कुरजननसमर्थस्य अङ्कुरकरणत्वासंबन्धो न भवति। नीलं सरोजं भवत्येवेतिवत्। यथा कमलानां नील–रक्त–शुक्ल– भेदविशिष्टानां कुत्रापि शुक्लकमले नीलगुणाभावे पि न नीलगुणस्य तत्र अत्यन्तायोगः। नीलकमले नीलगुणसंबंधस्य सत्त्वात्। तथा बीजानाम् अङ्कुरजनकाजनकानां मध्ये कस्यापि बीजस्य अङ्कुराजनकत्वे पि न अङ्कुरजनकत्वस्य कारित्वस्य अयोगः असंबन्धः संभवति। एव च कुसूलस्थे बीजे कारित्वायोगासत्त्वेन क्षेत्रपतितबीजकारिणो त्र भेदासिद्ध्या क्षणिकत्वम् असिद्धम्। भेदस्य स्वप्रतियोगितावच्छेदकेन सह विरोधात् कारित्वयोगाभाववति कुसूलस्थे बीजे अङ्कुरकारित्वसत्त्वात्। सहकारिणो भावेन नाङ्कुरं जनयतीति विज्ञेयम्।

ननु प्रथमम् असमर्थमपि क्रमेण समर्थं भवति, प्रथमं वा समर्थं तदपि क्रमेण असमर्थमिति किं निबन्धनमित्याह – **नन्विति।** सामर्थ्यं यदि योग्यत्वं विवक्षित्वा प्रोच्यते तदा सर्वदैव तत् समर्थमेवेति कुसूलस्थ– बीजादपि अङ्कुरमापद्येत। नोत्पद्यते अतः क्षेत्रपतितबीजाद् भिन्नमिदमिति भेदसिद्ध्या क्षणिकत्वं सिद्धम्। क्षणिकत्वं विना तयोः भेदासिद्धेः। नैतदेवम् = नैतद् युक्तम्। तत्तत्सहकारिमतः तत्तत्कारकत्वं हि सामर्थ्यम्। अतद्वतः तदन्यवतो वा = सहकारिशून्यवतः बीजादेः बीजभिन्नादेर्वा तदकर्तृत्वम् असामर्थ्यम्। सामर्थ्यं कारित्वं विवक्षितम्। कारित्वाकारित्वोभयं च सहकारित्वलाभालाभतन्त्रमिति असकृदावेदितम् इत्यत आह – **तत्तदिति। अतद्वत इति।** सहकारिविनाकृतस्य। तदन्यवतो वेति। एककार्य– सहकारिसत्त्वे पि बलवत्कार्यान्तरसहकारिमतः, यथा नुमितिसामग्रीतः प्रत्यक्षसामग्री बलवती भवति। समानविषयकानुमितिं प्रति प्रत्यक्षसामग्र्याः बलवत्वात्। तदकर्तृत्वम् = तदजनकत्वम्। इदं च औत्पत्तिकम् अस्य रूपम्। अस्य = भावस्य, इदम् = सहकारिसमवहितस्य कारणस्य कार्यजनकत्वम् तदसमवहितस्य तस्य कार्याजनकत्वम् औत्पत्तिकम् = नित्यं स्वभावसिद्धं रूपम्। तथा च एतत्स्वभाव एव भावो जायते।

ननु तर्हि सहकारिसमवहित एव भावो जायतां तत्तत्कार्याणि प्रतीत्यत आह – **ते चेति।** सहकारिणः स्वकारणाधीनसन्निधयो न भाव– स्वरूपान्तर्गताः, तेषां सहकारिणां च अनियतकालोपसर्पणत्वात् कार्याणामिव कालानियमः। उपसर्पणम् = सन्निधानम्। तथा च यद्यपि बीजत्वाद्यवच्छिन्नानाम् अङ्कुरादिकार्य–जनकत्वमस्ति, सहकारि–समवधानस्य अनियतत्वेन कार्यजनकत्वाजनकत्वे तत्र तिष्ठतः। अत उभयोः भेदासिद्ध्या क्षणिकत्वं न मन्तव्यम्।

ननु इन्द्रियादि स्वानवच्छिन्ने पि देशे आत्मनि ज्ञानसुखादिकं जनयति। इन्द्रियादेः आत्माश्रयत्वाभावात्। यथा वा म दङ्गाद्यनाश्रये आकाशे म दङ्गादि शब्दं

जनयति। तथा स्वानवच्छिन्ने पि = स्वानधिकरणे पि काले क्षणिकः भावः सहकारिसम्पत्तौ तत्कार्यं जनयेत्। अवश्यं चैतत् नैयायिकेन त्वया अभ्युपगन्तव्यम्। कथमन्यथा यागस्य अनुभवादेश्च स्वर्ग–स्मरणादि–जनकत्वम्? न ह्येकं वस्तु क्षणद्वयसबंद्धं भवितुमर्हति इत्यत आह – **तथापीति।** तथापि एककालस्थ एव = एकस्मिन् काले स्थित एव भावः। जातनष्टः = क्षणिकः तदा तदा, स्वासंबन्धिकाले द्वितीयक्षणे तत्कार्यम् स्वसजातीयं क्षणिकं कार्यं करोतु। उत्पन्नमात्रस्य = जातमात्रस्य तत्स्वभाववत्त्वात् = स्वसजातीयक्षणिककार्यकरणस्वभाववत्त्वात्। तथा च द्वितीयादि– क्षणिकमपि स्वसजातीयकार्यं जनयति, एकदेशस्थवत् स्वसंबन्धिकालव त्तिक्षणवत्, इति भावानां क्षणिकत्वं सिद्ध्यति इति चेत्?

सेयमेककालस्थता स्वरूपापेक्षया सहकारिसान्निध्यापेक्षया वा। आद्ये न किंचिदनुपपन्नं नित्यानामप्येवंरूपत्वात्। वर्तमानैकस्वभावत्वात् सर्वभावानाम्। तदेव तु क्वचित् सावधि क्वचिन्निरवधीति विशेषः। सावधित्वे पि व्यापारफलप्रवाहाप्रकर्षाभ्यां विशेषः। द्वितीयस्तु स्यादपि यदि तेषां यौगपद्यं भवेत्, क्रमिणस्तु सहकारिण इत्युक्तम्। सहकारिसहितः स्वभावेन करोतीति वक्तरि तु जातनष्ट एव करोत्वित्युत्तरप्रसङ्गो निरर्गलशैशवस्येत्यलमनेन।

तस्मात् कार्यस्य स एव कालः, कारणस्य तु स चान्यश्चेति, सम्बन्धिकालापेक्षया पूर्वकालताव्यवहारः। अपि च यदा तदेति स्थाने यत्र तत्रेति प्रक्षिप्य तयोरेव प्रसङ्गतद्विपर्ययोः को दोषः। न कश्चिदिति चेत् तर्हि देशाद्वैतं वा कारणभेदो वा आपद्येत। आपद्यतां, तदादाय *योगाचार*नयनगरं प्रवेक्ष्याम इति चेत्, न। हेतुफलभाववादवैरिणमनपोद्य तत्र प्रवेष्टुमशक्यत्वात्। तदपवादे वा सत्त्वाख्यसाधनशस्त्रसंन्यासिनस्तव बहिर्वादसङ्ग्रामभूमावपि कुतो भयम्।

एककालस्थ इत्यनेन यदि स्वसंबन्धिकालस्थ इत्युच्यते, तदा इष्टापतिः। स्थैर्ये पि भावानां स्वावच्छिन्न एव काले स्थितेरित्याह – **सेयमेककालस्थता स्वरूपापेक्षया, सहकारिसान्निध्यापेक्षया वेति।** आद्ये न किंचिदनुपपन्नम्। नित्यानामपि भावानाम् एवंरूपत्वात्। **क्वचित् सावधीति** अनित्यभावानां क्वचित् निरवधीति नित्यभावानाम् अपि एवंरूपत्वात् सर्वभावानां वर्तमानैकस्वभावत्वात् स्वस्थितिकाले एव कार्यजनकत्वस्वभाववत्त्वात्। तदेव तु क्वचित् सावधि कार्यजनकत्वम् क्वचित् निरवधि कार्यजनकत्वम्। अनित्यदण्डादिभावस्य घटादिकार्यजनकत्वम् नित्येश्वरेच्छादिभावानां निरवधिकार्यजनकत्वम् इश्वरेच्छादीनां कार्यमात्रं प्रति कारणत्वात्।

नन्वेवं यागानुभवाद्यपि स्वानधिकरणे काले स्वर्ग–संस्कारादिकार्यं न जनयेत्। तदानीं स्वकालस्थत्वाभावादित्यत आह – **सावधित्वे पीति।** सावधित्वे पि व्यापारफलप्रवाहप्रकर्षाप्रकर्षाभ्यां विशेषः। यागादीनामपि व्यापाररूपं यत्फलम् अपूर्वादि तस्य प्रकर्षः परिपाकः, तदधीनश्च स्वर्गादिफलसंबन्ध इति नोक्तदोषः।

नन्वेवं तर्हि यागवद् बीजाद्यपि स्वानधिकरणे काले कार्यजनकं स्यात् इति क्षणिकं सिध्यतीत्यत आह – **अप्रकर्षेति।** तेषां = बीजादीनां न ताद शो व्यापार इत्यर्थः।

ननु य एव सहकारिकालः स एव बीजादेरपि कालः इति कथं कार्याणि जातनष्टः = क्षणिकः एव न करोतीत्यत आह – **द्वितीयस्त्विति।** सहकारि– सान्निध्यापेक्षया एकाकलस्थतेति द्वितीयपक्षस्तु स्यादपि, यदि तेषां = सहकारिणाम् यौगपद्यम् कारणसहकारिणोः एककालोत्पन्नत्वं भवतु। तदेव तु नास्ति क्रमिणस्तु सहकारिण इत्युक्तम्। सहकारिणां सान्निध्यम् क्रमेण भवति, न युगपद् भवति।

ननु तथापि एककालस्थ एव भाव इत्यादि त्वदभिधानमपि मां प्रति = बौद्धं प्रति असम्बद्धमित्याह – **सहकारीति।** सहकारिसहितः स्वभावेन करोतीति वक्तरि तु जातनष्ट एव = क्षणिक एव कार्यं करोतु इत्युत्तर– प्रसङ्गो निरर्गलशैशवस्य इत्यलमनेन। सहकारिसहितः भावः कार्यं करोति सहकारिसान्निध्य च क्रमेण भवति, एव च भावानां स्थैर्य एव सहकारि– सान्निध्यं संभवति न तु क्षणिकत्वे, तदानीं तस्य असत्त्वात्। अतो बौद्धानां शिशुत्वं न गतम्, विचारशालित्वाभावात्।

नन्वेतावता (भावस्य स्वकाले कार्यकारित्वमिति त्वदभिलषितपक्षेण) कार्यकारणयोः यौगपद्ये कारणस्य पूर्वकालताविरहात् कारणतैव न स्यात्। कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणव त्तित्वस्यैव कारणत्वाद् इत्यत आह – **तस्मादिति।** कार्यस्य स एव = सामग्र्यव्यवहितोत्तर एव कालः, कारणस्य तु स च सामग्र्यव्यवहितोत्तरकालः, अन्यश्च = तद्भिन्नश्च। यथा कि चित् कारणं तन्त्वादि सामग्र्यन्तरमपि अनुवर्तते। कि चित्तु व्यापारं जनयित्वा कार्यात् पूर्वमेव नश्यति, यथा यागादिव्यापारम् अपूर्वं जनयित्वा स्वर्गादिकार्यात् पूर्वमेव नश्यति इति कारणस्य काले अनियम एव। कार्यस्य काले नियमः सामग्र्यव्यवहितोत्तरत्वस्य कार्यकाले नियमात् इति संबधिकालापेक्षया कारणे पूर्वकालता व्यवहारः। यस्मिन् काले यत् कारणं कार्य च सम्बद्ध्यते स एव तस्य कारणस्य कार्यस्य वा कालः। परस्मै यद् विरोधदानाय तमिदानीमाह – **अपि च यदा तदेति स्थाने यत्र तत्रेति प्रक्षिप्य तयोरेव प्रसङ्ग-तद्विपर्यययोः को दोष इति।**

क्षेत्रपतितं बीजं यदि तस्मिन् एव काले कुसूले पि अङ्कुरजनन– समर्थं स्यात् तदा कुसूलस्थं बीजमपि अङ्कुरं जनयेत्, न तु अङ्कुरं जनयति। तस्मात्

न तदा तत् कुसूलस्थबीजम् अङ्कुरजनने समर्थम्। क्षणिकमपि सामर्थ्या–सामर्थ्यलक्षण–विरुद्धधर्मसंसर्गेण भिन्नं स्यादिति प्रघट्टकार्थः।

न कश्चिद् दोषश्चेत् तर्हि देशाद्वैतं वा कारणभेदो वा आपद्येत। बीजादेरेकस्मिन् देशे क्षेत्रे इव देशान्तरे कुसूले पि अङ्कुरादिजननसामर्थ्ये **तत्रापि** = कुसूले पि अङ्कुरादिजननात् सर्वेषां बीजदेशानां सर्वकार्यवत्त्वरूपम् अद्वैतम् आपद्येत। तथा च कार्याणां भिन्नकाल–अशेषदेशव त्तित्वेन अनादित्वमेव पर्य्यवस्येदिति साधु क्षणिकत्वं भावानां कथितं त्वया इत्याक्षेपः। असामर्थ्ये तु भिन्नदेशस्थं बीजं भिन्नदेशे न अङ्कुरादिकार्यं जनयतीति स्वीकारे तु, सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धसंसर्गाद् बीजादिव्यक्तेर्भेद आपद्येत। तथाच तस्या अपि पूर्ववदेव पुनर्भेदापत्तौ बीजादिशून्यत्वमेव आपद्येत इति भावः। अथवा देशमादाय अत्र प्रसङ्गे दोषाभिधाने कालगर्भप्रसङ्गे पि दोषः स्यादित्यभिप्रायेणाह – **न कश्चिदिति।**

ननु **देशात्** = अङ्कुरजननसमर्थबीजदेशात् क्षेत्रात् अन्यो देशः कुसूलादिरूपः यदि तद्बीजानां देशो भवेत् तदा तत्र कुसूलरूपदेशे अङ्कुराजनननिबन्धनम् असामर्थ्यमेव बीजेषु क्षेत्रपतितेषु आपद्येत। तस्मात् तथा न स्वीकार्यम् द ष्टविरोधात्। तथाच सर्वदेशे समर्थमेव बीजमिति नास्माकं विरुद्धधर्माध्यास इत्यत आह – **तर्हीति**। यदि एक एव देशो बीजानां भवेत् तदा एवं संभाव्येत। यदि वा देशनानात्वे पि सर्वो देशो बीजाधार एव स्यात् तदा स्यात्। आद्ये देशाद्वैतम्, अन्त्ये कारणस्यापि एकस्यैव बीजस्य तावद् देशव त्तितया भेदः स्यादित्यर्थः।

ननु क्षेत्र–कुसूलाद्यात्मा देशो ज्ञानस्वरूपमेव बाह्यस्य = ज्ञानभिन्नस्य अस्माभिः योगाचारबौद्धैरनङ्गीकारात्। ज्ञान चैकदेशम् एवेति देशभेदेन सामर्थ्यासामर्थ्यापादनं मां प्रति निरवकाशम् इत्याह **आपद्यताम्** = देशाद्वैतमापद्यताम्। ज्ञानमात्रं क्षणस्थायि न बाह्यं किचिदस्तीति योगाचारनयः। तदेव नगरम्, तत्र प्रवेक्ष्याम इति चेत्? न। भेदेन ग्राह्य– ग्राहकभावो नास्ति। किन्तु स्वप्रकाशज्ञानमेव नेष्टम्। इदमस्य कारणम्, इदमस्य कार्यमिति भेदेन ग्राह्य–ग्राहकभावे सत्येव सिद्ध्येत्। तथा च मां प्रति सामर्थ्यासामर्थ्य–लक्षणविरुद्धधर्माध्यासेन यत् सत् तत् क्षणिकमिति यत् त्वया साधयितुमुपक्रान्तं तत् सर्वं भग्नमेव। योगाचारमते भेदेन ग्राह्यग्राहकभावस्य असत्त्वादित्याह – **हेतुफलेति।** हेतुफलभाववादम् = इदं कारणमिदं कार्यमिति कार्यकारणभावं वैरिणम् ज्ञानभिन्नबाह्यपदार्थमादाय कार्यकारणभावरूपवैरिणं शत्रुं ज्ञानभिन्नपदार्थो नास्तीति वादिनः बाह्यार्थो स्तीति शत्रुरूपम् अनपोह्य = अतिरस्कृत्य, तत्र = **योगाचार**नगरे प्रवेष्टुम् अशक्यत्वात्।

ननु हेतुफलभावो पि मास्तु। को दोष इत्यत आह – **तदपवाद इति।** भेदेन हेतुफलभावस्य त्यागे अर्थक्रियाकारित्वलक्षणेन सत्त्वेन हेतुना यत् क्षणिकत्वं

त्वया साधयितुमुपक्रान्तं तच्चेत् विहाय दूरं पलायितेन त्वया बाह्यार्थवादिना बौद्धेन संन्यस्तमेव तदा सिद्धं नः समीहितम् बाह्यार्थस्य स्थैर्यम्। यतः पराजितः त्वम् तदा केन भयेन **योगाचार**नयनगरप्रवेशस्तवेति भावः।

ननु यावत्यो र्थक्रिया भिन्नदेशास्तावद्भेदं कारणमस्तु को विरोध इति चेत्, न। तेषामपि प्रत्येकं तत्प्रसङ्गस्य तदवस्थत्वात्। एवमेकस्य जगति वस्तुतत्त्वस्यालाभे साध्वी क्षणभङ्गसाधनपरिशुद्धिः।

अस्तु तर्हि कश्चिद्दोष एवानयोरिति चेत्, स पुनः कस्मिन् साध्ये। किं सामर्थ्यासामर्थ्ययोः किं वा तद्विरुद्धधर्माध्यासेन भेदे आहोस्वित् शक्त्यशक्त्योर्विरोधे।

नाद्यः, सर्वत्र सामर्थ्ये हि प्रसह्य करणात्। सर्वत्राशक्तौ क्वचिदप्यकरणात्। सर्वदेशमानस्वभावत्वे प्यस्य स्वोपादानदेश एव तत्तत्कार्यं करोतीति। अयमस्य स्वभावः, स्वकारणादायातो न नियोगपर्यनुयोगावर्हतीति चेत्, सर्वकालसमान- स्वभावत्वे पि तत्तत्सहकारिकाल एव करोतीत्ययमस्य स्वभावः स्वकारणादायात इति किन्न रोचयेः।

द्वितीयं पक्षम् = प्रथमं समर्थस्य वा पश्चात् कुत्र गतम् इति द्वितीयम् आशङ्क्य निराकरोति – **नन्विति**। ननु यावत्यो र्थक्रिया भिन्नदेशस्थाः तावद् भेदं कारणमस्तु को विरोधः? यत्र यत्र देशे त्वया स्थैर्यवादिना कारणम् आपाद्यते तत्र सर्वत्र तद्बीजमस्ति समर्थं च अङ्कुरादिकार्यं करोति चेति क्व विरोध इति चेत्? न। तेषामपि कारणानां बीजादीनां देशभेदेन भेदे यत् बीजं क्षेत्रपतितं तत् कुसूले अङ्कुरादिकार्यं करोति न वा, यत् कुसूलस्थं बीजं तत् दूरे क्षेत्रे अङ्कुरादि कार्यं करोति न वेति तत्तदेवाधिकृत्य प्रसङ्ग–विपर्ययौ वक्तव्यौ इति किमपि एकं जगत् न स्यादिति किंधर्मिकं क्षणिकत्वं साधनीयमित्यर्थः।

अनयोः देशगर्भप्रसङ्ग–तद्विपर्यययोः अस्तु कश्चिद् दोष एवेति चेत्? स = दोषः पुनः कस्मिन् साध्ये भवति? किं सामर्थ्यासामर्थ्ययोः साध्ययोः सतोः भेदे साध्ये इत्यग्रेतनेन सम्बन्धः। तत्र यद्यपि सामर्थ्यासामर्थ्यरूपे एवाहत्य न साध्ये किन्तु तदुभयविरुद्धधर्माध्यासाधीनो धर्मिणि भेदः साध्यः, तथापि प्रसङ्ग–तद्विपर्ययाभ्यां साक्षात् ते एव साध्ये इत्यदोषः। एतदेव आह – **किं वेति।** किं वा तद्विरुद्धधर्माध्यासेन भेदे, आहोस्वित् शक्त्यशक्त्योर्विरोधे कारणाकारणयोः शक्त्यशक्त्योर्विरोध इत्यत्र साध्य इत्यनुष जनीयम्। कश्चिदनयोर्दोष इति सर्वत्रानुषङ्गः।

नाद्यः = किं सामर्थ्यासामर्थ्ययोः साध्यत्वे इति पक्षो न युक्तः। बीजादीनां सर्वत्र = सर्वस्मिन् देशे अङ्कुरादिकार्यजननसामर्थ्ये प्रसह्य = हठेन करणापत्तेः।

सर्वत्र अङ्कुरादिजननसामर्थ्ये क्वचिदपि = सहकारि– समवहितपतितबीजे पि देशे अङ्कुरादिकार्यजननापत्तेः। सामर्थ्यासामर्थ्ययोः साध्यत्वे यदि प्रसङ्ग–तद्विपर्ययौ दुष्टौ स्याताम् तदा सर्वत्र सामर्थ्यमेव स्यात् असामर्थ्यमेव वा स्यात् ? आद्ये आह – **प्रसह्येति।** अन्त्ये आह – **सर्वत्रेति।** यदि देशभेदेन सामर्थ्यासामर्थ्ये एकस्य न विरुद्धे इति तदा कालावच्छेदभेदेनापि न विरोध इति कुतो भावानां क्षणिकत्वमिति शङ्का–उत्तराभ्यामाह – **सर्वदेशेति।** बीजादीनां सर्वदेशेषु समानस्वभावत्वे अपि स्वोपादान देशे एव तत्तत्कार्यं करोति। अयमस्य बीजादेः स्वभावः स्वकारणात् आयातः, न नियोगपर्यनुयोगौ = शङ्कासमाधनौ अर्हतः। तथा च येन कुर्वद्रूपेण बीजादिना यत्र अधिकरणे अङ्कुरादि कार्यं जन्यते तद्देशे एव कुर्वद्रूपत्वविशिष्टबीजादिकं कार्यं करोति इति। अस्य बीजादेः स्वभावः स्वकारणात् आयातः। एव च कुसूलस्थं बीजं न कुर्वद्रूपत्ववत्, अतः अङ्कुरादिकार्यं न करोति। क्षेत्रपतितं च तद्वत्। अतो ङ्कुरादिकार्यं करोति इति बीजत्वसजातीयानां वैलक्षण्यं कुर्वद्रूपत्वेनैव मन्तव्यमिति क्षणिकत्वं भावानां सिद्धमिति चेत्? न। तर्हि बीजादीनां सर्वकालसमानस्वभावत्वे पि तत्तत्सहकारिकाल एव बीजादिः अङ्कुरादिकार्यं करोति इत्ययम् अस्य बीजादेः स्वभावः स्वकारणात् आयात इति किं न रोचयेः। तथा च भावानां समानस्वभावत्वे पि सहकारिसमवधाने कार्यजनकत्वमिति क्षणिकत्वं न मन्तव्यम्, निष्प्रमाणकत्वादिति भावः।

न द्वितीयः विरुद्धधर्माध्यासेनाप्यभेदे भेदव्यवहारस्य निर्निमित्तकत्व-प्रसङ्गात्। अनैकान्तिकश्च कालतो पि न भेदं साधयेत्।

न त तीयः विरोधलक्षणयोगे बाधकसहस्रेणापि विरोधस्या-पनेतुमशक्यत्वात्। अयोगे वा तदेव चिन्त्यम्। यद्विधाने यस्य निषेधो यन्निषेधे वा यस्य विधानं तयोरेकत्र धर्मिणि परस्परपरीहारस्थिततया विरोधः। स चेह नास्ति। तद्देशकार्यकारित्वं हि तद्देशकार्याकारित्वेन विरुद्धं तद्विधौ तस्य नियमेन निषेधात्। न ह्यन्यत्र तदकरणमतत्करणं वा। तत्र तत्करणस्याभावो पि तु तत्र तदकरणमिति चेत्, हन्तैवम्भूतविरोधलक्षणव्याव त्तिर्भिन्न-कालशक्त्य-शक्त्योरपीत्युक्तप्रायं तत्प्रतिसन्दधीथाः। तस्मात् प्रसङ्गतद्विपर्ययस्थितावपि असिद्धो विरुद्धधर्माध्यासः।

ननु समार्थ्यासामर्थ्ये विरुद्धे अपि एकत्र विद्यमाने पि न धर्मिणं भिन्त इत्यत आह – **न द्वितीय इति।** किं वा तद्विरुद्धधर्माध्यासेन भेदे इति द्वितीयपक्षो न युक्तः। सामर्थ्यासामर्थ्यविरुद्धधर्माध्यासेनापि यदि बीजादेरभेदः तदा भेदव्यवहारस्य निर्निमित्त–कत्वप्रसङ्गात्। गोत्वमहिषीत्वे परस्परविरुद्धे हि गोमहिषीभेदं साधयतः। अनैकान्तिकश्च हेतुः = व्यभिचारी हेतुः कालतो पि न भेदं साधयेत्। देशभेदेन ताभ्यां सामर्थ्यासामर्थ्याभ्यां

विरुद्धाभ्यां क्षेत्रपतित–कुसूलस्थबीजयोः परस्परभेदासाधनात्।

ननु सामर्थ्यासामर्थ्ये विरुद्धे एव न भवत इत्यत आह – **न त तीय इति।** आहोस्वित् शक्त्यशक्त्योर्विरोध इति त तीयपक्षो पि न युक्तः। सहानवस्थानरूप–विरोधलक्षणयोगे संबन्धे अङ्कुरजननसामर्थ्यं क्षेत्रपतितबीजे न कुसूलस्थे बीजे, अङ्कुरजननासामर्थ्यं कुसूलस्थबीजे न तु क्षेत्रपतितबीजे इति प्रतीत्या सामर्थ्यासामर्थ्ययोः सहानवस्थानरूपविरोधस्य बाधकसहस्रेणापि अपनेतुमशक्यत्वात्।

ननु एकदेशावच्छेदेन कारित्वाकारित्वे विरोधलक्षणाक्रान्तेन देशभेदेनापीत्याह – **अयोगे इति।** विरोधस्य सहानवस्थानस्य अयोगे असम्बन्धे तदेव = विरोधलक्षणमेव चिन्त्यम्।

यस्य विधाने विधौ यस्य निषेधः, यस्य निषेधे यस्य विधानम् = विधिः तयोरेकत्र धर्मिणि परस्पर–परिहारस्थिततया विरोधः। स च विरोधः इह = सामर्थ्यासामर्थ्ययोः (कारित्वाकारित्वयोः) नास्ति। एकस्मिन् त्वया स्वीकृतत्वात्। तत्र तद्देशे कार्यकारित्वं हि तद्देशे कार्याकारित्वेन विरुद्धम्। यदि तद्देशे करोति तत्रैव न कुर्यात् तदा विरोधः स्यात्। तद्विधौ = तद्देशकारित्वविधौ, तस्यैव = तद्देशकार्यकारित्वस्यैव नियमेन निषेधात्। देशान्तरे तत्कार्यकारित्वेन तद्देशकार्यकारित्वं पुनर्न विरुद्धम्, तद्देशकारित्वविधौ तस्य देशान्तरे तत्कार्याकारित्वस्य अनिषेधात्। हि = यस्मात्, अन्यत्र = तत्कार्यकरणदेशभिन्नदेशे तत्कार्याकरणम्, कार्यान्तरकरणं वा तत्र तत्कार्यकरणदेशे तत्कारणस्याभावः। अपि तु तत्र तत्कार्यकरणदेशे तत्कार्याकरणम् तत्कारणस्याभावः, तेन सह तत्कार्यकरणस्य विरोधः। अन्यत्र यत् तदकरणं तद्विरुद्धकार्यकरणं वा न तदेव = तत्र तत्करणस्य अभावः येन विरोधः स्यात्। अपि तु तत्रैव देशे तदानीमेव तदकरणम् तत्करणस्याभावो विरोधः। परस्परविरहात्मनोः परस्परविरहव्याप्ययोर्वा विरोधध्रौव्यम् इति चेत्? न। साम्यमापादयति – **हन्तेति।** एवंभूत–विरोधलक्षणव्याव त्तिः भिन्नकाल–शक्त्यशक्त्योरपि इत्युक्तप्रायम्। सामर्थ्यासामर्थ्ययोरपि तदा तदकरणम् तस्मिन् समये तत्कार्याकरणम् तदा = तस्मिन् काले तत्करणस्य = तत्कार्यकरणस्य विरोधि, न तु अन्यदापि तद्भिन्नकाले तत्कार्याकरणं विरोधि, येन विरोधः स्यादित्युक्तं मया पूर्वम्। प्रसङ्गविपर्यययोरेव असिद्धिरुक्ता, सम्प्रति तत्–सिद्धावपि विरुद्धधर्माध्यासाभावमुपसंहरति – **तस्मादिति।**

ननु यदेकदा यत् करोति तद्यावत् सत्त्वं तत्करोत्येव। यथा कश्चिच्छब्दः शब्दान्तरमिति प्रसङ्गो स्तु। विपर्ययस्तु यदेकदा यन्न करोति तत् सर्वदैव तन्न करोति, यथा शिलाशकलम् अङ्कुरम्। न करोति चैकदा कुशूलस्थं बीजमङ्कुरमिति चेत् तदेतज्जात्यभिप्रायेण वा स्यात् व्यक्त्यभिप्रायेण वा स्यात्।

प्रथमे द्वयमपि अनैकान्तिम्, अनियमदर्शनात्। द्वितीये द्वयमप्यन्यथा-सिद्धम्। एकान्तासामर्थ्यप्रयुक्तत्वादत्यन्ताकरणस्य। सामर्थ्ये सति सहकारिसन्निधि- प्रयुक्तत्वात् करणनियमस्य।

एतेन यद्यत्करोति तत्तदुत्पन्नमात्रं यथा कर्म विभागम्। यदुत्पन्नमात्रं यन्न करोति तन्न कदाचिदपि, यथा शिलाशकलमङ्कुरमिति निरस्तम्। अत्रापि पूर्ववदनैकान्तान्यथासिद्धी दोषाविति।

नापि त तीयः, कृतकत्वानित्यत्वादेरपि परस्पराभाववत्तामात्रेण विरोध-प्रसङ्गादिति।

सत्त्वक्षणिकत्वयोः व्याप्तिसाधनाय प्रसङ्गविपर्ययान्तरम् अवतारयति – **ननु इति।** यत् = कारणम् एकदा = एकस्मिन् काले यत् = कार्यं करोति = जनयति, तत् = कारणं यावत् सत्त्वं = यावत् स्वस्थितिः, तत् = कार्यं करोति = जनयति यथा कश्चिच्छब्दः = अविनश्यदवस्थो नन्तः शब्दः शब्दान्तरमिति प्रसङ्गो स्तु। विपर्ययस्तु यत् = कारणं यावत् सत्त्वं यावत्स्वस्थितिः यत् = कार्यं न करोति = न जनयति तत् = कारणम् एकदा पि = कस्मिन्नपि काले न कार्यं करोति = न कार्यं जनयति, यथा शिलाशकलम्। कुसूलस्थं बीजं यावत् स्वत्वम् अङ्कुरं न करोति अत एकदापि तत् = कुसूलस्थबीजं कार्यं न कुर्यादिति चेत्? न। तदेतत् = प्रसङ्गविपर्ययोपदर्शनम् जात्यभिप्रायेण वा स्यात् = यज्जातीयम् एकदा कार्यं न करोति तज्जातीयं यावत्सत्त्वं कार्यं न करोति, व्यक्त्यभिप्रायेण वा या कारणव्यक्तिः एकदा कार्यं न करोति सा व्यक्तिः यावत् स्वत्वं कार्यं न करोतीति वा विवक्षितम्। प्रथमे यत् एकदा करोतीति प्रथमे पक्षे द्वयमपि प्रसङ्गतद्विपर्यययोः। अनैकान्तिकम् व्यभिचारि, अनियमदर्शनात् = अङ्कुरकारिणाम् अङ्कुराकारिणां च बीजजातीयानां बौद्धेनापि अङ्गीकारादिति भावः। द्वितीये या कारणव्यक्तिः एकदा कार्यं न करोति इत्यादि प्रसङ्गविपर्ययद्वयमपि अन्यथासिद्धम् = व्याप्यत्वासिद्धम्। अन्यथासिद्धिमाह – **एकान्तेति।** अत्यन्ताकरणस्य = कार्यात्यन्ताकरणस्य एकान्तासामर्थ्यप्रयुक्तत्वात्। कार्यकरणस्य सामर्थ्ये सति सहकारिसन्निधिप्रयुक्तत्वात् करणनियमस्य। तथा च शिलाशकलादौ अङ्कुराकरणे एकदा अङ्कुरादिकारित्वे सति अन्यदापि अङ्कुरादि– कार्याकारित्वं स्वरूपायोग्यत्वप्रयुक्तम्। कारणतावच्छेदकबीजत्ववत्त्वरूपस्वरूप– योग्यत्वस्य तत्रासत्त्वात्। स्वरूपयोग्यस्य कुसूलस्थबीजस्य अङ्कुरादिकरणं सहकारिवैकल्यप्रयुक्तम्। सहकारिणश्चात्र क्षितिजलपवनादयः। यावत्सत्त्वं च कार्यकरणं सहकारिलाभप्रयुक्तम्। अतः क्षणिकत्वं नास्ति भावानां किन्तु स्थिरत्वमेव।

सत्त्वक्षणिकत्वव्याप्तिग्रहानुकूलमेव प्रसङ्गविपर्ययान्तरम् आशङ्क्य निराकरोति – **एतेन।** पूर्वोक्तजात्यभिप्रायेण वेत्यादिदूषणेन। यत् कारणम् यत् कार्यं करोति

तत् कार्यम् तदुत्पन्नमात्रम् = कारणोत्पन्नम्।

अथवा यत् यत् कार्यं करोति तत् तत् उत्पन्नमात्रं कार्यं करोति। यथा उत्पन्नमात्रं कर्म विभागं करोति, यत् उत्पन्नमात्रं यत् कार्यं न करोति तन्न कदाचिदपि कार्यं करोति। यथा शिलाशकलमिति निरस्तम्। अत्रापि पूर्ववत् अनैकान्तान्यथासिद्धी दोषाविति। जात्यभिप्रायेण अनैकान्तिकत्वम्। न हि बीजजातीयम् उत्पन्नमात्रमेव कार्यं करोति। या च व्यक्तिः उत्पत्त्यनन्तरमेव कार्यं करोति तत्र तत्तत्सहकारिलाभः तन्त्रमित्यभिप्रायः।

नापि त तीयः। परस्पराभाववत्ता वा विरोधः। तद्वत्ता वा दण्डित्व–कुण्डलित्ववत्, 'विरोधः', इति त तीयविकल्पो पि न युक्तः। तत्र हेतुमाह – **कृतकेति।** कृतकत्वं प्रयत्नजन्यत्वं तच्च अनित्यत्वव्याप्यं नानित्यत्वविरोधि। परस्पराभाववत्त्वं विरोधित्वमिति विरोधलक्षणं न युक्तम्। प्रागभावे कृतकत्वाभाववति अनित्यत्वस्य सत्त्वात्। तथा च परस्पराभाववत्त्वं विरोधत्वं वक्तुं न शक्यते कृतकत्वानित्यत्वादेरपि परस्पराभाववत्तामात्रेण विरोधप्रसङ्गात्। एव च घटादौ कृतकत्वानित्यत्वयोः परस्पराभाववत्तया विरुद्धयोः सत्वेन तदुभयाध्यासाधीनधर्मिभेद–प्रसङ्गात्।

अस्तु तर्हि तस्यैव तेनैव सहकारिणा सम्बन्धो सम्बन्धश्चेति विरोधः। न, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि सम्बन्धिनः सम्बन्ध्यन्तरे स्वाभावस्वाभाव्यं वा विरुद्ध्येत, अभावप्रतियोगित्वं वा, तदैवेति सहितं वा, तत्रैवेति सहितं वा, उभयसहितं वा, तथैवेति सहितं वेति।

न प्रथमः, अनभ्युपगमात्। न द्वितीयः, सत्कार्यप्रतिषेधात्। न त तीयः, प्राक्प्रध्वंसाभावयोर्भावसमानकालत्वानभ्युपगमात्। न चतुर्थः, स हि न तावत् स्थितियोगपद्यनियमेन सम्बन्धिनोस्तदसिद्धेः। इत एव तत्सिद्धावितरेत-राश्रयत्वम्। नियमसिद्धौ हि विरोधसिद्धिः तत्सिद्धौ च भेदे सति नियमसिद्धिरिति। न चान्यस्तत्सिद्धिस्तदभावात्। अनियतोपसर्पणापसर्पणकारणप्रयुक्तवाच्च सम्बन्धासम्बन्धयोः। नापि विनाशस्य अहेतुकत्वात् अयं विरोधो र्थात् सिद्ध्यति, तस्याप्यसिद्धेः। ध्रुवभावित्वे तु वक्ष्यामः। नापि प चमः, न हि तदेव तत्रैव स एव सहकार्यस्ति नास्ति चेति अभ्युपगच्छामः।

सहकारि–समवधानाधीनं कारणम् सहकारिसमवधानाभावाधीनम् अकारणमिति यत् समाहितम् तत्रापि विरोध इत्याह – **अस्तु तर्हीति। संबन्धिन इति।** सहकारिसमवधानं तावत् न संभवति, एकस्य सहकारिणः सहकार्यन्तरम् अभावस्वरूपमेव। न च भावाभावयोः समवधानसंभावना इति विकल्पार्थः। असमवधाने विरोधमाह – **अभावेति।** विरुद्ध्यते इति शेषः। सहकारिणो यदि अभावः स्यात् तदा

तदसमवधानं स्यात्। तदेव तु नास्ति 'नाभावो विद्यते सत' इति न्यायात्। न हि भावस्यापि अभावप्रतियोगगित्वं संभाव्यते विरोधात् इति द्वितीयविकल्पार्थः। भवतु वा भावस्यापि अभावप्रतियोगित्वम्, तथापि स्वावच्छिन्न एव काले स्वविशिष्ट एव काले, स्वाभावः कथं भवेत्, येन विद्यमानेनापि क्षेत्रेण बीजस्य समवधानं न भवेदिति त तीयविकल्पार्थः। ननु भवतु विद्यमानस्यापि तत्। को प्यभावो स्तु। तथापि यत्रैव ''यस्मिन् देशे'' प्रतियोगी तत्रैव स्वदेशे तदभावो विरुद्ध इति चतुर्थविकल्पार्थः। यत्र काले यत्र देशे यः प्रतियोगी तस्य प्रतियोगिनः तत्र देशे तदानीम् तस्मिन् काले अभावो विरुद्ध इति प चमविकल्पार्थः। यदवच्छेदेन यदा = यस्मिन् काले यत्र = यस्मिन् देशे, प्रतियोगी तदवच्छेदेन तदैव तस्मिन्नेव काले तस्यैव अभावो विरुद्ध इति षष्ठविकल्पार्थः। **सम्बन्धिन इति।** सहकारि–समवधानं तावत् कारणे न संभवति। यत एकस्य सहकारिणः सहकार्यन्तरम् अभावस्वरूपमेव। न च भावाभावयोः समवधानसंभावना इत्यर्थः। समवधाने विरोधमाह – **अभावेति।** विरुद्ध्यते इति सम्बद्ध्यते। सहकारिणो यदि अभावः स्यात् तदा तदसमवधानं स्यात्, तदेव तु नास्ति। न हि भावस्य अभावः विरोधात् नाभावो विद्यते सत इति न्यायात्। भवतु वा भावस्यापि अभावः तथापि यदैव यस्मिन् काले एव भावः तदैव तस्मिन् काले एव तदभावः तस्य भावस्य अभावः विरुद्ध इत्याह – **तदैवेति।** अत्र अभाव– प्रतियोगित्वं भावे विरुद्ध्यते इत्यनुषङ्गः। एवं परत्रापि। भवतु वा भावसमानकालीनो पि अभावः, तथापि यत्रैव यस्मिन् देशे भावः तत्रैव तस्मिन् देशे एव तदभावः कथं स्यात् विरोधाद् इत्याह – **तत्रैवेति।** कालभेदेन एकदेशत्वस्य भावाभावयोः संभवे पि यदा यस्मिन् काले यत्र यस्मिन् देशे यत्सत्त्वं यद् वर्तते तदैव तस्मिन्नेव काले तस्य भावस्य तत्र तस्मिन् देशे असत्त्वम् अवर्तमानत्वं विरुद्धमित्याह – **उभयसहितमिति**। येन अवच्छेदेन प्रतियोगी तेनैव अवच्छेदेन तदैव तस्मिन्नेव काले तत्रैव तस्मिन्नेव देशे तदभावः तस्य भावस्य अभावो न संभवतीत्याह – **तथैवेति।**

न प्रथमः। न प्रथमविकल्पः। अनभ्युपगमात्। सम्बन्ध्यन्तरम् एव सम्बन्ध्यन्तरस्य अभाव इति नाभ्युपगम्यते। अधिकरणस्वभावश्च अभावो न भवतीति निषेत्स्यत एवेति भावः। अभावो नाधिकरणरूपः। अन्यथा जले गन्धाभावस्य प्रत्यक्षानुपपत्तेः। यो गुणो यदिन्द्रियग्राह्यः तदभावः तेनैव इन्द्रियेण ग ह्यते इति नियमेन घ्राणस्य जलाग्राहकत्वेन, तव मते जले गन्धाभावस्य जलरूपत्वात्। **न द्वितीयः।** न द्वितीयविकल्पः। सत्कार्यप्रतिषेधात्। अभावप्रतियोगित्वं भावस्य वास्ति इत्यभ्युपगमे तव = बौद्धस्य साङ्ख्यमतप्रवेशे पि अपसिद्धान्तः। भावस्य क्षणिकत्व–साधनविरोधो नुभवविरोधश्चेत्यर्थः। **न त तीयः।** न त तीयविकल्पः। **प्रागिति।** प्राग–भावध्वंसयोः प्रतियोगिसमानकालत्वानुपपत्तावपि अत्यन्ताभावमादाय सहकार्य–समवधान– संभवात्। सहकारिप्रागभावध्वंसावपि प्रतियोगिभिन्नकालौ आदाय तथा

संभवाद् वा इत्यर्थः। **न चतुर्थः।** न चतुर्थविकल्पः। **स हीति।** सः = विरोधः। यदि सहकारिणोः स्थितियौगपद्यनियमो भवेत् तदा एकसहकारिदेशे अपरसहकारिणो भावो न भवेत्। स च नास्ति। **इत एवेति।** विरोधादेव इत्यर्थः। तत्सिद्धौ इतरेतराश्रयत्वम् = संबन्धिनोः स्थितियौगपद्यनियमसिद्धौ अन्योन्याश्रयत्वम्। तदेव स्फुटयति – **नियमसिद्धाविति।** संबन्धिनोः एकतरसंबन्धिसत्त्वकाले नैरन्तर्येण अपरसंबन्धिनो वश्यं सत्त्वम्। एवंरूपनियमसिद्धौ हि विरोधसिद्धिः। एकसंबन्धिना सह अपरसंबन्ध्यभावस्य विरोधसिद्धिः। विरोधश्च सहानवस्थानरूपः। तत्सिद्धौ = विरोधसिद्धौ च, भेदे सति = सम्बन्धासम्बन्धलक्षण–विरुद्धधर्माध्यासात् धर्मिभेदे सति नियमसिद्धिरित्यर्थः। एतावता चक्रके पि परस्पराश्रयत्वम् अक्षतम्।

अयं भावः। विरोधसिद्धौ क्षणभङ्गे सति नियमसिद्धिः। संबन्धिनोः = सहकारिणोः स्थितियौगद्यनियमः सिद्ध्येत्, अद्यापि न सिद्ध इति।

ननु विरोधात् सहकारिणोः सम्बन्धिनोः स्थितियौगपद्यं मा सैत्सीत्। अन्यत एव कुतश्चित् प्रमाणात् तत् सिद्ध्यतु इत्यत आह – **न चेति। तदभावादिति।** ताद शनियमे प्रमाणान्तराभावात्।

ननु सहकारिणां यौगपद्यं कथं न भवतीत्यत आह – **अनियतेति।** सहकारिणः यत् उपसर्पणम् अपसर्पण च तयोश्च यत् कारणं तस्य अनियतत्वेन सहकारिणाम् उपसर्पणापसर्पणयोः अनियतत्वात्।

ननु ध्वंसस्य प्रतियोगिभिन्नं न कारणमस्ति। तथा च स्वोत्पत्त्य–व्यवहितोत्तरक्षणवर्ति–ध्वंसप्रतियोगित्वे सिद्धे पु जात् (परमाणुपु जात्) पु जोत्पत्तिसिद्धौ अर्थादेव सहकारिणां स्थितियौगपद्यनियमः सेत्स्यतीत्यत आह – **नापीति।** विनाशस्य प्रतियोगिभिन्नहेतुकत्वाभावात् सहकारिणां स्थितियौगपद्यनियमसिद्धौ अयं विरोधः = सहकारिसमवधानासमवधानयोर्विरोधः अर्थात् सिद्ध्यति इति न युक्तम्। तस्यापि असिद्धेः। विनाशहेतुकत्वस्य न सिद्ध्यतीति। ननु भावानां विनाशो ध्रुवभावी। तथा च कुतो हेत्वन्तरापेक्षा? प्रतियोगिभिन्नहेतोर्विनाशे नापेक्षा स्तीत्यत आह – **ध्रुवभावित्व इति।** उभयसहितं वेति दूषयति – **नापि प चम इति।** न हि तदैव तस्मिन्नेव काले तत्रैव तस्मिन्नेव देशे स एव सहकारी अस्ति नास्ति च इत्यभ्युपगच्छामः, प्रमाणाभावात्।

ननु समवधानं नाम सहकारिणां धर्मः संयोगो भवद्भिरिष्यते। स च तेभ्यो व्यतिरिक्तो व्याप्यव त्तिश्चेत्यपि। तथा च स एव तदैव तत्रैवास्ति नास्ति चेति। अनतिरेके स्थिरवादिनो व्यस्तान्यपि बीजवारिधरणिधामानि तान्येवेति तेभ्यो पि कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः। व्याप्यव त्तित्वे च सर्वत्र रक्तादिविभ्रमः शब्दादिकार्योत्पत्तिप्रसङ्गश्च। तस्मादसंयुक्तेभ्यो न्य एव संयुक्तस्वभावाः

परमाणवो जाता इत्येव ज्यायः। नैतदेवं क्षणिकपरमाणावप्यस्य विरोधस्य दुर्वारत्वात्। तथाहि पूर्वदिगवस्थितः परमाणुर्यथा परदिगवस्थितेन परमाणुना परदिगवच्छेदेनाव तरूप उत्पन्नः तथैव किं पूर्वदिगवच्छेदेनापि न वा। उभयथा वा। आद्ये उभयतो प्यनुपलब्धिप्रसङ्गः। द्वितीये तु उभयतो प्युपलम्भापत्तिः। त तीये पुनः स एव दुरात्मा विरोधः। स एव तेनैव तदैवाव तो नाव तश्चेति।

एतावता प्रघट्टकेन सहकारिसमवधानासमवधानाधीने कारणाकारणे इति यत् नैयायिकेनोक्तम् तत् समाहितम्। तथैवेति सहितं वेति षष्ठं पक्षं परप्रतिबन्धिनम् उत्थापयितुं पीठं रचयति – **ननु समवधानं नाम सहकारिणां धर्मः संयोगो भवद्भिरिष्यते इति।** नहि तत्रैव तदैव स एवास्ति नास्ति चेति अभ्युपगच्छाम इति यदुक्तम्, तत् संयोग–शब्द– ज्ञानादौ अभ्युपगमेन तव नैयायिकस्य अपसिद्धान्त इति पूर्वपक्षिणो भिसन्धिः। स च संयोगः तेभ्यः = सहकारिभ्यः व्यतिरिक्तः = भिन्नः अव्याप्यव त्तिश्चेत्यपि। अतः भवद्भिः नैयायिकैरिष्यते इत्यनुषङ्गः। तथा च स एव = संयोग एव, तदैव = तस्मिन्नेव काले तत्रैव = क्षेत्ररूपदेशे एव अस्ति यत्कि चिद्देशावच्छेदेन वर्तते कि चिद्देशावच्छेदेन नास्ति चेति। अतो विरोध इति शेषः। तव अपसिद्धान्त इति वा शेषः। सहकारिणां धर्मस्य संयोगस्य सहकार्यनतिरेके अभिन्ने स्थिरवादिनस्तव व्यस्तान्यपि = विशकलितान्यपि। बीजवारिधरणिधामानि तान्येवेति तेभ्यो पि अङ्कुरादिकार्योत्पत्तिप्रसङ्गः। सहकारिधर्मस्य संयोगस्य व्याप्यव त्तित्वे च रक्तादिविभ्रमः = घटादेररक्ते पि भागे महारंजन(रङ्ग)संयोगस्य व्याप्यव त्तितया घटः सर्वावयवावच्छेदेन रक्तः इति बुद्धिप्रसङ्गः। भेर्याकाशसंयोगस्य सकलाकाशव त्तितया सर्वत्र शब्दोत्पत्तिप्रसङ्गः। विभुकार्याणाम् आकाशकार्यशब्दानाम्, असमवायिदेशानुरोधित्वात्। शब्दस्य असमवायिकारण च भेर्याकाशसंयोगः, स च व्याप्यव त्तिरङ्गीकृतः इदानीं त्वया। आदिपदेन सुखदुःखादिसङ्ग्रहः। स्व(बौद्ध)–सिद्धान्तानुसारेण उपसंहरति – **तस्मादिति।** असंयुक्तेभ्यो न्ये एव संयुक्तस्वभावाः परमाणवः जाताः। ते एव क्षणिकाः अङ्कुरादिकार्यं कुर्वन्ति इत्येव ज्यायः। यद्वा **तस्मादिति।** अतिरिक्तसंयोगपक्षे सहकारिसमवधानं सहकारिसंयोगरूपधर्मः। स च सहकारिभ्यो तिरिक्तः, अव्याप्यव त्तिः। तथा च कि चिद्देशावच्छेदेन अस्ति नास्ति चेति। अतो विरोधः। स च संयोगः सहकार्यभिन्नः। तदा विशकलितानि अपि बीज–वारि–धरणि–धामानि अङ्कुरादिकार्याणि कुर्युरिति दोषः। **संयुक्तस्वभावा इति।** अविरलदेशे समुत्पन्नाः क्षणिकपरमाणव एव तथोत्पादाद् घट–पटादि–भावमापन्ना इत्यर्थः।

घटादेः कार्यस्य विलक्षणसंयोगविशिष्टपरमाणुपु जत्वेन नातिरिक्तः अवयवीति बौद्धाः स्वीकुर्वन्ति। नैयायिकः पूर्वोक्तं बौद्धोक्तं खण्डयति – **नैतदेवमिति।** क्षणिकपरमाणावपि अस्य विरोधस्य = आव तानाव त– रक्तारक्तादिविरोधस्य दुर्वारत्वात्।

तथाहि पूर्वदिगवस्थितः परमाणुः यथा परदिगवस्थितेन परमाणुना परदिगवच्छेदेन आव तरूप उत्पन्नः, तथैव किं पूर्वदिगवच्छेदेनापि आव त उत्पन्नो न वा, उभयथा वा। **आद्य इति।** उभयदिगवच्छेदेन आव तत्वे उभयतो पि अनुपलब्धिप्रसङ्गः। **द्वितीय इति।** उभयदिगवच्छेदनानाव तत्वे इत्यर्थः। उभयतो पि उपलम्भापत्तिः। **त तीये इति।** क्वचिदाव तः क्वचिदनाव तः उत्पन्न इत्यत्र इत्यर्थः। स एव दुरात्मा विरोधः। विरोधमाह – **स एवेति।** स एव = परमाणुरेव, तदैव = तस्मिन्नेव काले आव तः अनाव तश्चेति यः आव तः स कथमनाव त इति विरोधः समवहितासमवहितविरोध इह जागर्त्ति।

प्रकारभेदमुपादायाविरोध, इति चेत्, कः पुनरसौ दिगन्तरावच्छेदः। यदि हि यद्दिगवच्छेदेनैव संयुक्तस्तद्दिगवच्छेदेनैवासंयुक्तो पि। ततो विरोधः स्यात्। इह तु नैवमिति चेत्, हन्त संयोगसंयोगिनोर्भेदपक्षे पि यद्ययं सिद्धान्तव त्तान्तः स्यात् कीद शो दोष इति। एतेन व्यतिरेकपक्षो पि निरस्तः।

अधिकश्च तत्राश्रयहेतुद ष्टान्तसिद्धौ प्रमाणाभावः। अवस्तुनि प्रमाणा-प्रव त्तेः। प्रमाणप्रव त्तावलीकत्वानुपपत्तेः। एवं तर्ह्यव्यवहारे स्ववचनविरोधः स्यादिति चेत्, तत् किं स्ववचनविरोधेन तेषु प्रमाणमुपदर्शितं भवति। व्यवहारनिषेधव्यवहारो वा खण्डितः स्यात्। अप्रामाणिको प्ययं व्यवहारो वश्याभ्युपगन्तव्य इति वा भवेत्।

प्रकारभेदमादायाविरोध इति चेत्? कः पुनरसौ इति प्रश्नः। दिगन्तरा-वच्छेदेन इत्युत्तरम्। विरोधमेवोपपादयति – **यदि हीति।** यदि हि यद्दिगवच्छेदेनैव संयुक्तः तद्दिगवच्छेदेनैव असंयुक्तो पि ततो विरोधः स्यात्। इह तु नैवम्। यद्दिगवच्छेदेन परमाणुः आव तः तद्भिन्नदिगवच्छेदेन अनाव त इति क्व विरोधः इति चेत्? हन्त! खेदे। संयोग– संयोगिनोर्भेदपक्षे पि यदि अयं सिद्धान्तव त्तान्तः स्यात् कीद शो दोष इति। अ चलावच्छेदेन महारंजन(रङ्ग)संयोगे पि देशावच्छेदेन तदभावात् न सर्वत्र रक्तविभ्रम इत्यर्थः। एतावता तथैवेति सहितं वेति षष्ठः पक्षो अभ्युपगमेन निरस्त इति सिद्धं सहकारिसमवधानासमवधानप्रयुक्ते कारणाकारणे एकस्यां व्यक्तौ इति कारणाकारणविरोधात् बीजादीनां क्षणिकत्वमिति बौद्धमतं न युक्तम्।

एतेनेति। सत्त्वक्षणिकत्वयोरन्वयव्याप्तिभङ्गेन इत्यर्थः। यन्न क्षणिकं तन्न सत्, यथा शशविषाणमिति व्यतिरेकव्याप्तिः त्वया वाच्या, केवलान्वयिनो भ्युपगमात्। व्यतिरेकव्याप्तिश्च अन्वयव्याप्तिव्याप्ता। सा चेन्नास्ति तदा व्यतिरेकव्याप्तिरपि नास्तीति भावः। व्यतिरेकपक्षः – यत् क्रमयौगपद्यरहितं तत् असत्, यथा शशविषाणम्। क्रमयौगपद्यरहितश्च स्थिरो भावः इति स्थिराणां सत्त्वव्यतिरेकसाधनम् सत्त्वाभावसाधनम् स्थिरपदार्थो नास्तीति साधनम्। **एतेन** व्याप्तिविरहेण निरस्त इति बोध्यम्। **अधिक**

इति अन्वयव्याप्त्यपेक्षया। अत्र = व्यतिरेकव्याप्तौ बहूनि दूषणानि इत्यर्थः। तान्येवाह – **आश्रयेति।** आश्रयः = पक्षः। स च स्थिरभावः। तस्य असिद्धिः, तत्स्वरूपस्य परेण बौद्धेन प्रामाणिकत्वानभ्युपगमात्। यद्वा आश्रयपदं साध्याभावपरम्। प्रकृते क्षणिकत्वाभावपरम्। तदाश्रित्य व्यतिरेकव्याप्तिप्रव त्तेः। हेतुपदं साधनाभावपरम्। तद्विपर्ययस्य = हेत्वभावस्य हेतुत्वोपगमात्। द ष्टान्तपदं स्फुटार्थमेव। तत्र = शशविषाणादौ अवस्तुनि न साध्याभावः, न साधनाभावः, न वा द ष्टान्तः शशविषाणादि प्रमाणगम्यम् इत्यर्थः। यद्वा अक्षणिकम् असत्–क्रमयौगपद्याभ्याम् अर्थक्रियारहितत्वात् कुर्मरोमवत् इत्याश्रयासिद्धिः। सन्देह–सिषाधयिषयोरभावात्। स्थिरपदार्थे अयं न वेति सन्देहाभावात्। विवदमानयोः एकैककोटिकनिश्चयसत्वात् तदतिरिक्तजनाभावेन मध्यस्थसन्देहाभावाच्च। एवं सिषाधयिषाया अपि अभावः। निश्चितपदार्थे सिषाध–यिषाया अभावात्। अत एव हेत्वसिद्धिः। व्याप्ति–पक्षधर्मताविशिष्टस्यैव हेतुत्वात्। अवस्तुनि शशविषाणादौ प्रमाणाप्रव त्तेः। असतः प्रमाणागोचरत्वात्। शशविषाणादौ अलीके प्रमाणाप्रव त्तौ तस्य अलीकत्वानुपपत्तेः।

ननु **एवं तर्हीति।** प्रमाणसाध्ये एव व्यवहारः तदा इत्यर्थः। यद्वा, ननु साध्यज्ञानमात्रं तद्व्यतिरेकग्रहौपयिकम् न तु साध्यप्रमा। शशश ङ्गं नास्तीति व्यवहारात्। अन्यथा न तत्र अलीके व्यवहार इत्यपि वचनं व्याहतम्। अस्यैव व्यवहारस्य सत्त्वात्। तथा च आश्रयादौ प्रमाणाप्रव त्तावपि नोक्तदोष इत्याह – **एवं तर्हीति**[२] **।** तथा च ज्ञानमात्रं व्यवहाराङ्गम्। न तु प्रमैवेति भावः। अलीके शशश ङ्गादौ को पि व्यवहारो न संभवतीति वदतस्तव स्ववचनविरोधः। अस्यैव व्यवहारस्य अभ्युपगमाद् इत्याह – **स्ववचनविरोधः स्यादिति चेत्? न।** तत्किं स्वचनविरोधेन तेषु (अलीके) प्रमाणमुपदर्शितं भवेदिति। प्रमाणाधीन एव व्यवहारः। त्वया च = बौद्धेन च, अलीके व्यवहारनिषेधे व्यवहारः क्रियते। तन्नूनं शशविषाणाद्यपि प्रामाणिकमित्यायातम् इत्यर्थः। तत् तस्मात् स्ववचनविरोधेन त्वया किं विवक्षितम्? किं तेषु शशश ङ्ग–कूर्मरोमादिषु प्रमाणमुपदर्शितं भवेत् किं वा अलीकव्यवहार–निषेधव्यवहारो वा खण्डितः स्यात्। अप्रामाणिको यं व्यवहारो वश्याभ्युपगन्तव्य इति वा भवेत्। **व्यवहारनिषेधेति।** अलीके को पि व्यवहारो न संभवति इति व्यवहार–निषेधव्यवहारो पि प्रमाणमन्तरेण अनुपपन्न इत्यर्थः। (व्यवहारनिषेधव्यवहारो पि वा खण्डितः स्याद् इत्यस्य अर्थः) अप्रामाणिको यं व्यवहारो वश्यमभ्युपगन्तव्य इति न भवेत्। अप्रामाणिको पि व्यवहारश्चेत् नेष्टव्यस्त्वया। तदा तव वचनविरोधो भवेदित्यर्थः।

न तावत् प्रथमः। न हि विरोधसहस्रेणापि स्थिरे तस्य क्रमादिविरहे वा शशश ङ्गे वा प्रत्यक्षमनुमानं वा दर्शयितुं शक्यम्। तथात्वे वा कृतं भौतकलहेन। द्वितीयस्त्विष्यत एव प्रमाणिकैः। अवचनमेव तर्हि प्राप्तम्। किं

कुर्मो यत्र वचनं सर्वथौवानुपपन्नं तत्रावचनमेव श्रेयः। त्वमपि परिभावय तावान्निष्प्रामानिके र्थे मूकवावदूकयोः कतरः श्रेयान्।

एवं विदुषापि भवता न मूकीभूय स्थितम्, अपि तु व्यवहारः प्रतिषिद्ध एवासतीति चेत्, सत्यम्। यथा अप्रामाणिकः स्ववचनविरुद्धो र्थो मा प्रसाङ्क्षीदिति मन्यमानेन त्वया अप्रामाणिक एवासति व्यवहारः स्वीकृतस्तथास्माभिरपि प्रमाणचिन्तायामप्रामाणिको व्यवहारो मा प्रसाङ्क्षीदिति मन्यमानैरप्रामाणिक एव स्ववचनविरोधः स्वीक्रियते। यदि तूभयत्रापि भवान् समानद ष्टिः स्यादस्माभिरपि तदा न कि चिदुच्यत इति।

त तीये त्वप्रामाणिकश्चाप्यवश्याभ्युपगन्तव्यश्चेति कस्येयमाज्ञेति भवानेव प्रष्टव्यः। व्यवहारस्य सुद ढनिरूढत्वादिति चेत् अप्रामाणिकश्च सुद ढनिरूढश्चेति व्याघातः। कथ चिदपि व्यवस्थितत्वादिति चेत्, अप्रामाणिकश्चेन्न कथ चिदपि व्यवतिष्ठते प्रामाणिकश्चेत् तदेवोच्यतामिति वादे व्यवस्था।

प्रथमपक्षे दोषमुद्भावयति – **न तावत्प्रथम इति।** अक्षणिकम् असत्, क्रमयौगपद्यरहितत्वात् कूर्मरोमवदित्यनुमाने पक्ष–साध्य–हेतु–द ष्टान्तेषु प्रमाणानुपपत्तिमाह – **नहि विरोधसहस्रेणापि स्थिरे तस्येति।** स्थिरे = अक्षणिके पक्षे तस्य = अक्षणिकस्य स्थिरस्य क्रमयौगपद्यविरहे वा (क्रमयौगपद्यरहितत्वादिति हेतुघटक–क्रमयौगपद्यविरहे वा) शशश ङ्गे वा = द ष्टान्ते वा, हि = यस्मात् इन्द्रियसन्निकर्षाभावात् न प्रत्यक्षम् इति प्रत्यक्षानुपपत्तिः। व्याप्त्यभावात् नानुमानं वेति अनुमानानुपपत्तिरिति भावः। **तथात्वे वा कृतं भौतकलहेनेति।** स्थिरे प्रमाणोपदर्शने सति भौतकलहेन कृतम् = व्यर्थम्। भौतः = बर्बरः, भूताविष्टो वा (तेन सह कलहो व्यर्थ एव)। स्थिरपदार्थे यदि प्रमाणं वर्तते तदा स प्रामाणिकस्त्वया मन्तव्यः। एव च स्थिरपदार्थो न सत्, अक्षणिकः, असत् क्रमयौगपद्यविरहात् शशश ङ्गवद्, इत्यनुमानं वदता बर्बरेण भूताविष्टेन वा सह वार्तालापो न करणीयः। तस्य विरोधाविरोधज्ञानशून्यत्वात्। तथा च तावत् प्रथमपक्षो न युक्तः, स्ववचनविरोधेन न तेषु प्रमाणमुपदर्शितं भेवदिति पक्षो न युक्तः।

द्वितीयस्तु। व्यवहाराभावः व्यवहारखण्डनपक्षः प्रामाणिकैः इष्यत एव। व्यवहारनिषेध–व्यवहारो पि खण्डितः स्यादिति पक्षस्तु इष्ट एव। अप्रतिभा, निग्रहस्थानमुद्भावयति। अवचनमेव तर्हि तत्र प्राप्तमिति। निरनुयोज्यानुयोगमाह – **किं कुर्मः, यत्र वचनं सर्वथैवानुपपन्नं तत्र अवचनमेव श्रेय इति।** उत्तरार्हे उत्तराप्रतिपत्तिः अप्रतिभा। इदं तु उतरार्हमेव न भवतीति नाप्रतिभेति भावः। तदेवाह – **त्वमपि परिभावय** = विचारय तावत् निष्प्रामाणिके र्थे मूक–वावदूकयोः कतरः

श्रेयान् इति। अवचनमेव श्रेय इत्यर्थः। **निष्प्रामाणिक इति।** वचनस्यापि मूलभूतप्रमाण–सापेक्षत्वादिति भावः। एवं विदुषा पि भवता न मूकीभूय स्थितमिति। अप्रामाणिके र्थे मूकतैव शरणमिति विदुषापीत्यर्थः। अपितु व्यवहारः प्रतिषिद्ध एवासतीति चेत्? सत्यम्, असति प्रमाणे अक्षणिकव्यवहारः प्रतिषिद्ध इति चेत्? सत्यम्। यथा अप्रामाणिकः स्ववचनविरुद्धो र्थो मा प्रसाङ्क्षीदिति मन्यमानेन त्वया च अप्रामाणिक एव असति व्यवहारः स्वीकृतः, तथा अस्माभिरपि प्रमाणचिन्तायाम् अप्रामाणिको व्यवहारो मा प्रसाङ्क्षीदिति मन्यमानैरप्रामाणिक एव स्ववचनविरोधः स्वीक्रियते। यदि तु उभयत्रापि भवान् समानद ष्टिः स्यात् अस्माभिरपि तदा न कि चिदुच्येत इति। **यथेति।** सत्त्वं क्षणिकत्वव्याप्यमिति युष्माकं स्ववचनम्। तद्विरुद्धो र्थः सत्त्वे सत्यपि (असत्यपि) शशविषाणादौ न क्षणिकत्वमिति विपक्षगामित्वप्रसङ्गः। स मा भूत्, एतदर्थं क्षणिकत्वव्याव त्त्या सत्त्वव्याव त्तिरप्रामाणिक्येव त्वया यथा व्यवह्रियते तथा अस्माभिरपि क्षणिकत्वे किं प्रमाणमिति चिन्तायां त्वदुपदर्शितः शशविषाणादौ व्यतिरेकग्रहव्यवहारो मा प्रसक्तः स्यादित्येतदर्थं स्वशिष्याय एवं बोध्यते इत्यर्थः। **यदि त्विति।** त्वं चेत् तत्र व्यतिरेकव्याप्तिं न दर्शयसि तदा तत्र व्यतिरेकभङ्गाय मयापि न यतनीयमित्यर्थः।

त तीये तु अप्रामाणिको यं व्यवहारो वश्याभ्युपगन्तव्य इति वा भवेदिति – **त तीये तु।** अप्रामाणिकश्चापि अवश्याभ्युपगन्तव्यश्चेति कस्य इयम् आज्ञेति भवानेव प्रष्टव्यः। अवश्याभ्युपगन्तव्यश्चेति अभ्युपगमस्य प्रमाणमूलकत्वस्थितिरित्युभयोर्विरोधः। ननु अभ्युपगमे न प्रमाणमूलकत्वं तन्त्रम्, किन्तु निश्चयमूलकत्वमात्रम्। निश्चयश्च असत्ख्यातिवादी बौद्धः असत्ख्यातिरूपो पि ततस्तदधीनो व्यवहारो पि प्रकृते (अलीकादौ) स्याद् इत्याह – **व्यवहारस्य सुद ढनिरूढत्वादिति चेत्?** अक्षणिकः = स्थिरः असदिति व्यवहारस्य, सुद ढनिरूढत्वात्। अत्र विरोधमाह – **अप्रामाणिकश्चेति।** सुद ढत्वम् (अ)सङ्ग हीतसंवादत्वम्। संवादश्च तद्वति तत्प्रकारकप्रव त्तिः = यथार्थप्रव त्तिः। संग हीतः संवादो यत्रेति बहुब्रीहिः। अत्र अकारो धिकः प्रतिभातिः। अथवा असङ्ग हीत–विसंवादत्वमिति वक्तव्यम्। निरूढत्वम् इदमित्थमेवेति ग हीतप्रमाणत्वम्।

ननु अप्रामाणिको यो व्यवहारस्तस्मिन् व्यवहारे अवश्याभ्युपगन्तव्यत्वं संव ति–सिद्धत्वेन स्वीक्रियत इत्याह आह – **कथ चिदपि इति।** संव तिसिद्धत्वेनापीत्यर्थः। संव तिश्च ज्ञानरूपा बौद्धमते। अप्रामणिकश्चेत् न कथ चिदपि व्यवतिष्ठते इति। संव तिः अप्रैव चेत् तदा तन्मूलो पि व्यवहारः कथं व्यवतिष्ठताम्? अप्रमामूलकव्यवहारस्य इदमित्थम् एवेति ग हीतप्रामाण्यरूपनिरूढत्वाभावात्। प्रमारूपैव चेत् संव तिः, तदा तन्मूलं (प्रमाया मूलम्) प्रमाणमेव उच्यताम्। तच्च प्रमाणं नास्तीति भावः।

ननु जल्पवितण्डयोः परस्य पराजयार्थम् अप्रमाणेनापि व्यवह्रियत एव, तत्कथं पूर्वोक्तव्याघात इत्यत आह – **वादे इति।** वाद एव त्वया सह अयमुपक्रान्तः

– विश्वं स्थिरं वा क्षणिकं वेति तत्त्वनिर्णीषया। तत्र वादे कथमप्रमाणेन व्यवहरिष्यतीत्यर्थः। यद्वा वादकथायां स्ववचनविरोधो न निग्रहस्थानम्, नापि अप्रतिभा, किन्तु न्यूनाधिकापसिद्धान्तहेत्वाभासप चकानामेव तत्र उद्भावनीयत्वादित्यर्थः।

जल्पवितण्डयोस्तु पक्षादिषु प्रमाणप्रश्नमात्रप्रव त्तस्य न स्ववचनविरोधः। तत्र प्रमाणेनोत्तरमनिष्टमशक्यं च। अप्रमाणेनैव तूत्तरे स्ववचनेनैव भङ्गः। मदुक्तेषु पक्षादिषु प्रमाणं नास्तीति स्वयमेव स्वीकारात्। अनुत्तरे त्वप्रतिभैवेति।

यदि च व्यवहारस्वीकारे विरोधपरिहारः स्यात्, असौ स्वीक्रियेतापि। न त्वेवम्, न खलु सकलव्यवहाराभाजनं च तन्निषेधव्यवहारभाजनं चेति वचनं परस्परमविरोधि।

विधिव्यवहारमात्राभिप्रायेणाभाजनत्ववादे कुतो विरोध इति चेत्, हन्त सकलविधिनिषेधव्यवहाराभाजनत्वेन कि चिद्व्यवह्रियते न वा, उभयथापि स्ववचनविरोधः। उभयथाप्यवस्तुनैव तेन भवितव्यम्। वस्तुनः सर्वव्यवहार-विरहानुपपत्तेः।

ननु न त्वया सह तत्त्वनिर्णयार्थम् अहं प्रव त्तः, किन्तु विजयार्थमेव। तत्र स्ववचनविरोधेन अप्रतिभया च निग हीत एव असि इत्यत आह – **जल्पवितण्डयोस्त्विति।** जल्पकथायां वितण्डाकथायां वा पक्ष–हेतु– द ष्टान्तेषु प्रमाणप्रश्नमात्रप्रव त्तस्य = पक्षादिषु किं प्रमाणमिति प्रश्नमात्रे प्रव त्तस्य मम न स्ववचनविरोधो भवति। शशश ङ्गादिशब्दाः पदविधया न अर्थबोधकाः। शशश ङ्गादिपदे कस्यापि सङ्केताभावात्। अस्माच्छब्दाद् अयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारक–ईश्वरसङ्केतः तत्र न संभवति। शशश ङ्गादेः अभावात्। अस्मदादिसङ्केतस्तु तत्र नास्त्येव। वाक्यविधया शशश ङ्गादेर्बोधकत्वे श ङ्गादौ शशादिसंसर्गं बोधेरन् शशश ङ्गादि–वाक्यानि। तथा च नित्यः शब्द इत्यत्र शब्दे नित्यत्वसंबन्धे यथा प्रश्नो भवति तथा श ङ्गादौ शशादिसंसर्गे प्रमाणप्रश्नो न व्याहन्यते इति भावः। तत्र शशश ङ्गादौ द ष्टान्ते स्थिरादिपक्षे क्रमयौगपद्याभावे हेतौ च स्थिरः। न सन् क्रमयौगपद्याभावात् इत्यत्र, पक्षादिषु प्रमाणेन बौद्धस्य उत्तरम् अनिष्टम्। प्रकृतपक्षादेः बौद्धेन प्रामाणिकत्वानभ्युपगमात्। यत्र प्रमाणमेव न स्वीकुर्वन्ति तत्र प्रमाणं कथं कथयेयुः। पक्षादिषु तेषु प्रमाणेन उत्तरमशक्यं च, श ङ्गादौ शशादिसंसर्गसाधकप्रमाणाभावात्। कि च शशविषाणादिषु प्रमाणेन यदि उत्तरं दद्यात् तदा शशविषाणादेरपि प्रामाणिकत्वं प्रसज्येत। अतस्तत्र प्रमाणेन उत्तरं तव अनिष्टम्। प्रमाणेन शशश ङ्गादौ उत्तरम् अशक्य च, तत्र प्रमाणाभावात्। अप्रमाणेनैव प्रश्नस्य उत्तरे तु स्ववचनेनैव भङ्गः। मदुक्तेषु पक्षादिषु प्रमाणं नास्तीति स्वयमेव स्वीकारात्। शशश ङ्गादौ किं प्रमाणमिति

प्रश्नस्य न प्रमाणम् इत्युत्तरे भवान् निग हीतः। अनुत्तरे च निग हीतः।

ननु अलीके शशश ङ्गादौ स्ववचनविरोधभयेन मूकत्वम् अङ्गीकृत्य अप्रतिभा स्वीकृता। व्यवहार एव कथं तत्र = अलीके नाङ्गीकृत इत्यत आह – **यदि च अलीके व्यवहारस्य स्वीकारे विरोधस्य परिहारः स्यात् तदा असौ** (व्यवहारः) **स्वीक्रियेत अपि। नत्वेवमिति।** सकलविधिनिषेधव्यवहाराभाजने अलीके व्यवहारस्वीकारे पि विरोधस्य तादवस्थ्याद् इत्यर्थः। एतदेवाह – **न खलु सकलेति।** सकलव्यवहाराभाजनम् अलीकम्, अलीकव्यवहारनिषेधव्यवहारभाजन चेति वचनम् न परस्परमविरोधि। किन्तु विरोध्येव। अलीके व्यवहाराभाजनत्वेन स्वयमभ्युपगते तत्र क्रमाद्यभावं व्यवहरता बौद्धेन त्वया स्ववचनविरोधः स्वहस्तत एव इत्यावेदितं **यदीत्यादिना।** स्थिरः न सन्, क्रमयौगपद्याभावात् शशश ङ्गादिवद् इत्यनुमाने द ष्टान्ते शशश ङ्गादौ क्रमयौगपद्याभावव्यवहारः त्वया स्वीकृतः। अन्यथा द ष्टान्ते हेत्वभावापत्तेः।

ननु अलीकस्य सकलव्यवहाराभाजनत्वं येन बौद्धेन अङ्गीक्रियते तस्य तव निषेधतः स्यात् स्ववचनविरोधः (अलीकं न व्यवहारं जनयति इति व्यवहारतस्तव स्ववचनविरोधः स्यात्)। मया तु बौद्धेन अलीकस्य विधिव्यवहाराभाजनत्वमात्रम् अङ्गीक्रियते। तथा च तत्र सत्त्वक्षणिकत्वादिनिषेधव्यवहारं कुर्वतो मम कुतः स्ववचन–विरोध इत्याह – **विधिव्यवहारमात्रेति।** विधिव्यवहारमात्रेति वदता त्वया विधि–निषेधोभयव्यवहारभाजनत्वेन न कि चिदङ्गीक्रियते इति मात्रपदस्वरसात् प्रतीयते। तथा च तावतापि तव स्ववचनविरोध एवेति विकल्पतो दर्शयति – **हन्तेति।** सकलविधिनिषेधव्यवहाराभाजनत्वेन कि चिद् व्यवह्रियते न वा? उभयथापि स्ववचन–विरोधः। उभयथापि अवस्तुनैव तेन भवितव्यम्। वस्तुनः सर्वव्यवहारविरहानुपपत्तेः इति।

नेति पक्षे सकलविधिनिषेधव्यवहारविरहीत्यनेनैव व्यवहारेण विरोधात्। अव्यवहृतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्। व्यवह्रियत इति पक्षे पि विषयस्वरूप-पर्यालोचनयैव विरोधात्। न हि सर्वव्यवहाराविषयश्च व्यवह्रियते चेति।

यदि चावस्तुनो निषेधव्यवहारगोचरत्वं विधिव्यवहारगोचरतापि किं न स्यात्, प्रमाणाभावस्योभयत्रापि तुल्यत्वादिति। बन्ध्यासुतस्यावक्त त्वे चेतनत्वादि-कमेव प्रमाणं, वक्त त्वे तु न कि चिदिति चेन्न। तत्रापि सुतत्वस्य विद्यमानत्वात्। न हि बन्ध्यायाः सुतो न सुतः, तथा सति स्ववचनविरोधात्। वचनमात्रमेवैतत् न तु परमार्थतः सुत एवासाविति चेन्न। अचैतन्यस्याप्येवंरूपत्वात्। चेतनादन्यत् स्वभावान्तरमेव ह्यचेतनमित्युच्यते। चैतन्यनिव त्तिमात्रमेवेह विवक्षितम्, तच्च सम्भवत्येवेति चेन्न। तत्राप्यसुतत्वनिव त्तिमात्रस्यैव विवक्षितत्वात्।

व्यवहाराव्यवहारयोः उभयथा विरोधं व्युत्पादयति **नेत्यादिना (हन्तेत्यादिना)। सकलेति** = सकलव्यवहारशून्यत्वं यत्र प्रतीतं तत्रैव तद्व्यवहारात् (तत्रैव सकलव्यवहारशून्यत्वव्यवहारात्) कथं सर्वत्र तद्व्यवहार–(सकलव्यवहार–शून्यत्वव्यवहार)–निषेधः।

अथ न क्वापि तत् (सकलव्यवहारशून्यत्वम्) प्रतीतम्, तदा तद्–(सकलव्यवहार–शून्य)–व्यवहारस्यापि अप्रत्ययात् कथं निषेध इत्याह – **अव्यवहृतस्येति** अज्ञातस्येत्यर्थः। अज्ञातस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्। अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वात्। व्यवह्रिते इति पक्षे पि विषयस्वरूपपर्यालोचनयैव विरोधात् = सकलव्यवहारभाजनस्य सकलव्यवहाराभाजनत्वेन व्यवह्रियते इत्यस्य ताद शव्यवहाराभाववत्त्वेन व्यवह्रियते इत्यर्थकतया अभावव्यवहारमादायैव विरोधात्। तदेवाह – **न हि सर्वव्यवहाराविषयश्च व्यवह्रियते चेति।**

ननु अयं प्रश्न भवतो पि दुरुत्तर इत्यत आह – **यदि चेति।** यथा अलीके सत्त्वं, क्षणिकत्वं च व्यतिरेकसिद्ध्यर्थं निषिध्यते, तयोः (सत्त्वक्षणिकत्वयोः) विधिरेव कथं न क्रियते? विधेरिव निषेधस्यापि प्रमाणाधीनत्वात्। यदि च अवस्तुनः = अलीकस्य शशश ङ्गादेः सत्वाभावक्षणिकत्वाभावयोः व्यवहारविषयता अस्ति। तथा विधिव्यवहारागोचरता = सत्त्वक्षणिकत्व–व्यवहाराविषयता किं न स्यात्? प्रमाणाभावस्य उभयत्रापि = निषेधे विधौ च तुल्यत्वात्। निषेधव्यवहारे प्रमाणं शङ्कते – **बन्ध्यासुतस्य अवक्त त्वे** (वचनकरणायोग्यत्वे) **अचेतनत्वादिकं प्रमाणम्।** वक्त त्वे = वचनकरणयोग्यत्वे न किंचिदपि प्रमाणमिति चेत्? न। तत्रापि बन्ध्या– सुतस्य वचनकरणयोग्यत्वे पि सुतत्वस्य विद्यमानत्वात्। यद्यपि अत्र आश्रयासिद्धिः स्वरूपासिद्धिश्च द्वयोरपि प्रमाणाविषयत्वात् तथापि पर– परिहासाय सत्प्रतिपक्षमाह – **तत्रापि सुतत्वस्य विद्यमानत्वादिति।** तत्रापि = बन्ध्यासुतस्य वक्त त्वे पि = वचनकरणयोग्यत्वे पि सुतत्वस्य प्रमाणत्वात्। स्वरूपासिद्धिं निरस्यति – **न हि बन्ध्यायाः सुतो न सुत इति।** तथा सति = बन्ध्यासुतस्य असुतत्वे सति, स्ववचन–विरोधात् = बन्ध्यासुतो वक्तेति वदता त्वयैव तत्सुतत्वाभ्युपगमात्। तथा च बन्ध्यासुतो न बन्ध्यासुत इति वचनविरोधः स्फुटतरः।

ननु अयं बन्ध्यासुत इति वचनमात्रमेतत् = निरर्थकम् एतद् वचनम्। न तु परमार्थतः सुत एवासौ इति चेत्? न। त्वया तु साधनत्वेन उपात्तं सुतत्वं न वचनमात्रं भवितुमर्हतीति स्वरूपासिद्धिः इति भावः। ननु अलीके बन्ध्यापुत्रे सुतत्वं वर्तते इति भवता पि = नैयायिकेनापि स्वीक्रियते इति चेत्? न। बन्ध्यासुतस्य अवक्त त्वे अचेतनस्य प्रमाणाात्वाङ्गीकारे च बन्ध्यासुतस्य नाप्रामाणिकत्वम्। तत्र प्रमाणस्य प्रव त्तत्वात्। तथा च तस्य अलीकत्वमेव नास्ति इति, तत्र सुतत्वस्य विद्यमानत्वात्। तथा च बन्ध्यासुतस्य वक्त त्वे न किंचित् (प्रमाणम्) इति कथनं न

संगतम्। तत्र अचेतनत्वस्यैव प्रमाणत्वेनाङ्गीकारात्। पर्युदासाभिप्रायेणाह – **अचैतन्यस्य अपीति**। पर्युदासमेव विव णेति – **चेतनाद्** इति। अचैतन्यं हि चेतन–भिन्नधर्मो वा चैतन्यविरहो वा। आद्ये आह – **चेतनाद् अन्यत् स्वभावान्तरमेव हि अचेतनमित्युच्यते इति।** तथा च तवापि स्वरूपासिद्धिरेव। बन्ध्यासुते चेतनभिन्नस्य असत्त्वात्। पक्षे हेत्वभावश्च स्वरूपासिद्धिः। द्वितीयं शङ्कते – **अचैतन्येति।** अचैतन्यमित्यत्र न ाऽर्थः प्रसज्यप्रतिषेधः। तथा च चैतन्यविरह इति लभ्यते। चैतन्याभावमात्रं बन्ध्यासुते विवक्षितम्। **तच्च** = चैतन्याभावमात्रं च बन्ध्यासुते वर्तते इति न स्वरूपासिद्धिः, चैतन्याभावस्य तत्र सत्त्वात्। अभावस्यापि तुच्छत्वात् तुच्छे च बन्ध्यासुते तत् = चैतन्याभावमात्रसंभवात् न स्वरूपासिद्धिरिति बौद्धेन शङ्कितः। तत्रापि = (बन्ध्यासुते पि) अस्मत्प्रयोगे पि असुतत्वनिव त्तिमात्रस्यैव विवक्षितत्वात्। बन्ध्यासुते सुतत्वाभावस्य तुच्छस्य तुच्छे बन्ध्यासुते सत्त्वात् न स्वरूपासिद्धिरिति भावः।

असुतत्वनिव त्तिमात्रस्य स्वरूपेण कृतिज्ञप्त्योरसामर्थ्ये समर्थमर्थान्तर-मध्यवसेयमनन्तर्भाव्य कुतो हेतुत्वमिति चेन्न। अचैतन्ये प्यस्य न्यायस्य समानत्वात्। व्याव त्तिरूपमपि तदेव गमकं यदतस्मादेव यथा शिंशपात्वम्। बन्ध्यासुतस्त्वसुतादिव घटादेः सुतादपि देवदत्तादेर्व्यावर्तते। अतो न हेतुरिति चेत्, नन्विदमचैतन्यमपि अस्यैवंरूपमेव। नहि बन्ध्यासुतश्चेतनादिव देवदत्तादेरचेतनादिकाष्ठादेर्न व्यावर्तते।

वक्त त्वं वस्त्वेकनियतो धर्मः, स कथमवस्तुनि साध्यो विरोधादिति चेत्, स पुनरयं विरोधः, कुतः, प्रमाणात् सिद्धः। किं वक्त त्वविविक्तस्यावस्तुनो नियमेनोपलम्भात्। आहोस्विद् वस्तुविविक्तस्य वक्त त्वस्यानुपलम्भादिति। न तावदवस्तु केनापि प्रमाणेनोपलम्भगोचरः। तथात्वे वा नावस्तु नाप्युत्तरः समानत्वात्। न हि वक्त त्वमिव अवक्त त्वमपि वस्तु विविक्तं कस्यचित् प्रमाणस्य विषयः।

ननु असुतत्वनिव त्तेः अलीकत्वेन बन्ध्यासुते वक्त त्वं साधयितुम् अयोग्यता–ध्यवसेयम् आलोचनीयम्। वस्तुस्वरूपम् अन्तरेण हेतुत्वं न संभवति। तथा च बन्ध्यासुतो वक्ता असुतत्वनिव त्तेरित्यनुमानं न सङ्गतमिति शङ्कते – **असुतत्वनिव त्तिमात्रस्येति।** असुतत्वनिव त्तिमात्रस्य अभावरूपस्य तुच्छस्य स्वतः वचनस्य कृतौ वक्त त्वस्य ज्ञप्तौ च असामर्थ्ये अर्थान्तरं समर्थम् अनन्तर्भाव्य कुतः हेतुत्वम् अध्यवसेयम् = परिचेयम्? सविकल्पकज्ञानजनक–निर्विकल्पकज्ञानविषयं स्वलक्षणं = पारमार्थिकं वस्तु स्यात्। बन्ध्यासुतस्यालीकत्वेन असमर्थत्वादिति चेत्? न। अचेतने पि अस्य न्यायस्य समानत्वात्। तुच्छत्वेन असमर्थतया ज्ञप्तिजनकत्व–

विरहरूपन्यायस्य अचेतने पि समानत्वादित्यर्थः। आशङ्कते – **व्याव त्तीति**। सैव व्याव त्तिः तद्धर्मावलीढस्य धर्मं साधयति या तद्धर्मशून्यत्वावच्छिन्नाद् व्याव त्तेः तद्धर्मावच्छिन्नाच्च अव्याव त्तेः वर्तते। यथा शिंशपात्वम् अशिंशपात्मनि शिंशपात्मनि च वर्तमानं शिंशपाधर्मं व क्षत्वं साधयति। अशिंशपाव्याव त्तिः शिंशपात्वधर्मावलीढस्य शिंशपाव क्षस्य धर्मं व क्षत्वं साधयति। अशिंशपा– व्याव त्तिः शिंशपात्वधर्मावलीढस्य शिंशपाव क्षस्य धर्मं व क्षत्वं साधयति। अशिंशपात्वशून्यावच्छिन्न–शिंशिपाव क्षे सा व्याव त्तिर्वर्तते। शिंशपात्वावच्छिन्ने च न वर्तते इति अशिंशपाव्याव त्तिः व क्षत्वं साधयति। अतस्तस्मादेव स्वावच्छिन्न–प्रतियोगिकान्योन्याभाववतः व्यावर्तते या व्याव त्तिः, यथा शिंशपाभिन्नम् आम्रादिषु अशिंशपाभिन्न–शिंशपायाम् अशिंशपाव्याव त्तिर्वर्तते, शिंशपात्वावच्छिन्ने च वर्तते सा व्याव त्तिः स्वाश्रये शिंशपाव क्षे व क्षत्वरूपं धर्मं साधयति।

बन्ध्यासुतस्त्विति। बन्ध्यासुतनिष्ठसुतत्वं तु **असुताद्** = सुतभिन्नाद् घटादिव देवदत्तादपि = देवदत्तस्य सुतादपि बन्ध्यासुतत्वं व्यावर्तते। अतः बन्ध्यासुतमात्रव त्तिः असुतत्वनिव त्तिः = बन्ध्यासुते न बन्ध्यासुतत्वं साधयितुम् इष्टे। अतः बन्ध्या–सुतनिष्ठव्याव त्तिः न बन्ध्यासुतत्वस्य बन्ध्यासुते साधिका भवति। या व्याव त्तिः विपक्षादेव व्यावर्तते सैव तद्धर्मावच्छिन्ने धर्मान्तरं साधयति, या च व्याव त्तिर्न तथा सा न असाधारणधर्मरूपा भवति। सा तद्धर्मावच्छिन्नव त्ति–धर्मान्तरं न साधयति। बन्ध्यासुतनिष्ठाचैतन्यं तु बन्ध्यासुतस्य असाधारणरूपं तन्मात्रव त्तिः। अतस्तत्र सुतत्वाभावं साधयितुं नेष्टे। बन्ध्यासुतनिष्ठाचैतन्यं चेतनदेवदत्तं व्यावर्तयति अचेतनकाष्ठादिकं चेति। अतो बन्ध्यासुतस्य असाधरणरूपं तदचैतन्यं न विपक्षादेव व्यावर्तते इति। एव च या व्याव त्तिः विपक्षादेव व्यावर्तते सैव तद्धर्मावच्छिन्नव त्ति–धर्मान्तरं साधयति, या च तद्धर्मावच्छिन्नासाधारणधर्मरूपा व्याव त्तिः सा न तद्धर्मावच्छिन्नव त्तिधर्मान्तरं साधयति इति फलितम्।

बन्ध्यासुतः वक्ता, सुतत्वाद्, इत्यादौ स्वरूपासिद्धिं निरस्य बाधकम् आशङ्क्य साम्यापादनेन निराकरोति – **वक्त त्वमिति**। वक्त त्वं वस्तूनां मध्ये **एकनियतः** = एकमात्रव त्तिधर्मः। स च वस्त्वेकनियतो धर्मः कथम् अवस्तुनि बन्ध्यासुते अलीके साध्यः? **विरोधात्** = वस्त्वेकनियतधर्मेण सह अवस्तुत्वस्य विरोधाद् इत्यर्थः। **सः** = विरोधः **कुतः प्रमाणात् सिद्धः**? **किं वक्त त्वविविक्तस्य** = वक्त त्वशून्यस्य **अवस्तुनः नियमेन उपलम्भात्**? यदलीकं तन्न वक्त इति तावत् न केनचित्प्रमाणेन उपलभ्यते। यतः विरोधः स्यादित्यर्थः। **आहोस्विदिति**। वस्तुत्वशून्ये वक्त त्वं क्वापि नोपलब्धमित्ययं विरोध इत्यर्थः। तदयमर्थः। किं वक्त त्वशून्यस्य अलीकस्य नियमेनोपलम्भात् विरोधः? उत वस्तुत्वशून्ये वक्त त्वस्य अनुपलम्भाद् विरोध इति? **आद्ये** आह – **न तावद् अवस्तु केनापि प्रमाणेन उपलम्भगोचर इति। तथात्वे**

= केना पि प्रमाणेन उपलम्भगोचरत्वे वा न अवस्तु भवितुमर्हति। **द्वितीय** आह – **समानत्वादिति**। अत्रापि प्रमाणापेक्षाया आवश्यकत्वादित्यर्थः। **अनुपलम्भस्यापि अभावग्राहकत्वे प्रमाणमेव मूलम्।** अनुपलम्भमात्रं तु केवलम् अतन्त्रम्। स्वाद ष्टि–सर्वाद ष्टि–विकल्पकवलितत्वादिति भावः। यथा अवस्तुनि वक्त त्वस्य अनुपलम्भेन वस्तुत्वव्याप्यत्वं, तथा अवक्त त्वस्यापि अवस्तुनि अनुपलम्भेन वस्तुत्वव्याप्यत्वं स्यात्। तथा च अवस्तुनि विरोधाद् अवक्त त्वमपि न सिद्ध्येदित्यर्थः।

तद्विविक्तविकल्पमात्रं तावदस्तीति चेत्, तत्संस ष्टविकल्पने पि को वारयिता। ननु वक्त त्वं वचनं प्रति कर्त त्वं तत् कथमवस्तुनि तस्य सर्वसामर्थ्य-विरहलक्षणत्वादिति चेत् अवक्त त्वमपि कथं तत्र तस्य वचनेतरकर्त त्वलक्षण-त्वादिति। सर्वसामर्थ्यविरहे वचनसामार्थ्यविरहो न विरुद्ध इति चेत्, अथ सर्वसामर्थ्यविरहो बन्ध्यासुतस्य कुतः प्रमाणात् सिद्धः? अवस्तुत्वादेवेति चेत्, नन्वेतदपि कुतः सिद्धम्? सर्वसामर्थ्यविरहादिति चेत्, सो यमितस्ततः केवलैर्वचनैर्निर्धनाधमर्णिक इव साधून् भ्रामयन् परस्पराश्रयदोषमपि न पश्यति।

क्रमयौगपद्यविरहादिति चेन्न, तद्विरहसिद्धावपि प्रमाणानुयोगस्यानुव त्तेः। सुतत्वे च पराम ष्यमाणे तदविनाभूतसकलवक्त त्वादिधर्मप्रसक्तौ कुतः क्रमयौग-पद्यविरहसाधनस्यावकाशः, कुतस्तरां चावस्तुत्वसाधनस्य कुतस्तमां चावक्त त्वादिसाधनानाम्। तस्मात् प्रमाणमेव सीमा व्यवहारनियमस्य तदतिक्रमे त्वनियम एवेति।

शङ्कते – **तद्विविक्तेति।** वक्त त्वविविक्त– अवस्तुविकल्पमात्रमित्यर्थः। बन्ध्यासुतो न वक्तेति वस्तुविवेकेन अवक्त त्वं बन्ध्यासुते ग ह्यत इति भावः। उत्तरयति – **तत्संस ष्टेति**। वक्त त्वसंस ष्ट– अवस्तुविकल्पने इत्यर्थः। तथा च विपक्षव त्तित्वग्रहात् न व्याप्तिबुद्धिः। बन्ध्यासुतो वक्तेति वक्त त्वसंस ष्टवेदनमपि असत्ख्यातिरूपं त्वन्मते स्यादेव इत्यर्थः।

प्रत्यनुमाने बाधकमाशङ्कते – **नन्विति।** ननु बन्ध्यासुतः वक्त त्ववान्, सुतत्वाद् इत्यनुमाने बाधः। वक्त त्वस्य चेतनधर्मत्वेन अचेतने अलीके बन्ध्यासुते असत्वात्। वक्त त्वं वचनं प्रति कर्त त्वम्। तच्च कारित्वविशेषो वा तत्सामर्थ्यं वा ? द्वयमपि सामर्थ्यविरहिणि अलीके बन्ध्यासुते असत्त्वाद् इति चेत् ? न। बन्ध्यासुतः अवक्त त्ववान्, अचेतनत्वाद् इति तवानुमाने बाधस्य तुल्यत्वात्। तथाहि – अवक्त त्वम् इत्यत्र न ार्थः पर्युदासः प्रसज्यप्रतिषेधो वा? आद्ये पर्युदासः सद शग्राही। तथा च वचनेतरकर्त त्वरूपम् अकर्त त्वम्। तच्च अलीके अवस्तुनि बन्ध्यासुते नास्ति। द्वितीयं प्रसज्यप्रतिषेधं स्वसाध्ये आशङ्क्य निषेधति – **सर्वेति**। सर्वसामर्थ्यविरहवति

बन्ध्यासुते वचनसामर्थ्यविरहरूपस्य अवक्त त्वस्य तत्र सत्त्ववत्त्वमिति वाच्यम्। तन्न युक्तम्। बन्ध्यासुतस्य सर्वसामर्थ्यविरहः कुतः प्रमाणात् सिद्धः? अवस्तुत्वादेव तत्र सामर्थ्यविरह इति न युक्तम्। अवस्तुत्वस्य तत्र कुतः प्रमाणात् सिद्धिः? सर्वसामर्थ्यविरहात् अवस्तुत्वस्य सिद्धिः इति परस्पराश्रयत्वात्। अवस्तुत्वाद् सर्वसामर्थ्यविरहः सर्वसामर्थ्यविरहाच्च अवस्तुत्वमिति स्वग्रहसापेक्षग्रह– विषयत्वं परस्पराश्रयत्वम् अत्र दुर्वारम्। एव च निर्धनः पुरुषः अधमर्णिकः। **अर्थशून्यवचनैः** = मिथ्यावचनैः **साधून्** = सत्पुरुषान् **भ्रामयन्** = इतस्ततः गमयन् परस्पराश्रयदोषमपि न पश्यति।

ननु बन्ध्यासुतादिः सर्वसामर्थ्यविरहवान्, क्रमयौगपद्यविरहाद् इत्यनुमानेन तत्र सर्वसामर्थ्यविरहः साध्यताम्, क्व अन्योन्याश्रयः? सर्वसामर्थ्यविरहे सिद्धे अवस्तुत्वं सिद्ध्यतीति चेत्? न। **क्रमयौगपद्यविरहात्** सर्वसामर्थ्यविरहः, ततश्च अवस्तुत्वम् (अवस्तुत्वाच्च) क्रमयौगपद्यविरह इति चक्रकापत्तेः। स्वग्रह–सापेक्षग्रह–सापेक्षग्रह–सापेक्षग्रह–विषयत्वं चक्रकत्वम् इति लक्षणम्। मया तु सुतत्वेनैव हेतुना बन्ध्यासुते वक्त त्वं, क्रमयौगपद्यं, वस्तुत्व च सर्वमेकवारमेव साधनीयमिति त्वत्सा–धनानाम् अनवसर– पराहतत्वमित्याह – **सुतत्वे चेति**। एवं प्रतिबन्दिमुखेन परमतं दूषयित्वा स्वमतम् उपसंहरति – **तस्मादिति**। व्यवहारनियमस्य सीमा प्रमाणमेव। प्रमाणस्यातिक्रमे तु व्यवहारस्य अनियम एव प्रसज्यते।

न ह्यप्रतीते देवदत्तादौ स किं गौरः कृष्णो वेति वैयात्यं विना प्रश्नः। तत्रापि यद्येको प्रतीतिपरामर्षविषय एवोत्तरं ददाति न गौर इति। अपरो पि किं न दद्यात् कृष्ण इति। न चैवं सति काचिदर्थसिद्धिः प्रमाणाभावविरोध-योरुभयत्रापि तुल्यत्वादिति।

नन्वप्रतीते व्यवहाराभाव इति युक्तम्, कूर्मरोमादयस्तु प्रतीयन्त एव। न ह्येते विकल्पाः किंचिदर्थभेदमनुल्लिखन्त एव उत्पद्यन्ते। न च प्रमाणास्पदमेव व्यवहारास्पदमिति। तन्न युक्तम्। तथाहि शशविषणमिति ज्ञानमन्यथाख्यातिर्वा स्यात्, असत्ख्यातिर्वा। न तावदाद्यस्ते रोचते तथा सति हि किंचिदारोप्यं किंचिदारोपविषय इति स्यात्। तथा चारोपविषयस्तत्रैवास्ति आरोपणीय-स्त्वन्यत्रेति जितं नैयायिकैः। नापि द्वितीयः कारणानुपपत्तेः। इन्द्रियस्य ज्ञानजनने विषयाधिपत्येनैव व्यापारात्। लिङ्गशब्दाभासयोरन्यथाख्यातिमात्रजनकत्वात्। अपहस्तितस्वार्थयोश्चासत्ख्यातिजनकत्वे शशविणादिशब्दात् कूर्मरोमादि-विकल्पानामप्युत्पत्तिप्रसङ्गात्, नियामकाभावात्।

व्यवहाराविषये सर्व–विधि–निषेध–व्यवहार–मर्यादाविलोपमुदाहरणेन दर्शयति – **नहीति**। **हि** = यस्मात् अप्रतीते देवदत्तादौ – स किं गौरः कृष्णो वेति वैयात्यं

= धाष्ट्र्यं विना न प्रश्नो भवति। अव्यवस्थामेव दर्शयति – **तत्रापीति**। अप्रतीते देवदत्तादौ अप्रतीत–परामर्शविषयः। कश्चित्पुरुष एव यदि 'गौरो देवदत्त' इत्युत्तरं दद्यात् तदा तथाभूतो परः कश्चित् 'कृष्णो देवदत्त' इति। एवं सति प्रश्नविषयस्य अर्थस्य न सिद्धिर्भविष्यति।

ननु व्यवहारे ज्ञानत्वेनैव ज्ञानस्य प्रयोजकत्वं न तु प्रमात्वेन। गौरवात्। त्वया पि भ्रान्तेस्तथात्वोपगमात्। एव च कूर्मरोमादयश्च ज्ञानविषया एव। तत्र व्यवहारो भवितुमर्हति। व्यवहाराभावश्च अप्रतीते अज्ञाते एवेति युक्तम्। न तु प्रमाविषये व्यवहारः, अप्रमाविषये अव्यवहार इति। एते कूर्मरोम–शशश ङ्ग–विषयाः विकल्पाः क चिदर्थभेदमनुल्लिखन्तः = अर्थविशेषं विनैव नोत्पद्यन्ते। तथा च **प्रमाणास्पदमेव** = प्रमाणविषय एव **व्यवहारास्पदम्** = व्यवहारविषय इति न वक्तव्यम्। **गौरवादिति**। तन्न युक्तम्। तथा हि शशविषाणमिति ज्ञानम्, अन्यथाख्यातिर्वा स्यात्, असत्ख्यातिर्वा स्यात् ? **न तावद् आद्यः** अन्यथाख्यातिः। **ते** = बौद्धाय रोचते। कि चिद् आरोप्यम्, कि चिद् आरोपविषय इति स्यात्। (शुक्तिः आरोपविषयः, आरोप्यं च रजतम् 'इदं रजतमित्यत्र प्रसिद्धम्')। तथा च आरोपविषयः तत्रैव अस्ति, आरोपणीयस्तु अन्यत्र। यथा आरोपणीयः 'इदं रजतम्' इत्यत्र रजतम् अन्यत्र = आपणादौ वर्तते। राजतारोपस्य विषयः शुक्तिः तत्रैव तस्मिन् देशे एवास्ति इति जितं नैयायिकैः। प्रमितमेव व्यवहारविषय इति वादिभिः नैयायिकैर्जितम्। रजतमिदमिति व्यवहारस्तत्रैव भवति यत्र रजतविषयकं ज्ञानं प्रमात्मकमिति भावः। **नापि द्वितीय इति**। शशविषाणमिति ज्ञानम् असत्ख्यातिरिति पक्षो न युक्तः। तत्र हेतुमाह – **कारणानुपपत्तेरिति**। कारणाभावं व्यवस्थापयति – **इन्द्रियस्येति**। इन्द्रियस्य ज्ञानजनने **विषयाधिपत्येनैव** = विषयसन्निकर्षेणैव व्यापारात्। प्रत्यक्षं प्रति इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य सहकारिणः अपेक्षा अस्ति। तं विना प्रत्यक्षोत्पादाभावात्। 'इदं शशविषाणम्' इति ज्ञानं विषयस्य शशविषाणस्य अलीकत्वेन तेन सह इन्द्रिय–संबन्धाभावात्। आरोप्यस्य रजतादेः शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञानस्थले इन्द्रियार्थसन्नि–कर्षाभावे पि क्वचित् आपणादौ सन्निकर्षो वक्तव्य एव। शशविषाणस्य अलीकत्वेन न क्वचिदपि इन्द्रियसंन्निकर्षस्य वक्तव्यत्वमस्ति इति भावः।

ननु विषयेन्द्रियसन्निकर्षाभावेन प्रत्यक्षाभासाभावे पि लिङ्गाभासाद्, शब्दाभासाद् वा असत्ख्यातिः स्यादित्यत आह – **लिङ्गेति**। धूलीपटले धूमारोपात् पर्वते असन् बह्निर्भासते। तत्र धूमस्य, धूलीपटलस्य, बह्नेश्च क्वचिन्महानसे पथि च प्रमितत्वं वाच्यमेवेति अन्यथाख्यातिपर्यवसानम् एव। एवं 'नदीतीरे प चफलानि सन्ति' इति अनाप्तोच्चरितशब्दात् पदार्थो वाक्यार्थो वा प्रतीतचर एव भासते इति अन्यथाख्यातिरेवेत्यर्थः।

ननु स्यादेवं यदि व्याप्तिबलात् सङ्केतबलाद्वा भानं भवेत्। नत्वेवम् इत्यत आह – **अपहस्तितेति**। तिरस्कृतस्वार्थयोः लिङ्ग–शब्दयोः असत्–ख्याति–भ्रमज्ञानजनकत्वे शशविषाणशब्दात् कूर्मरोमादिविकल्पानामिव उत्पत्तिप्रसङ्गात् नियामकाभावात्। लिङ्गस्य स्वार्थः व्यापको वह्न्यादिः; शब्दस्य च अर्थः सङ्केतविषयः। तयोस्तिरस्कारे नियमो न स्यात्। बह्निव्याप्यधूमादिना एव बह्न्यनुमानं नान्यथा। घटशब्दः सङ्केतविषय– घटार्थमेव बोधयति न पटादिकमिति नियमो न स्यात्।

स हि सङ्केतो वा स्यात् शब्दस्वाभाव्यं वा। आद्यस्तावत् सङ्केत-विषयाप्रतीतेरेव पराहतः। तत एव तत्प्रतीताावितरेतराश्रयत्वम्। पदसङ्केतबलेनैव प्रतीतौ स्वार्थापरित्यागात्। तथा चानन्विताः पदार्था एवान्विततया परिस्फुरन्तीति विपरीतख्यातिरेवानुवर्तते। स्वार्थपरित्यागे तु पुनरप्यनियमः, असामयिकार्थ-प्रत्यायनात्। शब्दस्वाभाव्यात् तु नियमे व्युत्पन्नवदव्युत्पन्नस्यापि तथाविधविकल्पो-दयप्रसङ्गादिति।

उपलक्षणविधया शब्दाभासमेव अधिकृत्य विकल्पयति – **स हीति**। स **हि** = यस्मात् नियामकः। **सङ्केतो वा स्यात्** = अस्माच्छब्दाद् अयमर्थो बोद्धव्य इति वा स्यात्। **शब्दस्वाभाव्यं वा स्यात्**। घटशब्दः स्वभावादेव घटं बोधयति न पटादिकमिति वा स्यात्। तत्र सङ्केत एव अर्थबोधनियामकः। सङ्केतग्रहः स्वार्थे पदं नियमयेत्। स च सङ्केतः शशविषाणादौ नास्ति। शशविषाणशब्दात् अयमर्थो बोद्धव्य इति संङ्केतस्य केनापि अकृतत्वात्। वाक्यार्थनियमो पि सङ्केतविषयाप्रतीतेरेव परास्त इति भावः।

ननु शशविषाणशब्दादेव ग हीतसङ्केतः (पुरुषः) ततः (शशविषाण– शब्दतः) नियतमर्थं प्रतीयाद् इत्यत आह – **तत एवेति**। तत एव = शशविषाणशब्दादेव तत्प्रतीतौ = तच्छब्दस्य नियतार्थ(सङ्केत)प्रतीतौ इतरेतराश्रयत्वम्। शशविषाणार्थस्य शशविषाणशब्दात् प्रतीतौ सङ्केतस्य तत्र प्रतीतिः। संकेतस्य तत्र प्रतीतौ शशविषाणार्थस्य नियतप्रतीतिरिति परस्पराश्रयत्वम्।

ननु शशविषाणार्थ–पदार्थो अखण्डः कश्चिन्मास्तु। शश–विषाण– शब्दयोः ग हीतसङ्केतयोरेव सामर्थ्याद् कश्चित् असन्नेव संसर्गः भासतामित्यत आह – **पदसङ्केतेति**। सतोरेव शश–विषाण–अर्थयोः दोषवशात् (सामीप्यादिदोषवशात्) असन् संसर्गः = विशेषविषाणे शश– संबन्धाभाववति शशसंबन्धो लिङ्ग–शब्दाभ्यां बोध्यते इति चेत् ? तत्र असन्निति सत्यम्। सर्वथैव असन्निति कुतो ज्ञायते ? तथा च कथं तस्य अलीकत्वम् ? तथा च शशविषाणशब्दस्य अर्थपरित्यागेन अनन्विताः परस्परासंबद्धा एवार्थाः शशादिरूपाः विषाणादिरूपा एव **अन्विततया** = संबद्धतया **परिस्फुरन्ति** = भासन्ते इति विपरीतख्यातिरेव = अन्यथाख्यातिरेव अनुवर्तते =

भवति। शशसंबन्धित्वस्य विषाणे समारोपात्। शशसंबन्धाभाववति विषाणे शश–संबन्धारोपादिति भावः। ननु शशपदविषाणपदयोः स्वार्थपरिस्फुरणे स्यादेवं परस्पराश्रयत्वम्। नत्वेतदस्ति इत्यत आह – **स्वार्थेति**। शशपदेन विषाणपदेन च स्वस्वार्थपरित्यागे तु पुनरपि अनियमः। कथम् अनियम इत्यत आह – **असामयिकेति**। असङ्केतार्थप्रत्यायनात्। शशशब्दः यस्मिन् अर्थे सङ्केतितः ततो भिन्नार्थस्य प्रतीतेः। ननु विषयाप्रतीतेः सङ्केतो मा ग ह्यताम्। शशविषाणादिपदानाम् ईद श एव स्वभावविशेषः, येन नियतार्थप्रतीतिः स्यादित्यत आह – **शब्देति**। शब्दस्वभावात् नियतार्थभानस्वीकारे 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य' इति सङ्केतग्रहवतः पुरुषस्येव ताद शसङ्केताग्रहवतो पि तच्छब्दात् नियतार्थस्य भानापत्तिरिति। तथा च सर्वेषां पदानाम् एवंस्वभावे सङ्केतग्रहस्य न कुत्रापि उपयोगः स्यात् इति भावः।

वासनाविशेषादिति चेत्, अथासदुल्लेखिनः, प्रत्ययस्य वासनैव कारणम् उत वासनापि। न तावदाद्यः, शशविषाणादिप्रत्ययानां सदातनत्वप्रसङ्गत्। कदाचित् प्रबोधात् कदाचिदिति चेत् न, प्रबोधो पि सहकार्यन्तरं वा अतिशयपरम्परापरिपाको वा। आद्ये वासनैवेति पक्षानुपपत्तिः। द्वितीये पि यद्यर्थान्तर- प्रत्यासत्तेस्तदा पूर्ववत्। स्वसन्ततिमात्राधीनत्वे तु बाह्यवादव्याघातः नीलादि- बुद्धीनामपि वासनापरिपाकादेवोत्पादात्। वासनापीति पक्षे तु तदन्यो पि हेतुः कश्चिद्वक्तव्यः, स च विचार्यमाणः, पूर्वन्यायं नातिवर्तत इति।

न च शशविषाणादिशब्दानामसदर्थैः सह सम्बन्धावगमो पि। तथाहि परबुद्धीनामनुल्लेखात् तद्विषयस्याप्यनुल्लेख एव। न चार्थक्रियाविशषो प्यस्ति, यतो विषयविशेषमुन्नीय तत्र सङ्केतो ग ह्यताम्, न च सङ्केतयितुरेव वचनात् तदवगतिः। तद्विषयाणां सर्वेषां वचनानामप्रतीतविषयत्वेनाग हीतसमयतया अप्रतिपादकत्वात्।

ननु **वासना**(संस्कार)**विशेषात्** असत्ख्यातिः (अलीकार्थस्य भानम्) इति चेत्? अथवा वासनाविशेषात् नियतार्थस्य भानमिति चेत्? न। विकल्पासहत्वात्। तथाहि, **असदुल्लेखिनः प्रत्ययस्य वासनैव कारणम्, उत वासनापि कारणम्** अन्यदपि कारण च? **न तावत् आद्यः।** अपेक्षणीयान्तराभावेन वासनासन्तानस्य अविच्छिन्नतया शशविषाणसन्तानस्य अपि अविच्छिन्नत्वापत्तेः (सदातनत्वापत्तेः)।

ननु वासनायाः कदाचित् बोधात् शशविषाणादि–प्रत्ययानामपि कदाचिदुत्पत्तिरिति नोक्तदोष इति चेत् ? न। विकल्पासहत्वात्। तथाहि, वासनायाः **प्रबोधो पि सहकार्यन्तरं वा अतिशय-परम्परा-परिपाको वा?** अतिशयश्च, वासना तत्परम्परायाः कश्चित् परिपाकः, येन शशविषाणादिप्रत्ययोत्पत्तिः। नाद्यः। असदुल्लेखिनः प्रत्ययस्य वासनैव कारणमिति कथनस्य असङ्गतेः। तत्र वासनाभिन्नप्रबोधस्यापि

कारणत्वात्। न द्वितीयः। परिपाको पि वासनायाः यदि अर्थान्तरप्रत्यासत्त्यधीनः, तदा वासनैव ताद शप्रत्ययस्य कारणम् इत्यस्य असङ्गतेः। तत्र वासनाभिन्न–ताद श–अर्थान्तरस्यापि कारणत्वात्। **तदा पूर्ववदिति** प्रबोधो पि सहकार्यन्तरमिति पक्षे वासनाभिन्नस्य प्रबोधस्यापि असदुल्लेखिप्रत्यये कारणत्वेन वासनैव तत्र कारणमिति पक्षो यथा असङ्गतः, तथा अतिशयपरम्परेति पक्षो पि असङ्गतः। वासनाभिन्नस्य अर्थान्तरस्यापि तत्र कारणत्वात्।

ननु स्वसन्ततिमात्राधीन एव तत्परिपाको, न तु तत्रापि सहकार्यन्तरापेक्षेत्यत आह – **स्वसन्ततीति**। वासनापरिपाकस्य स्वसन्तति– मात्राधीनत्वे तु बाह्यवादव्याघातः। सौत्रान्तिक–वैभाषिक–बौद्धयोर्मते ज्ञानभिन्न–बाह्यस्य पदार्थस्य सत्ता अस्ति। तदनुपपत्तिः। नीलादिविकल्पकादाचित्कत्वमपि न नीलादिबाह्य–पदार्थाधीनम्। किन्तु वासनापरिपाकाधीनमेव मन्तव्यम्। नीलसत्त्वे नीलविकल्पः तदसत्त्वे न स विकल्प इति कादाचित्कत्वस्य वासनापरिपाकेनैव संभवे बाह्यपदार्थो न मन्तव्यः। न चेष्टापत्तिः। स्वसिद्धान्तभङ्गापत्तेः। असदुल्लेखिप्रत्यये वासना पि कारणम् इति पक्षे वासनाभिन्नो पि तत्र हेतुः कश्चिद् वक्तव्यः। स च (हेतुः) विचार्यमाणः पूर्वन्यायं नातिवर्तते इति। **पूर्वन्यायम्** = इन्द्रियादेः विषयाधिपत्यादिकम्। प्रत्यक्षे इन्द्रियार्थसन्निकर्षः। न असता अर्थेन इन्द्रियस्य संबन्धो भवितुमर्हति। धूलीपटले धूमस्य धूलीपटलस्य वह्नेश्च प्रमितत्वं क्वचिद् वक्तव्यम्। अन्यथा आरोपानुपपत्तेः। तथा च अन्यथाख्यातिरेव आगता न असत्ख्यातिः। एवमनाप्तवाक्यादपि वाक्यार्थः पदार्थो वा प्रतीतिगोचर एव भासते इति अन्यथाख्यातिरेव इति इन्द्रियस्य ज्ञानजनने विषयाधिपत्येनैवेति उक्तम्। प्रत्यक्ष–लिङ्ग–शब्दाभासानां तत्र असदुल्लेखिप्रत्यये निराकृतत्वात्। सहकार्यन्तराभावादिति पूर्वन्यायमित्यस्य अर्थः।

निराकृतमपि अर्थं विशिष्य निराकरणार्थमाह – **न च शशविषाणादिशब्दानामिति**। शशविषाणादिशब्दानाम् असदर्थैः सह न सम्बन्धावगमः = न शक्तिरूपसम्बन्धज्ञानम्। ननु शशविषाणादिपदप्रयोक्तुः अवश्यम् शशविषाणाद्यर्थस्य शक्तिरूपसंबन्धज्ञानमस्ति। अन्यथा तस्य प्रयोगानुपपत्तेः इति श्रोतुः तत्र सङ्केतधीः स्यादित्याह – **परबुद्धीनामिति**। प्रयोज्य– प्रयोजक–व द्धादिबुद्धीनाम् अनुल्लेखात् तद्विषयस्य शशविषाणादेः अनुल्लेख एव। तद्बुद्धेः परोक्षतया तद्विषयस्य विशिष्य अनवगमादित्यर्थः। न च प्रयोजकव द्धोदीरितात् शशविषाणादि–शब्दात् प्रयोज्यव द्धस्य व्यवहारं द ष्ट्वा तटस्थस्य बालकस्य व्युत्पत्तिः (शक्तिग्रहः) स्याद्। अत आह – **न चार्थक्रियेति**। प्रयोज्यव द्धकृतशशविषाणादेः अर्थक्रियाविशेष = नयन–आनयनादिरूप– क्रियाविशेषो पि नास्ति; येन विषयविशेषम् = शश– विषाणादिरूपमर्थम् उन्नीय तत्रार्थे सङ्केतज्ञानं भवेत्।

ननु यथा कम्बुग्रीवादिमान् अर्थो घटपदवाच्य इति सङ्केतग्रहः तथा अत्रापि शशविषाणादिरूपो र्थः शशविषाणदिपदवाच्य इति सङ्केतग्रहः स्यादित्यत आह – **न च सङ्केतयितुरेवेति**। सङ्केतयितुः संकेतं कारयितुः वचनात् शशविषाणादौ शशविषाणादिपदसङ्केतग्रहो न भवितुमर्हति। तद्विषयाणाम् = सङ्केतविषय–विषयाणां सर्वेषां वचनानाम् अज्ञातविषयकत्वेन अग हीतशक्तिकतया अप्रतिपादकत्वात्। शशविषाणाद्यर्थप्रतिपादकत्वाभावात्। येन पदकदम्बेन यो र्थ उपनेतव्यः सो पि अपरिचितार्थ एवेति भावः।

न च शशविषणमुच्चारयतः कश्चिदभिप्रायो व त्त इति तद्विषयो स्य वाच्य इति सुग्रहः समय इति वाच्यम्। न ह्येवमाकारः समयग्रहः। गां बधानेत्युक्ते अप्रतीतशब्दार्थस्याप्यभिप्रायमात्रप्रतीतौ समयग्रहप्रसङ्गात्। न च विशेषान्तरविनाकृतः कल्पनामात्रविषयो स्य वाच्य इति साम्प्रतम्, घटकूर्मरोमादीनामपि तदर्थत्वप्रसङ्गात्।

न च सर्वे प्रतिपत्तारः स्वस्ववासनया सदर्थशब्दसम्बन्धप्रतिपत्तिभाज इति साम्प्रतम्। परस्परवार्तानभिज्ञतया अपरार्थत्वप्रसङ्गात्। न हि स्वयं कृतं समयमग्राहयित्वा परो व्यवहारयितुं शक्यते। न च व्यवहारोपदेशावन्तरेण ग्राहयितुमपि। न च गां वधानेतिवत् शशविषाणपदार्थे व्यवहारः। न चायमसावश्व इतिवदुपदेशः। न च यथा गौस्तथा गवय इतिवदुपलक्षणातिदेशः। न चेह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीतिवत् प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्यम्।

ननु शशविषाणादिपदम् उच्चारयितुः यस्मिन् अर्थे तात्पर्यम् तदर्थम् इति तत्र सङ्केतग्रहः स्यादित्यत आह – **न च शशविषाणमिति**। शशविषाणशब्द–मुच्चारयतः पुरुषस्य न कश्चिदभिप्रायो व त्तः। न कि चिदर्थविषयको भिप्रायो स्ति येन ताद शाभिप्रायविषयः अस्य शशविषाणादिपदस्य वाच्य इति सङ्केतः सुग्रहः स्यात्। न हि एवमाकारः शक्तिग्रहः शब्दव्यवहारोपयोगी भवति। 'गां वधान' इत्युक्ते अप्रतीतपदार्थस्यापि अभिप्रायमात्रप्रतीतौ शक्तिग्रहप्रसङ्गात्। न च शशविषाणादि–शब्दानां विशेषान्तरविनाकृतः **कल्पनामात्रविषयः** = निरुपाख्यो र्थो वाच्यः। तत्र सङ्केतग्रहो भविष्यतीति वाच्यम्। घटरोमकुर्मरोमादीनाम् अपि शशविषाणादि–शब्दार्थत्वापत्तेः।

ननु वासनयैव उपस्थिते र्थे श्रोतुः सङ्केतग्रहः स्यादित्यत आह – **न च सर्वे प्रतिपत्तार इति**। सर्वे प्रतिपत्तारः स्वस्ववासनया असदर्थशब्दसंबन्ध–प्रतिपत्तिभाज इति न युक्तम्। वक्त –श्रोत्रोः समानशक्तिग्रहाभावेन परार्थं तत्प्रयोगानुपपत्तेः। अन्यथा घटाभिप्रायेण पटपदमपि प्रयु जीत। ननु स्वयमेव क्वचिदर्थे सङ्केतं परिकल्प्य शशविषाणादिपदप्रयोगः स्यादित्यत आह – **नहि स्वयंकृतमिति**। स्वयं सङ्केत–

कल्पने पि परस्य तदज्ञानात् परार्थं प्रयोगानुपपत्तेः। ननु शशविषाणादिरूपार्थे श्रोता पि व्युत्पाद्यताम्। तथा च तदर्थे शशविषाणादौ शशविषाणादिशब्दस्य प्रयोगः स्यादित्यत आह – **न च व्यवहारेति**। व्यवहारोपदेशौ विना सङ्केतं ग्राहयितुं न शक्यते। उपदेशः = प्रव त्तिनिमित्तविशिष्टे वाच्यताबोधकं वाक्यम्। यथा 'पिकः कोकिलः', 'अयमश्व' इत्यादि।

ननु व्यवहारादेव परो व्युत्पाद्यताम् अत उक्तं प्रप चयति – **न च 'गां वधान' इति**। 'गां वधान' इति यथा व्यवहारो भवति तथा शशविषाणादौ अलीके न व्यवहारो भवति। तथा च शशविषाणादौ व्यवहाराभावेन तत्र शशविषाणादिशब्दस्य न शक्तिग्रहः संभवति। व्यवहारश्च नयनानयनादिरूपः। अलीकस्य शशविषाणादेः नयनानयने न भवतः।

ननु तर्हि उपदेशादेव अलीके शशविषाणादिरूपार्थे शक्तिग्रहो भवतु इत्यत आह – **न चायमिति**। यथा 'अयमश्वः' इत्युपदेशो भवति तथा 'इदं शशविषाणम्' इत्युपदेशो न भवति। तद्गोचरशब्दानाम् अग हीत– सङ्केतत्वात्। न च साक्षात् उपदेशाभावे पि उपमानम् अनुमानं वा द्वारीकृत्य उपदेशः स्यादित्यत्र आद्यम् उपमानशङ्कां निराकरोति – **न च 'यथा गौस्तथा गवय' इतीति**। 'यथा गौः तथा गवय' इत्यत्र प्रव त्तिनिमित्तस्य गवयत्वस्य उपलक्षणम् = साद श्यम् तस्य अतिदेशः = कथनम्। तथा च शशविषाणत्वस्य प्रव त्तिनिमित्तस्य साद श्यकथनाभावात्। अलीकस्य साद श्यं न भवति। साद श्यं च वस्तुनो भवति। अनुमानम् आशङ्क्य निराकरोति – **न चेहेति**। अयं प्राणी मधुकरपदवाच्यः, प्रभिन्नकमलोदरे मधुपानकर्त त्वात्, यन्नैवं तन्नैवम् (यत् प्रभिन्न–कमलोदरे न मधुपानकर्त न तत् मधुकरपदवाच्यम्) यथा घट इति। तथा इदं शशविषाणपदवाच्यं शशविषाणस्य असाधारणक्रियाकर्त त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घट इति न भवति। मधुकर एव प्रभिन्नकमलोदरे मधु पिबति नान्यः। तथा शशविषाणादेः असाधारणक्रिया नास्ति। असाधारणत्व च तन्मात्र–व त्तित्वम्।

तदमूः शशविषाणादिकल्पाः नासत्ख्यातिरूपास्तथात्वे कारणाभावात्, मुकस्वप्नवदासां व्यावहारिकत्वप्रसङ्गाच्च। तस्मादन्यथाख्यातिरूपा एवेति। नैतदनुरोधेनाप्यवस्तुनो निषेधव्यवहारगोचरत्वमिति। भवतु वासत्ख्यातिस्तथापि न ततो व्यतिरेकः प्रामाणिकः।

तथाहि को यं व्यतिरेको नाम। यद्यतो व्यतिरिच्यते तस्य तत्राभावो वा, तदभावस्वभावत्वं वा। तत्र न तावत् क्रमयौगपद्ययोः शशविषाणे अभावः प्रमाणगोचरः। व क्षरहितभूभ त्कटकवत् क्रमयौगपद्यरहितस्य शशविषाणस्य प्रमाणागोचरत्वात्।

प्रकृतमुपसंहरति – **तदमूरिति**। अमूः शशविषाणादिकल्पनाः न असत्ख्या–तिरूपाः। असत्ख्यातेः कारणाभावात्। शशविषाणे घटत्वादिकं नास्तीति विकल्पानाम् (सविकल्पकज्ञानानाम्) अकरणत्वेन अन्यथाख्यातेरेव ध्रौव्यात्। वस्तुन एव निषेधः न तु अवस्तुन इति। **न च सर्वे प्रतिपत्तारः स्वस्ववासनया** इत्यादौ दूषणमुक्तं सिंहावलोकन न्यायेन प्रकारान्तरेण स्मारयति – **मूकेति**। असत्ख्यातिरूपता व्यतिरेकम् उपसंहृत्य अन्यथाख्यातिरूपताम् उपसंहरति – **तस्मादिति**। शशविषाणम् इत्यादिज्ञानानां कारणाभावेन असत्ख्यातिरूपत्वाभावात्, अन्यथाख्यातिकारणत्वस्य सत्त्वेन तेषामन्यथाख्यातित्वमेवेति शशविषाणादिप्रत्ययानुरोधेनापि न अवस्तुनः अलीकस्य शशविषाणादेः निषेधव्यवहारविषयत्वमिति।

ननु यत् सत् तत् क्षणिकमिति सत्त्व–क्षणिकत्वयोः प्रमितत्वाद् तद् व्यतिरेकावपि प्रमितावेव। तथा च अप्रामाणिके पि आश्रये अलीके शशश ङ्गादौ व्यतिरेकग्रहो स्तु (यन्न सत् तन्न क्षणिकमिति यथा शशश ङ्गादि इति व्यतिरेकग्रहो स्तु)। यदाह **धर्मकीर्तिः** –

तस्माद् वैधर्म्यद ष्टान्ते नेष्टो वश्यमिहाश्रयः।
तदभावे पि तन्नेति वचनादेव तद्गतेः।। इति।

तथा च यत् न सत् तत् न क्षणिकम्, यथा शशश ङ्गादिरिति, व्यतिरेकव्याप्तिः सिद्ध्यति इति।

तदभ्युपगम्यापि निरस्यति – **भवतु वेति**। भवतु वा आश्रयांशे अतस्ख्यातिः।

यद्वा। ननु नैयायिकैरपि शुक्तिरजत–तादात्म्यस्य असत एव भानम् अङ्गीक्रियते। शुक्तिरजत–तादात्म्यस्य (अभेदस्य) असत्वादित्यत आह – **भवतु वेति**। यद्यपि शुक्ती रजतं तादात्म्यं च तत्र भासते, तच्च सर्वं सदेव। न चासद्विषयकत्वं भ्रमत्वे तन्त्रम्। किन्तु प्रकारवैयधिकरण्यमात्रं तत्र कारणम्। (प्रकारस्य विशेष्यता–असामानाधिकरण्यमात्रं भ्रमत्वे कारणम्)। तथापि सदुपरक्तम् असदपि भासते इति पक्षे अभ्युपगमवादो यम्। भवतु वा असत्ख्यातिः, तथापि न ततो पि = न तत्रापि व्यतिरेकः = यन्न सत् तन्न क्षणिकमिति व्यतिरेकः प्रामाणिकः। **तथाहि को यं व्यतिरेको नाम** ? यत् यतः व्यतिरिच्यते (भिद्यते) तस्य तत्राभावो वा, यथा भूतलाद् भिन्नस्य घटस्य अभावो भूतले इति स्वमते (नैयायिकमते)। प्रभाकरमते त्वाह – **तदभावस्वभावत्वं वेति**। अभावस्य अधिकरणस्वरूपत्वम् इतिवादिनः प्रभाकरस्य मते भूतलादेः अधिकरणस्यैव घटाद्यभावस्वरूपत्वम्। तथा च अभावः अधिकरणभिन्नः, अधिकरणस्वरूपो वेति विकल्पार्थः। यत्र न तावद् क्रमयौगपद्ययोरभावः शशविषाणे प्रमाणगोचरः (यत्र यत्र क्रमयौगपद्ययोः अभावः, तत्र तत्र क्षणिकत्वाभाव इत्यस्य न

प्रमाणगोचरत्वम्)। तथा च व्यतिरेकव्याप्तिः सिद्ध्यति। साध्याभावव्यापकी–भूत–अभावप्रतियोगित्वस्यैव व्यतिरेक–व्याप्तित्वात्। अत्र हेतुघटक–क्रमयौगपद्ययोः अभावस्य अप्रामाणिकत्वेन न व्यतिरेकव्याप्तिः सिद्ध्यति। योग्यानुपलम्भेन पवर्तनितम्बे यथा व क्षाभावो ग हयते, तथा प्रकृते व्यतिरेकग्रहः प्रामाणिकः न संभवति। पर्वतनितम्बे योग्यानुपलब्ध्या प्रमाणस्वरूपया व क्षाभावो यथा भवति, तथा क्रमयौगपद्यशून्यस्य शशविषाणस्य न प्रमाणगोचरत्वमिति प्रतियोगिनः अप्रामाणिकत्वे तदभावो पि अप्रामाणिकः। क्रमयौगपद्ययोः व क्षादौ प्रमाणसिद्धत्वेन तदभावस्यापि प्रमाणसिद्धत्वम्। एव च पर्वतनितम्बे व क्षाभाव इत्यत्र आश्रयस्य पवर्तनितम्बस्य प्रत्यक्षादि–प्रमाणसिद्धत्वेन तत्र यथा व क्षाभावः प्रमाणिकः, तथा शशविषाणादेः आश्रयस्य न प्रमाणसिद्धत्वमिति। तत्र (शशविषाणादौ) क्रमयौगपद्ययोः अभावस्य न प्रमाणसिद्धत्वमिति भावः। अत्यन्ताभावप्रत्यक्षे अधिकरणयोग्यताया अपेक्षितत्वात्। अन्यथा पिशाचादौ घटाद्यभावस्य प्रत्यक्षापत्तेः।

नापि क्रमयौगपद्याभावरूपत्वं शशविषाणस्य प्रामाणिकम्। घटाभाववच्छश- विषाणस्य प्रमाणेनानुपलम्भात्। घटाभावो पि न प्रमाणगोचर इति चेत् न, तस्य तद्विविक्तेतरस्वभावस्यापि प्रमाणत एव सिद्धेः, असिद्धौ वा तत्राप्यव्यवहार एव।

घटस्तावत् स्वाभावविरहस्वभावः प्रमाणसिद्धः। ताद्रूप्येण कदाचिदप्यनु-पलम्भात्। एतावतैव तदभावो पि घटविरहस्वभावः सिद्ध इति चेन्न, घटभावस्य तदभावविरहस्वभावत्वानभ्युपगमात्। न चान्यस्य स्वभावे प्रमाणगोचरे तदन्यो पि सिद्धः स्यादतिप्रसङ्गात्।

अन्योन्याभावप्रत्यक्षे प्रतियोगियोग्यता अपेक्षिता। तदभाव– स्वभावत्वं वेति द्वितीय विकल्पं निरस्यति – **नापि क्रमेति**। शशविषाणस्य क्रमयौगपद्याभावरूपत्वं न प्रामाणिकम्। घटाभावस्य यथा प्रमाणेन उपलम्भः, तथा शशविषाणस्य प्रमाणेन अनुपलम्भात्। स्यादेवं यदि शशविषाणे क्रमयौगपद्याभाव इति प्रतीतिः केनापि प्रमाणेन स्यात् न त्वेवम्। अभावस्य अधिकरणस्वभावत्वे पि प्रतीतिः एताद शी एव अभ्युपेया इति भावः।

ननु प्रमाणविषयस्यापि घटाभावस्य यथा व्यवहारः सार्वजनीनः, तथा क्रमयौगपद्याभावव्यवहारो पि स्याद् इत्यभिप्रायेण शङ्कते – **घटाभावो पि इति।** ननु घटाभावो पि न प्रमाणगोचरः। (घटाभावस्य अधिकरणस्वरूपत्वेन) ताद शाधिकरणत्वेन तस्य प्रमाणगोचरत्वे पि घटाभावत्वेन तस्य प्रमाणगोचरत्वाभावात् इति चेत्? न। घटाभावस्य घटभिन्न–भूतलादिभिन्न–स्वभावस्यापि प्रमाणत एव सिद्धेः। ततश्च घटाभावव्यवहारो भवति। तस्य प्रमाणतो सिद्धौ सत्यां तत्रापि

घटाद्यभाव– व्यवहारो न भवत्येव। एव च यथा अधिकरणातिरिक्तो घटाद्यभावः प्रत्यक्षत उपलभ्यते, तथा शशविषाणे क्रमयौगपद्याभावो न प्रमाणसिद्धः।

ननु भूतले घटो नास्तीति प्रतीतिरपि असत्ख्यातिः एव इत्यत आह – **असिद्धौ वेति**। घटाभावस्य प्रमाणतो असिद्धौ घटाभावे पि अव्यवहार एव, प्रमितस्यैव व्यवहार्यत्वात्।

ननु अप्रसिद्धे व्यवहाराभाव इति। सत्यम्। अभावस्तु स्वाभावविरहस्वभावस्य प्रतियोगिनः सिद्ध्यैव सिद्धः। अभावाभावस्य प्रतियोगिरूपत्वात्। तथा च प्रतियोगिनो घटादेः प्रमाणसिद्धत्वे घटाद्यभावस्यापि प्रमाणसिद्धत्वम् इत्याशङ्कते – **घटस्तावदिति**। अथवा प्रमाणाविषयस्यापि घटाभावस्य व्यवहार्यत्वमुपपादयति – **घटस्तावदिति**। घटाभावो भावस्वभावः। घटस्तावत् प्रमाणसिद्ध इति घटाभावो पि प्रमाणसिद्ध इति चेत् ? न। स्वाभावरूपत्वेन घटस्य कदाचिदपि अनुपलम्भात्। घटाभावाभाव एव घट इति प्रतीतेरभावात्। ननु एतावतैव – घटस्य घटाभावरूपत्वेन अप्रतीत्या एव घटाभावो पि घटविरहाभाव– स्वभावसिद्ध इति चेत्? न। घटरूपाभावस्य घटाभावविरह–स्वभावत्व– अनभ्युपगमात्। अभावस्य अप्रामाणिकत्वे घटस्य स्वाभावविरहस्वभावत्वे एव विप्रतिपद्यामहे इति भावः। अथ घटस्य घटस्वभावत्वेन सिद्ध्यैव घटाभावस्य सिद्धिः, किं वा घटाभावविरहस्वभावत्वसिद्ध्या घटाभावस्य सिद्धिरिति ? नाद्यः। अन्यस्य स्वभावे प्रमाणगोचरे न तदन्यस्य सिद्धिः। स्तम्भे प्रवर्तमानं प्रमाणं कुम्भमपि साधयेत् इत्यतिप्रसङ्गापत्तेः।

एवम्भूतावेव घटतदभावौ यदेकस्य परिच्छित्तिरपरस्य व्यवच्छित्तिरिति चेत् न, घटवद्घटाभावस्यापि प्रामाणिकत्वानभ्युपगमे स्वभाववादानवकाशात्। प्रमाणसिद्धे हि वस्तुनि स्वभावावलम्बनं न तु स्वभाववादावलम्बनेनैव वस्तुव्यवस्थितिरिति भवतामेव तत्र तत्र जयदुन्दुभिः।

तत् किमिदानीं स्वाभावविरहस्वभावो घटः प्रमाणान्नैव सिद्धः। तव द ष्ट्या एवमेतत्। घटो हि याद क् ताद क् स्वभावस्तावत् प्रमाणपथमवतीर्णस्तस्य तु यदि परमार्थतो भावो पि कश्चित् स्यात्, स्यात् परमार्थतः सो पि तद्विरहस्वभाव इति। तथैव प्रमाणेनावेदितः स्यात्। न चैतदप्यभ्युपगम्यते भवता। तस्माद् घटवत् तदभावस्यापि प्रामाणिकत्वेनैवानयोः परस्परविरहलक्षण-व्यतिरेकसिद्धिः। अप्रामाणिकत्वे त्वनयोरपि न तथाभाव इति शशविषाणा-दिष्वपीयमेव गतिः।

ननु स्वभावभेदस्य नियामकत्वान्नातिप्रसङ्गः इत्याशङ्कते – **एवंभूताविति**। एवंभूतावेव = एवंभूतस्वभावावेव घटतदभावौ यत् एकस्य निश्चयः अपरस्य अभावावधारणं

करोति। तथा च यत्र घटस्य निश्चयः, तत्र न घटाभावस्य निश्चय इति नोक्तदोषः। तथा च घटाभाव इत्यत्र प्रतियोगिनि घटे प्रव त्तं प्रमाणम् अनुयोगिनम् अभावमपि विषयीकरोति। अत्र प्रतियोग्यनुयोगिभाव एव नियामक इति नातिप्रसङ्गः। न वा अभावस्य स्वतन्त्रप्रमाणविषयत्वमिति चेत्? न। घटवद् घटाभावस्यापि प्रामाणिकत्व– अनभ्युपगमे स्वभाववादानवकाशापत्तेः। स्वभावो हि स्वरूपम्। तच्च निःस्वरूपस्य = अभावस्य प्रमाणपथानवतीर्णस्य न सम्भवति। तथा च अभावस्य अयं स्वभावः यत् अभाव(घटाभाव)निश्चयः प्रतियोगिनिश्चयाभावं करोति (घटनिश्चयाभावं करोति) इति कथयितुं न शक्यते। प्रमाणागोचरत्वेन घटाभावस्य स्वभावत्वाभावात्। त्वया पि (बौद्धेनापि) प्रमाणसिद्धे एव स्वभावावलम्बनम् अङ्गीकर्तव्यमित्याह – **प्रमाणसिद्धे हीति**। प्रमाणसिद्धे हि वस्तुनि स्वभावावलम्बनम्, न तु स्वभाववाद– अवलम्बनेनैव वस्तुव्यवस्थितिरिति भवतामेव (बौद्धानामेव) तत्र तत्र जयदुन्दुभिः। तथा च प्रमाणासिद्धे अभावे अभावस्य अयं स्वभावः, येन यत्र स्वनिश्चयः तत्र प्रतियोगिनिश्चयो न भवतीति कथयितुं न शक्यते त्वयेति भावः।

किं वा घटाभावविरहस्वभावत्वसिद्ध्या घटाभावस्य सिद्धिरिति द्वितीयं शङ्कते – **तत्किमिति**। तत् = तस्मात् किमिदानीं स्वाभाव(घटाभाव)–विरहस्वभावो घटः प्रमाणात् नैव सिद्धः? तथा च घटशून्ये देशे यथा घटाभावो भवति, तथा घटवत्यपि देशे घटाभावप्रसङ्गः स्यात्। नियामकस्य प्रमाणस्य अनपेक्षणात् इति चेत् ? न। तव द ष्ट्या इष्टापत्तेः। तथाहि द ष्टिः दर्शनम्। तथा च त्वद्दर्शने चेद् अभावो न प्रामाणिकः तदा तद्विरहस्वभावो पि (घटाभावविरह–स्वभावो पि) घटः न प्रामाणिकः स्याद् इत्यर्थः। घटो हि याद क् ताद क् स्वभावः = परमाणुपु जो अवयवी वा (अवयव्यनङ्गीकृद्बौद्धमते परमाणुसमुदायो घटः। नैयायिकमते अवयविरूपो घटः तावत् प्रमाणपथमवतीर्णः।) तस्य = घटस्य तु परमार्थतः कश्चिद् यदि अभावो पि स्यात्, स्यात् तर्हि परमार्थतः सो पि = घटो पि स्वाभाव(घटाभाव)विरहस्वभाव इति। तथैव = घटभावविरहस्वभावत्वेनैव प्रमाणेन आवेदितः स्यात् = प्रमाणजन्यज्ञानविषयः स्यात्। न चैतदपि भवता अभ्युपगम्यते। तस्मात् घटस्येव घटाभावस्यापि प्रामाणिकत्वेन घट– तदभावयोः परस्परविरहरूपव्यतिरेकसिद्धिः। घटः घटाभावाभावरूपः, घटाभावः घटस्य अभावरूपः इति सिद्ध्यतः। न च घट–घटाभावयोः परस्परापेक्षायाम् अन्योन्याश्रय इति वाच्यम्। घटत्वेन घटे ग ह्यमाणे घटाभावानपेक्षणात्। घटाभावस्यापि प्रमेयत्वादिना ज्ञाने घटानपेक्षणात्। घट–तदभावयोरपि अप्रामाणिकत्वे न तथा भावः = नान्योन्यविरहस्वभावत्वम्। शशविषाणादिष्वपि इयमेव गतिः = शशविषाणादीनां प्रामाणिकत्वे तत्र (शशविषाणादिषु) क्रमयौगपद्याभावनिरूपणम्, नान्यथा। तथा च प्रमाविषयस्यैव व्यवहारविषयत्वमिति यद् उपक्रान्तं तत्सिद्धम्। तथा च यन्न सत् तन्न क्षणिकम्, क्रमयौगपद्यविरहात्, शशविषाणवद्, इति व्यतिरेक्यनुमानं न युक्तम्। न वा व्यतिरेकव्याप्तिः सिद्ध्यति। शशविषाणस्य प्रामाणिकत्वे वस्तुत्वापत्तिः। तस्याप्रामाणिकत्वे

तत्र क्रमयौगपद्याभावस्य असिद्धिरिति शशविषाणास्य न द ष्टान्तत्वम् इति विज्ञेयम्।

ननु काल्पनिकरूपसम्पत्तिरेवास्त्वनुमानाङ्गम्। तन्न, तस्याः, सर्वत्र सुलभत्वात्। ननु पक्षसपक्षविपक्षास्तावद्वस्तुभेदेन द्विरूपाः। तत्र ये कल्पनोपनीतास्तत्र काल्पनिका एव पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकाः। प्रमाणोपनीतेषु तु प्रामाणिका एवेति विभागः। तदिह काल्पनिकान्निरग्नेर्यद्यपि प्रमेयत्वादेर्व्याव त्तिः काल्पनिकी सिद्धा, तथापि प्रामाणिकाज्जलह्रदादेः प्रामाणिक्येवैषितव्या। सा च न सिद्धेति कुतस्तस्य हेतुत्वम्। एवं प्रामाणिके शब्दे पक्षीकृते प्रामाणिक एव हेतुसद्भावो वक्तव्यः। न चासौ चाक्षुषत्वस्यास्तीति सो पि कथं हेतुः। एवं कृतकत्वस्यापि वस्त्वेकनियतस्य धर्मस्य वास्तव एवान्वयो वक्तव्यः। वस्तुनो विपक्षाच्च वास्तव एव व्यतिरेकः। न च तस्य तौ स्तः, तत् कथमसावपि हेतुरिति।

ननु सत्त्व–क्षणिकत्वयोर्व्यतिरेकः (अभावः) कल्पनयैव तावदुपनीतः। एतावतैव तदनुमानम् – यत् सत् तत् क्षणिकं, क्रमयौगपद्याभावाद्, इत्यनुमानं प्रवर्तताम्। किं व्यतिरेकस्य प्रामाणिकत्वाग्रहेण इत्याह – **काल्पनिकरूपेति**। **रूपम्** = पक्षसत्व–सपक्षसत्त्व–विपक्षासत्वरूपम्। तस्य संपत्तिरेवास्तु अनुमानाङ्गमिति यदुच्यते, तन्न युक्तम्। तस्याः काल्पनिकरूपसंपत्तेः सर्वत्र = अनैकान्तिक–असिद्ध–विरुद्धेषु त्वदनुमतेषु हेत्वाभासेषु – 'पर्वतो बह्निमान्, प्रमेयत्वात्, महानसवत्'; 'शब्दो नित्यः, चाक्षुषत्वात्, घटवत्'; 'शब्दो नित्यः, कृतकत्वात्, (प्रयत्नजन्यत्वात्)' इत्यादिषु सुलभत्वात् = काल्पनिक–पक्षसत्त्व–विपक्षासत्त्व–रूपसंपत्तेः सर्वत्र = उदाहृतेषु सुलभत्वात्। तथा च काल्पनिक–रूपसंपत्तेः सर्वत्र हेत्वाभासेषु सत्त्वेन तेषां हेत्वाभासानुपपत्तेः। तथा च हेत्वाभासरक्षणार्थं काल्पनिकसत्त्वं न कल्पनीयम्।

ननु वस्त्ववस्तुभेदेन पक्ष–सपक्ष–विपक्षास्तावत् द्विरूपाः। तत्र ये पक्षादयः कल्पनोपनीताः तत्र काल्पनिका एव पक्षधर्मत्व–अन्वयव्यतिरेकाः। प्रमाणोपनीतेषु तेषु प्रामाणिकाः एव पक्षधर्मत्वादय इति विभागः। तदिह = वह्नौ साध्ये काल्पनिकात् निरग्नेः कूर्मरोमादेः विपक्षात् यद्यपि प्रमेयत्वादेर्व्याव त्तिः काल्पनिकी सिद्धा, तथापि प्रामाणिकात् जलह्रदादेः प्रामाणिक्येव व्याव त्तिः एषितव्या। सा च प्रामाणिकी व्याव त्तिः, ह्रदे विपक्षे प्रमेयत्वस्य व्याव त्तिर्न सिद्धा। पर्वतो वह्निमान्, प्रमेयत्वाद्, इत्यत्र प्रमेयत्वस्य विपक्षे ह्रदे सत्त्वात् इति कुतस्तस्य = प्रमेयत्वस्य पर्वतो बह्निमान् प्रमेयत्वाद्, इत्यत्र तस्य हेतुत्वम्। एवं प्रामाणिके शब्दे पक्षीकृते प्रामाणिक एव हेतुसद्भावो वक्तव्यः। न चासौ = हेतुसद्भावः, शब्दो नित्यः, चाक्षुषत्वाद्, इत्यत्र चाक्षुषत्वं पक्षे शब्दे स्ति इति कथं हेतुः ? एवं नित्यत्वे साध्ये, शब्दो नित्यः,

कृतकत्वाद्, इत्यत्र कृतकत्वस्यापि वस्त्वेकनियतस्य धर्मस्य वास्तव एवान्वयो वक्तव्यः। वस्तुनो विपक्षाच्च वास्तव एव व्यतिरेकः (हेतोरभावः)। न च तस्य = कृतकत्वहेतोः तौ = अन्वयव्यतिरेकौ स्तः। तत् कथम् असौ हेतुरिति बौद्धः शङ्कते।

अत्र कल्पलताकाराः – ननु निरग्निकात् कूर्मरोमादेः प्रमेयत्वव्याव त्त्या विपक्षाद् व्याव त्तिः। काल्पनिके (शब्दे) चाक्षुषत्वसत्त्वेन पक्षसत्त्वम्। काल्पनिके नित्ये गगनारविन्दे कृतकत्वसत्त्वाद् अन्वयः। नित्यत्वकृतकत्वयोः काल्पनिकी रूपसंपत्तिर्यथा त्वयोच्यते, तथा ह्रदे विपक्षे प्रमेयत्वस्य सत्त्वाद् विपक्षगामित्वम्। वास्तवे शब्दे चाक्षुषत्वस्य असत्त्वात् अपक्षव त्तित्वम् (पक्षव त्तित्वाभावः) नित्ये वस्तुनि कृतकत्वस्य अव त्तेः विरुद्धत्वम्। अतः उक्तानां हेतूनां कथं गमकत्वं स्यादित्याशङ्कते – **नन्विति**।

प्रलपितमेतत्। नहि नियामकमन्तरेण सम्पदं प्रति कल्पना त्वरते, विपदं प्रति तु विलम्बत इति शक्यं वक्तुम्। तथा च निरग्निकमपि कूर्मरोम सधूममिति कल्पनामात्रेण विपक्षव त्तित्वात् धूमो पि नाग्निं गमयेत्। वास्तव्यां रूपसम्पत्तौ किमनेन काल्पनिकेन दोषेणेति चेत्, तर्हि वास्तव्यामसम्पत्तौ किं काल्पनिक्या तयेति समानं विरोधाविरोधौ। विशेष इति चेत् कुत एषः? उभयोरेकत्र वस्त्ववस्तुत्वादन्यत्रावस्तुत्वादिति चेत्, तत् किं काल्पनिको पि धूमो वस्तुभूतो येन कूर्मरोम्णस्तेन सह विरोधः स्यात्। क्वचिद्वस्तुभूत इति चेत् निर्धूमत्वमपि क्वचिद्वस्तुभूतमिति तेनापि विरोध एव। तस्माद् यथा काल्पनिकी विपत्तिर्न दोषाय तथा काल्पनिकी सम्पत्तिरपि न गुणायेति व्यतिरेकभङ्गः।

परिहरति – **प्रलपितमेतदिति**। प्रलापो नर्थकं वचः। तथा च त्वदभिधानम् अर्थशून्यमित्यर्थः। तदेव दर्शयति – **नहीति**। नियामकं विना संपदं प्रति न हि कल्पना त्वरते। न वा नियामकं विना विपदं प्रति विलम्बते इति वक्तुं शक्यम्। क्षणिकत्व–सत्त्वयोरलीके व्यतिरेकसिद्धिः काल्पनिकी तव संपत्। सद्धेतोरपि असद्धेतुत्वापत्तिर्विपत्। विपदमेव दर्शयति – **तथा च निरग्निकमपीति**। तथा च = कल्पनया संपदः कल्पनया च विपदः कथने। अग्निशून्यमपि कूर्मरोम सधूममिति कल्पनामात्रेण धूमहेतोः विपक्षव त्तित्वाद् पर्वतो वह्निमान्, धूमाद्, इत्यत्र धूमहेतुरपि अग्निं न गमयेत् = नानुमापयेत्।

ननु वस्तुनो विपक्षाद् ह्रदादेः धूमस्य वस्तुनो व्याव त्तिः अस्त्येव इति पर्वतो वह्निमान्, धूमाद्, इत्यत्र वह्निं कथं न अनुमापयेदित्याह – **वास्तव्यामिति**। वास्तव्यां रूपसंपत्तौ = पक्षसत्त्व– सपक्षसत्त्व–विपक्षासत्त्व–संपत्तौ किमनेन काल्पनिकेन दोषेण इति चेत्? सत्त्व–क्षणिकत्वयोरपि त्वदुपदर्शिता व्यतिरेकसंपत्तिः

अवास्तव्येव इत्याह – **तर्हीति**। वास्तव्याम् असंपत्तौ सत्त्वस्य क्रमयौगपद्ययोः सत्त्वे पि तत्र सति क्रमयौगपद्ययोः अव त्तित्वे किं काल्पनिकया तया = संपत्त्या इति समानम्। त्वया वास्तव्याम् असंपत्तौ कल्पनया संपत्तिः स्वीक्रियते, मया तु अवास्तव्यां संपत्तौ कल्पनया संपत्तिः स्वीक्रियते इति समानं बोध्यम्।

ननु कूर्मरोम्णि असति वस्तुसतो धूमस्य व त्तौ विरोधः असति सतो व त्तित्वं विरुणद्धिः। अक्षणिकत्वस्य क्रमयौगपद्यविरहस्य चासत एव असति कर्मूरोम्णि व त्तौ अविरोध इत्याह – **विरोधाविरोधौ विशेष इति चेत्**? उत्तरयति **कुतः एषः =** विरोधः? ननु **उभयोः** = धूमकूर्मरोम्णोः एकत्र = धूमहेतुकानुमानस्थले पर्वतो वह्निमान्, धूमाद्, इत्यादौ वस्त्ववस्तुत्वात् (धूमो वस्तु, कूर्मरोम अवस्तु) अन्यत्र = त्वदुपदर्शिते व्यतिरेके अवस्तुत्वात्; क्रमयौगपद्यविरहे शशविषाणे च अवस्तुत्वस्य सत्त्वात् इति विरोधाविरोधौ इत्यर्थः। काल्पनिको पि धूमः किं वस्तुभूतः (अर्थात् काल्पनिको धूमो न वस्तुभूतः) येन अवस्तुभूतेन शशविषाणेन कूर्मरोम्णा वा वह्निशून्येन सह तस्य धर्मविरोधः स्यात् ? तथा च अवस्तुभूतस्यैव धूमस्य अवस्तुनि निरग्निके शशविषाणे कूर्मरोम्णि वा गतत्वेन मया नैयायिकेन व्यभिचारस्य उक्तत्वात् क्व विरोधः? असत्येव असतो व त्तित्वात्। असतः सति व त्तित्वे विरोधः किं वा सतः असति व त्तित्वे वा विरोधः? न तु सति सतो व त्तित्वे असतः असति व त्तित्वे वा विरोधो भवति।

ननु पर्वतो वह्निमान्, धूमाद्, इत्यत्र हेतुत्वेन उपात्तो धूमो भवतु कूर्मरोम्णि शशविषाणे वा काल्पनिकत्वेन अवस्तुभूतः। महानसादौ तु अकाल्पनिकत्वेन स वस्तुभूत एव। स च अवस्तुनि कूर्मरोम्णि शशविषाणे च न वर्तते इति साध्याभाववद्व त्तित्वाभावेन वह्निमान् धूमाद् इत्यत्र न व्यभिचार इति चेत्? न। जलह्रदादौ निर्धूमत्वस्य वस्तुत्वेन तस्य अलीके निर्वह्निके कूर्मरोमादौ अव त्तित्वात्। तदुक्तं **कल्पलतायाम्**। ''तर्हि निर्धूमत्वमपि कूर्मरोम्णि कथं वर्तताम् ? ह्रदादौ तस्य वस्तुत्वात्। तथा च निरग्निके अलीके (कूर्मरोमादौ) न धूमवत्त्वं नापि निर्धूमत्वमिति महान् विरोध इत्याह – **निधूर्मत्वमपि क्वचिद् (ह्रदादौ) वस्तुभूतमिति।**'' तेनापि (निर्धूमत्वेनापि) विरोध एव। **तस्मात् यथा काल्पनिकी विपत्तिर्न दोषाय, तथा काल्पनिकी संपत्तिर्न गुणायेति व्यतिरेकभङ्गः** = व्यतिरेकव्याप्तिग्रहभङ्ग इत्यर्थः। तथा च त्वन्मते सत्त्वक्षणिकत्वयोर्न अन्वय–व्यतिरेक– ग्रह इति भावः।

अस्तु तर्हि ध्रुवभावित्वेन विनाशस्याहेतुकत्वे सिद्धे क्षणभङ्गः, न, विकल्पानुपपत्तेः। तद्धि तादात्म्यं वा, निरुपाख्यत्वं वा, तत्कार्यत्वं वा, व्यापकत्वं वा, अभावत्वमेव वेति। न पूर्वः, निषेध्यनिषेधयोरेकत्वानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा विश्वस्य वैश्वरूप्यानुपपत्तेः।

ननु कालान्तरे र्थक्रियां प्रत्यशक्तिरेवास्य नास्तिता। सा च कालान्तरे समर्थेतरस्वभावत्वमेवेति चेत्? नन्वयमेव क्षणभङ्गस्तथा चासिद्धमसिद्धेन साधयतः कस्ते प्रतिमल्लः।

तथा च "ननु काल्पनिकरूपसंपत्तिरेव अवस्तु अनुमानाङ्गम् इति"। यदुक्तं तत् खण्डितम्। **ध्रुवभावित्वे** तु वक्ष्याम इति यदुक्तं तत्राह – **अस्त्विति**। विनाशस्य ध्रुवभावित्वेन अहेतुकत्वसिद्धेः अस्तु क्षणभङ्गः। तथा च यत् सत् तत् क्षणिकमिति सत्त्व–क्षणिकत्वयोर्व्याप्तिः सेत्स्यति। ध्रुवम् = अवश्यंभावो स्यास्तीति ध्रुवभावी विनाशः। भावस्य उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशः। स एव क्षणभङ्गः। विनाशे अहेतुकत्व च तदुत्पत्त्युत्तरभावि हेत्वनपेक्षत्वम्। तथा च यो यस्य ध्रुवभावी स तदुत्पत्त्युत्तरभावि–हेत्वनपेक्षः। यथा पूर्वस्य बीजक्षणस्य उत्तरक्षणः; यथा वा कर्मणो विभागः। ध्रुवभावी च प्रतियोगिनो विनाश इति। एव चोत्पत्तिमतां क्षणिकत्वसिद्धेः नित्यत्वेन परैरभ्युपगतानां परमाणूनाम् अनित्येषु सिद्धव्याप्तिकेन सत्वेन विनाशित्वं क्षणिकत्वं वा साधयिष्यते। परमाण्वादयः विनाशिनः क्षणिका वा, सत्त्वात्, यथा घटादयः – इत्याशयेन आशङ्कते – **अस्तु तर्हीति**। तन्न युक्तम्, विकल्पानुपपत्तेः। विकल्पस्य प्रकृतविचारौपयिक–संशयस्य अनुपपत्तेः।

यद्वा विकल्पानां = विविधकल्पानां त्वदभिमतानाम् अनुपपत्तेः। यद्वा विकल्पे क्रियमाणे त्वदभिमतपक्षानुपपत्तेः। **तद्धि** = विनाशस्य ध्रुवभावित्वं हि तादात्म्यं वा निरूपाख्यत्वं वा तत्कार्यत्वं वा व्यापकत्वं वा अभावत्वमेव वेति? यद्यपि एते विकल्पाः ध्रुवभावित्वस्य न भवितुमर्हन्ति तथापि तात्पर्यानुसारेण कथचिद् विनाशस्य अहेतुकत्व–प्रयोजकाः द्रष्टव्याः। भावानां विनाशः अहेतुकः, ध्रूवभावित्वात्, यद् यस्य ध्रुवभावि तत्तदहेतुकम्। **तादात्म्यं वेति**। विनाशस्य प्रतियोगि–तादात्म्यमित्यर्थः। **निरुपाख्यत्वमिति** अलीकत्वमित्यर्थः। **तत्कार्यत्वमिति**। प्रतियोगिकार्यत्वम् इत्यर्थः। **व्यापकत्वं वेति** प्रतियोगिव्यापकत्वं वेत्यर्थः।

विनाशस्य ध्रुवभावित्वं विनाशस्य प्रतियोगि–तादात्म्यमिति पूर्वविकल्पं खण्डयति – **न पूर्व इति**। तत्र हेतुमाह – निषेध्यानिषेधयोः घटादि–घटाद्यभावयोः एकत्वानुपपत्तेः = तादात्म्यानुपपत्तेः। न हि घट एव घटाभाव इति कस्यचित् जनस्य अनुभवो व्यवहारो वा भवति, येन तयोः तादात्म्यं स्यात्।

ननु परीक्षकाणां तावत् तदुभयम् (घट–घटाभावयोः तादात्म्यानुभवो व्यवहारो वा इत्युभयम्) अस्तीत्यत आह – **उपपत्तौ वेति**। प्रतियोगि– तदभावयोः तादात्म्यस्य उपपत्तौ = कथचित्सिद्धौ वा विश्वस्य = संसारस्य वैश्वरूप्यस्य = वैचित्र्यस्य अनुपपत्तेः। सर्वेषां घटपटादीनाम् अभावैकस्वभावत्वेन वैचित्र्यानुपपत्तिः। यद्वा घट–घटाभावयोः विरोधिनोरपि तादात्म्ये सर्वेषां तादात्म्यापत्त्या गवाश्वादीनामपि

तादात्म्यापत्तेरित्यर्थः।

ननु कालान्तरे समर्थेतरस्वभावो भाव एव विनाश इति नोक्तदोष इत्याशङ्कते – **न्निति**। अथवा प्रकारान्तरेण विनाशस्य प्रतियोगितादात्म्यं शङ्कते – **न्निति**। स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणे भावः अर्थक्रियां प्रति असमर्थ इत्यशक्तिरेव तदातनी नास्तिता। तथा च समर्थेतरस्वभावो भाव एव नास्तिता। सैव च नाश इत्यर्थः। प्रथमक्षणे सामर्थ्यम्, अग्रिमक्षणे च असामर्थ्यमिति विरुद्धधर्माध्यासेन घटादिभावानां भेद एव तव विवक्षितः। तथा च क्षणभङ्ग एव अनया वचनभङ्ग्या त्वया बौद्धेन उच्यते। स च भेदः पूर्वोक्तसामर्थ्यासामर्थ्यप्रयोजकप्रसङ्ग– तद्विपर्ययाधीनः (आपाद्यापादकभावाद्यधीनः)। तौ च प्रसङ्ग–तद्विपर्ययौ दूषितावेव इत्यत आह – **नन्वयमेवेति**। ननु अयमेव = स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणो भावः अर्थक्रियां प्रति असमर्थ इत्यशक्तिरिति समर्थेतरस्वभाव एव क्षणभङ्गः। तथा च **असिद्धम्** = समर्थेतरस्वभावम्, **असिद्धेन** = क्षणभङ्गेन साधयतः तव कः **प्रतिमल्लः** = कः पुरुषार्थः? सहकारिसमवधान–असमवधानाभ्यां एकमेव बीजम् अङ्कुरादिकार्यं करोति न करोति चेति भेदासिद्ध्या क्षणभङ्गासिद्धिरिति पूर्वोक्तमेव अनुसन्धेयम्।

अपि च देशान्तरकालान्तरानुषङ्गिण्यस्य नास्तिता यद्ययमेव? नूनमनक्षरमिदमुक्तं यदयमेव देशान्तरकालान्तरानुषङ्गीति। यदि वा स्वदेश-कालवत् कालान्तरदेशान्तरयोरपि नास्तितानुषङ्गे स्तित्वप्रसङ्गः। अशक्तेः कथमस्तु शक्तेः सत्तालक्षणत्वादिति चेत्? अथ कालान्तरकार्यं प्रति कालान्तरे शक्तिरसत्त्वम्।

आद्ये स्वकाले प्यसत्त्वप्रसङ्गः, तदानीमपि तस्य ताद्रूप्यात्। कालान्तरकार्यं प्रत्येवमेतदिति चेत्? किमयं मन्त्रपाठः, नहि यो यत्राशक्तः स तदपेक्षया नास्तीति व्यवह्रियते। नहि रासभापेक्षया धूमो जगति नास्ति, तत् कस्य हेतोः, नह्यशक्तस्य स्वरूपं निवर्तत इति।

द्वितीये तु यदि कालान्तराधारा शक्तिः, कथं तदात्मिका। तदाधारा चेत् तदैवासत्त्वप्रसङ्गः, कालान्तरे तु विपर्ययः। तस्मात्

विधिरात्मा स्य भावस्य निषेधस्तु ततः परः।
सो पि चात्मेति कः प्रेक्षः श ण्वन्नपि न लज्जते।।

यदि च घटनास्तिता घटात्मिका देशान्तरकालान्तरयोः घटशून्यदेशकालयोः अनुवर्तते तदा तद्रूपतया = घट– नास्तितारूपतया घटस्य एव अनुव त्तिः। अथ च तत्र नानुवर्तते = घट– नास्तिता नानुवर्तते तदा स्वरूपत एव घटानुव त्तिरिति घटादेः क्षणिकतां साधयितुम् उद्यतस्य बौद्धस्य भावानां नित्यत्वं विभुत्वं च पर्यवसितम्

इत्युभयतः पाशा रज्जुरित्याह – **अपि चेति**। अपि च भावस्य देशान्तर–कालान्तर–संबन्धिनी नास्तिता यदि भाव एव, तदा नूनम् = निश्चयेन भावानाम् अनक्षरम् = अनित्यत्वम् उक्तम्। यदयमेव = यस्मात् भाव एव देशान्तर–कालान्तर–संबन्धीति = घटादिभाव एव घटादिशून्ये देशे काले च वर्तते। यदि वा स्वदेशकालवत् = घटादिभावदेशकालवत् देशान्तर–कालान्तरयोरपि = घटादिभावशून्यदेशे काले चापि नास्तितायाः घटादिभाव–नास्तितायाः अननुषङ्गे = असंबन्धे अस्तित्वप्रसङ्गः = घटादिभावशून्ये देशे काले च घटादिभावस्य अस्तित्वप्रसङ्गः। घटादिशून्ये देशे च घटादेरस्तित्वप्रसङ्गः।

ननु देशान्तरे भावशून्ये कालान्तरे वा भावस्य अशक्तिं ब्रूमः। तथा च तदुभयत्र घटादिभावशून्ये देशे काले च कथं घटादिभावस्य सत्त्वमापद्यते इति शङ्कते **अशक्तेरिति।** घटादिभावस्य अशक्तेः घटादिभावशून्ये देशे काले च स्थितिसामर्थ्यविरहात् कथं घटादिभावस्य तत्र स्थितिः? शक्तेः सत्तालक्षणत्वात् = तद्देश–काल–स्थितिसामर्थ्यस्य सत्त्वरूपत्वात्। तथा च घटादिभावस्य घटादिशून्यदेशे काले च सामर्थ्यविरहेण नहि तत्र तत्र घटादेरस्तित्वव्यवहार इति चेत्? विकल्पासहत्वेन तस्य कथयितुम् अशक्यत्वात्।

तथाहि – अथ कालान्तरकार्यं प्रति स्वकाले अशक्तिः असत्त्वम् किं वा स्वकार्यमपि प्रति कालान्तरे अशक्तिरसत्त्वम्? कालान्तरे घटादिशून्यकाले यत् कार्यं घटस्य नास्तिता–रूपम् प्रतिस्वकाले = घटस्य स्वस्थितिकाले अशक्तिः = असत्त्वम् (अव त्तित्वम्) इति प्रथमविकल्पे स्वकाले पि घटस्य (घटादेः) स्वस्थितिकाले पि असत्वप्रसङ्गः। अथवा कालान्तरकार्यं प्रति अशक्तिः = असत्त्वमिति चेद् ब्रूषे, तदा बीजादेः स्वकाले पि (सहकारिसमवधान–सहित–क्षेत्रपतित–बीजकाले पि) कालान्तर कार्यं प्रति अशक्तिरेव। कालान्तरभावि–अङ्कुरादिकं प्रति असामर्थ्यमेव न हीदानीन्तनं बीजं कालान्तरभावि अङ्कुरादिकार्यं करोति इति स्वकाले पि बीजादेरसत्त्वप्रसङ्गः इति प्रथमविकल्पार्थः। तदानीमपि = स्वकाले पि तस्य = बीजादेः ताद्रूप्यात् = कालान्तरभावि कार्यं प्रति अशक्तत्वात्। कालान्तरकार्यं प्रति एवं = स्वकाले पि कालान्तरकार्यं प्रति असदेव बीजादि इति चेत्? **किमयं मन्त्रपाठः** = स्वकाले सदपि किञ्चिदपेक्षया असदिति विरोधपरिहारो मन्त्रपाठं विना नोपपद्यते इति भावः। अर्थात् इदं कथनं न युक्तमिति बोध्यम्। व्यवहारविरोधमाह – **नहि यो यत्र अशक्तः स तदपेक्षया नास्तीति व्यवह्रियते इति**। व्यवहारविरोधमेव सोपपत्तिकमाह – न हि रासभापेक्षया धूमो जगति नास्ति, तत् कस्य हेतोः ? न हि अशक्तस्य स्वरूपं निवर्तते इति।

स्वकार्यमपि प्रतिकालान्तरे पि अशक्तिः असत्त्वमिति द्वितीयं पक्षं दूषयति – **द्वितीये तु यदीति**। यदि कालान्तराधारा शक्तिः कथं तदात्मिका = कथं

प्रतियोग्यात्मिका? प्रतियोगिनः प्रथमक्षणमात्रव त्तितया द्वितीयक्षणे असत्त्वात्। तदा–धारा चेत् = यदि कालान्तरा अशक्तिः = प्रतियोगिशून्य–कालाधारा अशक्तिः तदा–धारा = प्रतियोगिकालाधारा अशक्तिः चेत् = तदा तदैव असत्त्वप्रसङ्गः = प्रतियोग्या–धारकाले एव प्रतियोगिनः असत्त्वप्रसङ्गः। कालान्तरे तु विपर्ययः स्यात् = प्रतियोगिशून्ये काले स्वकालातिरिक्ते काले भावस्य घटादेः सत्त्वप्रसङ्गः इति भावानां स्थैर्यमेव आवर्तते इति भावः।

प्रथमविकल्पभङ्गम् उपसंहरित – **तस्मादिति**। अतो स्य भावस्य घटादेः विधिरात्मा = विधिस्वरूपम् ततः परं = विध्यनन्तरं निषेधस्तु = नाशस्तु। सो पि चात्मेति = प्रतियोगिनो नाशो पि प्रतियोगिस्वरूपः प्रतियोग्यभिन्नः **प्रेक्षः** = प्रकृष्टा ईक्षा प्रेक्षा, प्रेक्षया व्यवहरतीति प्रेक्षः = बुद्धिमान् सुयोग्यः श ण्वन्नपि न लज्जते। स्वभावाभावयोः घटादिभावस्य सत्त्वासत्त्वयोः विधिनिषेधयोः विधायक–निषेधक–प्रमाणगोचरयोः तादात्म्यम् = विधिनिषेधयोरैक्यम् सर्वथा नुपपन्नमित्यर्थः। अतो घटादिभावानां पूर्वं स्थितिः तदनन्तरं निषेध इति मन्तव्यम्। तथा च घटादिभावानां स्थैर्यमेव सिद्ध्यति न क्षणिकत्वमिति सिद्धम्।

अस्तु तर्हि भावस्वरूपातिरिक्ता निव त्तिर्नास्तीति वाक्यस्य सोपाख्येति शेषः। नन्वयमपि क्षणभङ्गस्योद्गारः, स च कफोणिगुडायितो वर्त्तते। भवतु वा निव त्तिरसमर्था तथाप्यहेतुकत्वे तस्याः किमायातम्। तुच्छस्य कीद शं जन्मेति चेत्? याद शः कालदेशनियमः। सो पि तस्य कीद श इति चेदेवं तर्हि न घटनिव त्तिः क्वापि कदापि सर्वत्रैव सदैव वेति स्यात्।

भवतु प्रथम एवेति चेत्? सो यं भावनास्तिता स्वरूपप्रतिषेधो वा भावप्रतिषेधेन नास्तितास्वरूपनिरुक्तिर्वेति। आद्ये भावस्यैव सदातनत्वप्रसङ्गः, द्वितीये तु निव त्तेरेवेति।

[अनिर्वचनीयनिव त्तिवादखण्डनम्]

निरुपाख्यत्वं वेति द्वितीयं विकल्पम् उत्थाप्य निराकरोति – **अस्तु तर्हीति**। **भावस्वरूपातिरिक्ता निव त्तिर्नास्तीति** = घटादिभावातिरिक्ता निव त्तिः = नास्तिता घटाद्यभावरूपा नास्तीति **धर्मकीर्ति**वाक्यं **सोपाख्येति शेषं** दत्त्वा **प्रज्ञाकरेण** व्याख्यातम्। तेन निरूपाख्या निव त्तिः = घटादिभावानां नास्तिता इत्यर्थः पर्यवस्यति इत्यभिप्रायः। एतद्दूषयति – **नन्वयमपीति**। ननु निश्चयेन, अयमपि = भावस्वरूपातिरिक्ता निव त्तिर्नास्तीति वाक्यस्य सोपाख्येति शेषो पि क्षणभङ्गस्य उद्गारः = अतिभोजनोत्तरं यदुदानवायुः = *ढेकार*–इति प्रसिद्धः। स च क्षणभङ्गस्य उद्गारः, निरुपाख्या चेत् निव त्तिः अहेतुका तदा उत्पन्न– मात्रस्यैव घटादिभावस्य सा निरुपाख्या = निव त्तिर्भवेत् इति क्षणभङ्गसिद्धिरिति तवाभिप्रायः। स च क्षणभङ्गः कफोणिगुडायितो वर्तते।

कफोणिः = कूर्परः तत्पर्यन्तं गतस्य गुडस्य यथा लेहनम् आस्वादनम् अनुपपन्नम्, न भवतीति यावत्; तथा बहुधा निरस्तस्य क्षणभङ्गस्य पुनरवष्टम्भः = उत्थानम् अनुपपन्नः = न युज्यते। स च क्षणभङ्गः निव त्तेः सोपाख्यत्वसाधनात् पूर्वमेव निरस्त इति भावः। अभ्युपगम्य निराकरोति – **भवतु वेति**। भवतु वा भावानां निव त्तिः असमर्था निरुपाख्या। तथापि = भावानां निव त्तेः निरुपाख्यत्वे पि तस्याः = निरुपाख्यायाः अहेतुकत्वे किमायातम् = किं त्वया लब्धम् ? निव त्तेः नास्तितायाः अलीकत्वं ध्रुवभावित्वम्। तेन तस्या अहेतुकत्वसाधनम् अनुपपन्नम्, न युज्यते इति भावः। निव त्तेः = नास्तितायाः (निषेधस्य) तुच्छत्वादेव अहेतुकत्वमिति शङ्कते – **तुच्छस्य** अलीकस्य शशविषाणादेः **कीद शं जन्म** = केन कारणेन शशविषाणादि–रुत्पद्यते ? अर्थात् शशविषाणादेरुत्पादे न किमपि कारणं वर्तते। अतो निष्कारणक एव तदुत्पादः। तथा च निरुपाख्ये अलीके अहेतुकत्वम् अस्त्येवेति चेत्। यथा वस्तुनो घटादेर्जन्म देश कालादि–नियमगम्यं तथा तुच्छस्यापि जन्म नियमगम्यमिति परिहरति – **याद शः कालदेशनियमो** घटादिभावानां भवति तथैव घटाद्यभावानामपि कालदेशनियम इति। निषेधस्य अलीकस्य न अहेतुकत्वं किन्तु सहेतुकत्वमेवेति भावः।

सो पि = कालदेशनियमो पि तस्य = तुच्छस्य कीद शः ? अत्र को नियामकः? अर्थात् अहेतुकः इति चेत् ? एवं तर्हि घटादिभावस्य निव त्तेः निर्हेतुकत्वे स्वीकृते घटनिव त्तिः न क्वापि (न कस्मिन् देशे) न कदापि (न कस्मिन् काले) स्यात्; किन्तु सर्वत्रैव = सर्वस्मिन् देशे सर्वदैव = सर्वस्मिन् काले एव स्यात्। अहेतुकस्य अपेक्षणीयत्वाभावात्। तथा च घटादिभावानां क्षणिकत्वसिद्ध्यर्थं विनाशस्य अहेतुकत्वं ध्रुवभावित्वेन अभिमतं नित्यत्वमेव साधयेद् इति शुद्धा बुद्धिरिति भावः।

एवं भावानां क्षणिकत्वं साधयितुं प्रव त्तेन त्वया तेषां नित्यत्वं साधितमिति अवधारितमपि नावधारयसि इति न कथायोग्यस्त्वमिति भावः। एतदेव विभावयितुं शङ्कते – **भवतु प्रथम एवेति।** न क्वापि भावनिव त्तिरिति पक्ष एवेति चेत् ? सो यम् = घटनिव त्तिः क्वापि नास्तीति पक्षः, घटादिभावनास्तिता स्वरूपप्रतिषेधो वा भावप्रति–षेधेन निव त्तिः स्वरूपनिरुक्तिर्वेति। भावस्वरूपनिषेधेन नास्तितास्वरूपनिरुक्तिर्वेति पाठान्तरम्। **आद्ये** = घटनिव त्तिः क्वापि नास्तीति पक्षे, घटादि भावस्यैव सदातनत्व–प्रसङ्गः = नित्यत्वप्रसङ्गः। द्वितीये तु = भावप्रतिषेधेन निव त्तिस्वरूपनिरुक्तिर्वेति पक्षे तु निव त्तेरेव सदातनत्वप्रसङ्गः = नित्यत्वप्रसङ्गः।

अस्तु तर्हि तत्कार्यत्वमेव ध्रुवभावित्वम्। न, तस्यापि कार्य इति पक्षे विरोधात्, तस्यैव कार्य इत्यसिद्धेः। यत्किंचिदुत्पन्नमात्रस्य कार्यं स एव तस्य नाश इति चेत्? तर्हि यस्याः सामग्र्या यत् कार्यं तत् तदरिक्तानपेक्षमिति

साधनार्थः। तमिमं को नाम नानुमन्यते। कार्यमेव विनाश इति तु केनानुरोधेन व्यवहर्तव्यं किं तद्विरहवत्त्वात् कार्यस्य, किं वा तद्विरहरूपत्वात्।

न तावत् पूर्वः, सहकारिष्वपि तथाप्रसङ्गात्, विरहस्वरूपानिरुक्तेश्च। न द्वितीयः, स हि कार्यकाले कारणस्य योग्यानुपलम्भनियमाद्वा भवेत् व्यवहारानुरोधाद्वा अतिरिक्तविनाशे बाधकानुरोधाद्वेति।

[विनाशे प्रतियोगिमात्रकार्यत्वखण्डनम्]

त तीयं तत्कार्यत्वं वेति ध्रुवभावित्वं दूषयितुमाह – **अस्तु तर्हि तत्कार्यत्वमेव ध्रुवभावित्वमिति**। एतद्घटध्वंसः एतद्घटाव्यवहितोत्तरक्षणोत्पत्तिकः, एतद्घटकार्यत्वात्, एतद्घटरूपवदिति तावत्तव विवक्षितम्। तदा तत्कार्यत्वादित्यस्य पूर्वोक्तहेतुरूपस्य, तस्यापि कार्यत्वाद् इत्यर्थे अपि शब्देन कारणान्तरसमुच्चयश्चेत् तव विवक्षितः तदा तत्– (कारण)–विलम्बेन ध्वंसविलम्बेन तद्–(तद्घट)–उत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षण–उत्पत्तिकत्वं तद्घटादिभावध्वंसे विरुद्धम्। तन्मात्रकार्यत्वं च हेतुः स्वरूपासिद्धः। पक्षे हेत्वभावः स्वरूपासिद्धः। यद्वा एतद्घटध्वंसः एतद्घटमात्रहेतुकः, तत्कार्यत्वाद्, इत्यत्र विकल्पतः = तस्यापि कार्य इति पक्षे विरोधात्, तस्यैव कार्य इति पक्षे असिद्धेरिति विकल्पतः। विरोधासिद्धी द्रष्टव्ये। **असिद्धेरिति**। एतद्घटध्वंसः एतद्घटहेतुकः, एतद्घटमात्रहेतुकत्वाद् इत्यत्र हेतोः पक्षाव त्तित्वेन स्वरूपासिद्धेः। घटनाशं प्रति मुद्गरादेरपि कारणत्वदर्शनेन एतद्घटध्वंसे एतद्घटमात्रहेतुकत्वस्याव त्तेः। तस्यापि कार्य इति विरोधस्य पूर्वप्रदर्शितत्वात्।

ननु तस्यापि कार्यः, तस्यैव कार्य इति समुच्चयो न विवक्षितः। न वा नियमो विवक्षितः। किन्तूत्पन्नमात्रस्य घटादिभावस्य यत् कार्यं (घटादि–भावध्वंसरूपं कार्यम्) **तदेव** = तद्ध्वंसरूपकार्यमेव **तस्य** = घटस्य विनाश इति मम मतम्। तदतिरिक्ते प्रतियोग्यतिरिक्ते ध्वंसे मानाभावाद् इति शङ्कते – **यत्कि चिदिति**। कि चिदुत्पन्न–मात्रस्य एतद्घटमात्रस्य यत् कार्यम् = एतद्घटध्वंसरूपं कार्यम् स एव = एतद्घटमात्रध्वंस एव तस्य = एतद्घटस्य नाशः इति चेत् ? तर्हि यस्याः सामग्र्याः यत् कार्यम् तत् = कार्यम् तदतिरिक्तानपेक्षमिति साधनार्थः = तत्सामग्र्यतिरिक्तान–पेक्षमिति हेत्वर्थः। एतद्घटध्वंसः एतद्घटमात्रहेतुकः, एतद्घटमात्रहेतुकत्वाद्, इत्यत्र एतद्घटमात्रहेतुकत्वाद् इत्यस्य हेतोरर्थः। तमिमं कार्यं स्वसामग्र्यतिरिक्तानपेक्षत्वरूपं कः जनः नानुमन्यते, सर्वे जनाः मन्यन्ते। तथा च सिद्धसाधनम्। यदि सामग्र्येकदेशः सामग्रीघटकयत्कि चित्कारणरूपः विवक्षितश्चेत् तथा बाधः। कार्यमात्रस्य सामग्र्येक–देशभिन्न–तद्घटक–कारणान्तरापेक्षितत्वात्। कारणसमुदायरूपा सामग्री। सा च कार्यव्याप्या भवति। न कि चिदेकम् एकस्मात् सामग्र्याः सर्वसंभवः इति तवाभ्युपगमात्। एवमभ्युपगमे अपसिद्धान्तो मा भूद् अत आह – **को नाम नानुमन्यते इति**। कार्यमेव

विनाश इति तु केनानुरोधेन व्यवहर्त्तव्यम् ? कार्यमात्रस्य विनाशित्वाभ्युपगमो मम प्रौढिवादेनेति भावः। कार्यस्य कारणविनाशात्मकत्वव्यवहारबीजं विकल्पयति – **किं तद्विरहवत्त्वात् कार्यस्य, किं वा तद् विरहरूपत्वात् ?** किं कार्यस्य कारणान्योन्याभाववत्त्वात् कारणविरहात्मकत्वम्? किं वा कारणविरहरूपत्वात् कार्यस्य कारणविरहात्मकत्वम् ? इति विकल्पार्थः।

किं तद्विरहवत्त्वात् कार्यस्येति पूर्वविकल्पस्तावत् न भवितुं शक्यते। पटादि–कार्यसहकारिकारणेषु तुरीवेमादिषु अपि तथा प्रसङ्गात् = तन्त्वादिविनाशत्वव्यवहार–प्रसङ्गात्। तन्त्वन्योन्याभाववत्त्वस्य तुरीवेमादिषु सत्त्वात्। विरह–स्वरूपानिरुक्तेश्च। विरहो यदि अभावः, स भवतामलीक इति कथं तद्वत्ता वस्तुनः कार्यस्य सदसतोः संसर्गनिषेधात्। अथाधिकरणस्वरूपो भावः तदा कथं तेनैव तद्वत्ता असाधारण च। असाधरणत्वं तन्मात्रव त्तित्वम्। तद्विरहवत्त्वेन तन्नाशत्वसाधने हेतोः पक्षमात्रव त्तितया सपक्षादिव्याव त्तत्वात्। पक्षसत्व–सपक्षसत्त्व–विपक्षासत्त्वानां हेतोरावश्यकत्वं बोध्यम्। अन्यथा हेत्वाभासत्वापतेः। कि च विरहो ह्यभावः। स च अलीक एवेति तद्वत्ता कार्यस्य स्वलक्षणस्य कथं भवेदिति भावः। यद्वा कारणविरहो यदि ध्वंसरूपकार्यमेव तदा कथं तेनैव (कारणध्वंसेनैव) कारणस्य प्रतियोगिरूप–ध्वंसरूपकार्यवत्ता ? स्वस्मिन् आधाराधेयभावाभावात्। अन्यथा 'घटो घटवान्' इत्यापत्तेः। प्रतियोगिनः अभावो प्रतियोग्यतिरिक्तश्चेत् तदा किमपराद्धं कार्यातिरिक्तेन ध्वंसेनेति भावः।

किं वा कार्यस्य कारणविरहात्मकत्वादिति द्वितीयविकल्पं खण्डयति – **न द्वितीय इति**। स हि = ध्वंसरूपकार्यस्य कारणविरहात्मकत्वमिति द्वितीयपक्षो हि कार्यकाले = प्रतियोगिध्वंसकाले कारणस्य = योग्यानुपलम्भनियमाद् बलवत् (प्रतियोगि–ध्वंसरूप–कार्यस्य कारणविरहात्मकत्वं भवेत्) प्रतियोगिध्वंसरूपकार्यकाले प्रतियोगि–रूपकारणं सर्वथापि नोपलभ्यते इति मूलकारणं कार्यस्य कारणविरहात्मकत्वे बोध्यम्। कार्यमेव कारणविनाश इत्यर्थः। कार्यस्य प्रतियोगिध्वंसस्य कारणविरहात्मकत्वं व्यवहारानुरोधात् वा। प्रतियोगिध्वंसरूपकार्यस्य कारणविरहात्मकत्वम् अतिरिक्तविनाशे बाधकानुरोधाद्वा भवतीति प्रतियोगिध्वंसरूपकार्यातिरिक्तः प्रतियोगिरूपकारणविनाश इत्यर्थः। प्रतियोगिध्वंसरूपकार्यं कारणविरहात्मकं पटरूपकार्यकाले कारणस्य योग्यानुपलम्भनियमादिति प्रथमपक्षो न युक्तः। हि यस्मात् पटरूपकार्यकाले पटस्य हेतवः वेमादय उपलभ्यन्ते। अतः कार्यं कारणाभावरूपं न मन्तव्यम्।

न प्रथमः उपलभ्यन्ते हि पटकाले वेमादयः। न ते त इति चेत्? किमत्र प्रमाणम्। अभेदे पि किं प्रमाणमिति चेत्? मा भूत् तावत् सन्देहस्थितावपि अनुपलब्धिबलालम्बनविलयात्। न द्वितीयः, नहि पटो जात इत्युक्ते तन्तवो नष्टा इति कश्चिद् व्यवहरति। पटस्यानतिरेकात् तन्तुमात्रजन्मनि च

भेदाग्रहादव्यवहार इति चेत्, न। तर्हि व्यवहारबलमपि। विसभागसन्ततौ तावद्व्यवहारबलमस्तीति चेत्, नैतदेवम्।

यदि हि तन्तुमालैव पटनिव त्तिः, कथं तदाश्रयस्तदात्मको वा पटः प्राक्। अन्यैवासाविति चेत्? न तावज्जातिकृतमन्यत्वमुपलभ्यते व्यक्तिकृतं तु नाद्यापि सिद्ध्यति। इत एव तत्सिद्धावितरेतराश्रयत्वम्। तथापि यद्येवं स्यात् कीद श दोष इति चेत्? न कश्चित्। केवलं प्रमाणाभावः व्यवहाराननुरोधश्च। तदसिद्धावपि सिद्ध्यतस्तस्य निमित्तान्तरापेक्षणात्।

ननु पटकाले ये वेमादय उपलभ्यन्ते ते तद्भिन्ना एव = पटकालीन–वेमादिभिन्ना एव वेमादय इति शङ्कते – **न ते त इति**। क्षणभङ्गे सति एवम् = पटकालीनवेमादिभिन्न–वेमादिः स्यात्। स च = क्षणभङ्गश्च अद्यापि न सिद्ध इत्यभिप्रायेणाह – **किमत्र प्रमाणमिति**। पटकालीनवेमादिभिन्नवेमादीत्यत्र किं प्रमाणम् ? ननु ये पटकालीनवेमादयस्त एव इदानीमत्र वर्तन्ते इत्यत्र किं प्रमाणमिति शङ्कते – **अभेदे पि किं प्रमाणमिति चेत्** ? पूर्वकालीना एवैते वेमादय इत्यत्र किं प्रमाणमिति शङ्का। यद्यपि प्रत्यभिज्ञानं तत्र मानं तथापि तदनुपदर्शने पि न क्षतिरित्याशयेनाह – **मा भूदिति**। मा भूत् तावत् तयोरभेदे तत्र प्रमाणम्। सन्देहस्थितावपि = इमे वेमादयः पूर्वकालीना न वेति सन्देहे सति अनुपलब्धि–बलादालम्बनविलयात्। एते वेमादयः कार्यकालीना न वेति सन्देहे पटकांलीना वेमादयः यदि स्युस्तदा उपलम्भेरन् इत्यनिश्चयात् अनुपलब्धिबलालम्बनस्य कर्तुमशक्यत्वात्। कार्यकाले कारणानुपलम्भः सन्दिग्ध इति। तद्बलं तव भङ्गमेवेत्यर्थः। तथा च पटकालीनवेमादिभिन्ना एते वेमादय इति निर्णेतुमशक्यमिति कार्यं कारणाभावरूपमिति त्वया कथयितुं न शक्यते इति भावः।

कार्यस्य कारणविरहवत्त्वे व्यवहारानुरोधाद् वेति द्वितीयविकल्पं खण्डयितुमाह – **न द्वितीय इति**। हि = यस्मात् पटो जात इत्युक्ते तन्तवः पटहेतवो नष्टा इति कश्चिज्जनो न व्यवहरति। अतो व्यवहारानुरोधात् पटस्य कार्यस्य न कारणविरहवत्त्वम् अङ्गीकरणीयम्। ननु तथोत्पन्नानामेव = पटकार्यावरणादि–कुर्वद्रूपाणामेव तन्तूनां पटत्वात् तेषां च सौसाद श्यात् तज्–(तन्तु)–जन्यत्वाग्रहेण न तन्तुविनाशव्यवहार इति शङ्कते – **पटस्य** तन्त्वनतिरेकात् **तन्तुमात्रजन्मनि च भेदाग्रहात्** (पटतन्त्वोः भेदाग्रहात्) **अव्यवहारः** (न तन्तुनाश–व्यवहार) **इति चेत्** ? तर्हि पट इति व्यवहार–बलमपि न स्यात्। पटतन्त्वोर्भेदाग्रहात् पट इति व्यवहारो न स्यात् । पटोत्पन्ने पि तन्तुव्यवहारापत्तिश्च। अथवा अवयवेभ्यो नन्यत्वम् (अभिन्नत्वम्) अवयविन इति पक्षमादाय शङ्कते – **पटस्येति**। पटस्य तन्त्वभिन्नत्वात् तन्तुमात्रजन्मनि च पटे तन्तुभेदाग्रहात् तन्तुजन्यत्वस्य पटे ग्रहेण न तन्तुनाशव्यवहारः। कारणाभाववत्त्वेन

व्यवहर्तुं योग्ये पि पटे तन्त्वात्मके पूर्वतन्तुभेदाग्रहात् न तथा व्यवहारः। पटे न तन्त्वभाववत्त्वव्यवहारः। येन तु परीक्षकेण भेदो ग ह्यते तस्य परीक्षकस्य तथा व्यवहारो स्त्येव (पटे तन्त्वभाववत्त्वव्यवहारो स्त्येव) इति भावः। व्यवहारो हि लौकिक–परीक्षक–साधारणः प्रमाणम्, न तु परीक्षकव्यवहारमात्रं प्रमाणम्। स च लौकिक– परीक्षक–साधारण–व्यवहारः प्रकृते पटे तन्त्वभाववत्त्वे नास्तीत्याह – **न तर्हि व्यवहारबलम्**। पटे तन्त्वाभवस्य व्यवहारो न लौकिक–परीक्षक– साद्यारणो येन तद्बलेन पटे तन्त्वभाववत्त्वं स्यात्। किन्तु परीक्षकस्य विपरीत एव व्यवहारः = पटे न तन्त्वभावत्व–व्यवहारः कथं नात्रेति भावः।

ननु पटे नष्टे तन्तुमालालक्षणं कार्यं यत्र जायते तत्र पटनाशप्रतीतिः पटनाशव्यवहारश्च जायते एवेत्याह – **विसभागेति**। समानाः सद शाः भागाः सान्तानिकाः यस्याः सा सन्ततिः सभागा, विसद शाः सभागाः सान्तानिका यस्याः सन्ततेः सा सन्ततिः विसद शसान्तानिका च विसभागा। काष्ठाङ्गारादिसन्ततौ अङ्गारादिजन्मनि काष्ठादिविनाशव्यवहारात् कार्यस्य विनाशस्थितौ सभागसन्ततावपि कार्यमेव विनाशत्वेन कल्प्यते बाधकाभावादित्यर्थ इति चेत् ? एकत्र बाधकबलात् अतिरिक्ते (कार्या–तिरिक्ते) विनाशे सिद्धे विसभागसन्ताने पि = विसद शसन्ताने सद शसन्ताने चापि तथैव = विनाशस्य कार्यातिरिक्तत्वमेव कल्प्यते इत्याशयवान् बाधकमाह – **यदि हीति**। नैतदेवम्। यदि हि तन्तुमालैव (तन्तुसमुदाय एव) पटनिव त्तिः (पटाभावः) तर्हि प्राक् पटः तदाश्रयः (पटध्वंसाश्रयः) तदात्मको (पटो पि तन्तुमालात्मको) वा स्यात् ? तन्तुमालायां (पटसमुदाये) पटस्तावत् वर्तते इत्यनुभवसिद्धम्। सा चेत् तन्तुमाला पटनिव त्तिः स्यात् तदा स्वध्वंसे एव पटो वर्तते इत्यायातमिति स्वमते। परमते त्वाह – **तदात्मको वेति**। पटो पि तन्तुमाला, पटनिव त्तिरपि तन्तुमाला। तथा च प्रतियोग्यात्मिकैव निव त्तिः स्यादिति विरोध इत्यर्थः।

ननु पूर्वतन्तुमालाया अन्यैव उत्तरतन्तुमाला। तथा च कथमयं विरोध इति शङ्कते – **अन्यैव पूर्वतन्तुमालाभिन्ना एव असौ** = उत्तरमाला इति चेत् ? तद्विजातीया वा तद्भिन्ना वा ? नाद्यः। तथा अननुभवात्। नान्त्यः। क्षणभङ्गासिद्धेः इति परिहरति – **न तावदिति**। न तावज्जातिकृतम् अन्यत्वमुपलभ्यते। यथा घटे पटान्यत्वं जातिकृतम्; घटत्वपटत्वयोर्भेदात्। तथा तन्तुमालयोर्न भेदः। उभयोरेकजाति–मत्त्वात्। यद्यपि जातिकृतान्यत्वं व्यक्तिकृतान्यत्वे सत्येव भवति न ह्येकस्यां व्यक्तौ क्रमेण जातिभेदः संभवतीति प थक्विकल्पानुपपत्तिः। न तावज्जातिकृतम् अन्यत्वम् उपलभ्यते, व्यक्तिकृतं तु नाद्यापि सिद्ध्यतीति विकल्पानुपपत्तिः। तथापि उपपत्तिसौकर्यात् एतदुक्तम् – **इत एवेति**। उत्तरतन्तुमाला = उत्तरतन्तुसमुदायः पूर्वतन्तुमालातः भेदे एव सति तन्निव त्तिरूपा = पूर्वतन्तुमाला– निव त्तिरूपा भवति नान्यथेति तत्सिद्धिः उत्तरमालासिद्धिरित्यर्थः। **इत एव तत्सिद्धौ** इत्यस्यार्थः। **इतरेतराश्रयत्वमिति**।

पूर्वोक्तं तु न युक्तम्, इतरेतराश्रयत्वात्। तथाहि – पूर्वापरतन्तुमालयोर्भेदे सति उत्तरमालायाः पूर्वतन्तुमालानिव त्तिरूपत्वम्। उत्तरतन्तुमालायाः पूर्वतन्तुमालानिव त्तिरूपत्वे सति पूर्वोत्तरतन्तुमालयोर्भेद इत्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः। शङ्कते – **तथापि यद्येवं स्यात् कीद शो दोष इति चेत्**? यदि उत्तरतन्तुमाला पूर्वतन्तुमालानिव त्तिः स्यात् तदा को दोषः ? निव त्त्यन्तरस्वीकारे गौरवमिति चेत् ? न कश्चिद् दोषः। केवलं प्रमाणाभावः। उत्तरतन्तुमालायाः पूर्वतन्तुमालानिव त्तिरूपत्वे तद्भिन्नत्वे च प्रमाणाभाव इत्यर्थः। न वा ईद शो व्यवहारः = उत्तरतन्तुमाला पूर्वतन्तुमालानिव त्तिरूपेति व्यवहारो पि न भवतीत्याह – **व्यवहाराननुरोधश्चेति**। **तदसिद्धावपीति**। यत्र आश्रयनाशादेव = तन्तुनाशादेव पटनाशः, तत्र तन्तुमालाया असिद्धावपि पटनाशव्यवहारो निमित्तान्तरात् पटनाश(पटध्वंस)रूपादेव वक्तव्य इत्यर्थः। तन्तुमालाया निव त्तिरूपत्वासिद्धावपि इत्यन्ये।

अपि च तन्तुविनाशः सामान्यतस्तन्तुविरहस्वभावो वा स्यात्, तद्विपरीतो वा। आद्ये कथं तन्त्वन्तरम्। न हि सामान्यतो नीलमनीलविरुद्धस्वभाव-मनीलान्तरम्। द्वितीये कथं तद्विरोधी। न हि नीलं सामान्यतो पि नीलान्तरविरोधि। विशेषमात्र एवायं विरोध इति चेत्? तत् किं सामान्यतो नुभ-यस्वभाव एव विनाशः ओमिति ब्रुवतो न्यतरमुपादाय विनाशव्यवहारानुपपत्तिः। सामान्यस्यालीकत्वात्। तत्र विरोधो पि किं करिष्यतीति चेत्? विलीनमिदानी विरुद्धधर्माध्यासेन भेदप्रत्याशया, तस्य तदाश्रयत्वात्।

सभागसन्ताने कार्यस्य विनाशत्वे बाधकान्तर माह – **अपि चेति**। अपि च तन्तुविनाशः सामान्यतः तन्तुविरहस्वभावो वा स्यात्, तद्विपरीतो वा ? आद्ये कथं तन्त्वन्तरम्? नहि सामान्यतो नीलम् नीलविरुद्धस्वभावनीलान्तरम्। तन्तुरूपो विनाशः तन्त्वन्तरस्य तन्तुत्वावच्छिन्नस्यैव यदि विरोधी, तदा तन्त्वन्तरं कथं भवेत् ? न हि सामान्यत एव अनीलविरुद्धस्वभावं नीलम् अनीलं भवतीत्यर्थः। **द्वितीय इति**। **तद्विपरीतो वेति द्वितीये**। कथं तद्विरोधी। न हि नीलं सामान्यतो पि नीलान्तर–विरोधि। तन्तुः सामान्यतो न तद्विरोधी = न तन्त्वतरविरोधी (न तन्तुविरोधी) यदि तदा तन्तुः सामान्यतः तन्तुविरोधी कथं भवेत् ? न हि नीलं नीलत्वेन कदाचिन्नील–विरोधि भवतीत्यर्थः। ननु न तन्तुत्वेनैव तन्तोस्तन्तुविरोधित्वं ब्रूमः; किन्तु पूर्वतन्तोरुत्तरतन्तुर्विरोधी इत्याचक्ष्महे इति। न विरोध इति शङ्कते – **विशेष एवायं विरोध इति चेत्** ? विशेष एव इत्यत्र विशेषे इति सप्तमी। विशेषाश्रितो विरोधो न सामान्याश्रित इत्यर्थः। तत् किं सामान्यतो नुभयस्वभावो विनाशः? **अनुभयेति**। सामान्यतो न विरोधी नापि अविरोधी इत्यर्थः। **नीलस्येति शेषः**। सामान्यतः विरोधित्वे = तन्तुविरोधित्वे तन्तुरेव न स्यात्। अविरोधित्वे = तन्त्वविरोधित्वे तन्तुः तन्तुनिव त्तिरूपो न स्यादिति भावः। ननु भवतु तन्तुः सामान्यतः अनुभयस्वभावः। किं

नश्छिन्नम् ? विशेषत एव विरोधात् = उत्तरतन्तुः पूर्वतन्तोः विरोधीति कथनात् तन्तोः निव त्तिरूपता भवेदित्यत आह – **ओमिति**। ओमिति ब्रुवतो न्यतरमुपादाय विनाश–व्यवहारनुपपत्तिः। तत्स्वीकारे विरोधमादाय तन्तुव्यवहारानुपपत्तिरिति अविरोधपक्षः आश्रयणीयः। तथा च विनाशव्यवहारानुपपत्तिः इत्यर्थः। ननु सामान्यतो विरोधा–विरोधचिन्ता तदा भवेत् यदि सामान्यं भवेत्। तदेव तु नास्तीत्याह – **सामान्यस्या-लीकत्वात्** (अप्रसिद्धत्वात् अभावात्) तत्र विरोधो पि किं करिष्यतीति चेत् ? एवं सति (सामान्यस्याभावे सति) गोत्वाश्वत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासाभावाद् गवाश्वादीनाम् अभेद एव आपद्येत इत्याह – **विलीनमिति**। विलीनम् = नष्टम्। इदानीं सामान्यस्य अभावस्वीकारे विरुद्धधर्माध्यासेन भेदप्रत्याशया = गवाश्वभेदप्रत्याशया गवाश्वौ परस्परभिन्नौ इति भेदप्रत्याशा गता गोत्वाश्वत्वयोरलीकत्वेन विरोधाभावात् परस्परभेदाभावात्। तस्य = भेदस्य, तदाश्रयत्वात् तदधीनत्वात् विरुद्धसामान्य–धर्माधीनत्वादित्यर्थः।

नन्वतिरिक्ताभावपक्षे यथा पटः पटान्तराभाववांश्च तज्जातीयश्च, अभावो वा पटविरोधी पटान्तरसहव त्तिश्चेति न कश्चिद्विरोधः। तथा कार्याभावपक्षे पि भविष्यतीति। नैतदेवं, प्रतियोगिना हि तादात्म्यसंसर्गैक-जातीयत्वानि नेष्यन्ते, अप्रतियोगित्वप्रसङ्गात्, भिन्नकालत्वात्, सामान्यतो विरुद्धधर्मसंसर्गाच्च। अप्रतियोगिना तु संसर्गे को दोषः। न हि भेदविजातीय-तैककालताः संसर्गविरोधिन्यः, तादात्म्यं हि संसर्गित्वे विरुद्धं विरोधित्वं च, ते नेष्येते एव। नापि बाधकानुरोधस्तदभावात्।

ननु यथा भवताम् अननुगता एव तत्तत्तन्तुविनाशाः तन्तुविनाशत्वं न अनुगता = अनुगतं तन्तुविनाशव्यवहारमर्जयन्ति; तथा अस्माकमपि सरूपाणि विरूपाणि च तन्तुकार्याणि तन्तुकार्यत्वेन तन्तुविनाशकत्वेन वा अनुगतानि। यथा च भवतां विशेषतो विरोधे पि सामान्यतो न तथा विरोधः। तथा अस्माकमपीत्याशयेन शङ्कते – **नन्वतिरिक्ताभावपक्षे यथेति**। प्रतियोग्यतिरिक्ताभावपक्षे यथा पटः पटान्तराभाववान् पटान्तरजातीयश्च, अभावो वा = तत्पटाभावो वा, तत्पटविरोधी पटान्तरसहव त्तिश्च। यत्र तत्पटाभावः तत्र तत्पटो न वर्तते पटान्तरश्च वर्तते इति। सहानवस्थानरूपविरोधः अभावस्य स्वप्रतियोगिना सह वर्तते स्वाप्रतियोगिना स्वप्रतियोगि–सजातीयेन स्वप्रतियोगिभिन्नेन सह न वर्तते। एव च विशेषतो विरोधे पि सामान्यतो न विरोधः सिद्ध्यति। संसर्गश्च एककालावच्छेदेन एकदेशव त्तित्वम् अभावप्रतियोगिनोः बोध्यः। एव च यथा पटः पटाभाववान् पटजातीयः, तथा तन्तुरपि तन्तुनिव त्तः तन्तुजातीयः भवेत्। पटविरोध्यपि अभावः पटान्तरसमानाधिकरणस्त्वया यथा इष्यते, तथा तन्तुविनाशो पि तन्तुः मया इष्यते इत्यर्थः। तथा कार्याभावपक्षे पि भविष्यति = कार्यरूपाभावपक्षे पि भविष्यति। पटध्वंसः पटस्य कार्यम्, पटरूपश्च भविष्यति

इति। नैतदेवम्। प्रतियोगिना हि तादात्म्य–संसर्गैकजातीयत्वानि नेष्यन्ते। अप्रतियोगि–त्वप्रसङ्गात्, स्वाभावतादात्म्यम् = स्वसंसर्गाभावसामानाधिकरण्यम्, स्वाभावसमान–जातीयत्व च प्रतियोगिना सह विरुद्धम्। तच्च मया नेष्यते। अन्यथा तत्पटस्य तत्पटध्वंसाभावाप्रतियोगित्वापत्तेः। **भिन्नकालत्वात्** = अभावप्रतियोगिनोः भिन्नकालत्वात् यस्मिन् काले घटो वर्तते तस्मिन् काले न घटध्वंसो वर्तते। सामान्यतो विरुद्धधर्मसंयोगाच्च प्रतियोग्यभावयोर्भिन्नधर्मत्वात्। प्रतियोगिनि भावत्वम् अभावे च अभावत्वम् वर्तते। भावत्वाभावत्वयोः सहानवस्थानरूपविरोधस्य सत्त्वेनापि विरोधिनोः तयोः कथम् एकत्र संसर्गः ? यत्र भावत्वं न तत्राभावत्वमिति सर्वे अनुभवन्ति। अतो घटनिव त्तिः (घटध्वंसः) घटकार्यरूपा, न प्रतियोगिघटस्वरूपा इति ज्ञेयम्। पटान्तराभाववान् इत्यत्र अन्तरपदं स्फुटार्थम्। अभावस्य प्रतियोगितादात्म्याभावे हेतुमाह – **अप्रतियोगित्वप्रसङ्गात्**। प्रतियोग्यनुयोगिभावस्य भेदनियतत्वात् प्रतियोगिभिन्न एव अनुयोगी भवति। यथा घटरूपप्रतियोगिभिन्न एव घटाभावरूपानुयोगी भवति। एव च घट–घटध्वसंयोः कथम् ऐक्यमभ्युपगन्तव्यम्? विनाशस्य (ध्वंसस्य) प्रतियोग्यसंसर्गे हेतुमाह – **भिन्नकालत्वादिति**। यस्मिन् काले घटः प्रतियोगी वर्तते तस्मिन् काले न घटध्वंसो वर्तते इति प्रतियोगिनः अभावस्य च विभिन्नकालत्वं स्पष्टतया भासते। अभावस्य प्रतियोग्यैकजात्यभावे हेतुमाह – **सामान्यत इति**। प्रतियोग्यभावयोः सामान्यतो विरुद्धधर्मसंसर्ग एव अनुभूयते। स च विरुद्धधर्मसंसर्गः अभावप्रतियोगिनो ऐकजात्ये न स्यात्।

अप्रतियोगिना तु अभावस्य संसर्गे को दोषः? अप्रतियोगिना पटान्तरेण पटान्तराभावस्य संसर्गे को दोषः? कथं न दोषस्तत्राह – **न हीति**। पटान्तराभावेन पटान्तरस्येति शेषः। किं तर्हि विरुद्धमित्याह – **तादाम्यमिति**। **न चेति**। पटान्तराभावे पि पटान्तरस्य इति शेषः।।

अप्रतियोगिना तु संसर्गे (अभावस्य) **को दोषः**? न हि नीलघटसंसर्गिणः पीतघटाभावस्य नीलघट एव प्रतियोगी, येन तत्संसर्गो न स्यादित्यर्थः। **नहीति**। भेदवैजात्यैकत्वे सति संसर्गस्य अनुभवसिद्धत्वादित्यर्थः। ननु त्वत्पक्षवन्मत्पक्षे पि स्याद् अभावसंसर्ग इत्यत आह – **तादात्म्यं हीति**। त्वया प्रतियोगितादात्म्यम् अभावस्य इष्यते प्रतियोग्यविरुद्धत्व च। तच्च मया नेष्यते इति न मत्पक्षे दोषावकाश इति भावः। **विरोधित्वं च** इत्यत्र विरुद्धमित्यनुषज्यते।

अतिरिक्ताभावे बाधकानुरोधाद् वेति (अतिरिक्तविनाशे बाधकानुरोधाद् वेति) यदुक्तं तत्राह – **नापि बाधकानुरोध इति**। तदभावात् = बाधकाभावात्।

ननु घटाभावे घटो स्ति न वा? आद्ये घटवति तदभावः। कपाले घटो स्तीति तान्यपि तद्वन्ति प्रसज्येरन्। नास्तीतिपक्षे नवस्थाप्रसङ्गः।

अभावान्तरमन्तरेण तत्र नास्तिताव्यवहारे भावान्तरे पि तथा प्रसङ्गः। न, भावान्तरस्य सजातीयत्वेनाविरुद्धजातीयत्वात्। विरुद्धजातीयत्वे वा समान-जातीयत्वानुपपत्तेः। अन्यत्वमात्रेण तथा व्यवहारे तद्वत्यपि प्रसङ्गात्। अभावस्य तु विरुद्धस्वभावतयैवाभावान्तरानुभवतर्कयोरभावादिति।

भिन्नाभावजन्मनि घटतादवस्थ्यं दोष इति चेन्न। घटतादवस्थ्यं हि यदि घटत्वमेव, अभिमतमेव ते तत्। न ह्यभावजन्मनि घटो घटतामुपैतीत्यभ्युपगच्छामः। तत्कालसत्त्वं चेन्न तर्ह्यभावो जातः कालान्तरे घटानवस्थान-स्वभाव एव हि तदभावः। अस्तु तर्हि निरुपादानत्वं बाधकं जन्मन उपादानव्याप्तत्वात् इति चेन्न। धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात्, भावावच्छेदाच्च व्याप्तेः। एतेन निरुपादेयत्वं व्याख्यातम्। गुणादिसिद्धौ चानैकान्तिकत्वादिति।

प्रतियोग्यतिरिक्ताभावे = प्रतियोग्यतिरिक्तविनाशे बाधकमाह – **ननु घटाभावे घटो स्ति न वा** ? आद्ये घटाभावे घटो स्ति पक्षे घटवति देशे काले च तदभावः = घटाभावः। कपाले प्रागभावस्य प्रध्वंसस्य वा सत्त्वेन तदुभयकाले पि = ध्वंसकाले प्रागभावकाले पि कपालानि घटवन्ति स्युः। स्वाभाव्यस्य सत्त्वेन घटे घटो पि स्यात्। एवं स्वस्मिन् स्वात्यन्ताभावस्य सत्त्वेन घटे घटाभाव इव घटो पि स्यात्। एवं घटात्यन्ताभाववति देशे भूतलादौ घटाभाववत्तेव घटवत्ता प्रसज्येत। घटाभावस्य तत्र तत्र सत्त्वे घटस्यापि सत्त्वप्रसङ्गापत्तिः। तथा च घटध्वंसकाले घटप्रागभावकाले च घट उपलभ्येत। घटाभावे घटस्य सत्त्वात्। घटाभावे घटो नास्तीति पक्षे, अनवस्थाप्रसङ्गः। अभावे अभावान्तरम्, तत्रापि अभावान्तरमिति रीत्या अनवस्था बोध्या।

अभावान्तरम् अन्तरेण = घटाभावभिन्नाभावं विना पटवति देशे यथा नास्तिताव्यवहारे = 'घटो नास्ति' इति व्यवहारे भावान्तरे पि = घटभिन्न– भूतलादावपि घटाभावव्यवहारः अधिकरणस्वरूपेणैव स्यात्। न भावान्तरस्य = घटभिन्नभावस्य भूतलादेः सजातीयत्वेन = भावसजातीयत्वेन अविरुद्धजातीयत्वात् अभावा–धिकरणत्व–अविरोधित्वात्। घट–भूतलाद्योः भावत्वेन सजातीयत्वात्। विरुद्धजातीयत्वे वा = भावत्वजातीयत्वे भूतलादेः अभावाधिकरणताविरोधेन सजातीयत्वानुपपत्तेः– अभावजातीयत्वानुपपत्तेः। अभावत्वजातीये अभावे भावत्वजातीयत्वाभावात्। सजातीयत्व–विरुद्धजातीयत्वे भावत्वाभावत्वाभ्यां बोध्येते।

ननु प्रतियोगिभिन्नत्वेनैव भूतलादीनां घटाभावव्यवहारप्रवर्तकत्वमस्तु किमतिरिक्ताभावस्वीकारेण इत्यत आह – **अन्यत्वमात्रेण** = प्रतियोगिभिन्नत्वेन **तथा व्यवहारे** = भूतले घटाभावव्यवहारे **तद्वत्यपि** = घटवत्यपि **प्रसङ्गात्** = घटाभावव्यवहारप्रवर्तकत्वं स्यात्। तथा च घटवद् भूतलं घटाभाववदिति व्यवहारापत्तिः।

ननु अभावे पि अभावान्तरं स्वीक्रियतामित्यत आह – **अभावस्य तु विरुद्धस्वभावतयैव अभावान्तरानुभव-तर्कयोरभावादिति**। अभावे अभावान्तरं = घटाभावे घटाभावस्तावन्नानुमीयते। यद्–(अनुभव)–बलेन अभावान्तरम् घटाभावः स्वीक्रियेत। यदि घटाभावो घटाभाववान् न स्यादिति तर्को पि न तत्र प्रभवति। यतः प्रतियोगिविरुद्धस्वभावतया प्रथमाभावादेः घटाभावे 'घटो नास्ति' इति व्यवहारोपपत्तेः। द्वितीयाभावकल्पनाया अनवकाशात्। अधिकरणस्य अभावरूपस्य द्वैरूप्यभावाच्च। न हि अभावः कदापि प्रतियोगिमान् अपि भवति। यथा भूतलादिः प्रतियोगिमान् भवति। द्वितीयाभावाभ्युपगमे अनवस्थापत्तिश्च। **केचित्तु** अभावे पि अभावान्तरम्। न च अनवस्था। त तीयमादाय (त तीयाभावमादाय) तदापत्तेः इति वदन्ति।

ननु यथा पटे जाते पि घटस्तदवस्थ एव तथा ध्वंसे जाते पि (पटध्वंसे जाते पि) घटस्तदवस्थ एव स्यात्, अन्यत्वाविशेषात्। तथा च प्रतितादात्म्यमेव विनाशस्याभ्युपेयत्वमित्याह – **भिन्नाभावजन्मनि घट- तादवस्थ्यं दोष इति चेत् ? न।** प्रतियोगिनो घटाद् भिन्ने पटे जाते यथा घटस्य तादवस्थ्यम्, तथा घटभिन्ने ध्वंसे जाते घटध्वंसे घटस्य तादवस्थ्यं दोषः स्यात् अन्यत्वस्य उभयत्र विशेषात्। अतो घटध्वंसे पि घटस्य तादवस्थ्यरूपबाधकात् घटध्वंसयोः तादात्म्यमेवाङ्गीकरणीयम्। न घटाद् घटध्वंसो भिन्न इति चेत् ? न। विकल्पासहत्वात्। तथाहि – घटतादवस्थ्यं हि किं घटत्वमेव अभिमतम् (घटजातीयत्वं घटस्याभिमतम्), ध्वंसानन्तरकालस्थायित्वं वा। आद्ये आह – **एवमेतदिति**। युक्तमेवैतत्। तदेव उपपादयति – **नहि अभाव-** (ध्वंस)**जन्मनि** (घटध्वंसोत्पादे) **घटः अघटताम्** = घटभिन्नता नोत्पद्यते **इत्यभ्यु-पगच्छामः**। द्वितीयमाह – **तत्कालसत्त्वं चेद् इति** स्वध्वंसकालसत्त्वं चेदित्यर्थः। न तर्हि अभावो जातः = घटध्वंसो जातः। कालान्तरे ध्वंसकालानन्तरोत्तरे घटानवस्थान–स्वभाव एव तदभावः (घटध्वंसः)। पूर्वकाले घटध्वंसः तदन्तरकाले घटस्य अनवस्थान्तरस्वभावः अवस्थितित्वम् इति हि = यस्मात् घटध्वंसः; अतो घटस्य न स्वध्वंसकाले सत्त्वमिति प्रतियोगिध्वंसयोर्न तादात्म्यमिति बोध्यम्। ध्वंसस्य प्रतियोग्यसमानकालीनत्वस्वाभाव्यात्।

प्रतियोग्यतिरिक्ताभावपक्षे बाधकान्तरमाशङ्कते – **अस्तु तर्हि निरुपादानत्व-मिति**। उपादानं समवायिकारणम्। निर्गतम् उपादानं यस्मात् तत् निरुपादानम्, तस्य भावः निरुपादानत्वम् ध्वंसस्य समवायिकारणाभावेन ध्वंसो नोत्पद्यते। अतः प्रतियोगिस्वरूपो ध्वंसो मन्तव्यः। जन्मनः उत्पादस्य उपादानव्याप्तत्वात्। तथा च ध्वंसो न जायते, निरुपादानत्वात्, आकाशवदिति चेत् ? न। धर्मिग्राहकप्रमाण–बाधात्। धर्मिणः = ध्वंसस्य ग्राहकं यत् प्रमाणम् इह इदानीं घटो न इति प्रत्यक्षप्रमाणं ध्वंसस्य उत्पन्नत्वसाधकं तस्य प्रमाणस्य बाधो जायते। तथा च अनुत्पादे साध्ये धर्मिग्राहकमानबाध इति ध्वंसस्य नित्यत्वसाधकं तवानुमानं न युक्तम्।

ननु निरुपाधेरनुमानस्य बाधानवकाश इति ध्वंसे अनुत्पन्नत्वानुमानं युक्तम् इत्यत उपाधिं दर्शयति – **भावावच्छेदाच्च व्याप्तेरिति**। तथा च भावत्वे सति यत् जायते तत् सोपादेयमिति व्याप्तिर्बोध्याः; भावजन्मन एव सोपादनत्वनियमात्। अभावस्य भावत्वाभावेन अनुत्पादस्य साधयितुं व्याप्तिविरहाद् अशक्यम्।

ननु ध्वंसो न जायते, निरुपादेयत्वाद्, गोत्ववद्, इत्यस्तु अनुमानमित्याह – **एतेनेति**। ध्वंसो न जायते निरुपादानत्वादित्यत्र भावत्वस्योपाधेः सत्त्वेन निरुपादेयत्वं व्याख्यातम्। यद्यपि अभावान्तरे (अत्यन्ताभावे) साध्याव्यापको यमुपाधिः, तत्रानु–त्पन्नत्वस्य साध्यस्य सत्त्वेन उपाधेः भावत्वस्य असत्त्वात्। तथापि ध्वंसेतरत्वमुपाधिरिह विवक्षितः। निरुपादेयत्वम् कार्यानाश्रयत्वम्। गुणकर्मादेश्च गुणि(द्रव्य)भिन्नत्वेन सिद्धौ तत्रानैकान्तिकं कार्यानाश्रयत्वमित्याह – **गुणादीति**। गुणे कर्मणि च समवायेन न किमपि उत्पद्यते। तयोश्चासमवायित्वं कार्यानाश्रयत्वं वा निरुपादेयत्वं तत्र वर्तते। तत्रोत्पन्नत्वाभावरूपसाध्यं नास्तीति व्यभिचारः। पक्षे साध्याभावस्य व्यभिचारत्वात्।

अस्तु तर्हि व्यापकत्वं ध्रुवभावित्वमिति चेन्न। अतादात्म्यात् अतत्करणत्वाच्च। अस्मद्दिशापि व्याप्तिग्रहो न साहित्यनियमेन विरोधितया विषमसमयत्वात्। नापि जन्मानन्तर्यनियमेन तदसिद्धेः। सिद्धौ वा तत एव क्षणभङ्गसिद्धेः किमनेन। भविष्यत्तामात्रेण व्यापकत्वमस्तीति चेदस्तु, न त्वेतावता हेत्वन्तरानपेक्षत्वसिद्धिः। अद्यतनघटस्य श्वस्तनकपालमालयैवानै-कान्तिकत्वादिति।

एतेन सापेक्षत्वे विनाशस्य व्यभिचारो पि स्यात्, विनाशहेतूनां प्रतिबन्धवै-कल्यसम्भवादिति परास्तम्। कपालसन्ततितुल्ययोगक्षेमत्वात् विनाशस्येति।

चतुर्थं ध्रुवभावित्वं निराकर्तुं शङ्कते – **अस्तु तर्हि ध्रुवभावित्वमिति चेत्? नेति**। विनाशस्य ध्रुवभावित्वेन अहेतुकत्वसिद्धेः क्षणभङ्गः भावानामित्यत्र ध्रुवभावित्वं व्यापकत्वमिति खण्डयितुम् उपक्रमते – **अस्त्विति**। व्यापकत्वं = प्रतियोगिव्यापकत्वं विनाशस्य। तथा च 'बह्निः धूमजन्यः, धूमव्यापकत्वात्'। तथा 'ध्वंसो न प्रतियोगिजन्यः, प्रतियोगिव्यापकत्वात्'। तथा च विनाशस्य अहेतुकत्वं सिद्धमिति भावः। परमते = बोद्धमते, तादात्म्य–तदुत्पत्तिभ्यामेव व्याप्तिः। 'अयं व क्षः शिंशपायाः' इत्यत्र तादात्म्याद् व्याप्तिः। 'बह्निमान् धूमाद्' इत्यत्र तदुत्पत्त्या व्याप्तिः। धूमस्य बह्निजन्यत्वाद् व्याप्तिः। तादात्म्य–तदुत्पत्तिभ्यामेव व्याप्तिः इत्यभिप्रायेणाह – **अतादात्म्यादिति**। ध्वंसप्रतियोगिनः तादात्म्याभावेन व्याप्यव्यापकभावाभावात्। व्यापकत्वरूपध्रुवभावित्वस्य ध्वंसे असत्त्वेन अहेतुकत्वस्य तत्रासिद्धेः। 'बह्निमान् धूमाद्' इत्यत्र बह्नि–धूमयोः व्याप्यव्यापकभावो धूमस्य बह्निजन्यत्वाद् भवति। प्रतियोगिध्वंसयोर्न व्याप्यव्यापकभावो भवितुमर्हति। ध्वंसस्य प्रतियोग्यजन्यत्वात्। घटध्वंसं प्रति मुद्गरादेरेव कारण–

त्वादित्यभिप्रायेणह – **अतत्कारणत्वाच्च**। घटध्वंसं प्रति मुद्गरादेः कारणत्वेन प्रतियोगिनः अकारणत्वात् । **अस्मद्**(नैयायिक)**दिशा पि** न व्याप्तिग्रहः संभवति। **साहित्यनियमेन** = (यदा प्रतियोगी तदा ध्वंसः, यत्र प्रतियोगी तत्र ध्वंस इति) कालिक–दैशिक–नियमेन न व्याप्तिग्रहः। **विरोधितया विषमसमयत्वात्** = प्रतियोगिध्वंसयोः सहानवस्थानरूप– विरोधितया तयोः विभिन्नकालनियमात्। स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणे एव ध्वंसरूपकार्यजन्मानन्तर्यनियमेन नापि व्याप्तिग्रहः। **तदसिद्धेः**। पूर्वोक्तताद श– नियमाभावात्। कियद्दिनव्यतीते घटोत्पादे मुगद्रादिना घटनाशदर्शनात्। **सिद्धौ वा** = स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षण एव ध्वंस इति सिद्धौ वा, **तत एव** = स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्त– रक्षण एव ध्वंस इति नियमबलादेव क्षणभङ्गसिद्धेः। **किमनेन** = नाशस्य ध्रुवभावित्वाद् अहेतुकत्वम्, अहेतुकत्वाच्च ध्वंसस्य अग्रिमक्षण एवोत्पाद इति प्रक्रिया किमिति स्वीक्रियते इति प्रक्रियागौरवमिति भावः।

ननु उत्पन्नस्य नाशो भविष्यत्येव इत्यपि नियम एव इत्याशङ्कते – **भविष्यत्तामात्रेण** प्रतियोगि**व्यापकत्वं** ध्वंसस्येति **चेत्**? **अस्तु। नत्वेतावता हेत्वन्तरा-नपेक्षत्वसिद्धिः**। एताद श–ध्रुवभावित्वेन अहेतुकत्वं वा प्रतियोगभिन्नहेत्वनपेक्षत्वं वा साधयितुं न शक्यते; येन भावानां क्षणिकत्वं सेत्स्यति। कुतो न तत्साधयितुं शक्यते इत्यत आह – **अद्यतनघटस्य श्वस्तनकपालमालयैव अनैकान्तिकत्वात् इति**। श्वस्तनकपालमालाया अवश्यंभाविन्या अपि मुद्गरप्रहारादिरूपहेत्वन्तरापेक्षितत्वेन अनैकान्त्यात्। भविष्यत्तया अद्यतनघटव्यापकत्वं श्वोभाविकपालमालायाम् अस्ति। तत्र न घटोत्तरभावानपेक्षजन्यत्वरूपं साध्यम् अहेतुकत्वं वा साध्यमस्ति। साध्या–भाववद्व त्तित्वं हेतौ व्यभिचारः।

ननु यदि विनाशस्य हेत्वन्तरापेक्षा, कदाचिदुत्पन्नो पि भावो न नश्येत्, हेतुसाकल्ये सत्यपि प्रतिबन्धसंभवात्। हेतूनां वैकल्यस्यैव वा संभवादित्याह – **एतेनेति**। विनाशस्य सापेक्षत्वे पि = मुद्गरादिकारणापेक्षत्वे पि, व्यभिचारो पि स्यात्। प्रतिबन्धकवशेन हेतूनां वैकल्यसंभवेन च विनाशासंभवात् इति परास्तम्। कपालमालासन्ततितुल्ययोगक्षेमत्वात्। विनाशस्य **एतेनेत्यत्र** कथितहेतुद्वयादेव कपालमालापि कदाचिन्न भवेदित्यपि स्यादित्युत्तरार्थः।

अस्तु तर्हि चरमः पक्षः। तथाहि विनाशो न जायते अभावत्वात्, प्रागभाववत्। जातो पि वा निवर्तते जातत्वात्, घटवदिति। नैतदेवम्। प्रागभावो जायते अभावत्वात् विनाशित्वाद्वा ध्वंसवत् घटवद्वा। अजातो वा न निवर्तते अजातत्वात्, आकाशवत् शशविषाणवद्वेतिवदसाधनत्वात्।

किमेतेषां दूषणमिति चेत्? भावत्वावच्छिन्नव्याप्तिकत्वादप्रयोजकत्वं, प्राक्प्रध्वंसाभावग्राहकप्रत्यक्षबाधः। प्राक् पश्चाच्च कार्योन्मज्जनप्रसङ्गलक्षण-

प्रतिकूलतर्कश्च। अथोन्मज्जने को दोष इति चेत्? कालविच्छेदप्रत्यय-स्यानुभयात्मकत्वप्रसङ्गः। अयथार्थत्वे तस्य द्विचन्द्रदर्शनकाले चन्द्रदेश-विच्छेदवत् तद्वतः कालाविच्छेदे भावस्य प्राक्प्रध्वंससहव त्तित्वेनाविरोधप्रसङ्गात्। यथार्थत्वे तु भेदस्थितौ तदुन्मज्जनानुपपत्तेः। एतेन प्रागभावप्रध्वंसोन्मज्जनं तत्काले च प्रागभावोन्मज्जनमपास्तम्। भाववदभावयोरपि उभयविरोधिस्वभाव-त्वादिति।

अस्तु तर्हि ध्रुवभावित्वविकल्पस्य, अभावत्वं वेति **चरमः पक्षः**। विनाशस्य ध्रुवभावित्वम् अभावत्वम्; अभावत्वादेव तस्य अहेतुकत्वम्। अहेतुकत्वाच्च न प्रतियोगिनो भिन्नो विनाश इति मनसिकृत्य बौद्धः स्वमतेन प्रयोगं दर्शयति – **तथा हीति** । विनाशो (ध्वंसः) न जायते अभावत्वात् प्रागभाववत्। विपक्षबाधकमाह – **जातो पीति**। जातो पि ध्वंसो निवर्तते (नश्यति) जातत्वात् घटवदिति। बौद्धाः त्रीन् अवयवान् मन्यन्ते। यदि घटध्वंसो जायेत, विनश्येत। तथा च घटोन्मज्जनप्रसङ्ग इति भावः। अत्र अप्रयोजकत्वं दर्शयति = **नैतदेवम् प्रागभाव इति**। पूर्वोक्तकथनं न युक्तम्, अग्रिमयुक्तेः। तथाहि प्रागभावो जायते अभावत्वात् विनाशत्वाद्वा, ध्वंसवत् घटवद्वा। अजातो पि वा न निवर्तते अजातत्वात् आकाशवत् शशविषाणवद् वेति असाधनत्वात्। यथा प्रागभावस्य जातत्वे अभावत्वम् अप्रयोजकम्; तथा ध्वंसस्य अजातत्वे तत् (अभावत्वम्) अतन्त्रमप्रयोजकम्। तथा च अनुभवतर्कादिसाचिव्यमिह अनुसरणीयम् इति भावः। क्रमेण द ष्टान्तमाह – **ध्वंसवद् घटवदिति**। विपक्षे बाधकम् आह – **अजातो वेति**। प्रागभावो यदि न जायते तदा न निवर्तेत, निवर्तते च प्रागभावः; तस्माज्जायते इत्यर्थः।

किम् एतेषाम् = अनुमानतर्काणाम् दूषणमिति चेत्? भावावच्छिन्न–व्याप्तिकत्वाद् अप्रयोजकत्वम्। जातो वा निवर्तेत, जातत्वाद्, इत्यत्र अजातो वा न निवर्तेत, अजातत्वाद्, इत्यत्र च साधनधर्मावच्छिन्नसाधकव्यापकं भावत्वमुपाधिः। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् उपाधित्वम्। जातो वा निवर्तेत जातत्वादित्यत्र जातत्वावच्छिन्नभावत्वम् उपाधिः। यत्र यत्र निवर्तत्वम् (विनाशित्वम्) तत्र तत्र जातत्वावच्छिन्नभावत्वमिति साध्यव्यापकत्वं जातत्वावच्छिन्नभावत्वे उपाधौ वर्तते। एवं यत्र ध्वंसे जातत्वं हेतुरस्ति जातत्वावच्छिन्नभावत्वं नास्ति इति, तत्र व्यापकत्वं च वर्तते। एवमजातो वा न निवर्तेत, अजातत्वादित्यत्र अजातत्वावच्छिन्नभावत्वस्य आकाशादौ साध्यव्यापकत्वं यत्र यत्र अविनाशित्वं तत्र तत्र अजातत्वावच्छिन्नभावत्वमिति साध्यव्यापकत्वं तत्र उपाधौ वर्तते। यत्र अजातत्वं तत्र न अजातत्वाच्छिन्नभावत्वं प्रागभावे हेतोरजातत्वसत्त्वेन तत्रोपाधेः अभावात्। अतो विपक्षबाधकद्वयस्य आभासत्वे ध्वंस–प्रागभावपक्षयोः अनुमानयोः अप्रयोजकत्वम्। तर्कयोर्भावत्वावच्छिन्नव्याप्ति–कत्वात् हेतोः अप्रयोजकत्वम्। भावत्वे सति जातत्वं निव त्ति(ध्वंस)व्याप्तम्। अतो

व्याप्यैकदेशस्य (जातत्वमात्रस्य) अप्रयोजकत्वम्। तथा भावत्वे सति विनाशित्वं जायमानत्वेन व्याप्तम्। अतस्तत्रापि केवलस्य विनाशित्वस्य अप्रयोजकत्वम्। तथा भावत्वे सति अजातत्वम् निव त्त्यभावेन (नित्यत्वेन) व्याप्तम्। तत्रापि केवलस्य अजातत्वस्य अप्रयोजकत्वम्। तथा अभावत्वस्य अजातत्वेन विपक्षे बाधकाभावात् अप्रयोजकत्वमिति सर्वेषां हेतूनाम् अप्रयोजकत्वमिति। प्रागभावो जायते, अभावत्वात्, विनाशित्वाद्वा, ध्वंसवत् इत्यत्र घटो भविष्यतीति प्रागभावस्य अजायमानत्वं प्रत्यक्षसिद्धमिति प्रत्यक्षबाधः। एवं मुद्गरप्रहारादिना घटध्वंसस्य जायमानत्वं प्रत्यक्षसिद्धमिति विनाशो (ध्वंसो) न जायते अभावत्वात् प्रागभाववद् इत्यत्र ध्वंसस्य जायमानत्वं प्रत्यक्षसिद्धमिति प्रत्यक्षबाधश्च। एतयोरनुमानयोर्बाधो दोष इति मनसिकृत्याह – **प्राक्प्रध्वंसाभावग्राहक-प्रत्यक्षबाध इति**। इह तन्तुषु भविष्यति पट इति प्रागभावग्राहकं प्रत्यक्षं तद्बाधितं च प्रागभावे जन्यत्वानुमानम्। इह इदानीं नष्ट इति प्रध्वंसग्राहकं प्रत्यक्षं तद्बाधितं ध्वंसस्य अजन्यत्वानुमानम्। प्रागभावस्य जन्यत्वे तस्यापि (प्रागभावस्यापि) प्रागभावान्तरम्। एवं प्रागभावस्य यः प्रागभावः तस्यापि प्रागभाव इति अनवस्था, तया प्रत्यक्षमेव एताद शं नोदीयादिति भावः। **प्राक् पश्चाच्च कार्योन्मज्जन-प्रसङ्गलक्षण-प्रतिकूलतर्कश्च** = प्रागभावस्य जन्यत्वे प्रागभावप्राक्का-र्योन्मज्जनम्। एवं प्रध्वंसस्य नाशे पश्चात् प्रध्वंसनाशानन्तरं कार्योन्मज्जनप्रसङ्गः इत्यर्थः। प्रागभावो जायते अभावत्वात् ध्वंसवद् इत्यत्र प्रतिकूलतर्कश्च यदि प्रागभाव उत्पद्यते तर्हि ततः प्रागभावात् प्राक् घट उत्पद्येत इति। एवं ध्वंसो यदि विनाशी स्यात् तर्हि नष्टो घट उन्मज्येत इति।

ननु प्रागभावात् पूर्वमपि घट आसीत्, कुतश्चिन्निमित्तात् नोपलभ्यते इति स्यात्। एवं घटध्वंसानन्तरमपि घटः स्यात्, कुतश्चिन्निमित्तात् नोपलभ्यते इति स्याद् इत्याशङ्कते – **अथेति**। अनुत्पन्नो घटः, एवं नष्टो घटो यदि उन्मज्येत तर्हि को दोष इति चेत्? अथवा अवतरणस्थौ तर्कौ बोध्यौ। उत्तरयति – **कालविच्छेदप्रत्ययस्य अनुभयात्मकत्वप्रसङ्ग इति**। घटध्वंसानन्तरम् इदानीं घटो नास्तीति यः प्रत्ययः स यदि अयथार्थः तदा तदानीमपि घटसत्त्वे घटध्वंससत्त्वे च तयोर्विरोधो न स्यात्, द्वयोः समानकालीनत्वात्। ताद शप्रत्ययस्य यथार्थत्वे तु घटध्वंस एवानुभूयते न घट इति कुतो घटोन्मज्जनप्रसङ्ग इत्यर्थः ? **अनुभयात्मकत्वेति**। ताद शप्रत्ययस्य यथार्थायथार्थोभयानात्मकत्वमित्यर्थः। अयथार्थत्वे तस्य ताद शप्रत्ययस्य द्विचन्द्रदर्शन–काले चन्द्रदेशाविच्छेदवत् तत्त्वतः कालाविच्छेदे भावस्य प्राक्प्रध्वंससहव त्तित्वेन अविरोधप्रसङ्गात्। एक एव चन्द्रो मध्ये विच्छिन्नत्वेन यो नुभूयते स मध्ये पि यथा अस्त्येव, विच्छेदप्रत्ययस्य अयथार्थत्वात्। एवं मध्ये पि घटः स्यादेव, नास्तीति प्रत्यस्य अयथार्थत्वात्।

ननु घटप्रागभावकाले घटश्चेत् नास्ति तदा तद्–(घट)– विरोधिना ध्वंसेन भवितव्यम्। एवं घटध्वंसकाले घटश्चेन्नास्ति तदा प्रागभावेन भवितव्यम्। एकविरोधिविरहस्य विरोध्यन्तरनियतत्वाद् इत्यत आह – **ऐतेनेति**। विच्छेदप्रत्ययस्य अनुभयात्मकत्वप्रसङ्गेन इत्यर्थः। प्रागभावकाले प्रध्वंसोन्मज्जनं (प्रध्वंसस्य अनादित्वात्), तत्काले = प्रध्वंसकाले च प्रागभावोन्मज्जनमपास्तम्। तर्हि विरोधिविगमकाले विरोध्यन्तरं कथं न भवेदित्यत आह – **भाववदिति**। भाववदभावयोरपि उभयविरोधि–स्वभावत्वादिति। यथा घटस्य प्रागभावप्रध्वंसौ विरोधिनौ तथा प्रागभावस्य घट–तद्ध्वंसौ ध्वंसस्य च घटतत्प्रागभावौ इति विरोधिविगमकाल इत्यर्थः। परस्परकाले परस्परोन्मज्जनं परस्परविरोधादेव न युक्तमित्यर्थः।

कुतः पुनः स्थिरसिद्धिः? प्रत्यभिज्ञानात् क्षणिकत्वानुपपत्तेश्च। लक्षणाभेदेन व्यभिचारिजातीयत्वात्, प्रत्यभिज्ञा न प्रमाणमिति चेन्न। अवान्तर-लक्षणभेदेनाव्यभिचारनियमात्। किं तदिति चेत्? विरुद्धधर्मासंस ष्टविषयत्वं सिद्धं च तदत्र। एवम्भूतमपि कदाचिद्व्यभिचरेदिति चेन्न। विरुद्धधर्मसंसर्गा-नास्कन्दितस्यैकत्वप्रत्ययस्य व्यभिचारे सर्वत्रैकत्वोच्छेदप्रसङ्गात्। तथा चानेकत्वमपि न स्यादिति भव निष्कि चनः। तस्माद्भेदप्रव त्ताववश्यं विरुद्धधर्मसंसर्गः, तदसंसर्गे वा वश्यं भेदव्याव त्तिरिति भेदाभेदव्यवहारमर्यादा।

निष्कम्पप्रदीपकुड्मलेषु निपुणं निभालयन्तो पि न विरुद्धधमसंसर्ग-मीक्षामहे। अथ च प्रत्यभिज्ञानमवधूय तत्र भेद एव पदं विधत्त इति चेत्? कस्य प्रमाणस्य बलेन। आश्रयनाशस्य हुताशननाशहेतुत्वेन विज्ञातत्वात्, तस्य चात्र प्रतिक्षणमुपलब्धेः। वर्तितैलयोरुत्तरोत्तरमपचीयमानत्वात् पूर्वस्य नाश उत्तरोत्पादश्च न्यायसिद्ध इति चेत्? नन्वयं प्रत्यनीकधर्मसंसर्ग एव। नष्टत्वानष्टत्वयोराश्रयनाशानाशयोर्वा एकत्र तेजस्यनुपपत्तेः। सो यं शतं शिरश्छेदे पि न ददाति विंशतिप चकं तु प्रयच्छतीति किमत्र ब्रूमः।

[स्थैर्यसिद्धिः नाम त तीयं प्रकरणम्]

क्षणिकत्वे प्रमाणं निरस्तम्। इदानीं परः अक्षणिकत्वे प्रमाणं प च्छति – **कुतः पुनरिति**। अथवा स्थैर्ये यथा बाधकं प्रमाणं नास्ति तथा साधकमपि प्रमाणं नास्ति। तथा च साधक–बाधक–मानाभावात् स्थैर्ये संशयः स्याद् इत्याशयेन प च्छति – **कुतः पुनः** भावानां **स्थिरसिद्धिरिति।** उत्तरम् – **प्रत्यभिज्ञानादिति**। स एवायं घट इति प्रत्यक्षमेव पूर्वापरयोः अभेदग्राहकमित्यर्थः। स्थैर्ये मानान्तरमाह – **क्षणिकत्वानुपपत्तेश्च** इति। अपोहवादनिरासेन गोत्वादिसामान्यानां देशकालानुगतानां क्षणिकत्वं सर्वथाप्यनुपपन्नमिति तद्ग्राहकमानादेव स्थैर्यसिद्धिरिति हृदयम्।

ननु तत्तेदन्तोल्लेखिज्ञानत्वमेव प्रत्यभिज्ञानस्य लक्षणम्। तच्च (प्रत्यभिज्ञानम्) ज्वालादिप्रत्यभिज्ञाने प्यस्ति इति व्यभिचारिजातीयत्वेन तत् (प्रत्यभिज्ञानम्) अप्रमाणम् इति शङ्कते – **लक्षणाभेदेन।** प्रत्यभिज्ञानत्वरूपलक्षणाभेदेन प्रत्यभिज्ञानम् अप्रमाणम् इति चेत् ? न। प्रत्यभिज्ञानमात्रं न प्रमाणम्। अपितु प्रत्यभिज्ञानविशेष इति। परिहरति – **अवान्तरेति**। प्रत्यभिज्ञाया यः अवान्तरभेदः प्रत्यभिज्ञाविशेषः तस्य स्वरूपभेदेन (यथार्थप्रत्यभिज्ञानेन) अव्यभिचारनियमात्। तथा च सो यं घट इति यथार्थप्रत्यभिज्ञानस्य स्थैर्यप्रमाणस्य सत्त्वेन भावानाम् स्थैर्यसिद्धिः। **किं तदिति**। अप्रमाणरूपप्रत्यभिज्ञानव्यावर्तकं किं लक्षणमित्यर्थः। **विरुद्धधर्मासंस ष्टविषयकत्वम्** = न संस ष्टः (न संबन्धः) असंस ष्टः; विरुद्धयोः सहानवस्थानयोः धर्मयोः असंस ष्टः; सः विषयो यस्य स। विरुद्धधर्मासंस ष्टविषयकम् अप्रमाणरूपप्रत्यभिज्ञानस्य व्यावर्तकं यथार्थप्रमाणस्य लक्षणम्।

ननु सामर्थ्यासामर्थ्य(कार्यजनन–सामर्थ्यासामर्थ्य)लक्षणविरुद्धधर्म– संसर्गस्य दर्शितत्वाद् विशिष्टं प्रत्यभिज्ञानम् (पूर्वोक्तयथार्थ–प्रत्यभिज्ञानम्) असिद्धम् एव इत्यत आह – **सिद्धं च तदत्रेति**। अत्र = स्थैर्ययुक्ते घटादिभावे तत् = पूर्वोक्तयथार्थप्रत्यभिज्ञानं सिद्धम्। स्थैर्ययुक्तघटादिभावविषयकं प्रत्यभिज्ञानं सिद्धम् इत्यर्थः। तथा च सो यं घट इति यथार्थप्रत्यभिज्ञानरूपप्रमाणेन घटादिभावानां स्थैर्यस्य सिद्ध्या तेषां न क्षणिकत्वम्।

ननु **एवंभूतमपि** = पूर्वोक्तयथार्थप्रत्यभिज्ञानमपि विरुद्धधर्मासंस ष्टविषयकं प्रत्यभिज्ञानमपि कदाचिद् व्यभिचरेद् इति चेत् ? न। **विरुद्धधर्मसंसर्गानास्कन्दितस्य एकत्वप्रत्ययस्य** = विरुद्धधर्मासंसर्गाभाववतः एकत्वप्रत्ययस्य = सो यं घट इति प्रत्यभिज्ञानस्य व्यभिचारे सर्वत्र एकत्वोच्छेदप्रसङ्गात्। तथा च क्षणिकमपि एकं न स्यात्। त्वयापि ताद श–प्रत्यभिज्ञयैव सो यं क्षणिको घट इत्यादि–प्रत्यभिज्ञयैव एकः क्षणिक इति साध्यते। माभूत् एकत्वं, ततः किमित्याह – **तथा च अनेकत्वमपि न स्यादिति भव निष्कि चनः** (निःस्वभावः)। एकत्वासिद्धौ एकत्वपर्युदासात्मकस्य अनेकत्वस्यापि असिद्धत्वम्। अनेकत्वस्य एकत्वपर्युदासात्मकत्वात्। व्यभिचाराभावम् एव उपसंहरति – **तस्मादिति**। **भेदप्रव त्तौ** = एकस्यापि घटस्य सो यं घट इति प्रत्यभिज्ञया पूर्वापरक्षणविशिष्टत्वेन तयोः क्षणयोर्भेदात् भेदसिद्धौ, अवश्यं विरुद्धधर्मसंसर्गः = एकस्मिन् घटे पूर्वक्षणवैशिष्ट्यापरक्षणवैशिष्ट्ययोः विरुद्धयोः धर्मयोः संसर्गः सिद्ध्यति। तेन तस्य घटस्य अनेकक्षणव त्त्या स्थिरत्वस्य सिद्ध्या न तस्य क्षणिकत्वं सेत्स्यति। विरुद्धधर्मासंसर्गे सति पूर्वापरक्षणवैशिष्ट्यबललभ्य– औपाधिकभेदस्य अभावः तस्मिन् घटे भवति। तथा च पूर्वापरक्षणवैशिष्ट्येन स घटो भिन्नः, ताद शवैशिष्ट्याभावे स घटो भिन्न इति भेदाभेदव्यवहारमर्यादा उपपन्ना भवति।

ननु भेदप्रव त्तेरवश्यं विरुद्धसंसर्ग इत्येव नियमो नास्ति। **निष्कम्पप्रदीपकुड्मलेषु निपुणं निभालयन्तो पि न विरुद्धसंसर्गमीक्षामहे।** अथ च इयं दीपकलिकेति **प्रत्यभिज्ञानमवधूय** = तिरस्कृत्य तत्र = ताद शदीपकलिकायां **भेद एव पदं विधत्ते।** सेयं दीपकलिकेति साजात्याद् भवतीति चेत् ? श्रूयताम्। कस्य प्रमाणस्य बलेन दीपकलिकायां न विरुद्धधर्मसंसर्गः ? तत्कलिकायां तत्कलिकान्तरस्य भेदश्च त्वया कथ्यते।

ननु आश्रयनाशस्य = दाह्यवर्त्तितैलादिनाशस्य अग्निनाशहेतुत्वेन विज्ञातत्वात्। प्रत्यक्षादिसिद्धतैलवर्त्तिविनाशप्रयोज्यबह्निविनाशाधीन बह्निकार्याणां नाशस्य अनुभवसिद्धत्वात्। तस्य च आश्रयविनाशस्य चात्र = प्रदीपादौ प्रतिक्षणम् उपलब्धेः। वर्त्तितैलयोरुत्तरोत्तरम् अपचीयमानत्वात्। पूर्वस्य = प्रदीपस्य (दीपकलिकायाः) नाशः, उत्तरस्य = (उत्तरदीपकलिकायाः) उत्पादश्च न्यायसिद्धः = दीपो नाशप्रतियोगी (दीपकालिका नाशप्रतियोगिनी) नष्टाश्रत्वादिति न्यायसिद्धः। नष्टः आश्रयो यस्य (यस्याः) इति बहुब्रीहिः इति चेत् ? न। अयं पूर्वस्य नाशः उत्तरस्योत्पाद इति विरुद्धधर्मसंसर्ग एव। दीपे दीपकलिकायां त्वया प्रतिपादितः। तथा च विरुद्धधर्मयोः नष्टत्वानष्टत्वयोः दीपे दीपकलिकायां वा संसर्ग एव तदधीनः; तत्र भेदो मन्तव्यः। नष्टत्वानष्टत्वयोः आश्रयनाशानाशयोर्वा एकत्र तेजसि अनुपपत्तेः। अतः तेजसो बह्नेर्वा दीपस्य दीपकलिकायाः वा भेदः अङ्गीकार्यः। दीपस्य दीपकलिकाया वा आश्रयनाशात् नष्टत्वम्। द श्यमानत्वात् अनष्टत्वम् प्रमाणसिद्धम्। सो यं विरुद्धधर्मसंसर्गाधीनभेदः **शिरश्च्छेदे पि शतं न ददाति विंशतिप चकं तु प्रयच्छतीति किमत्र ब्रूमः।** विरुद्धधर्मसंसर्गं साक्षात् न स्वीकरोति।

भविष्यति तर्हि इहापि विरुद्धसंसर्गो दुरूह इति चेत्? अथ स एवायं स्फटिक इत्यत्र प्रमाणप्रतीतिसंसर्गाणां विरोध आशङ्क्यते? तत्प्रतीतविरोधानां संसर्गः? अथाप्रतीतस्वरूपविरोधसंसर्गा एव केचिद्विरुद्धतया? संस ष्टतया? वेति।

न प्रथमः, प्रागेव निराकृतत्वात्। न द्वितीयः, अयोग्यानामनुपलम्भ-बाधितत्वात्। अयोग्यानामपि कारणादिव्याप्यव्यापकविगमविलोकनव्यावर्तित-त्वात्। न त तीयः तस्यातिप्रस जकतया सर्वत्रैकत्त्वोच्छेदप्रसङ्गादिति।

एतेन प्रत्यभिज्ञानादेव लक्षणभागमाकृष्य अनुमानेन स्थैर्यसिद्धिः। तथाहि विवादाध्यासितो भावः कालभेदे पि न भिद्यते, तद्भेदे पि विरुद्धधर्मासंस ष्टत्वात्। यो यद्भेदे पि न विरुद्धधर्मसंस ष्टो नासौ तद्भेदे पि भिद्यते। यथा प्रतिसम्बन्धि-परमाणुभेदे पि एकः परमाणुः। तथा चायं विवादध्यासितो भावः। तस्मात् कालभेदे पि न भिद्यत इति।

प्रकारान्तरेण च तमेवाह इत्यर्थः। **भविष्यति तर्हि इहापि** सत्य–प्रत्यभिज्ञानविषये घटादिभावे पि विरुद्धधर्मसंसर्गः दुरूहः = दुःखेन ऊहः, दुःखेन तर्क्यः। तथा च तद्विषयकप्रत्यभिज्ञायाः ताद शविरुद्धधर्मासंसर्गविषयकत्वं सन्दिग्धमिति तद् विषयकत्वेन अप्रामाण्यात् सा न भावानां स्थिरत्वं साधयितुं समर्थेति चेत् ? न। विकल्पासहत्वात्। तथाहि – **अथ स एवायं स्फटिक इत्यत्र प्रमाणप्रतीतसंसर्गाणाम्** = प्रमाणेन प्रतीतः संसर्गो येषां सत्त्वद्रव्यत्वस्फटिकत्वादीनाम् विरोधः आशङ्क्यते। तत्प्रतीत–विरोधानां = प्रमाणेन प्रतीतः विरोधो येषां गोत्वाश्वत्वादीनां संसर्गः आशङ्क्यते। **अथाप्रतीतस्वरूपविरोधसंसर्गाः**। अप्रतीतः स्वरूपविरोधसंसर्गो येषां ते अप्रतीतस्वरूपविरोधसंसर्गाः एव केचिद् विरुद्धतया संस ष्टतया वा आशङ्क्यन्ते। कौचिद्धर्मौ इहापि विरुद्धौ स्यातामिति शङ्कामात्रमित्यर्थः।

तत्र **न प्रथमः** = प्रतीतविरोधानां संसर्गः = आशङ्क्यते इति प्रथम विकल्पो न कथयितुमिष्टे (समर्थः)। प्रागेव निराकृतत्वात्। सामर्थ्यासामर्थ्य–करणा–करणदीनां–पूर्वमेव निराकृतत्वात्। सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गेण भेदसिद्धौ तत्सिद्धिरिति चेत्? न। **विरुद्धधर्मसंसर्गासिद्धेः** इति ग्रन्थेन पूर्वमेव निराकृतत्वात्।

न द्वितीयः = अप्रतीतस्वरूपविरोधसंसर्गाः केचिद्विरुद्धतया (संस ष्ट्या वा) आशङ्क्यन्ते इति द्वितीयविकल्पो न युक्तः। योग्यानाम् अप्रतीतस्वरूपविरोध–संसर्गाणामनुपलम्भबाधितत्वात्। अयोग्यानाम् अप्रतीतस्वरूपविरोधसंसर्गकाणामपि मनस्त्व–आत्मत्व–चक्षुष्ट्वप्रभ तीनां कारणादिव्याप्यव्यापक–विगमविलोकनव्यावर्त्ति–तत्वात्। तेषां संसर्गः कथमाशङ्क्येत?

न त तीयः। कौचिद्धर्मौ विरुद्धौ इहापि स्यातामिति शङ्कायाः सर्वत्र संभवेन तव मते सिद्धस्य क्षणिकत्वस्य उच्छेदापत्तेरिति मनसिकृत्याह – **तस्य अतिप्रस जकतया सर्वत्रैकत्वोच्छेदप्रसङ्गादिति**। तस्य = त तीयविकल्पस्य, अतिप्रस जकतया = अतिव्याप्त्या सर्वत्र = तवाभिमते क्षणिकत्वे एकत्वस्य उच्छेदापत्तेः। द्वितीयविप्रत्तिपत्तिनिरासोक्त–**कारणादि**इत्यत्र आदिपदेन कार्यग्रहणम्। व्याप्यव्यापक–पदाभ्यां कार्यकारणव्यतिरिक्तव्याप्यव्यापकग्रहणम्। तथा च द्वन्द्वः। व्याप्यपदेन समव्याप्यम् अभिमतम्। व्यापकपदेन तद्भिन्नं व्यापकं यथायोग्यम् अत्र ऊहनीयम्। कर्मधारयसमास इत्येके।

एतेन प्रत्यभिज्ञानादेव लक्षणभागम् = विरुद्धधर्मासंस ष्टत्वम् **आकृष्य अनुमानेन** भावानां **स्थैर्यसिद्धिः**। तदेव दर्शयति – तथाहि विवादाध्यसितो भावः कालभेदे पि न भिद्यते। तद्भेदे पि = कालभेदे पि विरुद्धधर्मासंस ष्टत्वात् यः यद् भेदे पि न विरुद्धधर्मसंस ष्टो नासौ तद् भेदे पि भिद्यते; यथा प्रतिसंबन्धि–परमाणुभेदे पि एकः परमाणुः = अनेकेन युगपद्योगे पि एक एव परमाणुर्यथा इत्यर्थः। तथा च अयं विवादाध्यसितो भावः। तस्मात् कालभेदे पि न भिद्यते।

अत्र व्याप्तौ न कश्चित् विप्रतिपद्यते। पक्षधर्मता तु प्रसाधितैव। क्षणिकत्वानुपपत्तिश्चानुगतव्यवहारानन्यथासिद्धेः। शब्दलिङ्ग्विकल्पा हि साधारणं रूपमनुपस्थापयन्तो न त णकुब्जीकरणे पि समर्था इत्यविवादम्। बाह्यार्थस्थितौ स्थिरास्थिरविचारात्।

कि च सभागसन्तानत्वेन विवक्षितो घटो न नाना, एकत्वेन प्रतीयमानत्वात् क्षणिकपरमाणुवत्। प्रातःकालद ष्टो यं घटो, मध्यन्दिनस्थायी, तदनन्तरालसमये विनाशकारणसमवहितत्वादि–भावस्थैर्यसाधकम् अनुमानं द्रष्टव्यम्। वस्तुतः प्रत्यक्षमेव स्थैर्ये प्रमाणम्। स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणव त्ति–ध्वंसप्रतियोगित्वस्य सर्वप्रमाणबाधितत्वाद् इति भावः। अत्र व्याप्तौ = पूर्वानुमानसाधक–हेतुनिष्ठ–साध्यव्याप्तौ न कश्चित् विप्रतिपद्यते। पक्षधर्मता तु प्रसाधितैव। अन्यथा एकस्मिन्नपि क्षणे भावो भिद्येत इति विपक्षबाधिका त्वया अपि इयं व्याप्तिः अभ्युपगन्तव्या इति न कश्चित् विप्रतिपद्यते इत्यनेन सूचितम् ।

ननु नानाक्षणस्थायिनां विरुद्धधर्मासंस ष्टत्वं हेतुरेव असिद्ध इत्यत आह – **पक्षधर्मता त्विति**। भावस्थैर्ये द्वितीयप्रमाणमाह – **क्षणिकत्वानुपपत्तिः चेति**। पूर्वोक्त–अनुमानेन भावानां स्थिरत्वसिद्धौ तेषां क्षणिकत्वाभावात् भावानां क्षणिकत्वे अनेककालव त्तिप्रयोज्य–गवादिव्यवहारान्यथानुपपत्त्या स्थैर्यं सिद्ध्यति।

ननु गोत्वादिकमपि लाक्षणिकमेवास्तु, को दोष इत्यत आह – **अनुगतेति**। भावानां स्थैर्याभावे अनुगतव्यवहारो न स्यात्। भावो न क्षणिकः, अनुगतव्यव–हारानन्यथासिद्धेः। अनुगतव्यवहारश्च अयं घटः इत्यादिः। स च अनुगतघटत्वं विना अनुपपन्नः। देशकालानुगतं धर्मं विना अनुगतव्यवहार एव न स्यादित्यर्थः।

ननु देशकालानुगतो धर्मः प्रतीतिपथमवतरेत् तदा तस्य स्थैर्यचिन्ता। तदेव तु नास्तीत्यत आह – **शब्देति**। शब्दलिङ्गविकल्पाः (सविकल्पकज्ञानानि) साधारणं रूपम् अनुपस्थापयन्तो न त णकुब्जीकरणे पि समर्थाः इत्यविवादं बाह्यार्थसिद्धौ (स्थितौ) स्थिरास्थिरविचारात्। बाह्यार्थस्य स्थिरास्थिरविचारः बाह्यार्थसिद्धावेव भवितुमर्हति इति भावः। स्थिरा अस्थिरा वा इति संशयाधीनात् तद्विचारात् बाह्यार्थस्य सिद्धिः। विज्ञानाद् भिन्नो बाह्यार्थ इति सिद्ध्यति। ततश्च सङ्केतग्रहार्थम् = अस्माच्छब्दाद् अयमर्थो बोद्धव्य इति सङ्केतग्रहार्थम्, यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निरिति व्याप्तिग्रहार्थम् अनुगतविकल्पार्थं च (घटः क्षणिको न वेति अनुगतविकल्पार्थं च) साधारणरूपभानम् आवश्यकम्। अन्यथा महानसीयधूमे महानसीयवह्नि–व्याप्तिग्रहे पि पर्वतीयधूमे ग्रहात् पर्वतो वह्निमान् धूमाद् इति अनुमित्यनुपपत्तेः। साधारणरूपस्य वह्नित्वस्य भाने महानसे महानसीयवह्निधूमयोः ज्ञाने अलौकिक–सामान्यलक्षण–प्रत्यासत्त्या धूमत्वेन सकलधूमोपस्थित्या वह्नित्वेन सकलवह्न्युपस्थित्या

च सकलधूमे सकलवह्निनिरूपित–व्याप्तिग्रहो जायते। ततश्च पर्वते अविच्छिन्नमूलां धूमलेखां पश्यन् यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निरिति व्याप्तिं स्मरन् वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति परामर्शात् पर्वतो वह्निमान् धूमाद् इत्यनुमितिर्भवति। एवं घटत्वस्य अनुगतस्य ज्ञाने अयं घट इति विकल्पज्ञानं सिद्ध्यति। अन्यथा विशेषणस्य घटत्वस्याज्ञाने तदनुपपत्तेः। तत्र विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात्। **त णकुब्जीकरणे अपीति**। क्षुद्रे पि व्यापारे साधारणरूपभानं विना शब्दलिङ्गविकल्पा न समर्था इत्यन्वयः। अत्र न कस्यापि विवादः। अनुगतरूपम् अवच्छेदमन्तरेण व्याप्तिसङ्केत–योरग्रहे अनुमिति–शाब्दज्ञानानुदये तदधीने प्रव त्तिनिव त्ती न स्याताम्। इष्टतावच्छेदक–धर्मग्रहं विना तोयादिविकल्पानां सविकल्पज्ञानानां प्रवर्तकता च न स्यादित्यर्थः।

नन्वस्तु ज्ञानात्मकमेव साधारणं रूपं घटत्वादिकम्; तथापि गोत्वादीनां बाह्यानां कथं स्थैर्यमित्यत आह – **बाह्यार्थेति**। बाह्यार्थस्य व्यवस्थापनीयत्वाद् इत्यर्थः।

तच्चालीकं वा आकारो वा बाह्यं वस्तु वेति त्रयः पक्षाः। तत्र न प्रथमः पक्षः। तद्धि न तावदनुभवादेव तथा व्यवस्थाप्यं, तस्यालीकत्वानुल्लेखात्, तथात्वे वा प्रव त्तिविरोधात्। नह्यलीकमेव तत् इत्यनुभूयाप्यर्थक्रियार्थी प्रवर्त्तते। अन्यनिव त्तिस्फुरणान्नैष दोष इति चेत् एतदेवासत्, विधिरूपस्यैव स्फुरणात्। न हि शब्दलिङ्गाभ्यामिह महीधरोद्देशे अनग्निर्न भवतीति स्फुरणमपि त्वग्निरस्तीति।

यद्यपि निव त्तिमहं प्रत्येमीति न विकल्पः। तथापि निव त्तिपदार्थोल्लेख एव निव त्त्युल्लेखः। न ह्यनन्तर्भावितविशेषणा विशिष्टप्रतीतिर्नाम। ततो यथा सामान्यमहं प्रत्येमीत्यनुव्यवसायाभावे पि साधारणाकारस्फुणात् विकल्पधीः सामान्यबुद्धिः परेषाम्। तथा निव त्तप्रत्ययाक्षिप्ता निव त्तिबुद्धिरस्माकमिति चेत्? हन्त साधारणाकारपरिस्फुरणे विधिरूपतया यदि सामान्यबोधव्यवस्था, किमायातमस्फुरदभावाकारे चेतसि निव त्तिप्रतीतिव्यवस्थायाः।

तच्च = अनुगतं रूपं च किम् अलीकं वा, आकारो वा (ज्ञानाकारो वा), बाह्यं वस्तु वेति ?

तत्र विकल्पेषु मध्ये अलीकं वेति प्रथमपक्षो न युक्तः। तद्धि = अनुगतरूपं हि न तावत् अनुभवादेव तथा = अलीकत्वेन व्यवस्थाप्यम्। तस्य = अनुगतरूपस्य अलीकत्वेन अनुल्लेखात्। तथात्वे वा अनुगतरूपस्य अलीकत्वेन उल्लिख्यमानत्वे वा प्रव त्तिविरोधात्। प्रव त्तिविरोधमेवाह – **न हीति**। एतत् जलादिकम् अलीकमित्यनुभूयापि अर्थक्रियार्थी जनः जलाद्यानयने न प्रवर्तते। किन्तु इदं जलमिति ज्ञात्वा प्रवर्तते।

ननु अन्यनिव त्तिरूपतया स्फुरणम् (ज्ञानम्) एव अलीकस्फुरणं ब्रूमः। न तु अलीकत्वेन स्फुरणम्। नेदं रजतमिति ज्ञात्वैव रजतार्थी प्रवर्तते इति को दोष इत्याह – **अन्येति**। नेदं रजतमिति ज्ञात्वैव रजतार्थी प्रवर्तते इति कथनं न सत् = न युक्तम्। विधिरूपस्यैव स्फुरणात् = इदं रजतमिति ज्ञात्वैव रजतार्थी रजते प्रवर्तते इत्यत्र विवादाभावात्। सर्वानुभवं परित्यज्य स्वकपोलकल्पनाया असङ्गतत्वात्। शब्दलिङ्गाभ्याम् इह पर्वते अग्निः इत्येव ज्ञानम्; न तु पर्वते अनग्निरिति ज्ञानम्। पर्वते धूमं पश्यन् कं प्रति को पि वदति अयं पर्वतो वह्निमानिति। अथवा व्याप्तिं स्मरन् वह्निव्याप्यधूमवान् अयं पर्वत इति जानन् पर्वतो वह्निमान् इत्येव अनुमितिः न तु अनग्निमान् पर्वत इति। व्यवसाये = ज्ञाने विषयस्य व्यवस्था अनुव्यवसायाधीना भवति। अयं घट इति ज्ञानं घटविषयकं न तु पटविषयकमिति व्यवस्था। अयं घट इति ज्ञानोत्तरजायमानात् घटत्वेन घटमहं जानामीत्यनुव्यवसायाधीना भवति। अनुव्यवसायश्च रजतमहं प्रत्येमि = जानामि इत्याकारः। अरजतमिदं प्रत्येमि = जानामि इत्याकारो न भवति इति भावः।

अत्र शङ्कते – **यद्यपि निव त्तिमहं प्रत्येमि** = अरजतेतरम् अहं जानामीति न विकल्पः नानुव्यवसायः। तथापि निव त्तपदार्थोल्लेख एव निव त्त्युल्लेखः = अरजतेतर–(रजत)–पदार्थोल्लेख एव **निव त्त्युल्लेखः** = अरजतेतरोल्लेखः। इतरव्याव त्तवस्तुभानमेव = अरजतव्याव त्त–(रजत– रूपवस्तु)–भानमेव, व्याव त्तिभानम् = अरजतव्याव त्तिभानम्। निव त्तिम् = अरजतव्याव त्तिम् अहं प्रत्येमि इत्यनुव्यवसायः तदा भवेत् यदि व्यवसाये = ज्ञाने निव त्तिः = अरजतव्याव त्तिः स्वातन्त्र्येण = इतराविशेषणतया स्फुरेत् = विषयो भवेत्। नत्वेवम्।

ननु विकल्पः = व्यवसायः। **तथापीति**। अरजतव्याव त्तमिदमिति भाने विशेषणतया अरजतव्याव त्तिभानमावश्यकम्। एतदेव = व्याव त्तिभानस्य आवश्यकत्वमेव उपपादयति = **न हीति**। न अन्तर्भावितं विशेषणं यस्याः सा अनन्तर्भावितविशेषणा या विशिष्टप्रतीतिः = विशिष्टबुद्धिः हि = यस्मात् न भवति। विशेषणभानं विना विशिष्टबुद्धिर्न भवति। विशिष्टबुद्धिं प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात्। तथा च अरजतव्याव त्तम् (रजतम्) इदमिति भाने विशेषणतया व्याव त्तिभानम् आवश्यकम्। अरजतव्याव त्तम् अरजतव्याव त्तिविशिष्टम् ताद शविशिष्टे ताद शव्याव त्तेः विशेषणत्वात्। अरजतव्याव त्तम् इत्यत्र ताद शव्याव त्तेः नान्तरीयकत्वं बोध्यम्। ततः यथा सामान्यम् (गोत्वादि) अहं प्रत्येमि इत्यनुव्यवसायाभावे पि साधारणाकारस्फुरणात् (गोत्वादिसामान्यज्ञानात्)। परेषां = नैयायिकानाम् सामान्यबुद्धिः = गोत्वादिसामान्यविषयिका विकल्पधीः अयं गौरिति सविकल्पकज्ञानं भवति। तथा विशेषणरूपाया अरजतादिव्याव त्तेः। अनुव्यवसायाभावे पि अरजतादिव त्तप्रत्यया–(ज्ञाना)क्षिप्ता निव त्तिबुद्धिः = अरजादिव्याव त्तिबुद्धिः अस्माकम् = बौद्धानामिति

चेत्? **हन्त** ! इति खेदे। साधारणाकारपरिस्फुरणे = गोत्वादिसामान्यज्ञाने विधिरूपतया = भावरूपगोत्वादिरूपतया कि चिद्धर्मप्रकारतया (न तु सामान्यत्वेन) सामान्यबोधव्यवस्था। न तु तत्र सामान्यत्वं विषयः। तदा किमायातम् ? **अस्फुरदभावाकारे चेतसि** = अस्फुरन् अभावाकारो यत्र चेतसि ज्ञाने निव त्ति(अरजतादिनिव त्ति)प्रतीतिव्यवस्थायाः। इदं रजतमिति ज्ञाने रजतत्वेन रजतविषयः, न तु अरजतव्याव त्तत्वेन। तथा च अरजतव्याव त्तज्ञाने अरजतव्याव त्तेः भानस्य कथं नान्तरीयकत्वं कथ्यते त्वया (नान्तरीयकत्वं = यद् भाने यस्य भानम् अवश्यं भवति तत् तस्य नान्तरीयकम्) रजतभाने रजतत्वमवश्यं भासते, अतः रजतभाने रजतत्वभानं नान्तरीयकं ज्ञेयम्।

न ह्यगोपोढो यमिति विकल्पः किं तु गौरिति। ततो न्यनिव त्तिमहं प्रत्येमीत्येवमाकाराभावे पि निव त्त्याकारस्फुरणं यदि स्यात् को निव त्तिप्रतीति-मपह्नुवीत। अन्यथा त्वतत्प्रतिभासे तत्प्रतीतिव्यवहृतिरिति गवाकारे चेतसि तुरगबोध इत्यस्तु। न च निव त्तिमात्रप्रतिभासे पि प्रव त्तिसम्भवः। न ह्यघटो नास्तीत्येव घटार्थी प्रवर्त्तते, अपि तु घटो स्तीति।

अघटस्यैव निव त्तिरिति प्रतीतौ नायं दोष इति चेन्न। घटनिव त्यप्रतिक्षेपे नियमस्यैवासिद्धेः। तत्प्रतिक्षेपे तु कस्ततो न्यो विधिर्निषेधप्रतिक्षेपस्यैव विधित्वात्। निव त्तेरपरिस्फुरणे गां बधानेति देशितो श्वमपि बध्नीयात् इति चेत्, न। भवेदप्येवं, यद्यश्वो पि गौः स्यात् किन्तु गौ गौरश्वो श्व इति। अन्यथा निव त्तावपि कुतस्ते समाश्वास इति। निव त्यन्तराच्चेदनवस्था। निवर्त्यनिव त्ति-तदधिकरणानां स्वरूपसाङ्कर्ये प्रव त्तिसङ्करः स्यात्। स्वरूपभेदेनैव नियमे विधिमात्रप्रतिभासे पि तथा किं न स्यात्।

एतदेवाह – **न ह्यगोपोढो यमिति विकल्पः, किन्तु गौरितीति**। गौरिति प्रत्ययः, अगोपोढो यम् इति विकल्पः अगोव्याव त्त इति हि = यस्मात् न भवति। ततो न्यनिव त्तिमहं प्रत्येमीत्येवम् आकाराभावे पि = अगोव्याव त्तिमहं प्रत्येमीत्या–काराभावे पि, निव त्त्याकारस्फुरणं यदि स्यात् = अगोव्याव त्तिज्ञानं यदि स्यात् तदा कः निव त्तिप्रतीतिम् = अगोव्याव त्तिज्ञानम् अपह्नुवीत अपलपेत्। तथा च अगोव्याव त्तेर्न प्राधान्येन भानं, नापि उपसर्जनतया विशेषणतया भानं भवतीति भावः।

अतज्ज्ञानस्यापि तज्ज्ञानविषयताकल्पने विपक्षे दण्डमाह = **अन्यथेति**। तद्विषयकज्ञाने = तद्भाने, तु अतत्प्रतिभासे = घटभिन्न–पटविषयकज्ञाने तत्प्रतीतिव्यवहृतिः = घटविषयकज्ञानव्यवहार इति गवाकारे चेतसि = गोविषयकज्ञाने तुरगबोध इत्यस्तु = तुरगविषयकज्ञानम् अस्तु इति। तथा च सर्वज्ञानं सर्वविषयकं

स्यादिति भावः। **निव त्तिमात्रप्रतिभासे** = स्फुरणे, घट इति ज्ञानस्य अघटव्याव त्तिविषयकत्वे घट इत्यत्र अघटव्याव त्तिमात्रप्रतिभासे = घटार्थिनः न प्रव त्तिसंभवः। हि = यस्मात् घटार्थी अघटो नास्त्येवेति ज्ञानात् न प्रवर्तते, अपितु घटो स्तीति ज्ञानात् प्रवर्तते। अत्र अनुभव एव साक्षीत्यर्थः। ननु च अघटो नास्तीति प्रतीतेः प्रवर्तकत्वे तव अयम् अनुशयः = आशयः यद् अत्र (ज्ञाने) घटनिव त्तिरपि स्फुरति, घटान्तरापेक्षया घटस्यापि अघटत्वात् = घटभिन्नत्वात्। अघटस्यैव = घटभिन्नमात्रस्यैव घटत्वावच्छिन्नभिन्नमात्रस्यैव निव त्तिरिति प्रतीतेः प्रवर्त्तकत्वे तु नायं दोषः। घटान्तरे घटत्वावच्छिन्न–प्रतियोगिताकभेदासत्त्वात्।

भेदस्य स्वप्रतियोगितावच्छेदकेन विरोधात् इत्याह – **अघटस्य एवेति**। अघटस्यैव निव त्तिरिति प्रतीतौ = घटविषयकज्ञानस्य अघटमात्रस्यैव निव त्तिविषयकत्वेन प्रवर्तकत्वे नायं दोषः। निव त्तिमात्रप्रतिभासे पि घटार्थिनः न प्रव त्तिसंभव इति दोषो न इति चेत् ? न। अघटः पटादिः घटाभावश्च। तथा च घटाभावस्यापि निव त्तिः प्रतीयते न वा ? अन्त्ये अघटस्यैवेति नियमासिद्धिः। आद्ये विधिभानमेव पर्यवस्यतीत्याह – **घटनिव त्तीति**। घटनिव त्त्यप्रतिक्षेपे नियमस्यैव असिद्धेः। अघटस्यैवेति नियमार्थो घटनिव त्तिप्रतिक्षेप एव। अन्यथा पूर्वदोषतादवस्थ्यात् (घटान्तरापेक्षया घटस्यापि अघटत्वादिति पूर्वोक्तदोषतादवस्थात्)। घटनिव त्तिप्रतिक्षेपश्च घटो यमिति ज्ञानपर्यवसायी। तत्र = घटो यमिति ज्ञाने विधिरूपं भावरूपं स्फुरेत्। तन्मते = बौद्धमते सविकल्पकेन स्वलक्षणासंस्पर्शात् = अघटनिव त्तेरसंस्पर्शात् अघट–निव त्त्यविषयकत्वात्। तत्प्रतिक्षेपे तु = घटनिव त्तिनिषेधे तु कः ततो न्यो विधिः = घटनिव त्तिनिषेधाद् भिन्नः कः विधिः। निषेधप्रतिक्षेपस्य एव विधित्वात् = घटनि वत्ति–निषेधस्यैव घटत्वात्। घटाभावाभावो घटः।

ननु शब्दज्ञानम् अन्य(घटाद्यन्य)निव त्तिमुखेनैव जायते इत्यवश्यम् अभ्युपगन्तव्यम्। अन्यपरात् शब्दात् अन्यत्रापि प्रवर्तेतेति शङ्कते – **निव त्तेरपरिस्फुरण इति**। गां बधान इत्यादौ अगोनिव त्तेः अपरिस्फुरणे अविषये गां बधान इति देशितः आज्ञापितो जनः अश्वमपि बध्नीयात्, अगोनिव त्तेः अस्फुरणादिति चेत् ? न। भवेदेवं यदि अश्वो पि गौः स्यात्। गोपदस्य गोत्वावच्छिन्ने सङ्केतग्रहणे गोविषयक एव शाब्दबोधः, न तु अश्वविषयकः; अश्वे सङ्केताग्रहात्। ततश्च गां बधान इत्यत्र गोकर्मकम् एव बन्धनं न त्वश्वकर्मकमिति त्वदुक्तदूषणं नास्ति। गोपदार्थत्वस्य अश्वे अभावात्। किन्तु गौर्गौः, अश्वो श्व इति गोपदवाच्यो गौः, अश्वपदवाच्यः अश्व इति कथम् अन्यपरात् शब्दात् अन्यप्रव त्तिः? गोपदात् गोत्वस्यैव स्फुरणं नाश्वव्याव त्तेः स्फुरणम् इति स्वीकारे कथं गोत्वप्रकारकज्ञानात् अश्वे प्रव त्त्यभावः? अश्वव्याव त्तेरस्फुरणादित्यत आह – **अन्यथेति**। अन्यथा = अश्वव्याव त्तेरस्फुरणे निव त्तावपि कुतस्ते समाश्वास इति। **निव त्तावपि** = अतद्व्याव त्तिभाने पि कुतस्ते

समाश्वास इति = सामान्यतः अतद्व्याव त्तिभाने पि विशेषतः गोभिन्नाश्वव्याव त्त्यस्फुरणात् गोत्वप्रकारकज्ञानात् कथं नाश्वे प्रव त्तिः? तथा च गोपदात् गोत्वस्फुरणं नाश्वत्वं स्फुर्यते नाश्वे प्रव त्तिरिति कथं तव विश्वासः? अगोव्याव त्तेरपि अनश्व–व्याव त्तितो व्याव त्तिः स्फुरति न वा? आद्ये निव त्त्यन्तरात् चेद् अनवस्था। सापि व्याव त्तिः अन्यव्याव त्तित इत्येनन क्रमेण अनवस्था बोध्या। द्वितीये निवर्त्यनिव त्तितदधिकरणानां स्वरूपसाङ्कर्ये प्रव त्तिसंकरः = अगोव्याव त्तेरपि अनश्वव्याव त्तितो व्याव त्तिर्न स्फुर्यते इति पक्षे अश्वव्याव त्तिग्रहे पि गोपदात् अश्वे प्रव त्तिः स्यादेव; निव त्तेः साधारण्येनैव स्फुरणात्। स्वरूपसाङ्कर्ये प्रतियोग्यादिसाधरण्येनैव निव त्तेः स्फुरणात्। निव त्तावपि निव त्तिप्रतियोगि, अतद् = अघट–निव त्त्यधिकरणादि–गवादिभ्यो यदि निव त्तिः = अतद्व्याव त्तिः स्फुरेत् तदा अनवस्था। सापि व्याव त्तिः अन्यव्याव त्तित इत्येवंक्रमेण अनवस्था। अगोव्याव त्तेरपि अनश्वव्याव त्तितः व्याव त्तिर्न स्फुर्यते। प्रतियोग्यादि–साधारण्येनैव निव त्तेः स्फुरणाभावे स्वरूपसांकर्य्ये, निषेध्यो श्वो निषेधाधिकरणं गौरिति तवापि मते गोशब्दात् अश्वे प्रव त्तिः स्यात्। अश्वपदात् गवि प्रव त्तिः स्यात्। निव त्तेः साधारण्येनैव भानात्।

ननु निव त्तिः स्वत एव विलक्षणा। तत्र किं निव त्त्यन्तरस्फुरणेनेति यदि, तदा गोत्वाद्यपि स्वत एव विलक्षणम् इति तत्स्फुरणे कथमन्यत्र = अश्वादौ प्रव त्तिः स्यादिति समानमित्याह – **स्वरूपेति**। स्वरूपभेदेनैव नियमे विधिमात्रप्रतिभासे पि तथा किं न स्यात्। गोपदात् अगोव्याव त्तिः स्वतः विलक्षणैव स्फुर्यते। एवं सति अगोव्याव त्तिस्फुरणे न अश्वादौ प्रव त्तिरिति यदि विभाव्यते तदा गोत्वमात्र–प्रतिभासे पि नाश्वादौ प्रव त्तिरिति कथं न स्वीकुर्वन्ति भवन्तः? वैलक्षण्यस्य उभयमते अविशेषात्। अतद्व्याव त्त्यपेक्षया गोत्वे विधौ लाघवादिति भावः।

स्वरूपभेद एवान्यापोहो न्यापोढस्वरूपत्वाद्विधेरिति चेन्न। अलीकपक्षे तदभावात्। तस्य स्वरूपविधावनलीकत्वप्रसङ्गात्। स्वलक्षणस्य च विकल्पा-नारोहात्। अपि च गां बधानेति देशितो गवि प्रव त्तो नाश्वे, तदप्रतीतेः। यदा त्वश्वमुपलप्स्यते तदा तत्र प्रव त्त्युन्मुखो पि गोरभावं प्रतीत्यैव निवर्त्स्यतीति किमनुपपन्नम्।

स्यादेतत्। नह्यनुभवमवधूय भवितुं क्षममिति को विधिस्फुरणमपह्नुताम्। तदुपसर्जनीभूतस्तन्निषेधो पि स्फुरत्येव। अन्यथा विधेरवच्छेदकत्वानुपपत्तेः। न ह्यन्यतो विशेष्यमव्यावर्तयतो विशेषणत्वं नाम। न चान्यतो व्यावर्तनं व्यवच्छि-त्तिप्रत्यायनादन्यत्। ततो यथेन्दीवरपुण्डरीकादिशब्देभ्यो गुणीभूत-नीलधवलादिविधिशेखरा प्रतीतिस्तदन्यव्यवच्छेदस्तु तद्गर्भाभकायमाणस्तथा सर्वत्रेति चेत्, अस्तु तावदेवम्। विधिस्तु स्फुरतीत्यत्र सम्प्रति नो निर्बन्धः।

अन्यथा वच्छेद्यावच्छेदकयोरप्रतीतेर्व्यवच्छित्तिरपि न स्यात्। यथोत्पलादावेव नीलत्वाद्यप्रतीतौ।

ननु अतद्व्याव त्तेः अभावत्वेन निःस्वरूपतया तत्र स्वरूपभेदो न संभवति, किन्तु स्वत एव व्याव त्ता। (अतद्व्याव त्तिः) विधिस्तु गोत्वादिः, भावत्वेन सस्वरूपः इति तस्यैव = गोत्वादिविधेरेव भावस्यैव स्वरूपभेदः न स्वतः व्यावर्तते। स च विधिः अन्यापोह इति स्वरूपभिन्नस्य तस्य विधेः गोत्वादेः भाने अन्यापोहभानमावश्यकमिति तव गौरवम् इति शङ्कते – **स्वरूपेति**। यः स्वरूपभेदो गोत्वं त्वया नैयायिकेन उच्यते स एव अन्यापोहः अतद्– व्याव त्तिलक्षणः स्वरूपः। यस्तु विधिः सो न्यापोह एव = अतद्व्याव त्तिरूप एव, तद्भानं गोत्वादिविधिभानं गवादिशब्दान्निराकुर्म इति समुदायार्थः इति चेत् ? न। विकल्पासहत्वात्। तथा हि – स्वरूपभिन्नो विधिः अवास्तवः = अलीकः अवस्तुरूपः भासते वास्तवो वा विधिरूपः भावो वा। आद्ये = अलीकपक्षे तदभावात् = गोत्वादिविधेः तवाभिमत–निःस्वरूपत्वेन स्वरूपभेदाभावात्। न हि निःस्वरूपः स्वरूपो भवति व्याहतत्वात्। अतद्व्याव त्तिरूपस्य गोत्वादिभावस्य निःस्वरूपम् अलीकम् अभावरूपम् कथं स्वरूपं भवति। गोत्वादिविधेः भावस्य सस्वरूपत्वे कथमन्यापोहरूपत्वं त्वया उच्यते, तस्य गोत्वादिभावस्य अलीकत्वं व्याघातात्। तदाह **तस्येति**। तस्य = गोत्वादिभावरूपस्य स्वरूपविधौ सस्वरूपत्वे अनलीकत्व–प्रसङ्गात् = अलीकत्वव्याघातात् सस्वरूपो भावः निःस्वरूप इति वदतो व्याघातः। स्वरूपभिन्नो विधिः गोत्वादिभावः वास्तव इति पक्षे तस्य गोत्वादिभावस्य स्वलक्षणस्य निर्विकल्पमात्रवेद्यत्वं त्वया स्वीकृतमिति कथं सविकल्पकज्ञानवेद्यत्वं स्यात्? तदेवाह – **स्वलक्षणस्य** = भावरूपस्य गोत्वादेः निर्विकल्पज्ञानमात्रवेद्यत्वस्य त्वया स्वीकृतत्वेन विकल्पानारोहात् = सविकल्पज्ञानवेद्यत्वाभावात्। अपि च गोशब्दात् अगोव्याव त्तिभानं किं गवि प्रव त्तये त्वया स्वीक्रियते किं वा अश्वे अप्रव त्तये स्वीक्रियते? नैकमपीत्याह – **अपि चेति**। गां बधान इति देशितः = आज्ञापितो जनः गोशब्दात् प्रत्यक्षतः प्रतीते गवि प्रवर्तते, प्रव त्तौ प्रव त्तिविषयप्रत्यक्षस्यापि हेतुत्वात् भवति चेन्द्रियसंन्निकर्षदिना गोप्रत्यक्षम्। नाश्वे प्रवर्तते। तस्येन्द्रियसंनिकर्षाभावेन अप्रत्यक्षत्वात्। यदा तु इन्द्रियसंनिकर्षात् गो–साधारणाकारम् अश्वम् उपलभते तदा गवांशकया प्रव त्त्युन्मुखो पि जनः तत्र अश्वे गवान्योन्याभावं प्रतीत्य अश्वे न प्रवर्तते। यदा तु अयं गौरिति भ्राम्यति स जनः तदा अश्वे प्रवर्तते इति किमनुपपन्नम्। **कीर्ति-(धर्मकीर्ति)दिङ्नागादिभिः** गौः इयम् इत्यादिविकल्पे विधि(गोत्व)–स्फुरणं नास्त्येव इत्युक्तम्। **ज्ञानश्रिया** तु विधिस्फुरणम् अभ्युपगम्य निषेधस्फुरणमपि तत्र भवतीति स्वीकृतम्।

यदाह – तत्रापोहस्तद्गुणत्वेन गम्यत इति। तदुत्थाप्य दूषयति – **स्यादेतदिति**। **न ह्यनुभवमवधूय भवितुं क्षमम्** इत्यपि तद्ग्रन्थ एव। तस्यार्थः,

अनुभवम् अविधूय = तिरस्कृत्य शास्त्रं भवितुं न क्षममिति। शास्त्रस्यानुभवानुसारित्वात्। न ह्यनुभवं तिरस्कृत्य भवितुं क्षमम् इति। इयं गौः इत्यत्र विधि(गोत्व)स्फुरणम् अपह्नुताम्। विधिगोत्वादिभावस्फुरणस्य तत्र सत्त्वात्, तत्र अनुभवस्य प्रमाणत्वात्। तद्(विधि)उपसर्जनीभूतः (विशेषणीभूतः) तन्निषेधो पि = (इतरव्याव त्तिरपि) विधि–निषेधो पि स्फुरत्येव। **अन्यथेति**। व्यवच्छेदो यदि न स्फुरेत् तदा गोत्वादेः विधेः व्यवच्छेदकत्वं न भवेदित्यर्थः। तदेवोपपादयति – **नहीति**। हि = यस्मात् विशेष्यम् अन्यतः विशेष्याभिमतात् अव्यावर्तयतः अव्याव त्तिं कुर्वतः विशेषणत्वेन अभिमतस्य न विशेषणत्वम्। व्यावर्तकं हि विशेषणमित्युच्यते।

ननु विशेषणं व्यवच्छित्तिप्रत्ययं जनयति अन्यतो व्याव त्तिप्रत्यये तु किमायातम्? अत आह – **न चेति**। अन्यतो व्यावर्तनं व्यवच्छित्तिप्रत्ययात् ज्ञानात् न चान्यत् न भिन्नम् उभयोरैक्यम्। उभयोरैक्यस्य स्फुटतरव्याव त्तिप्रत्ययस्थले द ष्टत्वेन गवादिप्रत्ययानामपि व्याव त्तिविषयत्वमाह – **ततो यथेति**। इन्दीवरम् = नीलोत्पलम्। पुण्डरीकम् = सिताम्भोजम्। यथा इन्दीवर–पुण्डरीकादि–शब्देभ्यो गुणीभूत–नील–धवलादिविधिशेखराप्रतीतिः = नीलधवलादिप्रधानं ज्ञानम्, तदन्य = नीलधवला–न्यव्यवच्छेदस्तु तद्गर्भार्भकायमाणः = तत् क्रोडवर्ती, तथा सर्वत्र = गो–महिष–हस्ती–मातङ्गादि प्रतीतावपीति चेत्?

अत्र सम्प्रतिपत्तिमाह – **अस्त्विति**। अस्तु तावत् एवम्। यथा त्वया पूर्वोक्तम् इन्दीवरेत्युक्ते गुणीभूतनीलविशिष्टविशेष्यीभूतकमलविशेष्यकज्ञानम्। तदन्यव्यवच्छेदस्तु तत्क्रोडीकृत इति। विधिस्तु स्फुरतीत्यर्थः। सम्प्रति नः = अस्माकं निर्बन्धः = आग्रहः। ज्ञाने स्फुरितस्य विधेः गोत्वादेः अलीकत्वम् यद्यपि हृदि वर्तते, तथापि विधिस्फुरणं स्वीकृतं त्वया इति तात्पर्यार्थः। **अन्यथेति।** गौरिति ज्ञाने गोत्वरूप–विधि–स्फुरणाभावे। अवच्छेद्यावच्छेदकयोरप्रतीतेः = गोत्वं विशेषणं गौः विशेष्यं, तयोः विधिरूपयोः अप्रतीतेः, अवच्छित्ति–व्यवच्छित्ति–प्रत्ययो पि न स्यात्। यथा उत्पलादौ एव नीलत्वाद्यप्रतीतौ नीलम् = नीलत्वम्, उत्पलम् = उत्पलत्वं च यदि न भासते तदा अनीलात् अनुत्पलात् व्याव त्तिर्न भासत एवेत्यर्थः। अतः गौः इत्यादिप्रत्यये गोत्वादिविधिर्भासते एव। तदभाने अगवात् व्याव त्तिरपि भासेतेति भावः।

न च निषेध्यमस्प शती प्रतीतिर्निषेधं स्प्रष्टुमर्हति, तस्य तन्निरूपणाधीन-निरूपणत्वात्। न च निषेधान्तरमेव निषेध्यमितरेतराश्रयप्रसङ्गात्। परानपेक्ष-निरूपणे तु विधौ नायं दोष इति। ततः प्रतीतावितरेतराश्रयत्वमुक्तं सङ्केते स चार्य यत्परिहृतं ज्ञानश्रिया, तदेतत् ग्राम्यजनधन्धीकरणं गोलकादिवत् स्थानान्तरस चारात्।

स्फुरतु विध्यलीकमिति चेत्, न। व्याघातात्। किंचिदिति हि विध्यर्थो न किंचिदिति चालीकार्थः। अतद्रूपपराव त्तिमात्रेणालीकत्वे स्वलक्षणस्याप्यलीकत्वप्रसङ्गात्। रूपमात्रपराव त्तौ तु कथं विधिर्नाम।

विध्यंशस्यारोपितत्वादयमदोष इति चेत्, न। स्वलक्षणविधेर्विकल्पासंस्पर्शात् सामान्यविधेरनुपगमात्। परिशेषादलीकविधौ विरोधस्यैव स्थितेः।

ननु निषेधमात्रमेव (व्याव त्तिमात्रमेव) भासतां किं निषेध्यस्य उत्पलादेरपि भानेन इत्यत आह – **न च निषेध्यम्** = अभावप्रतियोगिनम् अस्प शती अविषयीकुर्वती प्रतीतिः = बुद्धिः निषेधम् = अभावं स्प्रष्टुम् अर्हति = न विषयं कर्तुम् अर्हति। तस्य = निषेधस्य तत्प्रतियोगि(विधि)निरूपणाधीननिरूपणत्वात्।

ननु च अगवि महिषादौ या गोव्याव त्तिः गवि धवलादौ या अगोव्याव त्तिः तयोरेव परस्परं विशेषणविशेष्यभावो स्तु किं विधेर्निषेध्यत्वेन इत्यत आह – **न चेति**। न च निषेधान्तरमेव गौरियमित्यन्ये। अगोनिषेध एव विषयो स्तु, गोनिषेध एव निषेध्यो स्तु, अश्वत्वादिविधिनिषेध्येन इति वाच्यम्। एवं सति अन्योन्याश्रयप्रसङ्गः स्यात्। गोव्याव त्तिबुद्धिं विना अगोव्याव त्तिबुद्धिर्न भविष्यति, अगोव्याव त्तिबुद्धिं विना गोव्याव त्तिबुद्धिर्न भविष्यतीति परस्पराश्रयत्वम्। तदुक्तम्–

सिद्धश्चागोरपोह्येत गोनिषधात्मकस्तु सः।
तदा गौरेव वक्तव्यो न ाा यः प्रतिषिध्यते।।'' इति।

ननु भावो पि स्वाभावविरहरूप इति। तत्रापि = भावनिषेधे पि अन्योन्याश्रय एव इत्यत आह – **परानपेक्षेति**। परस्य अनपेक्षम् अपेक्षारहितं निरूपणं यस्य विधेः, तस्मिन् परानपेक्षनिरूपणे विधौ भावे नायं दोषं न अन्योन्याश्रयो दोषः। यदि अभावविरहात्मतया भावनिरूपणम् अवश्यं भवेत् तदा अयम् अन्योन्याश्रयो दोषः स्यात्। न भावः अभावः, नाभावो भाव इत्येवं रूपेण भावस्य निरूपणे अन्योन्याश्रयो भवति। न त्वेवम् किन्तु स्वरूपेणापि = भावत्वेनापि भावनिरूपणं संभवत्येवेति क्व अन्योन्याश्रय इत्यर्थः। समवाय–स्वसामानाधिकरण्य–अन्यतरसंबन्धेन सत्तावत्त्वं भावत्वम्। द्रव्यगुणकर्मसु समवायेन सत्तावत्वं सामान्यविशेषसमवायेषु सामानाधि–करण्येन सत्त्वं बोध्यम्। समवायेन सत्ताधिकरणे द्रव्ये आत्मनि आत्मत्वं द्रव्यत्वं वा सामान्यं वर्तते, विशेषश्च वर्तते, स्वरूपेण समवायश्च वर्तते इति सामानाधिकरण्य–संबन्धेन सामान्यविशेषसमवायेषु सत्ता वर्त्तते। एव च समवाय–स्वसामानाधि–करण्यान्यतरसंबन्धेन सत्तावत्त्वं वर्तते। स्वरूपश्च भावरूपो बोध्यः। तेन अभावरूपस्वरूपेण अभाववति द्रव्ये समवायेन सत्तायाः सत्त्वेन सामानाधिकरण्येन सत्तासत्त्वस्य अभावे सत्त्वात् अभावे तिव्याप्तिरिति निरस्तम्। स्वरूपश्च

प्रतियोग्यनुयोग्यन्यतररूपः। अन्योन्यज्ञानाधीनम् अन्योन्यज्ञानम् इति नैयायिकोक्तम्। अन्योन्याश्रयम्, अन्योन्यसङ्केतग्रहाधीनम्। अन्योन्यसङ्केतग्रहणम् इति छलतः संचार्य **ज्ञानश्रिया** बौद्धविशेषेण यत् समाहितम् तदेतत् **ग्राम्यजनस्य** = पामरजनस्य धन्धीकरणं = व्यामोहनम्। न तु परीक्षकस्य विचारकस्य व्यामोहनम्। यथा ऐन्द्रजालिकः गुटिकान्तरस्थाने गुटिकान्तरं निवेशयति, पथक्जनाः = अनैन्द्रजालिकजनाः तादूप्येणैव प्रतिपद्यन्ते इत्याह – **तत इति**। सङ्केते अन्योन्याश्रयस चारो यथा अगौर्महिषादिः, महिषादिपदासङ्केतग्रहाधीनग्रहः, गौश्च गोपदसङ्केतग्रहाधीनग्रह इति। अगवि महिषादौ गोपदसंकेतग्रहाधीनग्रहः, अमहिषादौ गवि महिषपदसङ्केतग्रहाधीन इत्यान्योन्याश्रयो बोध्यः। अस्य परिहारः। गवादिरूपार्थग्रहाधीनो गोपदसङ्केतग्रहो न तु महिषादिपदसङ्केतग्रहः तत्र गोपदसङ्केतग्रहे उपयुज्येत येन अन्योन्याश्रयः स्यादिति। तथा च कल्पितदूष्यदूषणत्वात् अन्योन्याश्रयस्य नापत्तिरिति भावः।

धर्मोत्तरस्य मतं शङ्कते – **स्फुरत्विति**। ननु गौरियम् इत्यत्र विध्यलीकं स्फुरतु। यदाह – 'असत्यरूपमादर्शयन् विकल्पः (सविकल्पज्ञानम्) कथं बाह्यसद शमादर्शयेत् तयोरत्यन्तवैधर्म्यादिति' इति चेत् ? न। विकल्पासहत्वात्। तथाहि – विध्यलीकमित्यस्य को र्थः? किं विधिस्वरूपम् अलीकम्, किं वा विधित्वेन आरोपितम्? किं वा अग हीतविधिभेदकमिति? तत्र आद्ये आह – **व्याघातादिति**। विधित्वं कि चित्त्वम्, अलीकत्वम् अकि चित्त्वम्, नैकत्र संभवति, व्याघातात्। अन्यतरस्य अन्यतराभावरूपत्वेन परस्परविरोधः। एकस्य अपराभावरूपत्वेन स्वाभावेन सह स्वस्य विरोधः। कि चिदिति हि विध्यर्थः, न कि चिदिति चालीकार्थः। ननु गोत्वम् अगोव्याव त्तिः इति कृत्वा अलीकमित्युच्यते, व्यवहारबलात्तु विधिरेव गोत्वम्, स्वस्वरूपस्यैव विधित्वात्, भावेनैव व्यवहारात्। अतो विध्यलीकत्वं न विरुद्धमित्यत आह – **अतद्रूपेति**। अतद्रूपपराव त्तिमात्रेण = अतद्व्याव त्तिमात्रेण अलीकत्वे = अकि चित्त्वे स्वलक्षणस्यापि अलीकत्वप्रसङ्गात्। स्वलक्षणस्यापि अतद्रूपव्याव त्तिसंबन्धात् अलीकत्वमेव प्रसज्येत। स्वेतरभिन्नत्वस्य स्वस्मिन् सत्त्वात्।

ननु स्वलक्षणे अतद्रूप–पराव त्तित्वम्, गोत्वादिकं तु रूपमात्रपराव त्तिरिति कथं स्वलक्षणस्य अलीकत्वमित्यत आह – **स्वरूपमात्रेति**। स्वरूपमात्रपराव त्तौ तु कथं विधिर्नाम। एतावता स्वलक्षणात् भेदे पूर्वोक्त एव व्याघातः। नह्येकं निःस्वरूपं सस्वरूप च। अयंभावः – विधिरूपमलीकमिति न युक्तम्। कि चित्त्वं विधित्वम्, अकि चित्त्वमलीकत्वमिति नैकत्र तिष्ठति। यो विधिः स एव अविधिरिति वदतो व्याघातः। अतद्व्याव त्तिमात्रेणालीकत्वं अतद्व्याव त्तित्वं गोत्वे वर्तते तस्य अलीकत्वम् उपपन्नम् इत्यपि न युक्तम्। स्वलक्षणस्यापि अतद्व्याव त्तित्वेन अलीकत्वापत्तेः। तथा च स्वलक्षणम् अपि वस्तु भविष्यति, अलीकस्य अवस्तुत्वात्। यदि स्वलक्षणे

अतद्व्याव त्तित्वम्, गोत्वे च स्वरूपमात्रपराव त्तित्वमिति उभयोर्भेदेन वस्तुत्वावस्तुत्वे उपपद्येते इत्यपि न युक्तम्। स्वरूपमात्रपराव त्तित्वे गोत्वस्य अवस्तुत्वस्य स्वलक्षणस्य गोत्वस्य अतद्व्याव त्तित्वम् इत्युभयोर्विरोधेन व्याघातापत्तेः। अवस्तुत्वस्य निःस्वरूपत्वं वस्तुत्वस्य सस्वरूपत्वमिति नैकं भवितुमर्हति इति।

ननु अलीके अतद्व्याव त्तिरूपे गोत्वे आरोपितं विधित्वं स्फुरति इति विध्यलीकं ब्रूमः। आरोपितानारोपितयोः विरोधाभावात् कुतो विरोध इति शङ्कते – **विध्यंशस्येति**। इयं गौरित्यत्र स्फुरणविषये अतद्व्याव त्तिरूपे गोत्वे अभावरूपे निःस्वरूपे, स्वलक्षणस्य विधेरारोपो न संभवति। आरोपो हि विकल्पः। तत्र विकल्पे स्वलक्षणस्फुरणं त्वया नेष्यते। सामान्यं यद् गोत्वादि स एव विधिः वस्तुरूप–स्वलक्षणस्वरूपः तत्र विकल्पे आरोप्यत इति न युक्तम्। सामान्यविधेः त्वया अनङ्गीकारात्। तथा च अलीकमेव विधिः इत्यायातम्। तत्र विरोध उक्त एव परिहरति – **स्वलक्षणविधेः विकल्पासंस्पर्शात्** = विकल्पाविषयत्वात् विकल्पे स्फुरणासंभवात्। अयं निष्कर्षः – अतद्व्याव त्तिरूपे अभावरूपे निःस्वभावे गोत्वे विधित्वमारोप्यते इति न वक्तुं शक्यते। अलीके स्वलक्षणस्य विधेः आरोपासंभवात्। आरोपे विकल्पे विधिरूपस्वलक्षणस्फुरणं त्वया नेष्यते। सामान्यं यद् गोत्वादि स एव विधिः। तत्र विकल्पे आरोप्यते इत्यपि न युक्तम्। सामान्यविधेस्त्वयानङ्गीकारात्। अतद्व्याव त्तिरूपस्य अभावत्वात्। अलीकम् अभावरूपं निःस्वरूपं विधिरित्यायातम्। तत्र विरोध उक्त एव। अलीकत्वं निःस्वरूपत्वम्। विधित्व च स्वरूपत्वं = सस्वरूपत्वम् इति विरोधः सुस्पष्टः। नैकत्र एतयोः विरोधयोः स्थितिः इति।

भेदाग्रहाद्विधिव्यवहारमात्रमिति चेत्। भवेदेवम्, यदि स्वलक्षणमपि विधित्वमपहाय स्फुरेत्, यदि चालीकमपि निषेधरूपतां परिहृत्य प्रकाशेत। न चैवम्, उभयोरपि निरंशतया प्रकारान्तरमुपादायाप्रथनात्, अप्रथमान-रूपासम्भवाच्च। काल्पनिकस्याप्यंशांशिभावस्यात एव मूल एवं निहितः कुठारः।

साधारणं च रूपं विकल्पगोचरः। न चालीकं तथा भवितुर्महति। तस्य हि देशकालानुगमो न भाविकः तुच्छत्वात्। न काल्पनिकः तस्याः क्षणिकत्वात्। नाप्यारोपितः अन्यत्राप्यप्रसिद्धेः।

भेदाग्रहादेकत्वमात्रमनुसन्धीयत इति चेत्, न। भाविकस्य भेदस्याभावात्, भावे वा काल्पनिकत्वस्य व्याघातात्। परमार्थासतः परमार्थाभेदपर्यवसायित्वात्। आरोपितस्याग्रहानुपपत्ते, अभेदारोपानवकाशाच्च, आरोपितासत्त्वस्य परमार्थसत्त्व-प्रसङ्गात्। चतुःकोटिनिर्मुक्तस्य चातिप्रस जकत्वात्, तदग्रहस्य त्रैलोक्ये पि सुलभत्वात्। अन्यत्र पारमार्थिकभेदप्रतीतौ कथमभेद आरोप्यतामिति चेत्।

एवं तर्हि यस्य प्रतिभासे यन्नारोप्यते नियमेन तस्यैवाप्रकाशे तदारोप्यम्। न तु तन्नामकमात्रस्य अतिप्रस जकत्वात्। अत एव न व्यधिकरणस्यापि सतो सतो वा भेदस्याग्रहो भेदारोपोपयोगीति।

ननु स्वलक्षणविधेरारोपं न ब्रूमः, येन विकल्पे न तत्स्फुरणं स्यात्; अपितु तद्भेदाग्रहमात्रं ब्रूम इति शङ्कते – **भेदाग्रहाद् इति**। विध्यलीकयोः भेदाग्रहात् (तादात्म्यात्) अलीके विधिव्यवहारमात्रमिति चेत्? एतत् संभवेत् यदि स्वलक्षणमपि विधित्वमपहाय स्फुरेत्। यदि चालीकमपि निषेधरूपतां परिहृत्य प्रकाशेत। न चैवम् (भेदाग्रहः) विध्यलीकयोः तादात्म्यं भवेत्। यदि विधिः विधित्वेन न स्फुरेत्, अलीकं वा अलीकत्वेन न स्फुरेत्। तथा च न संभवति। विधिः विधित्वेन स्फुरति, अलीकं वा अलीकत्वेन स्फुरति। द्वयोरपि तत्त्वेन स्फुरणात्। न हि शुक्तित्वेनैव भासमानायाः शुक्तेः रजतभेदाग्रहः संभवति। व्यवहारोपयोगी च = रजतव्यवहारोपयोगी च इति। परिहरति – **सम्भवेदेवमिति**। **उभयोरपि** = विध्यलीकयोरपि **निरंशकतया** = निर्धर्मकतया, **प्रकारान्तरम्** = स्वरूपातिरिक्तं प्रकारम्, **उपादाय** = ग हीत्वा, **अप्रथनात्** = अस्फुरणात्।

ननु यः प्रकारो न भासते तेन भेदाग्रहः स्यादित्याह – **अप्रथमानेति**। अप्रथमानरूपासंभावाच्च = अस्फुरणरूपासंभवाच्च। तत्र प्रमाणाभावादिति भावः। एतच्च परमतेनोक्तम्। तेन = परेण विधौ = स्वलक्षणे रूपान्तरानभ्युपगमात्। अलीकमात्रपरं वा एतत्। ननु अलीकस्वलक्षणयोः पारमार्थिक–धर्माभावे पि काल्पनिकं धर्मम् आदाय आरोप एव स्यात्। तथा च विधेर्विकल्पासंस्पर्शे पि न दोष इत्यत आह – **काल्पनिकस्येति**। काल्पनिकस्यापि अंशांशिभावस्य। अत एव मूल एव निहितः कुठारः। आरोपस्य हि मूलं भेदाग्रहः। स तु निरस्तः। तदा का आरोपसंभावना? एव च काल्पनिकस्य न अंशाशिकभावकल्पना संभवति। कल्पनामूले उभयोर्भेदाग्रहे कुठारः पतितः = खण्डितः। न च विशेषदर्शने सत्यपि आहार्य एव अयमारोपः = काल्पनिकधर्मारोपः स्याद् इति वाच्यम्। तस्य आहार्यारोपस्य व्यवहारानङ्गत्वात्। आहार्यारोपेण तमादाय व्यवहारो न प्रचलति। व्यवहारार्थमेव स्फुरणं चिन्त्यते इति भावः। आहार्यश्च बाधकालिकेच्छाजन्यं ज्ञानम्। आहार्यारोपश्च बाधकालिकेच्छाजन्य–ज्ञानविषयत्वारोपः।

प्रकारान्तरेण विधिस्फुरणं साधयति – **साधारणं चेति**। साधारणं च बहुतरदेशकाल–संबद्धम् रूपम् = गोत्वादिकम् विकल्पगोचरः = सविकल्पज्ञानविषयः। न च अलीकम् = निःस्वभावम् तथा भवितुमर्हति = सविकल्पज्ञानविषयो भवति। तस्य = अलीकस्य देशकालानुगमो न स्वाभाविकः, तुच्छत्वात् निःस्वभावत्वात् । अलीकस्य तुच्छत्वेन बहुतरदेशकालसंबन्धो न भवितुमर्हति।

ननु कल्पनासंव त्तिः सा = संव त्तिः स्वकीयम् अनुगमम् गोत्वादौ अलीके ग्रहीष्यतीत्यत आह – **न काल्पनिक इति**। न काल्पनिकः देशकालानुगमः अलीके गोत्वादौ संभवति। कल्पनाया अपि संव त्तेः देशतः कालतश्च अननुगमात्। तथा च कल्पनारूपा संव त्ति स्वधर्मं बहुतरदेशकालसंबन्धं अलीके गोत्वादौ संक्रामयति इति त्वया कथयितुं न शक्यते। कल्पनारूपायाः संव त्तेः बहुतरदेशकालसंबन्धो न स्वधर्मः, येन काल्पनिकं स्वधर्मम् अलीके गोत्वादौ उपक्रामयेत् कल्पनारूपा संव त्तिः। ज्ञानत्वेन तस्याः संभावना क्षणिकत्वात्। ज्ञानरूपा या संव त्तिः तस्याः क्षणिकत्वात्।

ननु गोत्वादिकं यद्यपि अलीकम् अननुगतं च, तथापि अन्यत्र द ष्टं देशत्वानुगतं कालत्वानुगतम्। तत्र गोत्वादौ आरोपयिष्यति इत्यत आह – **नाप्यारोपित इति।** नारोपितः देशकालानुगमः गोत्वादौ अलीके संभवति, अन्यत्रापि अप्रसिद्धेः। ताद शस्य कस्यापि त्वया अनभ्युपगमादित्यर्थः।

ननु विकल्प(सविकल्पज्ञान)विषयाणाम् अलीकानां परस्परभेदो न ग ह्यते। एतावता अनुगतप्रत्ययः स्यादिति शङ्कते – **भेदेति**। विकल्पविषयाणां गोत्वादीनाम् अलीकानाम् अनेकेषां परस्परभेदाग्रहात् गोत्वे एकत्वमात्रानुसन्धानात्। इयं गौः, इयं गौरिति अनुगतप्रत्ययः = अनुगतव्यवहार इति चेत् ? न। भाविकस्य = स्वाभाविकस्य भेदस्य अभावात्। भाविकस्य = स्वाभाविकस्य पारमार्थिकस्य अलीकानां भेदस्य अभावात्। कुतः परमार्थिको भेदः अलीकात्।

नन्वस्तु तेषामलीकानां पारमार्थिको भेद इत्यत आह – **भावे वेति**। अलीकानां काल्पनिकानां गोत्वादीनां पारमार्थिकस्य भेदस्य स्वीकारे काल्पनिकत्वव्याघातापत्तेः। पारमार्थिक–(भेदरूप)–धर्माश्रयत्वेन विकल्पविषयाणाम् अलीकानां परमार्थिकत्व–प्रसङ्गात्। असतः सदाश्रयत्वानुपपत्तेः। असन् सन्निति व्याघातः।

ननु यथा रजते रजतभेदः परमार्थतो सन्नेव ग ह्यते तथा विकल्पविषयाणाम् अलीकानां गोत्वादीनाम् असन्नेव भेदः स्यादित्यत आह – **परमार्थासतः** (गोत्वे गोत्वभेदस्य) **परमार्थाभेदपर्यवसायित्वात्** (गोत्वे गोत्वाभेदस्य) परमार्थस्य पर्यवसायित्वात् इति। यथा रजते रजतस्य परमार्थाभेदः, तथा कल्पनाविषयस्य गोत्वस्य गोत्वे परमार्थाभेदः स्यात्। तथा च सिद्धं कल्पनाविषयणां देशकालानुगमो विरोधित्वं च इत्यर्थः।

ननु विकल्पविषयेषु यः परस्परं भेदः स आरोपितः, तस्य अग्रहं ब्रूमः। एव च न कल्पनाविषयाणाम् देशकालानुगम इत्यत आह – **आरोपितस्य** (भेदस्य) अग्रहानुपपत्तेरिति। आरोपश्च अग्रहश्चेति विरोधश्च इति विरोधात्। तथा च गोत्वादौ परस्परभेदारोपे परस्पराभेदारोपासंभवात्।

ननु यस्य भेदस्य असत्त्वमारोप्यते तस्याग्रहः स्यादित्यत आह – **आरोपितासत्त्वस्य परमार्थसत्त्वप्रसङ्गादिति**। विकल्पविषयाणां गोत्वादीनां परस्परभेदेषु असत्त्वमारोप्यते, तदा तेषां परस्पराभेदे देशकालानुगमः संभवतीति चेत् ? न। असत्त्व चेत् आरोपितं तदापि परमार्थसन्नेव भेदः तत्र विकल्पविषयेषु स्यात्। तथा च पुनरलीकत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। चतुःकोटिनिर्मुक्तस्य चातिप्रस जकत्वात्, तद्ग्रहस्य त्रैलोक्ये सुलभत्वात्। कोटिः = प्रकारः। **त्रैलोक्येति।** सर्वत्रेत्यर्थः। अलीकानां भेदः (१) परमार्थिको वा ? (२) परमार्थासत्ताको वा ? (३) आरोपितो वा ? (४) आरोपितासत्ताको वा? इति चतुःकोटिनिर्मुक्तस्य भेदस्य चाप्रस जकत्वात्। अतिप्रसङ्गमाह – **तद्ग्रहस्य त्रैलोक्ये पि सुलभत्वादिति**। ताद शभेदाग्रहस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। तथा च सर्वत्रैवानुगतप्रत्ययः स्यात्। तथा च पटघटयोरपि अभेदापत्तिरिति भावः।

ननु घट–पटादौ अत्यन्तविलक्षणे भेदप्रतीतिरेवास्ति। अतो न भेदाग्रहः, न वा भेदाग्रहाधीनो नुगतप्रत्ययश्च इत्यत आह – **अन्यत्रेति**। ननु अलीकभेदाग्रहस्य सत्त्वे पि पारमार्थिकभेदग्रहेण बाधात् घटपटयोर्नाभेदारोप इत्यत आह – **अन्यत्रेति**। स्वभिन्ने परमार्थिकभेदप्रतीतौ कथं तत्र स्वाभेदः आरोप्यतामिति चेत्। एवं तर्हि यस्य प्रतिभासे यत् न आरोप्यते नियमेन तस्यैवाप्रकाशे तदारोप्यम्, न तु तन्नामकमात्रस्य, (आरोपः) अतिप्रस जकत्वात्। तथा च पारमार्थिकभेदग्रहश्चेत् अभेदारोपपरिपन्थी (विरोधी) तदा परमार्थिकभेदाग्रह एव अभेदारोपानुगुणः स्यादिति विकल्प–(सविकल्पज्ञान)विषयाणां गोत्वादीनां पारमार्थिकभेदः अभ्युपगन्तव्यः। यत्–(पारमार्थिकभेद)अग्रहेण अभेदारोपः स्यादिति पारमार्थिक(भेदरूप)धर्मकतया सिद्धं पारमार्थिकत्वं विकल्पविषयाणां सविकल्पज्ञानविषयाणां गोत्वादीनाम्। **तन्नामकेति**। अव्यपदेश्यभेदस्य = अव्यवहार्यभेदस्य। अतएव व्यधिकरणस्य अपि सतो सतो वा भेदस्य अग्रहो अभेदारोपोपयोगीति। अतिप्रस जकत्वाद् एव इत्यर्थः। नहि यमजयोर्भेदो न ग ह्यते। एतावतैव शुक्तिरजतयोर्भेद आरोप्यते। घटस्य वा स्वात्मप्रतियोगिको सद्भेदो न ग ह्यत। एतावतैव शुक्तिरजतयोरभेद आरोप्यते इत्यर्थः।

नापि न्यायादन्यापोहसिद्धिः, तदभावात्। तद्भावाभावसाधरणं तदन्य-व्याव त्तिनिष्ठं यथा मूर्तत्वम्। यच्चात्यन्तविलक्षणानां सालक्षण्यव्यवहारहेतु-स्तदन्यव्याव त्तिरूपम् इति न्यायौ स्त इति चेत्, न। कालात्ययापदेशात्। न हि प्रथमानस्य निष्ठा न्यायसाध्या नाम, प्रथनशरीरं तु चिन्तितमेवेति निष्फलः प्रयासः। यदा चानलीक एव ध्रुवं न्यायस्यानुभवाभासः तदा कैव कथा लीके। न हि तस्याप्रतीयमानमपि कि चिदस्ति, यन्न्यायेन साध्यमित्युक्तम्।

कि चेदं भावाभावसाधारण्यं न तावदुभयरूपत्वं, विरोधात्। न तद्धर्मत्वमनभ्युपगमात्। न हि गोत्वमभावस्यापि धर्म इत्यभ्युपगम्यते। न तद्धर्मित्वम् अनैकान्तात्। व्यक्तिरपि भावाभावधर्मशालिनी न निषेधैकरूपेति। न तदुभयसाद श्यमसम्भवात्। अतन्निव त्त्यैव तथात्वे साध्याविशेषात्। नाप्यस्तिनास्तिसामानाधिकरण्यं विरोधात् अन्यथासिद्धेश्च। न हि यदस्ति तदेव नास्तीतिप्रत्ययगोचरः स्यात्। प्रकारान्तरमाश्रित्य स्यादेवेति चेत्, एवं तर्हि तमेव प्रकारभेदमुपादाय विधिव्यवस्थायां को विरोधो, येन प्रतिबन्धः सिद्ध्येत्। तस्य विधिरूपतायामस्ति नाम किमधिकमुपनेयमिति चेत्। निषेधरूपत्वे पि नास्ति नाम किमधिकमुपनेयमिति समानम्। अत एव साधारण्यमिति चेत्, तथापि किं तदुभयात्मकत्वमुभयपरीहारो वेत्यशक्यमेतत्।

नापि न्यायादन्यापोहसिद्धिः। न्यायादतद्व्याव त्तिर्न सिध्यति। न्यायमा– शङ्कते – **यदिति**। गोत्वादीनाम् अन्यव्याव त्तिरूपत्वे = अतद्व्याव त्तिरूपत्वे प्रमाणं शङ्कते – **यदिति**। यत् भावाभावसाधारणम् = अस्ति–नास्ति– प्रत्ययविषयत्वम्। आश्रयनाशानाशयोरप्यनाशित्वं वा। तत् अन्याव त्तिनिष्ठम्। अन्यव्याव त्तिः = अतद्व्याव त्तिः निष्ठा = स्वरूपं यस्य तत् भावाभावसाधरणम्। तथा च गोत्वम्, अन्यव्याव त्तिस्वरूपम्, भावाभावसाधारणत्वात् यथा मूर्तत्वम्। यच्च अत्यन्तविलक्षणानां शबल–धवलादीनां सालक्षण्यस्य = समानलक्षणत्वस्य साद शस्य वा व्यवहारः तस्य हेतुः तत् अन्यव्याव त्तिरूपम्। तथा च गोत्वम् अन्यव्याव त्तिरूपम् भावाभाव– साधारणत्वात् शबल–धवलादीनां सालक्षण्य–व्यवहारहेतुत्वाद् वा इति अनुमानम् गोत्वादीनाम् अतद्व्याव त्तत्वे प्रमाणम् इति हेतुद्वयकौ न्यायौ अनुमाने गोत्वस्य अतद्व्याव त्तित्वे प्रमाणे स्त इति चेत् ? अत्रोभयत्र बाधकमाह – **नेति**। **कालाव्यपदेशात्**। (गोत्वरूप) धर्मिग्राहकप्रत्यक्षेण (मानेन गोत्वस्य) विधित्वेनैवोल्लेखात्। अनेकरूपशालिनो पि विधेः संभवदपि अग ह्यमाणं रूपं यदा अनुभवबाधात् न सिद्ध्यति तदा कथम् असंभवदपि अग ह्यमाणरूपस्य अलीकस्य अग ह्यमाणमनुभवं बाधते। तं रूपं सेत्स्यतीत्यत आह – **यदा चेति दीधितिः**। गोत्वत्वरूप–विधिरूपस्फुरणस्य प्रत्यक्षतो व्यवस्थापितत्वात्। अतद्व्याव त्तित्वाभावस्य गोत्वे प्रत्यक्षसिद्धत्वेन तत्र पूर्वोक्तहेतुद्वयस्य सत्त्वेन साध्याभाववत्पक्षकत्वरूपबाधस्य पूर्वोक्तहेत्वोः सत्त्वात्। एतदेवाह – **नहि प्रथमानस्य** = स्फुर्यमाणस्य निष्ठा (स्वरूपं) न्यायसाध्या = अनुमानसाध्या नाम। हि = यस्मात् प्रथमानस्य विधेः गोत्वस्य अतद्व्याव त्तित्वाभाववतः निष्ठा स्वरूपं न न्यायसाध्या न अनुमानसाध्या नाम। **यदा च अनलीक एव ध्रुवं न्यायस्य अनुमानाभासः, तदा कैव कथा अलीके**। यदा चानलीके = बह्नौ अनुष्णत्व– साधकस्यैव न्यायस्य आभासः तत्साधकहेतोः आभासः तत्साधको हेतुः हेत्वाभासो ध्रुवम्। तदा अलीके कैव कथा अलीकसाधकहेतोः हेत्वाभासत्वं ध्रुवम्। यदा वह्नौ

अनौष्ण्यसाधकमपि (अनौष्ण्यसाधको पि) न्यायम् (न्यायः) औष्ण्यग्राहिप्रत्यक्षं बाधते (बाधेत) चेत् तदा अलीकसाधकं न्यायम् (तदा अलीकसाधको न्यायः) सुतरां तत् (न्यायः) विरोधिप्रत्यक्षं बाधिष्यते इत्यर्थः। अथवा यदा वह्नौ अनौष्ण्यसाधकमपि न्यायम् = अनुमानम् औष्ण्यग्राहि प्रत्यक्षं (बह्निः उष्णः इति प्रत्यक्षम्) बाधेत चेत् तदा अलीकसाधकम् न्यायम् अनुमानम् गोत्वम् अतद्व्याव त्ति–भावाभावसाधारणत्वाद् इत्यनुमानम् सुतरां प्रत्यक्षं बाधेत चेत् ? गोत्वं विधिः भावः, देशकालानुगमवत् (गोत्वत्ववद् वा) इति प्रत्यक्षं बाधिष्यते इत्यर्थः। नत्वेवं भवति। अतः ताद शप्रत्यक्षं ताद शानुमानं बाधते इति भावः। आपाद्याभावः आपादकाभावं साधयति – **तथा च पूर्वोक्तस्तर्कः बोध्यः**।

ननु प्रत्यक्षमपि स्वविषये न्यायम् = अनुमानम् बाधताम् विषयान्तरे न्यायः प्रवर्तिष्यते एव अलीके पीत्यत आह – **न हि तस्याप्रतीयमानमपि किंचिदस्ति यन्न्यायेन साध्यमित्युक्तम् इति।**

किं च न्यायो पि विचारं न सहते इत्याह – **किं चेदं भावाभावसाधारण्यं न तावदुभयरूपत्वम् इति**। भावाभावसाधारण्यम् उभयरूपत्वम् अस्ति–नास्ति–प्रत्ययविषयकत्वम्। विरोधात् = अस्तिविषयत्वनास्ति–विषयत्वयोः सहानवस्थानात्। नहि य एव भावः स एवाभाव इति भवति।

ननु गोत्वादेर्भावाभावोभयधर्मवत्त्वम् अस्माभिः अभ्युपगम्यते इत्याह – **तद्धर्मत्वम् इति**। भावाभावयोर्धर्मवत्त्वं न गोत्वे (गोत्वे भावः तद्व्याव त्तित्व– रूपधर्मवत्त्वं) न संभवति। अनभ्युपगमात्। भावाभावयोरुभयोर्विरोधेन एकत्र स्थातुमशक्यम्। विरोधं दर्शयति–**न हि गोत्वमभावस्य** (अलीकस्य) धर्म इत्यभ्युपगम्यते = स्वीक्रियते।

ननु गोत्वे जातित्वं (भावः) वर्तते, वर्तते च गुणात्यन्ताभावः इत्युभयोर्भावाभावयो–र्धर्मित्वमेव भावाभावसाधारण्यं स्याद्। अत आह – **न तद्धर्मित्वमिति**। गोत्वस्य न भावाभावधर्मित्वम्। अनैकान्तिकत्वात् = व्यभिचारित्वात्। अनैकान्तिकत्वमाह – **व्यक्तिरपि भावाभावशालिनी** न निषेधैकरूपेति इति। घटव्यक्तेरपि घटव्यक्तित्वरूपभाव–पटव्यक्तित्वाभाव–रूप–अभावयोः धर्मयोः सत्त्वेन अतद्व्याव त्त्यभावरूप–साध्याभाववत्यां तस्यां व्यक्तौ भावाभावोभयधर्मित्वरूपहेतोः सत्त्वेन व्यभिचारस्य हेतौ सत्त्वात्।

ननु व्यक्तेरपि स्वाभावः (व्यक्त्यभावः) निषेधात्मकत्वम्। व्यक्त्य–भावाभाववत्त्वमस्त्येवेत्यत आह – **निषेधैकेति**। व्यक्त्यभावाभावरूपायाः व्यक्तेर्भावत्वेन न निषेधमात्रस्वरूपत्वम्। विधित्वस्यापि तत्र सत्त्वात्। तेन न तस्या अलीकत्वं स्वभाववत्त्वेन निःस्वभावत्वाभावात्। न तदुभयसाद श्यम्। भावाभावसाद श्यं भावाभावसामानाधिकरण्यम् न वक्तुं शक्यते। असंभवात्। अभावस्य निःस्वरूपत्वेन भावाभावोभयसाद श्यासंभवात्। भावाभावयोर्हि साद श्यं तदुभयव त्तितायां गोत्वादेर्भवेत्। न चैतत्संभवीत्यर्थः।

ननु भावे चाभावे चाव्याव त्तिरस्त्येवेति। तत् (अतद्– व्याव त्ति) स्वरूपं गोत्वं कथं तदुभयसाद श्यं न भवेदित्यत आह – **अतद्व्याव त्त्यैवेति**। अतन्निव त्त्यैव तथात्वे भावाभावसाद श्ये साध्याविशेषात्। निव त्तिरूपस्यैव साध्यत्वात्। तथा च गोत्वादेः अतद्व्याव त्तिरूपतायां सिद्धायां तथा स्यात् = अतद्व्याव त्त्यैव साद श्यं स्यात्। तद्रूपता च गोत्वस्य अतद्व्याव त्तिरूपता च न सिद्धा। **नापि अस्ति-नास्ति-सामानाधिकरण्यम्** = अस्ति–नास्तिप्रत्ययविषयत्वम्, अस्ति–नास्तितदुभयपदवाच्यत्वं वा भावाभावसामानाधिकरण्यम्। विरोधात्। अन्यथासिद्धेश्च। विरोधमेव विव णोति – **नहि यदस्ति तदेव नास्तीति प्रत्ययगोचरः स्यात्**। एकस्य विधिनिषेधप्रत्ययाविषयत्वाद् इत्यर्थः। अन्यथासिद्धिं विवरीतुम् आशङ्कते – **प्रकारान्तरमाश्रित्य स्यादेवेति** चेत् ? प्रकारान्तरम् = आश्रयनाशानाशप्रयुक्तम् अस्ति–नास्ति–सामानाधिकरण्यरूपम्। गोः सत्त्वे अतद्व्याव त्तित्वे अस्ति–सामानाधिकरण्यम्। गोः नाशे अतद्व्याव त्तित्वे नास्ति–सामानाधिकरण्यम्। एवमन्यत्र घटत्वादौ बोध्यम्। तर्हि तद्घटितं (आश्रयनाशानाशघटितम्) विधेरपि गोत्वस्य अस्ति–नास्ति–सामानाधिकरण्यं न अतद्व्याव त्तिसाधनाय अलम् (समर्थम्)। अन्यथासिद्धेः इत्याह – **तर्हि इति**। तमेव प्रकार(भेद)मुपादाय विधिव्यवस्थायां को विरोधो, येन प्रतिबन्धः सिद्ध्येत्? आश्रयनाशानाशप्रयुक्तम् अस्तितानास्तिते गोत्वे संभवतः। अत्र को विरोधः? अस्तिता–नास्तितयोः गोत्वे येन विरोधेन यद् भावाभावसाधारणं तत् अतद्व्याव त्ति–निष्ठमिति प्रतिबन्धः (व्याप्तिः) सिद्ध्येत्। गोत्वे तस्य = सामान्यस्य गोत्वादेः विधिरूपतायाम् अस्ति नाम किमधिकम् उपनेयम्। गोत्वे विधिरूपत्वेन विधित्वसिद्धेः अस्ति–सत्त्वम् अधिकम् किमर्थं स्वीक्रियते? गौरेतावतैव अस्तित्वे लब्धे अस्तीति पुनरुक्तमित्यर्थ इति चेत् ? न। निषेधरूपत्वे पि = गोत्वस्य निषेध–रूपत्वे पि = अगोव्याव त्तित्वरूपे पि नास्ति नाम निषेधो नाम अव्याव त्तिरूपाभावो नाम किम् अधिकम् अपनेयमिति समानम्। नास्तीति पुनरुक्तं समानम्। किमधिकमुपनेयमिति पाठे = गौरेतावतैवास्तित्वे लब्धे नास्तीति विरुद्धमत्र किमुपनेयम् इत्यपि द्रष्टव्यम्। तथा च गोत्वमस्तीति पुनरुक्तम्, नास्तीति विरुद्धमिति समानम्। **अतएव इति।** अस्मादेव विरोधपौनरुक्त्युभयादेव। साधारण्यम् गोत्वादीनाम् अभावत्व–साधकत्वम् भावाभावयोः सामानाधिकरण्यसिद्धे तु गौरित्यत्र गोत्वस्य भावत्वे पि निषेधकथनात् न पौनरुक्त्यं नास्ति विरोधः। अभावे अभावत्वकथनात्। गोत्वस्य भावाभावरूपत्वे विरुद्धान्यतरमादाय पुनरुक्तविरोधपरिहारः कर्तव्यः। तथापि किं तदुभयात्मकत्वम् = भावाभावात्मकत्वम् गोत्वादीनाम् ? **किं वा उभयपरिहारो वेत्यशक्यमेतत्।** उभयपरीहारः = गोत्वादीनाम् न भावत्वम् नाप्यभावत्वम् इति अशक्यमेतत् = ''**परस्परविरोधे हि न प्रकारन्तरस्थितिः''** इत्यर्थः। गोत्वस्य भावत्वे अभावत्वं विरुद्धम्। न गोत्वस्य अभावत्वम्। गोत्वस्य अभावत्वे भावत्वं विरुद्धमिति न गोत्वस्य भावत्वम्। अतएव न भावाभावात्मकत्वं गोत्वादीनां मन्तव्यम्।

तस्मादस्तिनास्तिभ्यामुपाध्यन्तरोपसम्प्राप्तिः प्राप्तोपाधिनियमो वेति सार्थकत्वं तयोः। तदेतद्विधावपि तुल्यम्। शान्ताशेषविशेषत्वादलीकपक्षे क्वोपाध्यन्तरविधिस्तन्नियमो वेति विशेषदोषः। ततो गोशब्दो गोत्वविशिष्ट-व्यक्तिमात्राभिधायी पर्यवसितः, तास्तु विप्रकीर्णदेशकालतया नार्थक्रियार्थि-प्रार्थनामनुभवितुमीशत इति प्रतिपत्ता विशेषाकाङ्क्षः। सा च तस्याकाङ्क्षा अस्ति गोष्ठे कालाक्षी धेनुर्घटोघ्नी महाघण्टा नन्दिनीत्यादिभिर्नियामकैर्विधायकैर्वा निवार्यत इति विधौ न कश्चिद्दोषः। गोत्वविशिष्टसदसद्व्यक्तिमात्रप्रतीते-स्तदेवास्त्यादिपदप्रयोगवैफल्यमिति चेत्, तावन्मात्रप्रतिपत्त्यर्थमेव तत्। अनेकप्रति-पत्त्यर्थन्तु तदुपयोगः तस्य प्रागप्रतीतेरित्युक्तम्।

गोत्वादीनाम् अतद्व्याव त्तित्वेन निषेधरूपत्वे अस्तिनास्ति–सामानाधिकरण्येन पूर्वोक्त–विरोध–पौनरुक्त्ये यथा त्वया समाधेये तथा गोत्वादीनां विधिरूपत्वे मया ते समाधेये इत्युपसंहारव्याजेनाह – **तस्मादिति**। गोत्वे अस्ति–नास्तिभ्याम् उपाध्यन्तरोपसंप्राप्तिः = देशकालविशेषे सत्त्वासत्त्वरूपस्य उपसंप्राप्तिः। यत्र (देशे काले) गौः वर्तते तत्र (तस्मिन् देशे काले च) गोत्वमस्ति। यत्र (देशे काले च) गौः न वर्तते तत्र (तस्मिन् देशे काले च) गौः न वर्तते। प्राप्तोपाधिनियमो वा= तस्योपाधेः अप्राप्तौ प्रापणम् प्राप्तौ नियमनमिति तयोः भावाभावयोः सार्थकत्वम्। तदेतद्गोत्वस्य विधावपि = भावे पि तुल्यम्। **शान्ताशेषविशेषत्वात्** = शान्ताः अशेषाः सर्वे विशेषाः यत्र तस्य भावः। तस्मात् = निःस्वरूपत्वात् गोत्वस्य अलीकपक्षे अगोव्याव त्तिरूपाभावपक्षे निःस्वरूपपक्षे क्व पूर्वोक्तोपाध्यन्तरविधिः तन्नियमो वेति विशेषदोषः। अलीकस्य अतद्व्याव त्तिरूपस्य गोत्वस्य अभावरूपस्य केनापि उपाधिना वैशिष्ट्यं संबन्धः एव न संभवति इति तव मते दोषः। गोत्वं विधिः भाव इति वादिनो मम मते न स दोषः इति विशेषः।

स्वपक्षे अस्ति–नास्ति–सामानाधिकरण्यं समर्थयति – **तत इति**। तस्मात् गोशब्दो गोत्वविशिष्टव्यक्तिमात्राभिधायी पर्यवसितः न तु अगोव्याव त्तिवाची। तास्तु = व्यक्तयस्तु विप्रकीर्णदेशकालतया = दूरदेशतया बहुकालतया वा अर्थक्रियार्थां = गो–दान–दोहनाद्यर्थिप्रार्थनां = तदुपादित्सां अनुभवितुं न ईशते = समर्था भवन्ति। तदयमर्थः। गां दद्यात्, गां धुक्ष्व, गां वधानेति देशितः = आज्ञापितः जनः सर्वासां गवां दानादेरशक्यतया तावदुपादित्सैव नोत्पद्यते दूरे प्रव त्तिः। यदा तु विशेषम् अधिगच्छति विशेषोपादानमहिम्ना तदा प्रवर्तते। स च विशेषः यत्र (गौः) अप्राप्त एव बोध्यते तदा **विधायकैः** (सः), यदा तु सामान्यतो देशादीनां प्राप्तानां विशेषो बोध्यते तदा नियामकैः। **वा**कारो व्यवस्थितविकल्पार्थः। **स चाकाङ्क्षा निवर्तते** इत्यग्रेतनेन अन्वयः। एवं च गौरस्तीति बोध्यते तत्कालीनध्वंस–अप्रतियोगित्वं बोध्यते। नास्तीति तत्कालीनध्वंसप्रतियोगित्वं तदाश्रयस्य गोत्वाश्रयस्य गोः बोध्यते। अस्तीति आत्मनो

वर्तमानकालसंबन्धो बोध्यते। नात्मास्तीति अनाश्रितत्वम् आत्मनो बोध्यते। गोष्ठे गौरस्तीति देशो नियम्यते इत्याद्यूह्यम्। **इति प्रतिपत्ता** = गोपदजन्यगोज्ञानवान्, **विशेषाकाङ्क्षः** = गोरिति वाक्यश्रवणानन्तरम् अस्त्यादिविशेषाकाङ्क्षः = गौरिति वाक्यश्रवणानन्तरम् अस्त्यादिविशेषम् आकाङ्क्षते। गौरितिश्रवणानन्तरं गौरस्ति न वेति विशेषम् आकाङ्क्षते। गोत्वविधिरभावपक्षे इत्येतत् सर्वमुपपद्यते, न अतद्व्याव त्तिपक्षे अभावपक्षे। सा चाकाङ्क्षा तस्य = अर्थक्रियार्थिनः प्रतिपत्तुः विशेषाकाङ्क्षस्य च 'अस्ति गोष्ठे कालाक्षी धेनुः नवप्रसूता घटोध्नी महाघण्टा नन्दिनी' इत्यादिभिः नियामकैः विधायकैर्वा निवार्यते इति गोत्वस्य विधौ भावपक्षे न कश्चिद् दोषः। गोत्वविशिष्टायाः सद्–(अस्ति)–असद्(नास्ति)–वत्याः व्यक्तेः प्रतीतेः तदेव अस्त्यादिपदप्रयोगवैफल्यमिति चेत् ?

ननु गोत्वस्य विधि(भाव)पक्षे गोपदात् सत्–असत् = अस्ति–नास्ति, व्यक्ति = गोव्यक्तिमात्रं प्रतीतमेव चेत् तदा अस्ति–नास्तिपदयोः = गौरस्ति गौर्नास्तीत्यत्र अस्ति–नास्ति–पदयोः वैयर्थ्यं तदवस्थमेव चेत्? न तन्मात्रप्रतिपत्त्यर्थमेतत्। गोमात्रप्रतिपत्त्यर्थम् यदि गौरस्तीति प्रयोगः तदा अस्त्यादिपदानां वैयर्थ्यमेव। अधिकप्रतिपत्त्यर्थं तु गोमात्रप्रतिपत्तेरधिकप्रतिपत्तये यदि गौरस्तीत्यादीनां प्रयोगः तदा तदुपयोगः। अस्त्यादिपदानां सार्थक्यम्। **तस्य** = तादशाधिकस्य **प्रागप्रतीतेरित्युक्तम्**। अस्त्यादिपदानामपि यदि गोत्वविशिष्टपिण्डप्रतिपत्तिमात्रफलं तदा भवत्येव पौनरुक्त्यम्। तदेव तु नास्तीत्यर्थः। गोत्वम् अन्याव त्तिरूपमित्यत्र विधिरूपतया प्रतीयमानस्य गोत्वस्य पक्षीकरणे बाध एव हेतोः साध्याभाव–(अन्याव त्त्यभाव)वत्–पक्षकत्वं बाधत्वमिति लक्षणात् भावाभावाभावस्य भाव– रूपत्वात्। धर्मिभेदाभाव–धर्मात्यन्ताभावयोश्चैकत्वात्। अन्यस्य भावभिन्नस्य अतद्व्याव त्तिरूपस्य गोत्वस्य पक्षे तस्य अप्रतीततया आश्रयासिद्धिः। अगोव्याव त्तित्वेन गोत्वस्य प्रतीत्यभावात्। तदुभयदोषम् (बाधाश्रयासिद्धि– दोषम्) परिजिहीर्षुः **ज्ञानश्रीः** विकल्पमेव पक्षयति स्म। **तदेतस्य नैपुण्यम्**। विकल्पो पि (सविकल्पज्ञानमपि) विषयेण निरूपणीयः। स च विषयः गोत्वादिरूपः विधिरूपतया भासते इति। तथापि बाधापरिहार इति निपुणंमन्यता तस्य।

यस्तु निपुणम्मन्यो विकल्पमेव पक्षयति स्म, यज्ज्ञानं यद्भावाभाव-साधारणप्रतिभासं न तेन तस्य विषयत्वम्। यथा गोज्ञानस्याश्वेनेत्यादि। तद्यदि गोविकल्पस्याश्वविषयत्वमेव तद्भावाभावसाधारण्यं गव्यपि बाह्ये तथा, ततः साध्याविशिष्टत्वम्।

अथास्त्यादिविशेषाकाङ्क्षा, तदा साधारण्यम्। न ह्युदाहृतो गोविकल्पो श्वास्त्यादिविशेषमाकाङ्क्षति। नियमविधौ तु विरोध एव। न ह्यतद्विषयस्य

तद्विशेषनियमाकाङ्क्षा नाम, गोज्ञानस्याश्वविशेषनियमाकाङ्क्षाप्रसङ्गात्।

तदीयसदसत्त्वानुपदर्शनं चेत्, तद्यदि स्वरूपमेव ततो सिद्धिर्दोषः। न हि गोविकल्पो गोस्वरूपं नोपदर्शयतीति मम कदापि सिद्धम्। तव चाद्यापि। उपाध्यन्तरं चेदनैकान्तः। न हि यो यस्योपाध्यन्तरं नोपदर्शयेत् नासौ तदपीति नियमः।

ननु नियम एव। तथाहि यन्न यत्समवेतधर्मबोधनं न तत् तत्स्वरूपबोधनं, यथा गोविकल्पशब्दौ तुरगे। तथा च तौ गव्यपि नीलत्वापेक्षयेति व्यापकानुपलब्धिः। धर्मिबोधे पि हि धर्माणां कस्यचिद्बोधः कस्यचिदबोधश्चेत्युपकारभेदान्नियमः स्यात्।उपकारभेदश्च शक्तिभेदाद्भवेत्। न चैवं प्रकृते, अनवस्थाप्रसङ्गात्। ततः शक्तेरभेदादुपकाराभेदे सर्वोपाधिसहितबोधो बोधो वेति द्वयी गतिरिति प्रतिबन्धसिद्धिः। दुष्प्रयुक्तमेतत्। उपाधितद्वतां भेदे प्रतिनियतसामग्रीबोध्यत्वादेव तदयौगपद्ये बोधाबोधोपपत्तेः। प्रतिनियतसामग्रीबोध्यत्वस्यापि स्वभाववैचित्र्यनिबन्धनत्वात्। तस्यापि स्वकारणाधीनत्वात्। तस्याप्यन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्। तस्यापि कार्योन्नेयत्वादिति।

तदाह – **यस्तु (ज्ञानश्रीः) निपुणंमन्यो विकल्पमेव सविकल्पज्ञानमेव पक्षयति स्म**। यज् ज्ञानम् = गोत्वज्ञानं न गोत्वेन गोविषयम् गोभावाभावसाधारणत्वात् अश्वज्ञानवदिति भावार्थः।

यद्वा अयं गौरिति विकल्पो न गोत्वेन गोविषयकः, तद्भावाभाव– साधारणत्वात्। गां बधानेति गोविकल्पवदिति मानार्थः। यथा गोज्ञानमश्वेन विषयेण अविषयित्वमिति वदता अश्वज्ञानस्यापि गवा विषयेण अविषयित्वम् इति ध्वनितम्। तथा च अश्वज्ञानमेव द ष्टान्तः। अन्यथा उपसंहाराभावात्। तदाह – **यज्ज्ञानं यद्**(विषय)**भावाभावसाधारणप्रतिभासं, न तेन** (विषयेण) **तस्य** (ज्ञानस्य) **विषयित्वम्। यथा गोज्ञानस्य अश्वेनेत्यादि**। गो–भावाभाव–साधरणत्वं यदि गवाविषयत्वमेव तदा साध्याविशिष्टत्वम् इत्याह – तद् (भावाभावविषयकत्वम्) यदि गोविकल्पस्य = गोविषयक–सविकल्पकज्ञानस्य अश्वाविषयत्वमेव तद् भावाभावसाधारण्यं गव्यपि बाह्ये तथा। ततः साध्याविशिष्टत्वम् इति। गोज्ञानस्य अश्वेन विषयेण विषयित्वम् अश्वाविषयकत्वनैव त्वया वाच्यम्। **गव्यपीति**। गोविकल्पस्य गोत्वलक्षण– भावाभावसाधारण्यं तदविषयत्वमेव, तथा च साध्यावैशिष्ट्यम् (गोविषयक– ज्ञाने वर्तते) इत्यर्थः।

यद्वा यो विकल्पः, यद्भावाभावसाधारणः स न तेन विषयेण विषयी, यथा गोविकल्पः अश्वभावाभावसाधारणत्वात् नाश्वेन विषयेण विषयी। तथा च गोस्वलक्षणं न गोविकल्पविषयः। न वा गोत्वं विधिरूपं तद्विषयः। अत्र तद्भावाभावसाधारणत्वं

यत् तदविषयत्वे हेतूकृतं तद् विकल्प्य दूषयति – **तद् यदीति**। गोविकल्पस्य अश्वभावाभावसाधारणत्वम् अश्वाविषयत्वमेव गोस्वलक्षणभावाभावासाधारणत्वमपि गोस्वलक्षणाविषयत्वमेव वाच्यम्। तथा च साध्याविशिष्टत्वम्। साध्यावैशिष्ट्यम्, तदविषयत्वेनैव तदविषयत्वसाधनात्। स्वाविषयत्वेनैव स्वाविषयत्वसाधनात्। एवं गोत्वे पि विधिरूपे वाच्यम्।

ननु यो विकल्पः यत्र अस्त्यादिविशेषाकाङ्क्षाम् उत्थापयति स विकल्पः तेन विषयेण विषयी न भवति इति व्याप्तिर्विवक्षिता इत्यत आह – **अथास्त्यादीति**। गोविकल्पस्य अश्वगोचराकाङ्क्षोत्थापकत्वेन गवाविषयत्वं साध्यम्। तत्र गोविकल्पस्य अश्वगोचराकाङ्क्षोत्थापकत्वमेव नास्ति येन अश्वाविषयत्वं प्रसाध्य तद् द ष्टान्तेन गवाविषयत्वं सेत्स्यति। एव च अगोव्याव त्तिविषयत्वं गौरिति ज्ञाने स्यादिति भावः। एतदेवाह – **न हि उदाहृतो गोविकल्पः अश्वास्त्यादिविशेषमाकाङ्क्षति**। तथा च द ष्टान्त एव अयं विकल्पो नुपपन्नः। साधनविकलत्व– पर्यवसायित्वात्। न हि साध्यविकलो द ष्टान्तो मन्तव्यः। अन्यथा व्याप्ति– ग्रहानुपपत्तेः। सामान्यतः तदाकाङ्क्षोत्थापकत्वस्य साधनस्यैव ततो द ष्टान्ताद् व्याव त्तेः। अत एव अस्यासाधारण्यम्।

ननु तद्धर्मनियामकत्वं तदविषयत्वे हेतूकर्तव्यमित्यत आह – **नियमविधौ तु विरोध एव इति**। गेहे गोष्ठे वा गौरिति तद्धर्मनियामकत्वम्। गेहे गोष्ठे वा गोवत्ता नियामकत्वं तद्विषयतया गोविषयतया व्याप्तम्। अतो विरोधात् गोविषयतां न साधयतीत्यर्थः। विरोधमेव स्फुटयति – **न हि अतद्विषयस्य तद्विशेषनियमाकाङ्क्षा नाम**, अगोविषयस्य अश्वविषयकज्ञानस्य गेहे गोष्ठे वा गौरिति गोविशेषनियमाकाङ्क्षा हि = यस्मात् न भवति। ननु कथमयं विरोध इत्यत आह – **गोज्ञानस्य अश्वविशेषनियमाकाङ्क्षाप्रसङ्गात्**। अश्वाविषयस्य गोज्ञानस्य गेहे अश्व इति अश्वविशेषविषयाकाङ्क्षाप्रसङ्गात्।

ननु गोविकल्पस्य गोस्वलक्षणसदसदनुपदर्शकत्वात् गोस्वलक्षण– विषयत्वं सेत्स्यति (अगोव्याव त्तिविषयकत्वं सेत्स्यति) इत्यत आह – **तदीय** (गोविकल्पस्य गोस्वलक्षणीय–) **सदसत्त्वानुपदर्शनं चेत्?** न। तत् = सदसत्त्वं यदि स्वरूपमेव = गोस्वरूपमेव । ततः गोस्वरूपविषयकत्वात्। तदा तदनुपदर्शकत्वं हेतुः स्वरूपासिद्ध एव। पक्षे हेत्वभावः पक्षतावच्छेदकसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं वा हैतौ स्वरूपासिद्धिः। प्रकृते गोविकल्पे पक्षे गोस्वलक्षणविषयकत्वस्य सदसदुपदर्शकत्वस्य सत्त्वेन सदसदनुपदर्शकत्वाभावात्। तदेव दर्शयति = नहि गोविकल्पः गोस्वरूपं नोपदर्शयतीति मम नैयायिकस्य कदापि सिद्धमिति।

ननु मया बौद्धेन तस्य गोविकल्पस्य अगोव्याव त्ति–विषयकत्वेन गोस्वरूपानुपदर्शकत्वम् अभ्युपगम्यते एवेति पक्षे गोविकल्पे हेतोः सत्त्वेन कथं

स्वरूपासिद्धिरित्यत आह – **तव चाद्यापि**। अद्यापि त्वया बौद्धेन यत्ने क्रियमाणे तत्(गो)स्वरूपानुपदर्शनं न साधितमस्ति।

ननु सदसत्त्वं न वस्तुरूपं येन असिद्धिः स्यात्। वस्तुन एव असिद्धिर्भवति। सत्त्वासत्त्वयोः तद्गत(सदसद्गत)धर्मयोः वस्तुरूपयोः अनुपदर्शकत्वं हेतुः स्यात्। अत आह = **उपाध्यन्तरमिति**। धर्मिभिन्नम् इत्यर्थः। तथा च गोविकल्पः, गोभावाभावसाधारणाभासम् = गोभावाभावविषयकम्, सत्त्वासत्त्वधर्मानुपदर्शकत्वाद् इत्यनुमानेन अगोव्याव त्तिविषयको गोसविकल्पः सिद्ध्यतीति शङ्का बोध्या इति चेत्? न। पूर्वोक्तहेतुः **अनैकान्तः** = व्यभिचारी। अतः पूर्वोक्तम् अव्याव त्तिविषयकानुमानं न प्रमाणम्। धर्मानुपदर्शकमपि धर्म्युपदर्शकं भवत्येवेति अनैकान्तः। अतद्व्याव त्तिरूप–१साध्याभाववति विकल्पे गव्युपदर्शकत्वेन सत्त्वासत्त्वस्वभावानुपदर्शकस्य हेतोस्तत्र सत्त्वात्। साध्याभाववद्व त्तिर्हि हेतौ व्यभिचारात्। सन्दिग्धानैकान्तिक इत्यन्ये। अनियममेव दर्शयति – **नहि यो** (विकल्पः) **यस्य** = धर्मिणः उपाध्यन्तरम् धर्मिभिन्नधर्मम् नोपदर्शयेत्, न विषयीकुर्यात् नासौ (विकल्पः) तदपीति = धर्म्यपीति नियमः।

ननु यत् (ज्ञानम्) यत्समवेतं धर्मं (यज्ज्ञानम् धर्मिसमवेतं धर्मं नोपदर्शयति न विषयीकरोति) तज्ज्ञानं तमपि (धर्मिणमपि) नोपदर्शयतीति **नियम एव**। तथा च अयं गौरिति विकल्पः शब्दो वा गोगतं नीलादिधर्मं नोपदर्शयति न विषयीकरोति। गामपि नोपदर्शयति न विषयीकरोति। यथा गोविकल्पशब्दौ तुरगे। तथा च तौ = गोविकल्पशब्दौ गव्यपि = धर्मिण्यपि नीलत्वापेक्षयेति व्यापकानुपलब्धिः।

तत्(धर्मि)समवेत–धर्मविषयताव्याप्या तत्(धर्मि)विषयता। सा च 'धर्मविषयता' गोविकल्पशब्दाभ्यां निवर्तमाना तद्विषयताम् = धर्मिविषयताम् आदाय निवर्तते। धर्मविषयताव्याप्या धर्मिविषयता इति व्याप्तिमेव द्रढयति – **धर्मिबोधे पि हि धर्माणां कस्यचिद् बोधः कस्यचिद् अबोधश्च इत्युपकारकभेदात् नियमः स्यादित्यादि।** धर्माणां मध्ये कस्यचिद् धर्मस्य बोधः, कस्यचिद् धर्मस्य अबोधश्च इति उपकारकभेदात् तद्धर्मबोधकारणं तदन्यधर्मबोधकारणाद् भिन्नमिति तत्सत्त्वे तद्धर्मबोधः, तदसत्त्वे तद्धर्माबोध इति नियमः स्यात्। उपकारकभेदश्च तद्बोधानुकूलशक्तिविशेषभेदाद् भवेत्। न चैवं प्रकृते, धर्मविषयकबोधे शक्तिभेद इति कथयितुमशक्यम्। उपकारे पि उपकारापेक्षायां शक्तावपि शक्त्यन्तरापेक्षायाम् अनवस्थाभयेन धर्मिधर्मयोर्ग्रहे ग्राहकाणां समानैव शक्तिः इति धर्मिणि ग ह्यमाणे तद्गताः सर्वे एव धर्मा ग ह्येरन्। अतो धर्म्यपि न ग ह्यते इत्यायातम्। अत्र च विकल्पशब्दानां स्वलक्षणाविषयत्वमात्रं परस्योद्देश्यम्, न तु व्याव त्तिविषयत्वमपि। तत्परत्वे मानस्यानुपदेशात् इत्यवधेयम्।

दुष्प्रयुक्तमेतत्। उपाधितद्वताम् (भेदस्य बहुशः साधितत्त्वात्) भेदे प्रतिनियतसामग्रीबोध्यत्वादेव, तदयौगपद्ये = धर्मिग्रह–धर्मग्रह–सामग्र्योरयौगपद्ये बोधाबोधोपपत्तेः।

ननु उक्तं समानशक्तिकत्वम्। अतः प्रतिनियतसामग्रीवेद्यत्वमेव कथम् अत आह – **स्वभाववैचित्र्यनिबन्धनत्वात्**। तस्यापि = स्वभाववैचित्र्यस्यापि अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्। ननु विचित्रस्वभाव एवानुपपन्न इत्यत आह – **स्वकारणेति**। तस्यापि स्वभाववैचित्र्यस्यापि कार्योन्नेयत्वादिति।

यत्तु शक्तेरभेदादित्यादि, तत्तदा शोभेत यदि धर्मिमात्राधीनस्तद्बोध-मात्राधीनो वा तावन्मात्रबोधसामग्र्यधीनो वा यावदुपाधिभेदबोधः स्यात्, न चैवम्।

एतेन भेदाद्धर्मिणः प्रतीतावपि शब्दलिङ्गद्वारा धर्माणां चेदप्रतीतिः, इन्द्रियद्वारापि माभूदित्यादिकं तु कर्णस्पर्शे कटिचालनमपास्तम्। तत्तदुपाध्यु-पलम्भसामग्रीविरहकाले प्रसजितस्येष्टत्वात्। विचित्रशक्तित्वाच्च प्रमाणानाम्। लिङ्गस्य प्रसिद्धप्रतिबन्धप्रतिसन्धानशक्तिकत्वात्। शब्दस्य समयसीमविक्रम-त्वात्। इन्द्रियस्य त्वर्थशक्तेरप्यपेक्षणात्। न तु सम्बद्धो र्थ इत्येव प्रमाणैः प्रमाप्यते, अतिप्रसङ्गात्। यस्य तूपाधेरुपलम्भ एव येन प्रमाणेन धर्म्युपलभ्यते तस्यानुपलम्भे स तेन नोपलभ्यत इति परं युज्यते। सर्वोपाध्यनुपलम्भे वा। तथा च सिद्धसाधनमिति सङ्क्षेपः।

शक्तेरभेदात् उपकाराभेदसर्वोपाधि(धर्म)सहितबोधो बोधो वेति दूषयति – **यत्तु शक्तेरभेदादित्यादि**। तत् = शक्तेरभेदाद् इत्यादि तदा शोभेत = तदा भविष्यति यदि धर्मिमात्राधीनः तद्(धर्मि)–बोधमात्राधीनो वा तावन्मात्र(धर्मिमात्र)–बोधसामग्र्यधीनो वा यावदुपाधि(धर्म)–बोधः स्यात् । **न चैवम् इति।** यद्यपि धर्मिमात्राधीनत्वे तद्(धर्मि)बोधमात्राधीनत्वे च यौगपद्यबोधनियमो न भवति = यावदुपाधिबोधनियमो न भवति, तथापि तदपि = धर्मि यावदुपाधिबोधो पि नेष्यते इति भावः। एतेन धर्माणां भिन्नसामग्र्यधीनबोध्यत्वेन भेदात् = धर्मधर्मिणो भेदात् प्रतीतावपि = धर्मि–बोधे पि **शब्दलिङ्गद्वारा धर्माणां चेत् अप्रतीतिः** = शब्दलिङ्गाभ्यां बह्नेः रूपपरिमाणादिकं यदि न ग ह्यते, किन्तु बह्नि(धर्मि)स्वरूपमात्रं ग ह्यते। तथा इन्द्रियद्वारा धर्मप्रत्यक्षं मा भूत् धर्मिप्रत्यक्षे पि धर्मप्रत्यक्षं मा भूत् धर्मिमात्रविषयकं प्रत्यक्षमस्तु। **कर्णस्पर्शे** = शब्दलिङ्गस्वभावत्वं कर्णस्पर्शः **कटिचालनम्** (तद्वदेव) शब्दलिङ्गस्वभावत्ववदेव प्रत्यक्षस्वभावत्वापादनम्। यद्वा यावद् धर्माणाम् अग्रहणम् कर्णस्य स्पर्शः, तद्वदेव धर्मिणो पि अग्रहणापादनम् **कटिचालनम्**। यद्वा यावद्धर्मविशिष्टधर्म्यग्रहणं चेदिति **कर्णस्पर्शः** तदा विकल्पानाम् अतद्व्याव त्ति–विषयतापादनं **कटिचालनम्** इत्यपास्तम्।

यथा शब्दलिङ्गे उपाधिम् = धर्मं न ग ह्णीत, धर्मधर्मिणोः भिन्नसामग्र्या न धर्मस्य विषयत्वम्, तथा धर्मिप्रत्यक्षमपि उपाधिम् रूपादिधर्मं न ग ह्णीयादित्यापादने

वैयधिकरण्यात् मूलशैथिल्यमुक्त्वा इष्टापादनम् आह – **तत्तदुपाधिः।** धर्मोपलम्भ–सामग्रीविरहकाले प्रसजितस्य = धर्मिमात्रप्रत्यक्षस्य इष्टत्वात्। तर्कमूलव्याप्तौ उपाधिमाह **विचित्रशक्तिकत्वाच्च प्रमाणानाम्**। शक्तिवैचित्र्यात् न तुल्यप्रतिभासनियमः = धर्मधर्मिणोः न युगपद्बोधः। विचित्रशक्तिकत्वं प्रमाणानाम् आह – **लिङ्गस्य प्रसिद्धप्रतिबन्धप्रतिसन्धानशक्तिकत्वादिति**। लिङ्गस्य = हेतोः प्रसिद्धः = द ढतर–प्रमाणावधारितः प्रतिबन्धः = व्याप्तिः पक्षधर्मे हेतौ सैव शक्तिर्यस्य लिङ्गस्य प्रति–सन्धान(ज्ञान)शक्तिकत्वात्, **शब्दस्य समयसीमविक्रमत्वात्** = समयः संकेतः सैव सीमा = मर्यादा तदायत्तः तदधीनः विक्रमः प्रव त्तिर्यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्। **इन्द्रियस्य तु** (चक्षुरादेस्तु) **अर्थशक्तेरपि** अर्थेन्द्रिययोः सन्निकर्षस्यापि **अपेक्षणात्।** तथा च इन्द्रियार्थ–सन्निकर्षादिजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। अतो यावदुपाधिभिः (यावद्धर्मैः) सन्निकर्षः तावदुपाधि(धर्म)–विशिष्टस्य धर्मिणो ग्रहणं स्यादेव इत्यर्थः।

ननु रूप–स्पर्श–सङ्ख्या–परिमाणादि–विशिष्टस्यैव बह्नेर्व्याप्यो धूमः शब्दश्च वस्तुगत्या तावदुपाधि(धर्म)विशिष्टे एव सङ्केतित इति तावदुपाधि(धर्म)विशिष्ट–धर्मिग्रहः स्यादित्यत आह – **न तु सम्बद्धो र्थ इत्येव प्रमाणैः प्राप्यते** = प्रत्याय्यते, अतिप्रसङ्गात्। तावदुपाधि(धर्म)– वैशिष्ट्येन न हेतुनिरूपितव्यापकता साध्यस्य, न वा र्थे शब्दनिरूपितवाच्यता, येन सकलधर्मविशिष्टधर्मिणः अनुमितिः शाब्दश्चार्थः हेतुशब्दाभ्यां भवेताम्।

यद्वा ननु यावदुपाधी(रूपस्पर्शेत्यादिधर्मे)न्द्रियसन्निकर्षे चेत् तावदुपाधीनां, तदा सर्वोपाधिविशिष्टग्रहणं प्रत्यक्षेण आपाद्यते इत्यत आह – **न तु सबंद्धो र्थः** = इन्द्रियसंबद्धो र्थ इत्येव **प्रमाणैः** = इन्द्रियैः प्राप्यते = बोध्यते, अतिप्रसङ्गात्। तत्रापि दार्ष्टान्तिकानुविधानात् नियम इत्यर्थः। व्यापकतावच्छेदकस्य शक्यतावच्छेद–कस्य वा बह्नित्वादेरुपलम्भ एव लिङ्गशब्दाभ्यां बह्निर्भासते इति।

बह्नित्वतदनुपलम्भे बह्निर्न भासताम्, सर्वोपाध्यनुपलम्भे वा वह्निर्न ताभ्यां लिङ्गशब्दाभ्यां भासतामिति चेत् साध्यते, तदा सिद्धसाधनमित्याह – **यस्य तु उपाधेः** धर्मस्य **उपलम्भ एव** येन प्रकारेण धर्म्युपलभ्यते तस्य उपाधेः अनुपलम्भे स धर्मी तेन प्रकारेण नोपलभ्यते इति परं युज्यते। सर्वोपाध्यनुपलम्भे वा कस्याप्युपा–धेरनुपलम्भे वा इत्यर्थः। तथा **सिद्धसाधनमिति** संक्षेपः इति।

स्यादेतत्। यदीन्द्रियेण समानविषयावेव लिङ्गशब्दौ, ततः प्रतिभास-भेदो नुपपन्नः। एकविषयत्वं हि प्रतिभासाभेदेन व्याप्तं सव्येतरनयनद ष्टवत् द ष्टम्। न चेह तथा। यथा हि प्रत्यक्षे चेतसि देशकालावस्थानियतानि परिस्फुटरूपाणि स्वलक्षणानि प्रतिभान्ति, न तथा शब्दे लैङ्गिकविकल्पे पि। तत्र हि विजातीयव्याव त्तमिव परस्पराकारसङ्कीर्णमिवास्फुटमिव प्रत्यक्षापरिचितं

किञ्चिद्रूपमाभासमानमनुभवविषयः। न चोपायभेदमात्रेण प्रतिसासभेद उपपद्यते। न हि प्रतिपत्त्युपायाः प्रतिपत्त्याकारं परिवर्त्तयितुमीशते। न चैकं वस्तु द्व्याकारमिति प्रतिबन्धसिद्धिः। अस्य प्रयोगः, यो यं क्वचिद्वस्तुनि प्रत्यक्षप्रतिभासाद्विपरीतः प्रतिभासो नासौ तेनैकविषयो यथा घटग्रहणात् पटप्रतिभासः। तथा च गवि प्रत्यक्षप्रतिभासाद्विपरीतः प्रतिभासो विकल्पकाल इति।

यथा इन्द्रियम् स्वलक्षणविषयम् = स्वलक्षणं विषयो यस्य तदिति बहुब्रीहिः। तथा लिङ्गशब्दावपि यदि तत्(स्वलक्षण)विषयौ स्याताम् = स्वलक्षणं विषयो ययोः तौ तद्विषयौ लिङ्गशब्दौ स्याताम्। तदा प्रतिभास(ज्ञान)वैलक्षण्यं (न्यूनाधिकविषयकत्वम्) न स्यात् (तद्विरहश्चाभेदः स्यात्)। प्रत्यक्षज्ञानात् अनुमितिशाब्दयोः वैलक्षण्यं न स्यात्। अतस्तौ लिङ्गशब्दौ न स्वलक्षणं स्पृशत इत्याह – **स्यादेतत्**। यदीन्द्रियेण समानविषयावेव लिङ्गशब्दौ ततः प्रतिभासभेदो नुपपन्नः। एकविषयत्वं हि प्रतिभासाभेदे न व्याप्तम्, सव्येतरनयनदृष्टवत् दृष्टम्। सव्येतरनयनाभ्यां दृष्टे नयनयोरेकविषयत्वम्, प्रतिभासाभेदश्चेति। **न चेह तथा।** अनुमितिशाब्दयोः न प्रत्यक्षविषय–समानविषयकत्वम्। **यथे**त्यादिना प्रतिभासभेदमेव स्फुटयति। प्रत्यक्षासमानविषयकत्वम् अनुमितिशाब्दयोर्वा स्फुटयति – **यथेत्यादिना**। यथाहि प्रत्यक्षे चेतसि = ज्ञाने देशकालावस्था–नियतानि परिस्फुटरूपाणि स्वलक्षणानि प्रतिभान्ति, न तथा शाब्दे लैङ्गिकविकल्पे पि। तत्र = अनुमितौ शाब्दे हि **विजातीयव्यावृत्तमिव** = विजातीयव्यावृत्तिविशिष्टगोत्वमिव परस्पराकारसंकीर्णमिव 'अयं घट' इति शाब्दानुमित्योः तद्देशीय–एतद्देशीय–घटयोः परस्पराकारभिन्नयोः तदेतद्घटयोः सत्त्वे पि तादृशाकारविशिष्टघटो न भासते। **अस्फुटमिव** (असाधारणधर्मायुतमिव) **प्रत्यक्षापरिचितं** (प्रत्यक्षाविषयः) किञ्चिद्रूपम् आभासमानम् अनुभवविषयः।

न च उपायभेदमात्रेण = कारणभेदमात्रेण प्रतिभासभेदः = ज्ञानभेदः उपपद्यते। प्रतिपत्त्युपायः = प्रतिपत्तेः ज्ञानस्य य उपायः स प्रतिपत्त्याकारं = ज्ञानाकारं परिवर्तयितुम् अन्यथाकर्तुम् न हि ईशते = समर्थाः भवन्ति। **न चैकं वस्तु द्व्याकारमिति प्रतिबन्धसिद्धिः** = यद् भावाभावसाधारणं तद् अन्यव्यावृत्तिनिष्ठमिति प्रतिबन्धसिद्धिः। भावाभावसाधारणत्वस्यैव हेतोरनेन प्रकारेण प्रपञ्चनम्। **अस्य प्रयोग इति**। अयं प्रघट्टकार्थः प्रयोगमारोप्य दर्श्यते इत्यर्थः। एतत्प्रतिबन्धाधीनः प्रयोगो वा इत्यर्थः। यो यं क्वचिद् वस्तुनि प्रत्यक्षप्रतिभासाद् विपरीतः प्रतिभासः नासौ तेन प्रकारेण **एकविषयः** = एको विषयो यस्य विपरीतज्ञानस्य स इति बहुब्रीहिः। यथा घटग्रहणात् ज्ञानात् पटप्रतिभासः। तथा च गवि स्वलक्षणे प्रत्यक्षप्रतिभासाद् निर्विकल्पकात् तद्विपरीतः सविकल्पकः प्रतिभासो विकल्पकाल इति। सविकल्पकस्य न स्वलक्षणविषयता इति।

इदमप्यवद्यम्। चित्राचित्रप्रतिभासाभ्यां मिथो विरुद्धाभ्यामेकनीलविषयाभ्यामनैकान्तात्। न हि चित्राध्यक्षे यन्नीलं चकास्ति तदेव पश्चान्न केवलं तदैव वा पुरुषान्तरस्य। येनाकारेणैकविषयत्वं तयोर्न तेनैव विरोधो, येन च विरोधो न तेनैकविषयत्वम्। धर्मान्तराकारेण विरोधो नीलमात्राकारेण चैकविषयतेति चेत्, नन्विहापि धर्मान्तराकारेण विरोधो गोत्ववत्पिण्डमात्राकारेण चैकविषयतेति तावन्मात्रनिराकरणे सिद्धो हेतुः। पूर्वत्र सिद्धसाधनम्। न हि शाब्दलैङ्गिकविकल्पकाले देशकालनियमादयो पि सर्व एव धर्मविशेषा विषयभावमासादयन्तीत्यभ्युपगच्छामः।

ननु धर्मिण्येव स्फुटास्फुटप्रतिभासभेदः कथम्। न कथचित्। यथा यथा हि धर्माः प्रतिभान्ति तथा तथा स्फुटेतिप्रतिभानव्यवहारः, यथा यथा च धर्माणामप्रतिपत्तिस्तथा तथा प्रतिभानस्य मान्द्यव्यवहारो दूरान्तिकादौ प्रत्यक्षे पि लोकानाम्, न तु सर्वथैवाप्रतिपत्तौ।

इदमपि अवद्यम् = दोषयुक्तम्। एकमेव नीलं समस्तचित्रपटदर्शिना चित्रत्वेन संव तापरभागदर्शिना चाचित्रत्वेन प्रतीयते। तत्र प्रतिभासभेदे पि न विषयभेद इत्यनैकान्त इत्याह – **चित्राचित्रप्रतिभासाभ्यां मिथो विरुद्धाभ्यामेकनीलविषयाभ्याम् अनैकान्तात्। न हि चित्राध्यक्षे** = चित्रमिति प्रत्यक्षे यन्नीलं चकास्ति = प्रकाशते, तदेव नीलमेव पश्चात्भागे (अपरभागे)। न केवलं तदेव नीलमेव वा पुरुषान्तरस्य = नीलमिति प्रभावतो चित्रस्य भ्रमवतः पुरुषस्य, यद्यपि तत्र नीले चित्रबुद्धिर्भ्रान्ता, तथापि प्रतिभासभेदो स्त्येव, भ्रमप्रमयोर्भेदात्।

ननु चित्रत्वाचित्रत्वाभ्यां विरोधो नीलत्वेन चैकविषयतेति न तत्रानैकान्तिकम् इति शङ्कते – **येन आकारेण**। नीलत्वेन एकविषयत्वम्, तयोः नीलयोः न तेनैव नीलत्वैनेव विरोधः, येन च विरोधः = अनीलत्वेन विरोधः, तेन अनीलत्वेनैकविषयत्वं चित्राचित्रविषयकज्ञानयोर्नैकविषयत्वम्। **धर्मान्तराकारेण** = अनीलत्वेन अनीलमिति ज्ञानस्य मात्राकारे चैकविषयतेति चेत् ? गोत्ववत् तद्व्यक्तिविषयतया इयं गौरिति ज्ञानस्य समानविषयत्वं साधयामः। प्रतिभासभेदश्च देशकालनियतत्वानियतत्व–फुटत्वास्फुटत्वादिभिः त्वदुपदर्शितैरिति तुल्यमिति परिहरति – **नन्विहापि।** इयं गौरित्यत्रापि धर्मान्तराकारेण = देशकालनियमादिरूपेण विरोधो गोत्ववत्पिण्डाकारेण चैकविषयतेति तावन्मात्रनिराकरणे = गोत्ववत्–पिण्डाकारेणैकविषयत्वनिराकरणे सिद्धो हेतुः शब्दलिङ्गविकल्पानां स्वलक्षण–विषयतानिराकरणे प्रतिभासभेदो हेतुः स्वरूपासिद्धः। वस्तुनि सर्वेषां समानप्रतिभासत्वादित्यर्थः। **पूर्वत्रेति**। देशकालनियमादिषु प्रतिभासभेदेन भिन्नविषयत्वं यदि साध्यते सिद्धसाधनम्। नहि ये देशावच्छेदाः प्रत्यक्षेण भासन्ते ते शब्दलिङ्गाभ्यामपि इत्यर्थः।

ननु प्रत्ययानां स्फुटास्फुटप्रतिभासत्वं स्फुटास्फुटार्थावगाहित्वं न चैको र्थः, स्फुटो स्फुटश्च भवति विरोधात्। अतः स्फुटभासस्याध्यक्षस्य प्रत्यक्षस्य स्फुटस्वलक्षणविषयत्वम्, अस्फुटप्रतिभासस्य लैङ्गिकादिविकल्पस्य अनुमितेः शाब्द–बोधस्य च अस्फुटालीकत्वविषयत्वम् इत्याशयेनाशङ्कते – **ननु धर्मिण्येव।** यदि शाब्दलैङ्गिकयोरपि धर्मिण्येव विषयः, तर्हि प्रत्यक्षो धर्मी स्फुटो भासते, लैङ्गिके शाब्दे च धर्मी अस्फुटो भासते इति कथमुपपद्यते, धर्मिणः सर्वत्राविशेषादिति चेत् ? न। सर्वप्रकाशः स्फुट एव। स्फुटास्फुटव्यवहारश्च बहुतराल्पतरधर्मविषयता–निबन्धनः। प्रत्यक्षे च बहुतरकालादिधर्मो भासत इति तत्र स्फुटेति व्यवहारः। अनुमितौ शाब्दे चाल्पतरधर्मो भासते इति अस्फुटेति व्यवहारः। अत्र कालादिसंबन्धाभावात् इत्यत आह – **न कथचिदिति**। एतदेव आह – **यथा यथा हि धर्माः प्रतिभान्ति तथा तथा स्फुटार्थप्रतिभानव्यवहारः। यथा यथा च धर्माणामप्रतिपत्तिः** (अज्ञानम्) **तथा तथा प्रतिभानस्य** (ज्ञानस्य) **मान्द्य- व्यवहारः** (अस्फुटव्यवहारः)**। दूरान्तिकादौ प्रत्यक्षे पि लोकानाम् अस्फुटव्यवहारः, न तु सर्वथैव धर्म्यप्रतिपत्तौ** धर्मिणः अज्ञाने अस्फुट व्यवहारः। यदि शाब्दे अनुमितौ च धर्मिविषयता न स्यात् तदा तत्र अस्फुटता पि न स्यात्। निर्विषयस्य ज्ञानत्वाभावात्।

विदूरादिप्रत्ययो पि पक्ष एवेति चेत्। अस्तु। न तु तावतापि धर्मधर्मिभेद-सिद्धौ प्रत्यक्षबाधस्य तत्सन्देहे पि सन्दिग्धानैकान्तिकस्य वा परिहारः, तावतापि प्रतिभासभेदस्योपपत्तेः।

यदि च नैवं, दूरतमादिप्रत्ययेषु कः समाश्वासविषयः। यस्यार्थो लभ्यत इति चेत्। ननु लाभो पि पूर्वपूर्वोपलब्धानुपमर्दनेनैव। न हि सत्त्वद्रव्यत्व-पार्थिवत्वव क्षत्वादिकं परिभूय शिंशपा लभ्यते।

यत्रार्थक्रियासिद्धिरिति चेत्, सर्वेषामनुव त्तेः कस्यार्थक्रियेति किं निश्चायकम्। न कि चित्, किन्तु सङ्कीर्णार्थक्रियाविरहादेकमेव तत्र वस्तु। न चैकस्मिन् प्रतिभासभेद इत्येक एव प्रत्ययस्तत्र सालम्बन इति ब्रूम इति चेत्, तथापि कतम इत्यनिश्चये स एवानाश्वासः। असङ्कीर्णापि चार्थक्रिया न व्यक्तितः, सामग्रीतः सर्वसम्भवात्। अत एव न सन्तानतो नियमः। न ह्येकसन्ताननियता काचिदर्थक्रिया नाम। का चिदर्थक्रियां प्रति प्रत्यक्षानुप-लम्भगोचर एव तथा व्यवस्थाप्यत इति चेत्, तर्हि दूरतमाद्युपलब्धा अपि तथा व्यवस्थाप्याः। सर्वेषामेव तेषां तां तामर्थक्रियां प्रति प्रयोजकताया अन्वयव्यतिरेकगोचरत्वादिति।

ननु दूरदूरतरादिप्रत्यया अपि नास्माकं लक्षणसाक्षिणो न वा साक्षात्कारिणः, परन्तु अलीकालम्बना अनादिविकल्पवासनासमुत्थाः समारोपितसाक्षात्कारा इत्याशङ्कते

– **विदूरादिप्रत्ययो पि पक्ष एवेति चेत् इति।** तत्रापि दूरादिप्रत्यये पि स्फटास्फुटप्रतिभासप्रभेदेन सद्द्रव्यपार्थिवादिप्रतिभासभेदेन वा विषयभेदं साधयिष्याम इत्यर्थः।

अस्तु, न तु तावतापि धर्मधर्मिभेदसिद्धौ प्रत्यक्षबाधस्य, तत्सन्देहे पि सन्दिग्धानैकान्तिकस्य वा परिहारः, तावतापि प्रतिभासभेदस्योपपत्तेः। दूरादिप्रत्यये यदि अतद्व्याव त्तिविषयतां साधयसि तदा प्रत्यक्षबाध एव। तत्र विधिस्फुरणस्य साधितत्वात्। प्रतिभासभेदेन विषयभेदमात्रसाधनं तु सन्दिग्धानैकान्तिकपराहतम्। प्रतिभासभेदो पि स्यात्, न तु विषयभेद इति विपक्षबाधकाभावात्। तत्सन्देहे धर्मधर्मिभेदसन्देहे वा बाधसन्देहे वा। धर्मधर्म्यभेदसन्देहाधीनात् हेतोः व त्तित्वसन्देहात् व्यभिचारसन्देह इति विज्ञेयम्।

यदि च नैवम् । दूरतरादिप्रत्ययाः यदि नैकविषयाः किन्तु भिन्नविषया एव, तर्हि **दूरतमादिप्रत्ययेषु कः समाश्वासविषयः**? अतो भावानां क्षणिकत्वं न मन्तव्यम्।

ज्ञानविषयस्य प्राप्तिरेव ज्ञानसमाश्वासहेतुरित्याह **यस्य** = ज्ञानस्य, लभ्यते इति चेत्? (घटादिभावानां क्षणिकत्वे पि पूर्वभावस्य स्वसजातीयभावोत्पादकत्वेन 'घटो यम्' इति ज्ञानोत्तरं पूर्वघटसजातीयघटान्तरस्य लाभात् घटज्ञाने समासो भविष्यतीति भावः)।

ननु निश्चयार्थे। पूर्वपूर्वोपलब्धभावानुपमर्देनैव लाभो पि, न हि सत्त्व–द्रव्यत्व–प थिवीत्व–व क्षत्वादिकं **परिभूय** = तिरस्कृत्य शिंशपात्वं लभ्यते। सद्द्रव्यं प थिवी व क्षः शिंशपेति दूरादिप्रत्यया जायन्ते। तत्र शिंशपालाभे पि सदादीनां लाभो स्तीति तावद्धर्मविशिष्टपिण्डगोचरा एव सर्वे प्रतिभासा न तु विषयभेद इत्यर्थः। विषयरूपभावस्य भेदाभावेन भावानां न क्षणिकत्वमिति भावः।

ननु पत्र–काण्डादि–विशेषलक्षणार्थक्रिया शिंशपाया एवेति तल्लाभ एव। अतस्तत्प्रतिभास एव समाश्वासः। अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम्। यस्य अर्थक्रिया द श्यते तद्विषयक एव प्रत्ययः प्रमेति तत्सजातीयके ज्ञाने समाश्वास इत्याशङ्कते – **यत्रार्थक्रियासिद्धिरिति चेदिति**। न। **सर्वेषाम्** = सदादीनाम् **अनुव त्तेः कस्य** = तेषु मध्ये कस्य सतः द्रव्यस्य प थिव्याः व क्षस्य शिंशापायाः **अर्थक्रिया इति किं निश्चायकम्**। सत्त्वादीनां पूर्वपूर्वप्रतिभासविषयाणां चेत् नोपमर्दस्तदा सैवार्थक्रिया **कस्य** = तेषु मध्ये कस्येति निश्चायकं नास्ति।

यद्यपि बहवः प्रतिभासाः द श्यन्ते, तथापि अर्थक्रिया चेदेकैव (एकदैव) तदा तद्विषय एव वस्तुभूतः, अन्ये च प्रतिभासा अवस्तुविषया एवेत्याह – **न कि चिदिति**। निश्चायकमित्यनुषज्यते। किन्तु सङ्कीर्णार्थक्रियाविरहादेकमेव तत्र वस्तु। न चैकस्मिन् प्रतिभासभेद इति एक एव प्रत्ययस्तत्र सावलम्ब इति ब्रूम इति चेत् ? यद्यपि

'घटो यम्' इति ज्ञाने सद्द्रव्यादयः अनेके भावाः परिस्फुरन्ति तथापि न सद्द्रव्यादि–प थिव्यादयः सर्वे अर्थक्रियाः न कुर्वन्ति। सङ्कीर्णार्थक्रियाविरहात् तेषां मध्ये एकमेव अर्थक्रियाकारि। अर्थक्रियाया असाङ्कर्यात्। तथा तेषु मध्ये एकमेव वस्तु यत् अर्थक्रियाकारि, तदन्ये च प्रतिभासा अवस्तुविषयाः। अर्थक्रिया–कारित्वाभावत्वस्यैव वस्तुत्वात्। **सालम्बन इति।** पारमार्थिकविषय इत्यर्थः।

सद् द्रव्यम् प थिव्यादिप्रत्ययानां कतमः प्रत्ययः प्रमेत्यनिश्चये प्रव त्त्य–नध्यवसाय एवेत्याह – **तथापीति**। तथापि सदादीनां मध्ये कतम इत्यनिश्चये **स एवानाश्वासः।**

दूषणान्तरमाह – **असङ्कीर्णापीति**। असङ्कीर्णा पि अर्थक्रिया न व्यक्तितः; सामग्रीतः सर्वसंभवात्। असंकीर्णार्थक्रियया पि व्यक्तिविशेषनिश्चयस्तदा स्यात् यदि सा अर्थक्रिया व्यक्तिविशेषमात्राद् भवेत्, न त्वेवम्। किन्तु सामग्रीतः सर्वसंभवः। सामग्री च कारण– समुदायरूपा। तद्घटका का व्यक्तिः अर्थक्रियां करोतीति न निश्चयः।

ननु तया अर्थक्रियया एका व्यक्तिर्मा निश्चीयताम्। सन्तानो निश्चेष्यते इत्यत आह – **अत एवेति**। सामग्रीतः कार्यसंभवो यत इत्यर्थः। **अत एव न सन्तानो नियमः**। तदेव स्फुटयति – **न हीति**। **न ह्येकसन्ताननियता काचिदर्थक्रिया नाम**। न ह्यङ्कुरो पि बीजसन्तानाद् एकस्मात् किन्तु तत्रापि धरण्यादिसन्तानापेक्षायाः दर्शितत्वादित्यर्थः।

ननु यद्यपि सामग्र्यधीना अर्थक्रिया, तथापि अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राधान्येन अङ्कुरं प्रति बीजस्यैव प्रयोजकत्वं (कारणत्वम्) ग हीतमिति। तया अर्थक्रियया तदेव (बीजमेव) कारणमिति निश्चीयते इत्यत आह – **काचिदर्थक्रियां प्रति प्रत्यक्षानुपलम्भगोचर एव तथा व्यवस्थाप्यते इति चेत् ? तर्हि दूरतमाद्युपलम्भा अपि तथा व्यवस्थाप्याः**। सर्वेषामेव तेषां तां तामर्थक्रियां प्रति प्रयोजकताया अन्वयव्यतिरेकगोचरत्वादिति। तर्हि द्रव्यं, प थिवी, व क्षः, शिशंपा इत्यत्रापि द्रव्यत्वेन संयोगं प्रति, प थिवीत्वेन गन्धं प्रति व क्षत्वेन पत्रकाण्डादिकं प्रति शिशंपात्वेन तद्विशेषं प्रति (व क्षविशेषं प्रति) अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वावधारणात् सर्वे प्रत्ययाः यथार्था इत्यायातम्। तथा चात्र सर्वं सत्, द्रव्यं, प थिव्यादयः अर्थक्रियाकारिणः वस्तुभूताः न तु तेषु मध्ये को पि वस्तुभूतः, तदन्ये अवस्तुभूताः न भवन्ति।

स्यादेतत्। न धर्मान्तराकारेण प्रतिभासभेदो भेदहेतुः, किन्तु परोक्षापरोक्ष-रूपतया। सा हि न धर्मभेदानप्युपादाय समर्थयितुं शक्या। तेष्वपि परोक्षापरोक्ष-ज्ञानोदयात्। तत्रापि धर्मान्तरानुरसणे नवस्थानादिति चेत्।

न, तयोरविषयाकारत्वात्। द्विविधो हि ज्ञानधर्मो विषयावच्छेदो जातिभेदश्च। तत्र विषयावच्छेदभेदेन विषयस्य भेदस्थितिरभेदनिराकरणं वा। न तु द्वितीयेन, तस्य कारणभेदेनैवोपपत्तेः श्रुत्यनुमितिस्म तिवत्। यथा च विषयभेदे पि कारणभेदादेवापरोक्षजातीयमिन्द्रियजं ज्ञानं तथा विषयाभेदे पि कारणभेदादेव परोक्षापरोक्षजातीयमिन्द्रियलिङ्गज्ञानं भवत् केन वार्यते। वारणे वा कार्यभेदं प्रति कारणभेदो प्रयोजकः स्यात्। तथा चाकस्मिकः स आपद्येत। जातिभेदो यं न तूपाधिभेद इति किमत्र निष्टङ्कं कारणमिति चेत्, अनुभव एव। न हि व्यवसायकाले पारोक्ष्यापारोक्ष्यस्म तित्वानुभूतित्वानि परिस्फुरन्ति। असावग्निमानयमग्निमान् सो ग्निमामिनि स्फुरणात्। अनुव्यवसायकाले तु तत्प्रतिभासः, अमुमनुमिनोमि इमं पश्यामि तं स्मरामीत्युल्लेखात्। कथं तर्हि परोक्षो र्थः प्रत्यक्षश्चेति व्यवहारः। यथानुमितो द ष्टः स्म त इति।

प्रत्यक्ष–लैङ्गिक–शाब्द–विकल्पानां प्रतिभास–भेदाद् विषयभेदं शङ्कते – **स्यादेतदिति**। न धर्मान्तराकारेण प्रतिभासभेदो (विषयभेदेन ज्ञानभेदकः) भेदहेतुः।

धर्मान्तराकारमेवाह – **किन्तु परोक्षापरोक्षरूपतयेति**। ननु वस्तुधर्मादेव परोक्षत्वापरोक्षत्वे तद्विषयतया परोक्षत्वापरोक्षत्वविषयतया प्रतिभासो पि कश्चित्परोक्षः कश्चिदपरोक्ष इत्यत आह – **सा हि।** परोक्षापरोक्षरूपता हि, न धर्मभेदानपि उपादाय समर्थयितुं शक्या। तेष्वपि = धर्मभेदेष्वपि परोक्षापरोक्षज्ञानोदयात् **तत्रापि धर्मान्तरानुसरणे नवस्थानाद् इति चेत्? न।** यदि धर्मपरोक्षताधीना चेत् परोक्षता तदा तत्र अपरोक्षज्ञानं न स्यादेव। भवति च ताद शधर्मविषयकम् अपरोक्षज्ञानम्। अत इष्टापत्तिः न कर्तव्या। **तत्रापीति।** परोक्षे धर्मे अपरा परोक्षता, अपरोक्षे चापरा परोक्षता चेत् तदा अनवस्थेत्यर्थः। तथा च परोक्षापरोक्षलक्षणप्रतिभासभेदात् विषयभेदः प्रत्यक्ष–लैङ्गिक–शाब्दज्ञानानाम् आवश्यक इति भावः। परिहरति – **न तयोरिति।** तयोः = परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः, अविषयाकारत्वात् = विषयाघटितत्वात्। तदेव उपपादयति – **द्विविधो हीति।** द्विविधो हि = द्विप्रकारको हि ज्ञानधर्मः। विषयावच्छेदः = विषयनिबन्धनः, जातिभेदश्च। कारणभेदप्रयोज्यानुमितित्व–साक्षात्वादि– इत्यर्थः। तत्र विषयनिबन्धनः यथा घटज्ञान–पटज्ञानयोः उपाधिभेदः। तत्र विषयावच्छेदभेदेन विषयस्य भेदस्थितिः अभेदनिराकरणं न तु द्वितीयेन = जातिभेदेन। तस्य = द्वितीयस्य, कारणभेदेनैवोपपत्तेः स्वकारणभेदेन इत्यर्थः। श्रुत्यनुमितिस्म तिवत् विषयकृते प्रतिभासभेदे विषयभेद एव तन्त्रम्, न तु जातिकृते प्रतिभासभेदे विषयभेदः तन्त्रम्। तत्र कारणभेदस्यैव तन्त्रत्वात्। यथा तत्रैव विषये साक्षात्कारिज्ञानम्, आनुमानिकं च ज्ञानम्, तथा तत्रैव परोक्षापरोक्षं च। साक्षात्कारिज्ञानम् अपरोक्षम्, आनुमानिकं शाब्दं च ज्ञानम् परोक्षम्। यथा च विषयभेदे पि = घटपटादिलक्षण– विषयभेदे पि, कारणभेदादेव = स्वकारणभेदादेव अपरोक्षजातीयम् इन्द्रियजं ज्ञानम्, तथा विषया भेदेपि

बह्निनरूपविषयाभेदे पि कारणभेदादेव इन्द्रिय–लिङ्ग–शब्दभेदादेव **परोक्षापरोक्ष-जातीयम् इन्द्रिय-लिङ्गज्ञानं भवत् केन वार्यते** ? इन्द्रियात् अपरोक्षम् इन्द्रियजम्, लिङ्गात् लैङ्गिकम् परोक्षज्ञानम् शब्दात् शाब्दज्ञानम् परोक्षं च केन वार्यते? **वारणे वा कार्यभेदं प्रति कारणभेदो प्रयोजकः स्यात्। तथा च आकस्मिकः स आपद्येत।** कारणभेदपरतन्त्रो यदि कार्यभेदो न स्यात् तदा कार्यवैजात्यम् आकस्मिकं स्यादित्यर्थः।

जातिभेदो यं न तूपाधिभेद इति किमत्र निष्टङ्कं कारणमिति चेत् ? परोक्षत्वापरोक्षत्वं च जातिभेदः, न तु विषयकृत उपाधिभेद इत्यत्र किं निश्चायकमित्यर्थः। **अनुभव एव** = अनुव्यवसाय एव निश्चायक इति शेषः। तदेव विशदयति – **न हि व्यवसायकाले पारोक्ष्या- पारोक्ष्य-स्म तित्वानुभूतित्वानि परिस्फुरन्ति।** 'असौ अग्निमान्' इत्यनुमित्याकारम्। 'अयमग्निमान्' इति प्रत्यक्षाकारम्। 'सो ग्निमान्' इति स्मरणा–कारम् **स्फुरणात्।** तत्तदाकारं दर्शयित्वा त्रयाणामपि ज्ञानानाम् अनुव्यवसायाकारं दर्शयति – **अनुव्यवसायकाले तु तत्प्रतिभासः**, परोक्षत्वापरोक्षत्व–स्म तित्वानु–भूतित्वप्रतिभासः। 'अमुम् अनुमिनोमि' इति परोक्षत्वानुमितित्वप्रतिभासः। 'इमं पश्यामि' इत्यपरोक्षत्वसाक्षात्त्वप्रतिभासः। 'तं स्मरामि' इति परोक्षत्वस्म तित्वप्रतिभासः **इत्युल्लेखात्।** कथं तर्हि परोक्षो र्थः प्रत्यक्षश्चेति व्यवहारः। यथा नुमितः, द ष्टः स्म त इति। अनुमितिस्थले विषयो नुमितः। प्रत्यक्षस्थले विषयो द ष्टः। स्म तिस्थले विषयः स्म त इति व्यवहारवत् अनुमितिशाब्दस्थले च परोक्षो र्थ इति व्यवहारः। प्रत्यक्षस्थले च प्रत्यक्षो र्थ इति व्यवहार इति बोध्यम्।

यदप्यत्यन्तविलक्षणानामित्यादि, तदपि सन्दिग्धानैकान्तिकम्। विधिनापि तथाभूतेन सालक्षण्यव्यवहारस्य निर्वाहात्। तथा ह्ययं व्यवहारो न निर्निमित्तो नाप्यनेकनिमित्तः, नाप्यनेकासंसर्गैकनिमित्तः, अतिप्रसङ्गात्। ततो नेकसंसर्ग्ये-कनिमित्तो यं परिशिष्यते। तथा च ताद शस्य विधिरूपत्वे को विरोधः, येन व्याप्तिः स्यात्, प्रत्युत निषेधरूपतायामेव विरोधो दर्शितः प्रागिति कृतं पल्लवसमुल्लासैः।

नापि प्रव त्यादिव्यवहारनिर्वाहकत्वमपोहकल्पनायाः। अन्यावभासादन्यत्र प्रव त्तावतिप्रसङ्गात्। अध्यवसायादयमदोष इति चेत्, अथ को यमध्यवसायः। किमलीकस्य वस्तुधर्मतयावभासः, किं वा वस्त्वात्मकतया, ततो भेदाग्रहो वस्तुवासनासमुत्थं वेति।

द्वितीयं परार्थानुमानं दूषयति **यदप्यत्यन्तविलक्षणानाम् इत्यादि तदपि सन्दिग्धानैकान्तिकम् इति।** सालक्षण्यव्यवहारहेतुत्वे पि अतद्व्याव त्तिरूपं मास्तु इत्यत्र विपक्षे बाधकाभावादित्यर्थः। अन्यथासिद्धिमुखेन सन्दिग्धानैकान्तिकमेव स्फुटयति – **विधिनापि तथाभूतेन सालक्षण्यव्यवहारस्य निर्वाहात् इति। तथाभूतेन** =

गौरिति ज्ञानविषयीभूतेन, **विधिना पि** = गोत्वरूपभावेन, सालक्षण्यव्यवहारस्य = गोव्यवहारस्य निर्वाहात्। यः यं जानाति तत्र प्रवर्तते इति सर्वानुभवः। गौरिति ज्ञाने अगोव्याव त्तिः यदि भासेत तर्हि गोत्वज्ञानात् गोत्वावच्छिन्ने न प्रवर्तेत, यदि प्रवर्तेत तदा अतिप्रसङ्गः स्यात्। विधिरत्र जातिरिति व्यवस्थापयति – **तथाहि। अयं व्यवहारः** = गौरितिज्ञाने व्यवहारः आनयनादिरूपः, **न निर्निमित्तः** = न निमित्तशून्यः, **नापि अनेकनिमित्तकः, नापि अनेकासंसर्गैकनिमित्तकः। अतिप्रसङ्गात्** = अन्यज्ञाने अन्यत्र प्रव त्त्यापत्तेः, गोज्ञाने अश्वाद्यानयनापत्तेश्च। **ततः** = अन्यस्य ज्ञाने अन्यत्र प्रव त्तेः अदर्शनात्, तथा अदर्शनाद्वा **अनेकसंसर्ग्येकनिमित्तः** व्यवहारः परिशिष्यते। यथा घट इति ज्ञाने यद्यपि घटे द्रव्यत्वं, प थिवीत्वं, घटत्वं च वर्तते इति तेषां सर्वेषां संबन्धी घटः, तथापि तेषु धर्मेषु मध्ये घटत्वरूपधर्मम् एकम् आदाय घटव्यवहारः सर्वानुभवसिद्धः। तथा च गवि गोत्वं विधिरूपम् द्रव्यत्वम्। अतद्व्याव त्तिः अभावरूपो वर्तते। तेषु धर्मेषु मध्ये विधिरूपं गोत्वं गौरिति ज्ञानविषयीभूतं गोव्यवहारप्रयोजकम्, का क्षतिः भवताम् इति मनसि कृत्याह – **तथा च ताद शस्य विधिरूपत्वे को विरोध इति**। गौरिति ज्ञानविषयीभूतस्य गोत्व–गोव्यवहार–प्रयोजकत्वे को विरोधः? अन्यज्ञानम् अत्र न प्रवर्तकम्। गौरिति ज्ञाने गोत्वस्य विषयत्वात्। नाग हीतविशेषणा बुद्धिः विशेष्यमधिगच्छतीति सर्वानुभवसिद्धत्वात्। तत्र अगोव्याव त्ति–ज्ञानस्य प्रवर्तकत्वे अन्यस्य ज्ञानस्य प्रवर्तकत्वोपपत्तेः। तथा हीति – अयं व्यवहारः गौरिति व्यवहारस्य निर्निमित्तत्वे नित्यत्वप्रसङ्गः। निर्निमित्तस्य नित्यत्वात्। तथा सति सर्वदा स उपलभ्येत। अनेकनिमित्तत्वे च अननुगताकारः प्रसङ्गः। घट इति ज्ञाने, घटः, द्रव्यम्, प थिवीति व्यवहारः प्रसङ्गः। ताद शसर्वेषां धर्माणां तत्र सत्त्वात्। अनेकासंसर्गैक–निमित्तत्वे पि तथा = अननुगताकारप्रसङ्ग इत्यर्थः। ततो नेकसंसर्गैकनिमित्तः (व्यवहारः) परिशिष्यते। परिशिष्यमाणस्य ताद शैकधर्मस्य घटत्वस्य (घटत्वादेः) विधिरूपत्वे भावत्वे को विरोधः? यस्य ज्ञानं तद्धर्मावच्छिन्ने व्यवहारात्। येन व्याप्तिः स्यादिति। यत् (गोत्वादि) अत्यन्तविलक्षणानां सालक्षण्यव्यवहारहेतुः (गोत्वादि) तत् अन्यव्याव त्तिनिष्ठं (स्वरूपम्) इति त(त्व)दुपदर्शिता व्याप्तिः सिद्ध्येत् (न सिद्ध्येदित्यर्थः)। पूर्वोक्तबाधं स्मारयति **प्रत्युतेति।** प्रत्युत **निषेधरूपतायाम्** = अतद्व्याव त्तिरूपाभाव–रूपतायामेव **विरोधः दर्शितः प्राग् इति कृतं पल्लवसमुल्लासैः**।

अतद्व्याव त्तिरूपे अपोहे बाधकान्तरमाह – **नापि प्रव त्यादिव्यवहार-निर्वाहकत्वम् अपोहकल्पनायाः, अन्यावभासात्[3] अन्यत्र प्रव त्तावतिप्रसङ्गात् इति**। गौरिति विकल्पे ज्ञाने यदि अगोव्याव त्तिः विषयः स्यात् विधिरूपं गोत्वं वस्तु भावरूपं न भासेत = न विषयः स्यात्। तदा ततः अगोव्याव त्तिज्ञानात् तत्र प्रव त्तिरेव न स्यात्। तद्धर्मावच्छिन्नप्रव त्तौ तद्धर्मज्ञानस्य कारणत्वात्। अन्यथा घटत्वावच्छिन्नज्ञाने सति पटत्वावच्छिन्ने प्रव त्त्यापत्तेः।

ननु **अध्यवसायात् अयमदोष इति चेत्? अथ को यमध्यवसायः?** (a) **किम् अलीकस्य** अतद्व्याव त्तिरूपाभावस्य **वस्तु**(भाव)**धर्मतया अवभासः?** (b) **किं वा वस्त्वात्मकतया?** (c) **ततो भेदाग्रहो वा?** (d) **वस्तुवासनासमुत्थं वेति ?**

न प्रथमः, विकल्पे तदनवभासनात्। न द्वितीयः, असाधारणविषयतया शब्दविकल्पयोरप्रव त्तिप्रसङ्गात्, तस्यासामयिकत्वात्। तस्माद्विकल्पवस्तुनो-श्चक्षूरसवत् सर्वथा विरोध एव। साधारणविषयत्वे तु वस्तुत्वाप्रतिभासनम्, तस्यासाधारणत्वात्।

न प्रथमः। किमलीकस्य वस्तुधर्मतया अवभास इति प्रथमविकल्पो न युक्तः। **विकल्पे** = सविकल्पके ज्ञाने, **तदनवभासनात्** = अलीकस्य वस्तुधर्मतया अवभासाभावात्। वस्तुधर्मस्य वस्त्वनतिरिक्तत्वात्, वस्त्वभाने वस्तुधर्मत्वाभानासंभवाच्च। वस्त्वनवगाहिनो विकल्पस्य न वस्तुधर्मत्वावगाहित्वमिति[४] । **वस्तु**(गोत्वादि)**धर्मस्य** = अतद्व्याव त्तेः वस्त्वनतिरिक्तत्वात् वस्तु(गोत्वादि)भेदाभावात् अभिन्नत्वात्। वस्त्वभाने गौरिति ज्ञाने गोत्वाभाने वस्तुधर्मरूपाया अतद्व्याव त्तेरपि अभानात्। वस्तुनः गोत्वस्य अभाने वस्तुधर्मत्वाभानाच्च वस्त्वनवगाहिनो गोत्वानवगाहिनो विकल्पस्य ज्ञानस्य न वस्तु(गोत्वादि)धर्मत्वावगाहित्वमिति। **न प्रथमः**। विकल्पे तदनवभासनात्। सविकल्पकत्वे त्वन्मते (बौद्धमते) वस्तु(गोत्वादि)धर्माग्रहाद् इत्यर्थः। अगोव्याव त्तेः बौद्धमते गोत्वधर्मत्वात्। ग्रहे वा सिद्धं नः समीहितमिति भावः। गौरिति ज्ञाने गोत्वं भासते इति नैयायिकमतं सिद्धम्। गोत्वं तत्र न भासते इति बौद्धमतात् त्वं (बौद्धः) भ्रंस्यसे।।

न द्वितीयः। किं वा अलीकस्य (अतद्व्याव त्तेः अभावरूपस्य) **वस्त्वात्मकतया** अवभासः इति द्वितीयविकल्पो न युक्तः। **असाधारणविषयतया** = स्वलक्षणविषयतया शब्दविकल्पयोरव त्तिप्रसङ्गात् = अनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। तस्य = लक्षणस्य असामयिकत्वात् = सङ्केत– ग्रहाविषयत्वात्। आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां स्वलक्षणे शब्दे समयग्रहानुपपत्तेः। सङ्केतग्रहानुपपत्तेः। अनन्ते हि स्वलक्षणे शब्दे सङ्केतं ग्राहयितुम् अशक्यत्वात्। सङ्केतग्रहाभाववतो पि शब्दात् तदर्थबोधदर्शनाच्च व्यतिरेकव्यभिचारात् न शब्दे = स्वलक्षणे शक्तिग्रहः = सङ्केतग्रहः। बौद्धमते शब्दस्य क्षणिकत्वेन यस्मिन् शब्दे सङ्केतग्रहः तत्सजातीयात् शब्दान्तरात् तदर्थविषयको बोध इति व्यतिरेकव्यभिचारः। तत्सत्त्वे तत्सत्ता, तदभावे तदभावः (कारणत्त्वे कार्यसत्ता कारणाभावे कार्याभावः) इत्यन्वयव्यतिरेकौ। तत्सत्त्वे कारणसत्त्वे तदभावः कार्याभावः इत्यन्वयव्यभिचारः। तदभावे = कारणाभावे, तत्सत्ता = कार्यसत्ता इति व्यतिरेकव्यभिचारः। **असाधारणेति।** वस्तुनः स्वलक्षणस्य असाधारणत्वात् (तन्मात्रव त्तित्वात्) तदनतिरिक्तं तत्तादात्म्यमपि असाधारणम्[५] । तद्विषयत्वे = विकल्पस्य सविकल्पकज्ञानस्य तद्विषये अलीकस्य वस्तुतादात्म्यत्वेन सविकल्पक–ज्ञानविषयत्वे सविकल्पकस्य असाधारणविषयकत्वं स्यात्। बौद्धमते धर्म–

धर्मिणोरभिन्नत्वात्। तथा च **शब्दविकल्पयोरप्रव त्तिः**। सङ्केतग्रहाधीनप्रव त्तिको हि शब्दः। सङ्केतश्च अनुगतरूपम् अपुरस्कृत्य स्वलक्षणेषु शब्देषु अशक्यो ग्रहीतुम्। स्वलक्षणस्य शब्दस्य आनन्त्यात् विशिष्य अनुपस्थितत्वाच्च। न च अनुगतस्य असतो रूपस्य अव्याव त्तेः सता स्वलक्षणेन समं सम्बन्धो स्ति। सदसतोः संबन्धाभावात्। विकल्पो पि चानुगतम् असन्तं बाह्याकारम् आलम्ब्यैव प्रवर्तते। तस्य = स्वलक्षणस्य शब्दस्य, असामयिकत्वात् = असङ्केतितत्वात्। तस्माद् विकल्पवस्तुनश्च चक्षूरसवत् सर्वथा विरोध एव। यथा चक्षुः रसं न ग ह्णाति, रसो वा न चाक्षुषज्ञानविषयः। तथा वस्तु न विकल्पविषयः, विकल्पो पि न वस्तु ग ह्णाति इति **दीधितिः**। विकल्पो पि अनुगतधर्मपुरस्कारेण स्यात् न स्वलक्षणं तथा = अनुगतधर्म इति भावः। तस्मात् विकल्पवस्तुनोः चक्षूरसवत् सर्वथा विरोध एव। विकल्पस्य अनुगतधर्मविषयकत्वात् वस्तुनश्च स्वलक्षणस्य अननुगतत्वात् विरोध एवेत्यर्थः। विरोधमेव दर्शयति – **साधारणविषयत्वे तु वस्तुत्वाप्रतिभानम्, तस्यासाधारणत्वात्।** विकल्पस्य साधारणविषयत्वे = विषयकत्वे, वस्तुत्वाप्रतिभासनम् अतद्व्याव त्तिरूपस्य अभावस्य साधारणस्य विकल्पविषयत्वे वस्तुत्वस्य विकल्पप्रतिभासानुपपत्तिः। तस्य = वस्तुत्वस्य, असाधारणत्वात्। वस्तुनः स्वलक्षणस्य असाधारणत्वे वस्त्वनतिरेकिणः वस्तुत्वस्यापि असाधारणत्वमिति असाधारणस्य स्वलक्षणस्य विकल्पा–(सविकल्पज्ञाना–)विषयत्वात्। तथा च अलीकस्य वस्त्वात्मतया भानम् अध्यवसाय इति यदुक्तं तदनुपपन्नमिति भावः।

न त तीयः, प्रव त्तिसामानाधिकरण्यनियमानुपपत्तेः, भेदाग्रहस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। अतेभ्यो भेदो ग हीत इति चेत्, किमतेषु ग ह्यमाणेष्वग ह्यमाणेषु वा। नाद्यः, अतेषामपि स्वलक्षणानां विकल्पागोचरत्वात्। न द्वितीयः, अविज्ञातावधेर्भेदस्याप्रथनात्, प्रथने वा ध्यवसेयाभिमतस्वलक्षणादपि भेदो ग ह्येत, अविशेषात्। ग हीतादग्रहो भेदस्याग हीतेभ्यस्तु तद्ग्रह इति चेत्,यदि धर्मलक्षणो भेदः, तदा विपर्ययः। स्वरूपलक्षणश्चेत्, अविशेषात्। सर्वतस्तद्ग्रहो न्यत्र तादात्म्यग्रहात्। निःस्वरूपत्वात्तस्य क्व स्वरूपलक्षणो भेद इति चेत्, अग हीतादपि तथा स्यात्, अविशेषात्। निःस्वरूपमपि सस्वरूपमिव भिन्नमिव प्रथितमिति चेत्, तत् किमध्यवसेयापेक्षया सस्वरूपमिव न प्रथितम्। अध्यवसेयस्वरूपमिव वा स्फुरितम्। आद्ये अप्रतिपत्तिर्वा स्यात्, अविशेषात्। निःस्वरूपप्रतिपत्तिर्वा स्यात्, उभयथापि सामानाधिकरण्यप्रव त्ती न स्याताम्। द्वितीयस्तु प्रागेव दूषितः।

न त तीयः। अलीकात् भेदाग्रहो वा अध्यवसायः इति त तीयविकल्पो पि न युक्तः। **प्रव त्तिसामानाधिकरण्यनियमानुपपत्तेः**। भेदाग्रहस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। प्रव त्तिनियमस्य, शाब्दसामानाधिकरण्यनियमस्य च अनुपपत्तेः। भेदाग्रहात् कुत्र प्रव त्तिः

स्यात् कुत्र वा 'अयं गौः' इति सामानाधिकरण्यं प्रतीयेत। अनियमे हेतुमाह – **भेदाग्रहस्येति**। भेदाग्रहस्य सर्वत्र सत्त्वेन सर्वत्र प्रव त्त्यापत्त्या प्रव त्तिनियमो न स्यात्। यस्य ज्ञानम् तत्रैव प्रव त्तिरिति नियमो न स्यात्। अयं गौरिति सामानाधिकरण्यनियमो न स्यात्। भेदाग्रहस्य अश्वे सत्त्वात्। प्रव त्तिसामानाधि–करण्यनियमः = ज्ञानविषये एव प्रव त्तिरिति न स्यादित्येके। अतद्व्याव त्तिज्ञानात् अगोव्याव त्तिज्ञानात् गवि प्रव त्तिस्तवमते, गौरिति ज्ञाने अतद्व्याव त्तिविशिष्टविषयः प्रवर्त्तते गवि। प्रव त्त्या सह ज्ञानस्य सामानाधिकरण्यनियमः समानविषयतानियमः स न स्यादित्यन्ये। प्रव त्तिविषयता गवि ज्ञानविषयता अतद्व्याव त्तो उभयोर्विषयतयोर्न सामानाधिकरण्यम्।

ननु सामानाधिकरण्यनियमभङ्गस्तदा भवेत् यदि विकल्पात् अश्वे प्रवर्तेत, न चैवम्। गोविकल्पो हि अगोर्व्याव त्तो यम् इत्याकारेण जायमानो अश्वादिव्यवच्छेदं कुर्वन् कथमश्वादिषु प्रवर्तयेद् इत्याशङ्कते – **अतेभ्यः**। अश्वादिभ्यः (गवि) भेदो ग हीत इति चेत्? किम् अतेषु = गोभिन्नेषु अश्वादिषु ग ह्यमाणेषु भेदग्रह किंवा अतेषु = गोभिन्नेषु अश्वादिषु अग ह्यमाणेषु भेदग्रह इति। नाद्यः। अतेषु ग ह्यमाणेषु भेदग्रह इति पक्षो न युक्तः। अतेषां गोभिन्नानाम् अश्वादीनां स्वलक्षणानां विकल्पागोचरत्वात् सविकल्पकज्ञानविषयत्वाभावात्। तथा च तेभ्यो श्वादिभ्यो भेदग्रहो नुपपन्नः। अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वात्। न द्वितीयः। अग ह्यमाणेषु अतेषु अश्वादिभेदग्रहः इति द्वितीयपक्षो न युक्तः। अज्ञातावधेः भेदस्य अप्रथनात्। अवधिः प्रतियोगी। प्रतियोग्यस्फुरणे = प्रतियोग्यज्ञाने भेदस्य अस्फुरणात् = अज्ञानात्।

ननु प्रतियोग्यस्फुरणे पि भेदस्फुरणमस्तु, को दोष इत्यत आह – **प्रथने वा अध्यवसेयाभिमत-स्वलक्षणादपि भेदो ग ह्येत अविशेषात्।** प्रतियोगिनो अस्फुरणे अज्ञाने वा अध्यवसेयाभिमतात् स्वलक्षणात् गोरपि भेदं गोविकल्पः ग ह्णीयात् इति गवि प्रव त्त्यनुपपत्तिः। अविशेषात् भेदस्य अविशेषादित्यर्थः। प्रतियोगिनः अस्फुरणे अज्ञाने कस्माद् भेदः कस्मिन्, ज्ञानाभावेन स्वस्मिन्नपि स्वभेदापत्तिः। भेदस्य प्रतियोगिना अनियन्त्रितत्वात्। प्रतियोगिनः स्फुरणे च भेदस्य स्वप्रतियोगितावच्छेदकेन सह विरोधात्, स्वस्मिन् न स्वभेदः, स्वप्रतियोगितावच्छेदकस्य स्वस्मिन् सत्त्वात्। अध्यवसेयाभिमतस्वलक्षणः गोस्वलक्षणः। ग हीताद् अग्रहो भेदस्य अग हीतेभ्यः तु तद्ग्रह इति चेत्? ग्रहणं निर्विकल्पकम्। तथा च निर्विकल्पकज्ञानविषयात् भेदस्य अग्रहः, अग हीतेभ्यः = निर्विकल्पकज्ञानाविषयेभ्यस्तु भेदग्रहः। निर्विकल्पकज्ञानानन्तरं यत् सविकल्पकज्ञानम् उत्पद्यते तद्ग्रहण–(निर्विकल्पकज्ञान)–समानप्रतिभासम्। अतः सारूप्यात् गोस्वलक्षणात् भेदो न ग ह्यते, गौरिति निर्विकल्पकज्ञाना–ग हीतमहिषादिभ्यस्तु भेदो ग ह्यते एवेति गोविकल्पो गवि प्रवर्त्तयति। न हि गोभेदाग्रहात् महिष–मातङ्गादिषु प्रवर्तयति। तत्र गोभेदस्य सत्त्वात् इति चेत्? यदि धर्मलक्षणो

भेदः, तदा विपर्ययः। यदि अन्योन्याभावो धर्मः आधेयरूपः। यथा घटे घटत्वं धर्मः तथा पटभेदो पि। तदा विपर्ययः। अपोहे निःस्वरूपे भेदे तात्त्विकधर्माभावात्। तात्त्विकधर्माभाववति विकल्पज्ञानविषये अपोहे तात्त्विकधर्मस्य ग्रहणात् विपर्ययः। तदभाववति तज्ज्ञानस्यैव विपर्ययत्त्वात्। स्वरूपलक्षणः = अधिकरणस्वरूपो, भेदश्चेत्? अधिकरणस्वरूपत्वम् अभावस्येति मतमादाय इयं शङ्का बोध्या। अविशेषात् सर्वतस्तदग्रहो न्यत्र तादात्म्यग्रहात्। स्वरूपस्य प्रतियोगिविशेषनियन्त्रितत्वात् कस्यायं भेद इति निश्चयाभावेन यथा महिषादिभ्यो गवि भेदग्रहः तथा गोस्वलक्षणात् प्रतियोगिनः गोस्वलक्षणादपि भेदः स्वस्मिन् स्वलक्षणे गवि स्यात्। अधिकरणरूपभेदस्य प्रतियोगिविशेषानियन्त्रितत्वात्। प्रतियोगिनियन्त्रितत्वाभाववान् भेदः स्वस्मिन् अपि स्वभेदः स्यात्। तादात्म्यतया प्रतीयमानम् अधिकरणं न तद्भेदव्यवहारहेतुः। अत उक्तम् अन्यत्र तादात्म्यग्रहादिति। तथा च अनियन्त्रितभेदग्रहः तादात्म्यतया अग हीतात् सर्वतो भवति। सर्वान्तर्गतः स्वो पीति ज्ञेयम्। यथा महिषादिभ्यो गवि भेदग्रहः तथा गोलक्षणादपि स्यादेव, अपोहस्य निःस्वरूपस्य भेदस्य ग्रहो गवि। तादात्म्यग्रहात् अन्यत्र, तादात्म्यग्रहविरहे सर्वतो भेदग्रहः। तादात्म्यग्रह एव भेदग्रहे प्रतिबन्धकः। स च तादात्म्यग्रहः स्वलक्षणभिन्नस्य निःस्वरूपस्य अपोहस्य अलीकस्य केनापि वस्तुना स्वलक्षणेन नास्तीति सर्वत्र भेदस्य सत्त्वेन सर्वत्र प्रव त्तिरप्रव त्तिर्वा स्यादिति भावः। निःस्वरूपत्वात् तस्य = अपोहरूपस्य अलीकस्य क्व स्वरूपलक्षणो भेद इति चेत्? अतद्व्याव त्तिरूपस्य अलीकस्य अभावस्य निःस्वरूपत्वात् = स्वरूपरहितत्वात् क्व स्वरूपलक्षणो भेदः = वैधर्म्यरूपो भेद इति चेत्? भेदः धर्मरूपः अन्योन्याभावरूपः। स्वरूपलक्षणो भेदः। अधिकरणरूपो भेदः इति उभयरूपो भेदः पूर्वमेव खण्डितः। इदानीं वैधर्म्यरूपं भेदं खण्डयितुं निःस्वरूपत्वादिना शङ्कितो भेदः। निर्धर्मके च अलीके अतद्व्याव त्तिरूपे वैधर्म्यस्य धर्मरूपस्य भेदस्य स्वरूपलक्षणस्य क्व संभावना? एताद शभेदः अलीके कथयितुं न पार्यते इति बौद्धशङ्कां खण्डयितुमाह – **अग हीतादपीति।**

ननु वैधर्म्यम् असदेव तत्र अलीके भासते इति चेत्? न। वैधर्म्यत्वेन च तस्य भेदस्य अलीके भानं प्रतिज्ञालम्बनम्। तथा च प्रतियोगिज्ञानं विना कथमस्य भेदस्य अलीके संभवः? ननु अलीके वैधर्म्यस्य भेदस्य स्वांशे इतराप्रकारकं स्वरूपत एव प्रकारत्वमस्तु, तत्र न प्रतियोगिज्ञानम् अपेक्षितम् इति चेत्? न। स्वरूपतो भानस्य साधारत्वात्। तथा च निखिलस्वरूप– लक्षणवैधर्म्यस्य अलीके अतद्व्याव त्तिरूपे ग्रहात् निखिलस्वलक्षणे प्रव त्तिः स्यात्। तथा च गौरिति ज्ञानात् अश्वे पि प्रव त्त्यापत्तिः भवेत्। अग हीतादपि तथा स्यात्। अविशेषात् इत्यस्य अक्षरार्थस्तु – प्रतियोग्यविशिष्टो भेदः वैधर्म्यत्वेन अज्ञानादपि तथा भेदः स्यात् इति। तथा च स भेदः सर्वत्र स्यात्। एव च सर्वत्र प्रव त्तिः स्यात्।

ननु निःस्वरूपमपि वैधर्म्यं स्वरूपमिव, भिन्नमिव प्रथितम्। तथा च गवि अश्वादितः भेदग्रह एव न भेदाग्रह इति गोज्ञानात् नाश्वे प्रव त्तिरिति चेत्? न। विकल्पासहत्वात्। तथा हि **तत्** = ताद शप्रथितम् **किम् अध्यवसेयापेक्षया सस्वरूपमिव न प्रथितम्, अध्यवसेयस्वरूपमिव वा स्फुरितम्।** तत् किमिति। यथा गवि अश्वादेर्भिन्नमिव प्रथितम् तथा गवि अध्यवसेयाद् गोस्वरूपलक्षणादपि कथं न तथा गोभिन्नमिव प्रथेत इति गोभेदस्य अश्वभेदस्येव गवि सत्त्वेन गवि गोभेदग्रहेण गोभेदाग्रहाभावात् अश्वे इव गवि गोज्ञानात् प्रव त्तिः न स्यादित्यर्थः। **अध्यवसेयस्वरूपमिव वेति।** सस्वरूपलक्षणमिव वेत्यर्थः। **आद्ये इति।** अध्यवसेयापेक्षया स्वरूपमिव न प्रथितम् इति आद्यपक्षे। सस्वरूपा प्रथा च अप्रतिपत्तौ निःस्वरूपप्रतिपत्तौ च स्यादित्यर्थः। आद्ये अप्रतिपत्तिर्वा स्यात् निःस्वरूपप्रतिपत्तिर्वा स्यादित्यस्य पूर्वोक्तार्थः। उभयथापि सामानाधिकरण्यप्रव त्ती न स्याताम्। द्वितीयस्तु प्रागेव दूषितः। **उभयथापीति।** सस्वरूपस्य अज्ञाने सस्वरूपस्य अप्रथा = अस्फुरणमिति पक्षे, सस्वरूपस्य निःस्वरूपताज्ञाने सस्वरूपस्य अस्फुरणमिति पक्षे च, गौरयमिति सामानाधिकरण्यम् = अपदार्थ–गोपदार्थयोरभेदः, गवि प्रव त्तिश्च न स्यात्। यत्र ययोः सामानाधिकरण्यम् = अभेदसंबन्धेन अन्वयः भवति तत्र अभेदसंबन्धप्रतियोग्यनुयोगिनोः ज्ञानमावश्यकम्। गौरयमित्यत्र गोपदार्थस्य गोस्वलक्षणस्य अज्ञाने अस्फुरणे गौरयमिति सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः स्यात्। एवं यत्र प्रवत्तिः तज्ज्ञानस्य तत्र करणत्वेन गौरिति ज्ञाने गवास्फुरणे गवि प्रव त्त्यनुपपत्तिः स्यात्। एवं सस्वरूपस्य निःस्वरूपताज्ञाने सस्वरूपस्य अस्फुरणमिति पक्षे च गौरित्यत्र गोस्वलक्षणस्याज्ञाने अयं गौरिति सामानाधिकरण्यम्, गवि प्रव त्तिश्च न स्याताम्, उक्तयुक्तेः। **प्रागेवेति।** स्वलक्षणस्य विकल्पासंस्पर्शाद् इत्युक्तत्वादित्यर्थः।

नापि चतुर्थः नीलानुभववासनासमुत्थस्य पीतानुभवस्य नीले प्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्। नानुभवः प्रवर्त्तकः, अपि तु विकल्पः। स च यस्मात् तस्यैव विषय इति चेत्। यस्मादिति साक्षात् परम्परया वा। प्रथमे शाब्दलैङ्गिक-विकल्पानामप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गः। द्वितीये तु स एवातिप्रसङ्गः।

अनुभवव्यापारपुरस्कारान्नियम इति चेत्। कः पुरस्कारार्थः। न तावदनुभवैकविषयत्वं विकल्पेन तदसंस्पर्शात्। नाप्यनुभवत्वारोपः, स्वात्मनि कल्पनापोढाभ्रान्तत्वात्। विषये चाभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्वात्। तथानवभासे वा विकल्पत्वव्याघातात्। विशेषोपलब्धौ चारोपासम्भवात्।

नापि तद्धर्मप्रामाण्यारोपः, तस्यानियतविषयत्वे प्रव त्तिनियमानुपपत्तेः। परमार्थसद्विषयत्वे च तस्य विकल्पसंसर्गप्रसङ्गात्। अलीकविषयत्वे चाप्रव त्तेः। अलीकस्यानलीकतया स्फुरणं तु निषिद्धम्।

वस्तुवासनासमुत्थं वेति पक्षं दूषयति **नापि चतुर्थः।** नीलानुभववासनासमुत्थस्य पीतानुभवस्य नीले प्रवर्तकत्वप्रसङ्गादिति। स्ववासनापरिपाकवशात् उपजायमानैव सा बुद्धिः बाह्यमपश्यन्त्यपि बाह्ये प्रव त्तिम् आतनोतीति **ज्ञानश्रिया** यत् समाहितम्, तदपि न संभवतीत्यर्थः नापि चतुर्थ इत्यस्यार्थः। अनुभवरूपा वासना अनुभववासना तन्मते बौद्धमते अनुभवातिरिक्तस्य स्थायिनः संस्कारस्य अभावात्। यत् सत् तत् क्षणिकम् इति **सौत्रान्तिकस्य** सिद्धान्तः। तथा च पीतानुभवो पि नीले प्रवर्तयेदित्याह – **नीलानुभवेति,** वस्तुवासना = वस्तुग्रहजन्यः संस्कारः। स च अतीन्द्रियो वा? तदुत्तरभावि विज्ञानसन्तानो वा? नाद्यः, भवद्भिः तदनभ्युपगमात्। न द्वितीयः। नीलग्रहजन्य–पीतानुभवजनित–पीतविकल्पात् नीले प्रव त्तिप्रसङ्गात्। ताद शविकल्प–स्यापि नीलात्मकवस्तुग्रहणेन परम्परया जननादिति भावः। नीलपीतविषयकसमूहा–लम्बन–नीलानुभवजन्य–पीतानुभवजनित– पीतविकल्पात् नीले प्रव त्तिप्रसङ्गात्। समूहालम्बनानुभवस्यैक्येन तं प्रति कारणत्वात्। वस्तुनः नीलनिर्विकल्पानन्तरभावि पीतनिर्विकल्पकस्य वस्तुग्रहणसमुत्थत्वादित्यर्थः। तथा च नीलग्रहजन्यपीतानुभवज–नितपीतविकल्पात् नीले प्रव त्तिप्रसङ्गादित्यत्र जन्यपदमुत्तरभाविपरं बोध्यम्। तथा च पीतनिर्विकल्पस्य नीलनिर्विकल्पोत्तरभावित्वेन नीलोत्तरपीतनिर्विकल्पजन्यपीतवि–कल्पज्ञानात् नीले प्रव त्त्यापादनं संगच्छते।

अथ वस्तुनो ग्रहणमेव 'वास्यते अनेनेति' व्युत्पत्त्या वासनेति चेत्? तदा तत्(वासना)जन्यः, वस्तुग्रहणसमुत्थत्वेन ताद शविकल्पेन वा। नील– वासनासमुत्थत्वं पीतवासनायामपि वर्तते। तत्पर्वूमेव द्रष्टव्यं तत्र दूषणमपि उक्तम्। ताद शविकल्पत्वेनेति द्वितीयपक्षं दूषयति – **नानुभवः प्रवर्तकः अपि तु विकल्पः, स च यस्मात् तस्यैव विषय इति चेत् इति।** यस्मात् = अनुभवात् (निर्विकल्पकात्) तस्यैव (निर्विकल्पकस्य) विषये = तद्विषय– सान्तानिके (निर्विकल्पकसान्तानिके) प्रवर्तक इत्यर्थः। नीलानुभवः = नीलनिर्विकल्पकम्। तच्च न प्रवर्तकम्, अपि तु नीलसविकल्पकं प्रवर्तकम्। तच्च नीलसविकल्पकं नीलानुभव– = नीलनिर्विकल्पक–जनितम्, न तु पीतसविकल्पकं तज्जनितम्। तद्विषये = नीलनिर्विकल्पकविषये नील–स्वलक्षणविषये नीलनिर्विकल्पकजन्य–नीलसविकल्पकमेव प्रवर्तयति। तथा च पूर्वोक्तनील–वासनासमुत्थ–पीतानुभवात् नीले न प्रव त्तिः स्यात्, पीतसविकल्पस्य नीलनिर्विकल्प–कानुभवजन्यत्वाभावादिति न पूर्वोक्तदोष इति चेत्? तत् खण्डयति – **यस्मादिति साक्षात् परंपरया वा इति।** निर्विकल्पकानुभवस्य यः विषयः स च क्षणिकत्वात् नष्ट एवेति। यस्मात् = निर्विकल्पकानुभवात् यत्सविकल्पकज्ञानं साक्षात् उत्पन्नम् तत्सविकल्पक– ज्ञानं स्वजनक–निर्विकल्पकज्ञान–विषये न प्रवर्तयति, तस्य विषयस्य नष्टत्वात्। यत् सत् तत् क्षणिकमिति **सौत्रान्तिकस्य** बौद्धस्य सिद्धान्तः। तथा च नीलसविकल्पकानुभवो पि न नीले प्रवर्तकः स्यात् इति दूषणं तव शिरसि पतितम्। तदेव कथयति – प्रथमे **शाब्दलैङ्गिकविकल्पानाम् अप्रवर्तकत्वप्रसङ्गः इति।**

शाब्दलैङ्गिकविकल्पानां सपरिकर–(सहकारि– कारण)–शब्द–लिङ्ग–जन्यत्वेन शाब्दलैङ्गिकनिर्विकल्पकानुभवेन साक्षात् जन्यत्वाभावात् ताद शनिर्विकल्पकानुभवस्य चिरनष्टत्वात् न तव मते को पि भावः स्थिरो वर्तते।

नीलनिर्विकल्पकं परम्परया नीलसविकल्पकमिव पीतसविकल्पकमपि जनयति। तज्जननं पूर्वमेवोक्तम्। तथा च नीलनिर्विकल्पक–परम्परा–जनित–पीतसविकल्पकमपि नीले प्रवर्तकं स्यात् इति **परम्परयेति** पक्षो पि न युक्तः। तदाह – **द्वितीये तु स एवातिप्रसङ्ग इति।** नीलनिर्विकल्पकमपि परम्परया पीतसविकल्पकं जनयतीति तस्यापि (पीतसविकल्पकस्यापि) नीले प्रवर्तकत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः।

ननु नीलानुभवस्य (नीलनिर्विकल्पकानुभवस्य) व्यापारं नीलसविकल्पक एव पुरस्करोति = पीतविकल्पक इति न तस्य पीतविकल्पकस्य नीले प्रवर्तकत्वं, किन्तु नीलविकल्पस्यैव तत्र प्रवर्तकत्वम् इत्याह = **अनुभवव्यापारपुरस्कारान्नियम इति चेत् इति।** अथवा यो विकल्पः = सविकल्पकज्ञानम्, यस्यानुभवस्य = यस्य निर्विकल्पकानुभवस्य, व्यापारं पुरस्कुरुते = व्यापारो भवति, स सविकल्पकानुभवः, तस्य = निर्विकल्पकस्य विषये प्रवर्तयतीति नातिप्रसङ्ग इत्याशङ्कते **अनुभवेति।** व्यापारः = धर्मः। स च धर्मः स्वलक्षणविषयत्वम्। तस्यैव अनुभवविषयत्वाद् इति **गुणानन्दः।** अनुभवत्वम् प्रामाण्यम्, भेदानवगाहित्वम्। तच्च स्वरूपतो विषयतश्च। आद्यम् स्वात्मनो नुभवभेदानवगाहित्वम्। द्वितीयं स्वविषयस्य अनुभवविषयभेदानव–गाहित्वम्। अपारोक्ष्यम् स्वरूपविषयत्वम्। सारूप्य च स्वलक्षणालीकयोरेकरूपशालि–त्वम्। पुरस्कारश्च अनुभवत्वप्रामाण्ययोरारोपः अपरेषामाश्रयत्वम्। सर्वाणि दूषयितुं प च्छति – **कः पुरस्कारार्थ इति।** व्यापारपुरस्कारश्च जन्यजनकभावव्यवस्थितये त्वया पि वाच्य एवेति भावः। न तावद् अनुभवैकविषयत्वम्, विकल्पेन तदसंस्पर्शात्। अनुभवविषयस्य = निर्विकल्पकानुभवविषयस्य स्वलक्षणस्य विकल्पेन तदसंस्पर्शात्। स्वलक्षणं निर्विकल्पकानुभवं विषयीकरोति न तु सविकल्पकानुभवस्य विषयः।

ननु आरोपितनीलानुभवात्मा नीलविकल्पो नीले प्रवर्तयति, पीतविकल्पे तु वैधर्म्यात् (नीलभिन्न–पीतविषयकत्वरूप–वैधर्म्यात्) नीलानुभवत्वानारोपादित्यत आह – **नापि अनुभवत्वारोपः।** अनुभवत्वं विकल्पस्वरूपे वा समारोप्यते, तद्विषये वा। नाद्ये इत्यत आह – **स्वात्मनि कल्पनापोढाभ्रान्तत्वात् इति।** कल्पनापोढः = कल्पनाव्याव त्तः प्रमेति यावत्। अतो अभ्रान्तत्वात् = अनारोपात्। तथा च कल्पनापोढत्वेन = कल्पनाव्याव त्तत्वेन अभ्रान्तत्वात्। न हि विकल्पः स्वात्मनि वस्तुभूते कल्पना, किन्तु स्वविषये अलीके। तथा च कथमारोप इत्यर्थः। गुरूणां प्राभाकराणामिव बौद्धानामपि भवतां सर्वज्ञानां स्वात्मनि अनुभवरूपत्वात्। तथा च कथं स्वात्मनि अनुभवे अनुभवत्वारोपः। यत्र यत् न वर्तते तत्र तदारोपो भवति। यद्वा कल्पनापोढत्वात् = असत्ख्याति–व्यावर्तकत्वादिति परमतेन (बौद्धमतेन) विकल्पस्यालीकप्रतिभास–

कत्वादिति मूलार्थः। अत एव = विकल्पस्याप्रामाण्यम्। अभ्रान्तत्वादिति स्वमतेन (नैयायिकमतेन)। प्रतिषेध्यश्च असत्ख्यत्युपनीतभेद इति भेदस्य अस्वप्रकाशे पि तदक्षतेः। ज्ञानस्य परप्रकाशत्वे पि अनुभवत्वाक्षतेः। न हि विकल्पः स्वात्मनि वस्तुभूते कल्पना, किन्तु विषये अलीके तथा (आरोपः)। तथा च क आरोप इत्यर्थः। अन्त्ये अनुभवत्वं तद्विषये (अनुभवविषये) स्वविषये आह – **विषये चेति।** विकल्पात्मक–ज्ञानविषये (अनुभवत्वारोपः) विषये च अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्वात्। अभिलापसंसर्गयोग्यः = विकल्पविषयः अलीकम्। तत्र अलीके अनुभवत्वारोपो न संभवति। विशेषदर्शनप्रतिहतत्वात् अलीकत्वस्य (अलीकविषयत्वस्य) च अनुभवत्वा–भावव्याप्यतया अलीके अलीकविषये च अनुभवत्वारोपात्। 'बह्न्यभावव्याप्यजलत्ववान् ह्रद' इति ज्ञाने तत्र बह्न्यारोपादर्शनेन अलीकत्वस्य अलीकविषयत्वस्य च तत्रानुभवत्वाभावव्याप्यत्वेन अलीके अलीकविषये च अनुभवत्वस्य तत्त्वेन तवानुभवत्वारोपो न संभवति। तद्वत्ताबुद्धिं प्रति तदभाववत्ता–तदभावव्याप्यवत्ता–बुद्धेः प्रतिबन्धकत्वात्। तथा च अलीकत्वाभावव्याप्यानुभवत्वाविशेषदर्शनस्य तत्र सत्त्वात्।

ननु मास्तु विकल्पो भिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभास इत्यत आह – **तथानवभासे वा विकल्पत्वव्याघातात् इति।** तथानवभासे = अलीकानवभासे वा विकल्पत्वानुपपत्तेः। विकल्पस्य अलीकविषयकत्वात्। ननु भवतु अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासः, तथापि अनुभवविषये अनुभवत्वारोप उपपद्यतामत आह – **विशेषोपलब्धौ चारोपासंभवात् इति।** अलीकत्वे अलीकविषये च अलीकत्वाभावव्याप्यानुभवत्वस्य तत्र दर्शनेन सविकल्पकविषये अनुभवत्वारोपासंभवात्।

ननु अनुभवस्य = निर्विकल्पकानुभवस्य प्रामाण्यं विकल्पे = सविकल्पकज्ञाने, समारोप्यते। तेन अनुभव(निर्विकल्पज्ञान)विषये विकल्पः = सविकल्पज्ञानम्, प्रवर्तयतीति नातिप्रसङ्ग इत्यत आह – **नापि तद्धर्म-प्रामाण्यारोपः।** तस्य = अनुभवस्य धर्मः, प्रामाण्यम्, प्रामाण्यापोहो वा (अप्रामाण्यव्याव त्तिर्वा) तत्तत्स्वलक्षणात्मकविषयगर्भं वा, तदन्यापोहरूपविषयघटितं वा (अतद्व्याव त्तिरूपविषयघटितं वा)।

प्रामाण्यसामान्यम् आरोप्यते विषयविशेषोपहितं प्रामाण्यं वा समारोप्यते इति कल्पलता। आद्ये (प्रामाण्यसामान्यम् आरोप्यते इति पक्षे) तस्य = प्रामाण्यसामान्यस्य = इदं ज्ञानं प्रमाणमित्यस्य, अनियतविषयत्वे = विषयनियमाभावात् प्रव त्तिनियमानुपपत्तेः। घटज्ञानं प्रमाणमिति निश्चये सति जनो घटे प्रवर्तते। इदं ज्ञानं प्रमाणमिति ज्ञाने घटे न प्रवर्तते। अन्यथा घट इव पटे पि प्रवर्तेत। द्वितीये (विषयविशेषोपहितं प्रामाण्यम् आरोप्यते इति पक्षे) परमार्थसद्विषयत्वे च तस्य सद्विषयस्य विकल्पसंसर्गप्रसङ्गात् (सविकल्पकज्ञानविषयत्वप्रसङ्गात्)। अलीक–स्यानलीकतया स्फुरणं तु निषिद्धम्। **परमार्थेति।** प्रामाण्ये हि उपधायकं वस्तु, तच्च न विकल्पे भासते, अलीकस्यैव तत्र भासनात्। अत एव सविकल्पकज्ञानं न

प्रमाणम्। प्रमाणं च निर्विकल्पकज्ञानमेवेति बौद्धमतम्।

ननु अलीकमेव उपधायकं वस्तु। तथा च तत्प्रामाण्यमेव तत्र = विकल्पे आरोप्यतामित्यत आह – **अलीकविषयत्वे चाप्रव त्तेः।** प्रामाण्यस्य अलीकविषयत्वे च कुत्रापि सद्विषये लोकानां प्रव त्तिर्न स्यात्। तद्विषयिका हि प्रव त्तिः तत्प्रामाण्याधीना भवति। ननु विकल्पविषयस्य अलीकस्य अनलीकतया भानं प्रवर्तकं स्यादित्यत आह – **अलीकस्येति।** अनलीकतया पारमार्थिकतया अलीकस्य भानं तदा भवेद् यदि परमार्थसद्विषयकः विकल्पः सविकल्पकं ज्ञानं भवेत् तच्च सद्विषयकं सविकल्पकं ज्ञानं त्वया बौद्धेन निषिद्धम्, न स्वीकृतमित्यर्थः। यद्वा अलीकस्य ताद्रूप्येणैव अलीकत्वेनैव प्रतीतेः कथम् अनलीकतया भानं स्यात्? विशेषदर्शनप्रतिहतत्वात्। अनलीकत्वाभावव्याप्य–अलीकत्वज्ञानेन बाधितत्वात्।

नाप्यनुभवात् स्वात्मनो भेदाग्रह एव तद्व्यापारपुरस्कारः। स्वरूपस्य स्वतो वगतेः, विषयभेदस्य च प्रागेव निरूपणात्। नाप्यपारोक्ष्यम्, तस्यापि स्वात्मनि सर्वज्ञानसाधारणत्वात्। विषये च विकल्पस्य तदभावात्। तथाभावे प्यन्यत्र नियतप्रव त्त्यनुपपत्तेः।

नापि विषयसारूप्यं, तदभावात्। का हि परमार्थसदलीकयोः समानरूपता नाम। यदि रूपशब्दो धर्म्मिवाचकः समानशब्दश्चैकपर्य्यायः क्वार्थसङ्गतिः प्रकृते। यदि वा रूपं धर्मः समानश्चैको वैकजातीयो वेति। तथापि क्वार्थसङ्गतिः प्रकृते। अतद्व्याव त्तिरिति चेत्, न। तस्य चालीकानलीकनिष्ठतया एकत्वैकजातीयत्वयोरभावात्। आभिमानिको यं सारूप्यव्यवहारो न पारमार्थिक इति चेत्, न। अभिमानस्यैव चिन्त्यमानत्वात्। न हि चिन्तितप्रकारान् परिभूयापरो भिमानो नाम।

ननु नीलानुभव(नीलनिर्विकल्पकज्ञान)नीलविकल्पयोः (नीलसविकल्पकज्ञानयोः) भेदो न ग ह्यते। एतावतैव नीलविकल्पो नीलानुभव–(नीलनिर्विकल्पकज्ञान)–विषये नीले प्रवर्तयतीत्यत आह – **नापि अनुभवादित्यादि।**

निर्विकल्पकज्ञानात् सविकल्पकज्ञानस्य भेदाग्रह एव तद्– (निर्विकल्पक–ज्ञान)–व्यापारपुरस्कारः इति न वक्तव्यम्। स्वरूपस्य विकल्पस्य स्वतो वगमात् स्वप्रकाशतया अनुभवभेदेनैव ग्रहात्।

अत्र ज्ञानयोः निर्विकल्पकसविकल्पकज्ञानयोः भेदाग्रहः, तद्विषययोर्वा भेदाग्रहः। आद्ये आह – **स्वरूपस्येति।** अन्त्ये द्वितीये आह – **विषयेति।** अलीके ग्रहविषये पारमार्थिकभेदासंभवाद् इत्यादिना दूषितत्वाद् इत्यर्थः।

ननु यथा निर्विकल्पके अनुभवे अपारोक्ष्यं तथा विकल्पे पि इत्येव कृत्वा विकल्पो अनुभव– = निर्विकल्पकज्ञान–विषये प्रवर्तयति इत्यत आह – **नाप्यपारोक्ष्यमित्यादि।** नापि अपारोक्ष्यम् अनुभव–(निर्विकल्पज्ञान)– व्यापारपुरस्कारः। अपारोक्ष्यमात्रस्य (विषयाघटितापारोक्ष्यस्य) प्रयोजकत्वे स्वात्मनि सर्वविकल्पानाम् अपारोक्ष्यतया सर्वज्ञानं सर्वत्र प्रवर्तयेदित्यत आह – **तस्यापीति।** ननु यथा अनुभवस्य = निर्विकल्पकानुभवस्य, विषयो अपरोक्षः तथा विकल्पस्यापि = सविकल्पकज्ञानस्यापि, विषयो परोक्ष इति प्रव त्तिनियमः (विकल्पः स्वविषये एव प्रवर्तयतीति नियमः) स्यादित्यत आह – **विषये चेति।** नहि अलीकम् अपरोक्षं भवति। अलीकम् अपरोक्षमित्यभ्युपेत्याह = तथेति। तथा भावे पि = अलीकम् अपरोक्षमिति स्वीकारे पि अन्यत्र अलीकात् अन्यत्र घटादिभावे नियतप्रव त्त्यनुपपत्तेः। न हि अन्यस्य ज्ञानात् अन्यत्र प्रवर्तते इति भावः।

नापि विषयसारूप्यम्। अनुभव–(निर्विकल्पज्ञान)– विषयसारूप्यम्, साद श्यम्, अनुभव–(निर्विकल्पकज्ञान)–व्यापारपुरस्कारः। अनुभवविषय–विकल्पविषययोः सारूप्यमपि नानुभवव्यापारपुरस्कार इत्यर्थः। तदभावात् = उभयोः सारूप्याभावात्। सारूप्याभावमेव दर्शयति – **का हि परमार्थसदलीकयोः समानरूपता नाम इति।** प्रमेयत्वादिनापि सा समानरूपता दुर्लभेत्यर्थः। न हि वस्त्ववस्तुनोरेकधर्मी, एकजातीयो वा धर्म इत्याह – **यदि रूपशब्दो धर्मिवचनः समानशब्दश्चैकपर्यायः, क्वार्थसङ्गतिरित्यादि।** उभयत्र अनभ्युपगमादेव असङ्गतेरिति भावः। नहि सदसतोरेकधर्मी एकजातीयो वा अभ्युपेयते। उभयोर्विरोधात्। विरोधश्चात्र सहानवस्थानम्। अन्यथा तयोः विरोध एव न स्यात्। ननु असति विधेर्विरोधात् विधिरेव (भाव एव) सदसत् साधारणो न इष्यते, निषेधः (अभावः) पुनरिष्यते एव। एव चातद्व्याव त्तिरेको धर्मः सदसतोरुभयोः साधारण इति कथं नार्थसङ्गतिरित्याह – **अतद्व्याव त्तिः इति।** एको वा एकजातीयो वा धर्मः सदसतोः साधारणधर्मः, इति चेत्? न। अत्रापि अनभ्युपगममाह – **तस्या अलीकानलीकनिष्ठतया एकत्वैकजातीयत्वयोरभावात् इति।** अतद्व्याव त्तेः, अलीकनिष्ठतया च नैकत्वम्, अनलीकनिष्ठतया च नैकजातीयत्वम् इति साध्यद्वये हेतुद्वयम् एतद्। अलीकानलीकतयेत्येक एव वा हेतुरुभयत्र। तस्येति पाठे अतद्व्याव त्तिरूप–सारूप्यस्येत्यर्थः। सदसतोः संसर्गानभ्युपगमेन अलीकानलीकनिष्ठयोः असत्सद्रूप–योरेकत्वैकजातीयत्वयोरभावात्। तथा च क्व एकता अतद्व्याव त्तेरुभयव त्तित्वं वेति भावः। आभिमानिको यं सारूप्यव्यवहारो न पारमार्थिक इति चेत्? न। अभिमानस्यैव चिन्त्यमानत्वात्। न हि चिन्तितप्रकारान् परिभूय = तिरस्कृत्य अपरो भिमानो वा। सद्धर्मे असद्धर्मत्वभ्रमः, असद्धर्मे सद्धर्मत्वभ्रमो वा अभिमानः। तस्य विकल्पतया सविकल्पकज्ञानरूपतया, न सदवगाहित्वम् न सद्विषयकत्वम् विकल्पस्य असद्विषयकत्वात् कथम् उभयधर्मावगाही विकल्प इति भावः। अभिमान एव

नानाप्रकारेण विकल्पितः न तु तेन अभिमानेन प्रव त्तिनियम उपपादित इत्यर्थः।

स्वभावादेव कश्चिद्विकल्पः कस्मिंश्चिदेवास्फुरिते पि प्रवर्त्तयति। किमत्र क्रियताम्। स चास्य स्वभावभेदः स्वकारणादेवायातः। तत्र कः पर्य्यनुयोज्यतामिति चेत्। तत् किमप्रत्यासन्न एव विकल्पस्तत्र प्रवर्त्तयति प्रत्यासत्त्यन्तराभावात्, स्वभावप्रत्यासन्नो वा व्यवहृतिरेव वा प्रत्यासत्तिः। न प्रथमः अतिप्रसङ्गात्। द्वितीये तु स्वभावेनोत्तरं स्यात्, किन्तु तदेव स्फुरणम्। न हि व्यवहारे प्रवर्त्तयितव्ये स्वभावप्रत्यासत्तिमवधूय ज्ञानज्ञेययोरपरः कश्चिद्विषयविषयिभावः। सदसदनिर्वचनीयार्थख्यातिवादिभिरपि स्वभावप्रत्यासत्तेरवर्ज्जनीयत्वादिति वक्ष्यमाणत्वात्। त तीये तु व्यक्तमात्माश्रयत्वम् स्वव्यवहारनियमं प्रत्येव निमित्तानुसरणात्।

कारणशक्तेरसदुत्पत्तिवन्नियम इति चेत्, सत्यम्। एतत्तु चिन्तनीयं कारणशक्त्यापि नियतजातिनियतया भवितव्यम्। अन्यथा ज्वलनविकल्पाज्जले पि प्रव त्तिप्रसङ्गात्।

प्रव त्तिनियामकं **ज्ञानश्रियो** बीजसर्वस्वमुत्थापयति – **स्वभावादेव कश्चिद् विकल्प इत्यादि।** तदुक्तं **ज्ञानश्रिया** नियतशक्तयो हि भावाः प्रमाणपरिनिष्ठितस्वभावा न शक्तिसाङ्कर्यपर्यनुयोगभाजः, कारणशक्तेः असदुत्पत्तिनियमादिति। कश्चिद् विकल्पः स्वभावादेव कस्मिंश्चिदेव अस्फुरिते विषये प्रवर्तयति। किमत्र क्रियताम्। स्वभावो दुरतिक्रमः।

ननु स्वभावभेद एव कथमीद श इत्यत आह – स च स्वभावभेदो स्य सविकल्पकस्य। स्वस्य सविकल्पकस्य कारणादेव आयातः। तत्र = स्वभावभेदे कः पर्यनुयोज्यताम्। न को पि प्रश्नस्य विषय इति चेत्? न। तत् किम् विषयेण अप्रत्यासन्न एव विकल्पः तत्र विषये प्रवर्तयति, प्रत्यासत्त्यन्तराभावात् स्वभावप्रत्यासन्नो वा? व्यवहृतिरेव वा प्रत्यसत्तिः? न प्रथमः। विषयेण सह प्रत्यासन्न एव विकल्पः विषये प्रवर्तते इति प्रथमपक्षो न युक्तः। तत्र हेतुमाह – **अतिप्रसङ्गादिति।** घट इति ज्ञानस्य पटे प्रवर्तकत्वापत्तेः। पटेन सहास्य विकल्पस्यासम्बद्धत्वात्। स्वभावप्रत्यासत्तिरेव ज्ञानविषययोः विषयविषयिभावः संबन्ध इति सिद्धा विकल्पस्य वस्तुविषयता इति सिद्धं नः (अस्माकं नैयायिकानां) समीहितमित्याह – **द्वितीये तु।** प्रत्यासत्त्यन्तराभावात् स्वभावप्रत्यासन्नो वेति द्वितीये पक्षे तु स्वभावेनोत्तरं स्यात्। विषयेण सह विषयस्य स्वभावेन स्वभावप्रत्यासन्नः संबन्धः स्यात्। किन्तु तदेव स्फुरणम् तदेव ज्ञानस्य विषयत्वम्। न हि व्यवहारे प्रवर्तयितव्ये स्वभावप्रत्यासत्तिम् (संबन्धम्) अवधूय = तिरस्कृत्य, ज्ञानज्ञेययोरपरः कश्चिद् विषयविषयिभावः।

सदसदनिर्वचनख्यातिवादिभिः आत्मख्यातिवादिभिरपि स्वभावप्रत्यासत्तेरवर्जनीयत्वादिति वक्ष्यमाणत्वात्।

ननु तद्गोचरव्यवहारजनकत्वमेव विषयेण सह ज्ञानस्य प्रत्यासत्तिः इत्याह – **त तीये तु व्यक्तमात्माश्रयत्वम्। व्यवहारनियमं प्रत्येव निमित्तानुसरणात् इति।** व्यवहृतिरेव वा प्रत्यासत्तिरिति त तीये तु व्यक्तम् आत्माश्रयत्वम् = तद्विषयेण तद्विकल्पस्य प्रत्यासत्तिं विना तद्विषये व्यवहार एव न स्यात्। तद्व्यवहारं विना तेन विषयेण सह तद्विकल्पस्य प्रत्यासत्तिः न स्यादिति आत्माश्रयत्वम्। व्यवहारनियमं प्रत्येव निमित्तानुसरणात् = तद्विषये व्यवहाराय तद्विकल्पकस्य तेन विषयेण सह प्रत्यासत्तिकल्पनानुसरणादित्यर्थः।

ननु यथा असत्त्वाविशेषे पि दण्डादेः घट एव जायते न तु पटः। तथा गोविकल्पात् गोविषयक–सविकल्पकज्ञानात् गव्येव प्रव त्तिर्नाश्वे इत्यत आह – **कारणशक्तेरसदुत्पत्तिवन्नियम इति चेत्?** दण्डादिकारणशक्तेः घटाद्यसदेव उत्पद्यते न पटासदितिवत् गोविकल्पात् गव्येव व्यवहारः न तु पटे व्यवहार इति चेत्? **सत्यम्। एतत्तु चिन्तनीयमित्यादि।**

कारणेति। यथा दण्डत्वावच्छिन्नस्य अन्वयव्यतिरेकौ घटत्वावच्छिन्नं कार्यम् अनुविधत्ते तथा गवि प्रव त्तिं प्रति गोविकल्पस्य जातिप्रतिनियमः त्वन्मते दुरुपपादः। अतद्व्याव त्त्यैव निर्वाहेण जातिर्नाङ्गीकार्येति त्वन्मतम्। तथा च गोत्वावच्छिन्नप्रव त्तिं प्रति गोत्वावच्छिन्नविषयक–सविकल्पकज्ञानं कारणमिति कार्यकारणाभावः त्वन्मते न संभवति। अत आह – **कारणशक्त्यापीति।** नियामकमन्तरेण स एवातिप्रसङ्गः। ज्वलनविकल्पात् जले प्रव त्तिरूपातिप्रसङ्ग इत्याह – **अन्यथेति।**

दाहादिसमर्थाकारविकल्पजातीयं तात्त्विके वह्नौ प्रवर्त्तयतीति जातिर्वोपाधिर्वा नियामक इति चेत्, न। तर्हि रत्नमरीचिनिचये ततः प्रवर्त्तेत। तज्जातीयस्य दहन एव प्रवर्त्तनसामर्थ्यात्। ताद्रूप्येण तस्यैव प्रथनादिति चेत्, प्रथताम्। न तु तस्य प्रवर्त्तनयोग्यता तत्र प्रथननियता। वह्निस्वलक्षणे वह्निविकल्पादप्रव त्तिप्रसङ्गात्। स्वीकुरु वा तस्यापि तत्र स्फुरणं परिहर वा वह्निविकल्पादवह्नौ प्रव त्तिमिति।

एतेनाकारसारूप्यं नियमहेतुरपास्तः। अर्थनीयसारूप्याभावे पि प्रव त्ति-दर्शनात्। अनर्थनीयसारूप्यमात्रस्य चातिप्रस जकत्वात्।

ननु वह्निरयम् इत्याकारकविकल्पत्वावच्छिन्नमेव बह्नौ प्रवर्तकम्, ताद शविकल्पत्व च जातिरुपाधिर्वा इत्यन्यदेतत्। न हि तत्रापि जात्यैव कारण–ता वच्छिद्यते। कालाकाशदिशां प्रतिनियतकार्यं प्रति अकारणतापत्तेः इत्याशङ्कते

– **दाहादिसमर्थाकारविकल्पजातीयं तात्त्विके वह्नौ प्रवर्तयतीति जातिर्वा उपाधिर्वा नियामक इति चेत्?** दाहादिकार्यं कर्तुं समर्थं यत् वह्निरयम् इत्याकारकं विकल्पजातीयं तात्त्विके पारमार्थिके वह्नौ प्रवर्तयति। तच्च विकल्पत्वं जातिर्वा उपाधिर्वेति नियामकः – वह्नित्वावच्छिन्ने वह्नौ वह्निरिति सविकल्पकज्ञानमेव कारणमिति नियम उपपद्यते इति चेत्? न। तर्हि रत्नमरीचिनिचये ततः प्रवर्तेत। तज्जातीयस्य दहने एव प्रवर्तनसामर्थ्यात्। तर्हि रत्नप्रभासमुदाये ततः = वह्निविकल्पात् (रत्नप्रभायां वह्निरिति प्रमात्मकज्ञानात्) न प्रवर्तेत। वह्निरयमित्याकारक–जातीयस्य वह्निविकल्पस्य दहने वह्नौ एव प्रवर्तनसामर्थ्यात्। न हि बीजात् अङ्कुरसामर्थ्यात् कु जरोत्पत्तिरिति भावः। एवं रत्ननिचयविकल्पात् वह्नौ प्रव त्तिर्न स्यात्। भ्रमात्मकज्ञानस्यापि प्रवर्तकत्वात्। ताद शविकल्पस्य वह्निविकल्पजातीयत्वाभावात्। ताद्रूप्येण = वह्नित्वेन, तस्यैव = रत्ननिचयस्यैव, प्रथनात् = स्फुरणादिति चेत्? तथाच रत्ननिचयस्यैव वह्नित्वेन विषयत्वात् ताद शभ्रमात्मकज्ञानादपि वह्नौ प्रव त्तिः स्यादेवेति चेत्? **प्रथताम्** इति। रत्ननिचयः वह्नित्वेन प्रथताम् विषयीभवतु। न तु तस्य = विकल्पस्य प्रवर्तनयोग्यता = प्रव त्तिकारणता तत्र = विषये प्रथननियता तद्रूपेण स्फुरणस्य नियमः। त्वन्मते बौद्धमते प्रव त्तिविषयप्रथनम् = स्फुरणम् अतन्त्रमित्यर्थः। वह्निस्वलक्षणे वह्निविकल्पा–दप्रव त्तिप्रसङ्गात्। वह्निस्वलक्षणे यथार्थवह्नौ वह्निविकल्पे वह्निस्वलक्षणप्रथनस्य त्वया अनङ्गीकारात्। यथार्थवह्नौ अयं वह्निरिति यथार्थ– विकल्पमपि न प्रवर्तयेत्। तत्र वह्निस्वलक्षणस्यास्फुरणात्। तव मते निर्विकल्पकानुभवे एव स्वलक्षणे स्फुरति न विकल्पे अन्यथा विकल्पस्यापि प्रमात्वापत्तेः। स्वीकुरु वा तस्यापि = स्वलक्षणस्फुरणस्यापि तत्र = सविकल्पकज्ञाने स्फुरणम् = विषयता। परिहर वा = त्यज वा वह्निविकल्पात् अवह्नौ रत्ननिचये प्रव त्तिमिति। सेयम् उभयतः पाशारज्जुरिति भावः। ज्ञाने विषयस्वरूप– स्वलक्षणस्य स्फुरणं यदि कारणं तदा यथार्थविकल्पादपि विषये प्रव त्तिर्न स्यात्, स्वलक्षणस्फुरणस्य तत्राभावात्। स्वलक्षणस्य निर्विकल्प–कानुभवमात्रे स्फुरणात्। यत्र ज्ञाने स्वलक्षणं स्फुरति तज्ज्ञानं प्रमात्मकम्। यत्र ज्ञाने स्वलक्षणं न स्फुरति तज्ज्ञानं न प्रमात्मकम् इति बोध्यम्। भ्रमात्मकज्ञाने यदि स्वलक्षणं स्फुरति तदा सिद्धं नः समीहितमिति उभयतः पाशारज्जुः।

यदुक्तं **ज्ञानश्रिया** विषयविकल्पयोः प्रत्यासत्तिचिन्तायां तात्त्विकस्यापि वह्नेः ज्वलनाकारत्वं विकल्पस्यापि, तावता तत्रैव वह्नावेव प्रवर्तनशक्तिः ज्वलनविकल्पस्य, न तु जलादौ। तदतिदेशेन दूषयति – **एतेनाकारसारूप्यं नियमहेतुरपास्तः।**

एतेनेति। मण्यादिमरीचिनिचये वह्निरयमित्याकारक–भ्रमात्मक–विकल्पत्वावच्छिन्न–सविकल्पकज्ञानात् प्रव त्त्यभावप्रसङ्गेनेत्यर्थः। तस्मिन् विकल्पे स्वलक्षणस्फुरणाभावेन स्वलक्षणविषयक–यथार्थविकल्पसारूप्यं मण्यादिमरीचिनिचये वह्निरिति अयथार्थविकल्पे नास्ति। एतदेवाह – **अर्थनीयसारूप्याभावे पि**

प्रव त्तिदर्शनादिति। अर्थनीयः प्रव त्तिविषयतया इष्टः रत्ननिचयः, तस्य च वह्निविकल्पेन (वह्नियथार्थज्ञानेन) सारूप्याभावे पि प्रव त्तिदर्शनात्। ताद शवह्निरिति भ्रमविकल्पे वह्निरित्याकारकसारूप्यस्य वह्नौ प्रवर्तकत्वस्य तत्र सत्त्वात्। तथापि वह्निना वह्निविकल्पस्य सारूप्यमस्त्येव इत्यत आह – **अनर्थनीयेति।** न हि तत्र वह्निरर्थनीयः। किन्तु रत्नमरीचिनिचय एव प्रव त्तौ तस्यैव लाभात्। तथा च अनर्थनीय– वह्निसारूप्यमात्रस्य भ्रमात्मकवह्निविकल्पे सत्त्वेन तस्य विकल्पस्य रत्ननिचये तत्र प्रयोजकत्वस्वीकारे अतिप्रसङ्गापत्तिः। जले भ्रमात्मक– वह्निरिति ज्ञाने वह्न्याकारसारूप्यस्य सत्त्वेन जले पि प्रव त्तिप्रसङ्ग इति अतिप्रस जकत्वस्य अनर्थनीयसारूप्यमात्रे सत्त्वात्। एतच्च भ्रमात्मकविकल्पे भ्रमात्मकविकल्पसारूप्य– मङ्गीकृत्य उक्तम्।

न च बाह्यवादे ज्ञानज्ञेययोर्विवक्षितसारूप्यसम्भवः, सामग्रीवैषम्यात्। साम्ये वा जाड्यचैतन्ययोरेकशेषप्रसङ्गात्। न च साम्ये प्यवान्तरविशेषात् कार्य्यविशेषव्यवस्थामिथः सामग्र्यननुविधानेन जायमानत्वात्। न च कार्य्योन्नेयं सामग्रीसाम्यं, बाह्ये धूमाद्यनुविधीयमानस्य कारणस्य द श्यमानत्वात्। धूमज्ञानस्य च तद्व्यभिचारोपलम्भात्। न च तदेव कारणमेकत्र द श्यमद श्यं चान्यत्रेति युक्तम्।

यदि च नीलिमादिर्विज्ञानस्य जातिविशेषः, कथं तदतिपत्य ज्ञेयं स्प शेत्। ज्ञेयस्य चेत्, कथं ज्ञानं तद्विशिंष्यादिति, जातिसङ्करापादनप्रस्तावे चिन्तितप्रायम्। तस्मात् स्फुरित एव ज्ञानं प्रवर्त्तयतीति गले पादुकयाप्यङ्गी-कारयितव्यः गत्यन्तराभावात्।

वस्तुतः सारूप्यमेव नास्तीत्याह – **न च बाह्यवादे ज्ञानज्ञेययोर्विवक्षित-सारूप्यसंभवः, सामग्रीवैषम्यात् इति।** सर्वं ज्ञानमेव, न ज्ञानाद् भिन्नं बाह्यमस्तीति विज्ञानवादिनो **योगाचारस्य** मते ज्ञानज्ञेययोः सामग्रीसाजात्येन बाधकाभावेन च ज्ञानज्ञेययोराकारसाम्यं संभवति। ज्ञानाद् भिन्नं बाह्यं वस्तु इति बाह्यवादिनः **सौत्रान्तिकस्य** मते ज्ञानज्ञेययोः भिन्नसामग्रीकत्वेन विवक्षितसारूप्यस्य = प्रव त्तिनियामकत्वेन इष्टस्य सारूप्यस्य न संभवः। ज्ञानज्ञेययोरभिन्नसामग्रीकत्वेन सारूप्यसाम्यं यदि अभ्युपगम्यते तदा जाड्यचैतन्ययोरभिन्नत्वापत्तिः, सर्वमेवाज्ञानं स्यात् अथवा सर्वं ज्ञानमेव स्यात् अभिन्नसामग्रीकत्वात्। तदेवाह – **साम्ये वा जाड्य- चैतन्ययोः एकशेषप्रसङ्गात्।** एकस्य शेषः अन्यस्य लोप इति प्रसङ्गात्। तथा च ज्ञानज्ञेययोरित्यत्र अन्यतरस्य शेषः (स्थितिः) अन्यस्य अपरस्य शेषभिन्नस्य लोपप्रसङ्गः स्यात्। स च नेष्टो बाह्यवादिमते।

ननु सुखयोः सुखजनकत्वेन सामग्र्याः साम्ये पि किंचित्कारणभेदात् वैजात्यं भवति, सुखे तारतम्यस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात्। तथा जड़– चैतन्ययोरपि स्यादित्यत आह – **न च साम्ये पि अवान्तरविशेषात् कार्यविशेषव्यवस्था।** ज्ञानज्ञेययोः समानसामग्रीजन्यत्वेन साम्ये पि अवान्तर– कारणभेदेन ज्ञानज्ञेययोर्भेदव्यवस्थेति न वाच्यम्। मिथः सामग्र्यननुविधानेन जायमानत्वात्। घटादिज्ञेयस्य दण्डादिसामग्री–जन्यत्वम्, ज्ञानस्य तु चक्षुरर्थसंयोगादिजन्यत्वमिति विभिन्नसामग्रीजन्यत्वेन ज्ञानज्ञेययोर्न साम्यसंभवः, विसद शसामग्रीजन्यत्वात्। अतो वान्तरकारणभेदमादाय ज्ञानज्ञेययोः साम्ये पि भेदः कर्तुं शक्यः। सुखयोस्तु सुखजनकत्वेन उभयसामग्र्योः साम्येन उभयोः सुखयोः समानसामग्रीकत्वेन साम्यस्य संभवे अवान्तरकारणभेदमादाय भेदः संभवतीति द ष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः भेदात् तथा कथयितुमशक्यत्वात्।

ननु धूम–धूमज्ञानयोः भेदेन उभयोः सामग्रीभिन्नेति न ज्ञान–ज्ञेययोः समानसामग्रीजन्यत्वमिति न ज्ञानज्ञेययोः समानसामग्रीकत्वेन ऐक्यप्रसङ्ग इत्यत आह – **न च कार्योन्नेयं सामग्रीसाम्यम्।** उभयोः सामग्रीभेदं दर्शयितुमाह – **बाह्ये धूमाद्यनुविधीयमानस्य कारणस्य द श्यमानत्वात्, धूमज्ञानस्य च तद्व्यभिचारोपलम्भात्। न तदेव कारणमेकत्र द श्यमद श्यं चान्यत्रेति युक्तम् इति।** धूमादिना अनुविधीयमानस्य धूमकारणस्य वह्नेः द श्यमानत्वात् धूमज्ञानस्य च वह्निं विनापि जायमानत्वात् धूमधूमज्ञानयोः क्व सामग्रीसाम्यम्? तथा च ज्ञानज्ञेययोः सामग्रीसाम्यं वक्तुं न युज्यते। तयोः सामग्रीभेदात्।

ननु धूमज्ञाने पि अद श्यो वह्निः कारणं स्यात् इति कथं न ज्ञान– ज्ञेययोः सामग्रीसाम्यमत आह – न च कारणं वह्निः, एकत्र धूमे द श्यम्, अन्यत्र ज्ञाने वह्निरूपकारणम् अद श्यमिति न युक्तम्। एकत्र द श्यत्वाद श्यत्वयोर्विरोधात् न स्थातुं शक्यते इति भावः।

ननु प्रमात्मकविकल्पाकारसारूप्याद् भ्रमात्मकविकल्पः स्वलक्षणे प्रामाणिके पदार्थे प्रवर्तयतीत्यत्र दूषणान्तरमाह – **यदि च नीलिमादिः विज्ञानस्य जातिविशेषः कथं तदतिपत्य ज्ञेयं स्प शेत्, ज्ञेयस्य चेत्, कथं ज्ञानं तद्विशिंष्यादिति।**

आकारो हि नीलत्वं तद् यदि ज्ञानगता जातिः, तदा सा जातिः, तत् = ज्ञानम् अतिपत्य परित्यज्य ज्ञेयं नीलादि स्प शेत्, नीले न वर्तेत। ज्ञेयस्य नीलत्वं जातिरिति चेत् ज्ञेयगता सा नीलत्वजातिश्चेत्? तदा ज्ञेयं परित्यज्य ज्ञाने कथं वर्ततामिति नाकारसाम्यमिति कथयितुं शक्यम्।

ननु नीलत्वं जातिः ज्ञानज्ञेयोभयत्र वर्ततां को दोष इत्यत आह – **जातिसङ्करेति।** एवं सति ज्ञानत्वानुभवत्वसाक्षात्त्वादिभिः साङ्कर्य्यं स्यात्। परस्परात्यन्ताभावयोरेकत्र समावेशो हि साङ्कर्यम्। नीलत्वं नीले तत्र ज्ञानत्वादिः न

वर्तते, ज्ञानत्वं प्रत्यक्षज्ञाने तत्र नीलत्वं न वर्तते। नीलो यम् इति विकल्पे ज्ञानत्वादि–नीलत्वयोः सामानाधिकरण्यमिति साङ्कर्यात् नीलत्वं न जातिः स्यात्।

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करो थानवस्थितिः।
रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः। इति।।

प्रकृतमुपसंहरति – **तस्मादिति।** स्फुरिते ज्ञानविषयीभूते पारमार्थिके एव तद्विषयकं ज्ञानं प्रवर्तयति, न तु आकारसारूप्यमिति बोध्यम्।

तर्हि स्फुरिते स्वाकारे एव प्रवर्त्तयतु, तत्र प्रव त्त एव चार्थी तत्सद श-मर्थमासादयति प्रभायां प्रव त्तो मणिवदिति चेत्, न। अभिमतार्थक्रिया-सामर्थ्यविरहिण्यप्रव त्तेः। न च बाह्ये विकल्पाकारारोपसम्भवः, तस्य तेनासंस्प-र्शात्। न चाकारे बाह्यत्वारोपः, स्वरूपे स्फुरत्यस्वरूपारोपानवकाशात्। प्रभायां तु मणिबुद्ध्यैव मण्यर्थी प्रवर्त्तते न तु तदबुद्ध्येति द ष्टान्तो प्याभासः।

न चाकारवादे स्फुरतो र्थस्य सत्तायां प्रमाणमप्यस्ति। आकारकादा-चित्कत्वस्य तैमिरिककेशाद्याकारेणानैकान्तिकत्वात्।

तदनेन प्रघट्टकेन शब्दलिङ्गविकल्पानाम् अलीक– विषयत्वं निराकृत्य **आकारो वेति सौत्रान्तिकमतं** दूषयितुमाशङ्कते – **तर्हि स्फुरिते स्वाकारे एव प्रवर्तयतु, तत्र प्रव त्त एव चार्थी तत्सद शमर्थम् आसादयति, मणिप्रभायां प्रव तो मणिवदिति चेत्? न इति।**

विकल्पानां प्रामाण्याभिमानमुपपादयति – **तत्रेति।** तत्सद शमर्थम् आसादयति = प्राप्नोति। यथा प्रभायां मणिरिति ज्ञानात् मण्यर्थी प्रवर्तते मणिं च प्राप्नोति इति मणौ संवादिप्रव त्तिः। यथा यथार्थप्रव त्तिः प्रवर्तकज्ञाने प्रामाण्यं बोधयति तथा विकल्पस्य आकारे स्फुरिते तदर्थी प्रवर्तताम्, तदर्थलाभेन तद्विकल्पस्य प्रामाण्यं समर्थप्रव त्ति–जनकत्वेन संवादिप्रव त्तिजनकत्वेन भवतु। परिहरति – **न। अभिमतार्थक्रियासामर्थ्य-विरहिण्यप्रव त्तेः।** अभिमतार्थक्रियासमर्थे हि अर्थे ताद शार्थक्रियार्थी प्रवर्तते, न तु ज्ञानाकारः तथा अर्थक्रियायां समर्थ इति कथं तस्य प्रवर्तकत्वम्। तस्य ज्ञानाकारस्य आन्तरज्ञानव त्तित्वेन प्रव त्तिविषयबाह्यार्थे व त्तित्वात्।

ननु बाह्ये अर्थक्रियासमर्थे अर्थे ज्ञानाकारारोपात् बाह्यार्थे प्रव त्तिः स्यादत आह – **न च बाह्ये (अर्थे) विकल्पाकारारोपसंभवः,** तस्य = बाह्यस्य, तेन विकल्पाकारेण, असंस्पर्शात् असंबन्धात्। बाह्यस्य अर्थस्य त्वन्मते बौद्धमते विकल्पेन असंस्पर्शात् असंबन्धात् अविषयत्वात्। बाह्यार्थं न विकल्पः विषयीकरोति। अन्यथा निर्विकल्पकानुभवस्येव विकल्पस्यापि प्रमात्वापत्तेः।

ननु ज्ञानाकारे एव बाह्यत्वमारोप्य बाह्यार्थे विकल्पात् प्रव त्तिः स्याद् अत आह – **न च आकारे बाह्यत्वारोपः। स्वरूपे स्फुरति अस्वरूपारोपानवकाशात् इति।** ज्ञानस्य स्वप्रकाशेन स्फुरिते स्वरूपे ज्ञानाकारे सति अस्वरूपस्य ज्ञानभिन्नस्य बाह्यस्य यः आकारः तस्य आकारस्य ज्ञाने आरोपासंभवात्। बाह्यत्वाभाव–व्याप्यज्ञानाकारस्य ज्ञाने द ष्टत्वेन ज्ञाने बाह्याकारारोपासंभवात्। तद्वत्ताबुद्धिं प्रति तदभावव्याप्यवत्ताज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वात्, अन्यविषयकज्ञानात् अन्यत्र प्रव त्तिरित्यत्र द ष्टान्तो पि साध्यविकलः इत्याह – **प्रभायाम्।** मण्यादिप्रभायां मणिबुद्ध्यैव मण्यर्थी प्रवर्तते। न तु तदबुद्ध्येति – **मण्यबुद्ध्येति द ष्टान्तो पि आभास इति।** अन्यविषयकज्ञानादन्यत्र प्रव त्तिरिति तत्र न भवतीति मणिप्रभारूपद ष्टान्तः साध्यविकलः।

ज्ञानाकारवादि–**सौत्रान्तिक**मते दोषमाह – **न च आकारवादे अस्फुरतो र्थस्य सत्तायां प्रमाणमप्यस्ति।** ज्ञानं बाह्यमवगाहते न वा? तत्र आद्ये ज्ञानं बाह्यमवगाहते बाह्यार्थं विषयीकरोतीति पक्षे, ज्ञानस्य बाह्यविषयकत्वादेव रजतज्ञानम् इत्यादि–व्यवहारोपपत्तौ अतिरिक्ते आकारे प्रमाणाभावः।

ननु तद्(रजत)व त्तिरजतत्वादिमत्त्वमेव ज्ञानस्य तदवगाहित्वं वाच्यम् इति चेत्? न। ज्ञानं रजतमिति व्यवहाराभावेन तत्कथयितुम् अशक्यत्वात्। न च व्यवजिहीर्षाद्यभावेन न ताद शव्यवहार इति वाच्यम्। ज्ञानं रजतमिति कश्चित् प्रत्येति इति प्रत्ययस्य अभावेन रजतव त्तिरजतत्वस्य ज्ञाने असत्त्वात्। रजतस्य ज्ञानमिति व्यवहारेण ज्ञाने रजतविषयकत्वस्यैव सत्त्वात्। ज्ञानं रजतं नावगाहते इति द्वितीये पक्षे न बाह्यार्थस्य सिद्धिः। ज्ञानस्यैव बाह्यार्थसाधकत्वात्। एव च ज्ञानस्य नीलादिराकार इति ज्ञानस्य आकारवादे अस्फुरतो र्थस्य नीलादेः सत्तायां प्रमाणमप्यस्ति। ज्ञानस्यैव नीलादिविषये प्रमाणत्वात्।

ननु आकारस्य कादाचित्कत्वादेव विषयसिद्धिः स्यात्। न हि नीलसन्निधान–मन्तरेण नीलाकारं ज्ञानं कादाचित्कं भवेत्, सर्वदैव तदा– (नीला)–कारप्रसङ्गादित्यत आह – **आकारकादाचित्कत्वस्य तैमिरिककेशाद्याकारेण अनैकान्तिकत्वात् इति।** तैमिरिकस्य रोगविशेषस्य नेत्रे वर्तमानत्वेन जनः अन्यपदार्थः अन्यपदार्थ इव ज्ञाने भासते इति तत्पदार्थाभावे पि ज्ञानस्य तत्पदार्थाकारत्वमिति तद्विषयसन्निधानेनैव ज्ञानस्य तदाकारत्वमिति नियमाभावेन ज्ञाने आकारकादाचित्कत्वनियामकत्वस्य विषये अनैकान्तिकत्वात्। इदमुपलक्षणम्। मण्डुकवशाया अ जनेन वंशे सर्पो यम् इति ज्ञानदर्शनेन सर्पासन्निधाने पि ज्ञाने सर्पाकारत्वभानेन ज्ञाने आकारत्वनियामकत्वस्य विषये अनैकान्तिकत्वम्। तदभावे पि ज्ञाने तदाकारत्वदर्शनात्।

अर्थक्रियासम्वादस्यापि स्फुरितस्याकारमात्रशरीरत्वात् बाह्यस्य चासिद्धेः। निरालम्बनार्थाकारवच्च क्वचिद्वासनावशादर्थक्रियाकारो पि निरालम्बन

एव भविष्यतीति, विपक्षे बाधकाभावात् प्रतिबन्धस्याप्यसिद्धेः। तस्माद्बाह्यसिद्धिः। साकारं च ज्ञानमिति बाललोलुपत्वमिति।

अस्तु तर्हि बाह्यमेव स्वलक्षणं विकल्पस्य विषयः। यद्यपि स्वरूपेणासामयिकतया तन्नाभिलापसंसर्गयोग्यम्, तथाप्यतद्रूपपराव त्तिप्रत्यासत्त्या साधारणरूपतामापन्नं सत् तथा भवत्येव। यथा ह्येको गौरगोव्याव त्तस्तथा परे पि गाव इति चेत्। अथ को यमगौर्नाम। किमेकस्य गोस्वलक्षणस्यानात्मा आहोस्वित्तद्गतधर्म्मविरही।

ननु ज्ञानस्य बाह्यार्थे अप्रमाणत्वे पि बाह्यार्थक्रियाया एव बाह्यार्थे प्रमाणत्वमस्तु इत्यत आह – **अर्थाक्रियासंवादस्यापि स्फुरितस्य आकारमात्रशरीरत्वात्, बाह्यस्य चासिद्धेरिति।** अर्थक्रियाया अपि आकारशरीरत्वात् आकाराभावे अर्थक्रियापि न स्यात्। कि च यदि बाह्यं सिद्ध्येत् तदा अर्थक्रियापि प्रतिनियता सिद्ध्येत् 'अनेन पदार्थेन इयं क्रिया भवति।' यथा घटरूपार्थेन जलाहरणक्रिया भवति इति प्रतिनियता क्रिया तत्तद्बाह्यपदार्थाधीना। बाह्यर्थाभावे सा क्रिया प्रतिनियता न भवेत्। तदेव तु नास्ति बाह्यपदार्थ एव नास्ति, इत्यत आह – **बाह्यस्य चासिद्धेरि**ति।

ननु बाह्ये र्थे न चार्थक्रिया प्रमाणं भवितुमर्हति। तैमिरिककेशज्ञानवद् अर्थक्रियाज्ञानस्यापि वासनासमुत्थत्वेन उपप्लवयितुं शक्यत्वात्। बाह्यपदार्थाभावे अनादितद्वासनया अर्थक्रियाज्ञानसंभवेन अर्थक्रियासंभवात् बीजाङ्कुरवत्। तदनवस्थायाः प्रामाणिकत्वादित्यत आह – **निरालम्बनार्थाकारवच्च क्वचिद् वासनावशादर्थक्रियाकारो पि निरालम्ब एव भविष्यतीति विपक्षे बाधकाभावात् प्रतिबन्धस्याप्यसिद्धेरिति।** निरालम्बनार्थाकारः = तैमिरिककेशज्ञानाकारवत् क्वचिद् वासनावशात् स्वोत्तरज्ञानवशात्, निरालम्बना अर्थक्रियाकारो पि भविष्यति। ज्ञानाकारे न विषयः कारणम् अपि तु तद्विषयकपूर्ववासनैव कारणम्। वासना च तज्ज्ञानोत्तरज्ञानमेव, न तु तज्ज्ञानजन्यसंस्कारः। एतन्मते स्थिरपदार्थाभावात्। क्षणिकसंस्कारकल्पने फलाभावात्। अनुभवस्य नामान्तरमेव ततः स्यात् इति विपक्षे = आकारकारणत्वस्य विषये भावे बाधकाभावात्। कस्यापि दोषस्य अभावात्। **प्रतिबन्धस्यापीति।** अर्थक्रिया–बाह्यार्थयोः प्रतिबन्धस्य = संबन्धस्य असिद्धेः = अभावात्। तथा च बाह्यार्थेन सह अर्थक्रियायाः संबन्धाभावेन (व्याप्त्यभावेन) कथमर्थक्रियया बाह्यार्थस्य सिद्धिरिति भावः। न ह्यसंबद्धार्थः केनापि साध्यते। अन्यथा म त्तिकया पटापत्तेः। तथा च अर्थक्रियाकारबाह्ययोः प्रतिबन्धस्यासिद्धेः कथमर्थक्रियासंवादेन बाह्यार्थसिद्धिः स्यात्। बाह्यस्य अर्थक्रियैव नास्तीत्यपिना समुच्चिनोति। **तस्माद् बाह्यसिद्धिः। साकारं च ज्ञानमिति बाललोलुपत्वमिति।** ज्ञानस्य आकारत्वाभावात्। आकारेण बाह्यपदार्थस्य सिद्धिः, ज्ञानं च साकारमिति कथनं बाल– लोलुपत्वम्। यथा बालकस्य असंभवपदार्थे चन्द्रानयनादौ लोलुपता तथैव ज्ञानस्य आकारेण बाह्यसिद्धेः

लोलुपता **सौत्रान्तिकस्ये**ति बोध्यम्। यथा अज्ञानात् बालकः चन्द्रानयनं प्रार्थयति तथा अज्ञानात् ज्ञानस्य आकारेण **सौत्रान्तिकः** बाह्यार्थसिद्धिं प्रतिपादयति इति **सौत्रान्तिक**मतम्।

सम्प्रति बाह्यं वस्तु वेति **वैभाषिकम**तम् उत्थापयन् त तीयं विकल्पं दूषयति – **अस्तु तर्हि बाह्यमेव वस्तु स्वलक्षणं विकल्पस्य विषयः इति।** स्पष्टार्थः। ननूक्तं स्वलक्षणं (वस्तु) नाभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासम् अत आह – **यद्यपि स्वरूपेणासामयिकतया तन्नाभिलापसंसर्गयोग्यम्, तथाप्यतद्रूपपराव त्ति- प्रत्यासत्त्या साधारणरूपतामापन्नं सत् तथा भवत्येव इति।** यद्यपि निर्विकल्पकज्ञानविषयीभूते वस्तुनि गवादौ स्वरूपेण = तद्व्यक्तित्वेन न शक्तिग्रहः, आनन्त्यात्, व्यभिचारात्, गवादिव्यक्तीनामानन्त्येन व्यक्तौ असर्वज्ञेन तत्र शक्तिग्रहस्य कर्तुमशक्यत्वात्। यस्मिन् गवि न शक्तिग्रहः तस्यापि गोशब्देन बोधात् व्यतिरेकव्यभिचाराद्वा। तथा च गवादि व्यक्तेः असामयिकतया = असङ्केतितया तत् = गोव्यक्तिरूपवस्तु, न अभिलाप– संसर्गयोग्यम् = न शब्दसंसर्गयोग्यम्। तथापि अतद्रूपपराव त्तिप्रत्यासत्त्या साधारणरूप– तामापन्नं सत् तथा भवत्येव। अगोव्याव त्तिलक्षणया प्रत्यासत्त्या स्वलक्षणेषु वस्तुषु साधारणरूपतामापन्नम् = गोत्वरूपतामापन्नम् एकगोव त्तितापन्नं वा सत्तथा भवत्येव = अभिलाप– (शब्द)–संसर्गयोग्यं भवत्येव। तामेव प्रत्यासत्तिमाह – **यथा ह्येको गौः अगोव्याव त्तः तथा परेपि गाव अगोव्याव त्ताः इति चेत्?** न विकल्पासहत्वात्। तथाहि। **अथ को यम् अगौर्नाम? किमेकस्य गोस्वलक्षणस्य अनात्मा, आहोस्वित् तद्गतधर्मविरही।** गोपिण्डभिन्नो वा गोत्वजातिशून्यो वा अगौरिति विकल्पार्थः।

प्रथमे न गवान्तरे पि गोशब्दविकल्पौ प्रवर्त्तेयाताम्, अश्वादिवदनात्म त्वाविशेषात्। अतिप्रसङ्गश्च, महिषमातङ्गाद्यगोव्यव त्त्याश्वे पि गोव्यवहार- प्रसङ्गात्। स गोरपि व्यावर्त्तते इति चेत्, तत् किमभिमतो गौर्गोरपि न व्यावर्त्तते। किन्तु स्वयमप्यसौ गौरिति चेत्, यद्यगोव्याव त्तिरेवास्य गोत्वं तदश्वे पि समानम्। अन्यच्चेत्तदुच्यताम्।

द्वितीये तु तद्गतधर्म्मविरहिव्याव त्तस्तद्वानेव स्यात्। तत्र च न नो विवादः।

मिथः सम्भिन्नाकाराः पिण्डा एव साधारणं रूपमस्तु कृतमतद्रूपपराव त्त्येति चेत्, न। सम्भेदाभावात्। स हि न वास्तवः पिण्डानां विरुद्धधर्म्माध्यस्तत्वात्। नाभिमानिकः, शाबलेयादेर्भेदेनैव प्रथनात्। तद्धर्म्माणां सम्भेदाभिमान इति चेत्, न। धर्म्यतिरिक्तधर्म्मानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा पर्य्यवसितं विवादेन।

प्रथमे = किमेकस्य गोस्वलक्षणस्यानात्मेति पक्षे **न गवान्तरे पि** =

तद्गोव्यक्तिभिन्ने गवि, **गोशब्दविकल्पौ** = गोशब्द–गोविकल्पौ **प्रवर्तेयाताम्, अश्वादिवदनात्मत्वाविशेषात्। गवान्तर इति।** तस्यापि = गवान्तरस्यापि, अश्वादेरिव अगोत्वात्। महिषाद् अगोर्मातङ्गाच्च अश्वस्य अपि व्याव त्तत्वेन गोव्यवहारप्रसङ्ग इत्यत आह – **अतिप्रसङ्गश्च महिषमातङ्गाद्यगोव्याव त्त्या अश्वे पि गोव्यवहारप्रसङ्गात् इति।** तद्– गोभिन्नत्वस्य महिषे मातङ्गे च सत्त्वेन तद्भिन्नत्वं गवि यथा वर्तते तथा अश्वे पि वर्तते इति अगोव्याव त्तत्वस्य अश्वे सत्त्वाद् अश्वे गोव्यवहारप्रसङ्गात्। अश्वादिर्गोरपि व्यावर्तते = अगोव्याव त्तिरश्वे पि वर्तते, तद्वद् भिन्नत्वस्य = अगोव्याव त्तित्वस्य अश्वे सत्त्वात् न तत्राश्वे गोव्यवहार इत्याह – **स गोरपि व्यावर्तते इति चेत्?** स = अश्वः गोरपि व्यावर्तते = भिन्न इति अगोव्याव त्तिर्नाश्वे वर्तते नाश्वे गोव्यवहार इति चेत्? तत् किमभिमतो गौः गोरपि न व्यावर्तते? व्यावर्तते, किन्तु स्वयमप्यसौ गौरिति चेत्? यद्यगोव्याव त्तिरेव अश्वस्य गोत्वं तदा अश्वे पि समानम्। **अन्यच्चेत् तदुच्यताम् इति।** स गोरपीति। एकस्मात् गोपिण्डात् अपरो पि गोपिण्डो व्यावर्तते = भिन्न इति। तत्रापि = अपरगोपिण्डे पि गोव्यवहाराभावप्रसङ्ग इत्याह – **तत्किमिति।** गोपण्डिादेकस्माद् भिन्नो पि गोपिण्डो गौर्भवत्येवेति। तत्र = अपरस्मिन् गवि गोव्यवहारः स्यादेवेत्याह – **व्यावर्तते इति। तदश्वे पीति।** अगोर्महिषाद् व्याव त्तो श्वो गौरेव स्यात्, अगोव्याव त्तत्वस्य अश्वे सत्त्वात्। **अन्यदिति।** गोत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकान्योन्याभाववान् अगौः तदन्यश्च गौरित्यर्थः। तथा च सिद्धं गोत्वमिति भावः। अगोव्याव त्तेः गवि सत्त्वात्।

द्वितीये तु – आहोस्विद् तद्गतधर्मविरही इति पक्षे तु। तद्गतधर्मविरहव्या–व त्तस्तद्वानेव स्यात्। तत्र च न नो विवादः। गोगतधर्मविरहवतो व्याव त्तः तद्धर्मवानेव स्यात्। तत्र = द्वितीयविकल्पे नः = अस्माकं न विवादः। गोत्वात्यन्ताभाववदन्यो गोत्ववानित्यर्थः।

(धर्म)**कीर्तिमतेन** अनुगतप्रत्ययस्य अन्यथासिद्धिं शङ्कते – **मिथः संभिन्नाकाराः पिण्डाः एव साधारणं रूपमस्तु, कृतम् अतद्रूपपराव त्त्येति चेत्? न इति।** यदाह **धर्मकीर्तिः** –

> पररूपं स्वरूपेण यया संव्रियते धिया।
> एकार्थप्रतिभासिन्या भावानाश्रित्य भेदिनः।।
>
> तया संव ततनानार्थाः संव त्या भेदिनः स्वयम्।
> अभेदिन इवाभान्ति भावरूपेण केनचित्। इति ।।

भेदिनो भावान् आश्रित्य एकार्थप्रतिभासिन्या यया धिया स्वरूपेण पररूपं संव्रियते, तया संव त्या स्वयंभेदिनः संव ततनानार्थाः केनचित् भावरूपेण अभेदिन इव आभान्ति। संभेदः = अभेदः। आकारभेद एव अनुगतमतेः आलम्बनम्। तथा च अयं

गौः इत्यनुगतज्ञानस्य परस्पराभिन्नाकाराः पिण्डाः = गोपिण्डा एव साधारणं रूपम् अनुगतमतेः आलम्बनम् = विषयो स्तु, व्यर्थम् अतद्रूपपराव त्त्येति चेत्? न। स हि न वास्तवः = यस्मात् संभेदः सकलगवादिव त्त्याकाराणाम् न वास्तवः। गोपिण्डानां परस्परविरुद्धधर्माध्यस्तत्वात्। यत्र यत्र विरुद्धधर्माध्यासः तत्र तत्र न संभेदः = अभेदः। तथा च गोपिण्डानां वास्तवम् एकत्वं न मन्तव्यम्। तेषु अनेकत्वदर्शनात्। गोपिण्डानां न आभिमानिकः संभेदः = अभेदः = एकत्वम्। गोपिण्डानां शावलेयादेः 'श्वेतः गौः', 'रक्तः गौः' इत्यादि– प्रत्ययविषयीभूतस्य श्वेतादेः भेदेनैव प्रथनात् = भासात् = विषयात्। तथा च गोपिण्डानाम् आकारस्य परस्परभिन्नत्वेन कथमनुगतप्रत्ययस्य विषयो भवेत्। यच्च अनुगतविषयः, तच्च गोत्वादि। गवादिधर्माणां शाबलेयादीनां संभेदाभिमानः = ऐक्याभिमान इत्यपि न युक्तम्। त्वन्मते बौद्धमते शाबलेयादिगोपिण्डानां धर्मिणां भिन्ना धर्मा एव न सन्ति। त्वया बौद्धेन धर्म–धर्मिणोः ऐक्याभ्युपगमात्। गोपिण्डेभ्यो गवादिधर्मिभ्यः भिन्नाः धर्माश्चेत् तदा आवयोः विवादेन पर्यवसितम् गवादिभिन्नं तद्गतगोत्वादि त्वया स्वीकृतम्।

स्यादेतत्। भिन्नानामेव स्वलक्षणानां समानाकारविकल्पजननसार्थ्यमस्तु। तदपेक्षया च केचिद् गाव इति व्यपदिश्यन्ते केचिदगाव इति। तच्च सामर्थ्यं स्वकारणनियतत्वादपर्य्यनुयोज्यम्। अन्यथा सामान्येष्वपि सामान्यान्तरं कल्प्येत अनुगतव्यवहारानुरोधात्। तथा गोपिण्डेष्वपि गोत्वस्य, व्यवस्थित्यनुरोधात्। उभयमुखी चैवमनवस्था स्यादिति चेत्।

यद्येवं निमित्तान्तरमनपेक्ष्यैकव्यवहारो त्यन्तभिन्नैः। एवं भिन्नव्यवहार एवाभिन्नैकेन केनचित् किं न साध्यते। शक्तिस्वभावावलम्बनस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। अथैवं सत्येकव्यवहारः क्वचिदपि न स्यात्, निर्निमित्तो वा भवेत्, उभयमप्यनिष्टम्। तदेतत्तुल्यम्। अनेकव्यवहारो प्येवं सति न स्यात् निर्निमित्तो वा भवेत्, उभयमप्यनिष्टम्। तस्मादेकेनैकव्यवहारवदनेकेनाप्यनेकव्यवहार एवेति सामर्थ्यनियमः।

धर्मकीर्तिमतम् आशङ्कते – **स्यादेतत् इति।** भिन्नानामेव स्वलक्षणानां (वस्तूनाम्, गवादिपिण्डानाम्) समानाकारविकल्प– जननसामर्थ्यमस्तु। यथा अवयवसंयोगादिभेदेन भिन्नानामेव स्वलक्षणानां वस्तूनां गोपिण्डानां समानाकार–(एकाकार)–विकल्प–(सविकल्पकज्ञान)–जननसामर्थ्यम् अस्तु। 'अयं गौः' 'अयं गौः' इत्याकारक–सविकल्पकज्ञान– जननसामर्थ्यमस्तु। तदुक्तं **(धर्म)कीर्तिना**।

एकप्रत्यवमर्षस्य हेतुत्वाद्धीरभेदिनी।
एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नता।। इति।

अयं भावः। अनुगतं हि गोत्वादिसामान्यम्। अनुगतविकल्प– (अनुगतसविकल्पकज्ञान)–जननार्थं वा कल्प्यते, अनुगतव्यवहारालम्बनतया वा। नाद्यः, भिन्नानामपि स्वकारणाधीनात् सामर्थ्यविशेषात् अनुगतविकल्प– (सविकल्पकज्ञान)–जननोपपत्तेः। न द्वितीयः। ताद शविकल्पजनकत्वस्यैव व्यवहारालम्बनत्वात्। यदि च अनुगतविकल्प–जनकत्वात् अतिरिक्तमपि अनुगतव्यवहारालम्बनं कल्पनीयम्, तदा गोत्वादिसामान्ये पि अनुगत– सामान्य–व्यवहारावलम्बनं सामान्यान्तरं कल्प्यम्। तत्रापि च सामान्य–व्यवहारात् तस्य च स्वात्मनि व त्तिविरोधात् तत्साधारणमपरं सामान्यम्, एवं तत्र तत्रापीति अनवस्था। एवं यदि स्वभावनियतव त्तेरपि सामर्थ्यस्य व त्तिनियमार्थं सामान्यं कल्प्यं तदा तस्यापि व त्तिनियमार्थमन्यत्, एवं तस्य तस्यापीति अनवस्था इत्याशङ्कते – **स्यादेतदित्यादिना।** विकल्पानां समानत्वम् आकारविशेषः[१०] इति शङ्कावारणाय गोपिण्डानामेव गौरयम् गौरयमित्यादिसमानाकारविकल्पजननसामर्थ्यं कल्पनीयम्। तेनैव तदुत्पत्त्या गोत्वादिसामान्यं (जातिः) न कल्पनीयमिति बौद्धस्य अभिप्राय इति। तथा च गोपिण्डादेः एकप्रत्यवमर्षस्य समानाकारज्ञानस्य हेतुत्वात् 'अयं गौः', 'अयं गौः' इत्यादि अभेदिनी = समानाकारा = अभिन्ना धीर्भवति। एकधी– हेतुभावेन = एकज्ञानकारणत्वेन व्यक्तीनां गोपिण्डानामपि अभिन्नता = ऐक्यम् = समानता इति **एकप्रत्यवमर्षस्य** इत्यादिकारिकाया अर्थः। तथा च गवादिविषय–समानाकारत्वेनैव अनुगतधीसंभवे तदर्थं गोत्वादिजातिः न कल्पनीया। तदपेक्षया च केचिद् गाव इति व्यपदिश्यन्ते, केचिदगाव इति। येषां पिण्डानां गवाकारानुगतधीजनन–स्वाभाव्यं ते गावः, येषां तु पिण्डानां न गवाकारनुगतधीजनन–स्वाभाव्यं ते अगावः, महिषाश्वादय इत्यर्थः।

ननु ताद शं सामर्थ्यं गवादिविषयाणां कुत आयातम् इत्यत आह – **तच्च सामर्थ्यं स्वकारणनियतत्वात् अपर्य्यनुयोज्यम् इति।** तच्च विषयाकारनुगतधीजनन–सामर्थ्यम् स्वकारणादेव आयातम्। अत्र प्रश्नस्य = कुत आयातमिति प्रश्नस्य नावकाशः। एतच्च त्वयापि नैयायिकेनापि स्वीकर्तव्यम् इत्याह – **अन्यथा सामान्ये पि सामान्यान्तरं कल्प्येत, अनुगतव्यवहारानुरोधात्। तथा गोपिण्डेष्वपि गोत्वस्य, तेष्वेव व्यवस्थित्यनुरोधात्। उभयमुखी चैवमनवस्था स्यादिति चेत्?** विकल्पज्ञान–कारणविषयाणां स्वभावसामर्थ्यम् अनुगतविकल्पकारणम् इत्यनङ्गीकारे, गोत्व–महिषत्व–अश्वत्वादिषु इदं सामान्यम् इदं सामान्यम् इत्यनुगतप्रत्ययार्थं तेष्वपि गोत्वादिसामान्येष्वपि अङ्गीक्रियेत = अङ्गीकारापत्तेः इत्यर्थः। कि च गोत्वं गोपिण्डेष्वेव वर्तते नान्यत्रेति तद्(गो)व त्तिनियामिका च अपरा जातिः, एवं तद्व त्तिनियामिका अपरा काचित् इत्यधो धोधावन्ती अनवस्था स्यात्। सामान्ये च सामान्यान्तराभ्युपगमे च ऊर्द्ध्वं धावन्तीत्युभयमुखी अनवस्थेत्यर्थः। सर्वत्रानुगतव्यवहार एव हेतुरिति चेत्? यदि अनुगत–व्यवहारादिनियामकं गवादिविषयनिष्ठमेकं स्वीक्रियते, तर्हि किमपराद्धं

प्रत्यक्षसिद्धेन गोत्वादिसामान्येन? उपस्थितस्य प्रत्यक्षसिद्धस्य परित्यागः, अप्रामाणिकस्य तत्सामर्थ्यस्य च कल्पनम् तव आपतेताम्।

अथ तत्सामर्थ्यं प्रतिव्यक्तिभिन्नम् तर्हि तस्य अनुगतविकल्प–व्यवहार–नियामकत्वं न सेत्स्यति, मिथो व्यभिचारात्। कि च अत्यन्तभिन्नानां गवादिपिण्डानां विषयाणां यथा अनुगतविकल्प–व्यवहारहेतुत्वम्, तथा अभिन्नानां तेषां भेदव्यवहारहेतुत्वं किं न स्यात्? उभयत्र निमित्ताभावस्य तुल्यत्वात्।

तथा च एकैको पि गोपिण्डो भेदेनैव व्यवह्रियेत इत्याह **यद्येवम्।** विषयगत–सामर्थ्यस्यैव = स्वभावस्यैव वा, अनुगतविकल्पव्यवहारयोः नियामकत्वे निमित्तान्तर–मनपेक्ष्य अत्यन्तभिन्नैः गवादिविषयैः एकव्यवहारः, सकलगवादिविषयेषु 'अयं गौः', 'अयं गौः' इत्यनुगतैकव्यवहारः अनुगतविकल्पश्च साध्यते, तर्हि अभिन्नेन केनचिदेकेन भिन्नव्यवहार एव किं न साध्यते? विनिगमनाविरहात्। उभयत्र नियामकाभावात्।

ननु विषयस्य अनुगतव्यवहारादौ एव शक्तिः सामर्थ्यम्, न तु भिन्न–व्यवहारादौ इत्यत आह – **शक्तिस्वभावालम्बनस्य उभयत्रापि** = अनुगत– व्यवहारादौ भिन्नव्यवहारादौ च, **तुल्यत्वात्।** तथा च विनिगमनाविरहात् क्रमेण ताद शोभय–व्यवहारापत्तिः।

ननु यदि एकेन अनेकव्यवहारो नुपपन्नश्चेत्, तदा अनेकैरपि विषयैः एकव्यवहारो पि अनुपपन्न एवेत्याह – **अथैवं सति एक व्यवहारः क्वचिदपि न स्यात्, निर्निमित्तको वा भवेत्, उभयमप्यनिष्टम्। तदेतत्तुल्यम्।** तुल्यतामेव दर्शयति – **अनेकव्यवहारो पि एवं सति न स्यात् निर्निमित्तो वा भवेत्, उभयमप्यनिष्टम्।** एकेनैव सामान्येन गोत्वादिना गवादिविषयाणाम् अनुगतव्यवहार इत्युपसंहरति – **तस्माद् एकेन** = गोत्वादिसामान्येन, एकव्यवहारवत् अनेकेनापि गवादिविषयेण अनेक– व्यवहार एवेति सामर्थ्यनियम इति। तथा च 'गौरयम्' इत्यादिव्यवहाराय गोत्वसामान्यमेव स्वीकार्यम्। न तु गवादिव्यक्तीनां स्वभावः सामर्थ्यं तत्र नियामकं मन्तव्यम्। तेषामनेकत्वेन अनुगतैकव्यवहारानुपपत्तेः अनेकव्यवहारापत्तेश्च।

का गतिस्तर्हि सामान्येष्वनेकेष्वेकव्यवहारस्य। या चन्द्रमस्येकस्मिन्ननेक-व्यवहारस्य। भ्रान्तो साविति चेत्, अयमपि भ्रान्त एव। बाधकस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। सर्वत्र भ्रान्तो स्त्विति चेत्, भेदव्यवहारो पि तथा किं न स्यात्। अर्थक्रियाभेदस्थितेरिति चेत्, व्यक्तिभेदाभेदव्यवस्थापकार्थक्रियाभेदाभेदवत्, सजातीयासजातीयत्वव्यवस्थापकार्थक्रियासाजात्यवैजात्ये अपि किं न पश्यसि। ते अपि भ्रान्ते इति चेत्, अर्थक्रियाभेदो पि भ्रान्त इति तुल्यम्। अस्त्वेवमिति चेत्, त्यज तर्हि बाह्यव्यसनम्। अयमेवाशय इति चेत्, तत्र वक्ष्यामः।

माभूद्वा र्थक्रियासाजात्यवैजात्यावगमः। भ्रान्त्यनुगमो प्येकं निमित्त-मनाद त्य कथम्, तदपि हि कार्य्यसाजात्यं सामग्रीसाजात्यमन्तरेणा-कस्मिकमापद्येत। अन्यथा तत्परम्परालम्बनमपि विडम्बनमेव। भिन्नैस्तैरभेदव्य-वहारसिद्धौ व्यक्तिभिरेव तथाभूताभिरभिमतसिद्धेस्तदनुसरणप्रयासवैफल्यात्। तस्मादारोपव्यवहारस्याप्यनारोपितजात्यनादरे असम्भव एवेति।

परापादिताम् अनवस्थाम् उद्धर्तुमाह – **का गतिस्तर्हि सामान्येषु अनेकेषु एकव्यवहारस्य।** गोत्वं सामान्यम् अश्वत्वं सामान्यम् इत्यनुगतव्यवहारस्य अनेकेषु सामान्येषु का गतिः? यदि नियामकान्तरं तत्रापि नियामकान्तरं मन्तव्यमिति पूर्वोक्तानवस्थाभयात् विषयसामर्थ्यमेव नियामकत्वेन स्वीकार्यमिति गवादिगतसामर्थ्येन उपपत्तौ गोत्वादिकल्पना तदर्थिका निरर्थिकैव गौरवादिति चेत्? यथा कदाचिद् एकेनापि (गोत्वादिना) अनेकव्यवहारः, तथा क्वचित् अनेकेनापि (विषयेण) एक–व्यवहारः स्यात् (सामर्थ्यं न कल्पनीयम्) इति प्रतिबन्दिमुखेन उत्तरमाह – **या चन्द्रमसि एकस्मिन् अनेकव्यवहारस्य** (गतिः)। एकस्मिन् चन्द्रमसि द्वितीयादि–तिथि–भेदेन नेत्ररोगेण वा अनेकश्चन्द्र इति यथा जना व्यवहारन्ति, तथा एकेन अनेकव्यवहारः, अनेकेनापि एकव्यवहारो भविष्यति। वस्तुतः सामान्येष्वपि तदितराव त्तित्वे सति सकलतद्व त्तित्वम्, नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं वा उपाधिसामान्यमस्तीति भावः। चन्द्रे नैकत्वव्यवहारो भ्रान्त इति चेत्? तर्हि एकेन अनेकव्यवहारो पि भ्रान्तः, अयमपि भ्रान्त एव। बाधकस्य उभयत्र तुल्यत्वात्। पूर्वस्मिन् ज्ञाने भ्रान्तत्वं = भ्रमत्वं, बाधकं विना न संभवति।

सर्वत्र भ्रान्तो स्त्विति चेत्? गोपिण्डादिष्वपि अनुगतव्यवहारः भ्रान्तो स्तु इत्यर्थः। तथा च गोत्वादिकल्पनं व्यर्थम् इति चेत्? भेदव्यवहारो पि तदा किं न स्यात्। **वेदान्तिमतम्** अवलम्ब्य आह – **भेदव्यवहारो पीति।** 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इति श्रुत्या यथा वेदान्तिनो भेदव्यवहारो मिथ्या भ्रान्तो वेति स्वीकुर्वन्ति, तथा बाह्यवादिनो भवन्तो बौद्धा अपि भेदव्यवहारो भ्रान्त इति स्वीकुर्वन्तु।

ननु अर्थक्रियाभेदात् व्यक्तीनां भेद इत्याह – अर्थक्रिया–(घटेन जलाहरणं पटेन आच्छादनम् इत्यादिक्रिया)–भेदस्थितेः (व्यक्तीनां भेदः) इति चेत्? अर्थक्रिया साजात्य–वैजात्य–निबन्धने। तर्हि व्यक्तीनामपि साजात्य– वैजात्ये स्वीकार्ये एव। अन्यथा तदाकस्मिकत्वप्रसङ्गाद् इत्याह – **व्यक्तिभेदाभेदव्यवस्थापकार्थक्रिया-भेदाभेदवत् सजातीय-असजातीयत्व-व्यवस्थापक-अर्थक्रिया-साजात्य-वैजात्ये किं न पश्यसि इति।** यथा घटेन जलाहरणेन पटेन आच्छादनेन च घटपटयोर्भेदः घटस्य च अभेदः, तथा गवा दुग्धदानादानाभ्यां गोसाजात्य–वैजात्यमपि भेदो पि गोव्यक्तेः स्यात् तथा गोव्यक्तेर्भेदापत्तेः। अन्यथा साजात्य–वैजात्ययोराकस्मिकत्वापत्तेः।

ननु **ते पि** = साजात्यवैजात्ये अपि **भ्रान्ते इति चेत्? अर्थक्रिया** = घटेन जलाहरणादिक्रिया पटेनाच्छादनक्रिया **अपि भ्रान्त**रूपापि **इति तुल्यम् इति।** भेदकभ्रान्तत्वेन घटपटादिव्यक्तिभेदो पि न स्यात्।

ननु व्यक्तिभेदो पि मास्तु, किं नः (बौद्धानाम्) छिन्नमित्याह – **अस्त्वेवमिति चेत्?** तर्हि त्यज बाह्य(पदार्थ)व्यसनम्। चिद्रूपं ब्रह्मैकमेवास्तु किं बाह्येनेति।

लब्धावकाशो वेदान्त्याह – **अयमेवाशय इति चेत्? तत्र** वेदान्तिमते **वक्ष्यामः।** बौद्धाभिमानं निराकृत्य वेदान्तिनः तव अभिमानं निराकरिष्यामः अग्रे इति।

माभूद्वेति। अर्थक्रियासाजात्यं कारणसाजात्योन्नायकं मास्तु, **भ्रान्त्यनुगमो प्येकं निमित्तमनाद त्य कथम्** ? 'किंचिज्ज्ञानं भ्रान्तं किंचिदभ्रान्तम्' इयमपि व्यवस्था कारणसाजात्यनिबन्धनैव स्यात्। अन्यथा सर्वं ज्ञानं भ्रान्तमभ्रान्तमेव वा भवेदित्यर्थः। **तदपि** = भ्रान्तमपि हि कार्यसाजात्यं सामग्रीसाजात्यमन्तरेण आकस्मिकमापद्येत।

ननु भ्रमत्वे सामग्रीसाजात्यस्य अप्रयोजकत्वे पि नाकस्मिकत्वं स्यादित्यत आह – **अन्यथा तत्परम्परावलम्बनमपि विडम्बनमेव।** कार्यसाजात्यं सामग्रीसाजात्यं विनैव भवतीति स्वीकारे, भ्रमपरम्परावलम्बनमपि विडम्बनमेव व्यर्थमेव (धिक्कारमेव) स्यात्। (यदि कारणसाजात्यं विनैव कार्यसाजात्यम्, तदा भिन्नाभिन्नैरेव बीजादि–व्यक्तिविशेषैः अनुगताङ्कुरादिकार्यजननोपपत्तौ, अङ्कुरादिसाजात्यानुरोधेन बीजादि–व्यक्तिविशेषतत्कारणपरम्परासु कुर्वद्रूपत्वपरम्पराकल्पनं विफलमेव भवताम्।)

भिन्नैस्तैस्तैरनुगतव्यवहारसिद्धौ व्यक्तिभिरेव तथाभूताभिः अभिमतसिद्धेः तदनुसरणप्रयासवैफल्यात्। तदनुसरणप्रयासः = भ्रमपरम्परानुसरणप्रयासः। तदयमर्थः।

एकप्रत्यवमर्षस्य हेतुत्वाद्धीरभेदिनी।
एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नता।।

इत्यत्र प्रत्यवमर्षस्य = प्रतिसन्धानस्य एकत्वभ्रमात् अनुगतप्रत्ययानाम् एकत्वभ्रमाच्च व्यक्तीनामेकत्वभ्रम इति या परम्परा त्वयोक्ता सापि तव विडम्बनमेव धिक्कार एव। भ्रमकारणस्यापि अनुगतस्य त्वया अनङ्गीकारात् इति। यद्वा एकप्रत्यवमर्षस्येति एकजातीयप्रत्यवमर्षस्येति त्वया वाच्यम्। तथा च सिद्धो जातिकृतानुगम इत्यर्थः। तथा च त्वत्कारिकायां तत्पराम्परानुसरणं तज्जातीयत्व–(भ्रमत्वजातीयत्व)–परम्परानुसरणमित्यर्थः। यद्वा व्यक्तीनां भिन्नानामेव सामर्थ्यात् सर्वत्र अभेदव्यवहारो अस्तु, किं प्रत्यवमर्षानुगमधी–परम्परानुसरणेन कारिकास्थेन इत्यर्थः। यद्वा प्रत्यवमर्षः = व्यवहारः, धीः = विकल्परूपानुगतधीः, तत्परम्परानुसरणफलं व्यक्तिस्वाभाव्यादेव तदुत्पत्तेरित्यर्थः। एकजातीयं वास्तवमनुसरणीयम् इत्युपसंहरति – **तस्मादारोपव्यवहारस्यापि अनारोपितजात्यनादरे असंभव एवेति।**

मा भूद्वा इत्यादेरक्षरार्थस्तु अर्थक्रियासाजात्यं कारणसाजात्योन्नायकं मास्तु। भ्रान्त्यनुगमो पि एकं निमित्तं कारणम् अनाद त्य कथं भविष्यति। कि चिज्ज्ञानं भ्रान्तं कि चिदभ्रान्तम् इयमपि व्यवस्था कारणसाजात्यनिबन्धनैव स्यात्, कारण–साजात्यनिबन्धनत्वस्य अस्वीकारे विनिगमकाभावेन सर्वं ज्ञानं भ्रान्तमभ्रान्तं वा भवेत्। तदपि भ्रान्तत्वमपि कार्यसाजात्यं भ्रमसजातीयत्वम् सामग्री–(भ्रमोत्पाद–कसामग्री)–साजात्यमन्तरेण, आकस्मिकम् आपद्येत। यदि भ्रमसजातीयत्वस्य भ्रमकारणसजातीयत्वस्य वा भ्रमत्वं प्रति प्रयोजकत्वं न स्वीकरोषि तदा भ्रमत्वमाकस्मिकम् उत्पद्येत। तथा च सर्वमेव ज्ञानं भ्रमः स्यात्। यदि भ्रमत्वं कारणं विना नोत्पद्येत तदा सर्वमेव ज्ञानं भ्रमत्वशून्यं स्यात्। प्रतिसन्धानस्य एकत्वभ्रमात् अनुगतप्रत्ययानाम् एकत्वभ्रमाच्च व्यक्तीनाम् एकत्वभ्रम इति या परम्परा त्वयोक्ता सापि तव विडम्बनमेव धिक्कार एव। भिन्नैस्तैस्तैः गवादिपिण्डैः, अनुगतव्यवहारस्य 'अयं गौः', 'अयं गौः' इत्यनुगतव्यवहारस्य। यद्वा इदं ज्ञानं भ्रमः इदं ज्ञानं भ्रम इत्यनुगतव्यवहारस्य भ्रमविषयीभूतैः तैस्तैः विषयैः तत्तद्भ्रमकारणकूटैर्वा सिद्धौ सत्याम् तथाभूताभिः सामर्थ्ययुक्ताभिः व्यक्तिभिरेव गवादिपिण्डादिव्यक्तिभिरेव अभिमतस्य 'अयं गौः', 'अयं गौः' इत्याकारस्य अनुगतज्ञानस्य अनुगतव्यवहारस्य वा सिद्धेः,

एकप्रत्यवमर्षस्य हेतुत्वाद्धीरभेदिनी।
एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नता।।

इति कारिकास्थस्य एकप्रत्यवमर्षस्य यदनुसरणं तस्य वैफल्यात् गोपिण्डानां समानाकारप्रत्ययस्यैव हेतुत्वात् यथानुगतधीः भवति। भ्रमविषयाणामेव समानाकारभ्रमस्य अनुगतभ्रमं प्रति हेतुत्वादेव अनुगतभ्रमसिद्धेः। प्रतिसन्धानस्य एकत्वभ्रमात् अनुगतप्रत्ययानामेकत्वभ्रमाच्च व्यक्तीनामेकत्वभ्रम इति परम्परायाः त्वया उक्तायाः वैफल्यं स्यात्। भ्रमस्य आरोप्यप्रसिद्धिमन्तरेण असंभवात्। असत्ख्यातेः निरासात् भ्रमबलादेव साजात्यवैजात्ये साधयन् उपसंहरति – **तस्मात् आरोपव्यवहारस्यापि अनारोपितजात्यनादरे असंभव एवेति।** अनारोपितरजतत्वस्य = वास्तविकरज–तत्वस्य अनादरे अस्वीकारे रजतत्वस्य शुक्तौ इदं रजतमित्यत्र रजतत्वस्य असतः स्वीकारे शुक्तौ असतः रजतत्वस्य आरोपो पि न संभवत्येव। अतः भ्रमस्थले असत्ख्यातिर्न स्वीकार्या, किन्तु अन्यथाख्यातिरेवेति।

अस्तु तर्हि जात्यादौ बाधकादपोहसिद्धिरिति चेत्। व्यवहारस्यानन्यथा-सिद्धौ क्व बाधकम्। अन्यथा विपक्षे बलवद्बाधकमुपनीयानन्यथासिद्धिविश्रान्तो पि स्वभावहेतुर्बाधकशङ्कयाप्युपहन्येत। ततो बाधकव्यसनमपहायानुगमव्यवहृति-रन्यथाप्युपपाद्यताम्। न चैतच्छक्यं गत्यन्तराभावात्।

न च बाधकमप्यस्ति। तद्धि स्वरूपतो वा स्यात् ज्ञानतो वा स्यात्। स्वरूपतो प्यनुपलम्भो वा विरुद्धधर्म्माध्यासो वा।

न प्रथमः, असिद्धेः। स्फुरत एव हि साधारणाकारस्य शरीरं चिन्तयितुमारब्धम् नास्फुरतः। अध्यक्षे साधारणस्फुरणं व्यासेधामो न तु विकल्पे। तस्य समानशब्दसङ्केतग्रहतिमिरनिकुरम्बकरम्बितद ष्टिभिरेवो-पपादनात्, न त्वस्माभिः। कल्पनाकोषस्यानन्तप्रसरतया तत्त्वाव्यवस्थापकत्वादिति चेत्। न, शब्दानुसन्धानविरहे पि जायमानत्वात्।

अस्तु तर्हि जात्यादौ (गोत्वादिजातौ अनेकव त्तिसंयोगादौ च) **बाधकात्** (अग्रे वक्ष्यमाणात्) **अपोहसिद्धिः** (गवादौ अतद्व्याव त्तिसिद्धिः) **इति चेत्।** व्यवहारस्य (अनुगतव्यवहारस्य) अनन्यथासिद्धौ (अन्यथासिद्धिशून्यत्वे) क्व बाधकम्? तथा च 'अयं गौः', 'अयं गौः' इत्यनुगतव्यवहाराय गोत्वजातिः स्वीकार्या गोत्वे बाधकान्तराभावात्। अन्यथा = अनुगतव्यवहारस्य अन्यथासिद्धत्वे गोत्वाद्यसाधकत्वे वा, विपक्षे = बलवद्बाधकमुन्नीयानन्यथासिद्धि– विश्रान्तो पि न को पि अन्यथासिद्धिशून्यः स्यात्। तथा च स्वभावहेतुः = अनुमापको हेतुः प्रसङ्गभिन्नो हेतुर्वा। धूमो यदि बह्निनव्यभिचारी स्याद् इति प्रसङ्गहेतुर्वा बाधकशङ्कयापि उपहन्येत = हेत्वाभासः स्यात्। ततो बाधकव्यसनमपहाय त्यक्त्वा अनुगतव्यवहृतिः = व्यवहारः अन्यथा पि = गोत्वादिजातिं विनापि उपपाद्यताम्। **न चैतच्छक्यम्।** अनुगतव्यवहारस्य अन्यथा = गोत्वादिजातिं विना उपपादनं न शक्यम्। **गत्यन्तराभावात्।** अन्यापोहादेः अतद्व्याव त्त्यादेः निरस्तत्वात्। 'अयं गौः', 'अयं गौः' इत्यनुगतव्यवहारः अगोव्याव त्त्या न सिद्ध्यति। किन्तु सकलगोव त्ति–अनुगतगोत्वेनैव सिद्ध्यति।

ननु बलवद्बाधकं चेदस्ति, तदा प्रकारान्तरेणापि अनुगतव्यवहारः परं चिन्तयितुम् अर्हतीत्यत आह – **न च बाधकमप्यस्ति।** तद्धि = बाधकं हि, **स्वरूपतो वा स्यात्, ज्ञानतो वा स्यात्।** स्वरूपतो प्यनुपलम्भो वा विरुद्धधर्माध्यासो वा। **स्वरूपत इति।** जात्यादिकमेव आहत्य = हठात् बाध्यते, इति स्वरूपतो वा स्यात् ज्ञानतो वा स्यादिति विकल्पयोः क्रमेणार्थः।

(तत्र) **न प्रथमः।** बाधकम् स्वरूपतः गोत्वादि– जात्यादिकमेव बाध्यते इति प्रथमविकल्पो न युक्तः। तत्र हेतुमाह – **असिद्धेः इति।** बाधकम् गोत्वादिजातिं न प्रतिबध्नाति, 'गौरयमिति' विकल्पे गोत्वोपलम्भस्य साधितत्वेन गौत्वानुपलम्भाभावात् गोत्वस्य तत्र अबाधात्। एतदेवाह – **स्फुरत एव साधारणाकारस्य शरीरं चिन्तयितुमारब्धम् न अस्फुरतः इति।**

'गौरयम्' इति विकल्पे ज्ञाने स्फुरत एव भासमानस्यैव साधारणा–कारस्य गोत्वाकारस्य शरीरं = गोत्वं चिन्तयितुम् विचारयितुम् आरब्धम्, नास्फुरतः गोत्वाकारस्य

शरीरं चिन्तयितुमारब्धम्। तथा च गोत्वस्य गौरयम् इति ज्ञाने भानेन तस्य बाधकं न कल्पयितुं शक्यम्। अध्यक्षे = निर्विकल्पकज्ञाने साधारणस्फुरणं गोत्वादिभानं व्यासेधामः, निषेधामः। यतः तन्मात्रमेव प्रमाणम्, न तु विकल्पे न तु निर्विकल्पकज्ञानजन्यविकल्प– (सविकल्पक)ज्ञाने गोत्वस्य भानं निषेधामः। तस्य = विकल्पस्य, समान–शब्दसङ्केतग्रह–तिमिरनिकुरम्बकरम्बितद ष्टिभिरेवोत्पादनात्, न त्वस्माभिः (बौद्धैः) कल्पनाकोषस्य अनन्तप्रसवतया तत्त्वाव्यवस्थापकत्वादिति चेत्? न।

ननु गोत्वादिजातिविकल्पकनिर्विकल्पकज्ञानाभावे पि विकल्परूप एव जात्या–द्युपलम्भो स्तीत्यत आह = **न त्विति।** समानशब्दसङ्केतग्रह एव निकुरम्बः = समुदायः तेन करम्बिता कलुषिता द ष्टिर्येषां तैरेवोपपादनात्, नत्वस्माभिः बौद्धैः न तत्त्वमात्रद ष्टिभिः। तथा च विकल्पे सविकल्पकज्ञाने गवादिपदसङ्केतग्रहाधीना नामजात्यादियोजना न वास्तविकीत्यर्थः। तदेवाह – **कल्पनाकोषस्य** = कल्पनानिधेः = कल्पानायाः भण्डारस्य लोकप्रसिद्धस्य = अनन्तप्रसवतया = अनेकपदार्थ–ज्ञानजनकतया तत्त्वाव्यवस्थापकत्वात् परमार्थवस्तुनः निश्चायकत्वाभावात्। तथा च सविकल्पकज्ञाने काल्पनिकस्यैव पदार्थस्य भानात् न ततो र्थसिद्धिः। अतो निर्विकल्पकज्ञानमात्रं प्रमाणम्। प्रमाणं च न सविकल्पकज्ञानमेवेति भावः इति चेत्? न। शब्दानुसन्धानविरहे पि जायमानत्वात्। शब्दसङ्केतग्रह–विरहे पि सविकल्पकज्ञानं यदि जायते तदा कथमनुगताकारः भासते? 'अयं गौः', 'अयं गौः' इति अनुगताकारः भासते, सर्वानुभवसिद्धत्वात् सविकल्पकज्ञानमपि प्रमाणमेव मन्तव्यम्। तथा च सविकल्पकज्ञानस्य 'गौरयम्' इत्याकारस्य गोत्वादिजातिभासकत्वेन पदार्थनिश्चाय–कत्वात् गोत्वादिजातिः पारमर्थिकी त्वया अङ्गीकार्या। गोत्वादिजातौ सविकल्पक–ज्ञानस्य त्वदभिमतस्य गोत्वादिजातिभासकत्वेन कथं न गोत्वादिजातिः त्वया ङ्गीक्रियते? तत्र तद्विकल्पस्यापि प्रमाणत्वात्। तथा च विकल्पे काल्पनिकस्यैव भानात् ततो नार्थसिद्धिरिति तव कथनं न संगतम्। अन्यथा = प्रमाणसत्त्वे पि पदार्थसिद्ध्यभावे कस्यापि सिद्धिर्न स्यात्। तथा च कथं बाह्यपदार्थवादित्वं त्वयि सिद्ध्येदिति भावः।

तथापि तद्वासनात एवेति चेत्, किमेकसङ्केतविषयाभावे पि समानशब्द-सङ्केतग्रहवासनावशादेकाकारपरामर्शस्तत्सद्भावे वा। न तावदाद्यः, नाना-सास्नादिमद्व्यक्तिवत् स्वर्गलोचनबाणाम्बुकुलिशादिष्वपि गोशब्दसङ्केत-ग्रहवासनावशा- त्तथाविधप्रत्ययानुगमप्रसङ्गात्। इष्ट एवासावर्थ इति चेत्, सो यं सास्नादिमतीषु व्यक्तिषु साधरणं रूपं न पश्यति, पश्यति तु गोशब्दवाच्येषु दशस्विति किमत्र वक्तव्यं नूनं रुचिरमेवास्य लोचनमिति।

शक्यमिदमितरेणापि वक्तुमिति चेत्, शक्यम्। न तु व्यवहारस्तन्मूलो विपर्य्यासयितुम्।

नन्वेतावतापि विकल्पः सिद्ध्यतु, अनुभवस्तु कथम्। सवस्तुकविकल्पसिद्धेरेव। कथं तस्य सवस्तुकतेति चेत्। शब्दवासनादिकारणान्तरविध्वंसादिति तूष्णीम्भव। अन्तराले किमिति नोपलभ्यत इति चेत्, उपलब्धिकारणाभावात्।

ननु तत्र शब्दे = सविकल्पकज्ञानजनके प्राक्तनी सङ्केतग्रहवासना अस्ति, ताद शवासनया असत् गोत्वादि भासते शुक्तौ रजतमिव। अतो विकल्पकज्ञानस्य न वस्तुसाधकत्वमित्याह – **तथापि तद्वासनात एवेति चेत्? इति।** सविकल्पज्ञाने गोत्वादिभाने पि गोत्वादि जातिः न प्रामाणिकी अनादिवासनयैव गोत्वादिभानात्। तथा च यथा शुक्तौ इदं रजतमिति सविकल्पकज्ञानं न रजतं साधयति अप्रमाणत्वात् तथा 'गौरयम्' इति सविकल्पकज्ञानस्य गोत्वभासकत्वे पि गोत्वे न प्रमाणम्। तस्य सविकल्पकज्ञानस्य अनादिवासनाजनितत्वेन शुक्तौ इदं रजतमिति ज्ञानस्येव वस्तुसाधकत्वाभावादिति चेत्? न। अस्य त्वत्कथनस्य विकल्पासहत्वेन अयुक्तत्वात्। तथाहि – किमेकसङ्केतविषयाभावे पि समानशब्दसङ्केतग्रहवासनावशाद् एकाकारपरामर्शः? तत्सद्भावे वा? किम् एकसङ्केतस्य यो विषयः तस्य विषयस्य अभावे पि समानशब्द– = तद्भिन्न–तत्समानानुपूर्वीक–तच्छब्द–सजातीयशब्द–सङ्केतग्रह–वासनावशाद् एकाकारपरामर्शः = गौरयमिति सविकल्पकज्ञाने गोत्वजातिर्भासते। तत्किम् उच्चरित–गोशब्दसमानानुपूर्वीक–तत्सजातीय–गोशब्द–संकेतग्रह–वासनादेव उत तत्सद्भावे वा? गौरयमिति ज्ञाने गोत्वस्य सत्त्वे वा? यद्वा, सो पि सङ्केतग्रहः = गोशब्दे गोत्वनिरूपित–सङ्केतग्रहः, एकं गोत्वादि–जात्यादिनिमित्तं तिरस्कृत्य जायते, किम् एकं गोत्वादिजात्यादिनिमित्तं पुरस्कृत्य वा जायते इति विकल्पार्थः। **न तावदाद्यः।** भिन्नप्रव त्तिनिमित्तेषु गवादिषु तथा सति ताद शशक्तिग्रहस्वीकारे, अनुगतप्रत्ययः = गोभिन्नेष्वपि गौरयम् इत्यनुगतप्रत्ययः स्यादित्यत आह – **नानासास्नादिमद्व्यक्ति(गौः)- वत् स्वर्ग-लोचन-वाण-अम्बु-कुलिशादिष्वपि गोशब्दवासनावशात् तथाविधप्रत्ययानुगमप्रसङ्गात्।** गोशब्दस्य अनेकार्थकत्वेन गो–स्वर्ग–लोचन– बाण–अम्बु–कुलिशादयः सर्वे र्था गोशब्दवाच्या एव। किन्तु प्रत्युच्चारणं शब्दाः भिद्यन्ते इति तत्तदर्थकशब्दानां भेद इति नैकस्मिन् शब्दे सर्वे अर्थाः सन्ति। शब्दे शक्तिग्रहश्च गोत्वादिजात्यादिनिमित्तं तिरस्कृत्यैव जायते। तथा गवार्थकगोशब्दे तत्तदर्थाभाववति अनादिवासनावशात् गोस्वर्गादि–निरूपितसङ्केतग्रहे जाते स्वर्गादावपि गौरयं गौरयम् इत्यनुगतप्रत्ययापत्तेः। इष्ट एवासौ अर्थ इति चेत्? **असाविति।** अनुगतप्रत्यय इत्यर्थः। गोव्यक्तिव त्तिगोत्व–विजातीय–स्वर्गत्व–लोचनत्व–बाणत्वादिमत्सु स्वर्गादिषु 'गौरयं गौरयम्' इत्यनुगतप्रत्यय इष्ट एव। तात्पर्यविषयीभूतगोव्यक्त्यभाववति गोशब्दे स्वर्गत्वाद्यभावस्य

समानत्वेन गवि गौरयम् इत्यनुगतप्रत्ययवत् गोव्यक्तिभिन्न–स्वर्गलोचनबाणादौ गौरयम् इत्यनुगतप्रत्ययस्य इष्टत्वादिति भावः इति चेत्? सो यम् (गौरयम् इत्यनुगतप्रत्ययः) सास्नादिमतीषु व्यक्तिषु गोरूपपशुषु, साधारणं (सकलेषु सास्नादिमत्सु गोरूपपशुषु वर्तमानं गोत्वादिजातिम्) रूपं न पश्यति = न विषयीकरोति। गोशब्दवाच्येषु दशसु स्वर्गलोचनबाणादिषु इति किमत्र वक्तव्यम्? (अत्र न किमपि प्रमाणमस्ति)। नूनम् (निश्चितम्) रुचिरेव इच्छैव अस्य = अनुगतप्रत्ययस्य लोचनम् = नेत्रम्। गौरयम् इत्यनुगतप्रत्ययः यमिच्छति तं पदार्थं विषयीकरोति। एवं सति अश्वतात्पर्येण उच्चरिते 'सैन्धवमानय' इत्यत्र सैन्धवशब्दः लवणमपि विषयीकुर्यात् इति महान् कोलाहलः तव आपतेत्। न–वा–शब्देन को पि व्यवहारः सिद्ध्येत् तदर्थकशब्दात् तद्भिन्नार्थस्यापि भानात्। तथा च एकजातीयव्यक्तिषु अनुगतधीनिमित्तं गोत्वादिकं, किंचित् न पश्यति न विषयीकरोति अनुगतप्रत्ययः, विजातीयेषु पश्यति = विषयीकरोति इति इच्छामात्रं न प्रमाणानुरोधः कश्चिदित्यर्थः। शक्यमिदम् इतरेणापि वक्तुमिति चेत्? 'गौरयं', 'गौरयम्' इत्यनुगतप्रत्ययः गोशब्दवाच्येषु स्वर्गलोचनबाणादिषु वर्तमानं स्वर्गत्व–लोचनत्व–बाणत्वादिकं साधारणं रूपं न पश्यति = न विषयीकरोति। तत्रेच्छैव कारणम् न किमपि प्रमाणमस्तीति सौगतेनापि वक्तुं शक्यमिति चेत्? शक्यम् = एवं वक्तुं शक्यम्। न तु व्यवहारः तन्मूलो विपर्यासयितुम्। गौरयमित्यनुगतप्रत्ययः गोत्वभिन्नस्वर्गत्वादि विषयं करोति न गोत्वं विषयीकरोतीति सौगतो बौद्धः वक्तुं शक्नोति। किन्तु गौरयम् इत्यनुगतमूलको गौरयमिति व्यवहारः विपर्यासयितुम् = अन्यथाकर्तुं तेन बौद्धेन न शक्यते। तथा च गौरयमिति अनुगतप्रत्ययः गौरयमिति व्यवहारं जनयति। ज्ञानव्यवहारयोः समानविषयकत्वाद्। गौरयमिति व्यवहारानुरोधेन गोत्वमेव विषयीकरोति गौरयमिति अनुगतप्रत्ययो न तु स्वर्गत्व–लोचनत्व–बाणत्वादिकमिति सुस्थिरम्।

नन्वेतावता पि विकल्पः सिद्ध्यतु। सास्नादिमतीषु व्यक्तिषु, अनुभवस्तु (निर्विकल्पकानुभवस्तु) कथम्? ''निर्विकल्पकानुभवस्तु न व्यवहारं जनयतीति व्यवहारानुरोधेन कथं गोत्वादिग्राही।

ननु एतावता गौरयमित्यनुगतव्यवहारेण सविकल्पकज्ञाने पि गोत्वा–दिजातिर्भासताम् अनुभवश्चेत् (निर्विकल्पकानुभवश्चेत्) जातिं (निर्विकल्पक ज्ञान–तज्जन्यव्यवहाराभावेन) न विषयीकरोति तदा न सा गोत्वादिजातिः प्रामाणिकी। निर्विकल्पकानुभव एव वस्तुग्राहकत्वेन प्रमाणम्। न सविकल्पकज्ञानं प्रमाणम्, अस्य वस्त्वग्राहकत्वात्। तथा च गोत्वादिगोचरो निर्विकल्पकानुभवः कथं सेत्स्यतीति चेत्? **सवस्तुविकल्पकसिद्धेरेव।**

ननु यद्विषयको व्यवहारो यद्विषयकज्ञानाद् भवति स व्यवहारः स्वजनकज्ञाने तद्विषयकत्वं स्थापयति। तथा च गौरयमिति व्यवहारः स्वजनकसविकल्पकज्ञाने

गोविषयकत्वम् अनुगतव्यवहारात् गोत्वविषयकत्वं स्थपयिष्यति, न तु निर्विकल्पज्ञाने विषयकत्वं सेत्स्यति, निर्विकल्पकज्ञानेन व्यवहाराभावादिति चेत्? न। विकल्पज्ञानविषयस्यैव बाधकमन्तरेण अनुभव– (निर्विकल्पज्ञान)–विषयत्वध्रौव्यात्। यद्विषयको निर्विकल्पकानुभवः तद्–विषयकत्वस्यापि सविषयकज्ञाने नियमात्। तथा च सविकल्पकस्य सवस्तुकस्य सिद्ध्या निर्विकल्पकानुभवस्य सविषयकत्वं सिद्ध्यति।

नन्वद्यावधिपर्यन्तं विकल्प एव सवस्तुको न सिद्धः। तस्य अप्रामाणिकत्वेन विषयव्यवस्थापकत्वाभावात्। तदा कथं सविकल्पक– विषयस्य निर्विकल्पकानुभव– विषयत्वमिति शङ्कते – **कथं तस्य सवस्तुकता इति चेत्?** सविकल्पकज्ञानस्य सवस्तुकता कथं कथ्यते? शुक्तौ इदं रजतमिति सविकल्पकज्ञानस्य रजतासाधकत्वेन निर्विकल्पकज्ञानस्यैव प्रमाणस्य वस्तु(विषय)साधकत्वात्। ज्ञाने विषयसाधकश्च व्यवहारः। स च निर्विकल्पज्ञानान्न भवति, इति न निर्विकल्पकज्ञाने सविषयकत्वमिति चेत्? शब्दवासनादिकारणान्तरविध्वंसादिति तूष्णीं भव। सविकल्पकज्ञानस्य शब्दवासनादिकारणं भवितुमर्हति। गौरयमिति ज्ञाने स्वर्गलोचनादीनां भानापत्तेः इति शब्दवासनादौ सविकल्पककारणत्वस्य पूर्वमेव निषेधे गौरयमित्यादि विकल्पानाम् अर्थसामर्थ्यसमुत्थत्वम् आवश्यकम्। तथा च सविकल्पकज्ञानस्य वस्तुविषयकत्वेन प्रमाणत्वसिद्ध्या तत्र गोत्वस्य वस्तुत्वं सिद्धमेव। एवम् अश्वमित्यादि विकल्पानामपि अश्वत्वादिवस्तुविषयकत्वेन अश्वत्वादेः अपि वस्तुत्वं सिद्धम्। बौद्ध! त्वं तूष्णीं भव। तव युक्तेः खण्डितत्वेन गोत्वस्य वस्तुत्वे किमपि वक्तुं न शक्यते इति भावः।

ननु सा विकल्पज्ञानविषयीभूता गोत्वादिजातिः, अव्यापिका व्यापिका वा? अर्थात् सा जातिः सर्वत्र वर्तते न वा? सर्वत्र वर्तते चेत् सा व्यापिका, यदि सर्वत्र न वर्तते तदा अव्यापिका। एव च गोत्वादिजातिरव्यापिका चेत् तदा प्राचीदिशि वर्तमाने गवादिपिण्डे परिद ष्टा प्रतीचीदिशि वर्तमाने गवादिपिण्डे नोपलभ्येत, तस्याः जातेरव्यापकत्वेन असार्वत्रिकत्वात्। जातौ क्रियाया अभावेन तस्याः प्रतिसङ्क्रमणा– द्यसंभवात्। अतो व्यापिकैव गोत्वादिजातिरङ्गीकार्या। तथा च व्यापिकायाः तस्याः गोत्वादिजातेः सर्वत्र विद्यमानत्वेन गोपिण्डयोर्मध्ये पि सा गोत्वादिजातिः उपलभ्येत। नोपलभ्यते, अतो गोत्वादिजातिः नाङ्गीकार्येति शङ्कते – **अन्तराले किमिति नोपलभ्यते इति चेत्?** अन्तराले = मध्ये किमिति = कथं नोपलभ्यते? जातेर्व्यापकत्वेन सर्वत्रोपलम्भस्य आवश्यकत्वादिति मध्ये तस्या अनुपलम्भेन व्यापिका गोत्वादिजातिः नाङ्गीकरणीयेति चेत्? जातेः अभिव्यक्तिकारणं व्यक्तिः। सा च गोपिण्डयोरन्तराले नास्तीति व्यापिकापि गोत्वादिजातिः स्वाश्रयपिण्डयोरन्तराले नोपलभ्यते इति परिहरति – **उपलब्धिकारणाभावादिति।** जात्युपलब्धिकारणस्य व्यक्तेः मध्ये अभावेन कारणाभावान्न व्यापिका जातिः स्वाश्रयपिण्डयोर्मध्ये उपलभ्यते। तथा तत्र जातेः

सत्त्वे पि तदुलम्भकारणाभावेन सा नोपलभ्यते। न तु जातेरभावात् नोपलभ्यते इति विज्ञेयम्।

पिण्ड एव कुण्डे बदरवत् कुतो नोपलभ्यत इति चेत्, न। अनन्यदेशत्वात्। भेदेन तूपलभ्यत एव, पिण्डान्तरासंसर्गिणि पिण्डे नुभूयमाने तत्संसर्गितया नुभवात्।

नापि द्वितीयं बाधकम्, अवयविसमानयोगक्षेमत्वात्। जायमानपिण्ड-सम्बन्धानुपपत्तिरप्रतिसङ्क्रमात्तत्रासत्त्वादनुत्पादाच्चेति चेत्, कथं पुनस्तत्रासत्त्वं त्वया व्यज्ञायि। तत्र सत्त्वे तत्रत्याकाशादेरपि गोत्वप्रसङ्गादिति चेत्, न चैतत् पश्चादपि तत्रत्याकाशादिना सम्बध्यते। येन च पिण्डेन सम्बध्यते न तत्र कदापि तन्नास्ति। तत् कुतो विरोधः।

ननु सा जातिः स्वाश्रये वर्तते चेत्? तदा पिण्डे स्वाश्रये विवेकेन उपलभ्यताम्। तत्र स्वाश्रयपिण्डे विवेकेन नोपलभ्यते अतो जातेरनुपलम्भात् सा जातिः नाङ्गीकरणीयेति शङ्कते – **पिण्डे एव कुण्डे बदरवत् कुतो नोपलभ्यते इति चेत्? न।** यथा बदराश्रये कुण्डे बदरफलम् उपलभ्यते तथा स्वाश्रये गवादिपिण्डे गोत्वादिजातिः नोपलभ्यते। अतो न सा जातिः अङ्गीकरणीयेति चेत्? विवेकेन उपलम्भो यदि भिन्नदेशे उपलम्भस्तत्राह – **अनन्यदेशत्वात् इति।** भिन्नदेशस्य अनन्यदेशत्वाभावेन न जातेः अन्यदेशे स्वाश्रयभिन्नदेशे उपलम्भो भवति। विवेकेनोपलम्भो यदि च भेदमात्रोपलम्भस्तत्राह – **भेदेन तूपलभ्यते एव इति।** विशेषणस्य गोत्वस्य विशेष्यस्य गोपिण्डस्य भेदेन उपलभ्यस्य सत्त्वात् गौर्गोत्वभेदवान् इति प्रत्ययात्। गौरिति ज्ञाने विशेषणं गोत्वं विशेष्यो गौरित्युभयोर्विशेषणविशेष्यभावात्। यद्युभयोः अभेदः स्यात् तदा उभयोः विशेषणविशेष्यभावो न स्यात्।

नन्वयं गौरिति विशिष्टबुद्धौ गोपिण्डान्तरमेव विशेषणत्वेन भासतां किं गोत्वेन इत्यत आह – **पिण्डान्तरासंसर्गिणि पिण्डे अनुभूयमाने तत्संसर्गितया नुभवात् इति।** गोपिण्डान्तरासंसर्गिणि पिण्डे = द्वितीयगोपिण्डासंबद्धे प्रथमगोपिण्डे अनुभूयमाने = अनुभवविषये प्रथमगोपिण्डसंसर्गितया गोत्वजातेरनुभवात्।

गवि गोत्वमेव विशेषणं न तु गवान्तरं विशेषणमिति विज्ञेयम्। न च बाधकमप्यस्ति। तद्धि स्वरूपतो वा स्यात्, ज्ञानतो वा स्यात्। स्वरूपतो प्यनुपलम्भो वा विरुद्धधर्माध्यासो वेत्यत्र विरुद्धधर्माध्यासो वेति द्वितीयबाधकं निरसयितुमाह – **नापि द्वितीयं बाधकमिति।** विरुद्धधर्माध्यासो वेति विकल्पितविकल्पं द्वितीयमपि युक्तम्। अवयविसमानयोगक्षेमत्वात्। द्वितीयं बाधकम्, कात्स्न्यैकदेशविकल्पेन विरुद्धधर्माध्यासरूपम्। अवयविस्थापनावसरे एव दूष्यत्वादिति **भगीरथठक्कुरः**। अवयविनि कात्स्न्यैकदेशविकल्पनिरासवदिहापि तन्निरसनीयम्। न कात्स्न्र्येन वर्तते

नैकदेशेन वर्तते गोत्वादिजातिः किन्तु स्वरूपेण वर्तते।

ननु गोत्वादिजातौ जायमानपिण्डसंबन्धः प्रकारत्रयेण संभवति। पिण्डान्तराद् गोत्वादिजातेः गमनाद् वा, पूर्वमेव तत्–(गोत्वादिजाति)– सत्वाद् वा, गोत्वादिजातेः पिण्डेन (गवादिपण्डिेन) सह जायमानत्वाद् वा। तदेतत् त्रयमप्यनुपपन्नमित्याह – **तत्र जायमानपिण्डसंबन्धानुपपत्तिरप्रतिसङ्क्रमात्, तत्रासत्त्वात्, अनुत्पादाच्चेति चेत्?** गोत्वादिजातेः निष्क्रियत्वेन पिण्डान्तराद् अगमनात् नोत्पन्ने गोपिण्डे गोत्वस्य संबन्धः। अप्रतिसंक्रमाद् इत्यस्य अगमनादित्यर्थः। गोपिण्डोत्पादात् पूर्वमेव गोत्वस्य तत्र गोपिण्डदेशे सत्त्वात्। उत्पन्नेन गोपिण्डेन संबन्ध इति न वक्तुं शक्यते। तत्र गोपिण्डदेशे गोत्वस्य असत्त्वात्। अन्यथा गोपिण्डे गौरयमिति व्यवहारस्येव गोपिण्डदेशे गौरयमिति व्यवहारस्यापि आपत्तेः। कथं पुनस्तत्रासत्त्वं व्यज्ञायि। कथं पुनः गोपिण्डदेशे गोत्वं न वर्तते इति त्वया ज्ञायते? तत्र सत्त्वे तत्र आकाशादेः अपि गोत्वप्रसङ्गादिति चेत्? गोदेशे यदि गोत्वं वर्तेत तदा तत्रत्याकाशादेरपि गोत्वाश्रयत्वम् आपद्येतेति चेत्? न चैतत्। पश्चादपि तत्रत्याकाशादिना संबन्ध्यते। गोत्वं यदि गोपिण्डदेशे वर्तेत तदा तद्देशो पि गोत्ववान् स्यादिति कथं न युक्तम्? तद्देशे गोपिण्डस्य आगमने गोत्वस्य तत्रत्याकाशेन संबन्धात्। आकाशो गोत्ववानिति व्यवहारस्य दुर्वारत्वा– पत्तेः। येन पिण्डेन गोत्वादिजातिः संबन्ध्यते, न तत्र पिण्डे कदापि तत् गोत्वादि नास्ति। तत् कुतो विरोधः? तथा च गोदेशे पि व्यापकत्वात् गोत्वं स्वरूपतो वर्तते तत्र न गोत्वानुभवः न वा गोत्वव्यवहारः। समवायेन यत्र गोत्वं वर्तते तत्रैव तदनुभवः तद्व्यवहारश्च भवति। अतः समवायव त्त्या तत्सत्त्वं तदनुभवे तद्व्यवहारे च तन्त्रं, न तु स्वरूपतो पि तद्व त्त्या तत्र तन्त्रमिति भावः। अतः गवाभाववति देशे गोमति देशे च समवायेन गोत्वं न वर्तते, अतस्तत्र स्वरूपतो वर्तनमपि गोत्वं तत्तद्देशे न गोत्वानुभवं गोत्वव्यवहार च जनयति। तत्र देशे जाते पि पिण्डे समवायेन तदाकाशासंबन्ध्येव गोत्वं स्वरूपत आकाशसबन्धि अत आकाशे न गोत्वानुभवव्यवहारौ प्रवर्तेताम्।

ननु तर्हि पिण्डेनापि तत्र गोत्वादिजातिर्न संबन्ध्येतेत्याह – **येन चेति।** येन गोपिण्डेन सह गोत्वं समवायेन संबद्ध्यते, तत्रापि गोपिण्डे कदापि तत् = गोत्वं समवायसंबन्धेन नास्तीति न भवति। किन्तु तत्र गोपिण्डे अस्त्येव गोत्वम्। तत् कुतो विरोधः। पिण्डोत्पत्तेः पूर्वमाकाशादौ गोत्वं नासीत्, उत्पन्ने च पिण्डे तत्र गोत्वमस्तीति विरोधो न संभवतीत्यर्थः।

अथ पिण्डमन्तर्गडुमुपादायोपलक्षणतया तत्रेति व्यवहारः, तदा तदुपसर्पणापसर्पणोत्पत्तिविनाशैरेव तदुपपत्तौ न यातीत्यादिरपराद्धेषोरिव धानुष्कस्य कण्ठडम्बरः।

तथा हि पिण्डमधिकृत्योपसर्पणापसर्पणाभावस्तदुपलक्षितं देशमधिकृत्य

च सत्त्वासत्त्वे सामान्यस्येति किं केन सङ्गतम्। अथाप्यनुत्पन्ने पिण्डे तस्यासत्त्वं सुलभमेव तदसत्त्वादिति हृदयम्। तन्न, स्वरूपसत्त्वासत्त्वयोर्द्वितीयानपेक्षत्वात् सम्बद्धत्वासम्बद्धत्वे तु द्वितीयापेक्षे। ततस्तत्रासति नास्तीति को र्थः।

तेनासता न सम्बध्यत इति चेत्। तच्चैवमेतत्। पश्चात् कथं सम्बध्यतामिति चेत्, तस्य सत्त्वात्। असम्बद्धत्वस्य तदसत्त्वप्रयुक्तत्वात्। ततः प्रागसन् पिण्डः पश्चात् कथमुपपद्यतामिति चोद्यनिष्ठा, सा च सत्कार्य्य-वादमनुपततीत्यभुक्तवान्तिः।

ननु पिण्डो निरूपकमात्रं न तत्र = पिण्डे गोत्वं समवैति = समवायसंबन्धेन वर्तते। तथा च तेन रूपेण निरूप्यमाणं गोत्वं प्राग् आकाशादौ आसीत् चेत् तदा आकाशादौ गोव्यवहारः स्यादिति ब्रूम इत्याह – **अथ पिण्डम् अन्तर्गडुम् उपादाय उपलक्षणतया तत्रेति व्यवहारः, तदा तदुपसर्पणापसर्पणोत्पत्तिविनाशैरेव तदुत्पत्तौ न यातीत्यादिरपराधाद्वेषोरिव धानुष्कस्य कण्ठडम्बरः।** अन्तर्गडुम् = संबन्धघटकम्। उपलक्षणतया = तत्रेति व्यवहारः। कदाचित् तत्रेति कदाचित् च न तत्रेति व्यवहारः। अन्तर्गडुम् = निरूपकमात्रम् वा। एवं सति यथा गोपिण्डसत्त्वाधीने गोत्वसत्त्वासत्त्वे भवतः। तथा च गौरस्ति, गौर्नास्ति, गौर्जातो, गौर्नष्टो, गौर्गच्छति इत्यादिव्यवहारा अपि गोपिण्डोपाधिका एव। तथा च उत्पन्नं गोत्वं, नष्टं गोत्वं, गोत्वं गच्छतीति प्रत्ययो गोत्वबाधकत्वेन आशङ्कितो न मनागपि पदमादधाति। तेषाम् उत्पादविनाशादिप्रत्ययानां पिण्डोत्पादविनाशादिविषयकत्वात्।

न याति न च तत्रासीन्न चोत्पन्नं न चांशवत्।
जहाति पूर्वमाधारम् अहो व्यसनसंततिः।।

न याति (न गच्छति गोत्वम्), न च तत्रासीत् (न तस्मिन् देशे आसीत् गोत्वम्), न चोत्पन्नम् (गोत्वं नोत्पन्नम्), न चांशवत् (न गोत्वमवयववत् वर्तते), जहाति पूर्वमाधारम् (गोपिण्डं पूर्वमाधारं तस्य नाशे त्यजति गोत्वम्), अहो व्यसनसंततिः (व्यसनसमुदायः) – इति **धर्मकीर्तेः** विरोधकीर्तनस्य लक्ष्यं गोत्वम्। तच्च ततः विरोधकीर्तनगोत्वात् प्रच्युतम् व्यक्तौ गोपिण्डे पतितम् इत्यपराद्वेषुता।

ननु सामान्यं गोत्वादि गवादिपिण्डं नोपसर्पति न वा अपसर्पतीति चेत्? तदा तदुपलक्षिते (पिण्डाधारदेशे) सत्त्वासत्त्वे सामान्यस्य इति यथा श्रुते सोपहासमाह – **तथाहीति।** उपसर्पणापसर्पणाभाव इत्यत्र सामान्यस्य इत्यग्रेतनेन संबन्धः। यद्वा ननु व्यक्तेरुपसर्पणापसर्पणात् तदुपलक्षिते = व्यक्त्याधारे देशे सत्त्वासत्त्वे न सामान्यस्येति यथाश्रुते सोपहासमाह – **तथाहि पिण्डमधिकृत्योपसर्पणापसर्पणाभावः।** तदुपलक्षितं देशमधिकृत्य च सत्त्वासत्त्वे सामान्यस्येति किं केन सङ्गतम्? अथापि अनुत्पन्ने पिण्डे तस्य असत्त्वं सुलभमेव तदसत्त्वादीति हृदयम्। तन्न। स्वरूपसत्त्वा–

सत्त्वयोर्द्वितीयानपेक्षत्वात्। संबद्धत्वासम्बद्धत्वे तु द्वितीयापेक्षे। ततस्तत्रासति नास्तीति को र्थः इति। पिण्डे चेत् नोपसपर्णापसर्पणे तर्हि पिण्डाधारे तदुपलक्षिताकाशदेशे सामान्यस्य सत्त्वासत्त्वे स्यातामित्यन्तम् असङ्गतमित्यर्थः।

ननु सामान्यं स्वरूपतः तद्देशादौ अस्ति चेत्? अस्तु। तथापि यः पिण्ड उत्पन्न एव नास्ति तेन पिण्डेन तस्य गोत्वादेः संबन्धः कथं स्यात्? तस्य पिण्डस्य इदानीमसत्त्वात् न सत्त्वासत्त्वयोः संबन्धः। सर्वानुभवविरोधात्। नहि संबन्ध्यभावे पि संबन्ध इति पूर्वपक्षिणो हृदयमाह – **अथापीति।** सामान्यं स्वरूपतः सर्वत्र देशे काले स्तीत्युक्ते तत् = सामान्यम् अनुत्पन्नेन पिण्डेन संबध्यतामित्यपि किं केन सङ्गतमित्यर्थः।

ननु पिण्डानुत्पत्तिदशायाम् असता पिण्डेन कथं संबध्यताम् इत्येतदेव प्रश्नविषय इत्यत आह – **ततस्तत्रासति नास्तीति को र्थः इत्यादि।**

असता पिण्डेन सतः गोत्वस्य संबन्धो न भवत्येवेत्याह – **तच्चेति।** तेन सत् गोत्वम् असता पिण्डेन न सम्बध्यते इति यदुक्तं त्वया तत्सत्यम् उक्तम् एतत् = यथार्थमुक्तम्। पश्चात् = उत्पन्नानन्तरम् कथं संबध्यताम् = गोत्वादिसामान्यं पिण्डेन कथं सम्बद्ध्यते इति चेत्? तस्य पिण्डस्य सत्त्वात् गोत्वादिसंबन्धः पिण्डे उपपन्नः। गोत्वादिसामान्ये पिण्डे असम्बद्धत्वस्य तदसत्त्व(पिण्डासत्त्व)प्रयुक्तत्वात् सम्बन्धिनि सति सम्बन्धो भवतीति सर्वजनसिद्धे पि तव कथं तया तवाभिप्राय एवमुन्नीयते। यः पिण्डः पूर्वं नासीत् स पिण्डः पश्चात् कथमुत्पद्यते इत्याह – **तत इति।** चोद्यनिष्ठा देश्यपर्यवसानम्। **अभुक्तवान्तिरिति।** साङ्ख्यमतं त्वया न भुक्तं न पाचितम् इदानीं तदेव साङ्ख्यमतमेव वमसीत्यर्थः। देशे काले च सामान्यस्वरूपम् इति पिण्डोपगमापगमादिना गौरस्ति गौर्नास्तीति व्यवहारः। यथा अविचलति चैत्रे दण्डोपगमापगमाभ्यां दण्डी चैत्रो, नायं दण्डीति व्यवहार इति प्रघट्टकार्थः।

तथापि सामान्यतद्वतोरत्यन्तभेदे कथं सामानाधिकरण्यमिति चेत्, किमिदम्। समानेनाधिकरणेन हि सम्बन्धः सामानाधिकरण्यम्, तस्य च भेदेन को विरोध इति नाधिगच्छामः। गवाश्वयोरपि तथाभावप्रसङ्ग इति चेत्, ननु व्यतिरेकद ष्टान्तस्थानं तत् न तु विरोधस्थानम्। तच्च मैत्रतनयो पि यदि कश्चिदश्यामः स्यात् परिद श्यमानानामपि तथाभावावप्रसङ्ग इति क्व नाम दुर्लभम्।

तथापि विशेषो वाच्य इति चेत्, अस्ति स्वाभाविको विशेषो यत् कि चिदेव केनचित् सम्बद्धं न सर्वं सर्वेणेति। तथानुगमनियमो पि स्वभावादेव किं न स्यादिति चेत्, एकस्यानेकसम्बन्धे नेकस्य चैकसम्बन्धे विरोधात्। एकानेकयोरनेकैकव्यवहारविरोधादिति।

धर्मधर्मिणोरात्यन्तिकमभेदं निरस्य पाक्षिकं (अङ्गीकृतम् अनङ्गीकृतं च)। तं निरसयितुं भेदाभेदवादिनमुत्थापयति – **तथापीति।** यद्वा धर्मधर्मिणोर्भेदाभेदवादी आह = तथापि सामान्य–तद्वतोरत्यन्तभेदे कथं सामानाधिकरण्यमिति चेत्? सामान्यं गोत्वादिजातिः तद्वतः = सामान्यवतः पिण्डस्य च तयोः सामान्यतद्वतोः अत्यन्तभेदे कथं सामानाधिकरण्यम्? अत्यन्तभिन्नयोर्गवाश्वयोः सामानाधिकरण्याभावादित्यर्थः। अत्यन्तभेदे पि सामानाधिकरण्यं नानुपपन्नमित्याह – **किमिदमिति।** किमिदमुच्यते! किमिदम् इत्याश्चर्ये। तदेव दर्शयति – समानेन अधिकरणेन हि संबन्धः सामानाधिकरण्यम्। तस्य = सामानाधिकरण्यस्य ताद शसंबन्धस्य च भेदेन = धर्मधर्मिणोर्भेदेन को विरोधः इति नाधिगच्छामः, न स्वीकुर्मः।

ननु भिन्नयोः सामानाधिकरण्ये गवाश्वयोरपि सामानाधिकरण्यं स्याद् इति शङ्कते – **गवाश्वयोरपि तथाभाव-(सामानाधिकरण्य)-प्रसङ्ग इति चेत्?** हन्त! ममाभिप्रायमजानन् शङ्कते **गवाश्वयोरपीति।** इमं ममाभिप्रायम् अवधारय। न ब्रूमो ययोर्भेदः तयोः सामानाधिकरण्यम् आवश्यकमिति, अपितु क्वचिद्भेदे सति सामानाधिकरण्यम्, क्वचित्सामानाधिकरण्याभावश्चेति गवाश्वयोरेताद श–सामानाधि–करण्यं न वर्तते। तयोरैकाधिकरण्याभावात्। तदभावश्च सामानाधिकरण्याभावश्च गवाश्वयोरिति व्यतिरेकद ष्टान्तस्थानं गवाश्वयोरित्याह – **ननु व्यतिरेक-द ष्टान्तस्थानं तत्, न विरोधस्थानम्।** तच्च = व्यतिरेकद ष्टान्तस्थानम् क्व नाम दुर्लभमिति संबन्धः, किन्तु सुलभमेवेत्यर्थः। यथा प थिवीतरेभ्यो भिद्यते, गन्धवत्वात्, यन्न गन्धवत् तन्न प थिवी, यथा जलमिति व्यतिरेकद ष्टान्तः। तथा भेदे सति क्वचित् सामानाधिकरण्यं न वर्तते। तत् न समानाधिकरणेन संबन्धवान् यथा गवाश्वयोरिति। जातिजातिमतोश्च व्यक्तिरूपसमानाधिकरणेन संबन्धो वर्तते। व्यक्त्यनुयोगिक–समवायसंबन्धत्वस्य प्रतियोगितया जातौ, अनुयोगितया व्यक्तौ सत्त्वात्। विरोधश्च वध्यघातकभावः, सहानवस्थानरूपेण वा प्रकृते न संभवति। व्यक्तेः तादाम्येन सम्बन्धिन्यां व्यक्तौ समवायेन जातेः सत्त्वात्, न वा वध्यघातकभावः प्रकृते संभवति। तथानुभवाभवात्। सौलभ्यान्तरमेव दर्शयति – **मैत्रतनयो पि यदि कश्चिदश्यामः स्यात् परिद श्यमानानामपि तथाभावप्रसङ्ग इति क्व नाम दुर्लभम्?** यथा मैत्रतनयः क्वचिदश्यामः स्यात् तस्य मैत्रतनयस्य दर्शनात् श्यामत्वेन निर्णीतो पि मैत्रान्वयः स्यादश्यामः। गर्भस्थो मैत्रतनयः श्यामः, मैत्रतनयत्वात्, जाततत्तनयवदित्युक्ते, शाकाद्याहारपरिणति–प्रयुक्तश्यामत्वम् शाकाद्याहारपरिणत्यभावप्रयुक्तत्व चाश्यामत्वमिति नोभयोर्विरोधः इत्युक्ते, जातस्यापि शाकाहारपरिणतशालिनः पूर्वतनयस्य अश्यामताप्रसङ्ग इत्येवंविधमुत्तरं सर्वत्र सुलभम्। एताद शकथनं यथा न विचारक्षमम्, तथा भेदे सति क्वचित्सामानाधिरण्यमिति चेत् गवाश्वयोः सामानाधिकरण्यप्रसङ्ग इति तव अभिकथनं भवति। अर्थाद् युक्तं तव कथनमिति भावः। तथा भेदे सति सामानाधिकरण्यमित्युक्ते असामानाधिकरण्येन निर्णीतयोरपि गवाश्वयोः सामानाधिकरण्यं न प्रसज्यते इत्यर्थः।

ननु गोत्वस्य भेदो यथा गवि तथा सिंहादौ च वर्तते इति गोत्वभेदस्य सास्नादिमत्सु गोषु सिंहादिषु अविशेषेण गोष्वेव गोत्वं न सिंहादिषु इत्यत्र नियामको विशेषस्त्वया धर्मधर्मिणोर्भेदमात्रवादिना वाच्य इति शङ्कते – **तथापि विशेषो वाच्य इति चेत्?** तथापि (धर्मधर्मिणोः अत्यन्तभेदे ऽपि) विशेषः (गोष्वेव गोत्वं नान्यत्रेत्यत्र नियामको विशेषः) वाच्य इति चेत्? उत्तरयति – **अस्ति स्वाभाविको विशेषो यत् किञ्चिदेव केनचिद् सम्बद्धं न सर्वं सर्वेणेति।** गोष्वेव गोत्वस्य संबन्धो नान्यत्र इत्यत्र स्वभाव एव हेतुर्नान्य इति भावः। नियामकं विनापि गोत्वस्यैकस्य अनेकसास्नादिमत्सु गोषु यथा स्वभावात् संबन्धो नान्यत्र। तथा स्वभावादेव अनेकाभिः गोव्यक्तिभिः अनुगतः एकव्यवहारः ('अयं गौः', 'अयं गौः' इति अनुगतव्यवहारः) किं न स्यात्? तथा तादृशानुगतव्यवहाराय गोत्वं न कल्पनीयम् इति शङ्कते – **तथा** (यथा गोत्वस्य अनेकगोषु संबन्धः तथा) **अनुगमनियमो ऽपि** = अयं गौरयं गौरिति अनुगतव्यवहारो ऽपि, स्वभावादेव (गोव्यक्तिस्वभावादेव) **किं न स्यात्** = तादृशानुगतव्यवहार्यं गोत्वं न कल्पनीयम् इति चेत्? यद्येको धर्मो नेकसंबन्धी न भवेत् तदा तेन धर्मेण अनुगतप्रतीतिर्न भवेत्। न चैवम्। यदि वा अनेकेषां धर्मिणामेकधर्मसम्बन्धः विरोधः स्यात् तथा कल्प्येत, न चात्र विरोधः। अतो नुगतव्यवहारार्थं गोत्वादिकं कल्पनीयम् इत्युत्तरयति – एकस्य अनेकसम्बन्धे अनेकस्य चैकसम्बन्धे अविरोधात् एकानेकयोरनेकव्यवहारविरोधादिति। एकस्य = पटादेः, अनेकसंबन्धे = अनेकनीलपीतादिसम्बन्धे यथा न विरोधः, तथा अनेकस्य नीलपीतादेः एकेन पटेन सम्बन्धे न विरोधः सर्वानुभवसिद्धः इति। गोत्वस्य एकस्य अनेकगोव्यक्तिषु संबन्धे न विरोधः। एवमनेकस्य गोप्राणिनः एकेन गोत्वेन सह सबन्धो न विरुद्धः सर्वानुभवस्यैव अत्र प्रमाणत्वात् इति। तथा च यस्मिन् स्वभावे न विरोधः स एव अविरोधात् स्वीक्रियते। एकेन गवादिना नानेकव्यवहारः, तथा अनेकैः गोपिण्डैरेकव्यवहारो ऽपि न संभवति, विरोधात्। अत्र सर्वानुभवस्यैव प्रमाणत्वात्। अतो नेकगवादिव्यक्तिभिः 'अयं गौः', 'अयं गौः' इत्यनुगतव्यवहारो न गवादिपण्डिैः संभवति विरोधाद्, अतो गोत्वादिसामान्यम् अङ्गीकार्यमिति सुधियो विभावयन्तु।

नापि ज्ञानतो बाधकम्। तत्स्वरूपप्रतिक्षेपस्यानुभवबाधितत्वात्। कारणप्रतिक्षेपस्य च जन्मनैवापास्तत्वात्। एकत्वप्रतिक्षेपस्य च विरुद्धधर्माध्यासविरहप्रतिहतत्वात्। पारोक्ष्यापारोक्ष्यादेरसिद्धेः। विषयमप्रतिक्षिप्य तत्प्रामाण्यस्य प्रतिक्षेप्तुमशक्यत्वात्। तदप्रतिक्षेपस्य च दर्शितत्वात्। इन्द्रियजत्वप्रतिक्षेपस्य चेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानबाधितत्वात्। साक्षात्कारित्वविश्रान्ते च तदनुविधानस्याव्यभिचारात्।

अन्यथा निर्विकल्पकस्याप्यनिन्द्रियजत्वप्रसङ्गात्। कामातुरकामिनीज्ञानस्य तदन्तरेणाप्युपपत्तेः। बाधकाभावाच्च दर्शनव्यापारस्योपाधित्वकल्पनानव-

काशात्। अवकाशे वा विपर्य्यकल्पनाया अपि प्रसङ्गात्। इन्द्रियमनपेक्ष्य साक्षात्कारिसमनन्तरप्रत्ययमहिममात्रेण साक्षात्कारिविकल्पोपपत्तौ तद्विपरीतानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। प्रथममनुत्पत्तेः पूर्वस्मरणादिसहकारिवैधुर्य्यनिबन्धनत्वादित्येषा दिक्।

ननु सकलगवादिपिण्डेषु अनुगतस्य गोत्वादेर्ज्ञानस्य अनुपलम्भ एव गोत्वादिजातौ बाधकः स्याद् इत्याशङ्क्याह – **नापि ज्ञानतो बाधकम् इति।** अयं भावः। 'सो यं घट' इति तदिदन्तास्पदयोः एकधर्मगोचरं प्रत्यभिज्ञारूपं ज्ञानं सामान्यरूपायां जातौ प्रमाणं तदा भवेत् यदि तदिदंग्राहिणी प्रत्यक्षस्म त्यात्मके द्वे भिन्ने ज्ञाने न स्याताम्। तदंशविषयकं स्म त्यात्मकं ज्ञानम्। इदमंशविषयकं च प्रत्यक्षात्मकं ज्ञानम्। स्म तौ पूर्वभावना कारणम्। संस्कारस्य स्थिरत्वेन अभिमतस्या–स्वीकारात्। प्रत्यक्षे च इन्द्रियमिति विभिन्नकरणकत्वेन प्रत्यभिज्ञाया एकाया अभावात् सा न जातौ प्रमाणमिति शङ्का बोध्या। एव च अनुगतधर्मज्ञानस्य एकस्य अनुपलम्भरूपबाधः जातिं प्रतिबध्नाति। तन्न युक्तम्। तत्स्वरूप–(सो यं घट इत्यादि प्रत्यभिज्ञास्वरूप)–प्रतिक्षेपस्य (निषेधस्य) अनुभवबाधितत्वात्। 'सो यं घट' इति ज्ञानस्य सर्वानुभवसिद्धत्वेन तज्ज्ञानं नास्तीति कथयितुम् अशक्यत्वात्। तथा च प्रत्यभिज्ञा गोत्वादिजातौ प्रमाणमिति भावः।

ननु 'सो यं घट' इत्यादिप्रत्यभिज्ञायां न भावनामात्रं कारणम्। इदं विषयकत्वस्य तत्र अनुपपत्तेः। नापि इन्द्रियं कारणम्, तदंशविषयकत्वस्य तत्र अनुपपत्तेः। नाप्युभयोः इन्द्रियसंस्कारयोस्तत्र कारणत्वम्। स्म तित्वप्रत्यक्षत्वयोः साङ्कर्य्यप्रसङ्गापत्तेरिति कारणस्य बाधात् प्रत्यभिज्ञा न गोत्वादिजातौ प्रमाणमिति शङ्कां करोति। कारणप्रतिक्षेपस्य (प्रत्यभिज्ञाकारणनिषेधस्य) च **जन्मना एव** (प्रत्यभिज्ञोत्पत्त्यैव) **अपास्तत्वात् इति।** न हि कारणं विना कार्यमुत्पद्यते। अन्यथा कार्यस्य आकस्मिकत्वापत्तेः।

ननु 'सो यं घट' इत्यादिप्रत्यभिज्ञायाः तदंशे इन्द्रियसन्निकर्षाभावेन पूर्वभावनायाः संस्कारस्य वा कारणत्वेन परोक्षत्वम्, इदमंशे च चक्षुरिन्द्रियकारणत्वेन प्रत्यक्षत्वम् इत्येकस्मिन् ज्ञाने परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः विरुद्धयोः समावेशासंभवेन 'सो यं घट' इति प्रत्यभिज्ञा–घटत्वादिजातिविषययिणी नैकरूपा किन्तु स्म तिरूपा प्रत्यक्षरूपा चेति शङ्कामुत्तरयितुमाह – एकत्व–(प्रत्यभिज्ञागतैकत्व)–प्रतिक्षेपस्य = निषेधस्य, च विरुद्धधर्मा– (परोक्षत्वापरोक्षत्वरूपविरुद्धधर्मा)–ध्यासविरहप्रतिहतत्वात् पारोक्ष्या–पारोक्ष्ययोः असिद्धेः इति। 'सो यं घट' इत्यादिप्रत्यभिज्ञाया इन्द्रियजत्वात् प्रत्यक्ष–त्वमात्रत्वात् ताद शविरुद्धधर्माविषयकत्वात्।

ननु तस्याः प्रत्यभिज्ञायाः विषयाविषयकत्वेनाप्रामाण्यात् सा न घटत्वादिजातिं साधयितुं समर्थेति शङ्कामपनेतुमाह – **विषयमप्रतिक्षिप्य तत्प्रामाण्यस्य प्रतिक्षेप्तुम्**

अशक्यत्वात्, तदप्रक्षेपस्य च दर्शितत्वात् इति। विषयमनिवेश्य प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यस्य खण्डयितुमशक्यत्वात् इदानीं कालिक– विषयकसजातीयविषयत्वेन गोत्वादि–विषयकत्वात् प्रामाण्यस्य तत्र सत्त्वात्।

ननु प्रत्यभिज्ञाया अनिन्द्रियजत्वेन न प्रत्यक्षत्वम्। पूर्वभावनाजन्यत्वेन संस्कारजन्यत्वेन वा स्म तित्वमेव, स्म तेश्चाधिगतार्थ– विषयकत्वेनाप्रामाण्यम्। किं वा न प्रत्यक्षत्वम्। तथा च प्रत्यक्षानुमानयोरेव प्रमाणत्वेन गोत्वादिविषयक–प्रत्यभिज्ञाया अप्रामाणिकत्वेन गोत्वादिजातिं साधयितुमशक्यत्वाद् इति शङ्कामपनेतुमाह – **इन्द्रियजत्वप्रतिक्षेपस्य च इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधान-बाधितत्वात् इति।** तत्सत्त्वे तत्सत्तेति अन्वयः, तदभावे तदभाव इति व्यतिरेकः। एव च अन्वयव्यतिरेकाभ्यां च कारणताया निश्चयो भवतीति ताद शान्वयव्यतिरेकाभ्यामिन्द्रियस्य प्रत्यभिज्ञां प्रति कारणत्वं सिद्धम्। इन्द्रियं विना प्रत्यभिज्ञाया अनुत्पादात्।

ननु प्रत्यभिज्ञाया न साक्षात्कारित्वमिति पूर्ववन्न प्रामाणिकत्वमिति कथं सा गोत्वादिसाधिकेति शङ्कामपनेतुमाह – **साक्षात्कारित्वविश्रान्ते च तदनुविधानस्य अव्यभिचारात् इति।** प्रत्यभिज्ञा यदि न साक्षात्कारात्मिका तदा इन्द्रियान्वय–व्यतिरेकानुविधानं न स्यादिति भावः। इन्द्रियसत्त्वे प्रत्यभिज्ञासत्त्वम् इन्द्रियाभावे प्रत्यभिज्ञाया असत्वमिति सिद्धान्तः। **अन्यथा** = इन्द्रियजत्वे साक्षात्त्वमात्रस्य अप्रयोजकत्वे **निर्विकल्पकस्यापि इन्द्रियजत्वप्रसङ्गात्।** कामातुर–कामिनीज्ञानस्य तदन्तरेणापि उपपत्तेः। कामातुरस्य यथा कामिनीविषयकं निर्विकल्पकज्ञानम् इन्द्रियं विनैव ध्यानजातं भवति, तथा घटादिविषयक–निर्विकल्पकस्यापि इन्द्रियं विनैव उत्पादप्रसङ्गापत्तेः। इन्द्रियव्यभिचारस्य तत्र द ष्टत्वेन सर्वनिर्विकल्पकं प्रति तस्याकारणत्वापत्तेः। अतः यत्र ज्ञाने इन्द्रियान्वयव्यतिरेकौ द श्येते तज्ज्ञानं प्रति इन्द्रियस्य कारणत्वम् अङ्गीकरणीयम्। तथा च प्रत्यभिज्ञां प्रति इन्द्रियस्य अन्वयव्यतिरेकौ द श्येते, तत्प्रति इन्द्रियस्य कारणत्वमङ्गीकरणीयम्। इन्द्रियजन्यं च ज्ञानं प्रत्यक्षमिति प्रत्यभिज्ञायाः प्रत्यक्षत्वमुपपद्यते इति।

ननु गोत्वादिजातिविकल्पस्य साक्षात्कारित्वमसिद्धम्। सर्वविकल्पानां निर्विकल्पोपाधित्वेनापरोक्षत्वात्। गोत्वादिसामान्यस्य असत्त्वेन (अलीकत्वेन) तद्विषयकज्ञानस्य निर्विकल्पकत्वानभ्युपगमात्। अन्यथा गोत्वादेः वस्तुत्वापत्तेः। निर्विकल्पकज्ञानविषयस्यैव वस्तुत्वादिति शङ्कामुत्तरयितुमाह – **बाधकाभावाच्च दर्शन**(निर्विकल्पकज्ञान)**व्यापारौपाधिकत्वकल्पनानवकाशात् इति।** 'घटो यम्' इत्यादिसविकल्पकज्ञानानामिन्द्रियजन्यत्वेन साक्षात्कारित्वे बाधकाभावेन तस्य दर्शन–(निर्विकल्पकज्ञान)–व्यापारौपाधिकत्व–कल्पनायाः गौरवेण अन्याय्यत्वात्। तथा च सविकल्पकानां ज्ञानानां साक्षात्कार– स्वाभाविकत्वे बाधकाभावात्। तथात्वेन व्यवसायाच्च न निर्विकल्पकोपाधिकत्वं युक्तम्। एव च 'घटो यम्', 'गौरयम्' इत्यादि

विकल्पस्य घटत्व– गोत्वादि–जातौ प्रमाणत्वं बोध्यम्। कि च विनिगमनाविरहेण सविकल्पकोपाधिकनिर्विकल्पकस्य साक्षात्कारित्वमिति विपर्यप्रसङ्ग इति सिद्धान्ती दोषं कथयति – **अवकाशे वा विपर्ययकल्पनाया अपि प्रसङ्गात् इति।** सविकल्पकस्य निर्विकल्पकौपाधिकत्वेन अपरोक्षत्वस्येव निर्विकल्पकस्यापि विनिगमनाविरहेण सविकल्पकौपाधिकत्वेनापरोक्षत्वस्य = साक्षात्कारित्वस्य अपि प्रसङ्गात्।

ननु समनन्तरप्रत्यय एव (निर्विकल्पकाख्य–समनन्तरप्रत्यय एव) विकल्पजनको, नेन्द्रियम्। स च साक्षात्कारिकारणसारूप्याद् विकल्पो पि साक्षात्का–रीत्यत्राह – **इन्द्रियमनपेक्ष्य साक्षात्कारि-समनन्तर- प्रत्यय**-(निर्विकल्पकज्ञान)–**महिममात्रेण** साक्षात्कारिविकल्पोपपत्तौ तद्विपरीतस्य अनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। असाक्षात्कार्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। साक्षात्कारिसमनन्तरप्रत्ययस्य = निर्विकल्पकज्ञानस्य, यो विपरीतः असाक्षात्कारी विकल्पः तस्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्।

ननु प्रथमस्य निर्विकल्पस्य साक्षात्कारिणः अनुत्पत्तिः किं निबन्धना इत्यत आह – **प्रथममनुत्पत्तेः पूर्वस्मरणादि-सहकारिवैधुर्य-निबन्धनत्वाद् इत्येषा दिक् इति।** इन्द्रियसहकारिणः स्वशब्दस्मरणादेः पूर्वमभावात् प्रथमनिर्विकल्पस्य साक्षात्कारिणो नुत्पत्तरिति। दिक्।

अस्तु तर्हि प्रयोजनानुरोधादपोहस्वीकारः सर्वधर्म्मावाच्यत्वसिद्धिर्हि परमं प्रयोजनम्। कल्पनाजालविधूननेन गम्भीरोदारसमाधिसमधिगमादिति चेत्, निष्प्रमाणकमिदं कः श्रद्धध्यात्। प्रमाणं चात्र न प्रत्यक्षानुमाने। आगमश्च न कि चिद्वददतीति त्वयैव ग्राहितः शिष्यः।

न चैवं चेतनो ग्राहयितुमपि शक्यते स्ववाग्विरोधस्योद्भटत्वात्। तथा हि

शब्दस्य कस्यचिदवस्तुनि मानसिद्धा
बाधाविधिव्यवहृतिः क्वचिदस्ति नो वा।
अस्त्येव चेत् कथमियन्ति न दूषणानि
नास्त्येव चेत् स्ववाचनप्रतिरोधसिद्धिः।।

इति तवैव विषयस चारमात्रेण श्लोकः।

न चास्माकमिव तवाप्यत्र मूकतैव शरणम्। सर्वथा वचनविरोधे ह्युदासीनस्य सा शोभते। न चात्र विधौ विरोधः कश्चित्। न च त्वमुदासीनः प्रयोजनेन प्रव त्तत्वात्। तस्मादलमङ्गुलीदीपिकया ध्वान्तध्वंसविधिमनुष्ठायेति।

अस्तु तर्हि यदि प्रमाणानुरोधाद् अपोहस्य (अतद्व्याव त्तेः) वाच्यत्वं न सिद्ध्यति, तर्हि प्रयोजनानुरोधात् स सिद्ध्यतु इति मनसि कृत्याह **अस्तु तर्हि**

प्रयोजनानुरोधादपोहस्वीकार इति। किं तत्प्रयोजनम्? तत्राह – **सर्वधर्मावाच्यत्वसिद्धिर्हि परमं प्रयोजनम्। कल्पनाजालविधूननेन गम्भीरोदारसमाधि-समधिगमात् इति चेत्?** अपोहस्यैव हि वाच्यत्वेनैव विषयलाभात् सर्वेषां धर्माणां रूपरसगन्धानाम् अवाच्यत्वं सिद्ध्यति। रूपे रसे च विभिन्नविषये लोकानां प्रव त्तिरपोहेनैव भविष्यति किं रूपरसादिनेति भावः।

ननु भवतु रूपरसादीनामवाच्यत्वसिद्धिः। तथापि कथं रूपरसादीनाम् अवाच्यत्वसिद्धेः परमप्रयोजनत्वमिति चेद्? अत आह – **कल्पनाजालेति।** रूपरसादीनां न वास्तविकत्वं किन्तु अपोहस्यैव तथात्वमिति, विकल्पज्ञाने भासमाना अलीकाः रूपरसादयः अनादिवासनया कल्पिता एव भासन्ते। तेषाम् अवाच्यत्वसिद्धौ च कल्पितरूपादयो न प्रवर्तका भविष्यन्ति। 'शुक्तौ नेदं रजतम्' इत्युत्तरबाधे सति यथा रजतार्थिनो न तत्र प्रवर्तन्ते, तथा रूपादयो लीका इति सम्यक् ज्ञाने सति न लोकास्तत्र न प्रवर्तिष्यन्ते। तथा च कल्पना अवस्तुविषया विकल्पाः। ताद शकल्प–नासमुदायविधूननेन = तिरस्क्रियमाणेन यः गम्भीरः (सवासनामिथ्याज्ञानोन्मूलनक्षमः) उदारः (नैरात्म्यसाक्षात्कारप्रापकः) स एव समाधिः = ज्ञानज्ञेयात्मक–वस्तुविषय–निर्विकल्पक–पारम्पर्यम् तस्य समधिगमः = प्राप्तिः तस्मादित्यर्थः एव च अपोहस्यैव वास्तविकत्वेन वाच्यत्वे रूपरसादीनाम् अवस्तुत्वेन अवाच्यत्वे सति शब्दलिङ्ग–जन्यविकल्पाधीने प्रव त्तिनिव त्ती न भवतः। ततो बहिर्व्यापाराद् उपरतं मनो नैरात्म्यमात्रभावनापरं समाहितं भवति। नैरात्म्यस्यैव मोक्षरूपपरमप्रयोजनत्वं विभावयन्तु सुधियः। व्याप्तिशक्तिग्रहौ अपि अपोहानुगमसाध्याविति चेत्?

निष्प्रामाणिकमिदं कः श्रद्दध्यात् सर्वधर्माणां रूपरसादीनामवाच्यत्वसिद्धेः अपोहस्वीकारस्य। समाधिसमधिगमकारणत्वमिति तव कथनं न प्रामाणिकम्। अतः को बुद्धिमान् तव वचनं विश्वसेत्? प्रमाण चात्र (अपोहे) न प्रत्यक्षानुमाने। ताद शापोहो न प्रत्यक्षानुमानविषयः।

ननु आगम एव अस्मिन्नर्थे प्रमाणमिति चेत्? तत्राह – **आगमश्च न कि चित् वदतीति**। आगमस्तु नापोहं वक्ति। किन्तु त्वयैव शिष्यो बोधितः। तत्कथं तस्य वस्तुनि प्रामाण्यमुच्यते। यदि तव वचनम् अपोहे प्रमाणम्। तर्हि आगमो न कि चिद् वक्तीति त्वयैव ग्राहितः शिष्यः इति।

अयमप्यागम एव विनिगमनाविरहेण वचनत्वस्य उभयत्र अविशेषात्। तथा च स्ववाग्विरोधस्तव शिरसि पतति। त्वमिव तव शिष्यः अपि अचेतन एव। येनैताद शात् तवोपदेशात् स्फुटतरं विरोधमवधीर्य प्रतीतः इत्याह – **न चैवं चेतनो ग्राहयितुमपि शक्यते इति।** सर्वे रूपरसादयः अवाच्याः, केवलापोह एव वाच्य इति न को पि मनुष्यो बुद्धिमान् अवधारयितुं शक्नोति। रूपादयो वस्तुरूपाः सर्वेषां हृदि तिष्ठन्ति, वस्तुनः अवस्तुत्वेन न के पि ग ह्णन्ति चेतना जनाः। ये तथा ग ह्णन्ति ते न चेतनाः,

चेतनधर्मरहितत्वात्। अन्यथा जलमपि न जलम्, अपोहो पि न वस्तुरूप इत्यापद्येत। रूपरसादयः प्रतीतिगोचरा न सन्तीति विरोधः स्फुटतरः प्रतिभाति। सति विरोधे न वक्तुम् शक्यते। अन्यथा भवान् पशुरेव इत्यपि वक्तुं शक्यते। तथाहि – **शब्दस्य** (हेत्वादिधर्मस्य) **कस्यचिदपि** (अवस्तुनि) **मानसिद्धा बाधाविधिव्यवहृतिः** (निषेधविधिव्यवहारः) **किमिहास्ति नो वा। अस्त्येव चेत् कथमियन्ति न दूषणानि। नास्त्येव चेत्, स्ववचनप्रतिरोधसिद्धिः।** इति तवैव विषयस चारमात्रेण श्लोकः।

विरोधान्तरमाह – **शब्दस्येति।** अक्षणिके वस्तुनि घटपटादौ अप्रामाणिके बौद्धमतेन क्षणिकत्वसाधकस्य सत्त्वादेः हेतोः व्यतिरेकः प्रमाणिको न लभ्यते। यत् सत् तत् क्षणिकमित्यत्र अन्वयव्याप्तिस्तु पूर्वं प्रतिषिद्धा। व्यतिरेकव्याप्तिरपि न संभवति। साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वं हि व्यतिरेकव्याप्तिः। सत्त्वरूपहेतोरभावो न प्रामाणिको लभ्यते। काल्पनिकाङ्गसाकल्ये तु = अवास्तविकव्यतिरेकद ष्टान्त–साकल्योपादाने तु, काल्पनिकाङ्गवैकल्यमपि स्यात् (अङ्गानि च प्रतिज्ञा, हेतूदाहरणानि, अथवा उदाहरणोपनयनिगमनानि, त्र्यवयववादिबौद्धमते ज्ञेयानि)।

ननु अङ्गवैकल्याङ्गीकारे को दोष इति चेत्? श णु। यथा अवस्तुनि शशविषाणादौ निषेधव्यवहारः त्वया साध्यते, तथा विधिव्यवहारो पि स्यादिति बौद्धं प्रति सिद्धान्तिना उक्ते बौद्धेन स्ववाग्विरोधो नेन श्लोकेन दर्शितः – धर्मस्य कस्यचिदवस्तुनि मानसिद्धेत्यादिना। अस्य चायमर्थः। हेत्वादेः धर्मस्य अवस्तुनि शशविषाणादौ निषेधव्यवहारस्य विधिव्यवहारस्य वा स्वीकारे त्वया मां प्रति यावन्ति दूषणानि उक्तानि, तावन्ति भवतः कथं न स्युः? अवस्तुनि शशविषाणादौ तौ विधिनिषेधव्यवहारौ न स्त इति स्वीकारे स्ववचनविरोधः। अस्यैव निषेधव्यवहारस्य (निषेधव्यवहारः शशविषाणादौ नास्तीति व्यवहारस्य शशविषाणादौ)स्वीकारात्। एष एव श्लोको धर्मस्थाने शब्दपदम्। अवस्तुपदस्थाने वस्तुपदं प्रक्षिप्य पठनीयः। तथा च शब्देन वस्तुनि (स्वलक्षणे) वाधा(निषेध)विधिव्यवहारौ स्तो न वा? अन्त्ये स्वलक्षणं न सङ्केतगोचरः अननुगमात् (अनुगमाभावात्)। अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इति सङ्केत अनन्ते स्वलक्षणे कर्तुं ग्रहीतुं वा न शक्यते। स्वलक्षणस्य आनन्त्यात् व्यभिचाराच्च। तव मते शाब्दज्ञानविषयः अभिलापसंसर्गायोगी आभासत्वात्, अतद्व्याव त्तिधर्मवत्। तवापि स्वलक्षणं वस्तु न वाच्यम्, अलीकस्य अलीकधर्मानाश्रयत्वात् इत्यादि दूषणानि त्वयोक्तानि त्वय्येव पर्यवस्यन्तीत्यर्थः। शब्देन वस्तुनि विधिबाध–(निषेध)– व्यवहारौ स्त न वा इत्यत्र नास्त्येवेति पक्षे (वस्तु विधिवाधव्यवहारा–विषयमिति वदता) त्वयैव ताद्रूप्येण वस्तु व्यवहृतमिति स्ववचनविरोध एव सिद्ध इति शंकरमिश्राः।

ननु यथा एवं प ष्टेन भवता (नैयायिकेन) स्वचनविरोध– परिहाराय मूकता समाश्रिता तथा अस्माभिरपि (बौद्धैरपि) आश्रीयते को दोषतेत्राह – **न चास्माकमिव**

तवाप्यत्र मूकतैव शरणम्। सर्वथा वचनविरोधे हि उदासीनस्य सा शोभते। न चात्र विधौ विरोधः कश्चित्। वस्तुनः शब्दवाच्यत्वाविरोधो न स्ववाग्विरोध इति। **तस्मादलम् अङ्गुलिदीपिकया ध्वान्तध्वंसविधिम् अनुष्ठायेति।** न चास्माकम् नैयायिकानामिव तवापि बौद्धस्यापि अत्र स्ववचनविरोधे मुकतैव शरणम्। सर्वथा = विधि–निषेधपक्षद्वये पि स्ववाग्विरोधे औदासिन्ये च मूकता अङ्गीकर्तुं युज्यते। अस्माकं नैयायिकानां सर्वव्यवहाराभाजने अवस्तुनि शशविषाणादौ अलीके व्यवहारो स्तीति पक्षे व्यवहारो नास्तीति पक्षे च स्ववचनविरोधो भवति। एताद शव्यवहारस्यैव अलीके सत्त्वात्, अतः सर्वथा विरोधेन मूकता युक्ता। प्रयोजनाप्रव त्तत्वेन चौदासीन्यात् मूकता युक्ता भवति। भवतस्तु = बौद्धस्य तु नैवं प्रयोजने प्रव त्तत्वात्। यत् न सत् तत् न क्षणिकम्, यथा शशविषाणादि इति सत्त्वक्षणिकत्वयोः व्याप्तिसिद्धिरूपप्रयोजनं तव वर्तते। कि च रूपरसादीनां अवास्तविकत्वेन विकल्पज्ञाने अनादिवासनया भासमानानां कल्पितानाम् अपोहेन नैव गतार्थत्वम् इत्यपोहेन कल्पनाजालविधूननरूपप्रयोजन च तव मनसि वर्तते। अतो नौदासिन्यं तवोचितं प्रतिभाति शब्देन। अतो न मूकतात्र तव रोचते शरणं वा भवति। तस्मात् ध्वान्तध्वंसविधिम् अनुष्ठाय अङ्गलिदीपिकया अलं व्यर्थम्। यथा न हि अङ्गुलिदीपिका तमो ध्वंसने समर्था, तथा स्ववाग्विरोधम् उररीकृत्य कल्पनाजालविधूननरूप– प्रयोजनेन अपोहाभ्युपगमस्तवानुचितः इत्यर्थः।

आगमस्य तत्त्वार्थपरिस्पर्शित्वविरोधे न स्वर्गापवर्गार्थिनां प्रव त्तिः सिद्ध्यतीति प्रयोजनमस्मद्विचारस्यैव परं सुन्दरम्।

तस्माच्छब्दैः किं वाच्यमित्यनुयोगे किं प्रतिभासात्, अथाध्यवसायात्, यद्वा तत्त्वत इति विकल्पे, विकल्पस्थो न्यापोढाकारः। अन्यापोढस्वलक्षणं, न कि चिदिति यत् क्रमेण प्रयुक्तम्। तत्र प्रथमे समयविपर्य्यासः, विकल्पाकारस्य समयाविषयत्वात्। द्वितीये तु प्रव त्तिविपर्य्यासः, अद ष्टे नियामकाभावात्। त तीये स्ववाग्विरोधः, अस्यैवार्थस्यानेन तत्त्वतो वचनात्। अवचने तत्त्वतो नुत्तरत्वादित्युपसंहारः। तत् सिद्धमेतत् न क्षणिकत्वमात्मनि बाधकमिति।

वस्तुसंस्पर्शी शब्द इति अस्मद्विचारस्यैव प्रयोजनसिद्धिः इत्याह – **आगमस्य तत्त्वार्थपरिस्पर्शित्वविरोधे न स्वर्गापवर्गार्थिनां प्रव त्तिः सिद्ध्यतीति प्रयोजनमस्मद्विचारस्यैव परं सुन्दरम्।** आगमस्य (शब्दस्य) तत्त्वार्थ–(वस्तुरूपार्थ)–परिस्पर्शित्व–विरोधेन निर्विकल्पकज्ञानस्यैव तत्त्वार्थ– विषयकत्वं न विकल्पज्ञानानां तत्त्वार्थ–विषयकत्वम्। तस्य कल्पितविषयकत्वाद् एव अप्रामाण्यम्। शब्दलैङ्गिकज्ञानानां विकल्परूपत्वात्। एव च शब्दादयश्च स्वर्गापवर्गार्थिनो जनान् न प्रवर्तयिष्यन्ति। तथा च आगमस्य (शब्दस्य) कल्पितविषयार्थप्रकाशकत्वेन तत्त्वार्थपरिस्पर्शित्वाभावात् न शब्दतः स्वर्गापवर्गार्थिनां प्रव त्तिः सिद्ध्यतीति प्रयोजनम् अस्मद्विचारस्यैव परं सुन्दरम्।

अवान्तरप्रकरणार्थम् उपसंहरति – **तस्मादिति।** शब्दैः किं वाच्यमिति नैयायिकप्रश्ने कृते, **ज्ञानश्रिया** विकल्प्य यदुत्तरं दत्तं तदपि न सम्यगित्यर्थ। तद्विकल्पस्त्वेवं बोध्यः। शब्दैः किं वाच्यमित्यस्य कुत्र प्रतिभासो जन्यते इति प्रश्नार्थे अन्यापोढाकारे (अतद्व्याव त्ताकारे) प्रतिभासो जायते इत्युत्तरम्। किं वस्तु शब्दवाच्यमिति प्रश्ने च न कि चिद् इत्युत्तरमिति। तस्माच्छब्दैः किं वाच्यमित्यनुयोगे (प्रश्ने) किं प्रतिभासाद् अथाध्यवसायात् यद्वा तत्त्वत इति विकल्पस्थो अन्यापोढ़ाकारो अन्यापोढस्वलक्षणं न कि चिदिति क्रमेण यत् प्रत्युत्तरम् तत्र प्रथमे (किं प्रतिभासादथाध्यवसायादिति प्रथमविकल्पे) समयविपर्यासः = सङ्केतस्य अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्यादिरूपस्य अग्रहः, अन्यत्र सङ्केतग्रहो वा। न ह्यन्यापोढाकारः सङ्केतग्रहो येन तत्र प्रतिभासः स्यात्। द्वितीये तु प्रव त्तिविपर्यासः। अन्यापोहस्वरूपे (अतद्व्याव त्तिस्वरूपे) अध्यवसाये न प्रव त्तिः स्वलक्षणे कथं भवेत्? अध्यवसायस्य भेदाग्रहरूपत्वादिना विकल्प्य दूषितत्वात्। अद ष्टे = प्रत्यक्षाविषये (अप्रतीते) अपोहनियामकाभावात्। त तीये स्ववाग्विरोधः। अस्यैवार्थस्य अपोहस्य अनेन (अपोहेन) तत्त्वतावचनात्। अवचने वा तत्त्वतो नुत्तरत्वाद् इत्युपसंहारः। तत्सिद्धमेतत् न क्षणिकत्वमात्मनि बाधकमिति।

तत्त्वतः किं वाच्यमित्यत्र त्वया यदि उत्तरं न देयं तदा प्रतिभा। उत्तरदाने तु स्ववाग्विरोध इति **शङ्करमिश्राः**।

इति आत्मतत्त्वविवेके प्रथमा विप्रतिपत्तिः, क्षणभङ्गवादः।

---

१. कल्पलता – प.१२५

२. प्रमाणगम्ये अलीके न व्यवहार इति स्वीकारे स्ववचनविरोधः। अप्रामाणिकालीके न व्यवहार इति स्ववचनविरोधः। अस्यैव व्यवहारस्य अलीके सत्त्वात्। अलीके व्यवहारसत्त्वे पि अलीके न व्यवहार इति स्ववचनविरोधः स्फुट एवेति बोध्यम्।

३. **अन्यावभासादिति।** व्याव त्त्यवभासनात्। गौरिति ज्ञाने अतद्व्याव त्तेः अविषयत्वात् वस्तुनि भावरूपे स्वलक्षणे गवि प्रव त्तिः न स्यादित्यर्थः। ज्ञानस्य स्वविषये एव प्रवर्त्तकत्वात्। अन्यथा घटज्ञानात् पटे पि प्रव त्तिः स्यादित्यर्थः। **कल्पलता।**

४. दीधिति – (१६३३) प. ४१३.

५. दीधिति – (१६३३) प. ४१४.

६. गुणानन्दः।

७. दीधितिः,

८. ननु पूर्वसत्त्वाविशेषे पि – इति पाठः समुचितः प्रतिभाति **कल्पलता-पादटिप्पण्याम्।**
—प. ४४०

९. 'भावा' इति पाठः कल्पलतायाम्।

१०. दीधिति, प. ४६४.

अथ द्वितीयपरिच्छेदः

बाह्यार्थभङ्गवादः

विज्ञानवादिनि जागरूके बाह्यमेव नास्ति, कुत आत्मेति चेत्, स तावदिदं प ष्टो व्याचष्टां, किं ते ग्राह्यग्राहकभागयोः परमार्थसतोरेवाभेदो विवक्षित उताहो अभिन्नजातीयत्वम्। अथ ग्राह्यांशस्यालीकत्वमिति।

तत्र प्रथमे साध्ये यः कश्चिद्धेतुरुपादीयते सहोपलम्भनियमो वा, ग्राह्यत्वं वा, प्रकाशमानत्वं वा, स व्यक्तमाभासः।

तथा हि नीलधवलादिपरस्परविरुद्धाकारनिकरावगाहि विज्ञानमनुभूयते तदिदं तस्य स्ववधाय कृत्योत्थापनम्।

यदि हि मिथः प्रत्यनीकधर्मानुल्लिखेत् कथमेकं सत्तदात्मकं भवेत्। न चेदुल्लिखेत् कथं तदाकारं नाम। स्वसम्वेदनस्यानुल्लिखितरूपाभावात्।

बाह्यस्यैवंविधविरुद्धधर्म्माध्यासाद् भयम्। तथात्वे प्यभेदे र्थक्रियाचेतन-प्रव त्तीनां सङ्करप्रसङ्गात्, विवेचनानुपपत्तिप्रसङ्गाच्च। न तु विज्ञानस्य, न हि तस्यार्थक्रियाधीनं सत्त्वम्। अपि तु प्रतिभासमात्राधीनम्। नापि तत्रार्थक्रियार्थिनः काचित् प्रव त्तिः। स्वरसवाहिविज्ञानप्रवाहातिरिक्ताया अर्थक्रियायास्तदर्थिनश्चा-भावात्। विवेचनाभावश्च परमो निर्वाहः, स्वसम्विदितरूपत्वादिति चेत्।

बाह्यार्थभङ्गो वा इत्यादिना आत्मनि बाधकम् आचक्षाणानां **योगाचाराणां** पूर्वपक्षस्यायं भावो त्र विज्ञेयो यदुक्तरीत्या स्थैर्यसिद्धावपि न वस्तुत्वं ज्ञानभिन्नानां बाह्यभेदानाम्। वस्तुत्वे च न ज्ञानभिन्नत्वम् ज्ञान च क्षणमात्रस्थायि नीलपीताद्याकारमिति। अतो **बाह्यार्थभङ्गो वे**ति द्वितीयविकल्पं निराकर्तुमवतारयति **विज्ञानवादिनि जागरूके बाह्यमेव नास्ति कुत आत्मेति चेदिति।** ज्ञानभिन्नं बाह्यमेव नास्ति, कुतो ज्ञानभिन्नबाह्यविशेष आत्मेति चेत् ? न। विकल्पासहत्वात्। तथाहि – स विज्ञानवादियोगाचारः तावत् इदं प ष्टो व्याचष्टाम् – किं ते = तव, ग्राह्यग्राहकभागयोः – ज्ञेयज्ञानभागयोः, परमार्थसतोरेव अभेदो विवक्षितः, उताहो अभिन्नजातीयत्वम्। अथ ग्राह्यांशस्यालीकत्वम्। नीलादि, स्वग्राहकज्ञानव्यक्तिभिन्नम्, स्वग्राहकज्ञानजातीयम्, अलीकं वेति क्रमेण विकल्पार्थः। अत्र च ज्ञानत्वं प्रमेयत्वस्य सत्त्वस्य वा व्यापकं न

वेति विप्रतिपत्तिर्द्रष्टव्या। विधिकोटिर्बौद्धानां **योगाचाराणाम्**। **निषेधकोटिर्नैयायिकानाम्**। स्वग्राहकज्ञानजातीयमित्यनेन, ज्ञानान्तरग्राह्यत्वं विवक्षितम्। यथा **वैभाषिक**नये विषयो नीलपीतादिः ज्ञानान्तरग्राह्यः, तथा स्वग्राहकज्ञानान्तरग्राह्यो नीलादिविषय इति। स्वग्राहकज्ञानव्यक्त्यभिन्नमित्यस्य ताद शज्ञानरूपमेव नीलपीतादि इत्युभयोर्भेदः।

तत्र प्रथमे = विकल्पे, ग्राह्यग्राहकभागयोः परमार्थसतोरभेद इति साध्ये, यः कश्चिद्धेतुरुपादीयते, सहोपलम्भनियमो वा, ग्राह्यत्वं वा, प्रकाशमानत्वं वा, स = हेतुः। व्यक्तम् स्पष्टम् आभासः। स हेतुः हेत्वाभासः, साध्यं साधयितुमसमर्थः। बाह्यम्, ज्ञानादभिन्नम्, सहोपलम्भनियमात्, ग्राह्यत्वाद् प्रकाशमानत्वाद् वा इत्यत्र यो हेतुः स हेत्वाभासः। तथाहि – हेतुर्हि पक्षधर्मतया ज्ञायमानो नुमितिनिमित्तम्, अनुमितिरपि च पक्षसाध्यविषयिणी, तथा च परामर्शहेतुपक्षसाध्यानुमितीनामभेदे कुतो हेतु– हेतुमद्भावः ? नहि स्वः हि स्वं प्रति कारणं कार्य च भवति। अन्यथा पित पुत्रयोरैक्या– पत्तेरिति **दीधितिः**।

तथाहि नीलधवलादि-परस्परविरुद्धाकारनिकरावगाहि विज्ञानम् अनुभूयते, तदिदं तस्य स्ववधाय क त्योत्थापनम्। नीलधवलादयो ये परस्परविरुद्धाकाराः तेषां यः निकरः = समुदायः, तदवगाहि यज् ज्ञानम् अनुभूयते। तदिदं विरुद्धाकारं नीलधवलादिविषयावगाहित्वम्, तस्य = नीलधवलादिपरस्परविरुद्धधर्मविषयकज्ञान– नाशाय क त्योत्थापनम्। क त्यायाः म त्युदायिकाया उत्थापनम्। स्ववधश्चात्र नीलधवलादिविषयकं यत् समूहालम्बनमेकं ज्ञानं तस्य भेद एव। यथा नीलधवलयोः विरुद्धयोर्नैक्यम् तथा तत्तद्विषयाभिन्नज्ञानस्यापि नैक्यं स्यात्, विरुद्धत्वात्। विषयविरोधप्रयुक्तज्ञाने विरोधात्। न चेष्टापत्तिः। ताद शचित्राकारज्ञानानुभवस्य आपामरजनवेद्यत्वात्।

यदि हि मिथः प्रत्यनीकधर्मान् = परस्परविरुद्धधर्मान् उल्लिखेत्, तदा कथमेकं सत् ज्ञानम् तदात्मकम् = विरुद्धधर्मात्मकम् भवेत्? विरुद्धधर्माणां नीलपीतधवलादीनाम् एकस्वरूपत्वाभावात्। यदि ग्राह्यग्राहकयोः ऐक्यं स्यात् तदा विरुद्धार्थविषयकमेकं ज्ञानं न स्यादित्यर्थः। न चेद् उल्लिखेत् = विरुद्धधर्मन्नोल्लिखेत्, तदा कथं तदाकारम् नीलपीताद्याकारं नाम, तदुल्लिखितस्यैवाकारत्वात् नीलपीताद– विषयकमेकं ज्ञानं भवेत् ? एकस्य अनेकात्मकत्वानुपपत्तेः। स्वसंवेदनस्य = ज्ञानस्य, अनुल्लिखितरूपाभावात्, आकाररहितत्वाभावात्। नहि निर्विषयकं ज्ञानं प्रसिद्धम्।

अत्र **रत्नकीर्तेः** समाधिं दूषयितुमुपन्यस्यति – **बाह्यस्य एवंविधविरुद्ध-धर्माध्यासाद् भयम् इति।** बाह्ये विरुद्धधर्माध्यासभयं दर्शयति **तथात्वे प्यभेदे र्थ-क्रियाचेतनव त्तीनां सङ्करप्रसङ्गात्** इति। नीलपीतादीनां विरुद्धधर्माध्यासे पि नीलधवलादीनां प्रतिनियतक्रियाकारित्वं द ष्टमेव विघटेत् न तु प्रतिनियतार्थप्रव त्तिः

स्यात्। नीलार्थी नील एव न प्रवर्तेत पीते पि तस्य प्रव त्तिः स्यात्, नीलपीतयोरुभयोरभेदेन तयोरैक्यात्। तथा च नीलज्ञानात् पीते पि प्रव त्तिः स्यात् तयोरैक्यमिति नीलादपि पीतकार्यापत्तिप्रसङ्गापत्तेश्च। भयान्तरमप्याह – **विवेचनानुपपत्तिप्रसङ्गाच्चेति।** विविच्यते हि नीलं धवलभिन्नत्वेन धवलं च नीलभिन्नत्वेन तदेतन्न स्यात्। उभयोरभिन्नत्वेन उभयोर्भेदानुपपत्तेः। न तु विज्ञानस्य विरुद्धधर्माध्यासाद् भयम्। अत्र हेतुमाह **न हि तस्य** = विज्ञानस्य, **अर्थक्रियाधीनं सत्त्वम्**। विज्ञानस्य अर्थव्यवहाराधीनं सत्त्वं नास्ति। अपि तु प्रतिभासमात्राधीनम् = स्वप्रकाशाधीनं विज्ञानस्य सत्त्वम्। नापि तत्र (ज्ञाने) अर्थक्रियार्थिनः काचित् प्रव त्तिः। घटार्थिनः कपाले एव प्रव त्तिदर्शनात्।

अत्र हेतुमाह – **स्वरसवाहिविज्ञानप्रवाहातिरिक्ताया अर्थक्रियायाः तदर्थिनश्चाभावादिति।** नीलधवलादीनां ग्राह्यानाम् नीलार्थिनो धवलार्थिनश्च ज्ञानस्वरूपत्वेन विज्ञानभिन्नत्वाभावात्। ततश्च विषयाणामभेदस्वीकारे एव घटार्थी कपाले एवं ज्ञानवादिमते पि पटार्थी तन्तावेव प्रवर्तते इति स्वरसवाहिनियमभङ्गः स्यात्। **विवेचनाभावश्चात्र परमो निर्वाहः** = ग्राह्यस्य ज्ञानस्वरूपत्वे इदं नीलं न धवलमिति विवेचनं कर्तुमशक्यम्। अत्र विज्ञानवादि–**योगाचार** – मते विषयाभेदे परमो र्निवाहः।

ननु नीलज्ञानम् धवलविषयकम् ज्ञानम् 'नीलं धवलभिन्नं धवलं च नीलभिन्नमिति' ज्ञानयोर्भेदग्रहो हि न ताभ्यां ज्ञानाभ्यामेव भवति; तयोः ज्ञानयोः स्वरूपमात्रे मग्नत्वात्। तयोर्भेदाग्राहकत्वादिति मनसिक त्य शङ्कते – **स्वसंविदितरूपत्वादिति चेदिति**? ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वेन स्वविषयकत्वात्; न तु

तत् किमङ्ग? परिणतशान्तेराश्रमपदमिव विज्ञानमासाद्य व्यालनकुलादेरिव नीलधवलादेः शाश्वतिकविरोधत्यागः, निभ तवैराणां तत्फलत्यागो वा।

न तावत् प्रथमः, परस्परनिषेधविधिनान्तरीयकविधिनिषेधकयोरविरोधे जगति विरोधोच्छेदप्रसङ्गात्। न चैवमस्त्वित्युत्तरे पि निर्व तिः। कथमप्युक्तरूपताया अनिव त्तेः। तावन्मात्रशरीरत्वाच्च विरोधस्य। तत्सिद्धिरेव च भेदसिद्धिरतो न द्वितीयो पि।

यस्तु बाह्ये विरोधपालनाय विशेषो दर्शितः, स तेषामेवास्तु। यदि हि विरुद्धधर्म्माध्यासस्य भेदसाधकत्वं प्रति समावश्वासः, किमर्थक्रियाप्रतिनियमोपन्यासेन। न चेत्, तथापि किं तेन। सो पि ह्यर्थक्रिययोर्विरुद्धधर्म्माध्यासेन भेदे सति स्यात्।

अन्यच्च यथा बाह्ये र्थक्रियाप्रतिनियमो न स्यादिति दण्डस्तथा ज्ञाने पि प्रतिभासनियमो न स्यादिति दण्ड एव।

ज्ञानयोः ज्ञानविषययोश्च भेदस्य अग्राहकत्वात् विषयाणां परस्पराभेद इव ज्ञानवादिनो न पूर्वोक्तदोष इति चेत्? न। विकल्पासहत्वात्। तथाहि – **तत्किमङ्ग! परिणतशान्तेरामश्रमपदमिवेति।** ग्राह्यग्राहकयोरभेदेन हे मित्र! परिणताः उपगता शान्तिर्येन तस्य परिणतशान्तेः विज्ञानवादिनः आश्रमपदम् संन्यासाश्रमस्थानम् इव विज्ञानमासाद्य प्राप्य व्यालः (सर्पः), नकुलादिव नीलधवलादेः शाश्वतिकविरोधत्यागः। यथा संन्यासिनो न केनापि विरोधः तथा नीलधवलयोरपि न विरोधः। किं वा निभ तवैराणाम् = निभ तः = ध तः, वैरो = विरोधो यैः तेषां निभ तवैराणां सर्पनकुलादीनाम् तत्फल (वैरफल) त्यागः। तथा च ज्ञानाकाराणां नीलधवलादीनां विरोध एव नास्ति। विरोधे सत्यपि भेदकत्वं नास्तीति वा विकल्पार्थः।

न तावत् प्रथमः। परस्परविधिनिषेध–नान्तरीयक–विधिनिषेधयोः अविरोधे जगति विरोधोच्छेदप्रसङ्गात्। नीलस्य निषेधे हि धवलस्य विधिः नान्तरीयको भवति, तथा नीलस्य विधौ धवलस्य निषेधो पि नान्तरीयको भवति। अत उभयोरपि परस्परविधिनिषेधरूपत्वात्। विधिनिषेधयोरविरोधे जगति = संसारे विरोधोच्छेदप्रसङ्गात्। ततश्च विरोधाधीनभेदभूतानां धर्मधर्म्यादिभेदाश्रयाणामनुमानानामुच्छेदात् तदधीनस्य बाह्यापलापस्यापि उच्छेदापत्तिः। हेतुसाध्ययोर्भेदे सति हेतुमद्भावो भवति भेदश्च विरोधमूलकः। स च विरोधः धर्ममूलकः धर्मिमूलको वा भवतु। यदि विरोध एव नास्ति तदा तन्मूलकभेदो पि नास्ति। तन्मूलकहेतुमद्भावो पि न सिद्ध्येत। तदा बाह्यं ज्ञानादभिन्नम्, सहोपलम्भनियमात्, ग्राह्यत्वात् प्रकाशमानत्वाद् वेति बाह्यापलाप्यनु–मानमपि प्रमाणं न सिद्ध्येत। तदा निष्प्रामाणिको बाह्यालापः केन स्वीक्रियेत, न कैरपीत्यर्थः।

ननु विरोधो पि ज्ञानाभिन्न एव, अतः सो पि मास्तु, किं नश्छिन्नम् इत्यत आह – **न चैवमस्त्विति। उत्तरे पि निव त्तिः** इति। विरोधो पि ज्ञानरूप एव न स्वस्मात् स्वस्य विरोध इति विरोधोच्छेदो स्त्विति कथने पि न निर्वाहः। अत्र हेतुमाह – **कथमप्युक्तरूपताया अनिव त्तेरिति।** परस्परनिषेधविधिनान्तीयकविधि–निषेधरूपतायाः कथमपि अनिर्वाहात्। तावन्मात्रशरीरत्वाच्च विरोधस्य। विरोधस्य विधिनिषेधविरहव्याप्यतामात्रशरीरत्वात्। विरोधाभावे विप्रतिपत्तेः = बाह्यम् (ग्राह्यम्) ज्ञानाद् भिन्नमेवेति प्रतिपत्तिरूपविरुद्धवाक्यस्य अनुदयात् आवयोः कथायाः प्रव त्तिरेव न स्यात्। न स्याच्च ज्ञानानामपि परस्परं भेद इति भावः। **तत्(विरोध)सिद्धिरेव च भेदसिद्धिः। अतो न द्वितीयो पि।** निभ तवैराणां तत्फलत्यागो वेति द्वितीयपक्षो पि नास्ति। अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदो वेति तवैवा–भिधानादित्यर्थः।

यस्तु बाह्ये विरोधपालनाय विशेषो दर्शितः स तेषामेवास्त्विति। नीलधवलादिग्राह्ये (बाह्ये) परस्परविरोधपालनाय यः अर्थक्रियाप्रव त्तिनियमः। घटेनैव जलाहरणमित्यादिरूपः विशेषो दर्शितः, स विशेषः तेषामेव बाह्यानामेव भेदो स्तु इत्यर्थः।

यदि हि विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदसाधकत्वं प्रति समाश्वासः, किमर्थक्रियां प्रति नियमोपन्यासेन। न चेत्तथापि किं तेन। सो पि ह्यर्थक्रिययोर्विरुद्धधर्माध्यासेन भेदे सति स्यात्। अन्यच्च यथा बाह्ये र्थक्रियाप्रतिनियमो न स्याद् इति दण्डः, तथा ज्ञाने पि प्रतिभासनियमो न स्याद् इति दण्ड एव।

यदि हि नीलत्वधवलत्वादिविरुद्धधर्माध्यासस्य नीलधवलादीनां परस्परभेदसाधकत्वे विश्वासः, तदा किम् अर्थक्रियां प्रति नियमोपन्यासेन ? जलाहरणं घटेनैव न पटेनेति नियमोपन्यासेन किम्? व्यर्थम्। यदि तत्र विश्वासः तदा तत्तद्भेदेनैव अर्थक्रियाभेदः स्यात्। नो चेत् विश्वासः तत्तदर्थक्रियाभेदो पि न स्यादित्यर्थः। अत्र **यदि हि** इत्यादि **स्याद्** इत्यन्तस्य अयं भावः। **विरुद्धधर्माध्यासस्य** नीलधवलादिज्ञाने भासमानस्य नीलत्वधवलत्वादेः नीलधवलयोः परस्परभेदकत्वे नीलज्ञानं पीतज्ञानमपि नीलधवलाद्याकारं ततो ग्राह्यात् भिद्येत। अभेदकत्वे क्रियाभेदो पि घटेन जलाहरणम् पटेनाच्छादनमिति – क्रियाभेदो पि न स्यात्। न स्याच्च तदधीनो बाह्यभेद इति।

ननु यथा यदि बाह्यानां परस्परं भेदो न स्यात् तदा अर्थक्रियां प्रति नियमो न स्यात् इति बाह्यभेदसाधने विपक्षदण्डः, तथा ज्ञाने नास्ति, येन (दण्डेन) तद्भेदः (ज्ञानभेदः) अङ्गीक्रियेत इत्याह आह – **अन्यच्च यथा बाह्ये र्थक्रियाप्रतिनियम** इति। नीलज्ञानमपि पीताकारम्, पीतज्ञानमपि नीलाकारं भवेदित्यर्थ इति **कल्पलता**।

क्व प्रतिभासासाङ्कर्यनियमः। सहैव प्रतिभासो पि स्यादिति चेत्, न। सहानुपलम्भमसाङ्कर्यं ब्रूमः। किन्तु नीलस्यैव पीतत्वेन पीतस्यैव नीलत्वेनानुपलम्भम्। स एव मूलं सर्वविरोधानाम्।

अन्यथोपलम्भानुपलम्भयोरप्यसिद्धिरेव। यदपि नोपलभ्यत इत्युच्यते, तदप्युपलभ्यत एव। यदिदमश्वादिकमुपलभ्यते तन्नोपलभ्यत इत्युक्त्यैव निव त्तेः। तेनात्मना नोपलभ्यत इति चेत्, तत् किं सहोपलम्भे पि नीलात्मना पीतमुपलभ्यते, यतो न विरोधः स्यात्। तस्मादुभावपि विरोधौ समौ क्षमौ चाभेदविसर्जने। केवलमेकस्य प्रौढिः सुभगाभिक्षुकन्यायेन यदि स्यात्। एतेन विवेचनाभावो पि निरस्तः, आकारयोरसम्भेदेन वेदनस्यैव विवेचनत्वात्।

ननु प्रतिभासभेदनियमाभावो मया (बौद्धेन) स्वीक्रियत एव। नीलधवलादीनां सहोपलम्भस्य इष्टत्वादित्याशयेन शङ्कते – **क्व प्रतिभासासाङ्कर्यनियमः, सहैव प्रतिभासो पि स्यादिति चेत्** इति। प्रतिभासासाङ्कर्यनियमो नास्ति, नीलधवलादेः सहैव प्रतिभासादिति चेत्? **न सहानुपलम्भम् असाङ्कर्यं ब्रूमः।** नीलधवलादीनां सहानुपलम्भम् असाङ्कर्यं न वयं ब्रूमः। **किन्तु नीलस्यैव पीतत्वेन पीतस्यैव नीलत्वेन अनुपलम्भम्** (असाङ्कर्यं ब्रूमः)। **स एव मूलं सर्वविरोधानाम्।** एकस्यापरात्मतया अनुपलम्भ एव सर्वविरोधानां मूलम्। तथा च नीलधवलादीनां सहोपलम्भेन प्रतिभासाङ्कर्यस्वीकारे पि नीलस्यैव पीतत्वेन पीतस्यैव नीलत्वेन भानस्य भवतो प्यनिष्टत्वात्, तदेव मया आपाद्यते। नीलधवलादीनां विरोधाभावादिति समाधानाभिप्रायः। **अन्यथोपलम्भानुपलम्भयोरप्यसिद्धिरेव** = एकस्यापरात्म–तयोपलम्भस्वीकारे घटाभाववति देशे अन्यपदार्थस्य सत्त्वे तत्पदार्थभासकसामग्रीसत्त्वे तत्पदार्थविषयोपलम्भस्य घटोपलम्भत्वापत्तिः, घटस्य तत्पदार्थरूपत्वेन उपलम्भत्वात्। तथा च घटानुपलम्भानुपपत्तिः। एवमन्येषामप्यनुपलम्भानुपपत्तिर्बोध्या। उपलम्भकसत्त्वे तद्वति देशे च घटाभाववति तत्पदार्थस्यापि उपलम्भकसामग्रीसत्त्वे घटरूपत्वेन अनुपलम्भापत्तिः। तथा च तत्पदार्थानुपलम्भापत्तिः।

अभिप्रायमाविष्करोति – **यदपि नोपलभ्यते इत्युच्यते तदप्युलभ्यत एव। यदिदमश्वादिकमुपलभ्यते तन्नोपलभ्यते इत्युक्त्यैव निव त्तेः**। यदिदं पीतं नीलस्य असहोपलम्भकाले नोपलभ्यते तदपि पीतमुपलभ्यत एव। यस्मादिदं नीलमुपलभ्यते इत्युक्तिमात्रेण निव त्तेरिति। तथा च को पि पदार्थ उपलभ्यते एवेति वक्तुं न शक्यम्, अन्यरूपेण तस्यानुपलम्भात्। एवं को पि पदार्थ अनुपलभ्यत इत्यपि वक्तुं न शक्यते, अन्यपदार्थरूपत्वेन तस्योपलम्भात्। एव च यदुपलभ्यते तदपि नोपलभ्यते यदपि नोपलभ्यते तदपि उपलभ्यते इति महानन्र्थः। न को पि व्यवहारः प्रसरेत्।

तेनात्मना नोपलभ्यत इति चेत्। पीतादिकं नीलादिस्वरूपेण नोपलभ्यत एवेति चेत् ? न । तत्किं सहोपलम्भे पि नीलात्मना पीतमुपलभ्यते यतो न विरोधः स्यात् ? नीलपीतविषयकचित्रज्ञाने नीलपीतयोः सहोपलम्भे पि नीलात्मना न पीतमुपलभ्यते, अन्यथा चित्राकारानुपपत्तेः। तथा च नीलपीतयोर्विरोधस्य अपरिहारे विरुद्धविषयकनीलपीतविषयकैकज्ञानस्य भेदापत्तिः। स्वीक्रियते नीलपीतविषयकम् एकं चित्राकारज्ञानम्। तच्च विषयविषयिणोरैक्यवादिमते नोपपद्यते। **तस्माद् उभावपि विरोधौ समौ क्षमौ चाभेदविसर्जने। केवलमेकस्य प्रौढिः सुभगाभिक्षुकन्यायेन यदि स्यात्।** अतः विषयः नीलपीतादिगतविरोधज्ञानगतविरोधौ, समौ = तुल्यौ, क्षमौ = समर्थौ च अभेदविसर्जने नीलपीतयोर्विरोधो यथा उभयोर्भेदं साधयति अभेद च निषेधति, तथा ग्राह्यग्राहकयोर्भेदं साधयति ज्ञानगतविरोधः, तयोरभेद च विसर्जयति। त्वया बौद्धेन पुरस्क तस्य बाह्यभेदस्य नीलपीतादिभेदस्य सौभाग्यात् प्रौढिः,

अस्मदापाद्यमानस्य प्रतिभासाधीनज्ञानभेदस्य नीलपीतविरुद्धविषयकचित्राकारैक–ज्ञानभेदस्य त्वयानभ्युपगमात् प्रौढिः, यदि सुभगाभिक्षुकन्यायेन स्यात्। साप्रौढिः = सा अप्रौढिः, एवं विनिगमनाविरहेण नोपपद्यते। तथा च नीलपीतयोर्विरोधेन भेद इव नीलपीतविषयकैकचित्राकारज्ञाने पि विरोधेन भेदः स्यात्। भिक्षुविसर्जितेन दुर्भगायाः विधवायाः प्राधान्यमसहमानया सुभगया जीवत्पतिकया स्वयमेव भिक्षुर्विसर्जित इति सुभगाभिक्षुकन्यायः। विनिगमनाविरहेण विषयगतविरोधो यथा विषययोर्नीलपीतयोर्भेदं साधयति अभेद च निषेधति, तथा चित्राकारनीलपीतविषयकैकं चित्राकारं भिन्नं भविष्यति अभिन्न च न भविष्यति, चित्रज्ञानगतविरोधस्य भेदसाधकत्वात् अभेदबाधक–त्वाच्च।

विज्ञानस्य विरुद्धाध्यासाद् भयं नास्तीति निराक त्य विवेचनाभावः परमो निर्वाह इत्युक्तं निराकरोति – **एतेन विवेचनाभावो पि निरस्त** इति। सुभगा–भिक्षुकन्यायेन यदि नीलं धवलभिन्नं धवल च नीलभिन्नमिति विवेचनं विरोधेन मया (बौद्धेन) स्वीक्रियते, नीलपीतविषयकचित्राकारं ज्ञानं भिन्नमिति न स्वीक्रियते इति बौद्धकथनस्य विनिगमनाविरहेण विषयगतविरोधज्ञानगतविरोधयोस्तुल्यत्वप्रतिपादनेन नीलपीतविषयकचित्राकारकज्ञाने नीलविषयकं पीतविषयक च विवेचनं न भवति ज्ञानस्य एकत्वादिति निरस्तः। विषयगतविरोधेन यथा विषयो विविच्यते। तथा ज्ञानगतविरोधेन ज्ञानमपि विवेचनीयम्। विनिगमनाविरहेण सुभगाभिक्षुकन्यायेन अनिर्वाहात्। बाह्यज्ञानयोरपि विवेचनाभावस्य तुल्यत्वात्। **एतेने**त्यस्य **नारायणी-टीका**याम् नीलपीताकारयोः परस्परात्मत्वानुपलम्भमात्रेण तयोर्भेदप्रतिपादनेनेत्यर्थः क तः। ज्ञानाकारयोः असम्भेदेन = भेदाभावेन संवेदनस्यैव = ज्ञानस्यैव, विवेचनत्वात्। नीलपीतविषयकज्ञानस्य नीलाकारपीताकारयोः भेदेन तस्य ज्ञानस्य विवेचनीयत्वात्। न नीलमात्रविषयकमिदं ज्ञानम्, न वा पीतमात्रविषयकमिति विवेचनस्य अत्रापि सत्त्वेन ज्ञानस्य न विवेचनमिति कथनं बौद्धस्य असङ्गतम्, अत्रापि विवेचनस्य सत्त्वात्।

अपि च क्षणिकतायामेकपुरुषापेक्षया बाह्यस्यापि कुतो विवेचनम्। नानापुरुषापेक्षया त्विहापि सन्दिग्धम्। परेण परस्यावेदनात् क्व सन्देह इति चेत्, अभेदेनैव। तर्ह्यविवेचनं साध्यम्। तथा च किं तेनोपन्यस्तेनापि।

तज्जातीयस्य तु बाह्यवद्विज्ञानस्यापि विवेचनमेवेति। स्वसम्वेदन-बाधितो यं विरुद्धधर्म्माध्यासो न भेदसाधक इति उष्ट्रलगुडकम्, सम्वेदनेनैवास्य साधितत्वात्।

अपि च सहोपलब्धानाम् असहोपलम्भ एव विवेचनम् इत्यपि विषयविवेचनस्य अङ्गीकारे पि क्षणिकबाह्यवादे सहोपलब्धानां नीलधवलादीनां विषयाणां बाह्यानामपि

एकपुरुषापेक्षया न विवेचनमित्याह – **अपि च क्षणिकतायामेकपुरुषापेक्षया बाह्यस्यापि कुतो विवेचनम्** इति। बाह्यज्ञानयोरपि विवेचनाभावस्तुल्य इत्याह – **अपि चेति शङ्कर मिश्राः**। एको हि पुरुषः क्रमेणैव विवेचनं कुर्यात्, न च क्षणिकानां क्रमेण विवेचनं संभवति। क्षणान्तरवर्तिनो न्यत्वात्। न पूर्वं सहोपलब्धस्य विषयस्य विवेचनं भवतीत्यभिप्रायः। कुतो विवेचनमित्यत्र क्व विवेचनमिति मिश्रसंमतः पाठो त्र द्रष्टव्यः। तथा च बाह्यस्य नीलादिविषयस्य क्षणिकत्वेन भेदग्रहकाले द्वितीयादिक्षणे तस्य विनाशात् क्व विषयस्य विवेचनमित्यर्थः। अथ यदा एकेन पुरुषेण नीलपीतादयः सहोपलभ्यन्ते, तदैव पुरुषान्तरेण ते विषया विवेच्यन्ते इति विषस्य विवेचनं भवति न ज्ञानस्य। अन्येन परसमवेतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वादित्यत आह – **नानापुरुषापेक्षयापि संदिग्धमि**ति। तथा च संदिग्धं नानापुरुषापेक्षया विषयविवेचनम् न संभावितमित्यर्थः।

अत्र शङ्कते – **परेण परस्यावेदनात् क्व सन्देह इति चेत्** ? ज्ञानान्तरेण ज्ञानान्तराकरास्य विविच्य वेदनासंभवात् कथं ज्ञानस्य विवेचनसंभावना संभवति? केवलं विषयस्य विवेचनं पुरुषान्तरेण कर्तुं शक्यते इति क्व सन्देह इति चेत्? तां शङ्कामुत्तरयति – **अभेदेनैव विवेचनं साध्यम्। तथा च किं तेनोपन्यस्तेनापि?** ज्ञानस्य अविवेचनरूपसाध्येन ग्राह्यग्राहकयोरभेदेनैव विवेचनं साध्यम्। तथा चाभेदस्य (ग्राह्य– ग्राहकयोरभेदस्य) प्रागेव ग्राह्यम्, स्वज्ञानाद् भिन्नं, सहोपलम्भाद् इत्यादिना सिद्धत्वात् तत्किं सिद्ध्यर्थम् ज्ञानस्य अविवेचनोपन्यासेनापि, इति।

ननु यद्यपि यस्य नीलविशेषस्य बाह्यस्य ज्ञानेन सहोपलम्भः तस्यैव विवेचनं क्षणिकत्वात् न संभवति, तथापि तज्जातीयस्य नीलान्तरस्य एकेनापि पुरुषेण विवेचनं कर्तुं शक्यत इत्यत आह – **तज्जातीयस्य तु बाह्यवद् विज्ञानस्यापि विवेचनमेवेति**। विज्ञानाकारस्यापि तज्जातीयस्य बाह्यविषयसजातीयस्येव विवेचनम् संभवत्येव इति। इदं नीलजातीयं यथा विविच्यते, तथा नीलज्ञानजातीयं पीतज्ञान–जातीयाद् भिन्नमिति ज्ञाने पि विवेचनम् अस्त्येवेति ज्ञानस्य अविवेचनोपन्यासेन किम् (न किमप्यर्थ इति)।

ननु नीलधवलादिमिश्राकारकमेकं ज्ञानं स्वयं वेद्यते। अतो विविक्तवेदनेनैव नीलधवलादिविरुद्धधर्माध्यासो बाधितः। न ह्येकं ज्ञानं विरुद्धाकारकं भवितुमर्हति इति। तद् उष्ट्रलगुडायते इत्याह – **संवेदनबाधितो यं विरुद्धधर्माध्यासो न भेदसाधक इति उष्ट्रलगुड़कम्। संवदेनेनैवास्य साधितत्वादि**ति। नीलधवलादिमिश्राकारकं चित्राकारं नीलधवलादि– विषयकमेकं ज्ञानं स्वेनैव संवेदितम्। इयं नीलधवलादिविरुद्धाध्यासं प्रतिबध्नाति। अन्यथा एकाकारत्वस्यानुपपत्तेः। नहि विरुद्धाकारकमेकं ज्ञानं भवितुमर्हति। तथा च नीलधवलादिविरुद्धाकारकैकज्ञानस्य असंभवेन न नीलधवलादिविषयकं ज्ञानं नीलविषयकज्ञानाद् भिन्नमत्र धवलविषयकं ज्ञानमिति भेदं साधयितुं शक्नोति इति बौद्धकथनम् उष्ट्रलगुडकमिव प्रतिभाति।

'कुरूपो हन्यताम्' इति श्रुत्वा कुरूपोपहननाय प्रथमम् उष्ट्रेणैव लगुड़ं ग हीतं स्वविरुद्ध एव स्वशिरोभङ्ग इति न्यायमनुहरति। विरुद्धधर्मविषयकं चित्राकारं ज्ञानम्। चित्राकारज्ञानस्याभेदं खण्डयत् अनेकं स्थापयिष्यति। तथा च नीलात्पीतं भिन्नं नीलसजातीयात् पीतं भिन्नमिति बाह्ये पि संवेदनाधीन एव भेदः। स च भेदः कथं तेनैव संवेदनेन बाध्यताम्। विषव क्षो पि संबर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतमिति प्रसिद्धम्। नीलधवलादिविरुद्धद्वयाकारं ज्ञानमपि विरुद्धधर्माध्यासाद् भिन्नमिति बोध्यम्। नीलधवलादिविरुद्धधर्मज्ञानेनैव नीलज्ञानाद् धवलज्ञानभेदः साधित इति उभयोर्ज्ञानयोर्भेदं यः साधितवान्, स कथं तं खण्डयिष्यति? कारणस्य अप्रतिबन्धकत्वात्। तदेव कथयति – **संवेदनेनैवास्य साधितत्वात्** इति। नीलधवलादिविरुद्धधर्माकारज्ञानेनैव नीलज्ञानाद् धवलज्ञाने भेदस्य साधितत्वादित्यर्थः।

हिनस्तु तर्हि प्रकाशमानता नेकत्वं विरुद्धधर्म्माध्यासो प्येकताम्। तथाप्येकत्वानेकत्वविकलनीलाद्याकारप्रकाशस्वरूपे किमायातमिति चेत्, तदिदं भौतैः क्षेत्रनिलायनम्। नियताकारत्वमेव ह्येकत्वमनियताकारत्वं चानेकता, तन्निव त्तौ च न नीलाकारं नापि नीलपीताद्याकारमित्यनाकारमेवावशिष्यते।

स्यादेतत्। पारमार्थिको विरुद्धधर्म्माध्यासो भेदग्रहहेतुरयं तु काल्पनिक इति चेत्, एवं तर्हि सुतरामयत्नसिद्धं स्फटिकवद्बोधस्य निराकारशुद्धत्वम्। आकारनिकरस्त्वनात्मैव स्फुरतीत्युभयथैव कालात्ययापदिष्टाः सहोपलम्भादयः।

अपि च आस्तां तावद्विरुद्धधर्म्माध्यासचिन्ता। यो यं ग्राह्याग्राहकभागभेदो ग्राह्यनीलपीतादिभेदो वा चकास्ति, स किं सत्यो सत्यो वा। सत्यत्वे स एव दोषो हेतूनाम्। असत्यत्वे वा नायमात्मा विज्ञानस्येत्यनात्मन्यपि सहोपलम्भनियमादयोग्यता इत्यनेकान्ताः। भेदो न प्रथत एवेति चेत्, एवं तर्हि अस्तु तावत् सर्वजनीनप्रतीतिविरोधः स्ववाग्विरोधो वा। असिद्धास्तर्हि हेतवः। न हि भेदाप्रथने सहार्थं तद्व्याप्यतां वा पश्यामः तदस्फुरणे पि पक्षादिप्रविभागो पि कथम्। कं च बोधयितुं प्रव त्तो सि किमर्थं च। अन्वयव्यतिरेकाप्रतीतौ किं च हेतोर्बलम्। कुतश्च विप्रतिपत्तिः कीद शी चेति। सो यं विचारमारभते, भेदं तु साम्व तमपि नेच्छति। नूनमुन्मत्तो प्यनेन जितः।

ननु नीलधवलादि एकज्ञानकुक्षावेव प्रकाशमानत्वानुरोधाद् प्रविष्टम् इति तज्ज्ञानं (नीलधवलादिज्ञानम्) कथमनेकं स्यात्? नीलज्ञानं भिन्नं धवलज्ञान च भिन्नं कथं भवेत्? कथं वा विरुद्धधर्माध्यासाद् तज्ज्ञानम् एकमेव भवितुमर्हतीत्येकत्वमनेकत्वं वा विवादपदे नीलधवलादिज्ञाने मास्तु। ज्ञानस्वरूपं तु स्ववेदनसिद्धं दुर्निरसनीयम् इत्यभिप्रायेणाह पूर्वपक्षी – **हिनस्तु तर्हि प्रकाशमानानेकमिति।** नीलधवलादि–

प्रकाशमानानेकत्व–विरुद्धधर्माध्यासः = विरुद्धधर्माकारः, नीलधवलादि– ज्ञानगतैकत्वं स्वविहितं तर्हि हिनस्तु। प्रकाशमानत्वानुरोधात् एकमेव तज्ज्ञानं कथमनेकं भवितुम् अर्हति इति नीलधवलादिज्ञाने एकत्वानेकत्वयोर्विरहे पि (तथात्वे पि) नीलधवलादिज्ञाने किमायातम्? न का पि क्षतिः। ज्ञानस्वरूपस्य सुस्थिरत्वात् इति चेत्? तदा तज्ज्ञानं नैकस्वरूपं न वानेकस्वरूपमिति निःस्वरूपमेव पर्यवसन्नम् इत्याशयेनोत्तरयति – **तदिदं भौतैः क्षेत्रनिलायनम्। नियताकारत्वमेव ह्येकत्वम् अनियताकारत्व चानेकता। तन्निव तौ च न नीलाकारं नापि नीलपीताद्याकार- मित्यनाकारमेवावशिष्यते** इति। नीलधवलादिज्ञानस्य परस्परविरोधेन एकत्वानेकत्वयोर्विरहे तदिदं नीलधवलादिज्ञानं हि यथा भूताविष्टैः बर्बरैर्वा रक्षकैः क्षेत्रकवलीकरणमेव क्रियते, तथैव परस्परविरोधाभ्यां ज्ञाने एकत्वानेकत्वे कवलीक्रियते। तथा च नीलधवलादिविषयकं ज्ञानं नैकं न वानेकमिति निःस्वरूपमेव आकाररहितमेव भविष्यति ज्ञाने नियताकारत्वमेव हि एकत्वम्, अनियताकारत्वम् एव तत्रानेकत्वम्। नियताकारत्वानियताकारत्वयोश्च निव त्तौ तज्ज्ञानं न नीलाकारं न वा नीलधवलादि, नीलपीताद्याकारमित्यनाकारमेव अविशेषाद् भविष्यति। न चेष्टापतिः। आकाररहितस्य ज्ञानत्वास्वीकारात्। तथा च नीलधवलादिचित्राकारज्ञाने एकत्वानेकत्वयोर्विरोधोन्मूलने ज्ञानत्वस्यैव उन्मूलनं भविष्यति इति भावः।

ननु नीलपीतादीनामवस्तुसत् तद्घटितो विरुद्धधर्माध्यासो पि न वस्तुभूतः कथं परमार्थे ज्ञाने स्यादित्याह पूर्वपक्षी – **स्यादेतत्, पारमार्थिको विरुद्धधर्माध्यासो भेदहेतुरयं काल्पनिक इति चेत्**? नीलधवलादिज्ञाने यदि पारमार्थिकविरुद्धधर्माध्यासः स्यात् तद् नीलविषयकं धवलादिविषयक च ज्ञानं विभिन्नं स्यात्। स एव तु नास्ति, ज्ञानभिन्ननीलादीनाम् अपारमार्थिकत्वात्। तत्र नीलादिज्ञाने नीलादेरपारमार्थिकस्यारोप इति न तज्ज्ञानं भिन्नं किन्तु एकमेवेति चेत्? **एवन्तर्हि सुतरामयत्नसिद्धं स्फटिकवत्स्वच्छं बोधस्य निराकारशुद्धत्वम्। आकारनिकरस्त्वनात्मैव स्फुरतीत्यु- भयथैव कालात्ययापदिष्टाः सहोपलम्भादयः।** निर्गतश्चासौ आकारः निराकारः, तेन शुद्धत्वं ज्ञानस्य यत्नं विनैव सिद्धम्। आकाररहित च ज्ञानं न तवापि तत्प्राप्तं त्वया। निर्गतः आकारो यस्मात् स चासौ शुद्धो निराकारशुद्धस्तस्य भावो निराकारशुद्धत्वम् अयत्नसिद्धं ज्ञाने यातम्, तन्नेष्टम्। निर्विषयकं निराकारकं च ज्ञानं न को पि स्वीकरोति। अथवा नीलपीतादिविषयकचित्रज्ञाने, नीलाकारपीताकाराणां निकरः = समुदायस्तु अनात्मा इव अस्वरूप इव असन् इव स्फुरति = भासते इति उभयथा पि = नीलपीतादिविषयकचित्रज्ञाने नीलपीतादिर्न भासत इति प्रथमपक्षे अथवा असदेव नीलादि भासते इति पक्षे, उभयथैव = उभयप्रकारेणैव ग्राह्यम् स्वग्राहकादभिन्नं सहोपलम्भादित्यत्र हेतुः कालात्ययापदिष्टः = बाधितः। असता नीलादिना ग्राह्येन सतो ज्ञानस्य तादात्म्यासंभवेन नीलादीनां परार्थत्वेन नीलादि– निराकारज्ञानयोश्च तादात्म्यसंभवेन च ज्ञानविषययोरैक्यासंभवात् साध्याभाववद् ग्राह्यरूप–पक्षकत्वस्य

सहोपलम्भे ग्राह्यत्वे हेतौ सत्त्वेन हेत्वोः कालात्य यत्वापत्तिः। साध्याभाववत्पक्षकत्वस्यैव बाधितत्वात्।

एकदण्डि(वेदान्तिविशेष)मतम् अन्तर्भाव्य दोषान्तरमाह – **अपि च आस्तां तावद् विरुद्धधर्माध्यासचिन्तेति,** इति। ग्राह्यग्राहकयोर्भेदः सत्यो न वेति विकल्पार्थः। प्रकाशमानो यो ग्राह्यग्राहकयोर्भेदः स सत्यो न वा? ग्राह्ये विज्ञानप्रतियोगिकभेदस्य सत्यत्वे, ग्राह्यं विज्ञानाभिन्नं सहोपलम्भात् ग्राह्यत्वात् इत्यत्र ग्राह्ये ग्राहकविज्ञानप्रतियोगिभेदस्यैव सत्त्वेन तद्भेदासत्त्वात् बाधः। साध्याभावत्पक्षकत्वस्यैव बाधत्वात्। तथाच हेतूनां बाधितत्वेन हेत्वाभासत्वात् ते हेतवो न ग्राह्ये विज्ञानाभेदसाधने समर्थाः। अथ स भेदो न सत्यः। तदा अयं ग्राह्यग्राहकयोर्भेदो न पारमार्थिक इति न पारमार्थिकविज्ञानस्वरूपः। पारमार्थिकापारमार्थिकयोरभेदासंभवात्। तथा च विज्ञानभिन्ने ग्राह्यग्राहकयोर्भेदे सहोपलम्भस्य ग्राह्यत्वस्य वा हेतोः सत्त्वेन ते हेतवो व्यभिचारिणः। साध्याभाववद्व त्तित्वं हि हेतौ व्यभिचारः। तथा च ग्राह्यग्राहकयोरभेद–साधकाः सहोपलम्भादयो हेत्वाभासाः साध्यसाधने समर्था इति कुतो ग्राह्यग्राहक–योरभेदसिद्धिः? असत्यस्य भेदस्य ग्राह्यत्वे सहोपलम्भनियतत्वादिति हेतुसत्त्वे पि साध्यस्य ग्राह्याभेदस्य असत्त्वाद् अनेकान्ताः ते हेतवः।

ननु विज्ञाने ग्राह्यभेदो नैव भासते इति सहोपलम्भनियतत्वग्राह्यत्वादयो ग्राह्यग्राहकाभेदसाधका भेदे न सन्तीति क्व व्यभिचार इति मनसि क त्वा पूर्वपक्षी शङ्कते – **भेदो न प्रथत इति चेत्** इति। विज्ञाने ग्राह्यभेदो नैव भासत इति चेत्? न। सर्वानुभवविरोधात्। तव वचनविरोधाच्च। तौ विरौधौ दर्शयति – **एवन्तर्हि अस्तु तावत् सार्वजनीन- प्रतीतिविरोधः, स्ववाग्विरोधो वा** इति विज्ञाने ग्राह्यभेदस्य अपलापिनः तव ग्राहकप्रतियोगिक–विज्ञानानुयोगिक–भेदविषयक–सर्वजनानुभवविरोधो भवति। स्ववाग्विरोधो वा भवति। तथाहि – भेदं हि निर्दिश्य तस्य प्रथनं निषेद्धव्यम्। निर्देशश्च प्रथनमन्तरेण न सिद्ध्यति, भेदे निर्देशनाप्रथनोक्तिर्विरुध्येतेति। अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानं कारणमिति भेदज्ञानं विना भेदनिषेधो न संभवति। भेदज्ञानस्वीकारे च तत्र विषये भेदः प्रथते एव। तथा च भेदो न प्रथत एवेति स्ववचनं तव 'मम माता बन्ध्या' इतिवद् विरुद्धम्। कि च ग्राह्यस्य ग्राह्यग्राहकभेदस्य ज्ञानेन सहोपलम्भाभावे ताद शभेदरूपे पक्षैकदेशे सहोपलम्भनियतत्व, ग्राह्यत्वादयः ग्राह्यग्राहकयोः अभेदसाधका न वर्तन्त इति ते हेतवः स्वरूपासिद्धाः भवन्ति। पक्षतावच्छेदक–समानाधिकरणाभाव–प्रतियोगित्वं स्वरूपासिद्धत्वम् इति तल्लक्षणात्। पक्षैकदेशे हेत्वभावः स्वरूपासिद्धो भवति। नहि स्वरूपासिद्धो हेतुः ग्राह्यग्राहकयोरभेदं साधयितुं समर्थः। विज्ञाने भेदस्याप्रथने च सहोपलम्भनियतत्वादयः हेतवः ग्राह्यग्राहकाभेदरूप–साध्यनिरूपित–व्यापकतावन्तो न भवेयुः। व्याप्यव्यापकभावस्य भेदघटितत्वात्। स्वः स्वं न साधयति। अतः स्वभिन्नत्वे सति स्वाभाववद्व त्तित्वं हि व्याप्यत्वम्। स्वभिन्नत्वे सति

स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वम् व्यापकत्वम् इति तत्तल्लक्षणात् इति मनसि क त्य सिद्धान्ती कथयति – **न हि भेदाप्रथने सहार्थं तद्व्याप्यतां वा पश्यामः** इति। विज्ञाने भेदस्य अस्फुरणे न भेदस्य सहोपलम्भनियमो स्ति। न वा ग्राह्यग्राहकयोरभेदरूपसाध्यनिरूपितव्याप्यत्व च अभेदसाधके हेतौ वर्तते।

कि च भेदस्यास्फुरणे पक्ष–हेतु–साध्य–द ष्टान्ता अपि न भवेयुः। तेषां भेदे सत्येव अनुमानस्य प्रव त्तेः। तदेव कथयति सिद्धान्ती – **तदस्फुरणे पि पक्षादि-प्रविभागो पि कथम्? क च बोधयितुं प्रव त्तो सि? किमर्थ च?** इति। भेदस्यास्फुरणे वादिप्रतिवादिनोरपि भेदाभावात् कमुद्दिश्य त्वं ग्राह्यग्राहकयोरभेदं वदसि? भेदास्फुरणे च तत्त्वनिर्णयविजयादीनामुद्देश्यानामभावाच्च। अन्वयव्यतिरेकाप्रतीतौ कि च हेतोर्बलम्? तयोरेव बलत्वादिति कथयति सिद्धान्ती – **अन्वयव्यतिरेकाप्रतीतौ कि च हेतोर्बलम्** इति। भेदस्यास्फुरणे अन्वयव्यतिरेकावपि न सिद्ध्यत इति किं हेतोर्बलं भविष्यति? हेतुताया अन्वयव्यतिरेकाभ्यां लभ्यत्वात्। विरुद्धा प्रतिपत्तिर्हि विप्रतिपत्तिः। विरोधश्च भेदनियत इति भेदास्फुरणे कुतः विप्रतिपत्तिर्भविष्यतीति कीद शी च सेति। सत्यां विप्रतिपत्त्यां स्वस्वपक्षं साधयितुं वादिप्रतिवादिनौ प्रवर्तेते स्वविजयाय परपराजयाय च। विप्रतिपत्त्यामसत्त्या च तौ न प्रवर्तेयाताम् इति कथयति सिद्धान्ती – **कुतश्च विप्रतिपत्तिः कीद शी चेति।** विरुद्धज्ञानजनकं वाक्यमपि विप्रतिपत्तिः। यः भेदं न मन्यते विचार च कुरुते, स खलु उन्मत्त एवेति मनसि क त्याह सिद्धान्ती – **सो यं विचारमारभते, भेदन्तु साम्प्रतमपि नेच्छति, नूनमुन्मत्तो पि अनेन जित** इति। भेदं मन्यमानो यं बौद्धः ग्राह्यग्राहकयोरभेद इति विचारं कुरुते, साम्प्रतमपि (विचारसमये पि) भेदन्तु नेच्छति। निश्चितो नेनोन्मत्तो जितः। उन्मत्तादपि उन्मत्तो यम्। भेदाभावे अन्वयव्यतिरेकयोरपि अभावे हेतोर्न बलत्वम् नापि व्याप्यव्यापकभावः, न वा पक्षद ष्टान्तौ। प्रतीतिभेदाभावेन विरुद्धा प्रतिपत्तिरपि न स्यात्। तदभावाच्च न विवादप्रव त्तिरिति सर्वथा सर्वत्र भेदतज्ज्ञानयोः अपेक्षा स्ति। **योगाचार**स्तु भेदं न स्वीकुरुते ग्राह्यग्राहकयोरभेदविचारं च कुरुते इति उन्मत्तादपि उन्मत्तः प्रतिभाति। अतस्तन्मतं न युक्तमिति भावः।

विकल्पारूढ एव भेदो व्यवहाराङ्गं नानुभवारूढ इति चेत्, सो पि सत्यो सत्यो वा भासते न वेति विकल्पान्नातिवर्तते।

असन्नेवास्फुरन्नेवाध्यवसीयत इति चेत्, अध्यवसीयत इति विचारणीय-मेतत्। तद्विषयव्यवहारजननमध्यवसायार्थ इति चेत्, व्यवहारो पि यद्यज्ञानरूपः, कथमसंस्तेन जन्यताम्। ज्ञानरूपश्चेत्, कथं नियमाकं विना तद्विषयः। स्वकारणसामग्रीसामर्थ्यादिति चेत्, सो यं व्यवहृतिरूपज्ञानालीकभेदयोर्नियाम-कान्तराभावे पि कारणसामर्थ्यमाश्रित्य विषयविषयिभावमिच्छति, न त्वनुभवानु-भाव्ययोरिति क्षीरं विहाय रुचिररोचकग्रस्तस्य सौवीरे।

योगाचारः शङ्कते – **विकल्पारूढ एव भेदो व्यवहाराङ्गं नानुभवारूढ इति चेत्**? विकल्पज्ञानविषयो भेदो व्यवहाराङ्गं हेतुद ष्टान्तादिसाधकं भवति नानुभवारूढः = न निर्विकल्पकज्ञानविषयो भेदः, येन प्रामाणिकः स्यात्। निर्विकल्पकज्ञानमेव प्रमाणम् तद्विषय एव प्रामाणिकः। असत्यादिभासक च सविकल्पकज्ञानं मिथ्याभूतं न प्रमाणं तद्विषयो पि न प्रामाणिकः। तथाच वस्तुरूपो भेदो व्यवहारं साधयति। निर्विकल्पकज्ञाने च प्रथते एवेति न के पि दोषाः पूर्वोक्ता अत्र प्रसरन्ति – इति चेत्? अत्र सिद्धान्ती तं प च्छति – **सो पि सत्यो सत्यो वा भासते न वेति विकल्पान्नातिवर्तते** इति। विकल्पज्ञानविषयो पि भेदः सत्यः = वस्तुरूपः, असत्यः = अवस्तुरूपो वा? भासते न वेति विकल्पान् नातिक्रमते। तथा च सत्यो भेदो भासते न वा? असत्यो भेदो भासते न वेति विकल्पाः बोध्याः। एव च यदि सत्यो भेदो भासते, तदा ग्राह्यं ज्ञानाभिन्नं सहोपलम्भनियतत्वात् ग्राह्यत्वाद्वा इत्यत्र बाधः। अभेदरूप– साध्याभावस्य पक्षे सत्त्वात्। साध्याभाववत्पक्षकत्वात् तव हेतुर्बाधितः सन् साध्यं न साधयिष्यति। ततश्च सिद्धं नः समीहितम्। यदि भेदो न भासते इति चेत्? तदा साध्यपक्षादि–व्यवहारानुपपत्त्या न ग्राह्यग्राहकयोरभेदानुमितिर्भविष्य– तीति उभयतःपाशा रज्जुरिति न्यायस्यावसरः प्रसरति। न ह्यभासमानं किंचिद् व्यवह्रियते। इमौ दोषौ भेदस्य सत्यासत्योभयपक्षे बोध्यौ। किं चासत्यो भेदो यदि भासते इति चेत्? तदा असत्यभेदे सहोपलम्भनियतत्वस्य ग्राह्यत्वस्य वा ग्राह्यग्राहकाभेदसाधकस्य हेतोस्तत्र सत्त्वेन वस्तुरूपज्ञानाभेदस्य तत्रासत्त्वात् तयोरनैकान्तिकत्वापत्तिः। न हि हेत्वाभासाः साध्यं साधयन्ति इति ग्राह्यग्राहकयोरभेदः सेत्स्यति। यदि असत्यो भेदो न भासते इति न व्यवहाराङ्गं भेदो भविष्यति इति पूर्ववत् पक्षद ष्टान्तासिद्ध्या न ग्राह्यग्राहकयोरभेदानुमितिर्भविष्यति। न वा तद्भेदः सेत्स्यति इति उभयतःपाशा रज्जुरिति न्यायः प्रगल्भते।

योगाचारः शङ्कते – **असन्नेवास्फुरन्नेवाध्यवसीयते इति चेदिति**। भेदो सन्नेव अस्फुरन्नेव (अज्ञायमान एव) विकल्पज्ञानविषयो भवतीति चेत्? इति कथयितुं न योग्यम्। **अध्यवसीयत इति विवरणार्हमेतत्** इति। विकल्पज्ञाने भेदो न विषयः, विकल्पो विषयश्चेति वदतो व्याघातः। विवरणार्हमित्यस्य विवरणं कर्तुं योग्यमित्यर्थः। विचारणीयमिति मिश्राद्यभिमतः पाठः। विचारासहमिति तदर्थः।

पूर्वपक्षी शङ्कते – **तद्विषयव्यवहारजननमध्यवसायार्थ इति चेत्?** इति विकल्पज्ञानं ज्ञानाविषयो पि भेदविषयकव्यवहारं करोतीति चेत्? इदमपि न युक्तम्, विचारासहत्वात्। तथाहि – व्यवहारो पि यदि अज्ञानरूपः, कथमसंस्तेन (ज्ञानेन) जन्यताम्? ज्ञानरूपश्चेत् कथं नियामकं विना तद्विषयः? त्वन्मते ज्ञानातिरिक्तस्य असत्त्वात् व्यवहारस्य अज्ञानरूपत्वे विकल्पज्ञानेन असन् व्यवहारो पि कथं जन्यताम्? असतः उत्पत्त्यभावात्। असन्नेव भेदः विकल्पज्ञाने प्यस्फुरन्नध्यवसीयते =

विषयीक्रियते विकल्पेन। ततश्चास्फुरणे पि अध्यवसायादेव व्यवहार इत्यभिप्रायः भवतां न युक्तः। असतो व्यवहारस्यासंभवात्। व्यवहारो यदि ज्ञानरूपश्चेत् तदा नियामकाभावात् कथं भेदविषयो व्यवहारः स्यात्? यद्विषयकं ज्ञानं तद्विषयकं व्यवहारं करोति। भेदाविषयकं ज्ञानं यथा भेदव्यवहारं जनयेत् तथा घटव्यवहारमपि जनयेत्, नियामकाभावात्। न चेष्टापत्तिः। एकस्मादपि ज्ञानात् नियामकाभावेन युगपदनेके व्यवहारा आपतेयुः।

ननु व्यवहारो पि ज्ञानरूप एवेति भेदव्यवहारकारणसामग्रीसामर्थ्यात् ज्ञानं भेदव्यवहारं जनयिष्यति, न घटव्यवहारमिति नोक्तदोषः। स्वकारणसामग्र्या एव व्यवहारनियामकत्वादिति मनसिक त्य शङ्कते पूर्वपक्षी इत्याह – **स्वकारण-सामग्रीसामर्थ्यादिति चेदिति**। व्यवहारकारणस्य या सामग्री सा व्यवहारं जनयिष्यति। सा सामग्र्येव व्यवहारनियामिका भविष्यतीति न पूर्वोक्तदोष इति चेत्? सिद्धान्ती उत्तरयति – **सो यं व्यवहृतिरूपज्ञानालीकभेदयोर्नियामकाभावे पि कारणसामर्थ्यम् आश्रित्य विषयविषयिभावमिच्छति, न त्वानुभवानुभाव्ययोरिति क्षीरं विहाय रुचिररोचकग्रस्तस्य सौवीरे** इति। अरुचिग्रस्तस्य कस्यापि जनस्य यथा क्षीरे न रुचिः किन्तु काजिके (कांझीति प्रसिद्धे) रुचिः, तथा निर्विकल्पकज्ञान–रूपवस्तुसद्ग्राह्ययोर्विषयविषयिभावं भवान् नेच्छति किन्तु व्यवहाररूप–ज्ञानालीकभेदयोः नियामकाभावे पि स्वकारणसामर्थ्यमाश्रित्य विषयविषयिभावमिच्छति। वस्तुभूतं नीलादिज्ञानं स्वकारणसामर्थ्यादेव स्वस्माद् भिन्नमपि नीलादिविषयं विषयीकरोति इति किं नियामकान्तरेणेति भावः।

भेदो पि विकल्पाकार एव, न तु बाह्य इति चेत्, यद्यसन्नेवासौ, कथं विकल्पाकारः। तदाकारश्चेत्, कथमसन्निति परिभावय। अस्तु तर्हि सन्नेवेति चेत्, नन्वद्वयदर्शि चेद्विज्ञानम्, कथं भेदप्रथा। आकारद्वयदर्शि चेत्, कथमेकं सद् द्वयात्मकम्। चित्राकारमिति चेत्, चित्रमेकमनेकं वेति विकल्पगिलितमेव तव पश्यतः। अनेकत्वे क्व एकविज्ञानतादात्म्यम्। विज्ञानस्यापि यावदाकार-मनेकत्वे क्व चित्राकारसम्वेदनम्, स्वस्वमात्रमग्नत्वात्। एकत्वे क्व भेदप्रतीतिः।

अनीलाद्यनेकव्याव त्तिकृतो नेकत्वाध्यवसाय एवेति चेत्, अतादात्म्ये कथं व्याव त्तीनामुल्लेखः। तादात्म्ये कथमनेकत्वम्। एकत्वे पि क्व तत्कृतो पि भेदाध्यवसायः। उल्लेखो यमस्य विज्ञानस्य यदनेकत्वं नाम, न पुनस्तत्त्वान्तर-मिति चेत्, स्वरूपमस्वरूपं वेति वाच्यम्। आद्ये अनेकस्वरूपमेकमिति को न्यो वदेदसुस्थात्। द्वितीयस्त्विष्यत एवास्माभिः, किं तु त्वयेष्यताम्। भ्रान्तिरसाविति चेत्, तस्यामपि स्वरूपमस्वरूपं वा प्रकाशेत, प्रकारान्तराभावादिति।

ननु विकल्पज्ञानाद् भिन्नस्य अलीकभेदस्य विषयतां नाङ्गीकुर्म इत्याह – **भेदो पि विकल्पाकार एव न तु बाह्य इति चेदिति**। भेदो पि विकल्पज्ञानास्याकार एव न तु विकल्पज्ञानाकारभिन्नाद् बाह्यभेदः अलीकः। ज्ञानभिन्नस्य **योगाचारमते** अलीकत्वात्। ततश्च व्यवहृतिरूपज्ञानालीकभेदयोः विकल्पभेदयोरभिन्नयोः ग्राह्यग्राहकभावाभ्युपगमे पि न पारमार्थिकयोरनुभवानुभाव्ययोरपि ग्राह्यग्राहक–भावाङ्गीकारप्रसङ्ग इति चेत्? सिद्धान्त्याह – **यद्यसन्नेवासौ कथं विकल्पाकारः? तदाकारश्चेत् कथमसन्निति परिभावय** इति। यद्ययं भेदः असन्, तदा कथं विकल्पज्ञानस्य पारमार्थिकस्य आकारः स्यात्? न हि पारमार्थिकस्य आकारः असन् भवति। अन्यथा तस्यापि अपारमार्थिकत्वापत्तेः। अपारमार्थिकाकारवतः पारमार्थिकत्वा–संभवात्। यदि विकल्पाकारो भेदश्चेत्, तदा कथमसन् भेदो भविष्यति? सतो विकल्पज्ञानस्य नासन् आकारो भेदो भवितुमर्हति उक्तयुक्तेः, इति भवान् एव परिभावय = विचारय। नहि किल सदसतोराकाराकारिभाव उपपद्यते।

अस्तु तर्हि सन्नेव (भेदः) **इति चेत्?** विकल्पज्ञानस्य वस्तुनो भेदरूपाकारः सन् एव। तथा च वस्तुरूपविकल्पस्य वस्तुरूपभेदाकारत्वं संभवतीति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **नन्वद्वयदर्शि चेत् विज्ञानम्, कथं भेदप्रथा? आकारद्वयदर्शि चेत्, कथमेकं सद् द्वयात्मकम्?** इति। विज्ञानम् निश्चयेन अद्वयदर्शि = द्वयं न पश्यति। एव च ययोर्भेदो ग्राह्यते तदुभयाविषयक चेत् विज्ञानम् इति चेत्। तदा कथं भेदप्रथा, नीलं पीताद् भिन्नमिति भेदो ज्ञानेनैव सिद्ध्यति। ज्ञान च तदुभयं न पश्यति। तस्याद्वयदर्शित्वात्। तथा च कथं भेदः सिद्ध्यति? नील– पीतादिकमपि ज्ञानस्याकारविशेषः, इति पूर्वोक्तदोषवारणाय, आकारद्वयदर्शि विज्ञानं स्वीक्रियते। एव च ययोर्नीलपीतयोर्भेदो भवति तदुभयं पश्यति विज्ञानम्। तथा च भेदप्रथा च प्रचलति। विज्ञानस्यैव तयोर्भेदग्राहकत्वादिति चेत्? तदा कथमेकं विज्ञानं नीलपीतविषयकम्। ज्ञानाकारयोर्नीलपीतयोः सतोर्भिन्नत्वेन तदाकारकं विज्ञानं कथमेकं स्यात्? विरुद्धाकारकयोः घटपटयोरिव विरुद्धाकारकज्ञानस्यापि भिन्नत्वमेवेति नैकं नीलपीतविषयकं विज्ञानमेकं भवितुं योग्यम्। **रत्नकीर्तिमतेन** आशङ्कते – **चित्राकारमिति चेदिति**? नीलपीतविषयकं ज्ञानं न द्वयदर्शि, न वा अद्वयदर्शि, किन्तु चित्राकारमिति न पूर्वोक्तदोष आपतति इति चेत्? नैयायिकैस्त्वेकगुणपरश्चित्रः कर्वुरात्मा अत्र विवक्ष्यते, किं वा अनेकगुणपरश्चित्रशब्दो विवक्ष्यते? रूपस्य व्याप्यव त्तित्वेनैकस्मिन् पटे न नानारूपाणि वर्तन्ते। रूपं विना पटस्य न प्रत्यक्षत्वमिति शुक्लादिविलक्षणं कर्बुरात्मकं चित्ररूपं मन्यन्ते नैयायिकाः। यदि रूपं न व्याप्यव त्ति तदा चित्रपटे शुक्लनीलादिकमनेकं रूपमेव लाघवात् स्वीकरणीयमित्यन्ये इति विकल्प्य समाधत्ते – **चित्रमेकमनेकं वेति विकल्पगिलितमेव तव पश्यतः। अनेकत्वे क्व एकविज्ञानतादात्म्यम्? विज्ञानस्यापि यावदाकारमनेकत्वे क्व चित्राकार-संवेदनम्? स्वस्वमात्रमग्नत्वात्। एकत्वे क्व भेदप्रतीतिः?** इति। नीलपीतादिविषयकं

चित्राकारज्ञानस्यैकस्य संभवतीति पश्यतस्तव चित्रमेकमनेकं वेति विकल्पगिलित–मेवास्ति। चित्रस्य अनेकरूपत्वेनानेकत्वे एकेन विज्ञानेन तादात्म्यं न संभवति। नह्यनेके एकाभिन्नाः संभवन्ति। एकानेकत्वयोः विरोधात्। नहि विरुद्धा संख्या एकत्र तिष्ठति। विज्ञानस्यापि नीलपीतादि यावदाकारम् (अव्ययीभावो त्र यावच्छ्लोक–मितिवत् समासः) अनेकत्वे क्व चित्राकारसंवेदनं, नीलपीतादिविषयकं ज्ञानम् भवितुमर्हति? त्वदभिलषितचित्रज्ञानस्य नीलपीतादिप्रत्येकविषयकत्वेन नीलज्ञानत्वं पीतादिज्ञानत्व च वर्तते, न तु चित्रज्ञानत्वं वर्तते, स्वस्वमात्रमग्नत्वात्। नीलपीतादि– नानाविषयेषु ज्ञानस्य मग्नत्वात्। चित्रज्ञानस्य एकत्वे क्व भेदप्रतीतिः? ययोः नीलपीतयोः भेदः तदनवगाहित्वेन अचित्रज्ञानस्य नीलपीतभेदाविषयकत्वात्।

अत्र **ज्ञानश्रियः** समाधानं शङ्कते – **अनीलाद्यनेकव्याव त्तिक तो-नेकत्वाध्यवसाय एवेति चेत्?** इति। विरुद्धनीलपीतादिविषयकचित्रज्ञाने यो नेकाध्यवसायः स अनीलापीताद्यनेकव्याव त्तितः, न तु विधिरूप नीलपीताद्यनेकत्वक तः। तथा च तत्र नीलपीताद्याकारशून्यत्वेन एकं चित्रज्ञानमिति सूपपन्नम् अलीकरूपाया पीतादिव्याव त्तौ वस्तुरूपज्ञानतादात्म्याभावात् इति चेत्? सिद्धान्ती पूर्वपक्षमुत्तरयति – **अतादात्म्ये कथं व्याव त्तीनामुल्लेखः? तादात्म्ये च कथम् अनेकत्वम्? एकत्वे पि क्व तत्क तो पि भेदाध्यवसायः?** इति। अनीलादिव्याव त्तौ ज्ञानेन सहातादात्म्ये कथं व्याव त्तीनाम् = अनीलादिव्याव त्तीनाम् उल्लेखः = अवभासः? नीलपीतादीनाम् कथं ज्ञाने अवभासः? अनीलादिव्याव त्तीनां ज्ञानेन तादात्म्ये सति ताद शव्याव त्तीनां तत्र स्फुरणे पि ज्ञानस्यैकत्वात् तत्तादात्म्यापन्न–ताद शव्याव त्त्यापत्त्या ताद शव्याव त्तिरूप–नीलपीतादिगतानेकत्वस्य तस्मिन् ज्ञाने वभासः स्यात्। तथा च नीलपीताद्यनेकविरुद्धधर्मावगाहि–चित्रज्ञाने तदनेकत्वस्यावभासः स्यात्।

नन्वस्तु ताद शव्याव त्तीनामप्यभेद एवेत्यत आह – **एकत्वे पीति**। व्याव त्तेरेकत्वे ताद शव्याव त्तिक तो पि कथं नीलपीतादीनां तत्र भेदाध्यासः स्यात्? अनेकव्याव त्त्यवभासे कथचिद् भेदावभासे पि तदेकत्वे नेकत्वाभावात् कयोर्भेदो वभासेत? स्फुरणमात्र–शरीरमनेकत्वम्। अतो व्याव त्तीनामेकविज्ञानतादात्म्ये पि नीलपीतादिरूपाणाम् अनीलापीतादिव्याव त्तीनां स्फुरणमात्रेण अनेकत्वमुपपद्यते इति शङ्कते – **उल्लेखो यम् अस्य विज्ञानस्य यदनेकत्वं नाम, न पुनस्तत्त्वान्तरमिति चेत्?** इति। चित्राकारस्य नीलपीतादिविज्ञानस्य यत् नीलपीतादीनामुल्लेखः = स्फुरणम् तदेवानेकत्वम्, अवास्तविकम्, अवास्तविकानेकत्वेन न तज्ज्ञानस्यानेकत्वम्। तथा च प्रतिशब्दवत्, अवास्तव एव नीलपीताद्युल्लेखश्चित्रज्ञाने स्फुर्यते न वास्तवो येन तदनुरोधात् ज्ञानस्यानेकत्वं भवेत्। अनेकत्वमेव न वस्तुसिद्धम् यच्चित्राकारे ज्ञाने त्वया आपाद्यते इति चेत्? न। विकल्पासहत्वेन कथयितुमशक्यत्वात्। **स्वरूपमस्वरूपं वेति वाच्यम्।**

नीलपीतादिविषयकचित्रज्ञानस्यानेकत्वं स्वरूपम् = ज्ञानस्वरूपम्। अस्वरूपम् = ज्ञानादन्यत् वेति त्वया वाच्यम्। **आद्ये अनेकस्वरूपमेकम् इति को न्यो वदेदसुस्थात्।** अनेकत्वं ज्ञानस्वरूपमिति प्रथमपक्षे चित्रज्ञानमेकम् नीलपीतादिस्फुरणम् (उल्लेखः) अनेकं तदपि ज्ञानस्वरूपमेव। तथा असुस्थात् व्यग्रादिचित्तादन्यः कः एकं ज्ञानमनेकरूपमिति वदेत्? वदतो व्याघात इति भयात् न को पि सुस्थः बुद्धिमान् जनो वदिष्यति। द्वितीयस्तु इष्यत एवास्माभिः किन्तु त्वया स्वीकर्त्तव्यम्। अनेकत्वं यत् चित्रज्ञाने नीलपीतादिविरुद्धमादाय वर्तते तत् न चित्रज्ञानस्वरूपम् इति अस्माभिरिष्यते एव, 'ज्ञानादभिन्नं न किमपि वस्तु' इति वादिना त्वया चित्रज्ञाने नीलपीतादिविरुद्धमादाय अनेकत्वमिष्यतां स्वीक्रियताम्। एवं स्वीकारे च स्वयंच्युतिर्भवति भवताम्। तथा च नीलपीतादिज्ञाने यदनेकत्वम् उल्लिख्यते तद् यदि चित्रज्ञानस्वरूपमेव, तदा ज्ञानस्यानेकत्वमवर्जनीयम्। यदि अनेकत्वं स्वरूपं ज्ञानभिन्नमेव ज्ञानेनोल्लिख्यते तदा भेदे पि (ग्राह्यग्राहकयोर्भेदे पि) ग्राह्यग्राहकभाव इति सिद्धं नः समीहितम् इति भावः। भ्रान्तिरसाविविति चेत्? नीलपीताद्यनेकत्वावगाहि चित्रज्ञानं भ्रमः। तदभाववति तत्प्रकारकत्वात् नानेकत्वसाधकमिति चेत्? पूर्वविकल्पा–सहत्वेन अस्यापि त्वत्कथनस्यायुक्तत्वादिति प्रतिपादयति सिद्धान्ती – **तस्यामपि स्वरूपमस्वरूपं वा प्रकाशेत, प्रकारान्तराभावादिति** इति। भ्रान्तिरपि ज्ञानमेव। तत्रापि पूर्वोक्तो विकल्पस्तदवस्थ एवेत्यर्थः।

स्यादेतत्। यथा तत् तत्तया परिस्फुरदपि न वस्तुगत्या तदेव। तथा तदप्यतत्तया परिस्फुरदपि नातदेव। ततः स्वरूपस्यातत्तया प्रथने पि न काचित् ग्राह्यलक्षणक्षतिरिति चेत्, यद्यतत्तापि परिस्फुरन्ती स्वरूपमेवास्य स्यात्, स्यादप्यस्योपन्यासस्य प्रस्तुतोपयोगः। अस्वरूपस्य कथं प्रकाश इति चेत् यद्यपि तथा वक्ष्यामः, तथाप्यतत्ता कथं तस्य स्वरूपमितीतो पि दीयतां द ष्टिः।

कश्चास्वरूपस्फुरणे दोषः। नायं भिन्नयोर्वेद्यवेदकभावो व्यापारनिबन्धनः, नियतस्य तस्याभावात्। नापि तज्जातिनिबन्धनः, कश्चित्कचित्प्रति ज्ञेय इति व्यवस्थानुपपत्तिप्रसङ्गात्। न हि निसर्गसिद्धानां गोत्वादीनामीद शी रीतिरिति चेत्, नन्वयमभेदे पि दोषस्तदवस्थ एव। तथाहि स्वस्य वेदनमिति नायं व्यापरनिबन्धनो व्यवहारः स्वात्मनि तदभावात्। नापि जातिनिबन्धनः साधारण्य-प्रसङ्गात्। न हि जात्यैव गौः स्वात्मानं प्रति न तु परं प्रतीति नियमो द ष्टः। न च ज्ञानं स्वस्येव परस्यापि वेदनं सर्वसर्वज्ञत्वापत्तेः।

ननु अविद्यासमारोपिताकारः पर्यनुयोगं नार्हतीति **रत्नकीर्तिमतेन** आशङ्कते – **स्यादेतत्। यथा अतदपि तत्तया परिस्फुरदपीत्यादि।** यथा अतदपि =

रजतभिन्नमपि शुक्तिरूपं वस्तु, तत्तया = रजततया स्फुरदपि, शुक्तौ इदं रजतमिति विज्ञाने रजतं स्फुरदपि न वस्तुगत्या तदेव = इदं शुक्तिरूपं वस्तु रजतमेव भवति। तथा तदपि नीलपीतादि– विषयकमेकं भिन्नज्ञानमपि अतत्तया अनेकतया परिस्फुरदपि वस्तुगत्या नातदेव = नानेकम्। ततः स्वरूपस्य = एकचित्रज्ञानस्य अतत्तया = एकभिन्नानेकतया प्रथते पि = भासमाने पि स्फुरणे पि भेदेन ग्राह्यग्राहकभावो भवेदिति बौद्धमते न काचिद् ग्राह्यलक्षणक्षतिरिति चेत्? एकचित्रज्ञाने अनेकत्वस्य असत्त्वेन अनेकत्वस्य तत्र भासमानादेव अनेकत्वस्य ग्राह्यत्वं सिद्ध्यति। ज्ञानस्यैकत्वं च सुस्थिरमिति न कापि क्षतिरिति चेत्? **यदि अतत्ता पि परिस्फुरन्ती स्वरूपमेवास्य स्यात्, स्यादप्यस्य उपन्यासस्य प्रस्तुतोपयोग इत्यादि।** अतत्ता = अनेकता, नीलपीतादिचित्रज्ञाने स्फुरन्ती यदि अस्य = चित्रज्ञानस्य, स्वरूपमेव स्यात् = अनेकता यदि चित्रज्ञानरूपा भवेत्, तदा स्यादपि अस्योपन्यासस्य = शुक्तौ रजतमिति ज्ञानोपन्यासस्य द ष्टान्तस्य प्रस्तुतोपयोगः = चित्रज्ञाने स्फुर्यमाणस्य नीलपीताद्यनेकत्वस्य चित्रज्ञानस्वरूपत्वे उपयोगः। चित्रज्ञानस्वरूपस्य अनेकत्वस्य कथं प्रकाशः स्फुरणम्? प थक्तया ग्राह्यग्राहकभाववादिनस्तव मते अनवयवस्य अनेकत्वस्य यथा चित्रज्ञाने भानम्, तथा अनवयवस्य घटादेरपि भानापत्तिः अविशेषात् इति भावः। यद्यपि ग्राहकभिन्नम् अस्वरूपमेव स्फुरतीति वक्ष्यामः, तथापि नीलपीताद्यनेकता कथं चित्रज्ञानस्य स्वरूपमिति इतो पि = अत्रापि दीयतां द ष्टिः। यदि चित्रप्रत्ययस्य अनेकतास्वरूपं स्यात् तदा तत्र स्फुर्यात्। नत्वेवं, तर्हि कथं सा स्फुरेत्? यदि अनेकता चित्रज्ञानस्वरूपा तदा चित्रज्ञानमनेकं स्यात् न त्वेकमिति भावः। ग्राह्यग्राहकयोः भेदे पि न ग्राह्यलक्षणक्षतिरिति स्वपक्षनिर्वाहाय सिद्धान्ती प च्छति – **कश्चास्वरूपस्फुरणे दोषः?** इति। अस्वरूपं ज्ञानभिन्नं बाह्यं, तस्य स्फुरणे को दोष इति तदर्थः।

ज्ञानश्रीः तत्र दोषमाह – **नायं भिन्नयोर्वेद्यवेदकभावो व्यापारनिबन्धन इति।** भिन्नयोः = परस्परभिन्नयोः ग्राह्यग्राहकयोः, वेद्यवेदकभावः = ग्राह्यग्राहकभावः व्यापारनिबन्धनः। नियतस्य तस्य = व्यापारस्य अभावात् = असत्त्वात्।

ननु ग्राह्यग्राहकयोः भेदे पि जातिनिबन्धन एव विषयविषयिभावो स्तु इत्यत आह – **नापि जातिनिबन्धनः** (वेद्यवेदकभावः)। कश्चिज् ज्ञेय इति व्यवस्थानु–पपत्तिप्रसङ्गात्। गोव्यक्तीनां गोत्वजातिनिबन्धनप्रत्यक्षत्वस्य स्वीकारे सकलगोव्यक्तीनां प्रत्यक्षत्वापत्तेः। गोत्वजातेः सर्वासु गोव्यक्तिषु गोप्रत्यक्षत्व–प्रयोजकगोत्वजातेः सत्त्वात्। न चेष्टापत्तिः। कश्चित् गौः ज्ञातः, कश्चिन्नेति सर्वानुभवविरोधापत्तेः। यथा नहि नैसर्गिकं गोत्वं कि चिदेव प्रति नान्यत्प्रति न तथा इति व्यवस्था द श्यते तथा एकस्य ज्ञानान्यस्य ज्ञानमिति न स्यात्, किन्तु सर्वासां गवादिव्यक्तीनां प्रत्यक्षत्वापत्तिः स्यादिति चेत्?

उत्तरयति सिद्धान्ती – **नन्वयमभेदे पि दोषस्तदवस्थ एवेति।**

ननु निश्चितं विषयस्य ज्ञानेन अभेदे पि अयं दोषस्तदवस्थः। तथाहि = स्वस्य वेदनम् = ज्ञानम् इति नायं व्यापारनिबन्धनो व्यवहारः। स्वात्मनि तदभावात् स्वव्यापाराभावात्। नहि स्वं प्रति स्वस्य व्यापारो द श्यते, किन्तु अन्यस्य व्यापारो भवति। भवतां मते ज्ञानभिन्नस्य वस्तुनो भवात्। नापि जातिनिबन्धनः स व्यवहारः। साधारण्यप्रसङ्गात्। तज्ज्ञानं सर्वस्यैव स्यात्। एतदेवाह – **नहि जात्यैव गौरिति।** ननु भवतु सर्वसाधारण्यम्, को दोष इत्यत आह – **न च ज्ञानं स्वस्येवेति**। ज्ञानं यथा स्वस्य तथा परस्यापि वेदनमिति सर्वेषां सर्वज्ञत्वापत्तेः।

न तत् कस्यचित्, किं तु वेदनामात्रमिति चेत्, तथापि स्वात्मन्यजडवत् परत्राप्यजडं स्यात्। परस्मिन्नन्धवत् स्वस्मिन्नप्यन्धं प्रसज्येत, जात्यैव तद्रूपत्वात्। जात्यापि स्वकारणात् क्वचिन्नियतरूपमेव तदुत्पन्नमिति चेत्, नैवमुच्चैर्बूयाः, परैरपि कदाचिदेवं श्रूयेत।

अभेदो स्तु मा वा। भेदं तु प्रकाशमानत्वेन व्यासेधाम इति चेन्न। वस्तुनि भेदनिव त्तेरेवाभेदरूपत्वात्।

अस्तु तर्हि भेदाभेदविधुरमेव चित्रम्, चेतोभेदे प्रकाशमानत्वायोगात्। अभेदे चित्रत्वानुपपत्तेरिति चेन्न। मिथोविरुद्धविधिद्वयविधिवत् तदुभयनिषेधस्याप्येकत्र विरुद्धत्वात्। न च सो प्यस्त्विति वाच्यम्। स्याद्वादावतारे तवापि दिगम्बरत्वप्रसङ्गात्।

शङ्कते – **न तत् कस्यचित्। किन्तु वेदनमात्रमिति चेत्?** इति। न च तद् वेदनं स्वस्य वेदनमिति वदामः। न कस्यचिद् तद् वेदनम् = न प्रतिसंबन्ध्यपेक्षं वेदनमित्यर्थः। अतो न स्वस्य वेदनमिति व्यापारनिबन्धन इत्यादि चोद्यस्यावकाश इति भावः। ननु न ज्ञानं स्वात्मानं प्रकाशयति येन प्रतिवन्दिदियं स्यात् (व्यापारनिबन्धनो जातिनिबन्धनो वेत्यादि प्रश्नस्य अवकाशः स्यात्)।

अत एवोक्तम् विज्ञानं जडरूपेभ्यो व्याव त्तमुपजायते।
इयमेवात्मसंवित्तिः तस्य या जडरूपता इति।

यथा तदीया स्वात्मनि अजडरूपता, तथा परं प्रति तथा = अजडरूपता स्यात्। परस्मिन्नर्थे (जडता) चेत् स्वस्मिन्नपि तथा (जडता) स्यादिति। सैव प्रतिबन्दिरित्याह सिद्धान्ती – **स्वात्मनि अजडवत् परत्राप्यजडं स्यात्, परस्मिन् अन्धवत् स्वस्मिन्नप्यन्धं प्रसज्येत, जात्यैव तद्रूपत्वात्।** इति। अयं भावः – ज्ञानं प्रकाशस्वभावत्वात् यथा स्वात्मानं प्रकाशयति, तथा परमपि प्रकाशयतु।

प्रकाशस्वभावस्योभयत्र तुल्यत्वेन विनिगमनाभावात्। तथा च सर्वः सर्वज्ञः स्यात्। यदि ज्ञानं जडस्वभावत्वात् परं न प्रकाशयति, तथा स्वात्मानमपि न प्रकाशयतु। जडस्वभावस्योभयत्र अविशेषेण विनिगमनाभावात् इति।

ननु स्वहेतुबलात् स्वस्मिन्नेवाजडरूपं ज्ञानमिति ज्ञानं स्वं प्रकशयति न तु परमिति **योगाचारः** शङ्कते – **जात्यापि स्वकारणात् क्वचिन्नियतरूपमेव तदुत्पन्नमिति चेत्?** इति। ज्ञानेन स्वकारणात् = पूर्वविज्ञानात्, समनन्तरप्रत्ययाद्वा अयमेव स्वभावो लभ्यते येन, स्वभावेन स्वात्मानं प्रकाशयति, न परात्मानमिति न पूर्वोक्तदोषस्यात्र अवसर इति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **नैवमुच्चैर्ब्रूयाः। परैरपि कदाचिदेवं श्रूयेत** इति। यथा स्वहेतुबलात् स्वस्मिन् एव अजड़त्वं ज्ञानस्य, तथा परं प्रति अप्रकाशकत्ववत् स्वं प्रति अप्रकाशकत्वं जात्या (स्वभावेन) समानम्। एकत्र युक्तेरभावात्। तथा च परमिव स्वमपि न ज्ञानं प्रकाशयिष्यति। ननु प्रकाशमानत्वादिहेतुभिर्नीलादीनां ज्ञानाभेदो न मया साध्यते। किन्तु ज्ञानाद् भेदमात्रं निषिध्यते नीलादिः। न ज्ञानाद् भिन्नं प्रकाशमानत्वात्, इति। यथा च नन्वयमभेदे पि दोषस्तदवस्थ एवेत्यादिना पूर्वोक्तेन अभेदपक्षे (ज्ञानविषययोरभेदपक्षे) दोषसाम्यमापादयितुं न शक्यते।

कि च ज्ञानविषययोरभेदे पि प्रकाशमानत्वनिराकरणमतन्त्रमित्याह पूर्वपक्षी – **अभेदो स्तु मा वा। भेदन्तु प्रकाशमानत्वेन व्यासेधाम इति चेत्?** इति। भेदनिराकरणमेव अभेदसाधनमिति न प्रकारभेद इति। सिद्धान्त्युत्तरयति – **वस्तुनि भेदनिव त्तेरेवाभेदरूपत्वात्** इति। न च शशविषाणादौ ज्ञानभेदनिषेधे तस्य ज्ञानाभेदापत्तिरिति वाच्यम्। तस्य अलीकत्वेन असत्त्वात्। तस्य अभेदस्य आपादयि–तुमशक्यत्वात्। कि च अत एव वस्तुनि भेदनिव त्तेरित्यत्र वस्तुनीत्यस्योक्तत्वात्। न शशश ङ्गादि वस्तु।

ननु नीलाद्याकारं विज्ञानस्य न नीलादिभ्यो भिन्नं नाप्यभिन्नम्। भेदे सति नीलादीनां प्रकाशमानत्वानुपपत्तिः। अभेदे नीलादीनामेकरूपतापत्तौ चित्ररूपत्वं विज्ञानस्य भज्येत इत्यभिप्रायेण आक्षेप्ता आह – **अस्तु तर्हि भेदाभेदविधुरमेव चित्रम्। चेतो भेदे प्रकाशमानत्वायोगात्, अभेदे चित्रत्वानुपपत्तेरिति चेत्?** इति। नीलपीतादिसमूहालम्बनचित्रज्ञाने यत् नीलाकारं भासते, तत् न तज्ज्ञानाद् भिन्नं, तदभासापत्तेः। नाप्यभिन्नम् ज्ञानस्यैकत्वेन तेषामनेकत्वानुपपत्तेः। अतो यत् नीलाद्याकारं तत्र भासते तद् न भिन्नं नाप्यभिन्नमिति न भेदाभेदपक्षयोर्दोषः संभवतीति चेत्? यथा गोभेदाभेदावेकत्र विधातुं न शक्येते, तथा निषेद्धुमपीत्याह समाधाता – **न मिथो विरुद्धद्वयविधिवत् तदुभयनिषेधस्याप्येकत्र विरुद्धत्वात्** इति। शङ्कते – **न च सो प्यस्तु इति वाच्यम्।** एकत्र विरुद्धोभयो प्यस्तु इति न वाच्यम्। तथा सति तव जैनमते प्रवेशापत्तिः इत्युत्तरयति – **स्याद्वादावतारे तवापि दिगम्बरत्वप्रसङ्गात्** इति। स्याद्–इत्यादिरूपो वादः स्याद्वादः जैनमतोक्त–सप्तभङ्गी वादः। तथा च

यद् यद् अनिष्टं मया आपाद्यते तत्र तत्र तवेष्टापादने दिगम्बरमतानुप्रवेश इति भावः। दिगम्बरो वदति 'भूतले घट' इत्यत्र, घटत्वेन घटो भूतले स्ति पटत्वेन नास्ति इत्येकत्र भूतले घटो स्ति नास्ति चेति।

अस्तु तर्हि चतुःशिखरीशून्यमेव चित्रम्, आश्चर्यरूपत्वात्। एकानेकत्वविरहे पि सत्त्वमित्याश्चर्यार्थो हि चित्रशब्द इति चेत्, अथ चतुः शिखरशेखरमेव किं न स्यात्। आश्चर्यरूपतायुक्तेस्तुल्यत्वात्। एकैकपक्षानुपपत्तिश्च यथा तन्निषेधपर्यवसायिनी तथा तदितरविधिपर्यवसायिन्यपि स्यादिति।

अपि चात्र वस्तुतश्चतुष्कोटिविरहे चेतसा भाषान्तरेणेदमुक्तम्। यदनात्मान एवैताश्चतस्रः कोटयो भासन्ते न वा प्रतिभान्तीति। तत्राप्रतिभासनमनुत्तरम्। प्रतिभासने तु ग्राह्यलक्षणायोगे पि ग्राह्यभाव इति चित्रमेतत्। तथा च चित्राद्वैताद्वरं चित्रद्वैतमस्तु प्रतिभासनानुरोधादिति।

स्यादेतत्। बहिरन्तरुभयथापि ग्राह्यलक्षणक्षतिरस्तु, प्रकाशमानत्वं तु नीलादीनामशक्यापह्नवम्। तावन्मात्रं चास्माकमभिमतमिति चेत्, तदेतद्विक्रीतगवीरक्षणम्। किमिदं हि प्रकाशमानत्वं यत् सर्वथा ग्राह्यलक्षणक्षतावपि न क्षीणम्। न प्रकाशसम्बन्धः, नियमानुपपत्तेरित्युक्तम्। न प्रकाशतादात्म्यम्, चित्रत्वानुपपत्तेरित्युक्तम्। तस्मान्नीलादीनां प्रकाशमानत्वं परिपालयता ग्राह्यलक्षणे यत्नः कर्तव्यः परिहर्त्तव्यं वा प्रकाशमानत्वम्। अन्यथा तपनीयमपनीय वाससि ग्रन्थिकर्तारमुपहससि, स्वयं च कनकमुपादाय गगना चले ग्रन्थिं करोषीति। सेयं सर्वप्रकारमसिद्धिः सर्वप्रकारं चानैकान्तिकत्वमिति।

शङ्कते – **अस्तु तर्हि चतुःशिखरीशून्यमेव चित्रम्, आश्चर्यरूपत्वात्, एकानेकत्वविरहे पि सत्त्वमित्याश्चर्यार्थो हि चित्रशब्द इति चेत्?** पदार्थो हि एको नेको वा भवति, नीलाद्याकारं ज्ञानं नैव एकम्, नीलपीतादिविरुद्धधर्माध्यासात्। नाप्यनेकम्, तथा(अनेक)प्रतिभासप्रसङ्गात्। एवं विरोधे वर्तमाने पि चैताद शं नीलपीतादिविषयकं ज्ञानम् इति महदाश्चर्यमिति आश्चर्यार्थकः चित्रशब्दो त्र चतुःशिखरीशून्यम् = भेदविधिः, अभेदविधिः, भेदनिषेधः, अभेदनिषेध इति चत्वारि शिखराणि (कोटयः) तच्छून्यं चित्रम् आश्चर्यस्वरूपत्वात्। न कर्बुरार्थकः चित्रशब्दो त्र इति चेत्?

समाधत्ते – **अथ चतुःकोटिशिखरशेखरमेव किं न स्यात्? आश्चर्यरूपतायुक्तेस्तुल्यत्वात्?** इति। चतुष्कोटिशून्यतापेक्षया लाघवात् चतुष्कोटिप्रधानताया एव चित्रत्वे भ्युपगन्तुमुचितत्वात्। आश्चर्यरूपतायुक्तेः = एकानेकत्वयोगे पि सत्वमित्यस्याः तुल्यत्वात्।

ननु ज्ञानज्ञेययोर्भेदे ज्ञेयप्रकाशयोगात्, ज्ञेयस्य ज्ञानाभेदे चित्रज्ञानस्य चित्रत्वानुपपत्तेः। ज्ञानस्यैकरूपत्वात्। विरुद्धानेकविषयकत्वं विना चित्रत्वस्य कथयितुमशक्यत्वात्। उभयात्मकत्वे = ज्ञेयस्य ज्ञानाद् भेदाभेदोभयात्मकत्वे विरोधात्। सहानवस्थानरूपविरुद्धयुक्तज्ञानभेदाभेदयोरेकत्र ज्ञेये सत्त्वाभावात्। ज्ञानभेदा–भेदानुभयात्मकत्वे पि विरोधस्य सत्त्वात्। मिथो विरुद्धद्वयवत् तदुभयनिषेधस्यापि एकत्र विरुद्धत्वमिति दर्शितत्वात्। अतः चतुःशिखरशून्यत्वमेव युक्तम्। अत आह – **एकैकपक्षानुपपत्तिश्च यथा तन्निषेधपर्यवसायिनी तथा अतद्विधिपर्यवसायिन्यपि स्यादिति**। यथा एकैकपक्षानुपपत्तिः, तत्तत्पक्षनिषेधपर्यवसायिनी, तथा तदिरतपक्षविधिपर्यवसायिनी भविष्यतीति। ताभिरेव अनुपपत्तिभिः चतुःशिखरिशेखरत्वम् एव स्यात्। निषेधापेक्षया विधौ लाघवात्। किं च नन्वेकपक्षानुपपत्त्या = ज्ञानाद् भेदाभेदयोः भेदनिषेधाभेदनिषेधयोः ज्ञेये अनुपपत्त्या सर्वचोद्यभावाच्छून्यता (ज्ञेयस्य शून्यता) स्यादित्यत आह – **एकैकेति**। यः पक्षो नोपपद्यते तस्य यथा निषेधस्तथा तद्विपरीतपक्षस्यापि विधिरित्यर्थः, इति **शङ्करमिश्राः।**

ननु ज्ञेये ज्ञानाद् भेदाभेदौ भेदनिषेधाभेदनिषेधौ वा इत्येताश्चतस्रः कोटयो भासन्ते न वा? आद्ये – ज्ञानाद् भिन्ना एव भासन्ते इति ग्राह्यलक्षणाभावादपि भानमित्येकं चित्रम्। (ज्ञानाद् भिन्नं हि ग्राह्यमिति ग्राह्यलक्षणाभावादपि ज्ञानं हि प्रकाशते न ज्ञानभिन्नं प्रकाशते।) एकानेकविधुरम् एकमेव ज्ञानं सदित्यपरं चित्रम्। तथा च चित्रद्वैतम् एव अङ्गीक्रियतां प्रतिभानस्य आवश्यकत्वात्। ततः कोटयो न भासन्त इति पक्षः स्ववचनविरोधादेव त्याज्यः। अभाने चतुष्कोटिशब्दप्रयोगस्यैव अनुपपत्तेः इत्यभिप्रायेणाह सिद्धान्ती – **अपि चात्र वस्तुतश्चतुष्कोटिविरहे चेतसो भाषान्तरेणेदमुक्तम् - ''यदनात्मान एवैताश्चतस्रः कोटयो भासन्ते न वा प्रतिभान्ति'' इति। तत्राप्रतिभासनमनुत्तरम्। प्रतिभासने तु ग्राह्यलक्षणायोगे पि ग्राह्यभाव इति चित्रमेतत्। तथा च चित्राद्वैताद् वरं चित्रद्वैतमस्तु प्रतिभासानुरोधादिति।** अप्रतिभानमनुत्तरमिति। भानम् अप्रतिपत्तौ तदभावस्य = भानाभावस्य प्रत्येतुम् = ज्ञातुम् अशक्यत्वात्। घटमजानन् हि घटाभावं न जानाति। प्रतिभाने तु = ज्ञानानात्मभूतानां कोटीनां भाने तु, ज्ञानात्मकत्वस्य ग्राह्यलक्षणस्य अभावे पि ग्राह्यत्वमिति चित्रमेतत्।

ननु ज्ञानज्ञेययोर्भेदाभेदपक्षयोः उभयोरिव विचित्रत्वाविशेषात् भेदपक्षानुरागे को हेतुः ? अत आह – **तथा च चित्राद्वैताद्वरं चित्रद्वैतमस्तु, प्रतिभासनानुरोधादिति।** चित्रद्वैतम् = ग्राह्यलक्षणाभावे पि ग्रहणम् इत्येकं चित्रम्। तच्च ग्रहणम् एकत्वानेकत्वविधुरमिति तन्मतानुसाराद् अपरं चित्रमिति चित्रद्वैतं बोध्यम्। ज्ञानमेव स्वयं प्रकाशत्वात् भासते। ज्ञानात्मकत्वं ग्राह्यत्वमिति ग्राह्यलक्षणम्। ज्ञेयस्य ज्ञानानात्मकत्वेन अभानेन ग्राह्यत्वानुपपत्तिः। भेदपक्षे अनुरागे हेतुश्च प्रतिभासानुरोध

एव बोध्यः।

ननु नीलादयः प्रकाशात्मनः, प्रकाशमानत्वात् इत्येतावन्मात्रम् अस्मदभिप्रेतम्। न तु स्वस्य परस्य वा वेदनमित्यभिप्रायेण आशङ्कते – **स्यादेतत्। बहिरन्तरुभयत्रापि ग्राह्यलक्षणक्षतिरस्तु। प्रकाशमानत्वं तु नीलादीनाम् अशक्यापह्नवम्। तावन्मात्रं चास्माकमभिमतम् इति चेत्?** नीलादीनां ज्ञानस्वरूपत्वे अविरोधेन ज्ञानस्य चित्रत्वानुपपत्तिः। ज्ञानस्वरूपत्वे तेषां भानानुपपत्तिः। ज्ञानस्यैव स्वयं प्रकाशत्वेन भानात्। ज्ञानात्मकत्वं हि ग्राह्यलक्षणम् इति बौद्धेन स्वीक तम्। तथा च नीलादीनां ज्ञानाद् बहिः = बाह्यत्वम् भिन्नत्वमिति पक्षे ग्राह्यलक्षणक्षतिः। ज्ञानात्मकत्वस्य ग्राह्यलक्षणत्वमिति परैः स्वीक तत्वात्। नीलादीनामान्तरत्वे = ज्ञानाभिन्नत्वे ज्ञानस्य चित्रत्वानुपपत्तिः। नीलपीतादीनां विरुद्धानां भाने हि ज्ञानस्य चित्रत्वं संभवति, नान्यथा। नीलादीनां ज्ञानत्वेन अविरोधात् कुतश्चित्रत्वं स्यात्? **उभयत्रापि** इत्यत्र अन्यतरस्मिन् ग्राह्यलक्षणक्षतिरिति बोध्यम्। अथवा एकस्यां व्यक्तौ ग्राह्यत्व–ग्राहकत्वोभयस्य अभावेन नीलादीनां आन्तरत्वे पि (ज्ञानत्वे पि) ग्राह्यत्वक्षतिः। नीलादयः प्रकाशस्वरूपाः प्रकाशमानत्वाद् इत्यनुमानेन तेषां प्रकाशमानत्वं सेत्स्यति। तेषां प्रकाशमानत्वमेव अस्मदभिलषितम् इति चेत्? नीलादीनां प्रकाशमानत्वं त्वयैव दूरीक तम्। त्वयैव नीलादीनां ज्ञानभिन्नत्वे साध्ये प्रकाशमानत्वस्य हेतुत्वेन उपादीयते। हेतुश्च साध्यभिन्न एव ग्राह्यः। अन्यथा हेतोः साध्यस्येव पक्षे निश्चितत्वेन ततो नुमित्यनुपपत्तेः इत्यभिप्रायेण उपहासं करोति सिद्धान्ती – **तदेतद् विक्रीतगवीरक्षणम्। किमिदं हि प्रकाशमानत्वं यत् सर्वथा ग्राह्यलक्षणक्षतावपि न क्षीणम्। न प्रकाशसंबन्धो नियमानुपपत्तेरित्युक्तम्। न प्रकाशतादात्म्यम्, चित्रत्वानुपपत्तेः इत्युक्तम्। तस्मान्नीलादीनां प्रकाशमानत्वं परिपालयता ग्राह्यलक्षणे यत्नः कर्तव्यः। परिहर्तव्यं वा प्रकाशमानत्वम्। अन्यथा तपनीयमपनीय वाससि ग्रन्थिकर्तारम् उपहससि स्वयं च कनकमुपादाय गगना चले ग्रन्थिं करोषीति। सेयं सर्वप्रकारमसिद्धिः। सर्वप्रकार च अनैकान्तिकत्वमिति** इति। नीलादीनां जडत्वव्याव त्तये नीलादयः प्रकाश(ज्ञान)स्वरूपाः प्रकाशमानत्वादित्यत्र प्रकाशमानत्वं हेतुरुक्तः, तत्कथम्? हेतुश्च पराभिमतो द्विविधः। 'वह्निमान् धूमाद्' इत्यत्र, 'जन्यत्वादिनियतसंबन्धवान् अयं व क्षः शिंशपाया' इत्यत्र साध्यतादात्म्यवान् साध्यविशेषः, शिंशपा च व क्षविशेषः। गोरक्षणमिव नीलादीनां ज्ञानस्वरूपत्वं तस्य विक्रयणम्। हेतोः साध्याविशेषवारणाय साध्यहेत्वोर्भेद आवश्यकः। अन्यथा हेतोः साध्यस्येव पक्षे निश्चित्वेनानुमित्यनुपपत्तेः।

किमिदं प्रकाशमानत्वं नीलादौ वर्तते यत् सर्वथा ग्राह्यलक्षणक्षतावपि न क्षीणम् = नष्टम्। प्रकाश(ज्ञान)संबन्धः (व्याप्तिः) व्यापाराराधनमन्तरेण नियमा(व्याप्ति) नुपपत्तेरिति त्वया उक्तम्। न प्रकाश(ज्ञान)तादात्म्यं नीलादीनां, चित्रज्ञानस्य चित्रत्वानुपपत्तेः। नीलपीतादीनां विरुद्धानां चित्रज्ञाने भासमानत्वे तस्य भेदप्रसङ्गः। तेषां ज्ञानस्वरूपत्वेन अविरोधात्। तज्ज्ञानस्य चित्रत्वानुपपत्तिरिति मयोक्तम्। तथा

चोभयथा पि नीलादीनां ज्ञानाद् भेदे अभेदे इत्युभयप्रकारे पि तेषां प्रकाशमानत्वम् अनुपपन्नम्। एव च, ज्ञानाद् तेषां भेदे पि विषयविषयिभावो भ्युपगम्यते इत्युपहासबीजं द्रष्टव्यम्। एतदभिप्रायेणैव उपसंहरन्नाह – **तस्मात् नीलादीनां प्रकाशमानत्वं परिपालयता त्वया ग्राह्यलक्षणे** (ज्ञानात्मकत्वं ग्राह्यत्वमिति लक्षणे) **यत्नः कर्तव्यः।** येन नीलादीनां ग्राह्यत्वं भवेत्। नीलादीनां **परिहर्तव्यं वा प्रकाशमानत्वम्। अन्यथा** (नीलादीनां प्रकाशमानत्वानिषेधे) तपनीयं सुवर्णम् अपनीय अपहृत्य, तपनीयस्थानं प्रकाशमानत्वम्, वाससि = वस्त्रे, वासःस्थानीयबाह्ये, ग्रन्थयन्तं बाह्यवादिनं नैयायिकं, बाह्यस्य प्रकाशमानत्वायोगात् प्रकाशमानत्वम् अपनीय ग्रथयति, इति उपहससि, इत्युपहासः **ज्ञानश्रिया** दत्तः। त्वं तु बाह्यस्य ज्ञानाकारत्वेन प्रकाशमानत्वम् उपादाय ज्ञानस्याकार एव ग्रथयसि नीलादीनां ज्ञानाद् भेदाभेदयोरपि ग्राह्यत्वलक्षणायोगेनानु–भयात्मकत्वात् प्रकाशाधारत्वानुपपत्तेरित्यर्थः। अत्र **नारायणीटीका** – अन्यथा = नीलादीनां प्रकाशमानत्वस्य अपरिहारे तपनीयं सुवर्णं तच्चात्र प्रकाशमानत्वम् तत् अपनीय = अपहृत्य, (नैयायिको नीलादीनामप्रकाशमानत्वं मन्यते) वाससि वस्त्रे तच्च प्रक ते बाह्यं नीलादि, तस्मिन् नीलादौ ग्रन्थिकर्ता वस्त्रे ग्रन्थिं करोषि। चौरः किमपि ग हीत्वा वस्त्रादौ निक्षिपति तथा नैयायिकः प्रकाशमानत्वरूपसुवर्णं ग हीत्वा ब्राह्यरूपवस्त्रे निलीय क्षिपति इति **ज्ञानश्रीः** उपहसति नैयायिकम्। प्रत्युपहसति नैयायिकः – बौद्धस्त्वम् स्वयं कनकं ग हीत्वा गगना चले ग्रन्थिं करोषि इति। नीलादीनां ज्ञानाभिन्नत्वे नीलपीतादिविषयकचित्रज्ञानस्य चित्रत्वानुपपत्तिः। ज्ञानस्याचित्रत्वात्। तेषां ज्ञानाद् भेदे ग्राह्यत्वानुपपत्तिः। ज्ञानात्मकत्वं हि ग्राह्यत्वमिति परैः स्वीक तत्वात्। अथवा नीलादीनां ज्ञानाकारता तावत्तपनीयं तत् त्वया नैयायिकेन परित्यक्तम्। बाह्यरक्षा– वाससि ग्रन्थिः स च त्वया नैयायिकेन क्रियते, तत् अनुपपन्नम्। न हि नीलादीनां ज्ञानाकारतातिरस्कारे बाह्यलक्षणस्थितिरिति नैयायिकं प्रति **ज्ञानश्रियः** बौद्धस्योपहासः। तं प्रति नैयायिक उपहसति – यथा ज्ञानाद् बाह्यनीलादिभेदे प्रकाशमानत्वं ग्राह्यत्वमिति ग्राह्यलक्षणाभावः। तथा तस्य संवेदनरूपत्वे पि ज्ञानाभेदे पि ग्राह्यलक्षणाभावः। नीलपीतादिविषयकज्ञाने चित्रत्वस्य रक्षणाय तस्य ज्ञानास्वरूपत्वमङ्गीकरणीयम्। तथा च सर्वथा ग्राह्यत्वलक्षणाभावे पि प्रकाशमानत्वस्य गगना चले ग्रन्थिकरणम् इति। सेयं प्रकारासिद्धिः = नीलादिः ज्ञानाभिन्नं प्रकाशमानत्वात्, सहोपलम्भाद्वा, इत्यादि हेतूनां नीलादौ ग्राह्यत्वस्य अनभ्युपगमे आश्रयासिद्धत्वम्। तेषां ज्ञानाद् भेदे अभेदग्राह्यलक्षणाभावात् स्वरूपासिद्धत्वम्। ज्ञानात्मकत्वं ग्राह्यत्वमिति परैः स्वीक तत्वात्। तद्व त्ति यावद्धर्मत्वं हि तदभेदे नीलादिषु ज्ञानाभेदे साध्ये उपाधिरिति सोपाधिकत्वाद् व्याप्यता–सिद्धत्व चेत्यर्थः। सर्वप्रकारकं च अनैकान्तिकत्वम् इति। प्रकाशमानत्वस्य अलीके भेदे = ज्ञानाद् भेदे नीलादिस्थे अपि गतत्वात् साधारणत्वम्, सपक्षविपक्षव्याव त्तत्वात् असाधारणत्वम्। अतएव अनुपसंहारित्वं चेत्यर्थ इति **शङ्करमिश्राः**।

एतेन द्वितीयः पक्षः प्रत्युक्तः। न हि सजातीयत्वेन ग्राह्यलक्षणवैधुर्यमुत्सार्यते, अतिप्रसङ्गस्य तादवस्थ्यात्। जडत्वे प्रकाशासम्भावनैवेति चेन्न, तुल्यत्वात्। यथा ह्यस्वसम्वेदनवादिनः परं प्रति प्रकाशमपि ज्ञानमात्मनि जडमेव। तथा स्वसम्वेदनमात्रवादिनो पि स्वात्मनि प्रकाशमानमपि ज्ञानं परं प्रति जडमेव। कथचित् बुद्ध्यन्तरे प्यजडं चेत्, बाह्ये पि तथा किं न स्यादिति सन्दिग्धविपक्षव त्तित्वम्।

ननु बाह्ये सर्वथैव ग्राह्यलक्षणक्षतिः। इह तु समानोपादानतानियमेन चित्राकारणां परमार्थभिन्नानामेव व्यतिवेदनसिद्धिः। न, मिथः, प्रथानियमे ह्युपादानमुखेन सामान्यतो वा सामग्रीसामर्थ्यमेव वक्तव्यम्। अन्यथा तथाविध-कार्यानुत्पत्तेः। तथा च बाह्यग्राह्यनियतस्वभावज्ञानोत्पत्तावपि सुलभमेतदिति पूर्वक एव दोषः।

अस्तु तर्हि त तीयः, सर्वथा ग्राह्यलक्षणानुपपत्तेः। तदभावे सामग्रीसामर्थ्य-स्याप्याश्रयितुमशक्यत्वात्। विचारसिद्धे हि वस्तुनि कारणचिन्तनावसरो न त्वविवेचित इति चेत्, किं ग्राह्यलक्षणानिर्वक्तव्यतया प्रकाशमानत्वममीषां निवर्त्तते सत्त्वं वा।

न प्रथमः। न हि लक्षणापरिज्ञानमात्रेण स्पष्टद ष्टमपि लक्ष्यमपह्नोतुं शक्यते। अपरिज्ञानस्य दुरूहत्वेनाप्युपपत्तेः। तेषामप्रतिभासे तन्निषेधस्यानुपपत्तेः।

न द्वितीयः, तदा हि तल्लक्षणानुपपत्तिः सत्त्वं निवर्त्तयेत्। यद्यसत्त्वे लक्षणमुपपद्येत, उभयथाप्यनुपपत्तौ को नुरागो सत्त्वे। तदेव लक्षणमिति चेत्, सत्त्वमेव किं न स्यात्। अतिप्रसङ्गादिति चेत्, तुल्यम्।

एतेन द्वितीयः पक्षः प्रत्युक्तः। ग्राह्यग्राहकभागयोः परमार्थसतोः अभिन्न–जातीयत्वमिति द्वितीयः पक्षः प्रत्युक्तः = निरस्तः। भावेनानैकान्तिकत्वेन नीलादीनां ज्ञानाभिन्नजातीयत्वपक्षो पि निरस्तः। कथं निरस्त इत्याह – **न हि सजातीयत्वेन ग्राह्यलक्षणवैधुर्यमुत्सार्यते, अतिप्रसङ्गस्य तादवस्थ्यात्** इति। सजातीयत्वेन नीलादिषु ज्ञेयेषु ग्राह्यलक्षणस्य ज्ञानात्मकत्वस्य विरहो हि नोत्सार्यते = न निष्कास्यते। सजातीयस्यापि ग्रहे ग्राह्यलक्षणस्य क्षतिस्तदवस्थेत्याह – **अतिप्रसङ्ग**स्येति। घटपटादीनां सर्वेषां ज्ञानजातीयतया घटज्ञानस्य पटविषयकत्व–प्रसङ्गस्तदवस्थ एवेत्यर्थः। सर्वेषां वस्तूनां ज्ञानस्वरूपत्वात्।

ननु नीलादेः ग्राह्यस्य जडत्वे प्रकाशमानत्वसंभावनैव नास्ति। अतो सम्भावित–प्रकाशस्य प्रकाशाभ्युपगमे तिप्रसङ्गः स्यात्। नैवमन्यत्रेति शङ्कते – **जडत्वे**

प्रकाशासंभावनैवेति चेत् ? नीलादीनां जड़त्वेन न प्रकाशस्य संभावनेति चेत्? परिहरति – **न, तुल्यत्वात्** इति। बाह्यस्य सर्वथा जड़त्वे तद्(ज्ञान)इतरत्वे च प्रकाशासंभावनायास्तुल्यत्वादित्यर्थः। एतदेव निदर्शनप्रदर्शनेन उपपादयति – **यथा ह्यसंवेदनवादिनः परं प्रति प्रकाशमपि ज्ञानमात्मनि जड़मेव यथा ज्ञानम्**। अस्वसंवेदनवादि– नैयायिकमते स्वभिन्नं विषयं प्रति प्रकाशो पि, न तावता स्वात्मन्यपि प्रकाशः किन्तु जडमेव स्वाग्राहकं हि जडम्। तथा स्वसंवेदनवादि– बौद्धादिमते स्वात्मानं प्रति प्रकाशो पि ज्ञानं स्वभिन्नं नीलादिं, स्वजन्यज्ञानान्तरं च प्रति जड़मेव। न ज्ञानं स्वभिन्नं प्रकाशयति। ननु ज्ञानजातीयस्यायं स्वभावो यत् स्वेतरमपि प्रकाशयति, न तु जडजातीयस्य एताद शस्वभावस्येत्यत आह – **कथ चिद् बुद्ध्ययन्तरे प्यजड चेत्?** इति। यथा प्रथमज्ञानं स्वं प्रकाशयति तथा ज्ञानान्तरमपि स्वं प्रकाशयति इत्येताद शस्वभावः ज्ञाने स्ति न जड़े इत्यर्थः। एवं सति विपक्षे बाधकाभावात् ज्ञानानां स्वेतरप्रकाशसामर्थ्ये स्वभिन्न–जडप्रकाशसामर्थ्ये प्यास्ताम् इत्युत्तरयति – **बाह्ये पि तथा किं न स्यादिति सन्दिग्धविपक्षव्याव त्तित्वम्** इति। अत्र **शङ्करमिश्रमते विपक्षव त्तित्वमिति** पाठः। तथा च विनिगमनाविरहात् ज्ञानाद् भिन्नत्वं नीलादीनां कथं न स्वीक्रियेत इति। नीलादि ज्ञानादभिन्नं प्रकाशमानत्वादित्यत्र तव हेतोः विपक्षात् = नीलादेः व्याव त्तिरस्ति न वेति सन्देहात् हेतोः विपक्षाद् व्याव त्तिः सन्दिग्धा। अथवा तव हेतोः विपक्षव त्तित्वासाधारणानैकान्तिकत्वमित्यर्थः। तथा च ज्ञानात्मकत्वं ग्राह्यत्वमिति ग्राह्यलक्षणमपि न युक्तम्। नीलादीनां ज्ञानभिन्नानां ज्ञानेन ग्राह्यत्वादिति भावः। अथवा विनिगमनाविरहाद् यथा ज्ञानजातीयस्य अयं स्वभावः कल्प्यते यत् स्वं प्रकाशयति तथा जडस्यापि किन्नैताद शः स्वभावः कल्प्यते इत्यपि केचिद् वदन्ति।

ननु अभिन्नमपि समानोपादानं ग हणाति इति नियमः। स च बाह्यानां नीलादीनां ज्ञानसाजात्ये स्यात्, न तु वैजात्ये इत्याह पूर्वपक्षी – **ननु बाह्ये सर्वथैव बाह्यलक्षणक्षतिः, इह तु समानोपादानतानियमेन चित्राकाराणां परमार्थभिन्नामेव व्यतिवेदनसिद्धिरिति**। अयमर्थः = नीलादेः बाह्यस्य ग्राह्यत्वे तस्य ग्राहक–ज्ञानादत्यन्तभेदात् समानोपादानत्वस्य ग्राह्यत्वनियामकस्याभावात्, नीलादेः सर्वथाग्राह्यलक्षणक्षतिः। ज्ञानात्मकत्वं ग्राह्यत्वमिति ग्राह्यलक्षणम्। इह तु नीलादेः ज्ञानस्वरूपत्वे, ज्ञानान्तरग्राह्यत्वपक्षे ज्ञानत्वेनाभेदात् वेद्यवेदकयोः ज्ञानान्तरेभ्यश्च तद्भावनियामकस्य समानोपादानत्वस्य विद्यमानत्वात्, चित्राकाराणां ग्राहकाद् विलक्षणाकाराणां परमार्थभिन्नानां केनचित्कस्यचिदेव वेदनं न सर्वेण सर्वस्य इत्येवं व्यतिवेदनसिद्धिः व्यवस्थितवेदनसिद्धिरिति। अत्र चित्राकाराणाम् = नीलधवलाद्याकाराणाम्, व्यतिवेदनम् = अन्योन्यवेदनमिति **शङ्करमिश्राः**। सिद्धान्ती तदुत्तरयति – **न। मिथः प्रथानियमे ह्युपादानमुखेन सामान्यतो वा सामग्रीसामर्थ्यमेव वक्तव्यम्। अन्यथा तथाविधकार्यानुपपत्तेः। तथा च बाह्यग्राह्यनियतस्वभाव-**

ज्ञानोत्पत्तावपि सुलभमेतद् इति पूर्वोक्त एव दोष इति। अनेनैव ज्ञानेन अस्यैव विषयस्य स्फुरणमित्येवं मिथः स्फुरणनियमे स्वोपादानक तसामग्रीसाहित्यं वा स्वकारणसाधारण्येन सामग्रीसामर्थ्यं वा निमित्तं वक्तव्यम्। अन्यथा (सामग्रीसामर्थ्यस्य अकथने) नियतस्वभावकार्यस्य क्वचिदप्यनुत्पत्तेरपि सुलभमेतत् = ज्ञानस्य नियत–विषयग्राहकत्वम्। किमपि सामग्रीसामर्थ्यं वेति पूर्वोक्तदोष एव = ज्ञानानां भेदे ग्राह्यग्राहकभावस्त्वया प्यङ्गीक त एव। तत्र नियामकं समानोपादानत्वं त्वयोच्यते। मया तु – स्वसामग्रीतः तथैव तज्ज्ञानमुत्पद्येत येन घटमेव ग ह्णति न पटमपीत्येतत् तुल्यम् इत्युच्यते। उपादानमुखेन विशेषः तथाविधेति। ज्ञानजातीयमपि स्वभिन्नमेव ग ह्णाति न स्वमपीति नियामकं तवापि कारणशक्तिभेद एवेत्यर्थ इति **शङ्करमिश्राः**।

शङ्कते – **अस्तु तर्हि त तीय** इति। यदि ज्ञान–तज्जातीयत्वे पि ग्राह्यत्वलक्षणं तदा त तीयः। अथ ग्राह्यांशस्य अलीकत्वमिति पक्षो स्तु। अत्र (ग्राह्यस्यांशस्यालीकत्वे) हेतुमाह – **सर्वथेति।** विषयस्य नीलादेः ज्ञानाद् भिन्नत्वे ज्ञानजातीयत्वे वा सर्वप्रकारेण ग्राह्यलक्षणानुपपत्तेः (ग्राह्यस्यालीकत्वमेव मन्तव्यम्)। ननु सामग्रीसामर्थ्यादेव विषयस्य ग्राह्यलक्षणं सेत्स्यतीत्यत आह – **तदभावे** इत्यादि। विषयस्य ग्राह्यत्वाभावे सामग्रीसामर्थस्य तव अभिलषितस्यापि आश्रयितुमशक्यत्वात्। सति धर्मे धर्मी भवति।

ननु कथं ग्राह्यत्वस्य अशक्यता इत्यत आह – **विचारसिद्धे ही**त्यादि। इदम् एवंलक्षणकम् इत्यव्याप्ति–अतिव्याप्ति–असंभव–दोषपरिहारेण निरूपिते वस्तुनि किमस्य करणमित्येवं कारणचिन्ताया अवसरो न त्वनिरूपिते, कारणबुभुत्साया एवाभावात्। तथा च ग्राह्यत्वस्यालीकत्वे किं कारणमस्य भविष्यति? अलीकस्य अवस्तुत्वेन अकार्यत्वम् इत्यस्य कारणत्वमपि न भवति। भावे एव कार्यकारणयोर्भावः। कारणाभावे स्वोपादानत्वस्येव कारणसमुदायसामग्रीसामर्थ्यस्यापि आश्रयितुम् अशक्यम् इति। तत्परिहरति सिद्धान्ती – तत् '**किं ग्राह्यलक्षणनिव त्त्या प्रकाशमानत्वममीषां निवर्तते सत्त्वं वा'? न प्रथमः।** ग्राह्यलक्षणं मन्मते सुवचमेव। त्वया निर्वक्तुं न शक्यते। एतावता नीलादीनां प्रकाशमानत्वं निवर्तते सत्त्वं वेति सिद्धान्तिप्रश्नाशयः। न नीलादीनां प्रकाशमानत्वं नास्तीति वक्तुं शक्यते। प्रकाशमानत्वलक्षणस्य अपरिज्ञानमात्रेण सर्वानुभवसिद्धमपि लक्ष्यं प्रकाशमानत्वं नापह्नोतुं शक्यते। प्रकाशमानत्वलक्षणापरिज्ञानमात्रस्य दुरूहत्वेनापि उपपत्तेः। कठिनत्वेन अल्पबुद्धिमतां न तज्ज्ञानं भवति।

कि च ग्राह्यानां नीलादीनामप्रतिभाने नीलादीनामलीकत्वमपि न कथयितुं शक्यते त्वया। अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वेन प्रतियोगि–नीलादिज्ञानाभावे नीलादि नास्तीति त्वया वक्तुं न शक्यते। यदि बाह्यानामप्रतिभासः तदा तत्र लक्षणं

नास्तीत्ययं निषेधो न घटते। ग्राह्यत्वेन तेषामेव अभिधानादित्यर्थ इति **मिश्राः।** प्राकरणिकत्वेन अयमेव अर्थो युक्तः। पूर्वोक्तो पि भवितुमर्हति।

न द्वितीयः। ग्राह्यलक्षणनिव त्त्या नीलादीनां सत्त्वं निवर्तते इति द्वितीयपक्षो पि न युक्तः। अत्र हेतुमाह – **तदा हि तल्लक्षणानुपपत्तिः सत्त्वं निर्वतयेत् यद्यसत्त्वे लक्षणमुपपद्येत, उभयथाप्यनुपपत्तौ को नुरागो असत्त्वे** इति। यदि नीलादिविषयाणाम् असत्वं विषयग्राह्यलक्षणनिर्वाहकं भवेत् तदा तत्कल्पयितुमुचितम्। विषयस्य नीलादेः सत्त्वे पि ग्राह्यलक्षणस्यानुपपत्तिः, लक्षणस्यापरिज्ञानाद् भविष्यति। तद् परिज्ञानं च दुरूहत्वेन भविष्यति। अथवा लक्ष्याभावेन लक्षणस्यासत्त्वात्। ग्राह्यलक्षणास्यापरिज्ञानं भविष्यति इत्युभयथा पि ग्राह्यलक्षणस्य अपरिज्ञानसंभवे ग्राह्यस्य असत्त्वादेव ग्राह्यलक्षणापरिज्ञानमित्यत्र को भवतां दुराग्रहः। विनिगमनाविरहात् ग्राह्यलक्षणस्य अतिदुरूहत्वेन अपरिज्ञानम् अल्पबुद्धिमतो भवतः संभवति इति कल्पयितुं शक्यते विचारवद्भिः।

ननु नीलादीनां विषयाणां ग्राह्यत्वमेव लक्षणम् इति ग्राह्यलक्षणस्य अपरिज्ञानात् न लक्ष्यस्य अपरिज्ञानम्। किन्तु ग्राह्यस्य अलीकत्वात् असत्त्वेन अपरिज्ञानमिति शङ्कते – **तदेव लक्षणमिति चेत्?** इति। ग्राह्यत्वमेव ग्राह्यस्य विषयस्य लक्षणमिति विषयस्य ग्राह्यस्य नीलादेः ज्ञानाद् भिन्नस्य असत्त्वात् नीलाद्यसत्त्वे अनुराग उपपद्यते इति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **सत्त्वमेव किं न स्यात्?** इति। ग्राह्यस्य लक्षणं सत्त्वमेव किं न स्यात्? तथा च कथं तस्य अलीकत्वम्? अन्यथा सतः त्वदभिलषितज्ञानस्य अलीकत्वापत्तेः।

ननु नीलज्ञाने नीलस्य सत्त्वमेव ग्राह्यत्वम्। तदा सत्त्वाविशेषेण पीतादेरपि तत्र ग्राह्यत्वापत्तिरिति शङ्कते – **अतिप्रसङ्गादिति चेत्?** इति। अलीकत्वस्य ज्ञानभिन्नत्वस्य वा ग्राह्यत्वलक्षणे घटज्ञानमपि पटादिविषयकं स्यात्। ज्ञानभिन्नस्य तव मते अलीकत्वात्। ज्ञानभिन्नत्वेन घटपटाद्योरविशेषादिति समाधत्ते – **तुल्यम्** इति।

वेदनाधीनव्यवहारगोचरत्वमिति चेत्, अस्तु तावदिदम्। तस्यैवेति तु नियमः कुतः। सामग्रीतस्तथा वेदनोत्पत्तिरिति चेत्, तदेतत् सम्भाव्यते सति, न त्वसतीति विशेषः। यथा हि सति ज्ञानेनाभिलापः, तेन यत्नः, तेन प्रव त्तिः, तया तत्प्राप्तिः क्रियते न तथा अलीके तस्य प्राप्तुमशक्यत्वात्। शक्यत्वे वानलीकत्वात्। व्यवहारो प्ययमलीक इति चेत्, तर्हि सुतरां लक्षणाभावः, तद्द्वारस्याप्यभावात्।

शङ्कते – **वेदनाधीनव्यवहारगोचरत्वमिति चेत्?** इति। विकल्पज्ञाने असन्नपि भासते, भासनाच्च तद् व्यवहारो भवतीति विकल्प– ज्ञानाधीनव्यवहारगोचरत्वं

ग्राह्यत्वमिति ग्राह्यलक्षणं संभवतीति चेत्, उत्तरयति – अस्तु तावदिदम् तस्यैवेति नियमः कुतः वेदनाधीनव्यवहारगोचरत्वं ग्राह्यत्वमिति ग्राह्यस्य लक्षणमस्तु। नीलपीतयोः उभयोरसत्त्वाविशेषेण नीलज्ञाने पीतमपि कथं न भासते इति नीलज्ञानेन नीलव्यवहारो जन्यते न पीतव्यवहार इत्यत्र किं नियामकमिति? नियामकाभावात् नीलज्ञानाधीनपीत–व्यवहारगोचरत्वस्य पीते सत्त्वेन नीलज्ञानग्राह्यत्वं पीते पि आपद्येत्।

ननु सामग्रीसामर्थ्यं तत्र नियामकमित्याह – **सामग्रीतः तथा वेदनोत्पत्तिरिति चेत्?** इति। नीलज्ञानजनकसामग्री नीलग्राहकनीलज्ञानमेव उत्पादयति न तु पीतज्ञानम्। तद्विषयकं ज्ञान च तद्व्यवहारं जनयतीति पूर्वोक्तदोष इति चेत्? उत्तरयति – **तदेतत् सम्भाव्यते सति, न त्वसतीति विशेषः।** विषयस्य नीलादेः सत्त्वे एव तज्ज्ञाने तद्ग्राहकत्वं स्वसामग्रीसमुत्थं संभाव्यते, न तु तस्यासत्त्वे। ज्ञानस्य अर्थसामर्थ्यसमुत्थत्वात्। सामर्थ्य च धर्मरूपम्। सति धर्मिणि संभवति न त्वसति धर्मिणि। असतो धर्माभावात्। तथा च तदेतल्लक्षणं वेदनाधीनव्यवहार– गोचरत्वं ग्राह्यत्वरूपं ग्राह्यस्य लक्षणम्। सति ग्राह्ये नीलादिविषये भवितुमर्हति न त्वसति तस्मिन्निति विशेषः। सत एव व्यवहारगोचरत्वमिति दर्शयति – **यथा हि सज्ज्ञानेन अभिलापः, तेन यत्नः, तेन प्रव त्तिः, तया तत्प्राप्तिः क्रियते। न तथा अलीके। तस्य प्राप्तुम् अशक्यत्वात्, शक्यत्वे वा अनलीकत्वात्।** सति च नीलादिबाह्यविषये नीलमिदम् इति ज्ञानेन तस्य अभिलापः = कथनम्, तेन ज्ञानेन तत्र यत्नः, तेन यत्नेन तत्र नीलादौ प्रव त्तिः, तया प्रव त्त्या च नीलस्य प्राप्तिः क्रियते जनेन। न तथा अलीके ज्ञानात् यत्नः, यत्नात् प्रव त्तिः, प्रव त्त्या तस्य प्राप्तिः। तस्य अलीकस्य प्राप्तुमशक्यत्वात्। वस्तुनो हि प्राप्तिः, न अवस्तुनः। यदि नीलाद्यलीकस्य तज्ज्ञानेन तत्र यत्नः, ततः तस्य प्राप्तिः भवतीति चेत्? तर्हि नीलादिकं नालीकं किन्तु वस्त्वेव।

ननु नीलादिव्यवहारो पि अलीक एवेति तद्गोचरस्य नीलादेः न वस्तुत्वं किन्त्वलीकत्वम् एवेति शङ्कते – **व्यवहारो पि अयमलीक इति चेत्?** इति। उत्तरयति – **तर्हि सुतरां लक्षणाभावः तद्द्वारस्याप्यभावात्** इति। यदि नीलादिज्ञानम् अलीकविषयकम् नीलादिव्यवहारो प्यलीकः तदा ताद शव्यवहारगोरचत्वमपि अलीकमेव भवितुं योग्यम्। तथा च नीलादिग्राह्यलक्षणाभावः सुतरामायातः। व्यवहारद्वारस्य ग्राह्यलक्षणस्य अभावात्। तथा च वेदनाधीनव्यवहारगोचरत्वं संग्राह्यलक्षणं क तम्। तत् सुतरां न संभवति इति **योगचारमतखण्डनम्।**

अस्तु तर्हि सर्वथा विचारासहत्वमेव विश्वस्येति चेत्, तत्किमिदानीं तत्त्वोपप्लव एव काष्ठाशून्यता वा। न प्रथमः, इयतीं भूमिमारूढस्यापि विचारस्य निश्चलतायां प्रमाणाभावात्। भावे वा कथ तत्त्वोपप्लवः। अस्यैव विचारस्यानुप-प्लवात्। तत्समानन्यायस्यापि तथाभावप्राप्तेः, निष्फलत्वाच्च।

न ह्यस्यातिप्रव त्तिः फलम्, गगनास्वादनेनात प्तेः। ज्वाला (अलीक) कलापालिङ्गनेन तापानपनोदनात्। नाप्यतिनिव त्तिः, जडीभावमात्रे प्युपनिपाति-दुःखानिव त्तेः। न च दुःखमपि विचारासहमित्यहेयमेव, तथाविधस्य विचारे प्यनधिकारात्। नापि यथालोकं व्यवस्थितिः, विचारात् प्रागपि तस्याः पामरादिवदयत्नसिद्धेः। नापि परलोकमात्रान्निव त्तिः, तस्यैहिकतुल्यत्वात्। द श्यते हि तावदयमिति चेत्, यदि ज्ञानवचनो द शिस्तदा परो पि तथा। साक्षात्कार-वचनश्चेत्, इहैवानुमानादेरप्रव त्तिप्रसङ्गः। तदपि प्रत्यक्षमिति चेत्, आमुष्मिकमपि प्रत्यक्षमेव। तथापि किं विचारेण। तमन्तरेणापि तस्याः सुलभत्वात्। तामेवायं पुष्णातीति चेत् तुल्यलक्षणत्वात्। अरुचेरेव तत्र न प्रव त्तिरिति चेत्, तथापि किं विचारेण तमन्तरेणापि तस्यासुलभत्वात्। तामेवायं पुष्णातीति चेत् अविशेषादिहापि पुष्णीयादिति।

अथ शून्यवादिमाध्यमिकमतखण्डनम्।

ननु ग्राह्यं नसत्त्वेन नाप्यसत्त्वेन, न ज्ञानभिन्नत्वेन नाप्यभिन्नत्वेन विचारयितुं शक्यते चेत्? तदा विश्वस्य विचारासहत्वमेव उचितम् इत्याह – **अस्तु तर्हि सर्वथा विचारासहत्वमेव विश्वस्येति चेत्** ? उत्तरयति – **तत्किमिदानीं तत्त्वोपप्लव एव काष्ठाशून्यता वा?** इति। किं नीलादि–प्रप चस्य केनापि रूपेण अनिरूप्यत्वमेव साध्यते, अथवा अनिरूप्यत्वादेव प्रप चस्य शून्यतेति क्रमेण विकल्पार्थः। केचित्तु विचारासहत्वं प्रप चस्य किम् आवाभ्याम् एतत्पर्यन्तक तविचारेण सिद्धमेतद् यत्किमपि तत्त्वं नास्ति, सर्वं वा शून्यमिति क्रमेण विकल्पार्थः। काष्ठा = पर्यवसानम्। **न प्रथमः। इयत भूमिमारूढस्यापि विचारस्य निश्चलतायां प्रमाणाभावात्। भावे वा कथम् तत्त्वोपप्लवस्यैव विचारस्य अनुपप्लवात्। इयतीमिति।** प्रप चोपप्लवरूपाम् इयतीं भूमिमधिरूढस्य प्रप चतद्विषयस्य प्रतिज्ञाहेत्वादिरूपस्य विचारस्य निश्चलातायाम् = अनुपप्लवतायां प्रमाणाभावात्। अभ्युपगम्याह – **भावे वा कथं तत्त्वोपप्लवस्यैव विचारस्यानुपप्लवात्** इति। विचारस्य तस्य निश्चलतायां प्रमाणसत्त्वे वा कथं तत्त्वोपप्लवस्यैव विचारस्य अनुपप्लवात्। इति।

ननु तत्त्वोपप्लवसाधकविचारातिरिक्तस्यैव सर्वस्योपप्लवः साध्यते न तु सर्वतत्त्वोपप्लवविचारस्येत्यत आह – **तत्समानन्यायस्य अन्यस्य तथाभावप्राप्तेः, निष्फलत्वाच्च** इति। तत्त्वोपप्लव–विचारोपप्लवाभावसमानेन तद्भिन्नविचारस्यापि उपप्लवाभावात्। तत्त्वतः सर्वमुपप्लुतमिति विचारस्य अनिष्फलत्वाच्च। तथाहि – तत्त्वतः सर्वमुपप्लुतमिति विचारस्य सर्वार्थिनां सर्वत्र अप्रव त्तिर्वा फलम्, दुःखनिव त्त्यर्थिनां सर्वतो निव त्तिर्वा फलम्, यथा लोकव्यवस्थया परलोकनिव त्तिर्वा। तत्र हि सर्वतत्त्वोपप्लव–विचारस्य न सर्वार्थिनां सर्वत्राव त्तिः। दुःखनिव त्त्यर्थिनां सर्वतो निव त्तिर्वा फलं भवितुम्

अर्हति। शर्करास्वादनेनेव गगनास्वादनेन अत प्तेः। यथा जलकामिन्याद्यालिङ्गनेन तापनिव त्तिः, तथा ज्वालाकल्पनालिङ्गनेन न तापनिव त्तिः। अतः तत्फलार्थिनां तत्र न प्रव त्तिः संभवति। न वा तन्निव त्त्यर्थिनां तत्र प्रव त्तिः संभवति इति दर्शयति मूले – **न ह्यस्य अतिप्रव त्तिः फलमिति** सर्वतत्त्वोपप्लवविचारस्य सर्वार्थिनो सर्वत्राप्रव त्तिः फलं न भवितुमर्हति, गगनास्वादनेनात प्तेः, ज्वालाकलापा(समुदाया)लिङ्गनेन तापानपनोदनात्। किं वा सुखार्थिनां चन्दनादावेव नियता प्रव त्तिर्माभूत्? एतदर्थं सर्वोपप्लुतविचारारम्भ इत्याह – **न हीति।** तथा सति गगनादावपि प्रवर्तेत, न च ततः सुखमिति नैतत्फलमित्यर्थः।

ननु सर्वतत्त्वोपप्लवविचारेण तत्त्वोपप्लवे ज्ञाते मुमुक्षूणां सर्वथा निव त्तौ दुःखहानिः स्यात् (प्रव त्तिरेव दुःखस्य कारणम्)। एतदर्थं सर्वतत्त्वोपप्लवविचारारम्भ इत्यत आह – **नापि अतिनिव त्तिः। जड़ीभावमात्रे पि उपनिपातातिदुःखानिव त्तेः** इति। स्यादेवं यदि अतिनिव त्तौ दुःखविरहः स्यात्। न चैवमित्यर्थः। दुःखहेतोः निव त्तिरिव दुःखलौकिकपरिहारोपायेभ्यो पि निव त्तौ सत्यां तत्र दैवोपनिपातदुःखस्य न निव त्तिः भवति। दुःखहेतुनिव त्तिरिव दुःखपरिहारोपायादपि निव त्तिः जडीभाव उच्यते।

ननु दुःखपरिहारोपायेष्वपि प्रवर्तमानस्य हेयदुःखाभावः सिद्ध्येत् तदेव तु नास्ति। दुःखस्यापि विचारासहत्वात्, हेयत्वमेव असिद्धमिति चेत्? तत्राह – **न च दुःखमपि विचारासहमित्यहेयमेवे**ति। नन्वतिनिव त्तिरेव सर्वतत्त्वोपप्लवविचारस्य फलम्, जड़ीभूतस्यापि दुःखोपपत्तिः तदा अनिष्टं भवेद् यदि दुःखं हेयं न स्यात्। न चैवमित्याह – **न चेति मिश्राः।** उत्तरयति – तथाविधस्य (दुःखाहेयवादिनः) विचारे (सर्वतत्त्वोपप्लवविचारे) अपि अनधिकारात्। यः दुखं हेयमिति जानाति स एव सर्वतत्त्वोपप्लवविचारे धिकारी, न तु दुःखाहेयवादी तत्र विचारे धिकारी। स किमर्थं सर्वतत्त्वोपप्लवं विचारयेत्? प्रयोजनाभावात्। दुःखाहेयत्ववादिनो पि तद्विचारे प्य–नधिकारात्। सर्वे हि दुःखं जिहासया तद्धानोपायान्यथाज्ञाननिवारणाय वा तद्विचारे प्रवर्तन्ते। शङ्कते – **नापि यथालोकं व्यवस्थितिरिति**। लोकतः सिद्धादन्यत् किमपि तात्त्विकमित्येव विचारफलमित्यपि नास्ति। अत्र हेतुमाह – **विचारात् प्रागपि तस्याः पामरादिवदयत्नसिद्धेरिति**। विचारात्प्रागपि = किमपि तात्त्विकम् इति विचारात् प्रागपि कि चित् तात्त्विकमिति लोकव्यवस्थितेः पामरादिवद् अयत्नसिद्धेः। न हि पामराः विचारपूर्वं प्रवर्तन्ते।

ननु विचारेण तत्त्वोपप्लवे ज्ञाते स्वस्वार्थिनां नरकभीरूणां यागहिंसादौ प्रव त्तिनिव त्ती मा जायेताम् इत्येतदेव सर्वतत्त्वोपप्लवविचारस्य फलम्। सर्वतत्त्वोपप्लव–ज्ञानादेव स्वर्गनरकाद्यभावे ज्ञाते ततो भयस्य निव त्त्या यागादिहिंसादौ प्रवर्तेत इत्यत आह – **नापि परलोकमात्रान् निव त्तिः।** सर्वतत्त्वोपप्लवविचारस्य

फलमिति शेषः। उत्तरयति – **तस्य ऐहिकतुल्यत्वात्** इति। ऐहिकवत् पारलौकिकस्यापि सुखदुःखादेः ऐहिकसुखदुःखतुल्यजातीयतया ऐहिकतुल्यत्वेन जात्या (सामान्यलक्षणया) तस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्तेः। शङ्कते – **द श्यते हि तावदयमिति चेत्?** इति। इह लोके अयं प्रव त्तिनिव त्तिव्यवहारो द श्यते इति ऐहिकप्रव त्तिनिव त्ती स्यातामिति चेत्? विकल्प्य समाधत्ते – **यदि ज्ञानवचनो द शिः तदा परो पि तथा। साक्षात्कारवचनश्चेत्, इहैव अनुमानादेव प्रव त्तिप्रसङ्गः** इति। यदि द श्–धातुरत्र ज्ञानसामान्यवाचकः, तदा परो पि तथा = आगमात् परलोकस्य ज्ञानात् स्वर्गनरकज्ञाने यागादौ प्रव त्तिः, हिंसादौ निव त्तिश्च स्यात्। यदि साक्षात्कारवाचको द शिः, तदा इहैव अनुमानादेव प्रवर्त्तते इति नियमो नास्ति इत्यर्थः। आक्षिपति – **तदपि प्रत्यक्षमिति चेत्?** धूमेन पर्वते वह्निज्ञानमपि प्रत्यक्षमेव। इन्द्रियसन्निकर्षकाले बाह्यादिकमपि प्रत्यक्षमेवेति चेत्? समाधत्ते – **आमुष्मिकमपि प्रत्यक्षमेव तुल्यलक्षणत्वात्** इति। स्वर्गसुखं नरकदुःखं च प्रत्यक्षमेव। सुखत्व–दुःखत्व–रूप–प्रत्यक्षता स्वलक्षणस्य तयोरपि तुल्यत्वात्। **अरुचेरेव** = स्वर्गनरकादौ अविश्वासादेव **तत्र** = आमुष्मिकसुखे दुःखे च, **न प्रव त्तिरिति चेत्? तथापि किं विचारेण?** (सर्वतत्त्वोपप्लवविचारेण किम्?) तमन्तरेणापि तस्याः सुलभत्वात्। सर्वतत्वोपप्लवविचारं विनापि अविश्वासादेव परलोकसाधके यागे हिंसाया च प्रव त्तिः निव त्तिश्च भवेत्। शङ्कते – **तामेवायं पुष्णातीति चेत्?** परलोके अविश्वासरूपाभिरुचिमेव पुष्णाति सर्वतत्त्वोपप्लवविचार इति चेत्? समाधत्ते – **अविशेषादिहापि पुष्णीयादिति।** यथा आगमादिना निश्चिते पि स्वर्गे नरके च तयोः साक्षात्प्रत्यक्षत्वाभावेन अविश्वासं पुष्णाति सर्वतत्वोपप्लवविचारः। तेन तदर्थं यागादौ प्रव त्तिः। तथा पर्वतादौ अनुमानेन निश्चिते पि वह्नौ साक्षात्प्रत्यक्षत्वाभावेन अविश्वासं पुष्णाति इत्यनुमानम्, तेन वह्न्यर्थिनः प्रव त्त्यभावस्तुल्यः। प्रव त्त्यभावो यथा अत्र नेष्यते त्वया, तथा यागादावपि प्रव त्तिर्विधीयताम्।

सो यं पवनतनयवार्तामुपश्रुत्य तत्स्पर्द्धया बालवानरः कियदपि दूरमुत्प्लुत्य महार्णवे पतितः प्राह, अपार एवायमकूपारो मिथ्या रामायणमिति, तत् किमनेन। एवं ज्ञातुं निर्वक्तुं वा न शक्यते कीद शं जगदित्येतावन्मात्रमपि पामरदशावन्निष्फलमेव। न च निष्फलत्वे पि श्रद्धेयमिदं, तावत्परामर्श-पाटवाभावेनाप्युपपत्तेः। न हि जात्यन्धो नीलं ज्ञातुं निर्वक्तुं वा न शक्त इत्यज्ञेयानिर्वाच्यमेव तल्लोक इति।

अस्तु तर्हि शून्यतैव परमं निर्वाणमिति चेन्न। सा हि यद्यसिद्धा, कथं तदवशेषमपि विश्वमभिधीयते, वाङ्मात्रस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। परतश्चेत् सिद्धा, परो प्यभ्युपगन्तव्यो ग्राह्यलक्षणं चावर्जनीयमिति। स च परो यदि संव तिरेव, विश्वशून्यतयोर्न कश्चिद्विशेषः, कथं तदप्यवशिष्येत। असंव तिरूपश्चेत्

परः, परत एव तस्य सिद्धानवस्था। स्वयमसिद्धश्चेत् कथं शून्यत्वमपि साधयेत्। स्वतः सिद्धश्चेत्, आयातो सि मार्गेण।

सर्वतत्त्वोपप्लववादिनमुपहसति सिद्धान्ती – **सो यं पवनतनयवार्तामुपश्रुत्य तत्स्पर्द्धया बालवानरः कियदपि दूरमुत्प्लुत्य महार्णवे पतितः प्राह - ''अपार एवायमकूपारो मिथ्या रामायणम्'' इति तत् किमनेन?** इति। रामायणं श्रुत्वा पवनतनयस्पर्द्धी बालवानरः समुद्रलङ्घने प्रव त्तः कियद्दूरं गत्वा शक्त्यभावात् समुद्रे पतन् अपारो यं महार्णवः, रामायणं मिथ्येति अवादीत्। तथैव सर्वतः सर्वतत्त्वो–पप्लववादी समुद्रसद शि जगति सर्वतत्त्वोपप्लवं साधयितुमसमर्थः। कियन्तं तं विचारं क त्वा तद्विचारपर्यवसानमक त्वैव तत्र पतन् अवादीत् किमनेन निरर्थकविचारेणेति। तत्कथनं तस्य अबोधवानरसमुद्रलङ्घनतुल्यम्। अथैवं जगदिति स्वयं ज्ञातुं परं प्रति निर्वक्तुं वा अशक्यमिति अनिर्वचनीयतावादो पि निष्प्रयोजन इत्याह – **एवं ज्ञातुं निर्वक्तुं वा न शक्यते कीद शं जगदित्येतावन्मात्रमपि पामरदशावन्निष्फलमेव** इति। कि च ये जनाः वदन्ति ज्ञातुं विचारयितुं निर्वक्तुं वा न शक्यते कीद शं जगदिति जगतः अनिर्वचनीयत्वम्, ज्ञाननिर्वाच्याशक्यत्वस्यैनिर्वचनीयात्, तेषां जनानाम् अनिर्वचनमपि निष्फलम्। **पामरदशाया** इव।

ननु फलाभावे पि अनिर्वचनीयमश्रद्धेयमित्यत आह – **न च निष्फलत्वे पि श्रद्धेयमिदम् तावत्परामर्शपाटवाभावेनाप्युपपत्तेरिति**। यावता परामर्शेन जगन्निरूपयितुं न शक्यते ताद शपरामर्शपटुताया अभावेनापि जगन्निरूपणाभावस्य संभवेन जगतो निर्वचनीयत्वं तु न श्रद्धेयम्। अश्रद्धेयत्वं द ष्टान्तेन समर्थयति – **न हि जात्यन्धो नीलं ज्ञातुं निर्वक्तुं वा न शक्त इत्यज्ञेयनिर्वाच्यमेव तत् लोक इति।** यथा जन्मान्धः नीलं ज्ञातुं निर्वक्तुं वा न शक्त इति न नीलस्य अज्ञेयत्वम् अनिर्वाच्यत्वं वा संसारे भवति। तथा ईद शं जगदिति न जानाति मन्दबुद्धिः, न वा वक्तुं शक्नोतीति तस्य अज्ञानेन अनिर्वचनेन च जगतो न अनिर्वचनीयत्वं संभवति। ताद शपरामर्शपटुतायाः ताद शज्ञानाभावेन अभावात्।

आक्षिपति **शून्यवादी – अस्तु तर्हि शून्यतैव परमं निर्वाणमिति चेत्?** इति। यदि उक्तरीत्या अनिर्वाच्यं वस्तु तर्हि शून्यत्वे एव पर्यवसानं भवतु। तथा च शून्यत्वमेव तत्त्वम् इत्याक्षेपार्थः। तन्न युक्तम्। विकल्पासहत्वात्। सा शून्यता ज्ञाता अज्ञाता वा परमपर्यवसानम्। तत्रापि ज्ञाता स्वतो परतो वा? तत्र न तावत् अज्ञाता सेति पक्षः। तदाह – **सा हि यद्यसिद्धा, कथं तदविशेषमपि विश्वमभिधीयते। वाङ्मात्रस्य सर्वत्र सुलभत्वात्** इति। यदि शून्यता अज्ञाता तदा कथमशेषं विश्वं शून्यत्वम् अभिधीयते। अज्ञातस्य कथयितुमशक्यत्वात्। वचनमात्रस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। यथा भवान् कथयति सर्वं जगत् शून्यं तथा अहमपि कथयिष्यामि सर्वं जगत् सत्यमशून्यमिति वचने का दरिद्रता। सा शून्यता परतो ज्ञातेति पक्षो पि न युक्तः।

एतदेव कथयति – **परतश्चेत् सिद्धा** (ज्ञाता शून्यता) **परो प्युपगन्तव्यो ग्राह्यलक्षण च अवर्जनीयमिति** इति। यदि शून्यता परतो ग्राह्या इत्युच्यते, तदा शून्यतासाधकः शून्यताभिन्नो पि उपगन्तव्य इति कथं शून्यतैव अवशिष्यते इति संगच्छेत्? शून्यताभिन्नस्य शून्यतासाधकस्य त्वया स्वीक तत्वात्। **ग्राह्यलक्षणमिति**। परेण शून्यताभिन्नेन शून्यतासाधकेन परस्याः शून्यतासाधकाद् भिन्नायाः शून्यतायाः ग्रहणात् ग्राहकादन्यस्यापि ग्राह्यलक्षणमङ्गीकर्तव्यमिति।

कि च सः परः शून्यतासाधकः शून्यताभिन्नः, संव तिरूपो असंव तिरूपो वा, सत्यो असत्यो वा इत्यर्थः। न तावत् संव तिरूप इत्याह – **स च परो यदि संव तिः** (असत्य) **एवेति** इति। यदि शून्यतासाधकः शून्यताभिन्न असत्य एव तदपि विश्वस्य असत्यता इव शून्यत्वस्यापि असत्यता, युक्तिः उभयत्र तुल्या। कथं शून्यत्वमेव तत्त्वमवशिष्येत? इदानीं शून्यताया अपि त्वया अतत्त्वस्वीकारात् असत्त्वस्वीकारात्। उपायस्य असत्यत्वे विश्व– शून्यता पि त्वदभिलषिता न सती स्यादिति भावः। अथ असंव तिरूपः सत्यः शून्यतासाधकः सिद्धः ज्ञातः, असिद्धः = अज्ञातः, सिद्धो पि परतः स्वतो वा। तत्र परतश्चेत् तदा अनवस्थापातः। असिद्धश्चेत् = अज्ञातश्चेत् तदा असाधकः। स्वतःसिद्धश्चेत्तदा शून्यताया एव स्वतः सिद्धत्वसंभवे शून्यतासाधकः परो न कल्पयितव्यः। अन्यथा गौरवापत्तेः इत्यभिप्रेत्याह – **परत एव सिद्धावनवस्था** इति। वास्तविकात् पराद् ग्राहकाद् यदि शून्यता सिद्धा चेत् तर्हि शून्यतायाः पुनरपि ग्राह्यलक्षणत्वं दुर्वारमिति भावः। यदि स्वयमसिद्धः शून्यत्वसाधकः परः तदा कथं शून्यत्वं साधयेत्? स्वयमसिद्धः न परान् साधयतीत्यस्य अवसरः संप्राप्त इति, मनसि क त्य कथयति – **स्वयमसिद्धश्चेत्, कथं शून्यमपि साधयेत्** इति।

ननु मास्तु परः शून्यत्वसाधकः किन्तु शून्यतैव स्वतः सिद्धा इति मनसिक त्य कथयति – **स्वतः सिद्धश्चेत् आयातो सि मार्गेण** इति। यदि शून्यता स्वतः सिद्धा मन्यते त्वया तदा वैदिकेन मायावादिमार्गेण त्वम् आगतो सि।

तथा हि स्वतःसिद्धतया तदनुभवरूपम्, शून्यत्वादेव च न तस्य कालावच्छेद इति नित्यम्। अत एव च न देशावच्छेद इति व्यापकम्। अत एव तन्निर्धर्म्मकमिति विचारास्प ष्टम् तस्य धर्म्मधर्म्मिभावमुपादाय प्रव त्तेः। अत एव विशेषाभाव इत्यद्वैतम्, प्रप चस्यापारमार्थिकत्वाच्च। निष्प्रतियोगिकमिति विधिरूपम्। अविचारितप्रप चापेक्षया तु शून्यमिति व्यवहारः। तथापि प्रप चशून्यस्यानुभवमात्रस्य प्रप चेन सह कः सम्बन्धः। न च नायं प्रकाशत इति चेत्, वस्तुगत्या न कश्चित्, संव त्या तु गगनगन्धर्वनगरयोराधाराधेयभाव इव विषयविषयिभावः। स च यथा नैयायिकैः समर्थयिष्यते तथैव, वेद्यनिष्ठस्त्वसावस्मिन् दर्शन इति विशेषः। अविद्यैव हि तथा तथा विवर्त्तते

यथा नुभाव्यतया व्यवह्रियते। तत्तन्मयोपनीतोपाधिभेदाच्चानुभूतिरपि भिन्नेव व्यवहारपथमवतरति, गगनमिव स्वप्नद ष्टघटकटाहकोटरकुटीकोटिभिः। तदास्तां तावत्, किमार्द्रकवणिजो वहित्रचिन्तया। तस्मादनुभवव्यवस्थितौ अनात्मापि स्फुरतीत्यवर्जनीयमेतत्। तत्सिद्धौ तल्लक्षणमपि कि चिदस्त्येव।

कथमेवं वदतस्तन्मार्गानुश्रयणमित्यत आह – **तथाहि स्वतःसिद्धतया तदनुभवरूपम्** इति। नह्यनुभवादन्यस्य स्वतःसिद्धत्वमस्तीति शून्यतायाः स्वतःसिद्धत्वाङ्गीकारे तस्याः ज्ञानत्वापत्तिः। तथा च शून्यता ज्ञानरूपा स्वतःप्रकाशत्वा–दित्यनुमानम्। शून्यत्वस्य उत्पत्तिशून्यत्वादेव च न तस्य कालोपाधिः = कालावच्छेद इति नित्यत्वम् इति। शून्यत्वमात्रावशेषे स्वं यदि स्वावच्छेदकं स्यात् स्वभिन्नं स्यादिति स्वं प्रति स्वस्य अकारणत्वेन तद्भिन्नस्य च असत्त्वेन कारणाभावेन तस्य नोत्पत्तिः इति उत्पत्त्यभावात् नित्यत्वम्। नित्यत्वादेव च न देशावच्छेद इति तस्य व्यापकत्वम् अपरिच्छिन्नत्वम्। ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' उत्पत्तिविनाशरहितत्वं नित्यत्वम् व्यापकत्व च। तथा च शून्यत्वस्य नित्यत्वेन व्यापकत्वेन ज्ञानरूपत्वेन च ब्रह्मरूपत्वम् आयातम्। अत एव सत् निर्धर्मकमिति विचारास्प ष्टम्। तस्य धर्मधर्मिभावमुपादाय प्रव त्तेः। उत्पत्ति– विनाशकारणशून्यत्वादेव ब्रह्मरूपत्वादेव शून्यत्वस्य निर्धर्मकत्व–मायाति। मायावादि–वेदान्तिमते ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वात्। तथा च निर्धर्मकस्य ज्ञान–रूपस्य ब्रह्मणः शून्यत्वस्य विचारास्प ष्टत्वमिति कथं जगतः शून्यत्वविचारः त्वया क्रियते। विचारस्य धर्मधर्मिभावमुपादाय प्रव त्तेः। अतएव विशेषाभाव इत्यद्वैतम्। निर्धर्मकत्वादेव धर्मिणो विशेषाद् अद्वैतम्।

ननु निर्धर्मकत्वं ब्रह्मणि बाधितम्। नित्यत्वव्यापकत्वयोः तत्र अङ्गीक तत्वादिति चेत्? न। ब्रह्मणि नित्यत्व–व्यापकत्वयोरपि काल्प निकत्वेन तस्य निर्धर्मकत्वप्रसिद्धेः। ननु प्रप चाभावरूपस्य ब्रह्मणः कथं स्रष्ट त्वमित्यत आह – **प्रप चस्यापारमार्थिकत्वाच्च निष्प्रतियोगिकमिति विधिरूपम्** इति। अपारमार्थिकस्य अलीकस्य शशश ङ्गादभावो न भवति। तथैव प्रप चस्य अपारमार्थिकत्वेन अलीकत्वात् न तद्भावो भविष्यतीति ब्रह्माणि प्रप चाभावत्वस्य त्वया कथयितुम् अशक्यत्वात्, अभावस्य सप्रति–योगिकत्वनियमात्। अविचारितप्रप चापेक्षया तु शून्यत्वव्यवहारः इति त्वयि बुद्धिपटुत्वाभावस्य सत्त्वेन प्रप चो न सम्यग् विचारयितुं शक्यते त्वया। अतः प्रप चः शून्य इति यथा कथ्यते, तथा वेदान्तिमते पि अविचारितप्रप चापेक्षया तु ब्रह्म शून्यमिति ब्रह्मणि प्रप चाभावव्यवहारः। ''एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'', ''नेह नाना स्ति कि चन'' इति श्रुत्या जगतो मिथ्यात्वं वदन्ति वेदान्तिनः। ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इति श्रुत्या विधिरूपं ज्ञानरूपं व्यापक चेति वदन्ति। ब्रह्मभिन्नस्य मिथ्यात्वेन ''नेह नाना स्ति कि चन'' इति सिद्धेन जगतो अवास्तविकत्वेन बन्ध्यापुत्रस्येव शून्यत्वव्यवहारः। तेषां मते चतस्रः वस्तुनः सत्ताः भवन्ति। परमार्थत्वेन व्यावहारिकत्वेन

प्रातिभासिकत्वने तुच्छत्वेन च। परमार्थसत्पदार्थः यथा ब्रह्म। व्यावहारिकसत्पदार्थः घटादिः। प्रातिभासिकः 'शुक्तौ रजतम्'। तुच्छपदार्थः शशश ङ्गादिः इत्यलं प्रसङ्गेन।

ननु प्रप चशून्यस्य अनुभवमात्रस्य ब्रह्मणः प्रप चेन कः संबन्धः सदसतोः संबन्धाभावादिति शङ्कते – **तथापि प्रप चशून्यस्यानुभवमात्रस्य प्रप चेन कः संबन्धः? न च नायं प्रकाशत इति चेत्?** इति। अनुभवो वेदान्तिमते स्वयंप्रकाशते, प्रप चस्तु न तथेति तयोर्न तादात्म्यसंबन्धः। नापि आधाराधेयभावादिसंबन्धः। सत्ययोरेव तत्सबन्धत्वात् इति शङ्काया भावो बोध्यः इति चेत्? अनुभवप्रप चयोः वस्तुगत्या न संबन्धः, किन्तु काल्पनिक इति शङ्कामुत्तरयति – **वस्तुगत्या न कश्चित्** इति। अनुभव–प्रप चयोः वस्तुतो न को पि संबन्धो स्ति। ननु सबंन्धाभावे कथं स अनुभवे भासते इत्यत आह – **संव त्त्या तु गगनगन्धर्वनगरयोः आधाराधेयभाव इव विषयविषयिभावः। स च यथा नैयायिकैः समर्थयिष्यते, तथैव वेद्यनिष्ठस्तु असावस्मिन् दर्शन इति विशेषः** इति। अविद्यया प्रप चानुभवयोर्विषयविषयिभावः संबन्धः प्रतीयते। यथा अज्ञानेन गगने गन्धर्वनगर इति ज्ञानबलेन तयोराधाराधेयभावः प्रतीयते। स च विषयविषयिभावो यथा भाविविषयेण वर्तमानज्ञानस्य भवति तथैव वेद्यनिष्ठः विषयविषयिभावः अस्मिन् वेदान्तदर्शने भवति। नैयायिकैः वेदननिष्ठो विषयविषयिभावः स्वीक्रियते, वेदान्तिना तु वेद्यनिष्ठः स स्वीक्रियते। अस्मिन् मते ब्रह्मणः (= अनुभवस्य) निर्धर्मिकत्वादिति न्यायमतात् अस्ति विशेषः। एव च स विषयविषयिभावो यथा नैयायिकैरेव स्वभावविशेषतया समर्थयिष्यते तथैव अत्रापि दर्शने। अतो वेदान्तिनो नातिभारः। अयन्तु अस्मिन् दर्शने विशेषः यद् वेद्यनिष्ठो यं न तु वेदननिष्ठः, तस्य निर्धर्मकत्वादिति। विषयविषयिभावस्य सांव तिकत्वमेव (अविद्याजन्यत्वमेव, आविद्यकत्वमेव) विव णोति – अविद्यैव तथा तथा विवर्तते यथा यथा अनुभाव्यतया व्यवह्रियते। तत्तन्मायोपनीतोपाधिभेदाच्च अनुभूतिरपि भिन्नैव व्यवहारपथमवतरति, गगनमिव स्वप्नद ष्ट–घटकटाह–कोटर–कुटी–कोटिभिः। **तदास्तां तावत्। किमार्द्रकवणिजो बहित्रचिन्तया?** इति। **तस्मादनुभवव्यवस्थितौ अनात्मापि परिस्फुरति इति अवर्जनीयम् एतत्** इति। विवर्तः = अतात्विको न्यथाभावः। अविद्या, माया, अज्ञानानां पर्यायत्वं वेदान्तदर्शने। प चदश्यां यद्यपि शुद्धसत्त्ववती माया मलिनसत्त्ववती अविद्येति भेदो द श्यते, तथापि धर्मयोर्भेदे पि धर्मिणो भेदात् इति समाधेयम्। अविद्या यथा यथा विवर्तते तथा तथा अयं घटः, अयं पटः अनुभाव्यतया अनुभवविषयतया व्यवहारो भवति। न तु व्यावहारिको घटपटादिः पदार्थः सत्यः, किन्तु मिथ्याभूतः। तत्तन्मायोपनीते घटपटाद्युपाधिभेदाच्च 'अयं घटः' 'अयं पट' इत्यनुभूतिरपि भिन्नैव व्यवहारपथम् अवतरति। वस्तुतो न भिन्ना। घटानुभूतेः पटानुभूतिर्न भिन्ना अनुभूतित्वादिति अनुभूत्योरभेदं साधयति वेदान्ती। अत्र द ष्टान्तमाह – **गगनमिवेति।** स्वप्ने यो द ष्टः घटः कटाहश्च लौहनिर्मितपदार्थः, कोटरः = व क्षे पर्वते वा धोधरिरगुंफेति प्रसिद्धः, कुटी ग हविशेषः तेषां कोटिः संख्या

यद्यपि गगने नास्ति। तथा स्वप्ने तेषां व्यवहारः गगने अविद्यया भवति तथैव प्रक ते अविद्यया तत्तद्व्यवहारो ज्ञेयः। यथा आर्द्रकवणिजः आर्द्रकव्यापारिणः अतिक्षुद्रस्य बहित्रचिन्ता व्यर्था, बहुद्रव्यव्ययसाध्यबहिर्गमनसामर्थ्याभावात्। तस्य विदेशचिन्ता नाधिकारप्राप्ता, तथैव वेदान्तचिन्तायां वेदनिन्दकनास्तिकानां नाधिकारः। वेदे तस्य अविश्वासात्। अतो वेदसिद्धपदार्थचिन्ता तस्य नास्तिकस्य व्यर्था।

इदानीं ग्राह्यलक्षणनिरूपणाय अनात्मन एव ग्राह्यत्वं पूर्वोपपादितम् उपसंहरति – **तस्मादिति**। अनुभवव्यवस्था = अनुभवानुपप्लव इत्यर्थः। तस्मात् सर्वं शून्यमिति वादि–**माध्यमिकमते** शून्यत्वसाधकं ज्ञानं मन्तव्यम्। विषयस्य ग्राह्यत्वं विषयिणो ग्राहकत्वमिति विश्वस्य न शून्यत्वं भवितुमर्हति। ग्राहकस्य भावरूपपदार्थस्य अशून्यरूपत्वात्, विश्वान्तर्गतत्वाच्च। येन हेतुना विश्वस्य शून्यत्वं साध्यते स व्यभिचारी हेतुर्ज्ञाने भवति। ज्ञानासत्त्वे शून्यत्वमेव न सिद्ध्यति। ग्राहकं विना ग्राह्याभावात्।

तच्च बाह्याविरोधे ज्ञानानित्यतायां तन्निष्ठमुभयनिष्ठं वा। बाह्यविरोधे ज्ञाननिष्ठमेव, तन्नित्यतायां तु ग्राह्यनिष्ठमेवेति। तथाहि, लक्ष्यस्तावदत्र विषयविषयिभावः। स च प्रकाशस्य सतस्तदीयतामात्ररूपः स्वभावविशेषः। स्वभावत्वादेव च नोपकारान्तरमपेक्षते, तन्मात्रीयत्वादेव च नान्यदीयः।

किमस्य फलमिति प्रश्नप्रसङ्गे पि बहिस्तद्गोचरव्यवहारप्रव त्ति-रान्तरमपि तेन ज्ञाननिरूपणम्। कुतो यमीद गित्यनुयोगे पि सामग्रीशक्तिरेवोत्तरं कार्यकारणवत्। अन्यथा तत्राप्युपकारान्तरापेक्षायामनवस्था, तदनपेक्षायां (वा) साधारण्यं केन वार्यम्। तेन तदेव क्रियते, अनेनाप्येतदेव विषयीक्रियत इति विवेचनीयम्। विषयीक्रियते इति को र्थः, क्रियते इत्यपि को र्थ इति विचारणीयम्। कार्योत्पादनमेव करणं, तदीयतयोत्पत्तिरेव विषयीकरणमिति विवेचनीयम्। उपकारस्तु यथात्र विज्ञानस्वरूपातिरिक्तो नास्ति, तथात्रापि कार्यस्वरूपातिरिक्तो नास्तीति प्रतिसन्धेयमिति।

अतएव कार्यकारणभावो प्युपेक्षितव्य इति तु महत्साहसम्। तथा सति हि स्यादेव न स्यादेवेत्याद्यापद्येत। तथा च प्रकाशतमसोरन्यतरस्य कौटस्थ्यप्रसङ्गः।

अथ बाह्यग्राह्यत्वस्थापनम्।

बाह्ये ग्राह्यत्वं साधयति – **तत्सिद्धौ तल्लक्षणमपि किंचिदस्त्येव** इति। विषयनिष्ठग्राह्यत्वस्य सिद्धौ ग्राह्यत्वलक्षणमपि किंचिदस्त्येव। तल्लक्षणं विना तत्स्वरूपाज्ञाने तदसिद्धेः। अथैतद् ग्राह्यत्वलक्षणम् अस्मिन् दर्शने किं निष्ठम् इत्यत

आह – **तच्च बाह्याविरोधे ज्ञानानित्यतायां तन्निष्ठम् उभयनिष्ठं वा? बाह्यविरोधे ज्ञाननिष्ठमेव। तन्नित्यतायां तु ग्राह्यनिष्ठम् एवेत्यादि। तच्चेति**। विषयगत– ग्राह्यत्वलक्षण च बाह्यस्य प्रमाणाविरोधे बाह्यनिष्ठम्, ग्राह्यग्राहकोभयनिष्ठं वा? एतच्च न्यायदर्शने सत्यपि न स्वमतम्। इदं ज्ञाननिष्ठमेव स्वमतम् अन्यत्वेन देशितम्। बाह्यविरोधे बाह्याभावात् ज्ञाननिष्ठम्। अत्र तल्लक्षणमित्यनुषङ्गः। एतच्च **योगाचारमतम्**। तन्नित्यतायां = ज्ञाननित्यतायाम् ग्राह्यनिष्ठमेव। अनिर्वचनीयत्व– वादिमते ज्ञाननित्यतायाम् अनिर्वचनीयग्राह्यनिष्ठं ज्ञानस्य अनिर्धर्मिकत्वादिति। यदुक्तं **तत्सिद्धौ तल्लक्षणमपि कि चिदस्त्येवे**ति तदुपपादयति – **तथाहीति।** अस्मिन् ग्राह्यत्वविचारे लक्ष्यस्तावत् विषयविषयिभावः। स च विषयविषयिभावः। प्रकाशस्य = ज्ञानस्य सतः प्रकाशनीयतामात्ररूपः स्वभाव–विशेषः। स्वमतेन ज्ञाननिष्ठं लक्षणमुच्यते। सतो ज्ञानस्य विषयविषयिभावः ज्ञानीयतामात्ररूपः स्वभावविशेष इत्यत्र स्वभावविशेष इत्येतावन्मात्रोक्तौ शीतोष्णादीनामपि स्वभावविशेषत्वेन तत्र अतिव्याप्तिः। अतस्तद्वारणाय ज्ञानीयतामात्ररूपत्वं विशेषणं स्वभावविशेषे दत्तम्। ज्ञानेच्छयोः संबन्धे तिव्याप्तिवारणाय प्रकाशस्य सतः (ज्ञानस्य सतः) प्रकाशनीयतामात्रत्वं स्वभावविशेषे विशेषणं दत्तम्। स्वभावत्वादेव च = प्रकाशनीयत्वमात्रादेव च तदीयत्वसिद्धये ज्ञानोत्पत्तौ विषयजन्यत्वं नियामकम् उपकारान्तरं नापेक्षणीयम्। येन उपकारनियमसिद्ध्यर्थमपि उपकारान्तरापेक्षायाम् अनवस्था स्यादिति मात्रग्रहणस्य फलम्। प्रकाशमात्रीयत्वादेव प्रकाशभिन्नीयत्वस्य न तत्र संभवः। मात्रशब्दस्य इतरव्यावर्तकत्वात्। किमस्य फलमिति प्रश्नप्रसङ्गे बहिनस्तद्गोचरव्यवहारप्रव त्तिः, आन्तरमपि तेन ज्ञाननिरूपणम्। विषयविषयिभावस्य किं फलमिति प्रश्ने ज्ञानविषये बाह्ये प्रव त्तिः, विषयेण ज्ञानस्य निरूपणम् इत्यान्तरमपि फलमित्युत्तरं देयम्।

शङ्कते उत्तरयति च – **कुतो यमीद गित्यनुयोगे पि सामग्रीशक्ति-रेवोत्तरमिति।** कस्मात्कारणात् अयं प्रकाशः तदीयतामात्रस्वभाव इति प्रश्नस्य सामग्रीशक्तिरेवेत्येवोत्तरं बोध्यम्। यथा कारणं स्वकरणसामग्रीसामर्थ्यादेव कार्यविशेषं प्रति नियतस्वभावत्वम्, तथा प्रकाशस्यापि प्रकाशीयतामात्रस्वभावत्वं विषयविशेषं प्रति। कार्यविशेषं प्रति कारणस्य नियतस्वभावत्वे सामग्रीशक्त्यपेक्षत्वस्य अनङ्गीकारे उपकारान्तरापेक्षत्वस्यैव अङ्गीकारे अनवस्था स्यात्। तत्रापि अयं प्रश्नः तदवस्थः। उपकारान्तरे स स्वभावः कुत आयातः? तत्रापि उपकारान्तरापेक्षायां पुनः स एव प्रश्नो जागर्ति इति भवत्यनवस्था। तदीयत्व(प्रकाशीयत्व–)साधकोपकारान्तरा– नपेक्षायां तु सर्वज्ञानानां सर्वविषयसाधारण्यापत्तिः, नियामकाभावात्। तथा च घटज्ञानं पटमपि विषयीकरिष्यति। विषयविषयिभावस्य कार्यकारणभावस्य तुल्यतां दर्शयति – **तेन तदेव क्रियते, अनेनापि एतदेव विषयीक्रियत इति विवेचनीयम्** इति। तेन कारणेन दण्डेन घटकार्यमेव क्रियते इति यथा भवति, तथा अनेनापि घटज्ञानेन घटमेव विषयीकरोति न पटं विषयीकरोति इति स्वकारणसामर्थ्यस्य उभयत्राविशेषात्।

प्रश्नोत्तराभ्यां तदेव स्थिरयति – **विषयीक्रियते इति को र्थः? क्रियते इत्यपि को र्थ इति विचारणीयम्।** कार्योत्पादनमेव करणम्। तदीयत्वोत्पत्तिरेव विषयीकरणमिति विवेचनीयम् इति। यथा दण्डेन कारणेन घटरूपकार्योत्पादनं क्रियते इत्यर्थः। दण्डेन कारणेन घटः क्रियते इत्यस्य भवति। तथैव घटज्ञानेन घटज्ञानीयतोत्पत्तिरेव घटज्ञानेन घटो विषयीक्रियते इत्यस्य अर्थो विज्ञेयः। उपकारं दर्शयितुमाह – **उपकारस्तु यथा अत्र विज्ञानस्वरूपातिरिक्तो नास्ति तथा तत्रापि कार्यस्वरूपातिरिक्तो नास्तीति प्रतिसन्धेयमिति** इति। अत्र = विषयविषयिभावे यथा विषयस्य विज्ञाने उपकारः, नीलादिना नीलज्ञानजननम्, विषये विज्ञानस्य उपकारः नीलादिज्ञानीयत्वम्, तथा कार्यकारणभावे पि कार्ये कारणस्य उपकारः कार्यकारणरूपः। कारणे कार्यस्य उपकारः स्वकरणत्वरूपः इति विषयविषयिभावे कार्यकारणभावाद् विशेषो नास्ति किन्तु तुल्यतैवेति ध्येयम्।

ननु विषयविषयिभावस्य मया उपेक्षितस्य तुल्यत्वादेव कार्यकारण भावो पि उपेक्षितव्य इति चेत्? तत्राह – **अतएव कार्यकारणभावो पि उपेक्षितव्य इति तु महत्साहसम्** इति। कार्यकारणभावस्य उपेक्षितविषयविषयिभावतुल्यत्वादेव कार्यकारणभावो पि उपेक्षितव्य इति पूर्वपक्षि– बौद्धस्य कथनं महत्साहसम्। तत्कथनस्य महत्साहसत्वं प्रदर्शयति – **तथा सति हि स्यादेव न स्यादेव इत्याद्यापद्येत। तथा च प्रकाश-तमसोः अन्यतरस्य कौटस्थ्यप्रसङ्ग** इति। कार्यकारणभावस्य अस्वीकारे घटादिकार्यं सर्वदा स्यादेव कारणापेक्षणात्। तथा च घटादिकार्यस्य सार्वदिकत्वेन नित्यत्वापत्तिः। न चेष्टापत्तिः। घटादि कार्यं न सार्वदिकं दण्डप्रहारेण नाशादिति सर्वानुरोधात्। अथवा घटादिकार्यं न स्यात् = नोत्पद्येत, कारणं विना कार्यानुत्पादात्। कारणं विना कार्यानुपलब्धेः। नहि दण्डादिकं विना घटो जायते। कार्यस्य कारणा–पेक्षितत्वात्। कार्ये कादात्कत्वमिष्टम्। तच्च कारणापेक्षं विना अनुपपन्नम्। कार्यस्य सर्वदा सत्त्वे सत्वे दोषं दर्शयति – **तथा च प्रकाश-तमसोः अन्यतरस्य कौटस्थ्यप्रसङ्ग** इति। प्रकाशस्य नित्यसत्त्वे सर्वदा तस्य सत्त्वापत्तिः तस्य नित्यत्वात्। तस्य नित्यासत्त्वे सर्वदा तमसः सत्त्वापत्तिः। प्रकाशाभावस्यैव तमस्त्वात्। तथा च तयोरन्यतरस्य नित्यसत्त्वापत्तिः। अतः कार्यकारणभावः स्वीकार्यः। तदस्वीकारे च महत्साहसम्। हेतुविहीनस्य नियामकाभावेन नित्यं सत्त्वं नित्यमसत्वं वेति द श्यते।

सांव तो स्त्विति चेत्, विषयविषयिभावो प्येवमस्तु। यदि विषयकार्ययोर्बलवती बाधेति सांव तः। नो चेदेवमिति द्वयी गतिः।

तदत्र तत्त्वम्। न तावदुभयनिष्ठं लक्षणम्, सतो सतो वा स्थिरस्यापि स्फुरणात्। न च ज्ञाननित्यतायां पारमार्थिकबाह्यनिष्ठम्। सत्काकार्यवादव्याव त्तेः सांख्यप्रक्रियाविध्वंसात्। न खलु पूर्वापरतिरोभावाविर्भावावन्तरेण विचारस्या-

प्यवसरः। नाप्यलीकग्राह्यतया क्षणिकं ज्ञाननिष्ठमिति। तुच्छस्य विशेषाभावात्, ज्ञानस्य च निराकारत्वात्, अन्यत्राप्यप्रसिद्धेरारोपयितुमशक्यत्वात्।

अस्तु तर्हि पूर्वोक्तदोषात् कार्यकारणभावः, किन्तु नियामकाभावात् सांव त एवेति शङ्कते – **सांव तो स्त्विति चेत्?** इति। कार्यकारणभावः सांव तो अपारमार्थिको स्त्विति चेत्? उत्तरयति – **विषयविषयिभावो पि एवमस्तु। यदि विषयकार्ययोर्बलवती बाधा इति द्वयी गतिः** इति। विषयविषयिभावो पि संव त एवास्तु। विषयकार्ययोः बलवती सर्वदा सत्त्वम् बाधा (निषेधः) इति द्वयी गतिः (उभया गतिः) पर्यवसानम्।

एवं तल्लक्षणमपि (ग्राह्यत्वलक्षणमपि) कि चिदस्त्येव इत्युपपाद्य, इदानीं तन्निष्ठम् (विषयनिष्ठम्) उभयनिष्ठम् (ज्ञानविषयोभयनिष्ठम्) वा इत्यादिपक्षेषु निर्धारणं वक्तुं प च्छति – **तदत्र तत्त्वम्** इति। विषयनिष्ठं ग्राह्यत्वलक्षणम् किं वा ज्ञानविषयोभयनिष्ठम्? ज्ञाननिष्ठमेव वा किं वा ग्राह्यनिष्ठमेव वेति चतुर्षु पक्षेषु मध्ये कः पक्षो ग्राह्य इति प्रश्नाशयः। **न तावद् उभयनिष्ठं लक्षणम्।** ज्ञानविषयोभयगतं ग्राह्यत्वलक्षणं न युक्तम्। अत्र हेतुमाह – **सतो सतो वा स्थिरस्यापि स्फुरणात्** इति। सतो जात्यादेः, असतो वा प्रागभावादेः स्थिरस्यापि स्फुरणात् = तत्तज्ज्ञाने विषयत्वात्। बाह्यनिष्ठस्य कादाचित्कस्य ग्राह्यत्वस्य न सामग्रीसामर्थ्य– निबन्धनत्वं युक्तम्। अतो ज्ञाननिष्ठत्वमेव युक्तं न्यायदर्शने इत्यभिप्रायः। ज्ञानस्य नित्यतायां बाह्यस्य अनिर्वचनीयत्वे ग्राह्यनिष्ठमेव लक्षणम् इत्युक्तम्।

तत्र किं बाह्यस्य पारमार्थिकत्वेन ग्राह्यनिष्ठत्वम् इत्याशङ्क्याह – **न च ज्ञाननित्यतायां पारमार्थिकबाह्यनिष्ठमिति।** बाह्यस्य अपारमार्थिकत्वेन ग्राह्यनिष्ठत्वं बाह्ये, ग्राह्यत्वलक्षणं न पारमार्थिकत्वेन, ज्ञाननित्यतावादिमते ज्ञानभिन्नस्य अपारमार्थिकत्वात्।

ननु कथं न बाह्यस्य पारमार्थिकत्वमित्याह – **सत्कार्यवादव्याव त्तेः, सांख्यप्रक्रियाविध्वंसात् न खलु पूर्वपूर्वतिरोभावाविर्भावावन्तरेण विचारस्य अवसरः** इति। सत्कार्यवादस्याभावान्न बाह्यस्य पारमार्थिकत्वेन ग्राह्यत्वम्। ननु कथं सत्कार्यवादनिरास इत्यत आह – **सांख्यप्रक्रियाविध्वंसनात्** इति। तद्विध्वंसनं दर्शयति – **न खलु पूर्वापरतिरोभावाविर्भावावन्तरेण विचारस्य अवसरः** इति।

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।। इति

ईश्वरक ष्णोक्त–सत्कार्यवादकारिकाप्रोक्त–सांख्यमतसिद्धप्रक्रियाया वक्ष्य–माणबाधेन (न खलु पूर्व–पूर्वेति सूचितबाधेन) व्याव त्तेः। न ज्ञाननित्यतापक्षे बाह्यस्य पारमार्थिकत्वमिति कुतो बाह्यस्य पारमार्थिकत्वेन ज्ञानग्राह्यत्वं संभवति?

सत्कार्यवादस्यान्यस्य वा निर्णयः फलम्। एतच्च निर्णयरूपफलम्। निर्णयप्रागभावस्य सत्कार्यवादो स्ति न वा? घटः स्वोत्पत्तेः पूर्वम् आसीत् न वेति संशयस्य वा पूर्वस्य तिरोभावः उत्तरस्य निर्णयस्य आविर्भावेन विना न संभवति। अतो विचारारम्भेणैव सत्कार्यवादो बाध्यते इति सत्कार्यवादाभावात्। पूर्वस्य संशयस्य निर्णयप्रागभावस्य तिरोभावम् उत्तरस्य च निर्णयस्य आविर्भावं विना विचारस्य अवसरो पि न खलु भवतीति अक्षरार्थः। अतः पूर्वस्य निर्णयप्रागभावस्य, विप्रतिपत्तिवाक्यजन्यसंशयस्य च विचाराङ्गस्य नाशः, निर्णयस्योत्पत्तिश्च इत्येतद् द्वयम् अवश्यम् अङ्गीकार्यमिति। विनाशोत्पत्तिस्वीकारे कुतः कार्यस्य सत्यत्वं नित्यत्वापरपर्यायवाचि, आविर्भावतिरोभावौ च उत्पत्तिविनाशापरपर्यायौ।

अथवा प्रमाणेन तत्त्वपरीक्षारूपविचारस्य पूर्वपक्षनिराकरणं विना असंभवाद्, विप्रतिपत्तिविषयपूर्वोत्तरकोटीनाम् आर्विभाव–तिरोभावाख्योत्पत्तिविनाशानङ्गीकारे विचार एव न संभवतीति विचारारम्भसामर्थ्याद् एव सत्कार्यवादो बाधित इत्यभिप्रायो त्र द्रष्टव्य इति। **विज्ञानवादि-योगाचारमतं** निराकरोति – **नाप्यलीकग्राह्यतयां क्षणिकं ज्ञानष्ठिमिति। तुच्छस्य विशेषाभावात्। ज्ञानस्य च निराकारत्वात्। अन्यत्रापि असिद्धेः आरोपयितुम् अशक्यत्वात्** इति। क्षणिकं ज्ञानमेव सत्यम्। तद्भिन्नं सर्वं बाह्यम् असत्यमिति नीलविषयकमिदं ज्ञानं = नीलम् इत्याकारकं ज्ञानमिदम् इत्यलीकस्य नीलस्य ग्राह्यतायां क्षणिकनीलज्ञाने ग्राह्यत्वमस्ति न तु नीले। तस्य अलीकत्वेन ग्राह्यत्वाधारत्वासंभवात्। न हि बन्ध्यापुत्रः कस्याप्याधार इत्यपि न युक्तम्। तुच्छस्य नीलादेः शशश ङ्गादेश्च बाह्यात् घटपटादिरूपात् विशेषाभावात् नीलमिति ज्ञानं नीलविषयकम्, न तु तदन्यविषयकमिति कथयितुं न शक्यते। अलीकेषु नील–तदन्येषु विशेषाभावेन तस्यात्र अभिलषितस्य नीलस्य अपरिच्छेदकत्वात्। न ह्यलीकेषु तदीयत्वं ज्ञानीयत्वमपि संभवति। न हि बन्ध्यापुत्रः शशश ङ्गश्च मदीयः इति को पि वदति। अलीके वस्त्वाधारत्वाभावात्।

ननु ज्ञानाकाराणां नीलादीनाम् उल्लेखे न तदीयतारूपम् (ज्ञानीयता–रूपम्) लक्षणम् (ग्राह्यत्वम्) नीलादिषु संभवतीति चेत्? तत्राह – **ज्ञानस्य निराकारत्वात्।** ज्ञानस्य निराकारत्वेन नीलादीनां ज्ञानाकारत्वाभावादित्यर्थः। ननु नीलमिति ज्ञाने आरोपितनीलस्य उल्लेखेन तदीयत्वं नीले ग्राह्यत्वं संभवतीत्यत आह – **अन्यत्र अप्रसिद्धेः आरोपयितुम् अशक्यत्वात्** इति। क्वचित् प्रसिद्धस्यैव सत आरोपो भवतीति नीलादेः ज्ञानभिन्नस्य नीलमिति ज्ञानाद् भिन्ने प्रसिद्ध्या तस्यारोपासंभवात्।

असन्त एव विशेषकाश्चकासतीति चेन्न, असन्त इति ह्यतत्काला अतद्देशा इति वा अकिंचिद्रूपा इति वा नियतव्याव त्तिमात्ररूपा इति वा। प्रथमे कालदेशान्तरयोः सत्त्वप्रसङ्गः। द्वितीये त्वविशेषता। त तीये नीलस्याली-

कस्यानीलव्याव त्तिरूपतायामनीलानां पारमार्थिकत्वप्रसङ्गः। तेषामलीकत्वे तद्व्याव त्त्यात्मनो नीलस्यानलीकत्वापत्तिः। तथाप्यलीकत्वे विशेषत्वम्।

तेन रूपेणाविशेषत्वमेवेति चेत्, अथ विशेषः केन। नीलपीतादिनेति चेत्, तत् किं ततो धिकम्? अनलीकं तर्हि स्यात्। अनधिकं चेत्, कुतस्तेनापीति।

वासनावशाद्विशेषाः स्फुरन्तीति चेत्, स्फुरन्तु, कः कारणे विप्रतिपद्यते। ते तु नीलादया यद्यकिि चिद्रूपाः, कथं विशेषाः। तदितररूपेणाकिि चिद्रूपत्वे तेन रूपेण किि चिद्रूपा एवेति ब्रूमः। विचारासहतामात्रमलीकत्वमिति चेत्, तथापि भाषा परिवर्त्तनमात्रम्। विचारासहतायाः किि चिद्रूपत्वविरोधित्वात्। अविरोधे वा त्वद्विचारासहना अपि किि चिद्रूपा एव नीलादय इति विचारस्य दुर्विचारत्वप्रसङ्गः। तेन नीलादीनां छायामात्रस्याप्यनाक्रान्तेः। प्रविश वा अनिर्वचनीयख्यातिकुक्षिम्, तिष्ठ वा मतिकर्दममपहाय न्यायनयानुसारेण नीलादीनां पारमार्थिकत्वे।

तस्मात्—न ग्राह्यभेदमवधूय धियो स्ति व त्ति-
स्तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्रीः।
नो चेदनिन्द्यमिदमीद शमेव विश्वं
तथ्यं तथागतमतस्य तु को वकाशः।।१।।

अथासद्विशेषखण्डनम्।

असन्त एव विशेषाश्चकासतीति चेत्? नीलमित्यादिज्ञानेषु असन्तो नीलादयो ज्ञानाकारा विशेषा भासन्ते इति नीलपीतादिज्ञानेषु तत्तदाकार–रूप–नीलादिभेदेन परस्परभेदः संभवतीति चेत्? **न**। विकल्पासहत्वेन तस्य कथयितुमशक्यत्वात्। तथाहि – असन्त इति हि अतत्काला अतद्देशा इति वा? अकिि चिद्रूपा इति वा, नियतव्याव त्तिमात्ररूपा वा? ननु देशान्तरे कालान्तरे वा सन्तः अस्मिन् देशे असन्तः ते असन्त इत्युच्यन्ते इति। नीलादयो ज्ञानभिन्नास्तु सर्वथा असन्त इति कथम् असन्त इत्युच्यन्ते इति चेत्? न। अन्यथाख्यातेः भिन्ना खलु असत्ख्यातिः, अन्यप्रकारेण ख्यातिः = ज्ञानम्, अन्यथाख्यातिः। शुक्तेः शुक्तित्वभिन्नेन रजतत्वेन ज्ञानम् अन्यथाख्यातिर्भवति। असतः ख्यातिः = ज्ञानम् असत्ख्यातिः इत्युभयोर्भेदात्। बौद्धाः असत्ख्यातिं स्वीकुर्वन्ति, न तु अन्यथाख्यातिम्। अतः असन्त इति ह्यतत्कालाः = न विद्यते स कालो येषां ते अतत्कालाः। न विद्यते स देशो येषां ते अतद्देशाः, सर्वथा असन्त इत्यर्थास्ते इति। न विद्यते किि चिद्रूपं येषां ते अकिि चिद्रूपाः। नियतं व्याव त्तिमात्ररूपं येषां ते नियतव्याव त्तिमात्ररूपाः। नीलादयो हि अनीलप्रतियोगित्वेन नियतव्याव त्तिमात्ररूपा इति क्रमेण विकल्पार्थाः। **प्रथमे कालदेशान्तरयोः सत्त्वप्रसङ्ग**

इति मूलम्। असन्त एव ज्ञाने नीलादयो विशेषा भासन्ते इति तव कथनं न संगच्छते। नीलादिविशेषभिन्नकालदेशयोरपि असन्तरूपा अतत्काला अतद्देशा इत्यत्र तयोः घटकतया प्रतीतेरिति तयोरपि सत्त्वप्रसङ्गः। न चेष्टापत्तिः। तव भिन्नस्य असत्त्वात्। किं च असन्त एव नीलादयो विशेषा इति न स्यात्। नीलादिभिन्नकालदेशयोः विशेषयोः सत्त्वादिति भावः। द्वितीये अकिंचिद्रूपा असन्त इति पक्षे तु अविशेषता। असतः किंचिद्रूपत्वाभावे पि विशेषत्वाभाव इति भावः। किंचिद्रूपत्वाभावस्य अभावत्वेन विशेषत्वाभावात्। विशेषत्वस्य भाववृत्तित्वात्। तृतीये तु – असन्तो नियतव्यावृत्तिमात्ररूपा इति पक्षे तु (अथवा नियतव्यावृत्तिमात्ररूपत्वे तु) नीलस्य अलीकस्य अनीलव्यावृत्तिरूपतायाम् अनीलानां पारमार्थिकत्वप्रसङ्गः। तेषाम् अलीकत्वे तद्व्यावृत्त्यात्मनो नीलस्य अनलीकत्वापत्तिः। तथापि अलीकत्वे अविशेषत्वम्। नीलस्य नीलमिति ज्ञाने भासमानस्य तव मते ज्ञानभिन्नस्य अलीकस्य अनीलव्यावृत्तिरूपतायाम् अनीलभिन्नरूपतायाम् अनीलानां पारमार्थिकत्वप्रसङ्गः = परमसत्यत्वप्रसङ्गः। अपरमार्थं प्रति परमार्थस्य एव व्यावर्त्यत्वात्। परमार्थभिन्नो हि अपारमार्थिको भवति। सत्यभिन्नस्य एव असत्यत्वात्। अनीलानाम् अलीकत्वे अनीलव्यावर्त्यरूपस्य अनीलभिन्नस्य नीलस्य अनलीकत्वापत्तिः सत्यत्वापत्तिः। अलीकभिन्नस्य सत्यत्वात्। द्विविधो हि पदार्थः। अलीकः = असत्यः, अनलीकः = सत्यश्च। असत्याभावः सत्यः, सत्याभावः = असत्यः। एकस्य अलीकत्वे असत्यत्वे तद्भिन्नस्य अलीकभिन्नस्य अनलीकत्वम् सत्यत्वमिति विज्ञेयम्। अपरमार्थं प्रति परमार्थस्यैव व्यावर्त्यत्वात्। परमार्थव्यावर्त्यस्यैव अपरमार्थत्वात्, अपरमार्थव्यावर्त्यस्यैव परमार्थत्वात्। अपरमार्थानीलव्यावर्त्यस्य अनीलस्य अपरमार्थत्वे अपरमार्थानीलभिन्ननीलस्य अलीकत्वे अपरमार्थत्वे तस्य अविशेषत्वं स्यात्। विशेषत्वस्य सत्यवृत्तित्वात्। सत्य एव विशेषो भवति भेदको भवति न तु असत्यः अलीकः अभावः भेदको भवति। सत्यनीलो हि पीतपटाद् नीलपटं व्यावर्तयति = पीतपटप्रतियोगिकभेदं नीलपटे बोधयति। न ह्यभावो अभावं व्यावर्तयति। न हि घटः पटाभावाद् भिन्नो यं घटाभाव इति बोधयति। न ह्यभावो भावं व्यावर्तयति। न हि घटाभावः पटाभावं व्यावर्तयति।

तेन रूपेण अविशेषत्वमिति चेत्? नीलस्य अनीलव्यावृत्तित्वरूपेण अविशेषत्वमिष्टम् इति चेत्? सिद्धान्ती पृच्छति – केन रूपेण नीलस्य विशेषत्वमिति कथ्यताम् इत्यत आह – **अथ विशेषः केन ?** इति। नीलः केन रूपेण विशेषस्त्वया अङ्गीक्रियते, तत् कथयेति प्रश्नः। प्रतिवादी कथयति – **नीलपीतादिनेति चेत्?** इति। नीलो नीलत्वेन विशेषः भेदकः, पीतः पीतत्वेन विशेषः। नीलत्व–पीतत्वादिना नीलपीतादयो विशेषाः = भेदकाः भवन्ति। न तु अनीलादिव्यावर्त्यत्वेन = अनीलादिभिन्नत्वादिना। धर्मधर्मिणोः तादात्म्यत्वेन नीलत्व–पीतत्वादिनेति वक्तव्ये नीलपीतादिना इत्युक्तम्। नीलत्वं हि न जातिविशेषः, किन्तु अनीलव्यावृत्तिरूपं **बौद्धमते** इति चेत्? सिद्धान्ती तत् खण्डयितुं प्रश्नं करोति – **तत् किं ततः**

अधिकम् इति। तत् = नीलत्वादिकम्, ततः = अनीलादिव्याव त्तेः, अधिकम् = भिन्नं त्वं स्वीकरोषि? तदा नीलत्वादिकम् अनीलकं सत्यं स्यात्। अतद्व्याव त्तिरूपाद् अलीकाद् अनीलादिव्याव त्तेः अलीकात् अधिकस्य भिन्नस्य सत्यत्वापत्तिः अनलीकत्वापत्तिः स्यात्। अपारमार्थिक– भिन्नस्य पारमार्थिकत्वात्। वादी कथयति – **अनधिक चेत्** इति। अनीलादि– व्याव त्तिरूपात् नीलत्वादिकं नाधिकम् न भिन्नम् इति चेत्? ततः सिद्धान्ती प च्छति – **कुतस्तेनापीति** इति। तेनापि नीलत्वादिना निर्विशेषरूपाद् व्याव त्तेरभिन्नेन नीलादेः कुतो विशेषत्वम्? निर्विशेषव्याव त्तेः अनीलादिव्याव त्तेः अभिन्नस्य नीलत्वादेः निर्विशेषत्वेन विशेषत्वानुपपत्तिः। तथा च नीलत्वादेः विशेषस्य भेदकस्य अभावात् नीलादीनाम् अभेदकत्वमिति नीलपीतादिज्ञानानां परस्परभेदानुपपत्त्या नीलज्ञानात् पीतादिव्यवहारापत्तिः स्यात्।

वादी शङ्कते – **वासनावशाद् विशेषाः स्फुरन्तीति चेत्?** इति। निर्विशेषा अपि नीलादयो वासनावशाद् विशेषवत्तया स्फुरन्ति। भासभाना नीलादयो विशेषाः ज्ञानादिभेदका भवन्तीति चेत्? नीलादिभाने अनादि–वासनैव कारणं स्वीक्रियते। तत्र किं वक्तव्यम्? तत्तद्विषयकवासनैव तत्तद्वासनां प्रति कारणं त्वया वक्तव्यम्। उत्तरवासनां प्रति पूर्ववासना–कारणम्। अतः कारणे किमपि न वक्तव्यमस्ति, समुचितोत्तराशाया अभावात्। किन्तु नीलादयो कि चिद्रूपाः कथं ते विशेषाः = भेदकाः स्युः। अकि चिद्– रूपत्वेन तेषां कथं भेदकत्वं स्याद् इत्यभिप्रायेण उत्तरयति – **स्फुरन्तु, कः कारणे विप्रतिपद्यत इति। नीलत्वादीतरव्याव त्तिरूपेण नीलादेः अकि चिद्रूपा एवेति वयं सिद्धान्तिनो ब्रूमः।** तथा च नीलादेः कि चिद्रूपत्वे तु बाह्यवादस्त्वया स्वीक त इति भावः।

शङ्कते – **विचारासहतामात्रम् अलीकत्वमिति चेत्** इति। ग्राह्यम् (विश्वरूपम्) सत्त्वेनाप्यसत्त्वेन ज्ञानभिन्नत्वेनाप्यभिन्नत्वेन विचारयितुं न शक्यते चेत्? तदा विश्वस्य सत्त्वेनालीकत्वेन वा रूपेण विचारासहत्वात् अलीकत्वमायातम्। विचारासहतामात्रे अलीकत्वादिति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **तथापि भाषापरिवर्तनमात्रम्, विचारासहतायाः कि चिद्रूपत्वविरोधित्वात्। अविरोधे वा त्वद्विचारासहना अपि कि चिद्रूपा एव नीलादय इति विचारस्य दुर्विचारत्वप्रसङ्गात्। तेन नीलादीनां छायामात्रस्यापि अनाक्रान्तेः, प्रविश वा अनिर्वचनीयख्यातिकुक्षिम्, तिष्ठ वा मतिकर्दमम् अपहाय न्यायनयानुसारेण नीलादीनां पारमार्थिकत्वे** इति। **विचारासहेति।** अलीकस्यैव भाषान्तरमिति अलीक–विचारासह–शब्दयोः पर्यायत्वमिति। ग्राह्यत्वस्यालीकत्वपक्षे दत्तानि दूषणानि अत्राप्याक्रमन्ति। तथा च अलीकपक्ष इव अयं पक्षो दुष्टः। कि च नीलज्ञानं पीतज्ञानम् इति ज्ञानयोः परस्परभेदाय नीलपीतयोः कि चिद्रूपत्वमावश्यकम्, कि चिद्रूपत्वं विना तयोः विशेषत्वं = भेदकत्वम् नोपपद्यते। तथा च विचारासहतायाः किचिद्रूपतायाः सहानवस्थानरूपविरोधेन एकत्र नीलादौ व त्यनुपपत्त्या नीलादिः ज्ञानाभिन्न इति विचार एव कर्तुं न शक्यते। यदि उभयोः

तयोः अविरोधः तदा ज्ञानाभिन्ना एव नीलादय इति तव विचारसत्त्वस्य, पीतज्ञानाद् भिन्नं नीलज्ञानमिति विशेषरूपभेदक–नीलव त्ति–कि चिद्रूपत्वस्य च नीले सत्त्वेन नीलादेः विचारसहत्वमेव आयाति कुतो विचारासहत्वम् अलीकत्वं तस्य? तथा च नीलादेः विचारसहत्वे कि चिद्रूपा नीलादय इति विचारस्य दुर्विचारत्वापत्तिप्रसङ्गः। तेन नीलादीनां छायामात्रमपि नाक्रान्तम् नीलादयो बाह्यपदार्थाः सिद्धाः। यदि विचारासहत्वस्य कि चिद्रूपत्वस्य च विरोधे पि एकत्र समावेशमिच्छति भवान् तदा स्वेष्ट–असत्ख्यातिं परित्यज्य **शाङ्करवेदान्तस्या**निर्वचनीयख्यातिकुक्षिं प्रविश, तिष्ठ वा मतिकर्दममपहाय न्यायनयानुसारेण नीलादीनां पारमार्थिकत्वे। एव च सर्वथा तव मतो न युक्तः। पूर्वोक्तग्रन्थेन सिद्धमर्थं संक्षिप्य श्लोकेन उपसंहरन् आह – **तस्माद्**।

न ग्राह्यभेदमवधूय धियो स्ति व त्ति-
स्तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्रीः।
नोचेदनिन्द्यमिदमीद शमेव विश्वं
तथ्यं तथागतमतस्य तु को वकाशः।। इति।

ग्राह्यस्य नीलादेः स्वात्मनो ज्ञानात् भेदम् अन्तरेण धियो ज्ञानस्य तस्मिन् नीलादौ न व त्तिसंभवः। न तत्र ज्ञानस्य व त्तित्वसंभवः। विषयतासंबन्धेन ज्ञानस्य ग्राह्ये विषये न संबन्धितासंभवः। स्वस्मिन् आधाराधेयभावस्य अभावात्। अन्यथा 'घटो घटवान्' इत्यापद्येत्। व त्त्यनियामकसंबन्धेन व त्तित्वासंभवेन संबाधात्। तस्य ग्राह्यस्य बलवति बाधके सति वेदनये = वेदानुसारिणि अनिर्वचनीयसिद्धान्तन्याये जयश्रीः भवति। यदि ग्राह्यपारमार्थिकत्वे न बलवद् बाधकमस्ति, तदा नैयायिकनयानुसारेण तथ्यमेव विश्वं भवति। उभयथापि न ग्राह्यभेदवादावसरः संभवति।

तत्रालीकं विचारासहमनिर्वचनीयं वा, यमाश्रित्य, जगदुद्गीयते। स एव विचारश्चिन्त्यतां को सौ कीद शश्चेति। सतर्कं प्रमाणमेव वाक्यारूढमिति चेत्, तच्चेद्विचारासहं, किं तेन भौतविचारकल्पेन।

तथाहि, केनचिद्भौतेन राजद्वारि द्विरदमवलोक्य विकल्पितम् किमयमन्धकारो मूलकमत्ति, आहोस्वित् जलवाहो बलाकान् वर्षति गर्जति च, यद्वा बान्धवो यं, ''राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धव'' इति परमाचार्यवचनात्। अथवा यो यं भूमौ द श्यते तस्य छायेति।

दूषित च, तत्र नाद्यः, शूर्पयुगलप्रस्फोटनानुपपत्तेः। न द्वितीयः, तस्य स्तम्भचतुष्टयाभावात्। न त तीयः, तस्य लगुडभ्रामणाभावात्। न चतुर्थः तस्य नरशिरःशतोद्गिरणाभावात्। ततो न कि चिदिदमिति।

किमेतावता द्विरदस्वरूपं निवर्तताम्, यद्वा वरमेतस्माद् यो यं सो यमिति वादी द्वितीयो भौतः। तद्विचारसहमिति चेत्, एवं तर्हि स्वयमेव विलीनमलीकादिवादैः नोत्तरप्रतीक्षणमपि।

[अथ विचारासहविचारस्य भौतिकत्वम्]

इदानीं बाह्यग्राह्यबाधकाभिमतस्य विचारस्य विचारासहतया दुर्बलत्वं प्रतिपादयितुम् उपक्रमते – **तत्र अलीकं विचारासहम्, अनिर्वचनीयं वेति,** ग्राह्यग्राहकभागयोः परमार्थसतोः एव अभेदो विवक्षितः, उताहो भिन्नजातीयत्वम्। अथ ग्राह्यांशस्यालीकत्वम् इत्यत्र यदलीकत्वं तत् किं विचारासहम्, किं वा अनिर्वचनीयम्? यं विचारासहमाश्रित्य जगदुद्ध्रियते, स एव विचारासहविचारो विचार्यतां को सौ विचारासहः कीद शश्चेति। तर्कसहितं प्रमाणमेव वाक्यारूढं विचारः। एताद शप्रमाणमेव वाक्यारूढमेव वा विचारासहम्। किं तेन भौतविचारकल्पेन = भूतावेशितपुरुषविचारसद शविचारेण मूर्खविचारसद शविचारेण वा? तत्समये अनवधानमनस्केन सम्यक् विचारयितुं न शक्यते। केनचित् भौतेन = भूतावेशितेन मूर्खेण वा राजद्वारि द्विरदम् = हस्तिनम् अवलोक्य विकल्पितम् – किमयम् अन्धकारो मूलकम् अत्ति (खादति), आहोस्वित् जलवाहो मेघो बलाकान् (बकान्) वर्षति गर्जति च। यद्वा बान्धवो यम् – ''राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः'' परमाचार्यवचनात्। अथवा यो यं भूमौ द श्यते तस्य च्छायेति। दूषित च (तेनैव) नाद्यः (नायम् अन्धकारः) तस्य = अन्धकारस्य, शूर्पयुगलप्रस्फोटनाभावात्। न द्वितीयः (नायं जलवाहः), तस्य = जलवाहस्य स्तम्भचतुष्टयाभावात्। न त तीयः, नायं बान्धवः, तस्य = बान्धवस्य, लगुडभ्रमणाभावात्। कर्णे शूर्पत्वारोपः प्रथमे। द्वितीये पादयुगले, स्तम्भत्वारोपः। त तीये शुण्डे हस्तिकरे लगुडत्वारोपः। सर्वत्र हस्तिनि क्रमेण अन्धकारत्वारोपः, मेघत्वारोपः, बान्धवत्वारोपः। न चतुर्थः, नेयं छाया। तस्य = छायापदार्थस्य नरशिरःशतोद्गिरणाभावात्। अत्र गजे भूमौ यो यं द श्यः तस्य छायात्वारोपः। गजपुरीषपिण्डेषु नरशिरस्त्वारोपः। पायौ च आस्यत्वारोपेण उत्सर्जने उद्गिरणभ्रान्तिः। ततो न कि चिदस्ति। गजे पूर्वोत्तरविकल्पविकल्पिते तत्तद्बाधैः तत्तद्कल्पितानां खण्डिते च न कि चिदस्तीति गजे निश्चितम्। किमेतावता द्विरदरूपं निवर्तताम्। एतद्– द ष्टान्तेन जगति याः बौद्धानाम् असत्यः कल्पनाः, ताभिः किं जगद् बाध्यते ? न बाध्यते। यथा गजो मूर्खकल्पनाभिः पूर्वोक्ताभिर्न बाध्यते। यथा गजे मूर्खेण तत्तद्रूपम् उद्भ्रान्तं तथैव जगति बौद्धेन तेन तेन उद्भ्रान्तम्। तेषां भ्रमैः जगतः न का पि हानिः। यथावद् अवस्थितमेव तिष्ठति। केवलम् उद्भ्रान्तिमतां पुरुषाणामेव मूर्खता भवति। तया न वस्तुनो हानिः। यथा भौतविचारस्य विवक्षितासाधकत्वं तथैव। एवमेवं भौतविचारेण जगतो पि नालीकत्वं सिद्ध्यति इति तद्द ष्टान्तेन प्रतिपादितम्।

इदानीम् अनिर्वचनीयत्वं वदन्नपि (वेदान्ती बौद्धो वा) द्वितीयो भौतो न प्रथमाद् भौताद् विशिष्ट इत्याह – **यद्वा वरमेतस्मात् यो यं सो यमिति वादी द्वितीयो भौतः** इति। अत्र किम्–शब्दस्य अनुषङ्गः? एतस्मात् = प्रथमाद् भौतात् यो यं सो यं न निर्वक्तुं शक्यते इति वादी वेदान्ती बौद्धो वा द्वितीयः = प्रथमभौताद् भिन्नः। प्रथमस्तु द श्यमानं वस्तु नापलपति, किन्तु अन्यथा वदति। अयन्तु द श्यमानं वस्तु अपलपति निर्वक्तुं न शक्नोति इति वैशिष्ट्यस्यात्र सत्त्वात्। अर्थात् विचारासहवादि– पूर्वमूर्खापेक्षया पि अयम् अतिमहान् मूर्खः अनिर्वचनीयवादी। द्विरदस्य पूर्वोक्तस्य अनिर्वचनीयत्वाभावेन अयमनिर्वचनीयत्वं वदति। अतो विचारा–सहवादि–विचारापेक्षया पि अनिर्वचनीयवादिविचारो दुर्विचार एवेति भावः।

परः शङ्कते – **तद् विचारसहमिति चेत्?** इति अनिर्वचनीयस्य विचाररूपं वाक्यारूढं सतर्कप्रमाणं विचारसहमिति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **एवं तर्हि स्वयमेव विलीनम् अलीकादिवादैः** इति। विचारसहेन विचारेण तुल्यन्यायस्य जगतो पि विचारसहत्वेन अलीकत्वानुपपत्तेः, अलीकवादैर्गतम्। अलीकं विचारायोग्यं विचारं न सहते। जगत्तु विचारयोग्यं विचारं सहते इत्युभयोः व्यतिरेकेण परस्परभेदात् अलीकभिन्नत्वेन अनलीकत्वं जगति सिद्धम् इत्यलीकवादेन ततो गतम्।

लोकसिद्धमिति चेत्, तर्हि तस्य परिकरशुद्धिरपि तथैव ग्राह्या। अन्यथा लोकस्यापि व्यतिक्रमे विचारस्य याद च्छिकवाङ्मात्रत्वापत्तेः। लोके चाकाङ्क्षा-योग्यतासत्तिमत्तया प्रतिसंहितमश्लिष्टार्थं प्रमाणान्तराप्रतिहतं स्ववचनस्वक्रिया-स्वज्ञानव्याघातादिदोषरहितं स्वार्थप्रतिक्षेपकयुक्तेरनाक्षेपकं वाक्यमर्थप्रति-पत्तेरङ्गम्। यथायं पर्वतः वह्निमानिति। अनङ्गमितरत्, यथा यं पर्वतो देवदत्तो गौर इति। जलह्नदो वह्निमानिति, गिरिर्देवदत्तेन भुक्तमग्निमानिति, श्वेतौ डिक्थो धावतीति, शशो विषाणीति, माता वन्ध्येति, अहं मूक इति, इमं न जानामीति, मम कर्णे प्रविश्य गजो गर्जति भेषजमुच्यतामिति।

तदर्थश्च साधनं दूषणं च। तत्र साधनं व्याप्तिपक्षधर्मतौपयिक-रूपप चकोपेतं लिङ्गम्। यथा विशिष्टधूमवत्त्वादिति। लिङ्गाभासमितरत्। यथा जलाशयत्वादिति। तत्परिकरश्च तर्कः। सो पि व्याप्तिबलमालम्ब्यानिष्ट-प्रसङ्गरूपः। अनिष्टं च द्विविधं प्रामाणिकपरित्यागो प्रामाणिकपरिग्रहश्च। यथा यद्युदकं पिपासादुःखं न शमयेत् न पीयेत। यदि च तदेव परमन्तर्द्दहेत् तदाविशिष्टं मामपि दहेत्। इतरस्तु तर्काभासः। यथा यदि जलं पिपासादुःखं नाशमयिष्यत् रूपवदपि नाभविष्यत्, यथा काशम्। यदि च तदेव परमन्तरधक्ष्यत् मामपि सुरभिमकरिष्यदिति। दूषणमपि स्वार्थप्रतिक्षेपकयुक्तेरना-क्षेपकं दूष्यासाधकत्वाविनाभूतं सिद्धं च। यथाग्निमत्त्वे साध्ये प्रमेयत्वमनैकान्तिक-

त्वादहेतुरिति। अन्यथा तु तदाभासे, यथा यं धूमो नाग्निसाधकः सर्वथानुपलभ्यमानोपाधिशङ्काग्रस्तत्वात् प्रमेयत्वात् विरुद्धत्वाच्चेति। इतरदपि प्रमाणमनुमानच्छाययैव विचाराङ्गं, तर्कमनन्यथासिद्धिं च पुरस्कृत्य प्रव त्तेः। ततस्तत्राप्येषैव रीतिरनुगन्तव्येति।

[**अथ अनिर्वचनीयविचारे विचारासहत्वनिराकरणम्**] [ ]

पुनः परः शङ्कते – **नोत्तरप्रतीक्षणमपि। लोकसिद्धमिति चेत्?** इति। पूर्वोक्तरीत्या विचारसहत्वासहत्वाभ्याम् उत्तरानर्हमपि जगत् लोकव्यवहारसिद्धम्। जगतः व्यावहारिकसत्त्वे पि पारमार्थिकसत्त्वाभावो स्त्येवेति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती–**तर्हीति।** विचारसहत्वासहत्वाभ्याम् उत्तरानर्हस्य लोकव्यवहारसिद्धस्य ग्राह्यस्य जगतः तत्प्रतिपादकबाधादिरपि लोकप्रसिद्ध एव ग्राह्यः। परिकरशुद्धस्य तत्प्रतिपादकबाधादेः लोकासिद्धत्वे लोकस्यापि व्यतिक्रमे = अतिक्रान्ते याद च्छिक–वाङ्मात्रतापत्तेः, सङ्केतितशब्दात्वापत्तेः। अपेक्षा पूर्वत्वं याद च्छिकत्वम्। संज्ञाशब्दत्वम्। संज्ञाशब्दो न पूर्वशब्दम् अपेक्षते न वा अर्थादिकम्। लोकसिद्धामेव परिकरशुद्धिं दर्शयति – **लोके च** इत्यादिना। वाक्यम् अर्थज्ञानस्य अङ्गं भवति। आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्तिमत्तया प्रतिसंहितम् (=आसत्तियुक्तम्) द्व्यर्थकभिन्नम् प्रमाणान्तरैर–बाधितम्, स्ववचन–स्वक्रिया–स्वज्ञानानां यो व्याघातादि–दोषः तद्रहितम्, स्वार्थस्य प्रतिक्षेपिका या युक्तिः तया अनाक्षेपकम् ताद शयुक्त्या अप्रतिवध्यार्थकम्। एताद शं वाक्यं प्रामाणिकार्थं बोधयति। आकाङ्क्षात्वम्। पदान्तरं विना न्वयाबोधकत्वम्। अर्थाबाधो योग्यता। पदयोः अविलम्बेन उच्चारणम् आसत्तिः। स्ववचनव्याघातः = विरोधः, स्वक्रियाविरोधः स्वजन्यज्ञानविरोध इति क्रमेण अर्थाः ज्ञेयाः। एताद श–वाक्यस्य उदाहरणमाह – **यथा पर्वतो यं वह्निमानिति**। प्रत्युदाहरणमाह – **अनङ्गमितरत्** इति। आकाङ्क्षादिरहितं वाक्यम् अर्थप्रतिपत्तेः अनङ्गम्। तदुदाहरति – **यथा अयं पर्वतो देवदत्तो गौर** इति। अत्र आकाङ्क्षा नास्ति। जलह्रदो वह्निमान् इति। अत्र योग्यता नास्ति। अर्थाबाधो हि योग्यता। सा चात्र नास्ति वह्न्यभावस्यैव जलह्रदे सत्त्वात्। गिरिर्देवदत्तेन भुक्तमग्निमान् इति। सा चात्र नास्ति। ययोः अन्वयो अपेक्षितः, तद्वाचकपदयोः अविलम्बेन उच्चारणस्य आसत्तित्वेन तस्यात्र अभावात्। श्वेतो डित्थो धावतीति। श्वा इतो धावतीत्यर्थः श्लिष्टः। डित्थः कुक्कुरः इतः स्थानात् धावति। श्वेतगुणयुक्तो डित्थो धावतीत्यर्थकत्वात्। शशो विषाणीति। अत्र शशे विषाणस्य प्रत्यक्षप्रमाणबाधितत्वेन नायमर्थः प्रामाणान्तराप्रतिहतः। मम माता बन्ध्येति। अत्र स्ववचनविरोधः। अहं मूक इति। अत्र क्रियाविरोधः। मूकस्य 'अहं मूक' इति कथयितुम् अशक्यत्वात्। इमं न जानामीति। इमं पदार्थं ज्ञात्वैवम् उच्यते इति स्वज्ञानविरोधः। मम कर्णे प्रविश्य गजो गर्जति भेषजमुच्यताम् इति। कर्णे गजप्रवेशे तद्गर्जनश्रवणासंभवात् कर्णशष्कुल्याः शब्दग्राहकत्वरूप–

स्वार्थप्रतिक्षेपकयुक्तेः आक्षेपकत्वादप्रमाणमिदं वाक्यमित्यर्थः। एताद शशब्दार्थस्य प्रतिक्षेपिका युक्तिः – कर्णे गजप्रवेशे सति शब्दश्रवणाभावः, शब्दं च श णोति। अतो न कर्णे गजप्रवेश इत्याकारिका बोध्या। एवं वाक्यं लक्षयित्वा वाक्यार्थं लक्षयितुमाह – **तदर्थः साधनं दूषण च** इति। **तत्र साधनं व्याप्ति-पक्षधर्मतौपयिक-रूपप चकोपेतं लिङ्गम्। यथा विशिष्टधूमवत्त्वादिति। लिङ्गाभासमितरत्।** यथा जलाशयत्वादिति इति। शब्दार्थयोः साधनदूषणयोर्मध्ये साधनं लिङ्गम्। तच्च व्याप्तिः = निरुपाधिक–संबन्धरूपा, पक्षधर्मता = पक्षव्यापकत्वम् तदौपयिकरूपाणि पक्षे व्याप्यव त्तिः, सपक्षसत्त्वम्, विपक्षाद्व्याव त्तिः, अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्व च इत्येतानि। तत्र व्याप्त्यौपयिकानि सपक्षसत्त्वादीनि चत्वारि। प्रथमं तु पक्षधर्मतौपयिकम्। पक्षसत्त्वम्, सपक्षसत्त्वम्, विपक्षाद् व्याव त्तिः, अवाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्व च इत्येतानि रूपाणि प चेति बोध्यम्। एतच्च प चरूपकम् अन्वयव्यतिरेकिणः, पर्वतो बह्निमान् धूमाद् इत्यत्र, धूमस्य तथात्वसंभवात्। केवलान्वयिनो विपक्षाद् व्याव त्त्यभावात् – घटो भिधेयः प्रेमयत्वाद्, इत्यत्र अभिधेयत्वस्य सर्वत्र विद्यमानत्वेन तदभावस्य कुत्रापि असत्त्वात्। साध्याभाववतो हि विपक्षत्वात्। केवलव्यतिरेकिणश्च सपक्षे सत्त्वाभावात्, रूपचतुष्टयमेव बोध्यम्। प थिवी इतरेभ्यो भिद्यते, गन्धवत्त्वात् इत्यत्र प थिव्याः पक्षत्वेन तत्र साध्यनिश्चयाभावात् प थिवीतरेषु साध्यस्यैव असत्त्वात् न को पि सपक्षो त्र बोध्यः। सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः। निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। निश्चित–साध्याभाववान् विपक्षः। अत्र पक्षधर्मत्वेन असिद्धस्य हेत्वाभासत्वम् उक्तम्। सपक्षे सत्त्वेन असाधारणस्य (पक्षमात्रव त्तिहेतोः) विपक्षव्याव त्त्या विरुद्धसाधरणयोः (साध्याभावसाधको हेतुः विरुद्धः, साध्याभाववद्व त्तिहेतुः साधारणः) अबाधितविषयत्वेन कालात्ययापदिष्टस्य = बाधितस्य असत्प्रतिपक्षत्वेन प्रकरणस्य = सत्प्रतिपक्षस्य, हेत्वाभासत्वम् इत्युक्तमिति सर्वत्र षष्ठ्यन्तेषु योज्यम्। **विशिष्टधूमवत्त्वादिति**। अनवरतोद्ध्र्वव त्त्यादिविशिष्टधूमवत्त्वादित्यर्थः। अविच्छिन्नमूलत्वविशिष्टधूमवत्त्वादित्यर्थो वा। इदम् अन्वयव्यतिरेकिण उदाहरणम्। लिङ्गाभासेषु विरुद्धस्य उदाहरणम् आह – **लिङ्गाभासम् इतरत् यथा जलाशयत्वादिति।** जलाशयो ग्निमान् जलाशयत्वाद् इत्यत्र जलाशयत्वं साध्याभावसाधकत्वेन विरुद्धम्। तत्परिकरश्च तर्कः। व्याप्तिपक्षधर्मतयोः परिकरः = अनुग्राहश्च च तर्क इत्यर्थः। **सो पीति।** तर्को पि व्याप्तिबलम् आलम्ब्य अनिष्टप्रसङ्गरूपः। यथा पर्वतो बह्निमान् धूमाद् इत्यत्र धूमो बह्निव्यभिचारी न वेति सन्देहसत्त्वे, धूमे वह्निव्याप्तिनिश्चयानुपपत्त्या अनुमित्यनुपपत्तिः। तद्वारणाय धूमे व्यभिचारशङ्का–निर्वतकः तर्को पेक्षणीयः। स च धूमो यदि बह्निव्यभिचारी स्यात् बह्निजन्यो न स्यादिति स्वरूपकः। बह्निव्यभिचारित्वे बह्निजन्यत्वाभावनिरूपितव्याप्तिबलम् आदाय धूमे बह्निव्यभिचारित्वेन बह्निजन्यत्वा–भावरूपो निष्टापादनरूपानिष्टप्रसङ्गः। व्याप्यारोपेण व्यापकारोपः तर्कः। तर्के आपाद्या–भावस्य निश्चयः कारणम्। आपाद्यश्च आहार्यारोपः। आपाद्यो व्यापकः। आपादकश्च

व्याप्यः। प्रक ते बह्निव्यभिचारित्वम् आपादकम् बह्निजन्यत्वाभाव आपाद्यः। हेतौ पक्षे आपाद्याभावेन आपादकाभावस्य निश्चये स सन्देहो निवर्तते। संशयं प्रति एककोटिकनिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वात्। य आपाद्यो व्यापकः तस्य अभावो व्याप्यः, य आपादको व्याप्यः तस्याभावो व्यापकः। तथा च धूमो यदि बह्निव्यभिचारी स्यात् बह्निजन्यो न स्यादिति तर्केण धूमो बह्निव्यभिचारित्वाभाववान् बह्निजन्यत्वाभावाभावात् (बह्निजन्यत्वात्) इति अनुमानं बोध्यम्।

अनि**ष्ट च द्विविधम्, प्रामाणिकपरित्यागः अप्रामाणिकपरिग्रहश्च।** प्रामाणिकपरित्यागस्योदाहरणमाह – **यथा यदि उदकं पिपासादुःखं न शमयेत् तदा न पीयेत** इति। तथा च अम्बुपानस्य प्रामाणिकस्य त्यागः स्यात्। सर्वे च जनाः पिपासाशान्त्यर्थं जलं पिबन्ति। अप्रामाणिक– परिग्रहस्योदाहरणमाह – **यदि च तदेव परमन्तर्दहेत् तदा तदविशिष्टं मामपि दहेत्** इति। यदि च पीतं जलं परमन्तर्दहेत् 'तदा तज्जलम् अविशिष्टं ताद शम् तद्वदेव पीतं मामपि तद्वत् दहेत् इत्यप्रामाणिकस्य दाहस्य परिग्रहः स्यादित्यर्थः। **इतरस्तु तर्काभासः**। यथा यदि जलं पिपासादुःखं नाशमयिष्यत् रूपवदपि नाभविष्यत् यथा आकाशम्। पिपासा– अशमनस्यापि बह्न्यादेः रूपवत्त्वदर्शनात्। अयमव्याप्तिमूलः प्रामाणिक– त्यागरूपस्तर्काभास इति। यदि च तदेव (जलमेव) परमधक्ष्यत् मामपि सुरभिमकरिष्यदिति। दाहकस्यापि तार्णवह्न्यादेः सुरभिकर्तृत्वदर्शनात्। अयम् अव्याव त्तिमूलको प्रामाणिकपरिग्रहरूपस्तर्काभास इति।

दूषणमपि स्वप्रतिक्षेपकयुक्तेः अनाक्षेपकं दूष्यासाधकत्वाभिमतम् सिद्ध च। दूषणस्य प्रतिक्षेपिका = विरोधिनी या युक्तिः तस्याः अनाक्षेपकम् नाक्षेपकम् आक्षेपकत्वाभाववत् दूष्यस्य असाधकत्वेन अहेतुत्वेन अभिमतम् इष्टम्, सिद्ध च न साध्यम्। तदुदाहरणमाह – **यथा अग्निमत्त्वे साध्ये प्रमेयत्वम् अनैकान्तिकत्वाद् अहेतुरिति**। पर्वतो बह्निमान् प्रमेयत्वादिति प्रमेयत्वेन बह्निं साधयितुं प्रव त्तं पुरुषं प्रति को पि वदति – प्रमेयत्वं तव हेतुः, पर्वते बह्निं साधयितुं न समर्थः। तस्य बह्न्यभाववति जले व त्तित्वेन अनैकान्तिकत्वात्। साध्याभाववद्व त्तिर्हि साधारणानैकान्तिकः। हेत्वाभासो हि साध्यं साधयितुं न समर्थो भवति। अतस्तव प्रमेयत्वं हेतुर्न हेतुः किन्तु हेत्वाभास इति। इदं दूषणं दूषणत्वस्य प्रतिबन्धिकायाः युक्तेः अनाक्रान्तम्। दूष्यस्य पर्वते साध्यस्य बह्नेः अहेतुत्वेन इष्टं पर्वते सिद्ध च न पर्वते साध्यम्। अतः इदं दूषणं समीचीनम्। स्वप्रतिक्षेपकयुक्तेरनाक्षेपकं दूष्यासाधकत्वाविनाभूतम् इत्याभ्यां दूषणस्य विशेषणाभ्यां च्छल–जाति–निग्रहस्थान– घटकजातेर्व्यवच्छेदः। यद्यपि एकेनैव विशेषणेन जातिव्यवच्छेदः सेत्स्यति, तथापि जातीनाम् उक्तविशेषद्वयमपि नास्तीति ख्यापनार्थम् उभयविशेषणमुक्तम्। सिद्ध च इत्यनेन च्छलस्य केवलनिरनुयोज्यानुयोगयोः व्युदासः। दूषणाभासं दर्शयितुमाह –

अन्यथा तु तदाभास इति। दूषणस्य प्रतिक्षेपिकायाः युक्तेः आक्रान्तत्वे दूष्यस्य साधकत्वेन इष्टत्वे साध्ये च दूषणे न दूषणत्वं किन्तु दूषणाभासत्त्वं वर्तते। दूषणाभासमुदाहरति – **यथा अयं धूमो न अग्निसाधकः सर्वथा अनुपलभ्यमान-उपाधिशङ्काग्रस्तत्वात् प्रमेयत्वाद् विरुद्धत्वाच्चेति** इति। पर्वते धूमेन बह्निं साधयितुं प्रव त्तं पुरुषं प्रति को पि वदति तव वह्निसाधको धूमो हेतुः सर्वथा उपलभ्यमान–उपाधिशङ्काग्रस्तत्वात् न हेतुः। यथा धूमवान् वह्नेरित्यत्र आर्द्रेन्धनसंयोगरूप–उपाधिर्वह्नौ वर्तते। वह्निर्धूमव्यभिचारी न वेति शङ्का वर्तते। तथैव पर्वतो वह्निमान् धूमात् इत्यत्र धूमे हेतौ सर्वथोपलभ्यमानोपाधिरस्ति। धूमो वह्निव्यभिचारी न वेति शङ्कापि वर्तते इति। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् उपाधित्वम्। इदं न दूषणं किन्तु दूषणाभासः। धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् वह्निजन्यो न स्यादिति तर्केण वह्निव्यभिचारशङ्का निवर्तते। न च को पि उपाधिरपि अस्ति। अनौपाधिकत्वेन व्यभिचारशङ्काया अभावेन च, अनौपाधिक–संबन्धरूपा वह्निनिरूपिता व्याप्तिर्धूमे सिद्ध्यति। व्याप्तिविशिष्टः पक्षधर्मताविशिष्टश्च हेतुः साध्यं साधयत्येवेति – 'धूमो न बह्निसाधक' इति दूषणाभासो न दूषणं भवति। दूष्यासाधकत्व–व्यभिचार्युदाहरणमाह – **प्रमेयत्वादिति**। प्रमेयत्वे सत्यपि साध्यत्वदर्शनात् न असाधकत्वाविनाभूतं प्रमेयत्वमिति। असिद्धोदाहरणमाह – **विरुद्धत्वाद् इति**। पर्वते धूमेन बह्निं साधयितुं प्रव त्तं पुरुषं प्रति को पि वदति धूमस्य बह्न्यभावव्याप्तत्वेन वह्न्यसाधकत्वात् तव हेतुर्विरुद्धः। साध्याभावव्याप्यहेतोः विरुद्धत्वादिति दूषणाभासः। धूमस्य बह्निव्याप्यत्वेन साध्यसाधकत्वेन साध्याभाव–साधकत्वात्।

एवं विचाराङ्गं लिङ्गं परिशोध्य प्रत्यक्ष–शब्दयोरपि तर्काविनाभावयोरेव विचाराङ्गत्वमित्याह – **इतरदपि प्रमाणम् अनुमानच्छाययैव विचाराङ्गम्, तर्कमनन्यथासिद्धिं च पुरस्क त्य प्रव त्तेः। ततः तत्रापि एषैव रीतिरनुगन्तव्येति** इति।

एवं व्यवस्थिते लोकव्यवहारे साधनोपक्रमेण यदि विचारयसि, प्रतिज्ञेव तावन्नाङ्गं धारयति। तथाहि न किंचिदस्ति, न किंचित्सत्यं, न किंचित्कारकं, न किंचिद्विचारसहं, न किंचित्सालम्बनं, न किंचिद्दर्शनं, न कश्चित्सिद्धान्त इत्यादौ स्वार्थप्रतिक्षेपस्तावद्दुरुद्धरः। प्रतिज्ञापि हि न स्यान्न सत्या न कारिका न विचारसहा, तद्विज्ञानमपि न सालम्बनं, तत्फलमपि न दर्शनं, तदर्थो पि न सिद्धान्त इत्यापद्येत।

ननु प्रत्यक्ष–शब्दयोः विचाराङ्गत्वे अनुमानच्छायां किमर्थमाश्रयते इति चेद् अत आह – तर्कमनन्यथासिद्धिं च पुरस्क त्य प्रव त्तेः इति। न हि व्यभिचारिणः तर्कानन्यथासिद्धी स्तः इति भावः। अस्ति च प्रत्यक्षे पि तर्कानुग्रहः। यदि घटोपलम्भस्य

सकलविशेषोपलम्भे पि हि व्यभिचारः स्यात्, तदा तथात्त्व–अतथात्व–(यथार्थत्व–अयथार्थत्व–)विभागो न स्याद् इति। अतएव अनन्यथासिद्धिरपि अनुसन्धेया इति।

[अथ बौद्धीय-प्रतिज्ञानिराकरणम्]

लोकव्यवहारः केवलया प्रतिज्ञया न सिद्ध्यति, किन्तु परिकरशुद्धेन प चावयवोपन्नप्रमाणेन। प्रत्यक्षेण अनुमानेन शब्देन चेति दर्शयति **एवम् इत्यादिना**। अथवा परिकरशुद्धिसहितसाधन–दूषणात्मक–वाक्यार्थेन पूर्वोक्तदिशा लोकव्यवहारे सिद्धे वाक्यारूढं सतर्कप्रमाणं बौद्धीयं विचाररूपं लोकसिद्धं न भवितुमर्हति–इत्याशयेन आह सिद्धान्ती – **एवं व्यवस्थिते लोकव्यवहारे साधनोपक्रमेण यदि विचारयसि प्रतिज्ञैव तावन्नाङ्गं धारयति** इति। साधनोपक्रमेण = स्थापनापक्षेण। सा च प चावयवप्रयोगात्मक–न्यायेन एव स्यात्। तत्र प्रथमं प्रतिज्ञैव तावद् बौद्धमते न संभवति। कुतो हेत्वादिसंभावनेति भावः? ननु कुतो नाङ्गंधारयतीत्यत आह – **तथाहि (१) न कि चिदस्तीति।**

विचारस्तावद् द्विधा भवति। साधनोपक्रमेण, परपक्षदूषणोपक्रमेण वा। साधन च व्याप्ति–पक्षधर्मतौपयिक–रूपप चकोपेतं लिङ्गम् अनुमानाङ्गम् विचाराङ्गं भवति। अनुमानभिन्न–शब्द–प्रत्यक्षप्रमाणे पि अनुमानच्छयैव विचाराङ्गे भवतः। प चरूपाणि पक्षसत्त्व,–विपक्षासत्त्व–सपक्षसत्त्व–अवाधितत्व–असत्प्रतिपक्षत्वानि। प्रतिज्ञा–हेतु–उदाहरण–उपनय–निगमन–रूप–अवयवसमुदायरूपन्यायो पि विचाराङ्गे आपतति।

तथा च जगत् शून्यं न वेति विप्रतिपत्तौ न कि चित् नीलादि जगदस्तीति प्रतिज्ञा शून्यवादिना विधेया। तत्र तद्वाक्यप्रतिपाद्यप्रतियोगिज्ञानसापेक्ष–न ार्थस्य अभावात्। अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वेन तस्य अभावात् तस्याः प्रतिज्ञायाः स्वार्थप्रतिक्षेपकत्वं दुर्वारमिति विचाराङ्गाभावे कथं विचारः कर्तुं शक्यते बौद्धैः? प्रतिज्ञा–स्वरूपासंभवम् उक्त्वा तदर्थप्रतिक्षेपमाह – **प्रतिज्ञापि न स्यात्, न सत्या, न कारिका, न विचारसहा, तद्विज्ञानमपि न सालम्बनम्, तत्फलमपि न दर्शनम्, तदर्थो पि न सिद्धान्त इत्यापद्येत।** असत्याया च प्रतिज्ञायां तदर्थस्यापि प्रतिक्षेप इत्यर्थः। प्रतिज्ञाया अभावे प्रतिज्ञार्थत्वेन अभिलषितस्य प्रतिज्ञार्थस्यापि अभावात्। देवदत्तस्य अभावे न तत्पुत्र उत्पद्यते। प्रतिज्ञाया असत्यत्वे प्रतिज्ञार्थो न सिद्ध्यति। मिथ्याज्ञानेन अर्थनिश्चयाभावात्। प्रतिज्ञार्थसिद्धिश्च प्रतिज्ञार्थनिश्चयः। स च प्रतिज्ञाया असत्यत्वे मिथ्यात्वे न सेत्स्यति। प्रतिज्ञाया अकारकत्वे प्रतिज्ञार्थनिश्चयाभावात्। न हि अकारणात् कार्योत्पत्तिर्भवति। प्रतिज्ञाया विचारसहत्वे फलतो असत्वम् इति असत्यत्वपक्षवद्दोषः। प्रतिज्ञाफलस्य प्रतिज्ञाजन्यज्ञानस्य अन्यायदर्शनत्वेन प्रतिज्ञार्थस्य सिद्धिः, द श्यस्य अर्थस्य अभावात्। प्रतिज्ञार्थस्य असिद्धान्तत्वे असत्यतुल्यत्वमेवेति तत्पक्षवद् दोषः।

इष्यत एवेदमिति चेन्न, इच्छामात्रेण व्याघातानिव त्तेः। यदि हि न (ज्ञातं) कि चिदस्तीत्यादिप्रतिज्ञार्थः प्रतिज्ञां स्प शेत्, कथमयमर्थः प्रत्येतव्यः। न चेत् कथं सानुपपन्ना। तदनुपपन्नत्वे च कथं पुनः प्रतिज्ञार्थ उपपद्यते। तदिदमायातं स्वविषमूर्छिता भुजङ्गी आत्मानमेव दशतीति।

तत्त्वत इति विशेषणादयमदोष इति चेत्, तद्विचारो वा स्यात् लोकमर्यादातिक्रमो वा। प्रथमः पूर्वमेव निरस्तः। तस्य प्रतिज्ञारूपतया कुलीरस्येव स्वप्रसूतयुक्त्यपत्येनैव प्रतिहतत्वात्। द्वितीये तु स्वच्छायातिक्रमवत् स एव व्याघातः। यदि हि लोकमर्यादातिक्रमो न विचारस्वरूपस्थितिः, तत्स्वरूप-स्थितिश्चेन्न तदतिक्रम इत्यर्थः।

शङ्कते परः – **इष्यत एवेदमिति चेत्?** इति। प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञार्थस्य च असत्त्वं शून्यवादिना मया इष्यत एवेति न किचिद् अस्तीति वादिनो मम न स्वार्थहानिरिति चेत्? सिद्धान्ती उत्तरयति – **न। इच्छामात्रेण व्याघातानिव त्तेः** इति। प्रतिज्ञाया अपि प्रतिज्ञार्थतुल्यत्वे तया तदर्थस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्। प्रत्ययाशक्तिमेव उपपादयति – **यदि हि न ज्ञातं कि चिदस्तीत्यादि-प्रतिज्ञार्थः प्रतिज्ञां स्प शेत् कथम् अयम् अर्थः प्रत्येतव्यः, न चेत् कथं सोपपन्ना?** इति। यदि प्रतिज्ञार्थः कि चिद् अस्तीत्यादि न ज्ञातं, तदा न कि चिदस्तीति प्रतिज्ञार्थः विरुद्धत्वेन प्रतिज्ञां न स्प शेत्, तर्हि न कि चिदस्तीति प्रतिज्ञार्थस्य कथं ज्ञानम्? एतदर्थ– स्पर्शस्य प्रतिज्ञायाम् अभावेन प्रतिज्ञायाः तद्बोधयितुम् अशक्यत्वात्। अन्यथा घटशब्दो पि पटं बोधयेत्। स्पर्शाभावस्य उभयत्र तुल्यत्वात्। यदि प्रतिज्ञां प्रतिज्ञार्थः स्प शेत्, तर्हि प्रतिज्ञा कथमुपपन्ना भवति? प्रतिज्ञया सर्वार्थस्य निषेधेन सर्वान्तर्गतस्वार्थस्यापि निषेधात्। बाधितार्थबोधकत्वेन प्रतिज्ञाया अनुपपन्नत्वात्, तदुपपन्नत्वे च कथं पुनः प्रतिज्ञार्थः उपपद्यते? प्रतिज्ञाया उपपन्नत्वे च न कि चिदस्तीति प्रतिज्ञार्थः कथमुपपद्येत? एतदर्थविरुद्धप्रतिज्ञार्थबोधकत्वस्य प्रतिज्ञायां सत्वात्। प्रतिज्ञाया उपपन्नत्वं स्वार्थवस्तुबोधकत्वम्। प्रतिज्ञार्थवस्तुनः सत्त्वे कि चिदपि वस्तु न विद्यते इति कथने व्याघातः। न कि चिदस्तीति प्रतिज्ञार्थस्य प्रतिज्ञास्पर्शाभावे सा प्रतिज्ञा कथमुपपन्ना? असतीत्यर्थः स्वार्थाबोधकत्वेन नास्त्येव प्रतिज्ञा। नानुपपन्ना किन्तु उपपन्नैव प्रतिज्ञा इति चेत्? तदा तदुपपन्नत्वे प्रतिज्ञायाः सत्त्वे न कि चिदस्तीति प्रतिज्ञार्थः कथमुपपद्यते? सर्वान्तर्गतसोपपन्न– प्रतिज्ञायाः सत्वात्। कस्यापि सत्त्वे सर्वं नास्तीति वक्तुमशक्यम्। **तदिदमायातं स्वविषमूर्च्छिता भुजङ्गी आत्मानमेव दशतीति**। यथा स्वविषेण मूर्च्छिता सर्पिणी स्वात्मानं दष्टव्य इति ज्ञानस्य मूर्च्छया भावेन स्वात्मानमपि दशति इति कथा नास्ति, तथा न कि चिदस्तीत्यादि प्रतिज्ञा स्वार्थभिन्नान् अर्थान् इव स्वार्थमपि दशति – निषेधति। तथा च सार्थक– प्रतिज्ञाया अभावेन तस्या अनुपपन्नत्वं दुर्वारमेव।

अबाधितार्था हि प्रतिज्ञा सोपपन्ना सती, अन्यथा तु न सतीति भावः। एवं व्यवस्थिते इत्यादिना यद्दूषणं दत्तं तत्र व्याघातपरिहारं परः शङ्कते – **तत्त्वत इति विशेषणाद् अयमदोष इति चेत्?** इति। तत्त्वतो न किंचिदस्तीति प्रतिज्ञाकरणे घटादीनां जगतां पारमार्थिकसत्तानिषेधे पि व्यावहारिकसत्ता न निषिद्धेत्येवं स्थिते इत्यादिना सिद्धान्तिना दत्तस्य दोषस्य नावसरः। न किंचिदस्तीत्यादिप्रतिज्ञया व्यावहारिकप्रतिज्ञार्थस्य पारमार्थिकत्वनिषेधे पि व्यावहारिकत्वानिषेधात् न प्रतिज्ञा स्वार्थस्य निषेधिका इति व्याघाताभावः सूपपन्न इति चेत्? न किंचिदस्तीति प्रतिज्ञानां तत्त्वत इति विशेषणात् प्रतिज्ञादीनां व्यावहारिकसत्त्वानिराकरणात् न स्वार्थप्रतिपादकत्वाद्यसंभव इत्यर्थ इति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – तद्विचारो वा स्यात्, लोकमर्यादातिक्रमो वा। प्रथमः पूर्वमेव निरस्तः। तस्य प्रतिज्ञादिरूपतया कुलीरस्येव स्वप्रसूतपुत्रयुक्त्यपत्येनैव प्रतिहतत्वात्। **द्वितीये तु स्वच्छायातिक्रमवत् स एव व्याघातः** इति। तत्त्वत इति शब्दवाच्यो यदि न किंचिदस्तीति प्रतिज्ञार्थस्य विचारश्चेत् तदा तादशविचारस्य प्रतिज्ञाप्रतिपाद्यत्वे स्वप्रसूतपुत्रयुक्त्यैव हतत्वम्। तस्य सर्वनिषेधकत्वेन स्वव्याघातकत्वम्। स्वप्रसूत–तर्क–कर्कोटकस्येव तदवस्थमिति। प्रतिज्ञायाः सर्वनिषेधार्थकत्वेन सर्वान्तर्गतस्वार्थस्यापि निषेध इति निरर्थिका प्रतिज्ञा कमर्थं बोधयेदिति प्रतिज्ञा निष्फलैव भवति। द्वितीये तु स्वच्छायातिक्रमवत् स एव व्याघातः। तत्त्वत इत्यस्य लोक– मर्यादातिक्रम इत्यर्थः। यथा स्वच्छायातिक्रमः तत्र तत्र छायाप्रसक्तेः अशक्यः, तथा लोकमर्यादातिक्रमो पि अशक्यः। यथा स्वच्छायातिक्रमो न भवति तथा लोकमर्यादातिक्रमो पि न भवति इति भावः। स एव व्याघातः = प्रतिज्ञार्थेन प्रतिज्ञायाः स्पर्शाभाव एव व्याघातः। व्याघातमेव दर्शयति – **यदि हि लोकमर्यादातिक्रमो न विचारस्वरूपस्थितिः। तत्स्वरूपस्थितिश्चेत् न तदतिक्रम इत्यर्थ** इति। यदि विचारः लोकमर्यादातिक्रमः स्यात्, तदा न विचारस्वरूपस्थितिः स्यात्, विचारस्य लोकमर्यादातिक्रमरूपत्वात्। यदि विचारः स्वरूपस्थितिः स्यात् तदा न लोकमर्यादातिक्रमः स्यात्। एव च विचारो लोकमर्यादातिक्रम इति वदतो व्याघातः, मम माता वन्ध्येतिवत्।

प्रतिषेध्यसिद्ध्यसिद्धिव्याघातश्च। यदि हि प्रतिषेध्यं सिद्धं नात्यन्ताय प्रतिषेधः। न चेन्नतराम्। लोकव्यवहारसिद्धमिति चेत्, सिद्धमेव हि तर्हि, न ह्यन्यतो पि किंचित्सिद्ध्यति। नायमबाध्यो व्यवहार इति चेत्, न। यदि नैकत्र, अन्यत्रापि तथाभावप्रसङ्गात्। सर्वत्र बाध्यत इति चेत्, तदपेक्षसिद्धिना व्यवहारेणानपेक्षेण वा अव्यवहारेणैव वेति। यस्तावत्तदपेक्षसिद्धिः, स कथं तमेव बाधेत। न ह्यनुष्णत्वानुमानेनोष्णत्वग्राहिप्रत्यक्षबाधो लोके। द्वितीयस्त्व-सम्भवी। न हि निषेधकं प्रमाणं निषेध्यसिद्धिनिरपेक्षं भवितुं क्षमते। त तीये तु तद्विपरीतापत्तिः। विचारबाध्यत्त्वमुपक्रम्याविचारेण मुद्रणात्।

न चैतदपि निर्व्यूढम्। स ह्ययत्नसिद्धमध्यक्षं वा स्यात्, अनिष्टिमात्रं वा। आद्ये विरोधो सिद्धिश्च। द्वितीये लोकातिक्रमः, परानिष्ट्या त्वदनिष्टि-बाधप्रसङ्गश्चेति।

सर्वज्ञासाधारण्येन व्याघातान्तरमाह – **प्रतिषेध्यसिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातः चेति।** यदि किंचिदस्ति तदा तत् न किंचिदस्तीति प्रतिज्ञया निषेधयितुम् अशक्यम्। यदि किंचिन्नास्त्येव तदा न किंचिदस्तीति प्रतिज्ञया किंचिदस्तीत्येतत् निषेधयितुं न शक्यम्। अलीकप्रतियोगिक– अभावस्य अभावात्। व्याघातं दर्शयति – **यदि प्रतिषेध्यं सिद्धं नात्यन्ताय निषेधः। न चेत् नतरां** इति। यदि किंचिदस्तीति प्रतिषेध्यं सिद्धम्। अस्ति तदा तस्य प्रतिषेधस्य नात्यन्तनिषेधः। प्रतिषेध्यं नास्तीति वक्तुमशक्यम्। अलीकप्रतियोगिकाभावस्याभावात्। अप्रतियोगिकनिषेधानुपपत्तेर्वा। वस्तुन एव प्रतिषेधो भवति न अवस्तुनः। परः शङ्कते – **लोकव्यवहारसिद्धमिति चेत्?** इति। लोकव्यवहारसिद्धं प्रतिषेध्यम् अस्तीति तस्य निषेधः प्रतिज्ञया क्रियते। लोकव्यवहारसिद्धं वस्तु न तात्त्विकमिति प्रतिज्ञया बोध्यते इति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **सिद्धमेव तर्हि। न ह्यन्यतो पि किंचित्सिद्ध्यति** इति। यदि लोकव्यवहारसिद्धं किंचिदस्ति, तर्हि तस्य लोकव्यवहारसिद्धस्य किंचिद् अस्तीत्यस्य सिद्धत्वेन न किंचिदस्तीति प्रतिज्ञया सर्वथा निषेधयितुम् अशक्यत्वात्। लोकव्यवहार–भिन्नात् हि किंचित् न सिद्ध्यति। परः शङ्कते – **नायम् अबाध्यो व्यवहार इति चेत्?** अयं सर्वो पि लोकव्यवहारो बाध्य एवेति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **यदि नैकत्र, अन्यत्रापि तथाभावप्रसङ्गात्** इति। यदि न किंचिदस्तीति व्यवहारः सर्वशून्यतासाधकः अपसिद्धान्तादिभयात् न बाध्यते चेत्? तर्हि न किंचिदस्तीति भिन्नो पि घटो स्तीत्यादिव्यवहारो घटादिसाधको न बाध्यताम्। युक्तेः समानत्वात्। विनिगमनाविरहाच्च।

पर अक्षिपति – **सर्वत्र बाध्यत इति चेत्?** इति। सकलव्यवहारो बाध्य इति चेत्? सकलव्यवहारबाधः किं प्रतिषेधसिद्ध्यपेक्षविचारेण? तदनपेक्षविचारेण, किं वा अविचारेणैवेति विकल्पत्रयेण दूषयन्नाह – **तदपेक्षसिद्धिना व्यवहारेण? अनपेक्षेण वा? अव्यवहारेणैव वेति?** इति। प्रतिषेध्यसिद्ध्यपेक्षिणा व्यवहारेण विचारेण, प्रतिषेध्यनपेक्षिणा व्यवहारेण विचारेण वा, निषेध्याविचारेणैव वा अयं सर्वो पि लोकव्यवहारो बाध्य एव भवतीति तवाभिप्रेतम्?। तत्र न प्रथमः पक्षो भवितुं योग्यः। यो बाधः प्रतिषेध्यसिद्ध्यपेक्षविचारेण सिद्ध्यति स बाधः, कथं तं प्रतिषेध्यं बाधेत? उपजीव्यविरोधात्। न हि पुत्रः पितरं हन्ति। प्रत्यक्षोपजीवनेन प्रवर्तमानेन अनुष्णत्वानुमानेन उपजीव्यस्य उष्णत्वग्राहिप्रत्यक्षस्य न बाधो द श्यते लोके इति कथयति – **यस्तावत् तदपेक्षसिद्धिः स कथं तमेव बाधेत? न ह्यनुष्णत्वानुमाने नोष्णत्वग्राहिप्रत्यक्षबाधो लोके** इति। द्वितीयविकल्पं खण्डयितुमाह – **द्वितीयस्त्वसंभवी। न हि निषेधकं**

प्रमाणं निषेध्यसिद्धिनिरपेक्षं भवितुं क्षमते इति। निषेध्यसिद्ध्यनपेक्षविचारेण सकलव्यवहारबाध इति पक्षस्तु न संभवति। यतः निषेध्यसिद्धिनिरपेक्षं निषेधकं प्रमाणं न भवितुं क्षमते कस्यायं बाधक इत्याकाङ्क्षाग्रस्तत्वात्। त तीयविकल्पं खण्डयितुमाह – **त तीये तु तद्विपरीतापत्तिः। विचारबाध्यत्वम् उपक्रम्य अविचारबाध्यत्वेन ब ंहणात्** इति। विचारेण अविचारस्य बाधो भवति, न त्वविचारेण विचारस्य बाधो द श्यते लोके। जगतां घटपटादीनां विचारेण बाध्यत्वमुपक्रम्य (घटपटादिग्राह्यपदार्थो विचारेण न सिद्ध्यति, अतः शून्यं जगदिति जगतो बाध्यत्वमुपक्रम्य) अविचारेण जगतो बाध्यत्वमुच्यते, (जगतो बाध्यत्वेन बर्धयति)।

विचारबाध्यत्वमपि जगतां न सिद्धमिति कथयति सिद्धान्ती – **न चैतदपि निर्व्यूढम्** इति। बाध्यत्वं विकल्पयति – **स ह्ययत्नसिद्धमध्यक्षं वा स्यात्? अनिष्टिमात्रं वा?** स हीति विचारबाध्यत्वं हि जगतामिच्छामात्रं नास्तितासाधकं वा? यत्नं विनैव सिद्धं प्रत्यक्षं वा? अनिष्टिमात्रं वा? **आद्ये विरोधो असिद्धिश्च।** यदि सर्वं नास्ति, तदा कथं प्रत्यक्षं स्थास्यति? सर्वेषु प्रत्यक्षमपि पतति। अथ प्रत्यक्षसिद्धिः अस्ति तस्य सत्त्वे सर्वस्य नास्तिता कथमुच्यते इति? प्रत्यक्षमस्ति सर्वं नास्तीति विरोधः। प्रत्यक्षस्य अबाधे सर्वबाध्यत्वासिद्धिश्च। द्वितीय–विकल्पं खण्डयितुमाह – **द्वितीये लोकातिक्रम इति।** जगत् अस्ति, अनिच्छामात्रस्य जगत्शून्यत्वसाध–कस्य सत्त्वे जगत्शून्यम्। घटपटादिजगत् नास्तीति बौद्धाभिमत्। अनिच्छामात्रमेव सर्वनास्तितासाधकमिति द्वितीयपक्षे लोकातिक्रमो दोषः। अग्निदाहादिदुःखस्य अनिच्छामात्रेण असत्यत्वं हि लोको न सहते। तथा सत्यमपि जगत् तव अनिच्छामात्रेण अशून्यं न भवेत्। अत्रैव दोषान्तरमाह – **परानिष्ट्या त्वदनिष्टिबाधप्रसङ्गश्च** इति। अनिच्छामात्रेण सर्वास्तित्वानङ्गीकारे जगत्सत्यत्वविषयकत्वदनिच्छा–विषयक–मदीयानिच्छामात्रेण त्वदनिच्छाभङ्गात्। अनिच्छामात्रस्य स्वव्याघातकत्वं भवति। परस्यानिच्छया = आस्तिकस्य अनिच्छया त्वदनिष्टिबाधकप्रसङ्गश्च = त्वदीयानिच्छायाः बाधप्रसङ्गश्चेति अक्षरार्थः। एव च जगत्सत्यत्वविषयकत्वदीया–निच्छायाः त्वदीयानिच्छाविषयक–मदीयानिच्छाया बाधे, जगत्सत्यत्वबाधक–त्वदीयानिच्छाया अभावेन बाधकाभावात् जगतः सत्यत्वं सिद्ध्यति।

एतेन हेतवो निरस्ताः। ते हि ज्ञेयत्वात्, ज्ञानत्वात्, असत्त्वात्, विकल्पानुपपत्तेः, प्रत्ययत्वात्, कर्मानुपपत्तेः, मिथो व्याघातादित्यादयः। एते हि सर्व एव स्वार्थक्रियाप्रतिक्षेपिकां युक्तिमाक्षिपन्ति। निषेध्यसिद्धिं चापेक्षन्ते। अनैकान्तिकौ च प्रथमद्वितीयौ, स्वफल एव व्यभिचारात्। असिद्धौ त तीयचतुर्थौ। अनैकान्तिकश्च प चमः, पूर्ववत्। असिद्धौ व्याघातेनानैकान्तिकश्च षष्ठः। असिद्धो नैकान्तिकश्च सप्तमः। सर्व एव कालात्ययापदिष्टा इति।

[**अथ बौद्धीय-शून्यता-साधकहेतु-निराकरणम्**]

जगतां शून्यत्वसाधकहेतून् खण्डयितुमाह – **एतेन हेतवो निरस्ताः। ते हि (१) ज्ञेयत्वात्, (२) ज्ञानत्वात्, (३) असत्त्वात्, (४) विकल्पानुपपत्तेः, (५) प्रत्ययत्वात्, (६) कर्मानुपपत्तेः, (७) मिथो व्याघाताद् इत्यादयः।** इति स्वार्थप्रतिक्षेपकत्वेन निषेध्यसिद्ध्यपेक्षप्रव त्तित्वेन च, प्रतिज्ञावद् हेतवो पि निरस्ताः। ज्ञेयत्वाद् इत्यादयो हेतवो 'न कि चिदस्ति' इत्यादिना प्रतिज्ञानां यथाक्रमं द्रष्टव्याः। अत्र आदिशब्देन अनिर्वाच्यत्व–प्रतिज्ञाहेतुः ख्यातिबाध्यो निर्दिश्यते। हेतूनां निरस्तत्वं दर्शयितुमाह – **एते हि सर्व एव स्वार्थ-(क्रिया)-प्रतिक्षेपिकां, युक्तिमाक्षिपन्ति, निषेध्यसिद्धिं च अपेक्षन्ते।** न कि चिदस्ति ज्ञेयत्वात्, रज्जुसर्पवत्। न कि चित्सत्यं, ज्ञानत्वात्, तज्ज्ञानवत्। न कि चित् कारकम्, असत्त्वात्, शशविषाणवत्। न कि चिद् विचारसहं, विकल्पानुपपत्तेः, दर्पणमुखवत्। न कि चित् सालम्बनं, प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवत्। न कि चिद् दर्शनं, कर्मानुपपत्तेः, छेद्यानुपपत्तौ च्छिदावत्। न कश्चित् सिद्धान्तः, मिथो व्याघातात्, मिथः शोषकनिर्वापकानलसलिलवत् इत्यनुमानसप्तकं शून्यवादिनो त्र अभिप्रेतम्। तत्रोक्ताः सर्वे हेतवः स्वार्थ– बाधिकां युक्तिमाक्षिपन्ति, निषेध्यसिद्धिं च अपेक्षन्ते। ज्ञेयत्वहेतुना न कि चिदस्तीति साध्यते, (कि चिद् अस्तीति प्रतिषिध्यते वा)। स च प्रतिषेधः, (तच्च साध्यं कि चिद् अभावरूपम्) प्रतियोगिज्ञानं विना न संभवति। कि चिदस्ति विना कि चित् नास्तीति न भवति। अभावज्ञाने प्रतियोगि– ज्ञानस्य कारणत्वात्। न हि कारणं विना कार्यं द श्यते इति। ज्ञेयत्वेन हेतुना प्रतिषेध्यस्य कि चिद् अस्ति इत्यस्य आक्षेपेण, निषेध्यस्य कि चिदस्तीत्यस्य सिद्धिं विना न कि चिदस्तीति साध्यं साधयितुं न प्रमेयत्वहेतुः समर्थः इति। प्रमेयत्वहेतुः स्वार्थक्षेपिकायुक्तिमाक्षिपति निषेध्यासिद्धिं च अपेक्षते। एव च ज्ञेयत्वेन प्रतिषेध्यस्य आक्षेपेण प्रतिषेध्यसिद्ध्यपेक्षेण च कि चिदस्तित्वसिद्धौ कथं तेनैव प्रमेयत्वहेतुना तन्निषेधः = कि चिदस्तित्वनिषेधः, बाधापरपर्यायः स्यात्? विरोधिनं साधयन् हेतुर्न स्वं साधयितुमिष्टे। अन्यथा पर्वतो बह्निमान् जलत्वाद् इत्यनुमानापत्तेः। एव च तव सर्वे न कि चिदस्तित्वसाधका हेतवः दुष्टाः, हेत्वाभासाः न साध्यं साधयितुं समर्थाः।

स्वार्थप्रतिक्षेपिकाम् इति। न कि चिदस्तीत्यादेरपि प्रतिज्ञार्थस्य ज्ञेयत्वेन हेतुना प्रतिक्षेपात् विरोधात् बाधाद्वा, वस्तुमात्राभावरूपप्रतिज्ञार्थस्य ज्ञेयस्य सत्त्वेन न कि चिदस्तीति प्रतिज्ञार्थस्य प्रतिक्षेपो बोध्यः। एवमन्येष्वपि हेतुदोषो बोध्यः। **निषेध्यसिद्धिं चेति।** प्रतिषेध्यस्य कि चिद् अस्तित्वस्य सिद्धिं च हेतवो पेक्षन्ते। तथा च प्रतिषेध्यसिद्ध्यपेक्षाः हेतवः कथं तमेव बाधेयुः ? उपजीव्यविरोधात्।

एव च हेतूनां साधारणौ दोषौ, स्वार्थप्रतिक्षेपकयुक्तिनिषेध्य– सिद्ध्यपेक्षरूपौ उक्त्वा प्रातिस्विकदोषान् आह – **अनैकान्तिकौ च प्रथमद्वितीयावित्यादि।** प्रथमहेतोः

ज्ञेयत्वस्य फले ज्ञाप्ये सर्वनास्तित्वात्मके सत्येव (सत्पदार्थे एव) व त्तित्वेन व्यभिचारात्। साध्यभाववद्व त्तित्वं हि व्यभिचारः। कि चित्सत्यत्वाभावरूपसाध्यस्य अभाववति सर्वनास्तित्वात्मके ज्ञाप्ये साध्ये सत्यत्ववति (अस्तित्ववति) प्रमेयत्वस्य प्रमाविषयत्वस्य हेतोः सत्त्वात्। अन्यथा साध्यस्य असत्यत्वापत्तेः। अस्तित्वानुपपत्तेश्च। प्रमाविषयत्वस्यैव सत्यत्वात् अस्तित्वाच्च। द्वितीयस्यापि ज्ञानत्वस्य हेतोः स्वफले स्वोत्पाद्ये सर्वासत्यत्वज्ञाने सत्ये एव व त्तित्वेन व्यभिचारात्। असत्वविकल्पानुपपत्तिरूपौ त तीय–चतुर्थौ हेतू असिद्धौ। प्रप चानां सत्यत्ववादिनो विकल्पोपपत्तिवादिनश्च सिद्धान्तिनो मते जगति असत्वहेतुः विकल्पानुपपत्तिहेतुश्च न वर्तेते। पक्षे हेत्वभावः स्वरूपासिद्धिरिति तन्मते उभौ हेतू स्वरूपासिद्धौ हेत्वाभासौ। हेतुश्च उभयवादिसिद्ध एव साध्यं गमयति नान्यथा। प्रत्ययत्वादिति प चमो हेतुः स्वसाध्यविषयकज्ञानरूपफले सत्यपदार्थे वर्तते। तत्र सत्याभावरूपम् अस्तित्वाभावरूपं वा साध्यं न वर्तते इति साध्याभाववद्व त्तित्वेन साधारणो नैकान्तिकः। साध्याभाववद्व त्तिः साधारणो नैकान्तिकः। कर्मानुपपत्तिश्च षष्ठो हेतुरसिद्धः। द श्यस्य प्रप चस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन कर्मोपपत्तौ तत्र कर्मानुपपत्तिरूपहेतोः असत्त्वात् स हेतुः स्वरूपासिद्धः। व्याघातेन अनैकान्तिकश्च। न ह्यसत्यं द श्यते जगत्तु द श्यते। अतो न असत्यम् नास्तित्वाभाववच्च। एव च साध्याभाववति जगति तस्य व त्तित्वेन साधारणव्यभिचारः। कर्मानुपपत्तिरूपे हेतौ व्याघातश्च। कर्मानुपपत्तिरूपहेतुः। विज्ञानस्यापि कर्मानुपपत्तेः, कथं कर्मानुपपत्तिरूपहेतोः सिद्धिः? कर्मानुपपत्तेः परस्मिन्निव स्वस्मिन्नपि समत्वात्। कर्मानुपपत्तिर्यथा अन्यान् बाधते तथा स्वमपि बाधेत। विनिगमकाभावात्। कर्मानुपपत्तिश्च हेतुः स्वफलेन अनैकान्तिकः। सत्यत्वाभावाभाववति अस्तित्वाभावाभाववति वा स्वफले हेतोः व त्तित्वेन व्यभिचारः। न कि चिद् दर्शनम् इत्येतस्मिन् बौद्धदर्शने कर्मानुपपत्तेः सत्वेन व्यभिचारः। मिथो व्याघातादिति सप्तमो हेतुरसिद्धः। शब्दानित्यत्वानित्यत्वयोः अन्यतरस्य आभासत्वेन सिद्धान्तत्वाभावात्। सिद्धान्तयोः मिथो व्याघातासिद्धिः। स्व–स्व–सिद्धान्ते शब्दस्य नित्यत्वे अनित्यत्वे वा, मिथो व्याघातरूपहेतोः असत्त्वेन स्वरूपासिद्धत्वम्। तथा सर्वासिद्धत्वसिद्धान्ते साध्याभाववति हेतोः सत्त्वेन अनैकान्तिकश्च। सर्वे एव उक्तहेतवः बाधिताः। अस्तित्व–सत्यत्वादीनां साध्यविपरीतानां साध्यान्तानां सर्वप्राणभ त् प्रमाणसिद्धत्वेन सर्व एव हेतवः कालात्ययापदिष्टाः। साध्याभाववत्पक्षकत्वं बाधितत्वम्। यथा जलह्रदो बह्निमान् धूमात् इति। यस्य हेतोः साध्याभावः पक्षे प्रमाणान्तरेण सिद्धः स बाधित इति वा बाधलक्षणम्।

एतेन द ष्टान्ता अपि विसर्जनीयाः। ते हि रज्जुसर्पवत्, तज्ज्ञानवत्, शशविषाणवत्, दर्पणमुखवत्, स्वप्नप्रत्ययवत्, च्छेद्यानुपपत्तौ च्छिदावत्, मिथः शोषकनिर्वापकानलसलिलवदित्यादयः। येन च तत्र सर्पस्यासत्त्वं तज्ज्ञानस्य मिथ्यात्वं, शशविषाणस्याकारकत्वं, दर्पणमुखस्य विचारासहत्वं, स्वप्नज्ञानस्य

निरालम्बनत्वं, च्छेद्यानुपपत्तौ च्छिदानुपपत्तिश्चावधारितानि। तेनैव तत्र रज्जोः सत्त्वमसर्पज्ञानस्य सत्यत्वं, शशस्यान्यत्र गवादेर्विषाण एव कारकत्वं, दर्पणस्य विचारसहत्वं, स्वप्नज्ञानस्य सालम्बनत्वं, च्छेद्यनिष्ठा च्छिदा सिद्धौ ज्ञानं कर्म चोपपादितानि। तदनुपपत्तौ वा साध्यविकलतया सर्व एवैते द ष्टान्ताभासाः। अन्तिमस्तु साधनविकलः। सिद्धान्तानां व्याघातः परस्परविरहरूपत्वलक्षणः, जलानलयोस्तु वध्यधातकस्वभावत्वलक्षणः। न च शब्दसाम्येनानुमानमित्येषा दिक्।

[**अथ बौद्धीय-द ष्टान्त-निराकरणम्**]

बौद्धीयद ष्टान्तान् खण्डयितुमाह – **एतेन द ष्टान्ता अपि विसर्जनीयाः** इति। सर्वनास्तित्व–सर्वासत्यत्वपक्षे तज्ज्ञानादीनामपि नास्तित्व–असत्यत्वादि–प्रसक्तेः द ष्टान्तानुपपत्तिरित्याह – **एतेनेति।** व्याघातरूपदोषेण द ष्टान्ता अपि त्याज्याः। व्याघातश्च येन च इत्यग्रिम– ग्रन्थेन दर्शयिष्यति। बौद्धस्य के प्रक्रमेण द ष्टान्ता इत्यत आह – **ते हि (बौद्धीयद ष्टान्ता हि) (१) रज्जुसर्पवत्, (२) तज्ज्ञानवदित्यादि** इति। व्याघातमेव स्पष्टयति – **येन च तत्र सर्पस्य असत्यत्वमित्यादि। येन** बाधकेनेत्यर्थः। तेनैवेति। तेनैव बाधकेनेत्यर्थः। अस्वप्नज्ञानस्येति जाग्रज्ज्ञानस्येत्यर्थः। तदनुपपत्तौ इति। बाधकज्ञानस्य मिथ्यात्वेनापि तदनुपपत्तौ = बाधकत्वानुपपत्तौ सर्पादीनाम् असत्यत्वाद्यभावेन साध्यविकलतया तेषां द ष्टान्ताभासता इति बोध्यम्।

विशेषदोषमाह – **अन्तिमस्तु साधनविकलः। सिद्धान्तानां हि व्याघातः परस्परविरहरूपत्वलक्षणः। जलानलयोस्तु वध्यघातकस्वभावलक्षणः, न च शब्दसाम्येन अनुमानम् इत्येषा दिक्** इति।

साधनोपक्रमविचारः। मिथः शोषकनिर्वापकानलसलिलद ष्टान्तः। मिथो व्याघातरूप–साधनविकलः। साधनविकलतामेव द ष्टान्ते विव णोति **सिद्धान्तानामिति।** न कश्चित् सिद्धान्तः, मिथो व्याघातात् इत्यत्र सिद्धान्तानां व्याघातः परस्पर–विरहरूपत्वलक्षणः, परस्परविरहरूपत्वव्याघातेन न को पि सिद्धान्तो भवति। जलानलयोस्तु व्याघातः बध्यघातकरूपो, न परस्परविरहरूप इति परस्परविरहरूप–व्याघातः हेतुः जलानलरूपद ष्टान्ते असत्त्वेन द ष्टान्ते तस्मिन् साधनविकलता सुस्पष्टा।

ननु प्रतिज्ञाद्यर्थाविवक्षयैव उक्तानुमाने सर्वशून्यत्वसिद्धिः स्याद् अत आह – **न च शब्दसाम्येनेति।**

अस्तु तर्हि दूषणोपक्रमेण विचार इति चेत्, तमपि पश्यामः कीद शो साविति। नेदं स्थूलं विरुद्धधर्म्मासंसर्गप्रसङ्गात्। नास्थूलं तथा प्रतिभासप्रसङ्गात्। न परानपेक्षं सदातनत्वप्रसङ्गात्, न परापेक्षं

सदसद्व्यतिरेकप्रसङ्गात्। नैकं तथा प्रतिभासप्रसङ्गात्। नानेकं भेदव्यवस्थितिप्रसङ्गात्। न च व्यापकं निष्क्रियत्वप्रसङ्गात्। नाव्यापकं अविधेयत्वप्रसङ्गादित्यादिरिति चेन्न। मिथोविरोधमूलशैथिल्येष्टापादनानुकूल-त्वविपर्ययापर्यवसानैस्तर्काभासत्वात्।

यथा हि नायं पर्वतो निरग्निः निर्धूमत्वप्रसङ्गात्। नाप्यग्निमान् तथोपलब्धिप्रसङ्गात् इत्यनयोरेक आभासः। परस्परार्थप्रतिक्षेपकयोस्तयोरना-भासत्वानुपपत्तेः, तथात्रापि। न ह्यस्थूलतादिनिषेधादन्यः, स्थूलतादिविधिः। तन्निषेधाद्वान्यो स्थूलतादिविधिरिति।

शिथिलमूलाश्चैते प्रतिबन्धस्यासिद्धेः। सिद्धौ वा व्याप्यव्यापकतदधि-करणानां सिद्धौ विवादनिव त्तेः।

इष्टापादनं च प्रथमे, अनुभूतावसिते स्थूले विरुद्धधर्मासंसर्गस्येष्टत्वात्। तथा च वक्ष्यामः।

अनुकूलश्च द्वितीयः। अस्थूलताप्रतिक्षेपस्य स्थूलोपलम्भानुग्राहकत्वात् तद्रूपताव्यवहारस्य तथा प्रतिभासव्याप्तत्वाच्च। एवं त तीयो पि। अनपेक्षत्व-प्रतिक्षेपस्य सापेक्षत्वोपलम्भानुग्राहकत्वात्। अनपेक्षत्वविधेः सदातनत्वव्याप्त-त्वाच्च। चतुर्थस्त्वप्रसिद्धव्यापकः। सदसत्त्वस्य विरोधेनैकत्र विधिवन्निषेधस्या-प्यनुपपत्तेः। प चमस्त्वनुकूल एव। अनेकत्वाभिमते वस्तुन्येकताप्रतिक्षेपस्यानेकतो-पलम्भोपष्टम्भकत्वात्। ताद्रूप्यव्यवहारस्य तथा प्रतिभासव्याप्तत्वाच्चेति। षष्ठस्त्विष्ट एवास्माकम्।

[**अथ वस्तुनिषेधनिराकरणम्**]

एवं साधनोपक्रमविचारे निरस्ते दूषणोपक्रमविचारं शङ्कते – **अस्तु तर्हि दूषणोपक्रमेण विचार इति चेत्?** इति। तदर्थः साधनं दूषण चेत्यनेन वाक्यार्थः साधनं दूषण चेति द्विविधः। पूर्वोक्तयुक्त्या साधनोपक्रमविचारो दूषितः। इदानीं दूषणोपक्रमविचारं दूषयितुं शङ्कते – **अस्तु** इत्यादिना। साधनोपक्रमविचारसद शो यं दूषणोपक्रमविचारः। स तु खण्डित इति मनसिक त्य सिद्धान्ती प च्छति – **तमपि पश्यामः कीद शो सौ** इति। दूषणोपक्रमविचारं पश्यामः, कीद शो दूषणोपक्रमविचारः। दूषणोपक्रमविचारस्वरूपं दर्शयति पूर्वपक्षी – **नेदं स्थूलं विरुद्धधर्मासंसर्गप्रसङ्गात्** इति। इदं घटपटादि जगत् न स्थूलं, विरुद्धधर्मासंसर्गापत्तेः। परमाणुपु ज एवावयवी न ततो भिन्नः। परमाणौ च न स्थूलत्वं तदात्मकघटादिरपि न स्थूलो भवितुं योग्यः। अस्थूलत्वविरुद्ध – स्थूलत्वसंसर्गस्य घटादौ असंभवादिति शङ्का बौद्धस्य। **न**

अस्थूलं तथा प्रतिभासप्रसङ्गात् इति। घटपटादि जगत् नास्थूलम् – न महत्वाभाववत्। अस्थूलतया प्रतिभासप्रसङ्गापत्तेः। घटपटादिजगत् स्थूलमस्थूलं वेति दूषणमुक्तम्, न परानपेक्षं सदातनत्वप्रसङ्गात् = घटपटादिजगत् न स्वभिन्नकारणापेक्षं सदातनत्वापत्तेः = नित्यत्वापत्तेः। काराणानपेक्षाणाम् आकाशादीनां सदातनत्वदर्शनादित्यभिप्रायः। न परापेक्षं सदसद्व्यतिरेकप्रसङ्गात् = परानपेक्षाणाम् आकाशादीनां सत्त्वं द श्यते। परानपेक्षाणां गगनकुसुमादीनाम् असत्त्वदर्शनात् घटपटादिजगतां सदसद्व्यतिरेक–(भिन्नत्व)–प्रसङ्गात्। सत्त्वासत्त्वयोः विरुद्धयोः एकत्र समावेशासंभवेन घटादिः सदसद्भिन्नः स्यात्। सदसद्भिन्नश्च पदार्थो न भवति। घटादिः कारणरूपं परमपेक्षते न वेति विकल्प्य दूषणमुक्तम्। घटपटादिजगत् एकमनेकं वेति दूषणमाह – **नैकं तथा प्रतिभासप्रसङ्गात्** इति। घटपटादि जगत् नैकम्, एकतया प्रतिभासप्रसङ्गात्। **नानेकं भेदव्यवस्थितिप्रसङ्गात्** इति। घटपटादि जगत् नानेकम्, भेदव्यवस्थिति–प्रसङ्गात्। भेदस्य स्वरूपलक्षणस्य, धर्मलक्षणस्य, अभावलक्षणस्य च व्यवस्थितिप्रसङ्गात्। व्यवस्था च न घटते इत्यभिप्रायः। अभिप्रायश्च अनन्तरमेव विवरिष्यते। भेदश्च स्वरूपभेदः। धर्मलक्षणः प थक्त्वरूपः। अन्योन्याभावरूपश्च। घटपटादि जगत्। व्यापकमव्यापकं वेति विकल्प्य दूषयति – **न च व्यापकं निष्क्रियत्वप्रसङ्गात्।** न अव्यापकम्, अविधेयत्वप्रसङ्गात् इत्यादिरिति चेत्? घटपटादि जगत्, न व्यापकं निष्क्रियत्वप्रसङ्गात्। व्यापकस्य सर्वत्र सत्त्वेन विभज्यमान–संयुज्यमानयोः देशयोरभावात् तस्य निष्क्रियत्वम्। घटपटादिजगत् न अव्यापकम्। अविधेयत्वप्रसङ्गात्। अव्यापकत्वं च क्वचिन्नास्तित्वम्। नास्तित्वं च निषेध्यत्वम्। तस्य निषेध्यत्वस्य विधेयत्वेन विरोधात् सर्वत्र अविधेयत्वं प्रसज्यते इत्यभिप्रायः। एव च घटपटादि जगत् न स्थूलमस्थूलं वा। न वा कारणापेक्षं कारणानपेक्षं वा। न वा एकमनेकं वा। न वा व्यापकमव्यापकं वेति सिद्धम्। तथा च घटपटादि जगत् नास्त्येवेति शून्यत्वं पर्यवसितमिति भावः। एषां पूर्वोक्तानां प चाङ्गवैकल्येन तर्काभासत्वमिति न विचाराङ्गास्ते भवितुं योग्या इति। सिद्धान्ती दर्शयति – **न मिथो विरोधमूलशैथिल्यम्। परस्परेति।** निरग्निकत्वनिषेधको हि बह्निमत्त्वविधिद्वारेण अग्निमत्वनिषेधकार्थं प्रतिक्षिपति। एवम् अग्निमत्त्व–निषेधको पि निरग्निमत्त्वनिषेधकार्थम् इत्येवमुभयोः परस्परार्थप्रतिक्षेपकत्वाद् अनाभासत्वानुपपत्तेरिति। अनाभासत्वाभावाद् इत्यर्थः। तथा अस्थूलत्वादिनिषेधाद् अन्यः स्थूलादिविधिः, अस्थूलाभावस्य स्थूलत्वात् स्थूलनिषेधाद् भिन्नो न अस्थूलविधिः। स्थूलाभावस्यैव अस्थूलत्वात्। तथा च स्थूलास्थूलयोः परस्परविरोधेन नेदं स्थूलं विरुद्धधर्मासंसर्गप्रसङ्गात्। न अस्थूलं तथाप्रतिभासप्रसङ्गाद् इत्यनयोः असत्त्वेन घटे स्थूलत्व– अस्थूलत्व–विरुद्धधर्मयोः असाधकत्वाद् घटस्य असत्त्वाभावत्वोपपत्तेः। घट–व क्षादिकं जगत् न स्थूलं नास्थूलम् इत्यादयस्तर्काः शिथिलमूलाः। आपादके आपाद्यनिरूपिता व्याप्तिर्हि तर्के मूलं, सा च प्रक ते न सिद्धा। व्याप्तिसिद्धौ वा व्याप्यव्यापकयोः अपाद्यापादकयोः, तयोरधिकरणस्य

च सिद्धिः आवश्यकी। अन्यथा व्याप्तिनिश्चयानुपपत्तेः। अन्वयादिद ष्टान्तादेः तयोरधिकरणत्वात्। तदङ्गीकारे च बाह्यार्थसिद्ध्या आवयोर्न विवादस्थानम्। बाह्यार्थस्य त्वया स्वीक तत्वात्। बाह्यार्थो स्ति न वेति विवादस्थानं बाह्यार्थरूपमावयोः। इष्टापादन च प्रथमे, अनूभूतावसिते स्थूले विरुद्धधर्मासंसर्गस्येष्टत्वात्। तथा च वक्ष्यामः। नेदं स्थूलं घटपटादि जगत् इति प्रथमे तर्के घटपटादिजगति अनुभवविषयीभूते स्थूले विरुद्धधर्मस्य स्थूलविरुद्धास्थूलधर्मस्य असंसर्गः (असम्बद्धः), तस्य इष्टत्वात्। अनुभवश्च बौद्धमते निर्विकल्पकज्ञानम्। तच्च प्रमाणं तद्विषयीभूते घटादिस्थूलत्वे प्रमाणीभूतज्ञानविषयत्वात् सत्यत्वं वर्तते। तत्र स्थूले विरुद्धधर्मासंसर्गस्य इष्टत्वे न को पि बाधकः। कम्पाकम्पादीनाम् अत्यन्तभिन्नावयवावयविनिष्ठतया एकत्र असंसर्गं वक्ष्याम इत्याह – **तथा चेति।**

अनुकूलश्च द्वितीयः। घटपटादि जगत् नास्थूलम्, तथाप्रतिभास– प्रसङ्गात्, इति द्वितीयस्तर्कश्चानुकूल एव। अस्थूलतानिषेधस्य परस्परविरहरूपतया घटादौ स्थूलोपलब्धिसहायकत्वात्। तव सो यं तर्कः तर्काभासः। तत्र हेत्वन्तरमाह – **तद्रूपताव्यवहारस्य तथा**(स्थूल)**प्रतिभास-**(ज्ञान)**व्याप्तत्वाच्च** इति। स्थूलात्मक–व्यवहारस्य स्थूलज्ञानव्याप्तत्वात्। घटपटादि जगत् न परानपेक्षं सदातनत्वप्रसङ्गादिति त तीयो पि मम अनुकूलः इत्यत आह – **एवं त तीयो पि, अनपेक्षत्व-प्रतिक्षेपस्य सापेक्षत्वोपलम्भानुग्राहकत्वात्। अनपेक्षत्वविधेः सदातनत्वव्याप्तत्वाच्च** इति। न परानपेक्षं सदातनत्वप्रसङ्गादिति त तीयो पि तर्कः अनुकूल एव। घटपटादिजगत्सु कारणानपेक्षत्वं शङ्क्यते – **ताद शकारणानपेक्षत्वप्रतिबन्धकस्य कारणसापेक्षत्वोपल-म्भानुग्राहकत्वात्। कारणानपेक्षत्वविधेः, सदातनत्वव्याप्तत्वाच्च** = नित्यत्वव्याप्त–त्वाच्च।

चतुर्थस्त्वप्रसिद्धव्यापकः। सदसत्त्वस्य विरोधेन एकत्र विधिवत्, निषेधस्यापि अनुपपत्तेः। घटपटादिजगत्, न परापेक्षं सदसद्व्यतिरेक–प्रसङ्गादिति चतुर्थः तर्को न संभवति। अप्रसिद्धव्यापकत्वात्। क्वचित् प्रसिद्धं हि व्यापकं क्वचित् साध्यते, क्वचिदापाद्यते वा। अत्र च आपाद्यमानं सदसद्व्यतिरेकित्वं व्यापकीभूतं न क्वचित्प्रसिद्धः। पदार्थः सद् भवति यथा घटादिः, असद्वा घटाभावादिः। न च सदसद्भिन्नः पदार्थः क्वचित् प्रसिद्ध्यति। तमेव प्रतिपादयति – **सदसत्त्वस्य विरोधेन एकत्र विधिवत् निषेधस्यापि अनुपपत्तेरिति**, यथा सदसत्त्वं नैकत्र तत् निषिध्यते विरोधात्। तथा च घटादिजगति सदसतोः निषेधासंभवेन तद् व्यतिरेकित्वाप्रसिद्ध्या तत् जगति आपादयितुं न शक्यते। 'घटपटादि जगत्' नैकं तथाप्रतिभासप्रसङ्गाद् इति। प चमस्तु तर्कः अनुकूलः। अनेकत्वाभिमते वस्तुनि एकताप्रतिक्षेपस्य अनेकतोपलम्भे उपलम्भकत्वात् = अनेकत्वाभिमते घटपटादौ एकत्वप्रतिषेधस्य अनेकत्वोपलम्भे उपलम्भकत्वात् = अनेकत्वोपलम्भप्रयोजकत्वात्।

अशिथिलमूलत्वमाह = **ताद्रूप्यव्यवहारस्य तथाप्रतिभासव्याप्तत्वात् च** इति। घटपटादयो नेके इति ताद्रूप्यव्यवहारः, अनेके घटपटादय इति प्रतिभासाद् भवति। घटपटादि जगत् नानेकं, भेदव्यवस्थितिप्रसङ्गादिति षष्ठस्तु तर्को नैयायिकस्येष्ट एवेति नैयायिकस्येष्टापत्तिः। भेदव्यवस्थितेः तैः स्वीक तत्वात्। तदाह – **षष्ठस्त्विष्ट एवास्माकम्** इति।

ननु भेदः स्वरूपं वा स्यादितरेतराभावो वा धर्मान्तरं वा। न पूर्वः, घटो भिन्न इति सहप्रयोगानुपपत्तेः। नापरः, प्रतीतावात्माश्रयप्रसङ्गात्। भिन्नप्रतियोगिनिरूपणाद्धि तदभावो निरूप्यस्तन्निरूपणमेव च भेदनिरूपणम्। नोत्तरः, अनवस्थाप्रसङ्गात्। तत्कथमसौ व्यवतिष्ठतामिति चेत्।

तत् किं भेदज्ञानमेव नास्ति, सदपि वा नित्यम्, अनित्यमपि वा निर्हेतुकं, सहेतुकमपि वा निर्विषयकं, सविषयकमपि वा बाध्यमानविषयकमिति। तत्र प्रथमः सर्वतो विरोधादनुत्तरः। द्वितीयः सुषुप्त्यवस्थानुरोधादुपेक्षणीयः। त तीयो पि विरोधाद्धेयः। चतुर्थस्तु भेदोल्लेखादेव त्याज्यः। प चमस्तु चिन्त्यते, किमेतेष्वन्यतमात्मा तस्य विषयः तदन्यो वेति। तत्र यद्यन्य एव, किमेताभिर्व्यधिकरणानुपपत्तिभिस्तस्य बाध्येत्। एवं हि चौरापराधेन व्यक्तमयं माण्डव्यनिग्रहः स्यात्।

[**अथ भेदनिषेधनिराकरणम्**]

ननु भेदव्यवस्थितिः अनुपपन्नेति कथं नैयायिकः तस्य इष्टापत्तिं करोतीति परः प च्छति – **ननु भेदः स्वरूपं वा स्यादिति?** स्वरूपं भेदः = भावरूपं भावान्तराद् भेदः। इतरेतराभावो वा। भावयोः परस्परतादात्म्याभावो वा? धर्मान्तरं वा? स्वरूपेतरेतराभावयोः अन्यो धर्मो वा? स्वरूपभेदभिन्नम् अन्योन्याभावभिन्न च धर्मो वा (प थक्त्वरूपः)? सर्वान् भेदान् खण्डयितुमुपक्रमते – न प्रथमः। घटो भिन्न इति प्रयोगानुपपत्तेः इति। घट–पटादिभेदयोः ऐक्येन घटो घट इत्यत्र इव अभेदान्वयानुपपत्त्या सहप्रयोगानुपपत्तेः। अभेदान्वयबोधं प्रति तद्धर्मभेदस्य कारणत्वात्। नापरः, प्रतीतौ आत्माश्रयापत्तेः। नान्योन्याभावरूपो भेदः। भेदज्ञाने आत्माश्रयापत्तेः। भेदनिरूपणाधीनम् अभावनिरूपणम्। अभावनिरूपणमेव भेदनिरूपणम्। इतरेतराभावनिरूपणम् एव भेदनिरूपणम् इति। स्वनिरूपणाधीनं स्वनिरूपणम् स्यादिति आत्माश्रयता इति। पटाद् भिन्नेन प्रतियोगिना घटेन, घटेतराभावः पटे निरूप्यते। अतो न्योन्याश्रयः। **नोत्तरः।** भेदो न धर्मान्तररूपः। धर्मस्यापि हि तदन्येभ्यो भेदात् धर्मान्तरस्वीकारः। अस्यापि धर्मान्तरस्य तदन्येभ्यो भेदाद् धर्मान्तरस्वीकारः। तस्यापि तथा इति रीत्या अनवस्था स्यादिति। तथा च एताद शदोषाणां सत्त्वेन कथमसौ भेदो व्यवतिष्ठतामिति चेत्?

सिद्धान्ती परिहरति – **तत्किं (१) भेदज्ञानमेव नास्तीति?** भेदज्ञानस्य आत्माश्रयत्व–कथनेन, किं भेदज्ञानमेव नास्तीत्युच्यते? भेदज्ञानस्य अस्तित्वे पि नित्यत्वम्, तस्य अनित्यत्वे पि वा निर्हेतुकत्वं कथ्यते? अनस्थाप्रसङ्गेन निर्विषयत्वं वा कथ्यते? इति। तत्र प्रथमः सर्वतो विरोधादनुत्तरः। एतेषु विकल्पेषु मध्ये भेदज्ञानमेव नास्तीति पक्षो न युक्तः। बौद्धनैयायिकयोः विचारे वादिप्रतिवादि–स्वीकारस्य आवश्यकत्वम्। वादिप्रतिवादिनौ विना विचारानुपपत्तेः। भेदं विना वादिप्रतिवादिनोः व्यवहारानुपपत्त्या भेदज्ञानस्य आवश्यकत्वात्। तथा च वादिप्रतिवादिभेद–दूष्यदूषणादिभेदव्यवहारादिभिः सर्वतो विरोधात् भेदज्ञानमेव नास्तीति पक्षः उत्तरानर्हः।

भेदज्ञानं सदपि वा नित्यमिति द्वितीयपक्षो न युक्तः। तथासति भेदज्ञानस्य नित्यत्वे, अचेतनावस्थारूप–सुषुप्ताभावापत्तेः। सुषुप्तिश्च सर्वानुभवसिद्धा। अचेतयन्नेव हि सुषुप्त इत्युच्यते। न च भेदं जानतो अचेतयमानत्वं संभवति इति मनसिक त्य कथयति सिद्धान्ती – **द्वितीयः। सुषुप्त्यवस्थानुरोधाद् उपेक्षणीयः** इति। **त तीयो पि विरोधाद्धेयः।** अनित्यमपि भेदज्ञानं निर्हेतुकमिति त तीयपक्षो पि विरोधात् हेयः। भावरूपानित्य–सहेतुकयोः व्याप्तेः। यो नित्यो घटपटादिः, स दण्डादिहेतुक एव भवतीति लोकप्रसिद्धिः। तस्याः विरोधस्तु अत्र स्पष्टः। चतुर्थस्तु भेदोल्लेखादेव त्याज्यः। सहेतुकमपि भेदज्ञानं निर्विषयमिति चतुर्थपक्षस्तु स्ववचनविरोधात् हेयः। तदुल्लेखित्वस्यैव तद्विषयत्वात्। भेदज्ञानमित्यत्र भेदस्योल्लेखित्वेन तस्य भेदविषयत्वसिद्ध्या निर्विषयत्वस्य कथयितुम् अशक्यत्वात्। सविषयत्वनिर्विषयत्वयोः सहानवस्थानरूपविरोधेन एकत्र भेदज्ञाने तयोः अवस्थानासंभवात्। प चमस्तु चिन्त्यते – **किमेतेषु अन्यतमात्मा तस्य विषयः? तदन्यो वेति?** सविषयमपि भेदज्ञानं बाध्यमानविषयकमिति प चमपक्षस्तु विचार्यते। किम् एतेषु स्वरूप– इतरेतराभाव–धर्मान्तरेषु मध्ये अन्यतमो भेदज्ञानस्य विषयः? किं वा स्वरूप–इतरेतराभाव–धर्मान्तरेभ्यो भिन्नो स्य भेदज्ञानस्य विषय इति। तत्र यदि स्वरूप–इतरेतराभाव–धर्मान्तरेभ्यो भिन्नो भेदज्ञानस्य विषयः स्वीक्रियते, तदा घटो भिन्न इति सहप्रयोगानुपपत्तेरित्यादिना उक्ताभिः स्वरूपभेदाधिगताभिः व्यधिकरणाभिः सहप्रयोगानुपपत्तिभिः तदन्यभेद–विषयकज्ञानं कथं बाध्येत? बाध्यबाधकयोः समानविषयकत्वस्य आवश्यकत्वात्। अन्यथा घटाभावज्ञानं पटज्ञानमपि बाध्येत इति। तदेव कथयति – तत्र यद्यन्य एव किमेताभिर्व्यधिकरणानुपपत्तिभिस्तस्य बाध्येत इति। अत्र द ष्टान्तमाह – **एवं हि चौरापराधेन व्यक्तम् अयं माण्डव्यनिग्रहः स्यात्** इति। चौरापराधेन अचौरो माण्डव्यो मुनिः राज्ञा निग हीतः। ''अचौरश्चौरतां प्राप्तो माण्डव्यो व्यवहारतः'' इति लोकप्रसिद्धिः। तथा च स्वरूपादि–भेदनिषेधकानुपपत्तिभिः तदन्यभेदविषयकबाधनम् असम्भवीति अभिप्रायः।

अथान्यतमात्मा, तत्रापि यदि धर्मान्तरमेवेति तत्त्वं, तदानवस्थाभिया तदधिक एव प्रवाहस्त्यज्यतां तस्य कुतस्त्यागः। न ह्यनवस्था प्रतिभासमानमर्थं निवर्त्तयति, किन्तु प्रवाहं परिहापयति, गन्धे गन्धान्तरवत्।

अथेतरेतराभावमेव भेदज्ञानमवलम्बत इति तत्त्वं, तत्रापि क्वात्माश्रयः। तेन हि भेदज्ञानमेव न स्यात्। अस्ति च तत्, हेत्वन्तरमाक्षिपेत्, न तु स्वात्मनि स्वयमहेतुत्वे स्वयमेव निवर्तते। अविद्यावशादिति चेत्, किं चातः। न ह्यविद्येत्येवात्माश्रयनिव त्तिः। तथा सति घटादयो पि कुलालादिनिरपेक्षाः स्वयमेव भवेयुः। अथात्माश्रयदोषोपहततया तन्न स्वस्यैव कारणम्। ततो यतः कुतश्चित् तस्य जन्म। तच्च दुर्निरूपमतो विद्येत्युच्यत इति विचारार्थः। नाम्नि तर्हि विवादः। न च तदपि दुर्निरूपम्, प्रतियोगिरूपत्वेनाप्रतीतावधिकरण-प्रतीतिरधिकरणस्वभावत्वेनास्म तौ प्रतियोगिस्म तिश्चेतरेतराभावग्रहणकारणमिति निरूपणात्।

अथ अन्यतमात्मेति, गन्धान्तरवदिति। अथ भेदज्ञानस्य विषयः, स्वरूप– इतरेतराभाव – धर्मान्तरेषु अन्यतमः, तत्रापि अन्यतमेषु यदि धर्मान्तररूपभेदो भेदज्ञानस्य विषयः तदा धर्मस्यापि तदन्येभ्यो भेदात् धर्मान्तरस्वीकारः। धर्मान्तरस्यापि तदन्येभ्यो भेदात् धर्मान्तरस्वीकारः तस्यापि तथेतिरीत्या अनवस्थायाः भयेन तदधिक एव। धर्मान्तररूपात् भेदज्ञानविषयात् प्रथमभेदात् अधिकः प्रथमधर्मान्तराद् भिन्नो धर्मान्तररूपः प्रवाहः त्यज्यताम्। तस्य भेदज्ञानविषयस्य धर्मान्तररूपस्य प्रथमभेदस्य कुतस्त्यागः क्रियते? द्वितीयधर्मान्तरप्रवाहपरित्यागेन एव अनवस्थाया निव त्तेः, प्रथमधर्मान्तररूपभेदस्य भेदानुभवविषयस्य त्यागो न समुचितः। अनुभवविरोधात्। न हि अनवस्था ज्ञानविषयम् अर्थं निवर्तयति (निषेधति) किन्तु प्रवाहं परित्याजयति। यथा अबादिभ्यः प थिव्यां गन्ध एव भेदक इत्युक्ते, सुरभि प थिवीतिवत् सुरभिर्गन्ध इति व्यवहारेण गन्धे पि गन्धान्तरप्रसक्तौ अनवस्थया गन्धान्तरमेव त्याज्यते न तु प थिवीगन्धो पि। तथा भेदज्ञानविषयो धर्मान्तरभेदो न अनवस्थया त्याज्यते किन्तु धर्मान्तरो पि अन्येभ्य भिन्न इति। तत्रापि धर्मान्तरः स्वीकार्य इति धर्मान्तरप्रवाह एव तया अनवस्थया त्याज्यः। एव च अनवस्थया धर्मान्तररूपो भेदो न खण्डनीयः। तस्य भेदानुभवप्रमाणसिद्धत्वात्।

अथेतरेतराभावमेव भेदज्ञानमवलम्बत इति तत्त्वम्। भेदज्ञानस्य विषयः इतरेतराभावरूपभेद इति पूर्वपक्ष्यभिमतम् इति चेत्? इतरेतराभावरूपभेदपक्षे आत्माश्रयदोषं परिहरति – **तत्रापि क्वात्माश्रयः** इति। नापरः, प्रतीतौ आत्माश्रयप्रसङ्गाद् इत्यादिना इतरेतराभावरूपभेदज्ञाने आत्माश्रयः उक्तः। तेन हि भेदज्ञानमेव न स्यात्। अस्ति च तदिति। इतरेतराश्रयत्वेन भेदज्ञानमेव न स्यादिति तु वक्तुं न शक्यते। भेदज्ञानस्य

विद्यमानत्वात्। तस्य भेदज्ञानस्य कार्यस्य विद्यमानत्वेन केनापि कारणेन भवितव्यम्। कार्यस्य कारणं विना अनुपपत्तेः। कारणस्य स्व– नियतपूर्ववर्तित्वेन स्वयं स्वं प्रति अकारणत्वेन तद्भेदज्ञानरूपं कार्यं कारणान्तरम् आक्षिपति। सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया। नहि स्वात्मनि स्वस्य अहेतुत्वे स्वयमेव निवर्तेत। एव च इतरेतराभावरूप–भेदज्ञाने आत्माश्रयत्वे अपि भेदज्ञानं कारणान्तरेण जायमाने स भेदो विषय एवेति। न तु भेदो नास्तीति वक्तुं शक्यते। भेदानुभवस्यैव तत्र प्रमाणत्वात्। विषयतासंबन्धेन ज्ञानं प्रति तादात्म्येन विषयस्य कारणत्वेन भेदं विना भेदज्ञानासंभवात्। सर्वानुभवसिद्धस्य अस्माद् अयं भिन्न इति भेदज्ञानस्य अपलपितुम् अशक्यत्वात्।

ननु पारमार्थिकपदार्थे एव आत्माश्रयादिदोषो प्रतिबन्धको, न तु अपरमार्थिके। तथा च पारमार्थिकं भेदमन्तरेणापि अविद्यावशात् आविद्यिक भेद उत्पद्यते इति शङ्कते – **अविद्यावशादिति चेत्?** अयमर्थः – परमार्थिकभेदमन्तरेण अविद्यावशादेव इदं भेदज्ञानं भवति। अतः परमार्थ– पक्षवत् नास्माकम् आत्माश्रयदोष इति भावः। सिद्धान्ती प्रश्नपूर्वकं समाधत्ते – **कि चातः? न हि अविद्या इत्यादीति।** पारमार्थिकं भेदमन्तरेण अविद्यावशात् भेदज्ञानं भवतीत्यनेन किं विवक्ष्यते? यदि भेदज्ञानम् अविद्यया भवति अतो त्र नात्माश्रयदोष इत्युच्यते? तदा घटादयो पि कुलालादिकारणं विनैव स्वस्मादेव उत्पद्यन्ताम्। तेषामपि अविद्याविलसितत्वेन अत्र आत्माश्रयदोषाभावात्। अन्यथा भेदज्ञाने पि आत्माश्रयत्वापत्तेः। अतः परमार्थिके इव अविद्याविलसिते पि आत्माश्रयत्वदोषो भवत्येव।

परः शङ्कते – **अथ आत्माश्रयदोषोपहततयेति** स्वो यदि स्वं प्रति कारणं स्यात् स्वभिन्नं स्यात् इति तर्कविरोधेन, आत्माश्रयत्वदोषेण च स्वयं स्वस्य न कारणं भवितुमर्हति किन्तु स्वभिन्नाद् यस्मात् कस्माच्वित् स्वस्य जन्म (उत्पत्तिः)। तत्स्वभिन्नं कारणं दुर्निरूपम् = निरूपयितुमशक्यम्। अतो विद्येत्युच्यते। स्वस्य कस्माज्जन्म तस्य ज्ञानं नास्तीति पूर्वपक्ष्यभिप्राय इति चेत्? एवं कार्यकारणभावे स्वीक ते सति, तत्रापि स्वभिन्नस्यैव कारणत्वमिति स्वीक तं त्वया। तथा च कथञ्चित् कारण–सत्ताङ्गीकारेणैव भेदव्यवस्थाया अपलापाभावात् न विवादावसर आवयोरित्याशयेनाह सिद्धान्ती – **नाम्नि तर्हि विवाद इति।** इतरेतराभावरूपभेदज्ञानस्य स्वव्यतिरिक्त–हेतुकत्वेन आत्माश्रयाभावात् भेदव्यवस्थितेः नास्ति आवयोर्विवादः। नापि हेत्वन्तर–निरूपणमपि अशक्यम्। इतरेतराभावप्रतीतिस्तावदेवं भवति। घटः पटो न भवतीति, तत्राधिकरणं घटः। स च ग ह्यते घटस्य चाक्षुषादिप्रत्यक्षविषयत्वात्। प्रतियोगी पटः स्मर्यते, तत्र प्रतियोगिरूपत्वेन प्रतियोगितादात्म्येन अप्रतीतौ अग्रहणे अधिकरणस्य घटस्य प्रतीतिग्रहणम्। अधिकरणप्रतियोगिनोः प्रतियोग्यधिकरणाभावविशिष्टयोः ज्ञानं नाभावज्ञानकारणम्, येन आत्माश्रयता स्यात्। किन्तु इतरेतरत्वेन अप्रतीयमानयोः अधिकरणप्रतियोगिनोः स्वरूपप्रतीतिः भेदज्ञानस्य कारणमिति। घटपटयोश्च प्रतीतिः

घटे प्रत्यक्षरूपा पटे स्मरणरूपा च जायते। तथा च अनुयोगिप्रतियोगिनोर्ज्ञानम् इतरेतराभावरूपभेदज्ञाने कारणम्। तच्च सुलभमेवेति तद्भेदज्ञानकरणस्य निरूपणं न दुर्निरूपणमिति भावः।

अथ स्वरूपमेव भेदप्रतिभासस्य विषय इति तत्त्वम्, तथापि सहप्रयोग एवानुपपन्नस्त्यज्यताम्, भेदेन तु किमपराद्धम्। सो पि द श्यत इति चेत्, नैमित्तिकस्तु स्यात्, न स्वरूपतः। न हि घटमानय पटमवलोकयेत्यादौ भेदपदमपि प्रेक्षावानुपादत्ते। व्याख्यायां तु मूढप्रबोधनाय घटः कुम्भ इतिवत् सहप्रयोगे पि न दोषः।

तथापि कः परमार्थः? यथायथं त्रयमपि। पटस्य हि घटत्मना प्रतीतिरघटात्मना च प्रतीतिस्ततो वैशिष्ट्यप्रतीतिश्चेत्यनुभवसिद्धम्। तत्राभावस्य, प्रथममात्रम्, अभावान्तरधर्मान्तरयोरभावात्। सामान्यादिषु त्रिषु द्वयं, धर्मान्तरयोरभावात्। सामान्यादिषु त्रिषु द्वयं, धर्मान्तराभावात्। द्रव्यादिषु त्रिषु, त्रयं, त्रयस्यापि सम्भवात्। भवति पटो यं न घटस्तन्तुमयश्चेति, गन्धो यं न रूपं सुरभिश्चेति, गतिरियं नोत्क्षेपणं तिर्यक् चेति। लक्षणं च स्वरूपभेदस्य ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः। इतरेतराभावस्य त्वबाधितः समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययः, वैधर्म्यस्य तु विरोधः। स चैकधर्म्यसमावेश इत्येषा दिक्।

धर्मान्तररूपभेदस्य इतरेतराभावरूपभेदस्य च व्यवस्थितिं निरूप्य, स्वरूपभेदस्य व्यवस्थितिं निरूपयितुमाह – **अथ स्वरूपमेव भेदप्रतिभासस्य विषय इति तत्त्वम्।** भेदज्ञानस्य विषयः स्वरूपभेद एव इति पूर्वपक्ष्यभिप्रायः। स्वरूपभेदस्तु न युक्तः (भावरूपं भावान्तराद् भेद इति स्वरूपभेदो न युक्तः। घटो भिन्न इति सहप्रयोगानुपपत्तेः। अभेदान्वयबोधे तद्भेदस्य कारणत्वात्। घटपटभेदयोरैक्यात्) इति पूर्वपक्षिणो भिप्रायः। भेदज्ञानस्य आलम्बनं स्वरूपभेद इति पक्षे या 'घटो भिन्न इति' सहप्रयोगानुपपत्तिः त्वया दत्ता, सः सहप्रयोगः त्यज्यताम्। भेदेन किमपराद्धं येन भेदः त्याज्यते त्वया इत्याशयेन उत्तरयति सिद्धान्ती – तथापि सहप्रयोग एव अनुपपन्नः त्यज्यताम्, भेदेन तु किमपराद्धम्? इति।

परः शङ्कते – **सो पि द श्यते इति चेत्?** इति। घटो भिन्न इत्यादि–सहप्रयोगो पि व्यवहारसिद्धः कथं त्याज्यः इति चेत्? सिद्धान्ती कथयति – **सत्यं नैमित्तिकस्तु स्यात्, न हि स्वरूपतः। न हि घटमानय, घटमवलोकय इत्यादौ भेदपदमपि प्रेक्षावान् उपादत्ते। व्याख्यायां तु मूढप्रबोधनाय घटः कुम्भ इतिवत् सहप्रयोगे पि न दोषः।** अप्रतिपन्नबोधनेन निमित्तेन घटो भिन्न इति सहप्रयोगो भवति। **न तु स्वरूपतः** न तु स्वरूपभेदमादाय घटो भिन्न इति सहप्रयोगो भवति। अन्यथा घटो घट इत्यापत्तेः। घटो भिन्न इति स्वरूपतो न सहप्रयोग इत्यत्र हेतुमाह

– **न हि घटमानय इत्यादि**। घटमानय, घटमवलोकय इत्यादौ प्रेक्षावान् हि भेदपदमपि न उपादत्ते, नोच्चारयति भेदपदम्। यदि स्वरूपतश्चेत् सहप्रयोगः, घटमानय इत्यादावपि भेदपदप्रयोगः स्यात्। अतो नैमित्तिको यं घटो भिन्न इति सहप्रयोगो, न तु स्वरूपत इति। एव च स्वयं घटस्वरूपभेदं जानन्नपि पटाद्यतिरिक्त–घटस्वरूपं भेदानभिज्ञं प्रति तद् बोधयितुं घटो भिन्न इति वदति। घटपदार्थम् अजानन्तं कुम्भपदार्थं च जानन्तं प्रति घटः कुम्भ इति यथा सहप्रयोगः, तथा घटो भिन्न इति सहप्रयोगो बोध्यः। तदेवाह मूले – **व्याख्यायां तु मूढप्रबोधनाय घटः कुम्भ इतिवत् सह प्रयोगे पि न दोषः** इति।

उक्तभेदत्रयस्वरूपे किं वास्तविकमिति सिद्धान्तिनं प च्छति पूर्वपक्षी – **तथापि कः परामर्थः** इति। त्रिषु भेदेषु कः परमार्थः? उत्तरयति – **यथायथं त्रयमपि** इति। विषयविशेषापेक्षया त्रयमपि तत्त्वम् (यथार्थः)। त्रयाणामपि भेदानां परमार्थत्वं दर्शयितुमाह – **पटस्य हि घटाद्यात्मना अप्रतीतिः, अघटात्मना च प्रतीतिः, ततो वैशिष्ट्यप्रतीतिश्च इत्यनुभव- सिद्धम्** इति। पटस्य घटाद्यात्मना अप्रतीतिः इत्यनेन स्वरूपभेदो दर्शितः। अघटात्मना च पटस्य प्रतीतिः इत्यनेन इतरेतराभावरूपभेदो दर्शितः। उपलक्षणविधया बोध्यम्। ततो वैशिष्ट्यप्रतीतिश्च इत्यनेन धर्मान्तररूपभेदो दर्शितः। **तत्र अभावस्य प्रथममात्रमित्यादि प्रथममात्रमिति।** स्वरूपभेदमात्रम् अभावस्य। अभावे अभावान्तराभ्युपगमे अनवस्थाप्रसङ्गात्। अभावे अभावान्तरप्रतीतेः असंभवात्। अभावे धर्मान्तरलक्षणभेदसंभवाच्चेति। क्रमेणात्र स्वरूप–इतरेतराभाव – धर्मान्तररूप–भेदाः दर्शिताः। सामान्यादिष्विति स्वरूपभेदः इतरेतराभावरूपभेदश्च वर्तते, न तु धर्मान्तररूपभेदो वर्तते। भेदरूपं हि धर्मान्तरं गुणो वा कर्म वा, सामान्यं वा, विशेषो वा भवेत्। तत्र गुण–कर्म–विशेषाः, सामान्य–समवाय–विशेषेषु न संभवन्ति। तेषां द्रव्यमात्रव त्तित्वात्। न च सामान्यमपि त्रिषु सामान्यविशेषसमवायेषु संभवति। जातौ जातिस्वीकारे अनवस्था भवति। घटत्वपटत्वयोः एका जातिः, जात्यन्तरघटत्वयोर्गता एका जातिः इति रीत्या अनवस्था बोध्या। नवीनां जातिं तदाश्रयां च जातिं च ग हीत्वा अनवस्था भवति। विशेषे जातिस्वीकारे तयैव व्याव त्तिसिद्धे स्वतो व्यावर्तकत्वस्य रूपस्य हानिर्भवति। समवाये जातिस्वीकारे संबन्धाभावो भवति । प्रतियोगितया अनुयोगितया च समवायाभावो हि संबन्धाभावः। "***व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वम्***" इत्यत्र **मुक्तावली-दिनकरी**–द्रष्टव्ये। द्रव्ये तावत् भेदत्रयसंभवं दर्शयति – **पटो यमिति।** अत्र क्रमेण स्वरूप – इतरेतराभाव– धर्मान्तरभेदानां निर्देशः। गुणे पि अनेनैव क्रमेण त्रयो भेदाः संभवन्ति इति दर्शयति – **गन्धो यम्** इति। कर्मण्यपि पूर्वोक्तक्रमेण भेदत्रयसंभवमाह – **गतिरियम्** इति। त्रिविधस्यापि भेदस्य कीद शो भेद इति चेत्? श्रूयताम्, स्वरूपेतरेतराभावात्मकयोः स्वरूपमेव भेदः। धर्मभेदस्यापि गुणकर्मात्मकस्य त्रयम्। सामान्यादित्रयात्मकस्य स्वरूपेतरेतराभावात्मकं द्वयम्। स्वरूप–इतरेतराभावधर्माख्याः सप्त, षट् त्रयवर्तिनो भेदा इति विनिश्चिक्युर्भेद–

त्रयनिरूपका इति। स्वरूपभेदः सप्तपदार्थेषु वर्तते। इतरेतराभावरूपभेदः अभावभिन्नषट्सु पदार्थेषु वर्तते। धर्मान्तररूपभेदः द्रव्यगुणकर्मसु त्रिषु पदार्थेषु वर्तते।

[**अथ भेदलक्षणम्**]

इदानीं त्रिविधस्यापि भेदस्य परस्परविवेकाय लक्षणमाह – **लक्षण चेत्यादि** वस्तुनः स्वव्यतिरिक्तरूपारोपप्रतीत्यभावविशिष्टया प्रतीत्या यद्रूपं प्रतीयते स स्वरूपभेदः। यथा घट इत्युक्तौ घटस्वरूपातिरिक्तपटादिरूपाणाम् आरोपात्मिका भ्रमात्मिका या प्रतीतिः तदभावविशिष्ट घट इत्याकारकप्रतीत्या घटरूपं प्रतीयते इति घटस्वरूपभेदः। अपरो यम् इत्यबाधितेन समानाधिकरणेन निषेधप्रत्ययेन (घटः पटो नेति प्रत्ययेन) यद् विषयीक्रियते सो न्योन्याभावो र्थाद्भेदः। अबाधितत्वेन तस्यैव (घटस्यैव) अतत्तया (घटभिन्नत्वेन) प्रतीतेः लक्षणत्वं (अन्योन्याभाव–लक्षणं) व्यवच्छिनत्ति। घटे घटो न इत्यस्य बाधितत्वात्। समानाधिकरणत्वेन भूतले घटो नास्तीति संसर्गाभावप्रतीतेः। लक्षणत्वं व्यवच्छिनत्ति निषेधप्रत्ययेन शुक्लः पर इति प्रतीतेः लक्षणत्वं व्यवच्छिनत्ति। वैधर्म्यस्य धर्मान्तरभेदस्य, एकधर्म्यसमावेशलक्षणो विरोधः लक्षणम्। **इत्येषा** = भेदनिराकरणदूषणोक्तिदिगिति।

सप्तमो प्यनुकूल एव, घटादौ व्यापकताप्रतिक्षेपस्याव्यापकतोपलम्भोपष्टम्भकत्वात्, व्यापकत्वस्य निष्क्रियत्वव्याप्तत्वाच्च।

अष्टमस्तु क्वचिदिष्ट एव। यत एव हि क्वचिदविधेयो त एव क्वचिद्विधेये व्यापक इति व्यवह्रियते। सर्वत्रेति, चेन्न। व्याप्त्यसिद्धेः, विरोधाच्च। न हि यदव्यापकं तत् सर्वत्राविधेयमिति प्रतिबन्धः। क्वचिदस्तीत्यव्यापकार्थः। सर्वत्र नास्तीति चाविधेयार्थस्तवाभिमतस्तदनयोर्विरोधो पि स्यात्।

यद्विधेयस्वभावं तत् कथं प्रतिषेध्यमिति चेन्न। प्रतिषेधस्वभावता हि विधेयस्य विरुद्धा, न तु प्रतिषेधप्रतियोगितापि। अथ यो स्ति कथं तस्य प्रतिषेधो प्यस्तीति चेत्, को दोषः। अनयोरविरोधप्रसङ्ग इति चेत्, प्रकारभेदेन प्रसक्तो पि न दोषमावहति। तदभेदेन तु विधिनिषेधौ केन स्वीकृतौ यं प्रत्यविरोधः प्रसज्येतेति। ऐतेन कालभेदादिनाप्यविरोधो द्रष्टव्यः।

घटपटादिजगत् न व्यापकं निष्क्रियत्वप्रसङ्गादिति बौद्धोक्तं सप्तमपक्षं दूषयितुमाह **सप्तमो प्यनुकूल एव** इति। अनुकूलत्वं दर्शयितुमाह – **घटादौ व्यापकताप्रतिषेधस्य अव्यापकतोपलम्भोपष्टम्भकत्वात्** इति। घटादौ या अव्यापकता तस्याः यः प्रत्यक्षोपलम्भः तस्य घटादौ व्यापकताप्रतिषेधः सहायक एव भवति। अतः घटादौ व्यापकताप्रतिषेधः अनुकूलः। शिथिलमूलत्वमपि अस्य नास्तीत्याह – **व्यापकत्वस्य निष्क्रियत्वव्याप्तत्वाच्च।** घटपटादिजगत् न व्यापकं निष्क्रयत्व–

प्रसङ्गादिति तर्कस्य आपाद्यापादकयोः व्याप्यव्यापकभावो स्तीत्यत आपादके आपाद्यनिरूपितव्याप्तित्वाभावरूपमूलशैथिल्यमपि नास्तीति। निष्क्रियत्वव्यापकत्वयोः व्याप्यव्यापकभावस्य सत्त्वात्।

घटपटादिजगत् नाव्यापकम्, अविधेयत्वप्रसङ्गादिति अष्टमः पक्षः। अत्र सर्वत्र अविधेयत्वप्रसङ्गः, क्वचिद् अविधेयत्वप्रसङ्गो वा विवक्षितः। तत्र प्रथम इष्ट एवेत्याह – **अष्टमस्तु क्वचिदिष्ट एवेति।** इष्टत्वमेव विव णोति – यत एव हि क्वचिदविधेयः, अतएव क्वचिद् विधेयो व्यापक इति व्यवह्रियते इति। यथा घटः क्वचिद् भूतलादौ निषिध्यते अन्यत्र भूतलादौ विधीयते इत्यतो अव्यापकः। तथा च क्वचिदविधेयत्वमिष्टमेव। द्वितीयं कल्पमाशङ्कते – **सर्वत्रेति चेत्?** इति। घटादिजगत्, सर्वत्राविधेय इति चेत्। दूषयति – **न। व्याप्त्यसिद्धेः विरोधाच्च इति।** व्याप्त्यसिद्धिं दर्शयति – **न हि यदव्यापकं तत् सर्वत्र अविधेयमिति प्रतिबन्धः** इति। हि = यस्मात् यत् = घटपटादि जगत् अव्यापकं तत् सर्वत्र अविधेयमिति न व्याप्तिरस्ति। विरोधं दर्शयति – **क्वचिदस्तीति अव्यापकार्थः सर्वत्र नास्तीति च अविधेयार्थः तव अभिमतः। तदनयोः विरोधो पि स्यात्** इति। घटादेः सर्वत्र निषेधासंभवात्, घटादिः क्वचिदस्तीति घटादिरव्यापक इति तवाभिमतः। घटादिः सर्वत्र नास्तीत्युच्यते इति विरोधः। घटादिः क्वचिदस्ति सर्वत्र नास्तीति विरोधः स्पष्टः।

ननु घटादेः जगतो विधेयस्वभावस्य प्रतिषेध्यत्वं विरुद्धम्। न हि भावः अभावो भवति। भावत्वाभावत्वयोः परस्परसहानवस्थानेन विरोधाद् इति। परः शङ्कते – **यद् विधेयस्वभावं तत् कथं प्रतिषेध्यस्वभावमिति चेत्?** इति। यद् भावस्वभावं तत् कथम् अभावस्वभावम् परस्परविरोधाद् इति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **न। प्रतिषेध्यस्वभावता हि विधेयस्य विरुद्धा न प्रतिषेध्यप्रतियोगितापीति**। विधेययस्य = भावस्य प्रतिषेधस्वभावता = अभावरूपता विरुद्धा, न अभावप्रतियोगिता विरुद्धा। तयोः भिन्नकालत्वात्। यदा यस्मिन् देशे घटो स्ति, तदा तस्मिन् देशे घटस्य विधेयता। यदा च यस्मिन् देशे घटो नास्ति, तदा तस्मिन् देशे घटस्य अभावप्रतियोगिता इति विधेयत्वाभावप्रतियोगित्वयोः कालभेदेन व त्तित्वान्न घटे तयोः स्थितौ विरोधः। यद् विधेयस्वभावं तत् कथं प्रतिषेध्यमिति पूर्वापक्षाभिप्रायमाविष्कर्तुं शंकते – **अथेति**। भावमाविष्कर्तुं पुनः शङ्कते – **अथ यो स्ति कथं तस्य प्रतिषेधो प्यस्तीति चेत्**? सिद्धान्ती प च्छति – **को दोषः** इति। **अनयोरविरोधप्रसङ्ग इति चेत्**? विधिप्रतिषेधयोः एकधर्मिसमावेशेन अनयोरविरोधप्रसङ्ग इति चेत्? सिद्धान्ती तु **प्रकारभेदेन** (देशभेदेन) वर्तमानयोः विधिनिषेधयोः अविरोधः प्रसज्यते, तदभेदेन वेति विकल्प्य, प्रथमे इष्टापादनम्, द्वितीये प्रस जकानभ्युपगम इत्याह – **प्रकारभेदेन प्रसङ्गो पि न दोषमावहति, तद्भेदेन तु विधिनिषेधौ केन स्वीक तौ यं प्रत्यविरोधः प्रसज्येतेति?** इति। देशभेदेन विधिनिषेधयोः अविरोधप्रसङ्गो पि न दोषमावहति। देशाभेदेन तु विधिनिषेधौ

केन स्वीक तौ यं प्रति विधिनिषेधयोः अविरोधः प्रसज्येतेति त्वयोच्यते। देशविशेषावच्छेदेन विधिनिषेधयोः व क्षे व त्तित्वेन तयोः ताद शावस्थापन्नयोः अविरोधस्येष्टत्वात्। भवति च मूलावच्छिन्नकपिसंयोगवान् व क्षः शाखावच्छिन्नतदभाववानिति सर्वानुभव इति। देशभेदेन विधिनिषेधयोः इव कालभेदेनापि तयोः अविरोधो भवति। प्रथमक्षणावच्छिन्नो घटः गुणाभाववान् द्वितीयक्षणावच्छिन्नो गुणवानिति सर्वानुभवाद् इत्याह – **एतेन कालभेदादिना प्यविरोधो द्रष्टव्यः** इति। आदिना गुणकर्माद्युपाधिभेदो ग ह्यते। तत्तदुपाधिनापि विधिनिषेधयोः न विरोधः। यथा पटो पि न शुक्लः पटो स्ति। गौरस्ति गच्छति गौर्नास्ति इति।

अस्तु तर्हि स्थूलघाती विरुद्धधर्माध्यासो ग्रहणाग्रहणादिः प चविधः। न, असिद्धे।

तथाहि यो येन यत्रैव यदैवोपलभ्यते स तेन तत्रैव तदैव नोपलभ्यत इति नानुभवः, नाप्यभ्युपगमः। एकावयवसहितस्योपलम्भे न्यावसवसहितस्यानुपलम्भ इति चेत्, एवं तर्ह्यवयविन्युपलभ्यमाने कश्चिदवयव उपलभ्यते कश्चिन्नेति वाक्यार्थः। सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामत इति न्यायात्। तथा चावयवानामुपलम्भानुपलम्भाववयविनि स चार्य प्रसङ्गस्तदलमनेन।

एतेनाव तत्वानाव तत्वं व्याख्यातम्। अनावरणदशावत् कतिपयावयवावरणे पि तथाविधिरस्थौल्योपलम्भः किं न स्यादिति त्ववशिष्यते। तदप्यसत्, तस्य परिमाणगतसामान्यविशेषस्य ततो न्यस्य नियतसामग्रीवेद्यस्य तदभावे तदुपलम्भे प्यनुपलम्भात्।

[अथावयविबाधनिराकरणम्]

एवं परमाण्ववयव्यादिसाधारण्येन असाधारण्येन च एतेषां साधनोपक्रमो दूषणोपक्रमश्च अपलापो निरस्तः। इदानीम् असाधारण्येनैव अवयविनि बाधकानि परिहरिष्यन् तानि आशङ्कते तावत् – **अस्तु तर्हि स्थूलघाती विरुद्धधर्माध्यासो ग्रहणाग्रहणादिः प चविध** इति। स्थूलघाती = अवयविघाती, ग्रहणाग्रहणरूप– विरुद्धधर्माध्यासः प चविधः। न हि एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धयोः समावेशो भवति। विरुद्धधर्माध्यासाच्च नास्ति एको वयवीति ज्ञायते। परमाणुपु ज एव अवयवित्वेन ज्ञायते जनैः। तथाहि – (१) एक एव पटावयवी केनचिद् भागेन (अग्रावच्छेदेन) ग ह्यते, केनचिद् भागेन (प ष्ठावच्छेदेन न ग ह्यते इति ग्रहणाग्रहणविरोधः)। (२) तथा स एव क्वचिद् आव तो नाव तश्च इत्यावरणानावरणविरोधः। (३) तथा एक एव व क्षः चलच्छाखाश्रयः कम्पते, अचलच्छाखाश्रयो न कम्पते इति कम्पाकम्पविरोधः।

(४) तथा एक एव पटः क्वचिद् रक्तो रक्तश्चेति रक्तारक्तयोर्विरोधः। (५) तथा एकस्य अवयविनः क्वचिद् अवयवे नाशेन व त्तस्य अवयवान्तरे पि व त्तिरिति तद्देशत्वातद्देशत्वविरोधः। अत एभिः प चभिः विरोधैः अवयविनो द्व्यणुकादारभ्य भेदप्रसाधनद्वारेण अभावः। कम्पमानाकम्पमानौ परस्परभिन्नौ विरुद्धधर्माश्रयत्वात्। सिद्धान्ती परिहरति – **असिद्धेः।** प चविधस्यापि विरोधस्य असिद्धेः। तत्र ग्रहणाग्रहणरूप– प्रथमविरोधस्य असिद्धिं दर्शयति – **तथाहि यो येन यत्रैव यदैव उपलभ्यते, स तेन तत्रैव तदैव नोपलभ्यत इति नानुभवः, नाप्यभ्युपगमः** इति, प्रमेय–प्रमात –देश–काल–एकत्वे सत्येव हि उपलम्भानुपलम्भयोः विरोधः स्यात्। न चैवंविधयोः उपलम्भानुपलम्भयोः प्रतीतिः। नाप्यस्माकम् अभ्युपगमः। येन प्रतीतिबलेन वा अनयोः एकधर्मिसमावेशासंभवेन अवयिनः अपह्नवः स्यात्। किन्तु अवयविन उपलम्भ एव, अवयवान्तरस्य अनुपलम्भ इति। उपलम्भानुपलम्भयोः विभिन्नधर्मिकत्वेन एकधर्मिकत्वाभावात् तदुभयविरोधेन अवयविनः अस्वीकारः त्वया न कर्तव्यः। ग्रहणाग्रहणरूपावयविबाधकविरोधलक्षणाक्षेपस्य अभिप्रायम् आविष्कर्तुं शङ्कते – **एकावयवसहितस्य उपलम्भे अन्यावयवसहितस्यानुपलम्भ इति चेत्?** इति। एकस्मिन् अवयविनि धर्मिणि, एकावयवसहितावयविविषयकोपलम्भस्य, अन्यावयवसहितावयवि–विषयकोपलम्भाभावेन विरुद्धेन समावेशासंभवात्, अवयविनो नोपलम्भ इति। स न स्वीकार्य इति चेत्? एवं तर्हि एकावयवसहितस्य उपलम्भविधेः अन्यावयवसहितस्य उपलम्भनिषेधस्य विशेषणीभूतावयवपरत्वात्। अवयववर्तिनोः उपलम्भानुपलम्भयोः अवयविनि संचारः स्यात्। तथा च ययोः अवयवयोः उपलम्भानुपलम्भौ न तयोः एकत्वम्। यस्य अवयविन एकत्वं न तस्य उपलम्भानुपलम्भलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्ग इति विरुद्धयोः तयोः असंबन्धेन उपलम्भ्यमानः कथम् अवयवी परित्यज्यत इत्यभिप्रायेण उत्तरयति सिद्धान्ती – **एवन्तर्हि अवयविन्युपलभ्यमाने कश्चिदवयव उपलभ्यते कश्चिन्नेति** मुख्यतया ग्रहणाग्रहण– प्रसङ्गस्य अवयविविषयकत्वाभावेन गुणीभूतेन ग्रहणाग्रहणप्रसङ्गेन च अवयविप्रत्यक्षोपलम्भविषयो निराकर्तुं न शक्यते। अन्यथा शिखी ध्वस्त इत्यनेन शिखिनो ध्वंसावगमापत्तेः। अत्रापि शिखाविशिष्टस्य पुरुषस्य गौण्या ध्वंसस्य सत्त्वात्।

मुख्यतया अवयविनि उपलम्भानुपलम्भयोः संसर्गस्य असिद्धत्वप्रतिपादनेन आव तत्वानाव तत्वरूपविरुद्धमपि असिद्धम् इति। तेन प्रसङ्गेन अवयविनं खण्डयितुं न शक्नोषि इत्यभिप्रायेण आह – **एतेन आव तत्वानाव तत्वं व्याख्यातम्** इति। एव च सति यद्यवयवस्यैव आवरणं नावयविनः तर्हि सर्वावयवानावरणदशायां याद शं स्थौल्यम् अवयविन उपलभ्यते, कतिपयावयवावरणदशायामपि ताद शस्य स्थौल्यस्योपलम्भः किं न स्यादिति चोद्यमेव निराकर्तव्यमवशिष्यत इत्याह – **अनावरण-दशावत् कतिपयावरणे पि तथाविधस्थौल्योपलम्भः किं न स्यादिति त्ववशिष्यते** इति। तदपि निराकरोति – **तदप्यसत्। तस्य परियाणगत- सामान्यविशेषस्य**

ततो न्यस्य नियतसामग्रीवेद्यस्य तदभावे तदुपलम्भे पि अनुपलम्भात् इति। स्थौल्यस्य परिमाणगतावान्तरसामान्यस्य अवयविभिन्नस्य नियतसामग्रीवेद्यस्य = अवयविवेदक–सामग्रीभिन्नसामग्रीवेद्यस्य सर्वावयवोपलम्भसामग्रीकस्य सर्वावयवोपलम्भकसामग्रीविरहे अवयविन उपलम्भे पि अनुपलम्भत्वात्। अवयविभिन्नस्य सर्वावयवोपलम्भसामग्रीकस्य स्थौल्यपरिमाणविशेषस्य कतिपयावयवावरणकाले भावेन कतिपयावयवसहिता–वयव्युपलम्भे पि अनुपलब्धेरिति उत्तराभिप्रायः।

एतेन कम्पाकम्पसंसर्गो निरस्तः। सामग्रीभेदेनावयवनियतकम्पात्पादे तस्यां दशायामवयविनो निश्चलत्वात्। एवं तर्हि कम्पाकम्पयोरवयवयोर्विभागात् संयागनाशे द्रव्यनाशः स्यादिति चेत्, ततः किम्। अपसिद्धान्त इति चेन्न। एवमपि क्वचिदभ्युपगमात्। सर्वत्रैवं प्रसङ्ग इति चेत्, तथाप्यवयविनः, किमत्याहितम्। न चैवमपि। कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभाग-जनननियमानभ्युपगमात्। कारणविशेषात् कस्यचिदेव कर्मणस्तथाभूतविशेषो-पलब्धेः।

एतेन पाणौ चलति तन्मूलभूतः परमाणुरपि चलेत्। ततो चलत्तद्भुज-परमाणोर्विभागः। ततो यो येन संयुज्यते विभज्यते वा स तत्कार्यद्रव्येणापीति न्यायेन भुजपाण्योरपि विभागः, ततः संयोगनाशः, ततः शरीरनाश इति निरस्तम्।

न हि पाणिपरमाणुक्रिया भुजपरमाणुविभागमारभते नियमेन। तदना-रम्भकत्वे कर्मलक्षणक्षतिरिति चेन्न। आकाशादिदेशविभागजननादपि तदुपपत्तेः। अथ नुद्यकर्मवत्। कुतो यं विशेष इति चेत्, कारणविशेषादित्युक्तम्। यद्येवमवयवकम्पे प्यकम्प एवावयवी हन्तावयवसंयोगिविभागिभ्यामाकाशादि-देशाभ्यां न संयुज्येत न विभज्येतेति चेन्न। अवयवसंयोगविभागाभ्यामेव तत्सिद्धेः। एतच्च सम्यगवबोद्धुं वैशेषिकमनुसन्धेयम्। तर्हि चलदवयवसमाश्रितो प्य-चलन्नेवावयव्युपलभ्येतेति चेत्, नेदमनिष्टम्। पाणौ कम्पमाने शरीरं न कम्पत इति प्रत्ययात्।

एतेनैव असिद्धत्वेन कम्पाकम्पसंसर्गो पि अवयविनि निरस्त इत्याह – **एतेन कम्पाकम्पसंसर्गो निरस्त** इति। कम्पाकम्पयोः विभिन्नावयवनिष्ठयोः गौण्या अवयविनि संचारे पि मुख्यतया तयोरवयविनि संसर्गाभावेन ताभ्यां विरुद्धाभ्यां नावयविनं खण्डयितुं शक्नोषि इति सिद्धान्तिनो भिप्रायः। अवयविनि कम्पाकम्पयो–र्विरुद्धयोः संसर्गाभावं दर्शयितुम् आह – **सामग्रीभेदेन अवयवनियतकम्पोत्पादे तस्यां दशायाम् अवयविनो निश्चलत्वात्** इति। अवयविनिष्ठकम्पोत्पादकसामग्रीतो

अवयवनिष्ठकम्पोत्पादकसामग्र्या भेदेन अवयवनियतकम्पोत्पादे तस्याम् अवस्थायाम्, अवयविनिष्ठकम्पोत्पादकसामग्र्या विरहेण तत्र कम्पस्य अभावात् अवयविनो निश्चलत्वोपपत्तेः। तथा च अवयवनि चलनाचलने विरुद्धे न स्तः।

ननु अवयवक्रियया अवयवसंयोगरूपासमवायिकारणस्य नाशे अवयविनो नाशापत्तिः। अवयविनो नाशः समवायिकारणासमवायिकारणान्यतरनाशाद् भवतीति परः शङ्कते – **एवं तर्हि कम्पाकम्पयोः अवयवयोः विभागात् संयोगनाशे द्रव्यनाशः स्यादिति चेत्?** कर्मणोः विभागहेतुत्वेन सकम्पाकम्पयोः अवयवयोः विभागाद् द्रव्यारम्भकावयवसंयोगस्य द्रव्यसमवायिकारणस्य विनाशाद् द्रव्यनाशः प्रसज्येत इति चेत्? ततो द्रव्यनाशात् किम् अनिष्टमिति सिद्धान्ती प च्छति – **ततः किम्?** द्रव्यस्य नाशात् का क्षतिः? शाखाचलने व क्षावयविनो नाशानङ्गीकरणाद् अपसिद्धान्तदोष इति शङ्कते – **अपसिद्धान्त इति चेत्**? नायं दोषः। अवयवविभागेन असमवायिकारणस्य नाशेन क्वचित् अवयविनो नाशाभ्युपगमादिति सिद्धान्ती आह – **न। एवमपि क्वचिदभ्युपगमात्।** वंशदलद्वयविभागाद् वंशरूपावपिविनो विनाशाभ्युपगमात् न अपसिद्धान्तदोष इति। यत्र व क्षादौ अवयवक्रियया विभागाद् आरम्भकसंयोगनाशाधीनव क्षरूपावयविनो नाशापत्तिरिति शङ्कते – **सर्वत्रैवं प्रसङ्ग इति चेत्?** इति। परिहरति सिद्धान्ती – **तथाप्यवयविनः किमत्याहितम्**? इति। आरम्भकसंयोगनाशेन द्रव्यस्य नाशे अवयविनः किं विघटितम्? **न चैवमपि। कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजननियमानभ्युपगमात्** इति। सर्वस्य कर्मणः अवयविनाशजनकविभागजनकसंयोगनाशं प्रति जनकत्वं न स्वीक्रियते, किन्तु कस्यापि कर्मविशेषस्य स्वीक्रियते। तथा च शाखाचलनेन न व क्षस्य नाशो भविष्यति। तत्क्रियाजन्यविभागजन्यसंयोगनाशस्य व क्षनाशजनकत्वात्। विकसत्कमलकुड्मल–भङ्गप्रसङ्गभीत्या एकस्यैव कर्मणः द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकत्वस्य तदप्रतिद्वन्द्विविभागजकत्वस्य च अस्वीकारात् कस्यचिदेव कर्मणः तथात्वमुररीक्रियते। **कारणविशेषात् कस्यचिदेव कर्मणः तथाभूतविशेषोपलब्धेरिति**। सर्वस्य कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिस्पर्धिविभागजनकत्वनियमानभ्युपगमेन परोपन्यस्तमिदं चोद्यं निरस्तम् इत्याह – **एतेन पाणौ चलतीति नहि पाणिपरमाणुक्रिया भुजपरमाणु-विभागमारभते** इति। पाणिचलने हि तदारम्भकस्य तन्मूलभूतस्यापि परमाणोः चलनं स्यात्, तस्मिन्नचलति तदारब्धावयविनः चलनानुपपत्तेः। ततश्चलितात् परमाणोः (पाणिपरमाणोः) अचलद्भुजपरमाणोः विभागः स्यात्, ततः पाणिभुजारम्भकयोः परमाण्वोर्विभागात् भुजपाण्योः अपि विभागः स्यात्। कथमित्याह – **यो येनत्यादि**। येन शाखादिना यो विहङ्गादिः संयुज्यते वियुज्यते वा स तत्कार्येण व क्षेणापि संयुज्यते वियुज्यते वेति दर्शनात्। भुजपाणिपरमाणुकार्ययोः भुजपाण्योरपि विभागः स्यात्। तथाहि पाणिपरमाणुः तावत् महाकार्येण भुजेन विभज्यते। विभागस्थितेः पुनश्च भुजस्तस्यामेव स्थित्यां पाणिपरमाणुकार्येण पाणिना विभज्यते इति

भुजपाण्योरनेन प्रकारेण विभागो भवति। ततः शरीरस्य अव्यवहितावयवविभागात् शरीरविनाशो पि एवं स्यादिति चोद्यस्वरूपोपन्यासः। **एतेनेति** निर्दिष्टं निराकर्तुं सिद्धान्ती विव णोति – **न हि पाणिपरमाणुक्रिया भुजपरमाणुविभागमारभते** इति। तथा च पाणिपरमाणुक्रियायाः भुजपरमाणुविभागजनकत्वाभावेन ततो भुजपरमाणोः पाणिपरमाणुना सह विभागाभावात् तत्कार्ययोः भुजपाण्योः अविभागेन तयोः असमवायिकारणयोः संयोगयोरविनाशेन कुतः शरीरस्य नाश इति। **पाणौ चलती**त्यादिना प्रदर्शिता शङ्का अबुद्ध्चैव क ता।

ननु क्रियायां विभागजनकस्य नैयत्येन पाणिपरमाणुक्रियाया विभागाजनकत्वे कर्मत्वानुपपत्तिः। संयोगविभागयोः अनपेक्षं कारणं कर्मेति लक्षणादिति शङ्कते – **नियमेन तदनारम्भकत्वे कर्मलक्षणक्षतिः इति चेत्?** इति। क्रियायाः नियमेन विभागाजनकत्वे कर्मलक्षणस्य संयोगविभागयोः अनपेक्षं कारणं कर्मेति **कणादो**क्तस्य तत्र अव्याप्तिरिति चेत्? समाधत्ते – **न। आकाशादिदेशविभागोपजननेनापि तदुपपत्तेः। नुद्यकर्मवत्** इति। पाणिपरमाणुक्रियया आकाशादिदेशेन पाणिपरमाणोः विभागजनने कर्मलक्षणोपपत्तेः। तथा नोद्यस्येषोः कर्म, नोदकेन द्रव्येण सहसा विभागं नारभते, किन्तु तत्रत्य आकाशदेशेन विभागमारभते। तथा पाणिपरमाणुक्रिया आकाशादिदेशेन विभागमारभते।

ननु अवयवगतक्रिया अवयवान्तरेण कदाचित् विभागमारभते, कदाचिन्न इत्ययं विशेषः कुतो हेतोरिति पूर्वपक्षी शङ्कते – **कुतो यं विशेष इति चेत्?** इति। समाधत्ते – **अवयवसंयोगकारणविशेषादित्युक्तम्** इति। अवयवसंयोगकारणविशेषात् अवयवगतं कर्म कदाचित् विभागं नारभते इति बोध्यम्। संयोगजसंयोगविभागजविभागयोः, हस्ततरुसंयोगात् शरीरतरुसंयोगस्य, हस्ततरुविभागात् शरीरतरुविभागस्य च अभ्युपगमात्। अवयवसंयोगविभागाभ्यामेव अवयविन्यपि तयोः उत्पत्त्या अवयविनि संयोगविभागौ प्रति अवयवकर्मणोः न जनकत्वमिति बोध्यम्।

पूर्वपक्षी शङ्कते – **एवं तर्हि यद्यवयवकम्पे पि अकम्प एव अवयवी, हन्त! अवयवसंयोगिविभागिभ्याम् आकाशदेशाभ्यां न** (अवयवी) **संयुज्येत न विभज्येत इति चेत्?** समाधत्ते – न। अवयवसंयोगविभागाभ्यामेव (अवयविसंयोग–विभागयोराकाशदेशेन) **तत्सिद्धेः।** एष च संयोगजसंयोगविभागजविभागोत्पत्तिप्रकारो वैशेषिकाध्ययनादेव सम्यग् अवगतो भवतीत्याक्षिपति सिद्धान्ती – **एतच्च सम्यगव बोद्धुं वैशेषिकम् अधीष्वेति** इति। पूर्वपक्षी शङ्कते – **तर्हि चलदवयवसमाश्रितो पि अचलन्नेवावयव्युपलभ्येतेति चेत्?** अवयवक्रियया अवयविक्रियाया अभावे, चलदवयवसमवेतमपि अवयविनम् अचलन्तमुपलभ्येत। न चैवं द श्यते इति चेत्? समाधत्ते = **नेदमनिष्टम्। पाणौ कम्पमाने शरीरं न कम्पते इति प्रत्ययात्** इति।

अथवा यो यदाश्रिततयोपलभ्यते स तस्मिंश्चलत्यचलो पि चल एव विभाव्यते दर्पणमुखवत् जलचन्द्रवच्चेत्यति द्रष्टव्यम्। कृतं प्रतीतिकलहेन। एवमपि सर्वत्र चल एवोपलभ्येतेति चेत्, चलत्यवयवे सर्वत्र तथैवेति न कि चिदनुपपन्नम्। अचले तु कथं तथोपलभ्यताम्। तथापि चलाचलाश्रयस्य चला च लतया प्रतीतौ चलाचलजलचन्द्रवत् द्वैतप्रत्ययो पि स्यादिति चेत्, स्यादपि यद्याश्रयविच्छेदः स्यात्। न ह्येकस्मिन्नेव जले विच्छिन्नावयवभेदेन द्विचन्द्रभ्रमो नाम। किन्तु स एवैकश्चले चल उपलभ्यते चले त्वचल इति। वीचिषु सो पि सहस्रनिभ इति चेत्, एवमेतत्। तासां विच्छेदेनाकलनात्।

अस्तु तर्हि चलाचलयोर्युतसिद्धिप्रसङ्ग इति चेन्न। स्वयं प्रतिबन्धासिद्धेः। न च प्रसङ्गे व्याप्तावपि पराभ्युपगमः शरणम्। न चैवं पराभ्युपगमो पि। वस्त्रोदकादौ द श्यते तावदयमिति चेन्न। तन्तुवस्त्रादौ विपर्ययस्यापि दर्शनात्। इदं मिथ्येति चेत्, तत् कथं सत्यम्। अबाधादिति चेत्, इह तर्हि बाधकान्तरं वाच्यम्। चलाचलत्वमेवेति चेन्न। युतसिद्धावपि किमिति नेदं बाधकमिति, विपर्ययस्यापि वक्तुं शक्यत्वादिति।

अथवा अवयविनि चलत्वोपलम्भो पि समर्थयितुं शक्यते इत्याह – **अथवा यो यदाश्रिता** अवयवाश्रितो वयवी अचलो पि अवयवचलनेन चलन् इव द श्यते। यथा चलता दर्पणेन तत्स्थितमुखं चलति, चलता जलेन जलस्थितमुखं चलति इतिवच्चेति गौणव्यवहारः। शङ्कते – **एवमपि सर्वत्र चल एव उपलभ्येतेति चेत्?** इति। अवयवे चलति सति अवयवी चल एव उपलभ्येतेति चेत्? समाधत्ते – **चलत्यवयवे सर्वत्रेति** यत्र यत्रावयवचलनं तत्र सर्वत्र अवयविनि चलत्वोपलब्धिः। अधिकरणचलनेनैव भवति इति न कापि क्षतिः। अधिकरणाचलने तु नैव अवयविनि कथ चिदपि चलनप्रतीतिरिति बोध्यम्।

यदि अवयवगतचलनाचलनाभ्याम् अवयिविनि आरोपिते चलनाचलने भवतः न तु स्वतः, तदा अवयवगतचलनाचलनाभ्यां चन्द्रे चलनाचलनाभ्यां यथा द्वैतप्रत्ययो भवति तथावयविन्यपि द्वैतप्रत्ययः स्यादिति पूर्वपक्षी शङ्कते – **तथापि चलाचलाश्रयस्येति** उक्तरीत्या यदि अवयवचलने अवयविनि चलनमारोप्यते तदा यत्र केचिदवयवाः चलाः केचिद् अचलाश्च तत्र अवयविनः चलाचलतया प्रतीतौ चलाचलजलप्रतिबिम्बितेन्दुवत् अवयविनि द्वैतप्रतीतिः स्यादिति चेत्? समाधत्ते – **स्यादपि यद्याश्रयविच्छेदः स्यादिति।** यदि आश्रयस्य अवयवस्य विच्छेदः स्यात् तदा अवयविनि द्वैतप्रत्ययः स्यात्। न त्वेवम् नह्येकस्मिन्नेव जले अविच्छिन्नावयवभेदेन द्विचन्द्रभ्रमो नाम, किन्तु स चन्द्र एकैव चले जले उपलभ्यते, अचले जले तु अचल उपलभ्यते इति। तथा च चलाचलावयवभेदेनैव विभिन्नजलप्रतिबिम्बे चन्द्रे एव

द्विविधचन्द्रप्रतीतिः भ्रमो स्ति। नैकस्मिन् जले तथा प्रतीतिः। शङ्कते – **वीचिषु सो पि सहस्रनिभ इति चेत्?** तरङ्गेषु चन्द्रो पि सहस्रसद शो द श्यते। एकत्र वीचिषु कथं सहस्रशो चन्द्रप्रतीतिः उपपद्यते, तत्र आश्रयभेदाभावात् इति चेत्? समाधत्ते – **एवमेतत्। तासां विच्छेदेन आकलनात्** इति। तथा च वीचीनां भिन्नत्वात् नैकत्र अनेकचन्द्रप्रतीतिरूपदोषापत्तिः। तत्र अनेकासु वीचिषु अनेकचन्द–प्रतीतिर्भवति।

पूर्वपक्षी शङ्कते – **अस्तु तर्हि चलाचलयोरिति** अयमर्थः। अवयवावयविनोः समवायाभ्युपगमात् अयुतसिद्धिरिष्टा, युतसिद्ध्यभावश्च अयुतसिद्धिः। युतसिद्धिश्च द्वयोरपि संबन्धिनोः संबन्धिद्वयातिरिक्ताश्रयाश्रयित्वम्। द्वयोरन्यतरस्य वा प थग्गतिमत्वं च। द्विविधयुतसिद्ध्यभावश्च अयुतसिद्धिः। एकैकाभावे पि अयुतसिद्धित्वाभावात्। अप थग्गतिमत्त्वे पि त्वगिन्द्रियशरीरयोः अयुतसिद्ध्यभावात् अप थगाश्रयत्वविगमेन, तथा शरीरपरमाण्वोः अप थगाश्रयाश्रितत्वे पि प थग्गतिमत्त्वेन अयुतसिद्ध्यभावात्। कथं शरीरपरमाण्वोः अप थगाश्रयाश्रयित्वम्? श्रूयताम्। शरीरस्य स्वावयवाश्रयस्य अन्याश्रयत्वे अपि परमाण्वोर्निराश्रयत्वेन आश्रयान्तराश्रयत्वाभावेन उभयोः अन्योन्याश्रयत्वाभावात्। प थग् गतिमत्त्वं तु तयोः प्रसिद्धमेवेति। अतः अवयवावयविनोः प थग्गतिमत्त्वे अयुतसिद्धिप्रसङ्ग इति चेत्? समाधत्ते = **न। स्वयं प्रतिबन्धासिद्धेः।** न हि भवन्मते अयुतसिद्ध्योः अप थग्गतिमत्त्वम्, प थग्गतिमतोश्च युतसिद्धत्वं सिद्धम्। भवतो (शून्यवादिनः) बाह्यार्थाभावेन साधर्म्यवैधर्म्यद ष्टान्ताभावे युतसिद्धिप थग्गतिमतोः, अयुतसिद्ध्यप थग्गतिमतोश्च व्याप्तेर्ग हीतुमशक्यत्वात्।

ननु भवतस्तावत् सिद्धैव व्याप्तिरत आह – **न च प्रसङ्गे व्याप्तावपीति।** प्रसङ्गसाधने पि हेत्वंश एव पराभ्युपगमः शरणम् न तु व्याप्तावपीति। न चैवं पराभ्युपगमो पि = एताद शपराभ्युपगमो पि नास्ति। नैयायिकमतेन बौद्धीयप्रसङ्गसाधने हेतुमात्रं ग हीतं स्यात्, न तु व्याप्त्यङ्गम्, उदाहरणमपि, बाह्यार्थाभावादिति भावः। तथा च व्याप्तिसह्यबाह्यस्य द ष्टान्तस्य असिद्ध्या अयुतसिद्ध्यगतिमतोश्च, युतसिद्धिगतिमतोश्च व्याप्तिविरहात् चलाचलयोः युतसिद्धिप्रसङ्ग इत्यस्य त्वया कथयितुम् अशक्यत्वात्। परः शङ्कते – **वस्त्रोदकादौ द श्यते तावदयमिति चेत्?** इति। उदकसिक्ते वस्त्रे उदकस्य प थग्गतिमत्त्वेन तयोर्युतसिद्धिर्द श्यते इति चेत्? उत्तरयति – **न। तन्तुवस्त्रादौ विपर्ययस्यापि दर्शनात्** इति। तन्तुवस्त्रयोः प थग्गतिमत्त्वे पि युतसिद्धिविपर्ययस्य अयुतसिद्धेरपि दर्शनात्। परः शङ्कते – **इदं मिथ्येति चेत्?** इति। तन्तुवस्त्रयोः अयुतसिद्धत्वं मिथ्येति चेत्? सिद्धान्ती प च्छति – **तत्कथं सत्यम्?** इति। युतसिद्धत्वं तन्तुवस्त्रयोः कथं सत्यम् त्वया अवगम्यते? तन्तुवस्त्रयोः युतसिद्धिः सत्या, अबाधात् इत्यनेन तयोः युतसिद्धिः सत्येति परः कथयति, अबाधादिति चेत्? इति। सिद्धान्ती कथयति – **इह तर्हि बाधकान्तरं वाच्यम्** इति। अयुतसिद्धे अवयविनि चलाचलाद् अन्यद् बाधकं त्वया वाच्यम्। येन

अयुतसिद्धिः मिथ्या भवेत्। बाधकं विना तस्याः मिथ्यात्वं कथयितुम् अशक्यत्वात्। नान्यद् बाधकमिति चलाचलरूपम् एव बाधकं किमिति न स्यादिति शङ्कते – **चलाचलत्वमेवेति चेत्?** अवयविनि अयुतसिद्धे चलाचलत्वमेव बाधकम्। अवयवस्य चलत्वे पि अवयविनः अचलनादिति चेत्? चलाचलत्वयोः प्रतिबन्धकत्वस्य अयुतसिद्धाविव युतसिद्धावपि समानत्वेन विनिगमनाविरहात् अवयवावयविनोः युतसिद्धावेव कथं न चलाचलत्वं प्रतिबन्धकमित्युत्तरयति सिद्धान्ती – **न। युतसिद्धावेव किमिति नेदं बाधकमिति विपर्ययस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्** इति। चलाचलत्वम् अवयविनोः युतसिद्धावेव किमिति न बाधकमिति अयुतसिद्धिबाधकविपर्यययुतसिद्धि–बाधकस्य तस्य विनिगमनाविरहेण वक्तुं शक्यत्वात्।

रक्तारक्तविरोध इति चेन्न। भ्रान्तत्वात्।तन्मूलरागिद्रव्यसंयोगासंयोग विरोधो स्त्विति चेन्न परमाणुवादिनं प्रति प्रागेव परिहृतत्वात्। इतरं प्रति का वार्तेति चेत्, सैव तावत् तथैवाविरोधात्। प्रकारभेदेनापि विरोधाभ्युपगमे व्याप्तेरसिद्धेः संयोगतदभावयोरेवासिद्धेः। सिद्धौ वा प्रकारभेदाविरुद्धस्वा-भावसादेश्यापरित्यागात्। न चैवं पदार्थान्तरवैधर्म्येण संयोग एव निराकर्त्तव्यः। तद्वैधर्म्येण तेषामेव निराकरणप्रसङ्गात्।

न चैवमेव न्याय्यम्, नियमवता हि सत्यवैधर्म्येणेतरन्निराक्रियते। असत्यवैधर्म्येण सत्यत्वस्यैव निर्वाहात्। निषेध्यप्रतीतिनान्तरीयकत्वाच्च निषेधसिद्धेः। शशविषाणादौ कल्पितेन निषेध्येन निषेधसिद्धिरिति चेन्न। निराकृतत्वात्। संयोगस्य वाङ्मात्रेण काल्पनिकत्वसिद्धावतिप्रसङ्गाच्च। शशश ङ्गन्यायस्य च योग्यानुपलम्भाभावेनासिद्धेः। इत एव बाधकात् तत्सिद्धावि-तरेतराश्रयत्वम्।

एक एव पटः क्वचिद् रक्तो रक्तश्चेति स्थूलघातीति अवयविसिद्धौचतुर्थविरोधं निराकर्तुमाशङ्कते – **रक्तारक्तविरोध इति चेत्?** इति। एक एव पटः अवयवी क्वचिद् रक्तः, क्वचिदरक्तश्चेति उभयोः विरुद्धयोः एकत्र समावेशासंभवत् अवयवेभ्यो भिन्न एकः अवयवी न स्वीकार्य इति चेत्? उत्तरयति – **न। भ्रान्तत्वात्।** एकत्र अवयविनि रक्तत्वारक्तत्वे विरुद्धे न स्तः। तत्र अवयविनि रक्तद्रव्यसंयोगेन तदीयो राग आरोप्यते, भ्रान्त्या ग ह्यते इति तत्र अवयविनि रक्तत्वस्य आरोपितत्वने तत्प्रतीतेः भ्रमत्वेन वस्त्वसाधकत्वात्। प्रमाप्रतीतिर्हि वस्तुसाधिका भवति। न भ्रमात्मिका सा। अन्यथा शुक्तौ इदं रजतमिति ज्ञानस्य रजतसाधकत्वापत्तेः।

ननु भ्रान्तिमूल–रक्तद्रव्यसंयोगासंयोगविरोध एव वयविनः बाधको अस्त्विति शङ्कते – **तन्मूलरागिद्रव्यसंयोगासंयोगविरोधो स्त्विति चेत्?** इति। अरक्ते अवयविनि

रक्तो यम् अवयवीति भ्रममूलं यो रक्तद्रव्यसंयोगः अरक्तो यम् अवयवीति प्रत्ययमूलरक्तासंयोगश्च इत्युभयोः विरुद्धयोः एकत्र अवयविनि समावेशासंभवात् नैको वयवी अवयवाद् भिन्नो अस्तीति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **न। परमाणुवादिनं प्रति प्रागेव परिहृतत्वात्** इति। परमाणुसद्भाववादिनं **सौत्रान्तिकं** प्रति एकस्यैव परमाणोः एकदिगवस्थितेन परमाणुना संयोगो संयोगश्च प्रकारभेदेन अन्यदिगवस्थित–परमाणुना यथा भवति, तथा अवयविन्यपि भविष्यतीति विरोधस्य परिहृतत्वात्।

शङ्कते – **इतरं प्रति का वार्तेति चेत्** इति। **सौत्रान्तिक**–भिन्न– नैयायिकं प्रति का वार्ता = एकत्र अवयविनि विरुद्धौ संयोगासंयोगौ कथं भवत इति चेत्? उत्तरयति – **सैव तावत्। तथैव अविरोधात्** इति। या वार्ता **सौत्रान्तिकं** प्रति सैव वार्ता नैयायिकं प्रति समाना वर्तते। यथा प्रकारभेदेन **सौत्रान्तिकः** संयोगासंयोगौ परमाणौ स्वीकरोति, तथैव प्रकारभेदेन संयोगासंयोगौ अवयविनि नैयायिकः स्वीकरोति। युक्तेः समानत्वात्। प्रकारभेदेनापि विरोधाभ्युपगमे व्याप्तेरेवासिद्धेः। **संयोगतदभावयोः एव असिद्धेः। सिद्धौ वा प्रकारभेदाविरुद्धस्वभावसादेश्यापरित्यागात्** इति। संयोगासंयोगविरोधस्य भेदेन = देशभेदेन, व्याप्तेरसिद्धेः। कथमित्याह – **संयोगेति।** अयमर्थः संयोगतदभावौ प्रमाणसिद्धौ न वा? यदि न सिद्धौ तदा कथं भेदेन = देशभेदेन, व्याप्तिः सिद्ध्यति। अथ सिद्धौ तर्हि प्रकारभेदेन = देशभेदेन अविरुद्धं सादेश्यम् = विरोधरहितं समानदेशत्वम् अङ्गीकर्तव्यम् इति कथं देशभेदेन व्याप्तिरिति? संयोगतदभावयोः प्रमाणेन सिद्धौ (सत्याम्) मूलाग्रहादिदेशभेदेन अविरुद्धं यत् स्वस्य संयोगस्य तदभावस्य च एकव क्षव त्तित्वरूपं समानदेशत्वं तत्परित्यागासंभवात् कथं प्रकारभेदेन संयोगासंयोगविरोधस्य व्याप्तिः सिद्ध्यति। यत्र यत्र संयोगः तत्र तत्र न संयोगाभावः, यत्र यत्र संयोगाभावः तत्र तत्र न संयोगः इति न सिद्ध्यतः। व क्षे व्यभिचारात्। तथा च संयोगे न संयोगाभावविरोधव्याप्तिः। न वा संयोगाभावे संयोगविरोधव्याप्तिश्च। तथा च अवयविनः ताभ्यां कथं बाधः स्यात् ?

ननु रूपतदभावयोः प्रकारभेदेनापि सादेश्यादर्शनात् (समानो देशो यस्य स सदेशः, तस्य भावः सादेश्यम्, समानदेशत्वम्, तस्य अदर्शनात्) तद्वैधर्म्येण संयोग एव (रक्तद्रव्यसंयोग एव अवयविनि द्रव्ये) निराकर्तव्य इति वक्तव्यमित्याह – **न चैवं पदार्थान्तरवैधर्म्येण संयोग एव निराकर्तव्यः, तद्वैधर्म्येण तेषामेव निराकरण-प्रसङ्गात्।** रूपतदभावयोर्न सामानाधिकरण्यं द श्यते। संयोगतदभावयोश्च तद्वैयधि–करण्यं सामानाधिकरण्यं द श्यते अवयविनि द्रव्ये इति अवयविनि रक्तद्रव्यसंयोग एव निराकर्तव्यः। संयोगाभावश्च तत्र वर्तते। तथा च कथम् अवयविनि रक्तद्रव्यसंयोगात् रक्तत्वमारोपणीयं स्यात्? तथा च रक्तारक्तत्वविरुद्धसंसर्गयोः एकत्र असंभवेन अवयवी अवयवाद् भिन्नो न स्वीकार्य इति शङ्का। संयोगतदभावयोः व क्षैकरूपे द्रव्ये मूलशाखाविभिन्नदेशावच्छेदाभ्यां प्रमाणसिद्धेः यदि रूपतदभावविरुद्धस्वभावेन

समानदेशत्वेन संयोगः तत्र निराक्रियते, तदा संयोगतदभावसमानदेशत्वविरुद्धा– समानदेशत्वेन प्रमाणसिद्धरूपतदभावान्यतरमेव निराक्रियताम्, रूपतदभावयोरिव संयोगतदभावयोरपि प्रमाणसिद्धत्वाविशेषात्। सर्वत्र एकस्मिन् पटाद्यवयविनि रूपतदभावयोः देशभेदेनापि समानदेशत्वाभावात्। संयोगतदभावयोस्तु देशभेदेन समानदेशत्वदर्शनरूपविरुद्धधर्मदर्शनात् संयोग एव नास्ति इति शङ्कार्थः। समाधत्ते – **तद्वैधर्म्येणेति**। संयोगतदभावयोः उक्तसमानदेशत्वदर्शनविरुद्धधर्मत्वात् रूपादय एव न सन्तीति वक्तुं शक्यत इत्युत्तरार्थः।

नन्वस्तु रूपादीनां निराकरणमिति चेत्, तत्राह – **न चैवमेव न्याय्यम्**। रूपादीनामपि असत्त्वे तद्वैधर्म्येण संयोगस्य असत्त्वं तद्वैधर्म्येण संयोगे सत्त्वस्यैव सिद्धत्वात्। असद्रूपादिवैधर्म्येण संयोगे सत्यत्वस्यैव युक्तत्वादिति भावः। तदेव कथयति – **नियमवता हि सत्यवैधर्म्येणेतरन्निराक्रियते।** रूपतदभावयोः समानदेश– विरुद्धधर्मात् संयोगं निराकरोति। एवं संयोगतदभावयोः विरुद्धासमानदेशत्वधर्मेण रूपस्य निराकरणं स्यात्। तथा च असतो रूपस्य वैयधिकरण्येन संयोगस्य सत्यत्वमेव आयाति इति कथं तस्य निषेधो वक्तुं शक्यते। कि च संयोगनिषेधे निषेध्यस्य संयोगस्य क्वचित्प्रमाणप्रतीतिः अभ्युपगन्तव्या। अतो पि न तस्य सर्वथा निराकरणं युक्तमित्याह – **निषेध्यप्रतीतिनान्तरीयकत्वाच्च निषेधसिद्धेः** इति। प्रतियोगिज्ञानं विना अभावज्ञानाभावात्। संयोगज्ञानं विना संयोगाभावज्ञानाभावेन संयोगाभावज्ञानस्यापि संयोगज्ञानम् आवश्यकम्। निर्विषयकज्ञानाभावेन संयोगसत्त्व– मावश्यकम्। विषयतासंबन्धेन ज्ञानं प्रति तादात्म्येन प्रतियोगिनः कारणत्वात्। अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वाच्च। आक्षिपति – **शशविषाणादावपीति।** यदि अभावज्ञाने प्रतियोगिसत्त्वं क्वचिदपेक्षितं, तस्य प्रामाणिकी प्रतीतिर्वा, तदा शशश ङ्गं नास्तीत्यत्रापि शशश ङ्गस्य क्वचित् सत्त्वं प्रामाणिकी प्रतीतिर्वा अभ्युपगन्तव्या स्यात्। अतः कल्पितेनापि निषेध्येन प्रतियोगिना निषेधस्य सिद्धिः अभ्युपगन्तव्या। अन्यथा कल्पितेन शशश ङ्गेण शशश ङ्गं नास्तीत्यभावासिद्धेरिति चेत्? समाधत्ते – **न। निराक तत्वात्** इति। प्रथमविकल्पे व्यतिरेकभङ्गे निराक तत्वात्।

कि च शशश ङ्गस्येव संयोगस्य काल्पनिकत्वमपि निष्प्रमाणकम् इत्याह – **संयोगस्य वाङ्मात्रेणेति** यदि भवता वचनमात्रेण प्रत्यक्षीभूतसंयोगस्य काल्पनिकत्वं कथ्यते, तदा भवदभिलषितस्य शून्यत्वादेरपि काल्पनिकत्वं मया कथ्यते। तथा च तस्य असत्यत्वे जगतः सत्यत्वं तव अनिष्टमापद्येत। कि च योग्यानुपलम्भाभावेन संयोगाभावस्यापि सिद्ध्यापत्तेः। यथा शशश ङ्गादेः अलीकस्य योग्यानुपलम्भाभावेन अभावो न सिद्ध्यति। शशश ङ्गं यदि स्यात् तर्हि उपलभ्येतेति यथा नापाद्यते तथा यदि संयोगः स्यात् तदा स उपलभ्येत इत्यापादयितुं न शक्यते। तव मते संयोगस्य अलीकत्वेन शशश ङ्गतुल्यत्वात्। मम मते तु तस्य अकाल्पनिकत्वे न तथा आपादयितुं

शक्यते। तदभावः प्रत्यक्षो भवति। रूपतदभावयोः असमानदेशत्ववैधर्म्येण संयोगतदभावयोः समानदेशत्वेन संयोगस्य काल्पनिकत्वे अन्योन्याश्रयत्वेन न तस्य काल्पनिकत्वं कथयितुं शक्यते इति सिद्धान्ती कथयति – **इतरबाधकात् तत्सिद्धावितरेतराश्रयत्वम्** इति। संयोगादेः रूपादितदभाववैधर्म्यरूपबाधकात् काल्पनिकत्वसिद्धौ परस्पराश्रयत्वम्। बाधकप्रव त्तौ काल्पनिकत्वसिद्धिः, काल्पनिकत्व–सिद्धौ तस्य अलीकत्वसिद्धिरिति।

शब्दप्रत्यभिज्ञानवत् संयोगप्रतीतेरन्यथोपपत्तिमात्रेण बाधकप्रव त्तिरिति चेन्न अनुभवस्य तदनुरूपमुपाधिमुखपिण्डमदत्वा भ्रान्तत्वेनान्यथोपपत्तौ तद्विपरीता-नुमानप्रवर्तने ग्नावनुष्णत्वानुप्रव त्तिप्रसङ्गात्। न च प्रत्यभिज्ञानस्य सामान्यवत् संयोगप्रत्ययस्य तदनुरूपमुपाध्यन्तरमस्ति। एवम्भूतमर्यादातिक्रमे तु त्वदभिप्रेत-प्रतिबन्धप्रत्ययस्यापि भ्रान्तत्वेनान्यथासिद्धिप्रसङ्गः कथं वार्यः। तदवधारणे शिथिलमूलस्तर्कः कथं प्रवर्त्तेत। यथालोकव्यवस्थानं चाध्यक्षान्तरवत् संयोगस्यापि शब्दपाकजाद्यर्थक्रियास्थितेस्तदध्यक्षस्यापि प्रामाण्यसिद्धेर्न भ्रान्तत्वशङ्कावकाश इति।

अस्तु तर्हि तद्देशत्वातद्देशत्वरूपो विरोधः। न, विरोधलक्षणाभावात्। न हि तद्देशसंसर्गविधौ नियमेन देशान्तरसंसर्गनिषेधः। तद्देशत्वतददेशत्वयोस्तु स्यात्। तत्संसर्गस्तु केनेष्यते। अध्यक्षमेवैकसंसर्गपरिच्छेदकं तदभावव्यवच्छेद-मुखेन तदन्यव्यवच्छेदफलमिमं विरोधमुद्गिरतीति चेत्, स्यादप्येवं, यदि नियमेनैकसंस ष्टस्यान्यसंसर्गं प्रतिक्षिपदध्यक्षमुदियात्, न त्वेतदस्ति। युगपदेक-स्यानेकसंसर्गप्रव त्तमध्यक्षमविशेषात्। सर्वसंसर्गं वा प्रतिक्षिपेत्, न वा कमपि, स्वात्मानमेव वा, सर्वथा न विरोधं दीपयेत्। अन्ततः परमाणोरप्येकस्यानेकैः, परमाणुभिः संसर्गस्वीकराच्चेति। एतेन व त्तिविकल्पो निरस्तः, पमाणुव त्त्या वयवि-व त्तेस्तुल्ययोगक्षेमत्वात्।

यथा न्यायमते शब्दस्य अनित्यत्वेन 'सो यं गकार' इति प्रत्यभिज्ञायाः गत्वादिसामान्यविषयकत्वात् भ्रान्तत्वम्, तथा संयोगप्रतीतेरपि भ्रान्तत्वेनैव उपपत्तिसंभवात् बाधकस्य ताद शवैधर्म्यस्य प्रव त्तिः, न तु संयोगस्य। काल्पनिकत्वसिद्ध्या तस्य बाधकस्य प्रव त्तिरिति शङ्कते – **शब्दप्रत्यभिज्ञानवदिति।** संयोगे काल्पनिकत्व–निश्चयाधीना न तस्य बाधकस्य प्रव त्तिः, येन इतरेतराश्रयता स्यात्। किन्तु संयोगप्रतीतेः भ्रान्तत्वेनापि उपपत्तिसंभवमात्रेण बाधकप्रव त्तिः। ततः काल्पनिकत्वनिश्चय इत्यन्यतः परिच्छेदात् न इतरेतराश्रयता इति चेत्? सिद्धान्ती समाधत्ते – **न। तदनुरूपमुपाधि-मुखपिण्डमदत्वेति** संयोगानुभवस्य अनुरूपम् उपाधिं मुखे पिण्डमदत्त्वा न संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वं भवितुमर्हति। संयोगज्ञानं विना कथं संयोगतदभावयोः समानदेशत्वे

रूपतदभावासमानदेशत्वविरूद्धत्वज्ञानं संभवति। तथा च संयोगे काल्पनिकत्वसिद्धौ बाधकप्रव त्तिः। बाधकप्रव त्तौ च तस्य काल्पनिकत्वसिद्धिः इतीतरेतराश्रयत्वस्य दुर्वारत्वम्। सो यं गकार इति व्यक्तिविषयैक्यप्रतीतेः भ्रान्तत्वे गकारसामान्यगत्वैक्यमुपाधिः स्फुरति। न तथा संयोगप्रतीतेः भ्रमत्वे उपाधिः स्फुरति। अतः संयोगप्रतीतिरूपोपाधिं विना कथं भ्रमरूपता स्वीकार्या? उपाधिं विना ज्ञानस्य भ्रमत्वस्वीकारे 'उष्णो बह्निः' इति प्रत्यक्षज्ञानस्य भ्रमत्वेन उपपत्तिं स्वीकृत्य तद्विपरीते वह्नावनुष्णत्वानुमाने पि प्रव त्तिः स्यात्।

ननु संयोगप्रतीतेः भ्रान्तत्वप्रयोजकः कश्चिदुपाधिरत्रापि कल्प्यताम्। तथा च ताद शोपाधिना संयोगप्रत्ययस्य भ्रमत्वे सति बाधकप्रव त्तौ संयोगस्य अलीकत्वं सेत्स्यतीति न अन्योन्याश्रयत्वमिति। अन्योन्याश्रयत्वेन संयोगस्य अलीकत्वं वारयितुं न शक्यते इत्यत आह – **न च प्रत्यभिज्ञानस्येति।** 'सो यं गकार' इति व्यक्तिविषयैक्यप्रतीत्यनुरूपो तद्गतगत्वसामान्यैक्यस्य उपाधित्वमिव संयोगप्रत्ययानु–रूपम् उपाध्यन्तरं नास्ति, येन संयोगप्रत्ययस्य भ्रमत्वं स्यात्। उपाधिं विनापि संयोगप्रतीतेः भ्रमत्वस्वीकारे तु संयोगस्य त्वदभिलषितं काल्पनिकत्वमपि न सिद्ध्येदित्याह सिद्धान्ती – **एवंभूतमर्यादातिक्रमे त्विति** उपधिं विना प्रतीतेर्न भ्रान्तत्वमिति मर्यादा–परित्यागे तु बौद्धाभिमतस्य यो यः स्वाभावसमानदेशत्वाभाववान् स स परमार्थ इति व्याप्तिज्ञानस्यापि भ्रान्तत्वापत्त्या अपरमार्थत्वसिद्धिप्रसङ्गः कथं वारणीयः? तदवारणेन च शिथिलमूलतया यदि परमार्थः संयोगः स्यात् तदा रूपादिवत् स्वाभावसमानदेशत्ववान् न स्यात् इति तर्कस्य कथं प्रव त्तिः? अस्य तर्कस्य अप्रर्वतने कथं संयोगस्य अलीकत्वं वक्तुं शक्यते?

संयोगप्रतीतेः भ्रान्तत्वाभावे युक्तिमाह सिद्धान्ती – **यथालोकव्यवस्थानमिति** यथा घटपटाद्यध्यक्षान्तराणाम् अर्थक्रियास्थितेः प्रामाण्यं लोके व्यवस्थितं, तथा संयोगप्रत्ययस्यापि भेरीदण्डसंयोगजशब्दरूपार्थक्रियास्थितेः, अग्नि– संयोगज–पाकज–गुणरूपार्थक्रियास्थितेश्च प्रामाण्यं लोकसिद्धमिति न भ्रान्तत्वशङ्कावकाश इति संयोगप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वं प्रकल्प्य बाधकस्य प्रव त्त्या संयोगस्य अलीकत्वकल्पनं न युक्तम् इति भावः। अवयविबाधकं प चमं तद्देशातद्देशत्वरूपं विरोधान्तरमाशङ्कते – **अस्तु तर्हि तद्देशातद्देशत्वरूपो विरोध** इति। एकस्यैव अवयविनः अनेकावयवदेशस्य तद्देशत्वातद्देशत्वविरोध इति अवयवभिन्नावयवी न स्वीकार्यः। यद्विधौ यस्य निषेधः तयोः विरोध इत्यभिप्रायः। सिद्धान्ती उत्तरयति – **न। विरोधलक्षणाभावात्। न हि तद्देशसंसर्गविधौ नियमेन देशान्तरसंससर्गनिषेधः। तद्देशत्वतददेशत्वयोस्तु** (विरोधः) **स्यात्। तत्संगर्गस्तु केनेष्यते?** इति। एकस्य अवयविन एकावयवसंसर्गे पि अन्यावयवसंसर्ग इष्यत एव। एकावयवसंसर्गविधेः अपरावयवसंसर्गनिषेध–नान्तरीयकत्वाभावात्। न हि एकावयवसंसर्गः अपरावयवसंसर्गं निषेधति। तदवयववर्तिनः

अवयविनः तदवयवव त्तित्वाभावस्तु नेष्यते। तद्देशविधेः तद्देशनिषेधनान्तरीयकत्वात्। तद्देशव त्तित्वं हि तद्देशव त्तित्वाभावं निषेधति। घटस्य तद्देशव त्तित्वमेव तद्देशव त्तित्वाभावं निषेधति। उभयोर्विरोधात्।

शङ्कते – **अध्यक्षमेवैकसंसर्गपरिच्छेदकमिति।** एतत्संस ष्ट एवायम् इत्येकस्य एकसंसर्गपरिच्छेदकं (नियामकं) प्रत्यक्षं मुखतः तदभावं व्यवच्छिन्दन्नपि तद्वत् तदन्यव्यवच्छेदमपि कलयति (बोधयति)। एकस्य एकसंसर्गेणैव नियमावगमात्। अतः प्रत्यक्षमेव तद्देशत्वातद्देशत्वयोः परस्परविरोधनिषेधनान्तरीयकनिषेधविधिलक्षणं विरोधं साधयतीति। तथा च एतत्कपालः एतद्घटप्रतियोगिकसमवायसंबंन्धवानिति समवायनियामकं प्रत्यक्षं मुखतः एतत्कपाले एतद्घटप्रतियोगिकसमवायाभावं यथा व्यवच्छिन्नति, तथा एतत्कपालान्यकपालादौ एतद्घटप्रतियोगिकसमवायाभावमपि बोधयति। अतः तत्प्रत्यक्षमेव तद्देशत्व–अतद्देशत्वयोः परस्परविधिनिषेधनान्तरी–यकनिषेधविधिलक्षणं विरोधं साधयति। सम्बन्धसत्ताधीना च संबन्धिसत्ता भवति। एव च तदवयवसंबद्धत्वतदन्यावयवसंबद्धत्वयोः विरोधेन उभयावयवसंबद्धे घटे स्थातुमशक्यतया अवयवातिरिक्तः अवयवी नास्तीति बोध्यते।

शङ्कामुद्धरति – **स्यादेवम्, यदि नियमेनैकसंस ष्टस्यान्यसंसर्गमिति** यदि एतदवयवसंबद्धावयविनः अन्यावयवसंबन्धं नियमेन निषेधयत् प्रत्यक्षं भवेत्, तदा तदवयवसंबद्धत्वतदन्यावयवसंबद्धत्वयोर्विरोधः स्यात्। न तु एतत्प्रत्यक्षम् अस्ति। तथा च तदवयवसंबद्धत्वतदन्यावयवसंबद्धत्वयोः विरोधाभावेन एकस्मिन् अवयविनि तौ स्थातुमर्हत इति अवयवातिरिक्तावयविनि बाधकाभावेन स स्वीकार्यः। यत्र तत्संसर्गाभावस्य इतरसंसर्गेणाविनाभावः, तत्र क्वचिदेव तत्संस ष्टस्य अन्यसंसर्गं प्रतिक्षिपति प्रत्यक्षम्। यथा शुक्लसंसर्गाभावस्य शुक्लेतररूपसंसर्गेणाविनाभावो स्ति – यत्र यत्र शुक्लाभावः तत्र तत्र शुक्लेतररूपं यथा नीलो घट इति तत्र शुक्लसंसर्ग–विषयकप्रत्यक्षं शुक्लेतररूपसंबन्धं व्यवच्छिनत्ति। यत्र तु तत्संसर्गाभावान्यसंसर्गयोः अविनाभावो नास्ति तत्र न तदभाव(तदवयवसंसर्गाभाव)व्यवच्छेदमुखेन अन्य(तदवय–वान्यावयव)संसर्गप्रतिक्षेपसंभवः। यथावयविन्येव। तत्र हि तदेव प्रत्यक्षं तस्यैव संसर्गमन्यसंसर्गं च (तदवयवसंसर्गं तदभिन्नावयवसंसर्गं च) युगपत्परिच्छिन्दत् उदेति। अतो त्र तत्संसर्गाभावेनान्यसंसर्गस्य अविनाभावाभावात् संसर्गाभावमात्रस्यैव (तद–वयवसंसर्गविषयकप्रत्यक्षं तदवयवसंसर्गाभावमात्रं प्रतिक्षिपति, न तु तदन्यावयवसंसर्गं प्रतिक्षिपति) व्यवच्छेद इति।

तद्देश(तदवयव)संसर्गस्य तदन्यावयवसंसर्गविरोधाभावे युक्त्यन्तरम् आह – **युगपदेकस्यानेकसंसर्गप्रव त्तमिति** अनेकशाखाद्यवयवसंबद्धव क्षरूपावयविप्रत्यक्षम् अविशेषात् सर्वं संसर्गं वा प्रतिक्षिपेत् न वा कमपि संसर्गं क्षिपेत्, स्वात्मानमेव क्षिपेत्, त्रिषु अपि पक्षेषु सर्वथा न विरोधं दीपयेत्। एतच्चैवमेव अवयविनः अपलापिनापि

तथाभ्युपगमादित्याह – **अन्ततः परमाणोरप्येकस्यानेकैरिति।** अवयवि–परम्पराम् (घट–कपाल–कपालिका–चतुरणुक–त्र्यणुक–द्व्यणुकावयविनः) अपह्नुत्य परमाणुपर्यन्तं गत्वापि परमाणोः अनेकपरमाणुभिः संसर्गं स्वीकृत्य जलाहरणादिकं कार्यं निर्वाहयति। एव चावयविनो अनेकावयवैः संबन्ध इव परमाणोः अनेकपरमाणुभिः संबन्धः समान इति एकसंबन्धिनस्तदन्येन सह संबन्धे न को पि विरोधः स्वीकार्यः। किन्तु यत्र तत्संसर्गस्य तदन्यसंसर्गयोः अविनाभावो स्ति तत्रैव तदन्यसंबन्धं प्रतिक्षिपति तत्संबन्ध इति।

एकस्य परमाणोः अनेकैः परमाणुभिः सह संबन्धस्वीकारेणैव अवयविनः अवयवेषु व त्तिः कात्स्न्र्येन वा भागशो वेति अवयविनो व त्तिविकल्पो पि निरस्त इत्याह – **एतेन व त्तिविकल्पो निरस्तः।** एकः परमाणुः यथा अनेकेषु परमाणुषु संयोगन वर्तते तथा अनेकेषु अवयवेषु समवायेन वर्तते, उभयोः तुल्ययोगक्षेमत्वात्। युक्तेः समानत्वात्।

अस्तु तर्हि चित्रे नीलानीलादिविरोधः न हि तदेकं रूपं चित्रत्वविरोधात्। नाप्यनेकम्, एकावयविसमवायविरोधात्। न चानेकं व्यापकं, तथानुपलम्भ-विरोधात्। न चारूप एवावयवी, चाक्षुषत्वविरोधादिति चेन्न।

चित्रत्वं हि नानात्वं वा मिथोविरुद्धनानाजातिसमवायं वा भिप्रेत्य यदि एकत्वाभ्युपगमे विरोध उद्भाव्यते, तदैवमेतत्, न तु तथाभ्युपगमः। न खल्वनेकत्वं चित्रत्वम्, शुक्लेष्वप्यनेकेषु चित्रप्रत्ययप्रसङ्गात्। नाप्येकस्मिन् विरुद्धानेकजातिसमवायः, विरोधेनैव निराकृतत्वात्। अपि तु नीलत्वादिवच्चित्र-त्वमपि जातिविशेष एव। स चावयवव त्तिविजातीयरूपसमाहाराभिव्यङ्ग्यत्वान्नैक-रूपावयवसहितस्यावयविन उपलम्भे प्युपलभ्यते। अत एव त्र्यणुके चित्रे पि चित्रप्रत्ययो न कदापि। तथाप्यचित्रे पार्श्वे चित्रप्रत्ययो मा भूत्, धवलप्रत्ययस्तु कुत इति चेत्, अवयवरूपस चारेणावयविनो पि तथा प्रत्ययात्। अत एव यत्रावयवरूपं न प्रत्यक्षं तत्र त्रसरेणावेतदपि नास्ति द श्यमेव बाह्यालोकरूपमारोप्य पि जरस्त्रसरेणुरालोक्यते।

[अथ चित्रवयविबाधनिराकरणम्]

एवं तावद् अवयविमात्रविषयाविरुद्धधर्माध्यासाः (ग्रहणाग्रहणरूपोक्तप च–विरुद्धधर्माध्यासा) निरकृताः। इदानीं चित्रावयविविशेषविरुद्धधर्माध्यासमाशङ्कते – **अस्तु तर्हि चित्रे (चित्रपटादौ) नीलानीलविरोधः इति।** चित्ररूपावयविनि चित्रपटादौ नीलानीलविरुद्धधर्माध्यास एकम् अवयविनं निराकरोति। न हि विरूद्धधर्मौ एकमवयविनम् अधिवसतः। विरोधं दर्शयति – **न हीत्यादिना।** न हि तत् = चित्रं

रूपमेकं भवितुम् अर्हति, चित्रत्वविरोधात्। चित्रत्वं च नानारूपत्वम् पूर्वपक्षी मन्यते। न हि एकं रूपं चित्रं भवति। अन्यथा नीले पटे चित्रपटत्वापत्तेः। नानेकं रूपं चित्रम्, एकस्मिन् अवयविनि अनेकरूपसमवायविरोधात्। एकस्मिन् अवयविनि एकरूपसमवायो वर्तते।

ननु चित्ररूपस्य = नानारूपस्य व्यापकत्वात् एकः समवायः एकस्मिन् अवयविनि वर्तते इति चेत्? न। नीलादेः अवयविव्यापकतया अनुपलभ्भात्। न च अव्यापकं चित्ररूपम्, स्वाभावविदेशजातीयत्वविरोधात्। स्वाभावेन सह विभिन्नो देशो यस्य तत्स्वाभावविदेशं नीलादि तज्जातीयत्वविरोधात्। न हि विभिन्नदेशस्वभावादीनां नीलादीनां समानदेशस्वभावत्वविरोधात्। विभिन्नदेशस्वभावानामेकदेशस्वभावत्वं न स्वीकरोति। विचित्रदेशस्वभावो नाम व्याप्यवृत्तिस्वभावः, समानदेशस्वभावश्च अव्याप्यवृत्तिस्वभावः। एव च व्याप्यवृत्तिस्वभावानां नीलादिरूपाणां कथम् अव्याप्यवृत्तिस्वभावत्वम् अङ्गीकरणीयमिति। चित्रपटे नीलनीलाभावावुभौ विरुद्धौ स्थातुं न शक्येते। अतो नैकावयवी किन्तु नानावयवानां विलक्षणयुक्तः पटादिरिति मन्तव्यम्। न हि अव्यापकमनेकरूपं चित्रं भवितुमर्हति। नीलादिरूपस्य व्याप्यवृत्तित्वेन तस्य अव्याप्यवृत्तित्वाभावात्। व्याप्यवृत्तित्वाव्याप्यवृत्तित्वयोः विरोधात्। विरोधे युक्तिमाह – **अन्यथा विरोधाविरोधव्यवस्थाविरोधात्** इति। व्याप्यवृत्तिजातीयस्य नीलपीतादि–रूपस्य चित्रपटे अव्याप्यवृत्तित्वस्वीकारे विरोधाविरोधव्यवस्थानुपपत्तेः। एकाधिकरणे पटे नानारूपस्य चित्रस्य सत्त्वे नीलपीतयोरपि सत्त्वमङ्गीकरणीयमिति तयोः उभयोः सहावस्थानयोः सहानवस्थानरूपविरोधानुपपत्तेः।

ननु चित्रपटे न रूपमस्ति इत्यत आह – **अरूप एवावयवी, चाक्षुषत्वविरोधात् इति चेत्?** इति। विषयतासंबेन्धेन रूपभिन्नचाक्षुषप्रत्यक्षे समवायेन रूपस्य कारणत्वेन अवयविनो रूपाभावे तस्य अचाक्षुषत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। सकलानुभवविरोधात् इति चेत्? समाधत्ते – **न। चित्रत्वं हि नानात्वं वा मिथो विरुद्धनानाजातिसमवायो वेती।** चित्रपटादौ चित्रत्वं नानात्वं वा विरुद्धनानाजातिसमवायवत्त्वं वा अभिप्रायवन्तो वयम् एकत्वमभ्युपगच्छाम इति कृत्वा यदि विरोध उद्भाव्यते चेत् तर्हि विरोधो स्त्येव। अत्र मया न किमपि वक्तव्यम् अस्ति। किन्तु तथा न स्वीक्रियते मया।

ननु भवद्भिः कथं वस्तुस्थितिरपलप्यते इत्यत आह – **न खलु अनेकत्वमिति** नानात्वं चित्रत्वं मिथो विरुद्धनानाजातीयसमवायं वा चित्रत्वं नैवाभ्युपगम्यते। नानात्वं चित्रत्वमिति स्वीकारे शुक्लेष्वपि अनेकेषु चित्रप्रत्ययापत्तेः। मिथो विरुद्धनानाजाती–यसमवायस्य चित्रत्वस्य विरोधेनैव निराकृतत्वात्। न हि विरुद्धानाम् एकसमवायः संभवति। विरुद्धानाम् एकत्रस्थितेः अभावात्। अन्यथा विरोधानुपपत्तेः। किन्तु यथा नीलत्वादिजातिविशेषो भवति – 'अयं नीलः', 'अयं पीतः' इत्याद्यनुगतव्यवहारतः, तथा 'इदं चित्रम्', 'इदं चित्रम्' इत्यनुगतव्यवहारेण चित्रत्वं जातिविशेष एव। न तु

नानात्वं, मिथो विरूद्धनानाजातीयस्य समवायं च चित्रत्वम्। उक्तदोषात्। स च चित्रत्वजातिविशेषः अवयवव त्तिचित्रत्वभिन्नजातीयरूपाणां समाहारेण व्यङ्ग्यः। अत एकरूपावयवसहितस्य अवयविन उपलम्भे पि चित्रत्वजातिविशेषो नोपलभ्यते। चित्रत्वस्य विजातीयरूपसमाहाराभिव्यङ्ग्यत्वेन त्र्यणुके सत्यपि चित्रे कदापि न तत्र प्रत्ययः। त्र्यणुकावयव–द्वयणुके समाहारस्य अतीन्द्रियत्वेन तत्र तदभिव्यक्तत्वस्य कथयितुमशक्यत्वात्। न ह्यव्यक्तात् तत् अभिव्यज्यते इति व्यवहारो भवति। तच्च चित्रम् एकरूपावयवनिर्मिते अवयविनि नोपलभ्यते। अवयव त्तिविजातीयरूपसमाहारस्य असत्त्वात्। तत्र सजातीयरूपसमाहारो वर्तते।

शङ्कते – **तथाप्यचित्रे पार्श्वे चित्रप्रत्ययो मा भूदिति।** पटस्यैकदेशे पार्श्वे चित्ररूपाभावात् मा भूत् चित्रप्रत्ययः। व्याप्यव त्तिचित्ररूपस्य पटे सत्त्वेन शुक्लरूपं तत्र नास्ति इति कथं तत्र धवलप्रत्ययो भवति? तत्र धवलस्य असत्त्वादिति चेत्? समाधत्ते – **अवयवरूपस चारेणेति।** चित्रावयवव त्तिशुक्लरूपस्य स्वाश्रयसमवेतत्वेन अवयविनि आरोपेण अचित्रे पार्श्वे शुक्लरूपप्रत्ययात्। तत्राव त्तिन एव शुक्लरूपस्य, भाने पि तत्र तस्य अवास्तविकत्वात्। एतस्य दाढ़र्याय आह – **अतएव यत्रावयवरूपमिति।**

स्यादेतत्। यदि चित्रत्वं नाम जातिविशेषः। कथं तर्हि विरुद्धजातीयरूप-समाहारमात्रे चित्रत्वप्रत्यय इति चेत्, न वै नीलधवलारुणेषु पटेषु क्वचिदपि कार्बुरार्थश्चित्रप्रत्ययः कस्यापि। वैधर्म्यनिमित्तस्तु केन वार्यते? चित्रशब्दस्याक्षा-दिपदवदनेकार्थत्वात्। नीलपीतादिषु मिथः संस ष्टेष्वनारब्धद्रव्येष्वपि कर्बुरप्रत्ययो भवतीति चेत्, सत्यम्। द्रव्यान्तरोत्पादाभिमानात् स्थौल्यातिशयप्रत्ययवदुप-पत्तेरिति।

स्यादेतत्, यदि चित्रत्वं नाम जातिविशेषः इति। अवयविनि अवयवरूपस्य अवास्तविकत्वादेव यत्र अवयवरूपद्व्यणुकरूपं न प्रत्यक्षं, तत्र त्रसरेणौ द्व्यणुकसमवेतशुक्लादिरूपमपि प्रत्यक्षं न भवति। पि जरस्त्रसरेणुः द श्यमेव बाह्यालोकरूपमारोप्य द श्यते। न तत्र अवयवरूपं योग्यतास्ति। योग्ये अवयविनि चित्रस्य योग्यता। अयोग्ये अवयविनि तस्य अयोग्यत्वम् इत्येतत् स्यात्। यदि चित्रत्वं नाम विशेषो स्ति। शङ्कते – **कथं तर्हि विरुद्धजातीयरूपसमाहारमात्रे चित्रत्वप्रत्यय इति चेत्?** इति। यदि चित्रत्वं जातिविशेषो स्ति तर्हि नीलपीता–दिविरुद्धजातीयासमाहारे पि चित्ररूपव्यवहारः स्यात्। यथा नीलादिव्यवहारे न कस्यापि समाहारस्य अपेक्षा स्ति। तथा चित्ररूपव्यवहारे पि न कस्यापि अपेक्षा कर्तव्या। क्रियते चात्र विरुद्धजातीयसमाहारस्य अपेक्षा। अतः चित्रत्वं जातिविशेषो न स्वीकार्यः, किन्तु विरुद्धनानाजातीयरूपत्वमेव चित्रत्वमङ्गीकरणीयम्। रूपस्या–

व्याप्यव त्तित्वं किं वा अवयवरूपेण अवयविनः प्रत्यक्षं मन्तव्यम्? अथवा विरुद्धजातीय–नीलपीतादिसमाहारे चित्रत्वजात्यभावेन कथं तत्र (ताद शसमाहारे) चित्रत्वप्रत्यय इति चेत्? समाधत्ते – **न वै नीलधवलारुणेषु पटेषु क्वचिदपि कर्बुरार्थश्चित्रप्रत्ययः कस्यापि** इति। नीलधवलारुणरूपवद् अवयवैरारब्धेषु पटेषु पटभिन्ने क्वचिदपि ताद शावयवारब्धे च कार्ये कस्यापि जनस्य न चित्रप्रत्ययो पि तु कर्बुरार्थः प्रत्ययो भवति। किन्तु सर्वेषां जनानां नीलपीताद्यवयवविशिष्टे एव चित्रव्यवहारो भवति। अतो विरुद्धजातीयनीलपीतादिसमाहारः चित्रत्वजातीयव्य जकः न तु ताद शसमाहारः चित्रत्वम् इति बोध्यम्।

ननु नीलपीतादिविरुद्धजातीयानारब्धे अचित्रे पटादौ वैलक्षण्यनिमित्तकः चित्रव्यवहारः कथमुपपद्येत? तत्र चित्रत्वजातिविशेषवतः चित्ररूपस्य असत्त्वाद् अत आह – **वैधर्म्यनिमित्तस्तु केन वार्यते?** इति। यथा विरुद्धनानाजातीयनीलपीताद्यवय–वारब्धे अवयविनि चित्रप्रत्ययः चित्रव्यवहारो वा भवति, तथा वैधर्म्यनिमित्तको पि ताद शावयवानारब्धे विधर्मिण्यपि चित्रप्रत्ययः, चित्रव्यवहारो वा न वार्यते, अर्थात् भवति। ननु चित्रशब्दस्य नानार्थत्वापत्तिः। अननुगतनानाशक्तिमत्वस्यैव नानार्थत्वाद् इत्यत आह – **चित्रशब्दस्य अक्षादिपदवद् अनेकार्थत्वात्** इति। यथा अक्षशब्दः नेत्रे पाशाया च नानार्थकः, तथा चित्रशब्दो पि विरुद्धनानाजातीय नीलपीताद्यवयवारब्धे कार्ये अर्थे विधर्मिणि च अर्थे नानार्थकः इति। चित्रशब्दस्य नानार्थकत्वेन उभयत्र चित्रप्रत्ययस्य चित्रव्यवहारस्य चोपपत्तेः न को पि दोष इति बोध्यम्।

शङ्कते – **नीलपीतादिषु मिथः संस ष्टेष्विति।** विरुद्धनानाजातीय–नीलपीताद्यवयवारब्धे द्रव्ये एव चित्रप्रत्ययः, चित्रव्यवहारो वा यदि भवति, तदा ताद शावयवानारब्धे ताद शैः मिथः संयुक्तैरनारब्धे द्रव्ये कथं चित्रप्रत्ययः चित्रव्यवहारो वा उपपद्येत? ताद शावयवारब्धे एव द्रव्ये चित्रत्वजातिविशेषवतः चित्ररूपस्य त्वया स्वीकारादिति चेत्? समाधत्ते – **द्रव्यान्तरोत्पादाभिमानात् स्थौल्यातिशयप्रत्यय-वदुपपत्तेरिति** इति। यथा अनारब्धद्रव्येषु अवयवेषु बहुषु संहतेषु स्थौल्यातिशयप्रत्ययो द्रव्यान्तरारम्भभ्रान्त्या भवति, तथा अनारब्धद्रव्येषु नीलपीताद्यनेकेषु सत्सु द्रव्यान्तरा–रम्भभ्रान्त्या कर्बुरप्रत्ययः स्वीकार्यः। अन्यथा स्थौल्यरूपपरिमाणस्य एकस्य अनेकावयवाश्रयत्वानुपपत्त्या तत्र स्थौल्यातिशयप्रत्ययानुपपत्तेः।

अस्तु तर्हि परमाणुनिव त्तेः सर्वविलोपः। तथाहि बहुभिः परमाणुभिः संस ज्यमानः परमाणुः प्रत्येकं किमेकदेशेन संयुज्यते, कात्स्न्येन वा, प्रकारान्तरा-भावात् भावे वा परमाणुत्वव्याघातात्। न द्वितीयः, परमाण्वन्तरेणासंसर्गप्रसङ्गात्। न ह्यस्ति सम्भवः, एकत्रैव परिसमाप्तव त्तिरन्यत्रापि वर्त्तत इति।

न, बुद्ध्या समानयोगक्षेमत्वात्। तथाहि, बुद्धिरपि सन्तमसन्तं वानेकं विषयमालम्बमाना स्वाकारं वा बिभ्रती कात्स्न्र्येन वा, एकदेशेन वा। न प्रथमः, पीतादिविषयाकारविलोपप्रसङ्गात्। नह्यस्ति सम्भवो नील एव विषय आकारे वा परिसमाप्तात्मा पीतादिसम्प क्तात्मा चेति। न द्वितीयः, तदभावात्। एवमनाकारत्वमविषयत्वं च बुद्धेरिष्यत एवेति चेत्, तत् किं यत् प्रतिभासते तदसत् आहोस्वित् न प्रतिभासत एव किंचित्। नाद्यः, असत्यपि नीलपीतादौ ज्ञानव त्तिविकल्पस्य तदवस्थत्वात्। न हि कृत्स्नमेव विज्ञानं नीलोल्लेखि, पीताद्यनुल्लेखप्रसङ्गात्। नापि तदेकदेशः, तदभावादित्युक्तत्वात्। न द्वितीयः, बाह्ये पि व त्तिविकल्पस्यानुपपत्तेरिति।

[अथ परमाणुखण्डनद्वारा वयविबाध-खण्डनम्]

एवं तावत् आहत्य संग ह्य अवयविन अपलापो निराकृतः। इदानीं परमाण्वपलापद्वारेण अवयविन अपलापमाशङ्कते – **अस्तु तर्हि परमाणुनिव त्तेः सर्वविलोप** इति। परमाणोरभावात् परमाणुकार्याणां सर्वेषाम् अवयविनां विलोपः। परमाण्वपलापमेव व्युत्पादयति – **तथा हि बहुभिः परमाणुभिरिति।** त्रसरेणूत्पादकः परमाणुः अनेकैः परमाणुभिः संयुज्य द्व्यणुकावयविद्वारा त्रसरेणुमुत्पादयति। स च परमाणुः एकदेशेन परमाणुभिः संयुज्यते कात्स्न्र्येन वा? परमाणोः निरवयवत्वेन एकदेशरूपावयवस्य अभावेन परमाणोः परमाणुभिः संयोगाभावात्। परमाणोः अवयवस्वीकारे च तस्य परमाणुत्वव्याघातः। अन्त्यावयवस्य परमाणुपरिमाणकस्यैव परमाणुत्वमिति तस्य अवयवस्वीकारे तस्य अन्त्यावयवत्वस्य तदवयवस्य तन्न्यून–परिमाणवतः सत्त्वे ततः अधिकपरिमाणवतः परमाणोः परमाणुत्वस्य च अनुपपत्तेः। नापि परमाणोः कात्स्न्र्येन परमाणुना संयोगः संभवति। परमाण्वन्तरेण सह तस्य परमाणोः संयोगासंभवात्। सर्वत्र तस्मिन् तत्परमाणुसंयोगस्यैव सत्त्वेन असंयुक्तदेशाभावात्। परमाणोः परमाण्वन्तरेण संयोगस्य एकदेशेन कात्स्न्र्येन वा संभवे पि एतदन्यप्रकारो न संभवति। स च प्रकारो संभवः। अतो निष्प्रयोजनकः परमाणुः न स्वीकार्य इति। परमाणोः असंभवात् कथं द्व्यणुकाद्यवयविसिद्धिरिति सर्वकार्यविलोप इति पूर्वपक्षस्य आशयः।

समाधत्ते – **न। बुद्ध्या समानयोगक्षेमत्वात्** इति। बाह्यार्थापलापिनो द्वेधा दर्शनम्। अलीकं भासते इत्येकम्, ज्ञानाकारो भासते इत्यपरम् इति मनसि कृत्य बुद्ध्या समानयोगक्षेमत्वं दर्शयति – **तथा हि बुद्धिरपीति** बुद्धिः सन्तं ज्ञानाकारं विषयमालम्बाना किं विषयाकारबुद्धिरित्याकाङ्क्षां बिभर्ति धारयति। इदं **योगचारस्य** ज्ञानमात्रास्त्वित्ववादिनो मतेन। कात्स्न्र्येन सर्वावयवावच्छेदेन, एकदेशेन यत्किंचि–द्देशावच्छेदेन वा? **माध्यमिकस्य** सर्वशून्यत्ववादिनो मतेन बुद्धिरसन्तम् अलीकं

विषयमालम्बमाना कात्स्न्र्येन वा आकाङ्क्षां बिभर्ति = धारयति एकदेशेन वा? तत्र बुद्धिः कात्स्न्र्येन सन्तमसन्तं वा विषयमालम्बमाना कात्स्न्र्येन आकाङ्क्षां बिभर्तीति प्रथमपक्षो न युक्तः। पीतादिविषयाकारविलोपप्रसङ्गात्। नीले एव विषये ज्ञानाकारे वा परिसमाप्ता बुद्धिः पीतादिसंप क्ता चेति संभवो नास्ति। सर्वावयवावच्छेदेन बुद्धेः नीलाकारत्वे अवकाशाभावेन पीताद्याकारत्वासंभवात्। सन्तमसन्तं वा विषयमालम्बमाना बुद्धिः एकदेशेन आकाङ्क्षां बिभर्तीति पक्षो पि न युक्तः। बुद्धेः निरवयवत्वेन अवयवरूपैकदेशाभावात्।

शङ्कते – **एवमनाकारत्वमिति** इति। स्पष्टार्थः। विकल्पपूर्वकं समाधत्ते – **तत् किं यत् प्रतिभासत** बुद्धौ यत् प्रतिभासते तत् असत् = अलीकं बुद्धौ भासते, आहोस्वित् कि चित् बुद्धौ नैव प्रतिभासते। बुद्धौ असत्प्रतिभासते इति पक्षं दूषयति – **नाद्यः। असत्यपि नीलपीतादाविति।** नीलपीतादेः अलीकत्वस्वीकारे पि बुद्धिः विषयमालम्बमाना कात्स्न्र्येन एकदेशेन वा आकाङ्क्षां बिभर्तीति पूर्वोक्तज्ञान–व त्तिविकल्पस्य तदवस्थत्वात्। तथाहि असत्विषयमालम्बमाना बुद्धिः कात्स्न्र्येन आकाङ्क्षां बिभर्तीति पक्षो न युक्तः। कृत्स्नस्य ज्ञानस्य नीलोल्लेखित्वेन पीताद्यनु–ल्लेखित्वप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः। सर्वानुभवविरोधात्। अन्यथा पीतादावप्रव त्ति–प्रसङ्गात्। नापि असद्विषयमालम्बमाना बुद्धिः एकदेशेन आकाङ्क्षां बिभर्तीति पक्षो पि न युक्तः। बुद्धेर्निरवयवत्वेन एकदेशेन अवयवरूपैकदेशाभावात्। बुद्धौ कि चिदपि न प्रतिभासते इति द्वितीयविकल्पं खण्डयितुमाह – **न द्वितीयः। बाह्ये पि व त्तिविकल्पस्य अनुपपत्तेरिति।** बुद्धेः यत् अनाकारत्वम् अविषयत्वं च, तत् बुद्धौ कि चित् न प्रतिभासते परं यदि मन्यसे तदा कस्मिंश्चिदपि अप्रतिभासमाने बाह्ये पि पदार्थे ज्ञाने बाह्यविषयः कथं वर्तते? किं कात्स्न्र्येन एकदेशेन वेति? व त्तिविकल्पस्य त्वया कर्तुमशक्यत्वात्।

स्यादेतत्। निःशेषसमुदायी कृत्स्नशब्दस्यार्थः। समुदाये कश्चिदेव समुदाय्येकदेशपदार्थः। न च बुद्धिः समुदायस्वभावा, तस्या एकरूपत्वात्, तत् कुतः, कृत्स्नैकदेशविकल्पोत्थानम्। कथं तर्हि तद्विषयिणी तदाकारवती वा? प्रकारान्तराभावादिति यदि, तदा स्वरूपेणेति ब्रूम इति चेत्, स्फुटं निरटङ्कि तार्किकवेदिकाविटङ्केन केवलमस्मभ्यमभ्यसूयता दूरङ्गत्वेति।

एतेन तदतद्देशत्वं निरस्तम्। तथाहि बुद्धेर्नीलाकारतां परिच्छिन्ददध्यक्षं तदभावव्यवच्छेदमुखेन तदविनाभूतां पीताद्याकारतामपि व्यवच्छिन्द्यात्। तथा च कथमेका बुद्धिर्नीलपीताद्याकारा स्यादिति तुल्यो नुयोगः। भवेदेवं यदि नीलाद्याकारतायाः पीताद्याकारत्वाभावाविनाभावः स्यात्। स एव तु कुतः, नीलपीताद्याकाराया बुद्धेरैकात्म्येनैव निश्चयात्। प्रत्याकारनियतत्वे चित्रप्रतिपत्ते-

रप्यनुपपत्तिरिति चेत्, तदेतत् तुल्यं परमाण्ववयव्यादिष्वपि। न हि तत्राप्यनेक-परमाणुसंस ष्टस्य परमाणोरनेकावयवसंस ष्टस्यावयविनो वा नैकात्मता नुभूयते। तथात्वे वा एकस्यानेकसंसर्गप्रतिपत्तिः कदापि न स्यादिति तुल्यैवार्थगतिः। वाचि वैचित्र्यं तु क्वोपयुज्यत इति।

संयोगव्यवस्थापनेनैव षट्केन युगपद्योगात् दिग्देशभेदाच्छायाव त्तिभ्या-मित्यादयो निरस्ताः।

आक्षिपति – **स्यादेतत्, निःशेषसमुदायीति** कृत्स्नशब्दस्यार्थः निःशेषसमुदाय–वान्। अनेकघटितसमुदायस्तु शेषसहिते अपि वर्तते। स न विवक्षितः। किन्तु शेषरहितसमुदायो विवक्षितः। समुदायघटकश्च तदेकदेशो वयवपदार्थः। बुद्धिश्च निरवयवत्वात् न समुदायवती एकैव। तत एकस्यां समुदायाभाववत्यां बुद्धौ नीलादिविषयः कात्स्न्र्येन वर्तते, एकदेशेन वेति तव नैयायिकस्य विकल्पो न युक्त इत्याक्षेप इति चेत्? मध्ये सिद्धान्ती प च्छति – **कथं तर्हि तद्विषयिणीति** यदि नीलादिविषयवती बुद्धिः कात्स्न्र्येन एकदेशेन वा न नीलादिविषयवती, तदा कात्स्न्र्यैकदेशाभ्यां प्रकाराभ्यां भिन्नस्य त तीयस्य प्रकारस्य अभावात् कथं नीलादिविषयवती बुद्धिः तदविषयिणी तदाकारा वा त्वयोच्यते इति? आक्षेप्तोत्तरयति – **तदा स्वरूपेणेति ब्रूम इति चेत्?** इति। कात्स्न्र्यैकदेशाभ्यां भिन्नः प्रकारो स्ति स्वरूपरूपः। तथा च विषयः बुद्धौ स्वरूपेण वर्तते इति त्वदुक्तदोषो भवतीति चेत्? सिद्धन्ती समाधत्ते – **स्फुटन्निरटङ्कीति** इति। तार्किकवेदिकाविटङ्केन = नैयायिकोत्तराङ्कपाल्याश्रयेण केवलम् अस्मभ्यमसूयता पूर्वपक्षिणा बौद्धेन दूरं गत्वा स्फुटत् उत्तरं नैयायिकोत्तरम् निरटङ्कि = निरणायि, निश्चितम्। बौद्धेन नैयायिकोत्तरमेव निश्चितम्। केवलम् अस्मान् प्रति असूया प्रकटितेति भावः। **मिश्रा**स्तु तार्किकस्य वेदिका = आगमनस्थानं तत्र विटङ्केन धूर्तेन अस्मान् प्रति द्वेषमाविष्कुर्वता बौद्धेन दूरं गत्वा = ममोत्तरसमये, मदीयोत्तरमेव स्पष्टतया निश्चितम् इति वदन्ति। विषयितासंबन्धेन विषयो ज्ञाने वर्तते। विषयिता च स्वरूपसंबन्धविशेष इति नैयायिकाः स्वीकुर्वन्ति। स्वरूपेण विषयो ज्ञाने वर्तते इति बौद्धेन तत् स्वीकृतम् इति भावः। अयमेव अस्माकमपि अवयविनः परमाणोर्वा व त्तिप्रकारः। केवलम् अस्मभ्यम् असूयता त्वया प्रथमत एव एनं व त्तिप्रकारम् अपरिभाव्य बुद्धौ व त्तिप्रकारं प ष्टेन तत्तदुत्तराभासवचनेन दूरं गत्वा गत्यन्तराभावात् अयमेव कात्स्न्र्यैकदेशव त्तित्वासंभवप्रकारः व त्तिप्रकारः निरटङ्कीति **नारायणभट्टः।**

"अस्तु तर्हि (अवयविनि) **तद्देशत्व-अतद्देशत्वरूपो विरोधः"** इति बौद्धोक्तं बुद्धितुल्ययोगक्षेमेण खण्डयितुमाह – **एतेन तद्देशत्वं निरस्तम्।** अथवा तद्देशत्वातद्देशत्वविरोधः प्रागेव परिहृतो विरोधलक्षणाभावात्। बुद्धितुल्ययोगक्षेमत्वादपि

निरस्त इत्याह – **एतेन तदतद्देशत्वं निरस्तमिति।** नीलादिविषयकं प्रत्यक्षम् नीलादिबुद्धेर्नीलाद्याकारतां परिच्छिन्दत् व्यवस्थापयत् नीलाद्यभावव्यवच्छेदमुखेन इयं बुद्धिर्नीलविषयणी न तु नीलाभावविषयणीति रीत्या नीलाद्यभावस्य व्यावर्तकमुखेन तदविनाभूतां नीलाभावाविनाभूतां पीताद्याकारतामपि यदि व्यवच्छिन्द्यात् व्यवस्थापयेत्, तदा कथं नीलपीतादिविषयकं समूहालम्बनमेकं ज्ञानं स्यात्? परस्परविरुद्धाना–मेवात्र समावेशात्। नीलविषयकं प्रत्यक्षं तत्र नीलाभावविषयमिव पीतविषयकत्वं निषेधयति, पीतविषयक च पीताभावविषयकत्वम् इव नीलविषयकत्वं तत्र निषेधयति। **अध्यक्षमेवैकसंसर्गपरिच्छेदकम्** इत्यादिग्रन्थे पूर्वमवयविनि तद्देशत्वातद्देशत्वविरोधो, कात्स्न्येन एकदेशेन वा वर्तते इति प्रतिबन्दिसंभवात्। अतो यदि भवता एष विरोधो बुद्धौ नाङ्गीक्रियते, तदास्माभिरपि अवयिनि स विरोधो नाङ्गीक्रियते इति। समानयोगक्षेमत्वमिति भावः।

पूर्वपक्षी शङ्कते – **भवेदेवं यदि नीलाद्याकारतायाः पीताद्याकाराविनाभावः स्यादिति।** नीलविषयकं प्रत्यक्षं नीलाभावं व्यावर्तयत् नीलाभावव्याप्यं पीतादिकमपि व्यावर्तयति इति तदा भवेत् यदि नीलाकारताया व्याप्यः पीताद्याकाराभावो भवेत्। स एव तु कुतः = नीलाकारताव्याप्याभाव एव पीताद्याकाराभावे कुतः? पीताद्याकाराभावो न नीलाकारताव्याप्यः। नीलपीतादिविषयकसमूहालम्बनज्ञाने नीलपीताद्याकारस्य ज्ञानस्य ऐकात्म्येन = विज्ञानैकस्वरूपत्वेन निश्चयात्। यदि नीलाकारतायाः पीताद्याकाराभावो व्याप्यः स्यात्तदा पीताद्याकारविरोधिपीताद्याकाराभावः पीताद्याकारतां विरुन्ध्यात्। भवति नीलपीतादिसमूहालम्बनज्ञानस्य नीलाकारत्वमिव पीताद्याकारत्वम्। अतः तयोर्न व्याप्यव्यापकभावः। अन्यथा नीलाकारताव्याप्यत्वस्य पीताद्याकाराभावे स्वीकारे नीलपीतादिविषयकसमूहालम्बनस्य परस्परविरोधेन अनुपपत्त्या तत्र नीलविषयकं पीतादिविषयक च विभिन्नमेव ज्ञानं मन्तव्यम् इति चित्रज्ञानस्य एकस्य विलोपापत्तेरिति चेत्? सिद्धान्ती समाधत्ते – **तदेतत्तुल्यं परमाण्ववय दिष्वपीति।** यथा नीलविषयकं प्रत्यक्षम् अविनाभावाभावेन पीताद्याकाराभावं न निषेधयति, तथा परमाणोः एकपरमाणुसंबन्धो पि अविनाभावाभावेन परमाण्वन्तरसंयोगं न निषेधयति। एकावयविनि एकावयवसंबन्धो न अपरावयवसंबन्धं निषेधयति। व्याप्यव्यापकभावस्य अत्र अभावात्। तत्रापि अनेकपरमाणुसंबद्धस्य परमाणोः अनेकावयवसंबद्धस्य अवयविनो वा ऐकात्म्ये = एकरूपे न हि नानुभूयते अर्थात् अनुभूयते एव। संसर्गिभेदे पि एकरूपतानुभवस्य अभावे = संसर्गिभेदे पि ऐकात्म्यानुभवस्य अभावे दोषमाह – **तथात्वे वेति।** संसर्गिभेदे पि ऐकात्म्यानुभवाभावे वा एकसंसर्गप्रतिपत्तिः = एकस्मिन् धर्मिणि अनेकसंबन्धज्ञानम् कदाचिदपि न स्यात्। द श्यते च एकस्मिन् धर्मिणि अनेकधर्मप्रतियोगिकानाम् अनेकसंबन्धानां ज्ञानम्, डित्थो यं श्यामः चैत्रपुत्र इति। यथा नीलपीतादिविषयकज्ञानस्य ऐकात्म्याभावे चित्ररूपप्रत्ययानुपपत्तिः, तथा परमाणोः अवयविनो वा ऐकात्म्याभावे पि एकसंसर्गप्रतिपत्त्यनुपपत्तिः तुल्यैव इति बोध्यम्।

वाचि वैचित्र्यं तु क्व उपयुज्यत इति - बुद्धेः एकरूपत्वाङ्गीकारे नीलपीता–द्याकाराया बुद्धेः इति चित्रप्रत्ययानुपपत्तेरिति च वाचि वैचित्र्यं क्व वा उपयुज्यते इति? बुद्धेः एकाकारत्वेन वैलक्षण्याभावात्। नीलाकारप्रत्ययात् पीताकारप्रत्ययो विलक्षण इति वैलक्षण्यं न स्यादिति भावः। **संयोगव्यवस्थापनेनैवेति** एकस्य निरवयवस्यापि प्रकारभेदमाश्रित्य (*देशभेदमाश्रित्य*) संयोगतदभावयोः व्यवस्थितिरित्येवं संयोगव्यवस्थापनेन 'षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता'। प्रागुदीच्यादिदिग्देश–भेदात् परमाणोः सांशता। छायातपाभ्यामपि सांशता इत्यादयो निरस्ताः। प्रकारभेदेनैव (देशभेदेनैव) सर्वेषामुपपत्तेरिति।

परमाणुसिद्ध्यसिद्धिभ्यामेव मूर्तत्वादयो निरवकाशिताः। आकाशव्यति-भेदादयस्त्वसम्भाविता एव। सर्वत्र चात्र हेतुदशायां प्रतिज्ञापदयोर्व्याघातः, कालात्ययापदेशश्च। प्रसङ्गदशायामाश्रयासिद्धिर्व्याप्त्यसिद्धिश्च, द ष्टान्ता-सिद्धेः। अनवस्थालक्षणविपरीततर्कस्य तदुपष्टम्भकतया त्रुटेरमेयत्वप्रसङ्गस्य च विद्यमानत्वात्।

न च प्रलयः, परमाणोः असत्त्वसाधकस्य प्रमाणस्याभावात्। सावयवत्वा-पादकानां च हेतूनामनवस्थोत्थापकत्वादिति। तदन्य एवायं परमाणू रक्तबीजो यस्य भागा युक्तिचामुण्डोदरमपि भित्वा निष्पतन्तीति।

न च कल्पिताश्रयाः कल्पितप्रतिबन्धाश्च प्रसङ्गा भविष्यन्तीति युक्तम्। इच्छाकल्पितेन व्यवहारेण सर्वविधिनिषेधव्यवहारविलोपप्रसङ्गात्। लोक-व्यवस्थापेक्षणे तु तद्विरोधेनोत्तरस्य निषेध(क) स्यात्मलाभाभावादित्यसकृदा-वेदितत्वात्।

अन्यथा सर्वमेतद्बुद्धावपि समानम्। सापि हि षट्केन युगपद्योगादिभिः सावयवा प्रसज्येत। तस्यामसिद्धास्त इति चेन्न, अनुमानसिद्धत्वात्। तथाहि बुद्धिः षट्केन युगपद्योगिनी मूर्त्तिमती च, सत्त्वाद् व्यवहर्त्तव्यत्वाद्वा बोध्यवदिति शक्यते। विपर्ययस्यापि धर्मिग्राहकमानसाधितत्वादनवकाशमिदमिति चेत्, एवमन्यत्रापि प्रतिसन्दधीथा इत्येषा दिक्।

[अथ परमाणुबाधनिराकरणम्]

अथ परमाणुः सावयवः मूर्तत्वात्, क्रियावत्त्वात्, अविभुद्रव्यत्वात्, स्पर्शवत्त्वाद् इत्यनुमानेन तस्या सावयवत्वम्। यः सावयवः सो नित्यो घटवद् इति तस्य अनित्यत्वमपि सिद्ध्यति। तथा च परमाणोः असत्त्वदशायां नावयवी सेत्स्यति कारणाभावात्। परमाणोश्च नोत्पत्तिः, उत्पादकाभावात्। ततश्च प्राक्तनसंस्कारेण

इदं सर्वं जगद् अवभासते। न तद् वस्तुस्वरूपमिति खण्डयितुमाह – **परमाणुसिद्ध्य-सिद्धिभ्यामेव मूर्तत्वादयो निरवकाशिता** इति। परमाणुः सावयवः, मूर्तत्वाद् इत्यत्र हेतुः बाधितः सन् न सावयवत्वं परमाणोः साधयितुं समर्थः। अन्यथा जलं वह्निमत् धूमाद् इत्यापद्येत। मेरुसर्षपयोः अनन्तावयवकत्वेन साम्यवारणाय अवयवधारायाः क्वचित् विश्रान्तत्वमावश्यकम्। यत्र विश्रामः स निरवयव एव भवितुं योग्यः। तथा च निरवयवे परमाणौ (धर्मिग्राहकमानेन सिद्धे) सावयवत्वसाधकमूर्तत्वं कालात्ययापदिष्टः। साध्याभाववत् पक्षकत्वं कालात्ययादिष्टत्वम् इति तल्लक्षणात्।

यदि मेरुसर्षपयोः साम्यप्रसङ्गरूपानवस्था बीजाङ्कुरानवस्थातुल्या न मूलक्षयकारिणी अत एव न दोषदात्री। तथा परमाणोः असिद्ध्या तत्र हेतौ आश्रयासिद्धिः दोषः। तथा च – गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत् – यथा न अनुमानम्, तथा परमाणुः सावयवः मूर्तत्वाद् इत्यनुमानमपि न सिद्ध्यति। तथा च निरवयवत्वात् नित्यः परमाणुः सिद्ध इति न पूर्वोक्तदोषावकाशः।

ननु अन्तर्बहिश्च आकाशसमावेशात् परमाणुः न निरवयवः संभवतिः। आकाश–व्यतिभेद(संबन्ध)अभावे तु आकाशस्य असर्वगतत्वं स्यात् इत्युभयतः पाशारज्जू इति न्यायावसरः। तथा च कथं निरवयवपरमाणुसिद्धिः इत्यत आह – **आकाशव्यति-भेदादयस्तु असंभाविता एव** इति। निरवयवस्यापि परमाणोः देशे भेदमाश्रित्य पूर्वोक्तरीत्या संयोगतदभावव्यवस्थापनेन आकाशसंयोगादयः संभवन्त्येव। अथवा "अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनाद् कार्ये तद्भावः" इति गौतमीयसूत्रानुसारेण अकार्ये अवयवासंभवात् निरवयव एव परमाणुः संभवतीति मतविशेषमाश्रित्य आकाशव्यतिभेदाद् अस्त्वसंभाविता एवेति पाठो त्र मूले ग्राह्यः। तथा च आकाशसंयोगादीनां परमाणौ अभाव इष्ट एव। कार्यद्रव्ये तस्य इष्टत्वेन नित्ये द्रव्ये तस्य अनिष्टत्वात्। तथा च नित्यद्रव्ययोः संयोगतदभावौ मतविशेषेण समाधेयौ।

परमाणौ सावयवत्वसाधके अनुमाने दोषान्तरमाह – **सर्वत्र च हेतुदशायां प्रतिज्ञापदयोः व्याघातः, कालात्ययापदेशश्चेति।** सर्वत्र च स्वतन्त्रसाधनत्वदशायाम् परमाणुः सावयव इति प्रतिज्ञापदयोः = परमाणुसावयवपदयोः व्याघातः। मेरुसर्षपयोः अनन्तावयवकत्वेन साम्यत्वस्य वारणाय अवयवधारायाः क्वचित् विश्रान्तत्वम् आवश्यकम्। यत्र च विश्रामः स निरवयवः परमाणुः। तस्यापि सावयवत्वे अवयवधाराया विश्रामानुपपत्तिः। तथा च निरवयवः परमाणुः सावयव इति 'मम माता बन्ध्या' इतिवत् व्याघातः। परमाणुग्राहि–प्रमाणेन बाधितश्च तस्य सावयवत्वसाधकाः हेतवः। साध्याभाववत्पक्षकत्वं बाधितत्वमिति तल्लक्षणात्। यदि परमाणुः स्यात्, सावयवः स्याद् इति प्रसङ्गसाधनदशायां प्रसङ्गसाधनत्वे हेतूनाम् आश्रयासिद्धिः। परमाणूनाम् इदानीम् असिद्धत्वात्। विज्ञानवादिमते ज्ञानाद् भिन्नस्य असत्त्वेन परमाणोः असत्त्वात्। परमाणोः स्वमतासिद्धेः। सावयवस्य कस्यचिद् द ष्टान्तस्य असिद्धेः व्याप्यत्वासिद्धेश्च।

अवयवधारायाः क्वचिद् विश्रान्तत्वे अनवस्था भवति इति अनवस्थालक्षणप्रतिकूलतर्कस्य परमाणोः सावयवत्वविरोधिनिरवयवत्वसाधकानवस्थारूपतर्कस्य विद्यमानत्वाच्च व्याप्त्यसिद्धिः। यदि परमाणुः सावयवः स्यात्, तदा अवयवधाराया अनवस्था स्यादिति सावयवत्वप्रतिकूलतर्कस्य सत्त्वे सावयवत्वमूर्तत्वयोः व्याप्तिः न सिद्ध्यति। हेतौ मूर्तत्वे साध्यवदव त्तित्वस्य अनिश्चयात्।

नन्वस्तु अनवस्था नेयं प्रतिकूला, वीजाङ्कुरवत् प्रामाणिकी अनवस्था न दोषाधायिका इत्यत आह – **तदुपष्टम्भकतयेति।** परमाणौ सावयवत्वप्रतिकूल– निरवयवत्वसाधकानवस्थारूपे–प्रतिकूलतर्क–उपोद्वलकतया परमाणोः अनन्तावयवत्व– प्रसङ्गस्य विद्यमानत्वात्। सावयवत्वनिरूपितव्याप्तेः परमाणुसावयवत्वसाधके हेतौ असिद्धेः, तत्साधकहेतौ व्याप्यत्वासिद्धिः दुर्वारा। तथा च अवयवधाराया अविश्रान्तत्वे अनन्तावयवकत्वेन मेरुसर्षपयोरपि साम्यप्रसङ्गरूपानवस्थाया विद्यमानत्वेन न सावयवत्वव्याप्तिः परमाणुसावयवत्वसाधकहेतौ वर्तते। व्यभिचारसन्देहस्यापि व्याप्तिप्रतिबन्धकत्वात्। सर्वेषां कार्याणाम् अवयवानन्त्याभ्युपगमे सर्वस्य अपरिमेयत्व– प्रसङ्गः। अत इयमनवस्था नानुकूला किन्तु प्रतिकूलैव।

कि च परमाणुनिव त्तेः सर्वविलोपो वक्तुम् उपक्रान्तः। न चैवं परमाणुनिव त्तिः सिद्ध्यति। अत आह – **न च प्रलयः, परमाणोः असत्वसाधकस्य प्रमाणस्य अभावात्** इति। न च परमाणोः अभावः सिद्ध्यति। तत्साधकप्रमाणाभावात्। **तदन्य एवायं परमाणू रक्तबीजो यस्य भेदाद्युक्तिचामुण्डोदरमपि भित्वा निष्पततीति** इति। त्वदभिलषितात् सावयवपरमाणोः अन्य एवायं निरवयवपरमाणुः, यस्य निरवयवपरमाणोः अयं रक्तबीजः रक्तबीजासुरसद शः अवयवसाधकयुक्तिश्चामुण्डोदरमपि भित्वा निष्पतति इति। यो निरवयवपरमाणुः त्वदभिलषितावयवादिकथनरूपं यत् चामुण्डोदरम् तदपि भित्वा निष्पतति। अतः त्वदभिलषितसावयवपरमाणोः अयं निरवयवपरमाणुरन्य एव। त्वदभिलषितावयवादिकथनेन अग्रासात्। रक्तबीजो नाम कश्चिदसुरः चामुण्डोदरं प्रविष्टः तत्रैव जीर्णः। अयं निरवयवपरमाणुः त्वदभिलषिता– वयवादियुक्तिकथनरूपचामुण्डोदरमपि प्रविश्य भित्वा च निष्पतति। अतः त्वदभिलषितसावयवपरमाणोः अन्यो यं निरवयवपरमाणुः अस्मदभिमतः। तव युक्त्या अग्रासात्। सावयवः परमाणुः तव अवयवादिकथनं चामुण्डोदरं प्रविश्य तत्रैव जीर्यति। अय च निरवयवः परमाणुः, तत्र प्रविश्य भित्वा आगच्छति। अतो भिन्न इति बोध्यम्। अथवा यस्य निरवयवपरमाणोरयं रक्तबीजो निरवयवपरमाणुः सावयवपरमाणोः अन्यः। यस्य रक्तात् उत्पद्यते असुरः।

न च प्रसङ्गहेतोः परमाणुः स्यात् तर्हि सावयवः स्यादिति प्रसङ्गहेतोः "ज्ञानभिन्नद ष्टान्तस्य अभावेन पारमार्थिकाश्रयव्याप्तेः अभावे पि काल्पनिकाश्रय– व्याप्तिसिद्धिम् आदाय प्रव त्तिरस्तु। तथा च ताद शहेतुना परमाणोः सावयवत्वं

सेत्स्यतीत्यत आह – **न च कल्पिताश्रयाः पक्षाः कल्पितप्रबन्धाश्च प्रसङ्गा भविष्यन्तीति युक्तम्** इति। सिद्धान्ती समाधत्ते – **इच्छाकल्पितेन व्यवहारेणेति।** इच्छाकल्पितेन अनुमानरूपव्यवहारेण सर्वेषां विधीनां निषेधाना च व्यवहरस्य विलोपप्रसङ्गात्। जले न बह्निः इति महानसे च बह्निः इत्यादिव्यवहाररूपानुमानस्य विलोपः स्यात्। जले काल्पनिकवह्नेः सत्त्वात् महानसे काल्पनिकबह्न्यभावस्य सत्त्वात् तदनुमानेन तस्य तस्य बाधः।

ननु काल्पनिकत्वे पि न स्वेच्छया व्यवहारः, येन लौकिकविधिनिषेधव्यवहारयोः विलोपः स्यात्। किन्तु लोकव्यवस्थामपेक्ष्य व्यवहारप्रव त्तिः। तथा च न लौकिकविधि–निषेधव्यवहारविलोपप्रसङ्ग इति चेद् अत आह सिद्धान्ती – **लोकव्यवस्थापेक्षणे तु तद्विरोधेनोत्तरस्येति** लोकव्यस्थापेक्षणे तु लोकसिद्धनिषेध्यघटाद्यधीनप्रव त्तेः तदुत्तरस्य निषेधस्य तद्विरोधेन एव आत्मलाभासंभवात् इति असक दुक्तत्वात्। यत्र प्रतियोगी वर्तते न तत्र तदभावः तयोः विरोधात्। तथा च लोके अकाल्पनिकेन घटादिना जलाद्याहरणं भवति, न तु काल्पनिकेनेति काल्पनिकपक्षाः काल्पनिकव्याप्तयः त्वदभिलषिताः (त्वदभिलषितमनुमानं) नोत्पादयिष्यन्तीति त्वदभिलषितो न सिद्ध्यतीति भावः। यदि लोकविरुद्धः अपि बाह्यस्य परमाण्वादेः अपह्नवः क्रियते तर्हि बुद्धावपि एतत् सर्वं समानमिति बुद्धेः त्वभिलषिताया विलोपः स्यादित्याह – **अन्यथा सर्वमेतदिति।** लोकव्यवहारविरूद्धजगदाद्यपलापाङ्गीकारे बाह्यपदार्थापलापे ये काल्पनिकहेत्वादयः तत्सर्वमेतद् बुद्धावपि समानम्। सा बुद्धिरपि हि षट्केण = पूर्वपश्चिम–दक्षिणोत्तराधस्तलोर्ध्वस्तलरूप–षट्केन युगपद्संयोगविभागादिभिः सावयवा प्रसज्येत।

शङ्कते पूर्वपक्षी – **तस्यामसिद्धास्ते इति चेत्?** इति। तस्यां बुद्धौः निरवयवत्वबाधकाः पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तराधस्तलोर्ध्वदेशैः युगपद्योगादय असिद्धा इति तान् आदाय बुद्धेः सावयवत्वं न सेत्स्यतीति चेत्? सिद्धान्ती समाधत्ते – **न। अनुमानसिद्धत्वात्।** तथाहि बुद्धिः षट्कयोगिनी मूर्तिमती च, सत्त्वात् व्यवहर्तव्यत्वाद् वा आरोप्यवद् इति शक्यते वक्तुम् इति। बुद्धौ दिगादिभिः युगपद् योगादयो न सन्तीति वक्तुं न शक्यते। तेषां योगादीनाम् अनुमानसिद्धत्वात्। तथा हि बुद्धिः षट्कयोगिनी मूर्तिमती च सत्त्वात् व्यवहर्तव्यत्वाद् बुद्धिवदिति। (निरवयवत्वेन निषेध्यपरमाण्वादिवत्) इत्यनुमानं कर्तुं शक्यते। बुद्ध्यन्तरेण बुद्धिवेदनं संभवतीति **धर्मकीर्तिप्रज्ञाकरगुप्ता**दिभिः बौद्धैः **प्रमाणवार्तिका**दिषु व्यवस्थापितत्वात्।

निरवयवत्वेन एव बुद्धिः धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धेति कथं सावयवत्व–साधकानुमानावकाशः? पक्षरूपबुद्धेः अनुमानरूपज्ञानविषयत्वाभावेन अनुमानेन तस्याः सावयवत्व–साधनाभावाद् इति शङ्कते – **विपर्ययस्य** (सावयवत्वविपर्ययनिरवयव–त्वस्य) **धर्मिग्राहकमानसाधितत्वाद् अनवकाशम् इदमिति चेत्?** इति। बुद्धौ निरवयवत्वस्य बुद्धिग्राहकप्रमाणेन सिद्धत्वात्। बुद्धिः षट्कयोगिनी मूर्तिमती च,

सत्त्वात् व्यवहर्तव्यत्वाद् वा इत्यनुमानस्य नावकाश इति। प्रमाणाभावेन बुद्धौ न युगपद्योगादयः सावयवत्वसाधका भविष्यन्तीति चेत्? सिद्धान्ती समाधत्ते – **एवमन्यत्र अपि प्रतिसन्दधीथा इत्येषा दिक्।** मेरुसर्षपयोः अनन्तावयवकत्वेन तुल्यतावारणाय अवयवधारायाः क्वचिद् विश्राम आवश्यकः। स च निरवयवः। स एव परमाणुरिति धर्मिग्राहकप्रमाणादेव परमाणोः निरवयत्वसिद्ध्या तस्य सावयवत्वसाधकानाम् आभासत्वम् आवश्यकम्। कि च बुद्धेरिव धर्मिग्राहकप्रमाणेन सावयवत्वविपर्ययनिरवयवत्वस्य परमाणौ प्रमाणैः साधितत्वात् तस्य सावयवत्वम् अनवकाशं परमाणोः समानम्। दिगादिषट्कयुगपद्योगास्तु देशादिभेदमादाय निरवयवे परमाणौ समाधेया इति दिक्।

अन्यस्तु चक्षुषी निमील्य निर्भयीभवितुमिच्छन्नाह, अस्तु तर्हि बुद्धेरपि विलोप इति। अत्र तु किं वक्तव्यं यत्र हेत्वादिव्यवहारो नास्ति। अस्तु परं साम्व त इति चेत्, भवेदेवं यदि सम्व तिरपि परमार्थसती स्यात्। अन्यथा तु यथा न वास्तवतथा न साम्व तो पि। सम्व तिरपि सम्व तिमतीति चेत्, अस्या अप्यसत्त्वे न कि चिदधिकमुक्तम्। परसम्व तेस्तु परमार्थसत्त्वस्वीकारे सैव बुद्धिरपरिहेयेति। सती च बाधकवती चेति सम्व तिमती चेति चेत्, सत्येव यदि तत् कथं बाधकम्। तथा चेत्, कथं तदालीढस्य सत्त्वमिति।

द श्यते तावदेवमिति चेत्, सत्त्वैकार्थसमवायिनो बाधकत्वमेव तर्हि हेयम्। बाधकैकार्थसवमवायिनः सत्त्वमेव किन्न हीयत इति चेन्न। बाधकस्यापि त्यागप्रसङ्गात्। उभयमप्यवर्जनीयमेव तर्हि। एवमेतत्। मिथो विरोधस्तु हेयः। न हि विरुद्धयोरेकार्थसमवायस्तथाभूतयोर्वा विरोधः शक्य उपपादयितुम ते स्वसमयात्। न च विचारावसरे स्वसमयावतार इति। यथा च बुद्धिनिवारणाय यत्नस्तथा तथोज्वलः प्रकाशः। तन्निवारणमपि बोद्धव्यमेवेति। तदेतदायातं प्रदीपान्तरेण प्रदीपं निर्वाप्य तिमिरापादनमिति।

[अथ बुद्धिविलोप-निराकरणम्]

अथ शून्यवादिनो **माध्यमिकस्य** मतं खण्डयितुमाह सिद्धान्ती – **अन्यस्तु चक्षुषी निमील्य निर्भयीभवितुमिच्छन्नाह अस्तु तर्हि बुद्धेरपि विलोप इति**। बहुभिः परमाणुभिः स ज्यमानः परमाणुः प्रत्येकं किम् एकदेशेन संयुज्यते कात्स्न्र्येन वा? नैकदेशेन तस्य संयोगः। तस्य एकदेशाभावात्। भावे वा परमाणुत्वव्याघातात्। न कात्स्न्र्येन, तस्य तत्संयोगः। परमाण्वन्तरेण असंसर्गप्रसङ्गात् इत्यादिभिः यथा परमाणोः विलोपः, तथा बुद्धेरपि विलोपः। बुद्धौ विषयसंबन्ध एकदेशेन कात्स्न्र्येन वा? न प्रथमः। बुद्धेः सावयवत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, विषयान्तरस्य बुद्ध्या सह

संसर्गस्यानुपपत्तेः इत्यादि दोषैः परमाणोरिव बुद्धेरपि विलोपः। बाह्यस्य आन्तरस्य विलोपे शून्यमेव पर्यवसन्नम् जगदिति **माध्यमिको** बौद्धः चक्षुषी निमील्य निर्भयीभवितुमिच्छन्निव बालबुद्धिं स्वीकुर्वन् बुद्धौ मदुक्तदोषभयात् बुद्धेरपि विलोपं वदति। बालक इव विलोपे हेतुं न ददाति। सिद्धान्ती समाधत्ते – **अत्र तु किं वक्तव्यम्, यत्र हेत्वादिव्यवहारो पि नास्ति** इति। यत्र हेत्वादि–व्यवहारो स्ति तत्र विचारो भवति। तदुक्तहेतुः सद्धेतुः असद्धेतुर्वा। यत्र तस्य न प्रयोगः तत्र किं वक्तव्यम्? तत्र मौनमेव वरम्। शुष्कविचारान्मौनं वरम्। अन्यथा विरोधमात्रमेव आग्रहवशाद् भविष्यति, न तु वस्तुस्थितिः सिद्ध्यति। बुद्धेरसिद्धौ तदधीनस्य हेत्वादिव्यवहारस्यापि असिद्धौ कथं सर्वविलोपसिद्धिरिति भावः। बुद्ध्यादिविलोपं साधयितुं हेतुमाह शून्यवादी – **अस्तु परं सांव त इति चेत्?** इति। बुद्ध्यादिकं न सत्, सांव तत्वात्, शुक्तिरजतवदिति। सांव तः = काल्पनिकः मायिको वा। समाधत्ते सिद्धान्ती – **भवेदेवं यदि संव तिरपि परमार्थसती स्यात्। अन्यथा तु न यथा वास्तवः तथा सांव तो पि** इति। सर्वविलोपे सांव तत्वं हेतुः भवेत् यदि संव तिरपि परमार्थसती स्यात्। प्रामाणिको हि हेतुः कमपि साधयितुं समर्थो न त्वप्रामाणिकः। न अप्रामाणिकेन कस्यापि सिद्धिर्भवति, अप्रामाणिकत्वादेव। संव तेः अपारमार्थिकत्वे यथा शून्यवादिनः त्वद्भिन्नानां बौद्धानां वास्तवो हेतुः न परमाणोः विलोपं साधयति, तथा शून्यवादिनस्तव अपारमार्थिकः सांव तो हेतुः न परमाणुविलोपं बुद्धिविलोपं च साधयिष्यति। संव तेः वास्तवत्वे प्रमाणस्य अयथार्थत्वात् सांव तो पि हेत्वादिव्यवहारो न स्यात्।

न च संव तिः परमार्थसती, तस्या एव बुद्धित्वात्। तथा च बुद्धेः पारमार्थिकत्वं स्वीकृत्य तां सांव तिकेन हेतुना खण्डयितुं न शक्नोषि। वदतो व्याघातात्। पारमार्थिकी बुद्धिः अपारमार्थिकीति व्याघातः। पूर्वपक्षी शङ्कते – **संव तिरपि संव तिमती असतीति चेत्?** इति। संव तिरपि कल्पना पि माया पि वा संव तिमती काल्पनिकी मायावती वा असती न पारमार्थिकी। तथा च न वदतो व्याघातादिदोषः। एव च सांव तत्वेन हेतुना बुद्धेः विलोपं जगतां वा सर्वेषां विलोपं साधयितुं शक्नोमि इति चेत्? समाधत्ते सिद्धान्ती – **अस्या अप्यसत्त्वे न कि चिदधिकमुक्तम्। परसंव तेः तु परमाणु-सत्त्वस्वीकारे (पारमार्थिकत्वस्वीकारे) सैव बुद्धिः अपरिहेया इति। सती च बाधकवती च** इति। द्वितीयायाः संव तेरपि अपारमार्थिकत्वे न कि चिदपि प्रथमायाः संव तेरपेक्षया अधिकमुक्तम्। तत्र यो दोषः सो त्रापि भवत्येव। अतः कि चिदपि न वक्तव्यमस्ति। द्वितीयायाः संव तेः पारमार्थिकत्वस्वीकारे सैव द्वितीया संव तिरेव बुद्धिः अपरिहार्या। सैव बुद्धिरिति तां पारमार्थिकीं स्वीकृत्य तस्याः विलोपः कथयितुं न शक्यते। सा द्वितीया संव तिः सती बाधकवती = बुद्धौ च अवयव्यादिवद्बाधकं पूर्वमुक्तमेवेति।

पूर्वपक्षी आक्षिपति – **संव तिः सतीति चेत्?** इति। प्रथमा संव तिः सती पारमर्थिकी। तथा च बुद्धिः न पारमार्थिकी, सांव तिकत्वादित्यनुमानेन बाह्यस्य इव आन्तरिकाया अपि बुद्धेः विलोपो भविष्यति। संव तिरूपाकारस्य यथार्थत्वादिति चेत्? यदि संव तिः सत्येव तदा सतः कथं बाधकम्? सत्त्वबाधकत्वयोः विरोधेन एकत्र स्थित्यभावात्। यदि सत् सतो बाधकं भवेत् स्वस्मिन् सत्त्वस्य सत्त्वेन स्वस्यापि बाधकं स्यात्। शङ्कते – **तथा चेत्?** इति। सत् सतः बाधकं चेत्? समाधत्ते – **कथं तदालीढ़स्य सत्त्वमिति** इति। बाधकावलीढ़स्य बाधयुक्तस्य स्वस्य कथं सत्त्वं भवेत्? बाधयुक्तस्य न सत्त्वं द श्यते। नेदं रजतमिति बाधयुक्तस्य शुक्तिरजतस्य सत्त्वं द श्यते इति। शङ्कते – **द श्यते तावदेवमिति चेत्?** इति। बाधकस्यापि व्यावहारिकं सत्त्वं द श्यते, नेदं रजतमिति बुद्धौ तथा (व्यावहारिकसत्त्वस्य) दर्शनात् इति चेत्? सिद्धान्ती समाधत्ते – **सत्त्वैकार्थसमवायिनो बाधकत्वमेव तर्हि हेयम्** इति। सत्त्वतद्बाधकत्वयोः एकत्र बुद्धौ उभयोर्विरोधिनोः सत्त्वासंभवेन तस्यां बुद्धौ सत्त्वस्य बाधकत्वं न स्वीकार्यम्।

ननु विनिगमनाविरहात्, सत्त्वबाधकत्वसमवायिन्यां बुद्धौ सत्त्वमेव न स्वीक्रियतामिति पूर्वपक्षी शङ्कते – **बाधकैकार्थसमवायिनः सत्त्वमेव किं न हीयते इति चेत्?** सिद्धान्ती समाधत्ते – **न, बाधकस्यापि त्यागप्रसङ्गात्** इति। बाधकस्यापि बुद्ध्यधीनत्वेन बुद्धेरभावे तदधीनस्य बाधकस्यापि विलोपापत्तेः। अतो बाधकत्वरक्षायै बुद्धिः स्वीकार्या। तत्र सत्त्वमप्यावश्यकमिति सत्त्वसमवायिन्यां बुद्धौ बाधकत्वमेव नास्तीति स्वीकार्यमिति तात्पर्यार्थः।

शङ्कते – **उभयमपि अवर्जनीयमेव तर्हि?** इति। बुद्धौ सत्व– बाधकत्वोभ–यमपि अवर्जनीयमेव। यथा बुद्धौ सत्त्वमङ्गीकरोषि तथा बाधकत्वमपि अङ्गीक्रियताम्। अस्मन्मते विरोधिनोः एकत्र समावेशाद् इत्यभिप्राय इति। समाधत्ते – **एवमेतत्। मिथो विरोधस्तु हेयः। न हि विरूद्धयोः एकार्थसमवायः। तथाभूतयोर्वा विरोधः शक्य उपपादयितुम् ऋते स्वसमयात्** इति। विनिगमनाविरहात् बुद्धौ सत्त्वमिव बाधकत्वं स्वीक्रियताम्। किन्तु सत्त्वबाधकत्वयोः विरोधो हेयः। उभौ न परस्परविरुद्धौ भवतः। तथा च सत्त्वबाधकत्वयोः बाध्यबाधकभावाभावे बुद्धेः बाधकत्वसत्त्वे पि सत्त्वमिति न तस्याः विलोपः। न हि विरुद्धयोः एकस्मिन् अर्थे समावेशः। एकत्र समाविष्टयोः स्वसङ्केतं विना विरोध उपपादयितुं न हि शक्यते। विरोधश्च बध्यघातकभावः, सहानवस्थानरूपो वा भवति।

ननु मया बध्यघातकोभयमपि एकत्र स्वीक्रियते इत्यत आह – **न च विचारसमये स्वसमयावतार इति**। विचारसमये सर्वानुभवसिद्धमेव वक्तव्यम्, न तु स्वग हप्रसिद्धम् = स्वसङ्केतितावतार इति। तथा च विचारः सर्वानुभवसिद्धः बध्यघातकरूपः सहानवस्थानरूपो वा। उभयथापि न विरूद्धयोः एकस्मिन् समावेशः

संभवति। किं वा एकत्र समाविष्टयोः न विरोधः। तथा च बुद्धौ सत्त्वबाधकत्वयोः समाविष्टयोः विरोधः त्यज्यताम्; बुद्ध्यधीनस्य बाधकत्वस्य सर्वानुभवसिद्धत्वेन तत्र बाधकत्वं न स्वीक्रियताम्। सत्त्व च स्वीक्रियताम्। एव च न बुद्धेः विलोपः। कि च बुद्धिनिराकरणम् अशक्यं चेत्याह – **यथा यथा च बुद्धिनिवारणाय यत्नः तथा तथोज्ज्वलः प्रकाशः। तन्निवारणमपि बोद्धव्यमेव। तदेतदायातं प्रदीपान्तरेण प्रदीपं निर्वाप्य तिमिरापादनमिति** इति। येन येन प्रकारेण बुद्धिं निराकर्तुं यत्नः क्रियते तेन तेन प्रकारेण बुद्धिः स्थैर्या भवति। बुद्धिनिवारणम् बोद्धव्यमेवेति बुद्धिनिवारणमपि बुद्धिविषयत्वमिति बुद्धेः विलोपः बुद्धेरभावे बुद्धिनिवारणं न ज्ञातुं शक्यते। उज्ज्वलः प्रकाशः बुद्धेः दायम्। तदेतदायातम् प्रदीपान्तरेण प्रदीपं निर्वाप्य तिमिरापादनं न भवति। प्रदीपान्तरस्य तिमिरविरोधित्वेन तत्र तिमिराभाव एव भवति। तथा बुद्धिनिराकरणमपि बुद्ध्यैव साधितव्यमिति कथं तन्निरासः? एव च बुद्धेः विलोपः शून्यवादिना साधयितुं न शक्यते।

एतेन हेतुफलभावानुपपत्तेः सर्वविलोप इति निरस्तम्। तन्निराकरण-प्रयासस्य साफल्यवैफल्याभ्यां तन्निराकरणानुपपत्तेः। सत्कार्यदूषणस्येष्टत्वात्। असत्कार्यदूषणस्य च प्रत्यक्षबाधितत्वात्। तत्प्रतिपादनस्यासत एवोत्पत्ताव-नैकान्तिकत्वात्। सत्त्वे वा प्रयासवैफल्यादिति।

स्यादेतत्। मा भूवन्नेतानि दूषणान्यवयविनि, अनुपलम्भस्तु स्यात्। न हि परमाणुस चयादपरं कि चिदुपलभ्यत इति चेत्, वैलक्ष्यविष्टम्भिकेयम्, स्थूलैकानुभवस्य सर्वजनसिद्धत्वात्।

विकल्पमात्रं तदिति चेन्न। स्पष्टप्रतिभासत्वात्। औपाधिकमस्य स्पष्ट-त्वमिति चेत्, तथाभूतानुभवमन्तरेणोपाधेरप्यभावात्। अन्यथा नीलादिविकल्पाना-मपि तथैव स्पष्टत्वोपपत्तौ सर्वप्रत्यक्षोच्छेदप्रसङ्गात्। ग हीतनिश्चित एवार्थे प्रत्यक्षप्रामाण्यात्। निश्चयोपप्लवे तस्याप्युपप्लवादिति।

[अथ सर्ववस्तुनिषेधनिराकरणम्]

बुद्धिनिरासानुपपत्तिप्रकारेण एतदपि निरस्तम् इत्याह – **एतेन हेतुफल-भावानुपपत्तेः सर्वविलोप इति निरस्तम्** इति। हेतुफलाभावानुपपत्तिश्च परोक्ता – "***नन्वेतत्कारणत्वं यदि स्वभावो भावस्य इत्येवम्***" इत्यादिः **न्यायकुसुमा जला**वुक्ता द्रष्टव्या। हेतुफलभावयोः अभानत्वात् सर्वेषां जगतां विलोप इति चेत्? समाधत्ते सिद्धान्ती – **तन्निराकरणप्रयासस्येति।** हेतुफलभावनिराकरणयत्नस्य सफलत्व–निष्फलत्वाभ्यामेव कर्तव्यत्वेन हेतुफलभावनिराकरणानुपपत्तेः। मन्दस्यापि न निष्फला प्रव त्तिः। हेतुफलभावमनुस त्य तन्निषेधति इति व्याघातः। तन्निराकरोति। अयमर्थः –

हेतुफलभावनिराकरणप्रयासः सफलो वा स्यात् निष्फलो वा स्यात्। निष्फलत्वे सुतरां हेतुफलभावनिरासानुपपत्तिः।

कि च हेतुफलभावानुपपत्तेः सत्कार्यवादो साध्यावैशिष्ट्यम्, तद्– विषयत्वेनैव तदविषयत्वसाधनात्। स्वविषयत्वेनैव स्वाविषयत्वसाधनात्। एवं गोत्वे पि विधिरूपे वाच्यम्। ननु यो विकल्पः यत्र अस्त्यादिविशेषाकाङ्क्षाम् उत्थापयति स विकल्पः, तेन विषयेण विषयी न भवति इति व्याप्तिः विवक्षिता इत्यत आह – [1]**अथ अस्त्यादिति।** गोविकल्पस्य अश्वगोचराकाङ्क्षोत्थापकत्वेन अश्वविषयत्वं यथा, तथा गोगोचराकाङ्क्षोत्थापकत्वेन गवा विषयत्वं साध्यम्। तत्र गोविकल्पस्य अश्वगोचराकाङ्क्षोत्थापकत्वमेव नास्ति, येन अश्वविषयत्वं प्रसाध्य तद्द ष्टान्तेन गवा विषयत्वं सेत्स्यति। एव च अगोव्याव त्तिविषयत्वं गौरिति ज्ञाने स्यादिति भावः। एतदेवाह – **न हि उदाहृतो गोविकल्पः अश्वास्त्यादिविशेषम् आकाङ्क्षति** इति। तथा च द ष्टान्त एव अयं गोविकल्पः अनुपपन्नः, साधनविकलत्वपर्यवसायित्वात्। न हि साध्यविकलो द ष्टान्तो मन्तव्यः। अन्यथा व्याप्तिग्रहानुपपत्तेः। सामान्यतः तदाकाङ्क्षोत्थापकत्वस्य साधनस्य एव ततो द ष्टान्ताद् व्याव त्तेः। अत एव अस्य असाधारण्यम्।

ननु तद्धर्मनियामकत्वं तद्विषयत्वे हेतू कर्तव्यमित्यत आह – **नियमविधौ तु विरोध एव** इति। गेहे गोष्ठे वा गौः इति तद्धर्मनियामकत्वम् गेहे गोष्ठे वा गोवत्ता नियामकत्वं तद्विषयतया गोविषयतया व्याप्तम्। अतो विरोधात् तद्(गो)विषयतां न साधयतीत्यर्थः। विरोधमेव स्फुटयति – **न हि अतद्विषयस्य तद्विशेषनियताकाङ्क्षा नाम।** अगोविषयस्य अश्वविषयकज्ञानस्य गेहे गोष्ठे वा गौरिति गोविशेषनियमाकाङ्क्षा हि = यस्मात् न भवति। ननु कथमयं विरोध इत्यत आह – **गोज्ञानस्य अश्वविशेषनियताकाङ्क्षाप्रसङ्गात्** इति। अश्वाविषयकस्य गोज्ञानस्य गेहे अश्व इति अश्वविशेषविषयकाकाङ्क्षाप्रसङ्गात्। ननु गोविकल्पस्य गोस्वलक्षण–सदसदनुपदर्शकत्वात् गोस्वलक्षणविषयत्वं सेत्स्यति (अगोव्याव त्तिविषयकत्वं सेत्स्यति) इत्यत आह – **तदीय-**(गोविकल्पस्य गोस्वलक्षणीय-)**सदसत्त्वानुपदर्शनं चेत्? न।** तत् = सदसत्त्वं यदि स्वरूपमेव = गोस्वरूपमेव (ततः गोस्वरूपविषयकत्वात्) तदा तदनुपदर्शकत्वं हेतुः स्वरूपासिद्ध एव। पक्षे हेत्वभावः, पक्षतावच्छेदकसमानाधि–करणात्यन्ताभावप्रतियोगिकत्वं वा हेतौ स्वरूपासिद्धिः। प्रकृते गोविकल्पे पक्षे गोस्वलक्षणविषयकत्वस्य सदसदुपदर्शकत्वस्य सत्त्वेन सदसदुपदर्शकत्वाभावात्। तदेव दर्शयति – **न हि गोविकल्पः गोस्वरूपं नोपदर्शयतीति मम नैयायिकस्य कदापि सिद्धमिति।**

ननु मया बौद्धेन गोविकल्पस्य अगोव्याव त्तिविषयकत्वेन गोस्वरूपानु–पदर्शकत्वम् अभ्युपगम्यते एवेति पक्षे गोविकल्पो हेतोः सत्त्वेन कथं स्वरूपासिद्धिरित्यत

आह – **तव च अद्यापि।** अद्यापि त्वया बौद्धेन यत्ने क्रियमाणे तत्(गो)स्वरूपानुपदर्शनं न साधितमस्ति। ननु सदसत्त्वं न वस्तुरूपं येन असिद्धिः स्यात्। तदेव सविकल्पके उभयोः संबन्धरूपोपाधिना भासते, न त्वस्य स्पष्टप्रतिभासत्वमिति। स्पष्टप्रतिभासस्य औपाधिकत्वेन न निर्विकल्पकनियतत्वम्। तथा च एकः स्थूलो यं घट इति विकल्पस्य अप्रमाणीभूतस्य नावयविनि प्रमाणत्वम्। प्रमाणस्य ताद शनिर्विकल्पकस्य अवयवि–साधकस्य असत्त्वादिति चेत्?

सिद्धान्ती समाधत्ते – **न। तथाभूतानुभवान्तरेणेति।** स्पष्टप्रतिभासत्वं यत् निर्विकल्पानुभवे वर्तते तत्संबन्धरूपस्य उपाधेः विकल्पे सत्त्वेन भवति। विकल्पे स्पष्टप्रतिभासत्वम् उपाधिकृतं न स्वाभाविकमिति विकल्पे स्पष्टप्रतिभासत्वस्य स्वाभाविकत्वाभावेन तदनुरोधात् निर्विकल्पानुभवः 'एकः स्थूलो यं घट' इत्याकारको न कल्पनीय इति। एकस्थूलावयविनो विकल्पविषयत्वे पि निर्विकल्पकानुभवाविषयत्वात् अप्रामाणिकत्वेन परमाणुपु जाद् भिन्न एक अवयवी न स्वीकार्य इति बौद्धोक्तं न युक्तम्। यदि स्थूलो यं घट एक इत्याकारकं निर्विकल्पकं न भवेत् तदा तत्संसर्गः विकल्पे कथं भवेत्? तत्संबन्धाभावे च कथं विकल्पे सो वयवी ताद शो भासेत? अतः ताद शावयविविषयकं निर्विकल्पकं ताद शं स्वीकार्यमिति निर्विकल्पानुभव एव अवयविनि प्रमाणमिति प्रामाणिकस्य अवयविनः अस्वीकारः त्वयि ध ष्टतां द्योतयति। तथा च स्पष्टप्रतिभासानुभव–(निर्विकल्प–)संसर्गोपाधिर्हि विकल्पस्य स्पष्टप्रतिभासता, ततश्चैकः स्थूलविकल्पः स्पष्टप्रतिभासोपाधितया एकस्थूलानुभवो (निर्विकल्पकः) अङ्गीकर्तव्य इति। विकल्पस्य स्पष्टप्रतिभासानुरोधेन निर्विकल्पकानुभवो न स्वीक्रियते तदा नीलो यं घट इत्यादिविकल्पानामपि नीलादिविषयकनिर्विकल्पकानुभवं विनैव स्थूलघटादि–विषयक–विकल्पवत् स्पष्टत्वोपपत्तौ सर्वप्रत्यक्षानुभवस्य (निविकल्प–कानुभवस्य) उच्छेदापत्तेः। कि च असत्यपि एकस्मिन् स्थूले अवयविनि विकल्पापरनामधेयस्य निश्चयस्य स्वीकारे (वस्तुतो निश्चयाभावात्, तद्वति तत्प्रकारकस्यैव निश्चयत्वात्) निश्चयोपप्लवात् निश्चितार्थविषयतया प्रमाणभूतस्य प्रत्यक्षस्यापि (निर्विकल्पानुभवस्य) उपप्लवशङ्कया प्रामाण्यविहतिः स्यादित्याह ग हीतनिश्चितार्थे एव निर्विकल्पकानुभवस्य (प्रत्यक्षस्य) प्रामाण्यात्। निश्चयोपप्लवे (स्थूले एकस्मिन् अवयविनि) असत्येव एकः स्थूलो यं घटादिः इति विकल्पस्य स्वीकारे, तदभाववति तत्प्रकारकत्वेन असद्विषयकत्वेन वा। वस्तुतो विकल्पस्य अनिश्चयत्वे तस्यापि निर्विकल्पानुभवस्यापि (प्रत्यक्षस्यापि) उपप्लवात् (अभावापत्तेः) इति।

न च परमाणव एव स्थूलाः, तत्त्वव्याघातात्। न च तत्समुदायस्तथा, तस्य समुदितस्थानस्य त्वयानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा वयविना किमपराद्धम्। न च समुदिता एव तथा प्रतिभासितुमर्हन्ति, तेषां प्रत्येकमस्थूलत्वात्। न च

नानादिग्देशव्यापितैव स्थौल्यम्, परमाणुषु प्रत्येकमसम्भवात्। न च नानात्वैकार्थसमवायिन्येव सा स्थौल्यमिति साम्प्रतम्, स्थूल एक इति प्रत्ययनियमात्।

न च भागेष्वेवारोपितेनैकत्वेनेदमुपपत्तिमत्, तदसम्भवात्। न हि करचरणचिबुकनासिकादिपरमाणूनामैक्यं कश्चित् क्वचिदारोपयति। न च तेषु भेदेन प्रथमानेषु न स्थूलप्रत्ययः। न च तत्त्वे स्फुरत्येव तद्विपरीतातत्त्वसमारोपसम्भवः।

न च परमाणव एव स्थूलाः, येन विकल्पस्य निश्चयत्वं स्यात्। तदा स्थूलपरमाणुविषयकविकल्पविषयीभूतस्थूलपरमाणुविषयकनिर्विकल्पानुभवस्य ग हीत–निश्चितार्थविषयकत्वेन प्रामाण्यं स्यात्। अवयवधाराया अविश्रान्तत्वे मेरुसर्षपयोः तुल्यत्ववारणायैव क्वचिद् विश्रामः तस्या आवश्यकः, स एव परमाणुपरिमाणकः परमाणुः। स च न स्थूल इति धर्मिग्राहकप्रमाणबाधेन तत्त्वव्याघातापत्तेः = परमाणुत्व–व्याघातापत्तेः। अन्त्यावयवस्य स्थूलत्वमेव नास्ति। अन्त्यावयवस्य सूक्ष्मत्वात्। तस्य स्थूलत्वस्वीकारे च तस्यापि अवयवः ततः सूक्ष्मरूपः स्वीकर्तव्य इति अन्त्यावयवत्वानुपपत्त्या परमाणुत्वस्य व्याघात इति बोध्यम्। न च परमाणु समुदायः स्थूलः, समुदिते स्थौल्यं वर्तते न तु समुदाये। परस्परसमभिव्याहारस्य समुदायस्य परस्परसंयोगादिसंबन्धस्य स्थूलत्वाभावात्। न को पि संबन्धे स्थूलत्वं स्वीकरोति। समुदिते स्थौल्यं वर्तते, परन्तु समुदितस्थानस्य अवयविनः त्वया बौद्धेन अस्वीकारात्। यदि समुदितः त्वया स्वीक्रियते न त्ववयवी, तर्हि अवयविना किमपराद्धं येन त्वया न स्वीक्रियते अवयवी। अवयवाद् भिन्नः अवयवः समुदितः स्वीक्रियते न तु अवयवी स्वीक्रियते तदा न किमपि वक्तव्यमस्ति। केवलमवयविनो विद्वेषी भवानिति कथयित्वा विरमामि।

एतत्सर्वम् – **न च परमाणव एव स्थूलाः तत्त्वव्याघातादित्यारभ्य। किमपराद्धम्, इति** मूलेन प्रतिपादितम्। ननु नानात्मकेष्वेव भागेषु परमाणुषु एकत्वं स्थूलत्वं च आरोप्य एकः स्थूलो यं घट इत्यादि व्यवहार इति शङ्कते पूर्वपक्षी – **न च समुदिता एव तथा प्रतिभासितुमर्हन्ति, तेषां प्रत्येकमस्थूलत्वात्** इति। समुदिता एव परमाणवः एकः स्थूल इत्याकारेण भासन्ते इति न युक्तम्। परमाणूनां प्रत्येकं तेषु मध्ये कस्मिन्नपि परमाणौ स्थूलत्वाभावात्। स्थूलत्वमन्यथाकृत्वा पूर्वपक्षी शङ्कते – **न च नानादिग्देशव्यापितैव स्थौल्यम्** इति। स्थूलत्वं न परिमाण–विशेषरूपम्, किन्तु नानादिग्देशव्यापित्वमेव। तच्च परमाणावस्तीति स्थूलव्यवहारोप–पत्तिरिति न वक्तुं शक्यते। अत्र सिद्धान्ती हेतुमाह – **परमाणुषु प्रत्येकमसम्भवात्** इति। एकस्मिन् परमाणौ नानादिग्देशव्यापित्वं नास्तीति तत्र तदादाय स्थूलत्व–व्यवहारोपपत्त्यभावात्। पूर्वपक्षी शङ्कते – **न च नानार्थैकत्वसमवायिन्येव सा स्थौल्यमिति साम्प्रतम्** इति। नाना यः परमाण्ववयवः तत्समवायिनी या

नानादिग्देशव्यापिता सैव स्थौल्यम्, इति। स्थूल इति व्यवहारोपपत्तिरिति तु न युक्तम्। अत्र हेतुमाह सिद्धान्ती – **स्थूल एक इति प्रत्ययनियमात्** इति। यद्यपि नानापरमाणुषु नाना दिग्देशव्यापिता = व त्तिता वर्तन्ते, ता व्यापिता आदाय स्थूलो नानेति प्रत्ययः स्यात्, न तु एकः स्थूल इति प्रत्ययः स्यात्। नाना दिग्देशव्यापिता नानापरमाणुषु वर्तन्ते, न त्वेकस्मिन् परमाणौ। एकस्य व्याप्यस्य नानादिग्देशेषु युगपद् वर्तमानत्वात्। न चैकः एकस्मिन् पूर्वे पश्चिमे च वर्तते।

ननु नानात्वेन भागेषु परमाणुषु एकत्वमारोप्य एकः स्थूल इति प्रत्यय इति शङ्कते पूर्वपक्षी – **न च भागेष्वेव आरोपितेन एकत्वेन इदम् उपपत्तिमत्** इति। नानापरमाणुषु आरोपितेन एकत्वेन एकं स्थूलम् इति उपपद्यते इति न वाच्यम्। अत्र सिद्धान्ती हेतुमाह – **तदसंभवात्** इति। नानापरमाणुषु एकत्वस्यारोपासंभवात्। कथम् असंभवः? तत्राह – **न हि कर-चरण-चिबुक-नासिकादि-परमाणूनाम् ऐक्यं कश्चित् क्वचिद् आरोपयति** इति। को पि जनः करचरणचिबुकनासिकादि–परमाणूनाम् अनेकेषाम् एकत्वं नारोपयति। अतिस्थूलानां करचरणादीनाम् परमसूक्ष्मैकपरमाणु–त्वासंभवेन तत्र तत्र एकत्वम् आरोपयति कश्चित्। एव च एकत्वम् आरोप्यापि एकः स्थूल इति व्यवहारो नोपपादयितुं शक्यते। अतः अवयवादतिरिक्तो वयवी स्वीकार्य इति सिद्धान्तिनो भिप्रायः। सिद्धान्ती पूर्वपक्ष्युक्तेषु संक्षेपेण दोषं वदति – **न च तेषु भेदेन प्रथमानेषु स्थूलप्रत्ययः।** स्थूलभिन्ने च सूक्ष्मत्वेन प्रतीतिविषयेषु परमाणुषु एकः स्थूल इति प्रत्ययो न संभवति। प्रत्येकेषु परमाणुषु स्थूलत्वाभावात्। नाना परमाणुषु एकत्वाभावात्।

ननु एकस्मिन् परमाणौ एकत्वस्य सत्त्वेन तत्र स्थूलत्वमारोप्य, नानापरमाणुषु नानादिग्देशव्यापितारूप स्थूलता अस्त्येव। तेषु एकत्वम् आरोप्य च एकः स्थूल इति व्यवहारोपपत्तिरिति पूर्वपक्षिणा उच्येत। तत्राह सिद्धान्ती – **न च तत्त्वे स्फुरत्येव तद्विपरीतातत्त्वसमारोपसंभव** इति। परमाणोः सूक्ष्मत्वरूपे तत्त्वे यथार्थरूपे स्फुरति सति न सूक्ष्मत्वविपरीत–(विरुद्ध)स्थूलत्वारोपः तत्र संभवति। एवं नाना परमाणुषु घटादिरूपावयविस्थानापन्नेषु नानात्वे तत्त्वे यथार्थरूपे स्फुरति सति नानात्व–विपरीत(विरुद्ध)एकत्वारोपस्तत्र न संभवति। विरोधिनि स्फुर्यमाणे न तदारोपः। विरोधिनः तस्य प्रतिबन्धकत्वात्। प्रतिबन्धकाभावश्च कार्यमात्रं प्रति कारणं भवति। स्थूलैकस्य अवयविन एकत्वस्थूलत्वारोपवादिमते अभावेन परमाणुगतैकत्वम् अवयविस्थानापन्नेषु नाना परमाणुषु आरोपणीयम् एकत्वस्थूलत्वारोपवादिना। तथा च एकपरमाण्वात्मना परमाणुकोटिरपि आरोपिता भवति। यस्य यद्रूपेण आरोपः तस्य तेन रूपेणैव आभास इति। अनेके परमाणवः घटाद्यवयविस्थानापन्ना एकपरमाणुतयैव अवभासेरन् न तु स्थूलतया अवभासेरन्। एव च अवयविस्थानापन्नानां नाना परमाणूनां परमाणुत्वेन स्फुरणात् स्थूलत्वाभावात् तेषां ग्रहणं न स्यात्।

अपि चैवमेकपरमाण्वात्मना परमाणुकोटिरप्यारोपिता परमाणुमात्रतयैव परिस्फुरेत्, न स्थूलतया। न च नानादिग्देशव्यापित्वस्यैष महिमेति साम्प्रतम्, विरोधात्। यदि हि नानादिक्काः परमाणवो देशतया वभासेरन् नैकतया देशितया चारोप्येरन्। तथा च कस्य नानादिग्देशव्यापिता, देशिनो परिस्फूर्तेः। अथ तथात्वेनारोप्येरन्? न नानात्वेन देशत्वेन वा वभासेरन्। तथा च कस्य नानादिग्देशव्यापिता, देशिनो परिस्फूर्तेः। तस्मादेकत्वारोपे परमाणुमात्रावभास एव स्यादिति।

एवं तर्ह्यनारब्धद्रव्यराशिषु का वार्तेति चेत्, न तावद्देशव्याप्तिसाम्येन तावत्परिमाणद्रव्यत्वारोपः। न चेहापि तथा स्यात्, अन्यत्राप्यसिद्धेः। न चासन्नेवैकः स्थूलः परिस्फुरति, बाधकानामपास्तत्वात्।

ननु नानापरमाणूनाम् एकपरमाण्वात्मना आरोपितानामपि नाना दिग्देश–व्यापिताबलेनैव स्थूलता प्रतिभासो भवतीति वक्तव्यमित्याह – **न च नानादिग्देश-व्यापित्वस्यैष महिमेति साम्प्रतम्** इति। अवयविस्थानापन्नानां परमाणुरूपेणारोपितानां नानादिग्देशव्यापित्वस्य स्थूलत्वप्रतिभासात् द श्यत्वमहिमा, परमाणूनां स्थूलत्वाभावे पि नानादिग्देशव्यापित्वस्थूलत्वावभासात् तेषां प्रत्ययत्वमिति न युक्तम्। अत्र हेतुमाह – **विरोधात्** इति। विरोधं दर्शयति – **यदि नानादिक्काः परमाणवो देशतया अवभासेरन्नित्यादि।** नाना दिक् येषां ते नानादिक्काः। परमाणवः यदि देशतया अवभासेरन् तदा देशिनो परिस्फूर्तेः। देशः अस्ति अस्मिन् तस्य देशिनः परमाणोः अपरिस्फूर्त्तेः अभासात्। तथा च कस्य परमाणोः अभानेन कस्य वस्तुनः नानादिग्देशव्यापिता = नानादिग्देशसंबन्धिता (वर्तिता) भवेत्? अथ यदि नानादिग्देशेषु देशिनः परमाणून् आप्येरन्, तदा देशाः नानात्वेन देशत्वेन वा नावभासेरन्। परमाणुत्वेन तस्य भानात् कस्य वस्तुनः नानादिग्देशव्यापिता? देशानामपरिस्फूर्तेः = अभानात्। परमाणुषु नानादिग्देशत्वेन देशस्य आरोपे परमाणूनामभानात् न परमाणूनां नाना–दिग्देशे व्यापिता भवति। अथ च नानादिग्देशेषु परमाणुत्वेन परमाणूनाम् आरोपे नानादिग्देशस्य अभानात् परमाणूनां न नानादिग्देशव्यापिता भवति। उभयथापि परमाणूनां नानादिग्देशतायाः हानिर्भवतीति भावः। **यदि हीति**। अयमर्थः – परमाणूनां नानादिग्देशव्यापित्वमिति वदता (बौद्धेन) नानादिक्कः देशः तद्व्यापकदेशोद्भ–वावप्यवगन्तव्यौ (नानादिक्कः = नानादिग्देशः तत्र स्थितः परमाणुः द्वौ अपि नानादिक्केति पदबोध्यः)। अत्र त्वत्पक्षे (मते) भागभागिनोः देशदेशिनोः भिन्नयोः अभावात् भागानामेव (परमाणूनामेव) देशत्वं देशित्वं च भासते इति स्वीकर्तव्यम्। अत्र तु विरोधो वज्रलेपायमानः। न हि नानादिक्कतया नानात्वेन देशत्वेन च भासमानानां परमाणूनां तद्विरोधिनोः देशित्वैकतया आरोपः संभवति। तथा च देशिनो परिस्फूर्तेः कस्य नानादिग्देशव्यापिता?

अथ तथा एकत्वेन देशित्वेन वा रोप्येरन् न नानात्वेन देशत्वेन च भासेरन्। तथापि कस्य नानादिग्देशव्यापिता? देशानामपरिस्फूर्तेः। एतदुक्तं भवति – देशदेशित्वयोः नानात्वैकत्वयोश्च विरोधात् अन्यतरस्फुरणे अन्यतरस्फुरणविरोध इति। तस्मात् आरोपितमेकत्वम् घटाद्यवयविस्थानापन्नेषु नाना परमाणुषु भासते। अतः स्थूल एको घट इत्यादि व्यवहारो भवतीति पक्षो न सयुक्तिक इति उपसंहरति सिद्धान्ती – **तस्मादेकत्वारोपे परमाणुमात्रत्वावभास एव स्यादिति।** अवयवि–स्थानापन्नेषु नानापरमाणुषु परमाणुगतैकत्वारोपे परमाणुमात्रत्वावभास एव स्यात् न स्थूलत्वावभासः। तथा चैकः स्थूलो घट इति व्यवहारः प्रतीतिर्वा न स्यात्। भवति चैताद शप्रतीतिर्व्यवहारो वा सर्वानुभवसिद्धा। सिद्धश्च अतः अवयवसमुदायाद् भिन्न एकः स्थूलो वयवी स्वीकार्यः नापलाप्यः। अवयवी नोपलभ्यते इति कथनं त्वयि ध ष्टतां द्योतयति।

इदानीमन्यत्र प्रसिद्धस्य अन्यत्रारोपो भवतीति बोधयितुं शकङ्ते – **एवं तर्ह्यनारब्धद्रव्यराशिषु का वार्तेति चेत्** इति। न आरब्धः द्रव्यराशिः (समुदायः) यैः परमाणुभिः तेषु अनारब्धद्रव्यराशिषु परमाणुषु। न आरब्धम् अनारब्धम्, अनारब्धं द्रव्यं यैः परमाणुभिः ते अनारब्धद्रव्यपरमाणवः, तेषां राशिषु समुदायेषु इत्यपि कश्चित्। परमाणुषु स्थूलत्वाभावेन अनारब्ध– द्रव्यराशिषु परमाणुषु एकः स्थूल इति व्यवहारस्य निर्वाहकः उपायः कः इति प्रश्नो भवति इति चेत्? तन्निर्वाहोपायं दर्शयति – **तावद्देशव्याप्तिसाम्येन तावत्परिमाणद्रव्यत्वारोप** इति। यावत्परिमाणेन अवयविना द्रव्येण यावान् देशो व्याप्तः अनारब्धद्रव्यराशेः परमाणुसमुदायस्य तावद्देशव्याप्ति–(संबन्ध)साम्येन तावत्परिमाणद्रव्यत्वारोपः (ताद शावयवित्वारोपः) अनारब्धद्रव्यराशिषु परमाणुषु स्थूलैकत्वप्रतिभासहेतुः। अनारब्धद्रव्यराशिषु परमाणुषु एकत्वस्थूलत्वयोरभावे पि अवयवियावद्देशव्याप्तेः ताद शपरमाणुषु सत्त्वेन तत्रावयवित्वारोपेण एकः स्थूल इति व्यवहारो भवति। तत्र ताद शव्यवहारस्योपायः अवयवित्वारोप एव। अवयविनि एकत्वस्थूलत्वयोः प्रसिद्धयोः एकत्वस्थूलत्वाभाववति परमाणुषु ताद शेषु आरोपाद् तत्र परमाणुषु एकः स्थूलश्चेति व्यवहार उपपद्यते।

ननु अवयव्यनङ्गीकर्त मते तदारोपेण तथा व्यवहारो भवतु इत्यत आह – **न चेहापि तथा स्यात्। अन्यत्राप्यसिद्धेः** इति। अवयव्यनङ्गीकर्त मते एकत्वस्थूलत्वयोः परमाणुषु अवयविस्थानापन्नेषु आरोपो न संभवति। तन्मते नानापरमाणुषु नानात्वस्यैकत्वविरोधिनो भासमानेन नैकत्वारोपः तत्र संभवति। स्थूलत्वस्य च तन्मते कुत्राप्यप्रसिद्धत्वेन परमाणुषु स्थूलत्वारोपः संभवति। अतः अवयव्यनङ्गीकर्त मते एकः स्थूल इति व्यवहार उपपादयितुं न शक्यते। भवति ताद शो व्यवहारः। अतः अवयवी स्वीकार्यः अपलपितुमशक्यः।

ननु अन्यत्र प्रसिद्धस्य अन्यत्र भानमित्यन्यथाख्यातिं न ब्रूमः, येन स्थूलत्वस्य कुत्रापि प्रसिद्धस्य अपेक्षा भवेत्। असतः ख्यातिं ब्रूम इति कुत्रापि प्रसिद्धत्वं नात्र अपेक्षते इति पूर्वपक्षी शङ्कते – **न च असन्नेव एकः स्थूलः परिस्फुरति** इति। परमाणुषु अवयविस्थानापन्नेषु असतः एकत्वस्य स्थूलत्वस्य च स्फुरणं भवति इति तत्र एकः स्थूल इति। व्यवहारोपपत्तिरिति न वाच्यम्। सिद्धान्ती समाधत्ते – **बाधकानाम् अपास्तत्वात्** इति। बाधकाधीनं ह्यवयविनः असत्त्वम्। बाधकानि च परोक्तानि अपास्तानि इति अवयविनि एकत्वस्थूलत्वयोः सत्त्वेन एकः स्थूल इति व्यवहारस्य उपपन्नत्वेन तयोः आरोपेण ताद शगौणव्यवहारस्य अयुक्तत्वात्। मुख्यस्य सत्त्वे गोणत्वं न युक्तम्। गौणत्वस्य अगतिकत्वात्। अवयविबाधकानां विरुद्धधर्माध्यासानां ग्रहणाग्रहणादीनामपास्तत्वात्।

एतेन प्रतिभासधर्मो पि निरस्तः। सो पि ह्यसन् बौद्धो वास्तवो वेति त्रयीं गतिं नातिवर्त्तत इति।

अतीन्द्रियाश्च प्रत्येकमणवः कथं मिलिता अपि द श्येरन्, अतीन्द्रिय-समूहस्याप्यतीन्द्रियकत्वमिति चेत्, किमद्यापि स्वप्ने हस्तं प्रसारयसि।

एतेन प्रतिभासधर्मो पि निरस्तः इति। प्रतिभासस्यैव (ज्ञानस्यैव) स्थूलाकारो धर्मः न बाह्यस्य। अवयविनो बाह्यो धर्मः स्थूलत्वमिति बौद्धीयप्रलापो पि (**योगाचार**–प्रलापो पि) एतेन वक्ष्यमाणेन निरस्तः। कथं निरस्त इत्याह – **सो पि ह्यसन् बौद्धो वास्तवो वेति न त्रयीं गतिम् अतिवर्तत** इति। अतीन्द्रियाश्च प्रत्येकमणवः कथं मिलिता अपि द श्येरन्, अतीन्द्रियसमूहस्यापि अतीन्द्रियत्वात् इति। प्रतिभासधर्मो पि स्थूलाकारः, अलीको वा, बुद्धिसिद्धो वा वास्तवो वेति गतित्रयं नातिक्रमेत इति। न प्रथमः असतो बाधकाभावात्। न द्वितीयः। बुद्धिकल्पितस्यापि बाधकाभावात्। बुद्धिकल्पितस्यापि असत्समानत्वात्। न त तीयः। प्रतिभासस्य ज्ञानरूपत्वेन तस्य वास्तविकस्थूलत्वाभावात्। गुणे गुणानङ्गीकाराच्च। स्थूलावय–व्येकद्रव्यानभ्युपगमे केवलाणुसमूहस्य अवयविस्थानापन्नस्य द श्यत्वम् अपि न स्यादित्याह – **अतीन्द्रियाश्चेति।** प्रत्येकमणवः अतीन्द्रियाः कथं मिलिता अपि अणवः द श्येरन्? अतीन्द्रियसमूहस्यापि अतीन्द्रियत्वात्। ननु अतीन्द्रियेभ्यः परमाणुभ्यः प्रत्यक्षयोग्यानां विजातीयानामेव क्षणिकानामुत्पादात् तेषां परमाणूनां समूहस्य प्रत्यक्षत्वं संभवति इति शङ्कते – **विशिष्टोत्पादादैन्द्रियकत्वमिति चेत्?** इति। अतीन्द्रिय–परमाणुसमूहात् ऐन्द्रियकविशिष्टोत्पत्त्या तस्य प्रत्यक्षोपपत्तिरिति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **किमद्यापि स्वप्ने हस्तं प्रसारयसि?** इति। यत् सत् तत् क्षणिकमिति प्रथममेव मया खण्डितमिति निरस्ते पि क्षणिके विशिष्टोत्पादादिति वदन् स्वप्ने हस्तं प्रसारयसीव भाति। हस्तप्रसारणे पि स्वप्ने यथा किमपि न लभ्यते तथा विशिष्टोत्पादः अणुसमुदायात् भवतीति कथने पि न किमपि फलम्। अवयविनः खण्डयितुमशक्यत्वात्।

ताद शे विशिष्टे महत्त्वं त्वया स्वीक्रियते न वा? आद्ये इष्टापत्तिः। तस्य एव अवयवित्वात्। न परमाणुसमुदायः अवयवीति तव मतं सिद्ध्यति। द्वितीये महत्त्वाभावेन तस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्तिः । तस्यातीन्द्रियसमानत्वात्।

अस्तु वैवम्, तथापि क्षणभेदाज्जातिभेदो निराकृतः, जातिसङ्कर-प्रसङ्गात्। तदभेदेन तूत्पादे पि तद्वा ताद ग्वेति तत्त्वद शा न कश्चिद्विशेषः।

भवतु वा जातिविशेषो पि, तथापि स्थूलत्वमेवैन्द्रियकत्वं प्रति प्रयोजकं मन्तव्यम्। अन्यथा स्थूलतामनाप्नुवन्नेको पि परमाणुः कदापि तथोत्पन्नः प्रत्यक्षतामियात्। नियमेन तु तद्विपरीतस्य प्रत्यक्षता तथाविधस्याप्रत्यक्षतायामेव विश्राम्यति, अन्वयव्यतिरेकफलत्वाद्धेतुफलभावस्य।

न च सचिता अपि स्थूलतयोत्पन्नाः। न च बहुत्वमेव स्थौल्यं तद्विपर्यय एव सूक्ष्मता, विततदेशानामपि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। नैरन्तर्यमपि विवक्षितमिति चेन्न। तस्य प्रकृते प्यसम्भवात्, रूपपरमाणूनां रसादिपरमाणुभि-रन्तरितत्वात्। न चारोप्यते नैरन्तर्यम्, इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्। नैरन्तर्यारोपे तेषां स्थूलानां ग्रहणं तद्ग्रहणे च सति नैरन्तर्यारोप इति। तस्मादैन्द्रियकत्वे स्थूलतायाः प्रयोजकत्वात् अप्रयोजकत्वे विततदेशानामपि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। तेषां च प्रत्येकमस्थूलत्वादतीन्द्रिया एव परमाणवः। तथा च सर्वाग्रहणमवय-व्यसिद्धेरिति। (न्या.सू. २/१/३४।)

[अथ कुर्वद्रूपवैजात्य-निराकरणम्]

सिद्धान्तिनामतीन्द्रियेभ्यः परमाणुभ्यो विशिष्टानां भिन्नजातीयानाम् उत्पादम–भ्युपगम्य उच्यते ऐन्द्रियकत्वं तेषां न संभवतीत्याह – **अस्तु वैवं तथापीति** अतीन्द्रियपरमाणुभ्यः विशिष्टानाम् = विभिन्नजातीयानाम् क्षणिकानाम् उत्पादो स्तु तथापि क्षणिकेभ्यः परमाणुभ्यः क्षणिकस्य ताद शविशिष्टस्य भेदात् जातिभेदो निराकृतः, पूर्वजातेः कुर्वद्रूपो जातिभेदः तत्र नास्ति। उभयोः जात्योः साङ्कर्यप्रसङ्गात्। एकस्य कुर्वद्रूपजातिविशिष्टस्य अप्रत्यक्षत्वम्। अपरस्य च ताद शजातिभिन्नजातिमतः प्रत्यक्षत्वमिति। जातिभेदम् आदाय उपपादयितुं न शक्यते। क्षणभेदात् = व्यक्तिभेदात् जातिभेदस्य असत्त्वात्। अन्यथा साङ्कर्यप्रसङ्गात्। जात्या भेदे पि ये पूर्वमतीन्द्रियाः परमाणवः आसन् ते एव ऐन्द्रियका इदानीं याताः, किं वा तद्भिन्नाः तत्सजातीयाः? उभयत्र न को पि विशेषः। उभयोः अतीन्द्रियकत्वाविशेषात्। तथा च सचितानाम् अतीन्द्रियकत्वम् असचितानां विशिष्टानाम् ऐन्द्रिकत्वमिति त्वदभिलषितम् नियमाभावेन न सिद्ध्यति। भवतु त्वदभिलषितो विशिष्टे जात्यन्तरं तथापि तत्र स्थूलत्वाभावेन ऐन्द्रियकत्वं दुर्लभमित्याह –**भवतु वा जातिविशेषो पीति,** अतीन्द्रियपरमाणुपु जात्

जात्यन्तरविशिष्टस्य उत्पादो स्तु अथवा अतीन्द्रियपरमाणुभ्यः उत्पन्नविशिष्टे अस्तु पूर्वपरमाणुव त्तिजातिभिन्नजातिविशेषः, तथापि प्रत्यक्षं प्रति स्थूलत्वमेव प्रयोजकत्वं मन्तव्यम् न तु जात्यन्तरं प्रयोजकं मन्तव्यम्। जात्यन्तरस्य ऐन्द्रियकत्वं (प्रत्यक्षं) प्रति प्रयोजकत्वस्वीकारे कदाचित् परमाणोरुत्पन्नस्य विशेषजातिमतः स्थूलत्वप्राप्त्य–भाववतः एकस्यापि परमाणोः प्रत्यक्षत्वापत्तेः। प्रत्यक्षताप्रयोजकजातिविशेषस्य तत्र सत्त्वात्।

ननु स्थूलत्वमेव प्रत्यक्षताप्रयोजकं न तु जातिविशेष इत्यत्र किं मानमित्यत आह – **नियमेन तु तद्विपरीतस्य प्रत्यक्षतेति।** अस्थूलविपरीतस्य स्थूलस्य प्रत्यक्षता। स्थूलत्वाभाववतः अस्थूलस्य अप्रत्यक्षता। कार्यकारणभावस्य अन्वयव्यतिरेकगम्यत्वात्। स्थूलत्वसत्त्वे प्रत्यक्षत्वं स्थूलत्वाभावे च अप्रत्यक्षत्वमिति अन्वव्यतिरेकयोः सत्त्वात्।

ननु परमाणुभ्यः मिलिता एव परमाणवः स्थूलतया उत्पन्नाः। तथा च तेषां प्रत्यक्षत्वम् उपपन्नमित्यत आह – **न च सचिता अपि स्थूलतया उत्पन्ना** इति। बहुत्वमेव स्थूलत्वम्। बहुत्वाभावः सूक्ष्मत्वमिति। परमाणुभ्यः उत्पन्नाः मिलिताः परमाणवः बहुत्वात् स्थूला इति न वाच्यम्। तत्र हेतुमाह सिद्धान्ती – **न च बहुत्वमेव स्थौल्यम्, तद्विपर्ययः तु सूक्ष्मता चेति।** बहुत्वमेव न स्थौल्यम्। बहुत्वाभावस्तु न सूक्ष्मता। अन्यथा विततदेशानां परमाणूनाम् विभिन्नदेशस्थितानाम् अमिलितानामपि परमाणूनां बहुत्वेन प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गापत्तेः। पूर्वपक्षी शङ्कते – **नैरन्तर्यमपि विवक्षितमिति चेत्?** इति। निरन्तराणां तत्परमाण्वव्यवहितोत्तरपूर्वाणां परमाणूनां बहुत्वमेव स्थूलत्वम् इति विततानां तेषां बहुत्वस्य अस्थूलत्वेन न विततानां परमाणूनां प्रत्यक्षत्वमिति चेत्? सिद्धान्ती समाधत्ते – **न। तस्य प्रक ते पि असंभवात्। रूपपरमाणूनां रसादिपरमाणु-भिरन्तरितत्वादि**ति। निरन्तराणां परमाणूनामेव बहुत्वं न विततानां तेषां बहुत्वमिति भवदभिमते पि असंभवेन निरन्तराणां परमाणूनां स्थूलत्वाभावेन प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः तत्कथयितुम् अशक्यत्वात्। रूपपरमाणूनां रसादिपरमाणुभिरन्तरितत्वात्। बौद्धाः सर्वेषां रूपादीनां परमाणुरूपतां स्वीकुर्वन्ति। ते च रूपादिपरमाणवः परमाणुव त्तयः। एकपरमाणुव त्तयो रूपादिपरमाणवः अपरपरमाणुमध्यवर्तिन इति। एवं रसादिपरमाण्वादयो बोध्या व्यवधायकाः। रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–परमाणवो घट शब्दवाच्या इति बौद्धानां सिद्धान्तः। तत्र च रूपपरमाणव एव स्थूलीभूताः चाक्षुषाः। तेषां च स्थूलीभावो नैरन्तर्ये सति स्यात्। तच्च स्थूलत्वं रसादिपरमाणुभिः मिलितत्वेन तैः व्यवहितत्वात् नैव संभवतीति भावः।

पूर्वपक्षी शङ्कते – **न चारोप्यते नैरन्तर्यमि**ति**।** नैरन्तर्याहितेष्वपि रूपादिपरमाणुषु नैरन्तर्यमारोप्य स्थूलत्वोपपत्त्या प्रत्यक्षमुत्पत्स्यते इति न वाच्यम्। अत्र हेतुमाह सिद्धान्ती – **इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्। नैरन्तर्यारोपे तेषां स्थूलानां ग्रहणं तद्ग्रहणे च सति नैरन्तर्यारोप इति**, परस्पराश्रयत्वेन नैरन्तर्यस्य परमाणुषु

आरोपाभावेन स्थूलत्वाभावात् तेषां प्रत्यक्षानुपपत्तेर्दुर्वारत्वात्। आरोपस्याधिष्ठान–ग्रहणाधीनत्वेन परमाणूनां प्रत्यक्षे सति नैरन्तर्यारोपः तेषु संभवति। नैरन्तर्यारोपे च सति स्थूलत्वे तेषां स्थूलानां परमाणूनां प्रत्यक्षमिति परस्पराश्रयत्वात्। तस्मान्न परमाणूनां नैरन्तर्ये सति बहुत्वं स्थूलत्वं संभवति। किन्तु महत्परिमाणवत्वम् एव स्थूलत्वं तदेव च (द्रव्य–) प्रत्यक्षं प्रति प्रयोजकम्। तच्च प्रत्येकपरमाणूनां धर्मिग्राहकमानबाधितत्वेन न संभवतीति अवयववतो अवयविनः अस्वीकारे सर्वाग्रहणप्रसङ्ग इत्युपसंहरति सिद्धान्ती – **तस्माद् ऐन्द्रियकत्वे स्थूलतायाः** (प्रत्यक्ष–) **प्रयोजकत्वात्।** (स्थूलतायां प्रत्यक्षं प्रति) अप्रयोजकत्वे विततदेशानामपि (परमाणूनां) प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। तेषां च (परमाणूनाम्) प्रत्येकम् अस्थूलतया अतीन्द्रिया एव परमाणवः। तथा च सर्वाग्रहणम् अवयव्यसिद्धेरिति न्या.सू. २/१/३४। स्थूलावयवसिद्धौ तद्गतगुणकर्मादीनां वा सर्वेषां ग्रहणं न स्यादिति।

अस्तु तर्हि क्षणमात्रस्थायी स्थूलो र्थ इति चेन्न। भागभागिनोर्युगपदुप लम्भबाधितत्वात्। घटपटादिभङ्गे तन्तुकपालादीनामुत्पादे समानोपादानतया सप्रतिघत्वव्याघाताच्चेति। सो यमधिकरणासिद्धान्तन्यायेन स्थूलत्वसिद्धौ क्षणभङ्गभङ्गः।

एतेन यत् सत् तन्निरवयवं यथा विज्ञानं संश्च विवादास्पदीभूतो घटादिरिति निरस्तम्। विपर्यये बाधकाभावेन व्याप्त्यसिद्धेः। यत्सत् तत्सावयवं यथा घटः, सच्च विज्ञानमिति चार्वाकपरिवर्त्तस्याप्यवकाशाच्च। समो वा समाधिः।

ननु निरवयवमेव विज्ञानं स्वसम्विदितरूपम्। घटस्य च सावयवताया-मद्यापि विवाद एव। तत् कथं परिवर्त्तः कथं वा समः समाधिरिति चेत्, शुष्कविवादस्य विज्ञाने पि दुर्वारत्वात्। न हि कश्चित् कण्ठौष्ठपार्श्व-जठरादिपरिहीनं पिठरमनुभवति। अस्तु वा सत्त्वात् सप्रतिघत्वसिद्धिर्बुद्धावप्रतिघत्वं वा घटादाविति।

[अथावयविभिन्नस्थूलद्रव्यनिराकरणम्]

इदानीम् अवयविव्यतिरिक्तमेव स्थूलद्रव्यम् अभ्युपगम्य प्रत्यक्षत्वं समर्थयते पूर्वपक्षी। **मिश्रा**स्तु "अवयवातिक्तो वयवी नास्तीति, निराकृतम् अपि युक्त्यन्तरमभिधातुं प्रस्तौति" – **अस्तु तर्हि क्षणमात्रस्थायी स्थूलो र्थ इति चेत्?** इति। अवयविव्यतिरिक्तः स्थूलो र्थः क्षणमात्रस्थायी अस्तु, ततश्च गुणकर्मादीनां प्रत्यक्षत्वमुपपत्स्यते इति चेत्? अत्र क्षणमात्रस्थायी इत्यनेन अनेकक्षणस्थायिनो वयविनो व्यतिरेकं सूचयति। क्षणिकत्वपक्षे हि निरन्वयविनाशिन एव कारणस्य कार्यारम्भकत्वात्। नावयवानां

स्वसमवायिकार्यारम्भकत्वं संभवतीत्यवयव्यभावः इति अवयवी न क्षणिक इति वादिमते च अवयवानाम् अविनाशिनां सान्वयानां कारणानाम् अवयविरूपकार्यारम्भकत्वात् अवयवी सिद्ध्यतीति। सिद्धान्ती समाधते – **न। भागभागिनोः युगपद् उपलम्भबाधितत्वात्** इति। स्थूलावयविनो भिन्नः क्षणमात्रस्थायी स्थूलो र्थ इति कथनं न युक्तम्। क्षणिकस्य स्थूलस्य क्षणिकैरेव निरन्वयविनाशिभिः कारणैः कार्यात् पूर्वस्मिन्नेव क्षणे सद्भिः भागैः रूपोत्पादे भागभागिनोः युगपदुपलम्भो नोत्पद्यते। भागानां क्षणिकत्वेन स्वक्षणे नाशात् स्थूलावयविक्षणे तेषामभावात्। विषयं विना कथं विषयस्य प्रत्यक्षं संभवति। विषयतासंबन्धेन प्रत्यक्षं प्रति तादात्म्येन विषयस्य कारणत्वात्। न हि कारणं विना कार्यं भवति। तद् विना तस्य कथं प्रत्यक्षम्? अवयविव्यतिरिक्त–स्थूलोत्पादकनिरन्वयविनाशिनां भागानां कारणानां ग्रहणक्षणे कार्यरूपस्य स्थूलस्य असत्त्वेन कथं तस्य उपलम्भः संभवति। कार्यरूपस्थूलोपलम्भसमये क्षणिकत्वेन भागानां नाशेनासत्त्वात्, कथं तेषामुपलम्भः संभवति? भागभागिनोश्चोभयोः नैकक्षणस्थायित्वं स्वीक्रियते। क्षणिकत्वस्य स्वसिद्धान्तस्य भङ्गापत्तेः।

ननु कार्यभूता भूतभावाः पटादयः पूर्वभागैः कारणैः सह नोपलभ्यन्ते, किन्तु तेन कार्येण पटादिना सह समानोपादानानि भागान्तराणि तन्त्वादय उपलभ्यन्ते। पूर्वं भागानां निरन्वयविनाशिनां पटादिकार्यं प्रति तन्त्वादीनि प्रति च कारणत्वात्। तथा च पटादिरूपकार्यस्य, तत्कारणीभूतसमानतन्त्वादीनां च युगपदुपलम्भः संभवति, अत आह सिद्धान्ती – **घटपटादिभङ्गे तन्तुकपालादीनामिति** उत्पत्त्यग्रिमक्षणे एव यो घटो नष्टः तं प्रति कपालमाला तावदुपादानम्। तत्र सभागसन्तानस्य त्वया अभ्युपगमात्। तथा च एकैव कपालमाला घटम्, अग्रेतनी च कपालमालां प्रति उपादानम् इति मूर्तानां समानदेशताविरोधः। घटपटादिभङ्गाभिधानं कपाल–तन्तुमाला–स्फोरणार्थम्। स्थैर्यपक्षे तु सभागसन्तानव्यवस्थैव नास्ति। अतिरिक्तो वयवीति स्वीकारात् इति नायं दोषः। मूर्तयोः समानदेशताविरोधरूपो दोषो न भवति। पूर्वावयवैः यदि युगपत् घटादिकार्यं कपालादिकं च जनयेत् तदा मूर्तयोः उभयोः समानदेशत्वम् आपद्येत। घटकपालयोः युगपद् भावित्वात् समानदेशत्वम्। तच्च नेष्टम्। अतः पूर्वकारणस्य नष्टत्वात् कार्येण सह तदुपलम्भो न युक्तः। कारणसमानजातीयं प्रति तस्य अकारणत्वमेव मन्तव्यम्। अन्यथा मूर्तयोः कार्यकारणसमानजातीययोः समानदेशत्वापत्तिः। न चेष्टापत्तिः। एकाधिकरणे एकमात्रस्य स्थितेः।

पक्षधर्मविशेषादेव साध्यविशेषसिद्धिः अधिकरणसिद्धान्तः। प्रकृते धर्मिणि स्थूलत्वसिद्धिबलादेव सावयवत्वसिद्धिः (अवयवित्वसिद्धिः) अधिकरणसिद्धान्तः। **यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सो धिकरणसिद्धान्त** इति **गौतमसूत्रम्** (१.१.३०)। प्रत्यक्षबलात् स्थूलत्वसिद्धौ अन्यस्य सभागत्वस्य अवयवित्वस्य सिद्धिः इति अधिकरणसिद्धान्तसिद्ध एव क्षणभङ्गभङ्ग इत्याह – **सो यम् अधिकरणसिद्धान्त-**

न्याये। उपलभ्यमानस्य धर्मिणः स्थूलत्वं सिद्ध्यत् तस्य सभागत्वबलेनैव क्षणिकत्व एकार्थसमावाय्येव सिद्ध्यतीति तत्सिद्धान्तसिद्ध एव क्षणिकत्वभङ्ग इति।

[अथ ज्ञानवादि-योगाचारानुमतवयविबाध-निराकरणम्]

सौत्रान्तिक-वैभाषिकयोः बाह्यपदार्थवादिनोः अवयव्यपलापिनोः मतम् उत्थाप्य खण्डयित्वा अवयविनं स्थापयित्वा बाह्यार्थापलापिनः केवलविज्ञानवादिनो **योगाचार**स्य 'यत् सत् तन्निरवयवं यथा विज्ञानम्' इति व्याप्तिं खण्डयित्वा अवयविनं स्थापयितुम् आह सिद्धान्ती – **एतेन यत् सत् तन्निरवयवमिति** वक्ष्यमाणेन हेतुना यत् सत् तन्निरवयवमिति व्याप्त्या घटादिरपि नैको वयवी भवितुमर्हति। विपर्ययबाधकं विनापि व्याप्तिसिद्धिः। यत् सत् तन्न निरवयवमिति विपर्ययस्य अदर्शनादिति निरस्तम्। ताद शव्याप्तेः निरासं दर्शयन् तत्खण्डयितुमाह – **विपर्यये बाधकाभावेन व्याप्त्यसिद्धेः। यत् सत् तत् सावयवं यथा घटः सच्च विज्ञानमिति।** यत् सत् तत् सावयवमिति व्याप्त्या विज्ञानस्यापि अवयवत्वमित्यसिद्ध्या द ष्टान्तासिद्धेः। यत् सत् तन्निरवयवमिति व्याप्तिर्न सिद्ध्यति। तथा च व्याप्तेः असिद्ध्या अवयविनं न खण्डयितुं शक्नोषि। अतो विपर्यये बाधकाभावेन व्याप्तिर्न सिद्ध्यति इति त्वया **चार्वाकं** प्रति वक्तव्यम्। ममापि तदेव वक्तव्यमस्ति। तथा च यत् सत् तन्निरवयवमिति व्याप्तिर्न सिद्ध्यति इति कथम् अवयविनं खण्डयिष्यसि? विपर्यये बाधकं विना व्याप्तिर्न सिद्ध्यतीति नावयविनं खण्डयिष्यसि इति समो वा समाधिः।

परिवर्तः = विपरीतप्रसङ्गः। विपर्यये बाधकं विनापि यदि यत् सत् तत् निरवयवमिति व्याप्त्या अवयविनं खण्डयिष्यति, तदा यत् सत् तत् सावयवमिति विज्ञानमपि सावयवं स्यात् इति, निरवयवस्य ज्ञानं सावयवमिति यो विपरीतः **चार्वाकस्य** प्रसङ्गः तद्वारणाय विपर्यये बाधकाभावेन यत् सत् तत् सावयवमिव निरवयवमपि भवतीति कथयित्वा **चार्वाक**व्याप्तिं खण्डयिष्यसि। यत् सत् तन्निरवयवमेव न भवतीति कथयित्वा तव व्याप्तिं खण्डयामीति समानं समाधानमिति।

[निरवयवविज्ञानवाद-खण्डनम्]

ननु 'यत् सत् तत् सावयवं यथा घटः' इति **चार्वाक**स्य विपरीतप्रसङ्गेन 'यत् सत् तन्निरवयवं यथा विज्ञानमिति' व्याप्तेः भङ्गो न युक्तः। स्वसंविदितरूपे विज्ञाने सर्वमतसिद्धस्य निरवयवत्वस्य सत्त्वेन तत्र सावयवत्वसाधकस्य सत्त्वस्य हेतोः सत्त्वेन व्यभिचार इति तस्याव्याप्तित्वमिति विपक्षी शङ्कते – **ननु निरवयवमेव विज्ञानं स्वसंविदितरूपं घटस्य च सावयवतायामद्यापि विवाद एव। तत्कथं परिवर्तः? कथं वा समाधिरिति चेत्?** इति। स्वेन संविदितं ज्ञानं रूपं स्वरूपं यस्य तत् संविदितरूपं विज्ञानं निरवयवम्। निर्गतो वयवो यस्मात् तत् निरवयवम्।

नैयायिका अपि ज्ञानस्य गुणत्वेन निरवयवत्वं स्वीकुर्वन्ति। द्रव्यस्यैव सावयवत्वात्। घटस्य सावयवतायां तु अद्यापि विवाद एव। अवयवेभ्यो भिन्न एको वयवीति वादिना सह अवयवपु ज एवावयवी नातिरिक्त इति वादिनो मम विवादो स्त्येव। तस्मात् कथं निरवयवे ज्ञाने निरवयवत्वविपरीतस्य सावयवत्वस्य प्रसङ्गः? कथं वा समः समाधिः? यत् सत् तत् सावयवमिति चार्वाकव्याप्तौ व्यभिचार एव न तु विपर्यये बाधकाभावेन व्याप्तेः असिद्धिरिति मयोच्यते। यत् सत् तत् निरवयवमिति मम व्याप्तौ व्यभिचारं न दर्शयति भवान्। विपर्यये बाधकाभावेन यथा चार्वाकस्य तस्याः व्याप्तेः असिद्धिः, तथा तव व्याप्त्यसिद्धिः इति कथयति इति। उभयोः समाधानयोः परस्परभिन्नत्वादिति चेत्? सिद्धान्ती समाधत्ते – **शुष्कविवादस्य विज्ञाने पि दुर्वारत्वात्** इति। अनुभवविरुद्धो विवादः शुष्कविवादः। निरवयवत्वरूपसाध्याभाववति घटे निरवयवत्वसाधकस्य सत्त्वस्य त्वद्धेतोः सत्त्वेन तत्र व्यभिचारस्य सत्त्वात् यत् सत् तत् निरवयवमिति त्वदभिमतव्याप्त्यसिद्धेः। अन्यथा शुष्कविवादस्य विज्ञाने पि दुर्वारत्वापत्तेः। निर्विवादे निरवयवे विज्ञाने अनुभवसिद्धेः सावयवत्वस्य कथयितुम् अशक्यत्वात्। को पि न शुष्कविवादस्य प्रतिरोधः। तस्य अनुभवविरोधे पि जायमानत्वात्।

ननु निरवयवे घटे, कथमनुभवविरुद्धो निरवयवत्वविवाद इत्यत आह – **न हि कश्चित् कण्ठौष्ठपार्श्वजठरादिपरिहीनं पिठरमनुभवति** इति। कण्ठादिहीनं घटरूपावयविनं न को पि अनुभवति। घटस्य प्रत्यक्षे तदवयवानां कण्ठौष्ठपार्श्व–जठरादीनां प्रत्यक्षमपि भवत्येव। तथा च घटस्य सावयवत्वम् अनुभवसिद्धम्। घटो निरवयव इति कथयित्वा त्वमपलपसीति तव कथं शुष्कविवादं नातिक्रामति। शुष्कविवादः तव अस्ति। पिठरम् = अवयविनम्। अथवा विज्ञाने पि निरवयवत्वस्य स्वसंवेदनसिद्ध–स्यापि सत्त्वादेव सप्रतिघत्व(मूर्तत्व)सिद्धिरित्याह – **अस्तु वा सत्त्वात् सप्रतिघत्वसिद्धिः, बुद्धावप्रतिघत्वं वा घटादाविति** इति। यदि अनुभवविरोधेन सावयवत्वविषयकानुमानस्य सत्त्वहेतुकस्य बुद्धावनुत्पत्त्या बुद्धेः अमूर्तत्वं मन्यसे, तदा अनुभवविरोधेन निरवयवत्व–विषयकानुमानस्य सत्त्वहेतुकस्य घटे नुत्पत्त्या घटस्य अमूर्तत्वं स्यात्। यदि विज्ञाने निरवयवत्वस्य अनुभवसिद्धस्य सत्त्वात् विज्ञानस्य मूर्तत्वम्, तदा सावयवत्वस्य अनुभवसिद्धस्य घटे सत्त्वात् घटस्य मूर्तत्वं स्यात्। बुद्धिघटयोः समानयुक्त्या मूर्तत्वामूर्तत्वे भवतः। तथा च यत् सत् तत् निरवयवमिति विपर्यये बाधकाभावेन यत् सत् तत् सावयवमिति व्याप्त्यसिद्ध्या बुद्धिः सावयवा सत्त्वादिति **चार्वाका**नुमानं खण्डयित्वा बुद्धौ निरवयवत्वं समाधीयते। तथा यत् सत् तत् सावयवमिति विपर्यये बाधकाभावेन यत् सत् तत् निरवयवमिति व्याप्त्यसिद्ध्या घटे सावयवत्वं मया समाधीयते इत्यावयोः तुल्यं समाधानम्।

अपि च स्वतन्त्रसाधनमिदं प्रसङ्गो वा। न प्रथमः, घटादिशब्देन स्थूलेतराणां रूपादीनां परमाणूनां वा पक्षीकरणे सिद्धसाधनात्। स्थूलमेकमभ्यु-

पगम्य पक्षविधौ कालात्ययापदेशात्। अनभ्युपगमे त्वाश्रयासिद्धेरिति। ननु प्रामाणिके भ्युपगमे बाधः स्यात्। सर्वथानभ्युपगमे चाश्रयासिद्धिः स्यात्। न चैवमत्रेति चेत्, तदेतन्नभःस्थलकमलपरिमलसाधनस्यापि साश्रयतामापादयदाश्रय-सिद्धिदोषमोषायेत्यलमनेन।

पर्वतादिवल्लोकप्रतीतिसिद्धान् घटादीनुपादाय निरवयवत्वानुमानं स्यात्। अन्यथा ब्रह्मविवर्त्तादिविप्रतिपत्तिविहततया दहनानुमानमपि पर्वतादौ न स्यादिति चेन्नैवम्, अविरोधात्। न हि ब्रह्मविवर्त्तादिसिद्धावप्याश्रयादयो न्यप्रकाराः सम्भवन्ति। तथाहि, सर्वत्र स्वप्नपर्वते स्वप्नधूमेन स्वप्नवह्निरेव साध्यते। केवलं साम्व ते पि व्यवहारे सत्यान तव्यवस्था स्तीति तस्यां निर्भरः कर्त्तव्यः। इह तु घटादिव्यपदेशेन स्थूल एव यदि पक्षीकृतः, कथं निरवयवत्वेन साध्येन न विरोधः।

[निरवयवत्वानुमाननिराकरणम्]

दूषणान्तरं दातुं सिद्धान्ती प च्छति – **अपि च स्वतन्त्रसाधनमिदम् प्रसङ्गो वा?** घटादयो निरवयवाः सत्त्वादित्यनुमानेन घटादौ निरवयवत्वं सत्त्वहेतुना साध्यते, किं वा यदीदं सत् स्यात् तदा निरवयवं स्यादिति तर्कः क्रियते। तथाच घटादीनां निरवयवत्वसाधनाय उक्तं सत्त्वं स्वतन्त्रसाधनम्, किं वा प्रसङ्गसाधनमिति विकल्पार्थः। तत्र प्रथमं खण्डयितुमाह – **न प्रथमः। घटादिशब्देनेति।** धर्मिवाचकेन घटादिशब्देन स्थूलभिन्नानां रूपरसादिप थिवीपरमाणूनां पक्षीकरणे = तेषां पक्षत्वे सिद्धसाधनात्, ते निरवयवाः सर्वैः स्वीक्रियन्ते। अवयवधारया मेरुसर्षपयोः साम्यवारणाय तस्याः विश्राम आवश्यकः। यत्र विश्रामः स एव परमाणुः निरवयव इत्यत्र न को पि विवादः। तेषु परमाणुषु स्थूलत्वम् अभ्युपगम्य तेषां पक्षीकरणे तु कालात्ययापदेशः बाधितस्तव सत्त्वं हेतुः। स्थूलत्वं सावयवस्यैव भवतीति निरवयवत्वरूपसाध्याभावस्य स्थूले तस्मिन् सत्त्वेन साध्याभाववत्पक्षकत्वस्य बाधस्य तव सत्त्वहेतौ सत्त्वात्। धर्मिग्राहक(स्थूलत्वग्राहक)प्रत्यक्षप्रमाणेन सावयवस्य घटादेः ग्रहणात्, तेनैव तत्र निरवयवत्वस्य बाधात्। स्थूलत्वस्य तत्र अनभ्युपगमे तु पक्षस्य असिद्ध्या 'गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दव'दित्याश्रयासिद्धिः। अतः सत्त्वं तव हेतुः न निरवयवत्वं साधयितुं शक्नोति। तस्य हेत्वाभासत्वात्।

ननु घटादीनां प्रामाणिकत्वं पारमार्थिकत्वं वा मया नाभ्युपगभ्यते, येन बाधः स्यात्। तस्य व्यावहारिकत्वाभ्युपगमात् नाश्रयासिद्धिश्च भवतीति पूर्वपक्षी शङ्कते – **ननु प्रामाणिकाभ्युपगमे बाधः स्यादिति** घटादेः पारमार्थिकत्वे निरवयत्वरूप–साध्याभाववत् सावयवघटादिपक्षकत्वात् निरवयवत्वसाध्यकसत्त्वहेतौ बाधः स्यात्। न चैवम् = न पारमार्थिकत्वं तस्य, किन्तु व्यावहारिकत्वम् अभ्युपगम्यते। तथा च न

बाधः सत्त्वहेतौ। तस्य सर्वथा अनभ्युपगमाभावादिति न आश्रयासिद्धिश्च तस्मिन् हेतौ आपततीति चेत्? घटादीनां व्यावहारिकसत्त्वाभ्युपगमेनैव उक्तदोषाणां परिहारः क्रियते त्वया। तदा गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवद् इत्यनुमाने पि आश्रयासिद्धिदोषो न स्यादिति। समाधत्ते सिद्धान्ती – **तदेतत् नभस्तल-कमल-परिमल-साधनस्यापि साश्रयतामिति** घटादीनां व्यावहारिकम् अभ्युपगम्य यदि आश्रयासिद्ध्यादिदोषो वार्यते तदा गगनकमलपरिमल–साधकस्य अरविन्दत्वस्यापि तस्य व्यावहारिकत्वं साश्रयताम् आपादयत् आश्रयासिद्धिदोषस्य प्रमोषकं स्यात् इत्यलं घटादीनां व्यावहारिकसत्त्वाभ्युपगमेन। इदं कुशकाशावलम्बनं भवताम् इति भावः।

ननु गगनारविन्दादेः तुच्छत्वेन लौकिकव्यवहारासिद्धत्वात्, न व्यवहारिकसत्त्वं तस्य। घटादीनां तु लौकिकव्यवहारसिद्धत्वात् तस्य व्यावहारिकसत्त्वम् अभ्युपगम्यते इत्युभयोः भेदात्। कथं 'गगनारविन्दम् सुरभि, अरविन्दत्वाद् इत्यत्र आश्रयासिद्धिः न स्यादिति? घटादेः व्यावहारिकत्वे विनिगमनाविरहेण गगनारविन्दस्यापि व्यावहारि–कत्वमित्यसिद्धिदोषः कुत्रापि न भवतीति नैयायिकोक्तं न युक्तम्। 'घटेन जलम् आहर' इत्यादिव्यवहारदर्शनेन घटादेः व्यावहारिकत्वम्। गगनारविन्देन 'इदं कार्यं कुरु' इत्यादि–लौकिकव्यवहाराभावेन न तस्य व्यावहारिकसत्त्वमिति व्यवहारस्यैव व्यावहारिकत्वे प्रमाणत्वादिति शङ्कते पूर्वपक्षी – **पर्वतादिवल्लोकप्रतीतिसिद्धानिति** यथा पर्वतादिः लोकप्रतीतिसिद्धः, तथा घटादिः अपि लोकप्रतीतिसिद्धः। गगनारविन्दा–दिस्तु न लोकप्रतीतिसिद्धः। तथा च यथा 'पर्वतो वह्निमान् धूमाद्' इत्यत्र आश्रयासिद्धिः न भवति पर्वतादेः लौकिकव्यवहारसिद्धत्वात्, तथा 'घटादि निरवयवं सत्त्वाद्' इत्यनुभवं भविष्यति, घटादेः लौकिकव्यवहारसिद्धत्वात्। गगनारविन्दस्य लौकिक–प्रतीत्यविषयत्वेन न लौकिकव्यवहारसिद्धत्वमिति 'गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वाद्' इत्यत्र आश्रयासिद्धिर्भवति। पारमार्थिकस्यैव पक्षत्वं न तु व्यावहारिकस्य तथात्वम् इति स्वीकारे तु सर्वेषां जगतां ब्रह्मविवर्तत्वेन पारमार्थिकत्वाभावात्। 'पर्वतो बह्निमान् धूमाद्' इत्यत्रापि आश्रयासिद्धिः स्यात्। पर्वतादेः अपारमार्थिकत्वात्। विवर्तश्च उपादानविषमसत्ताकत्वे सति अन्यथाभावः। सर्वं जगत् ब्रह्मणो विवर्त इत्यादि वेदान्तिविप्रतिपत्तिविहततया जगतां व्यावहारिकत्वे पि पारमार्थिकत्वाभावादिति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **नैवम्। अविरोधात्** इति। घटादेः अपारमार्थिकत्वेन 'घटादिः निरवयवः सत्त्वाद्' इत्यत्र बाधस्य, तथा तत्रैव तस्य व्यावहारिकत्वेन सर्वथानभ्युपगमाभावाच्च आश्रयासिद्धेश्च वारणं न युक्तम्। अविरोधात्। पक्षसाध्यहेतूनां सर्वेषां व्यावहारिकत्वेन पक्षे साध्यस्य सत्त्वेन साध्याभावासत्त्वात्। साध्याभाववत्पक्ष–कत्वाभावेन बाधस्य यथा वारणं यथा वा पक्षस्य व्यावहारिकत्वेन सत्त्वात् आश्रयसिद्धेश्च वारणं भवति तथा 'घटो निरवयवः सत्त्वाद्' इत्यत्र बाध–आश्रयासिद्ध्योः वारयितुम् अशक्यत्वात्। तत्र पक्षसाध्ययोः अविरोधात्। प्रकृते च विरोधात् इत्युभयत्र वैषम्यसत्त्वात्।

स्थूलत्वेन घटादेः सावयवत्वं तत्र त्वया निरवयवत्वं साध्यते इति सावयवत्व–निरवयवत्वयोः विरोधः। पक्षतावच्छेदकेन सह साध्यस्य सहानस्थानात् तत्र कथं न बाधः? निरवयवत्वेन सिद्धे परमाण्वादौ निरवयवत्वसाधने कथं न सिद्धसाधनम्? 'पर्वतो वह्निमान् धूमाद्' इत्यत्र अविरोधं दर्शयति – **न हि ब्रह्मविवर्तादिसिद्धावपीति** ब्रह्मविवर्तादिसिद्धे जगति पक्षसाध्यहेतवो पि ब्रह्मविवर्तरूपा एव संभवन्ति, न तु अन्यप्रकाराः। सर्वेषां विवर्तत्वेन सहानवस्थानत्वस्य सत्त्वात्। सांव ते पि आविद्यके मायिके वा व्यवहारे सत्यान तव्यवस्था अस्तीति तस्यां सत्यान तव्यवस्थायां निर्भरः कर्तव्यः। इह तु घटादिव्यपदेशेन स्थूल एव यदि पक्षीकृतः कथं निरवयवत्वेन साध्येन न विरोधः? अथ परमाण्वादिरेव कथं न सिद्धिसाधनम्? इति। साध्यस्य ब्रह्मविवर्तत्वे पि आश्रयस्यापि ब्रह्मविवर्तत्वेन उभयोः न विरोधः। न वा पक्षतावच्छेदकेन सह साध्यस्य विरोधः। सत्यान तव्यवस्थया उभयोः लोकसिद्धत्त्वात्। 'पर्वतो वह्निमान् धूमाद्' इत्यत्र बाधो न भवति, न वा आश्रयासिद्धिः। 'घटो निरवयवः सत्त्वाद्' इत्यत्र घटादिव्यपदेशेन = घटादिशब्दव्यवहारेण स्थूल एव घटादिः पक्षीकृतः, स्थूलस्यैव प्रत्यक्षत्वात्। तत्र निरवयवत्वेन साध्येन पक्षतावच्छेदक–सावयवत्वरूप–स्थूलत्वस्य सहानवस्थानत्वरूपविरोधात्। परमाणोः धर्मिग्राहकप्रमाणेन निरवयवत्वात्। तत्र निरवयवत्वं साध्यते इति कथं न सिद्धसाधनम्? निरवयवत्वेन सिद्धस्य परमाणोः निरवयवत्वसाधनात्। घटादेश्च वेदान्तिमते पि स्थूलत्वेन सावयवत्वमिति। तत्र निरवयवत्वसाधने सावयवत्वनिरवयवत्वयोः विरोधेन सावयवे न निरयवत्वं वर्तते किन्तु तदभाव एवेति भवति बाधः। वेदान्तिमते पि यदि परमाणुः अस्ति तदा निरवयव एव स न सावयव इति सिद्धसाधनम्। वेदान्तिमतम् अवलम्ब्य परमाणोः विवर्तत्वे पि तस्य निरवयवत्वमेवेति सिद्धसाधनम्।

अथ परमाणुरेव, कथं न सिद्धसाधनम्। विप्रतिपन्नं प्रति न तथेति चेत्, न वै कश्चित् परमाणूनां निरवयवत्वे विप्रतिपद्यते। लोकव्यामोहनिबर्हणाय साधनमिति चेत्, तथापि यं लोकः स्थूलमेकमुपलब्धवान् तस्य पक्षत्वे विरोध एव। ततो न्यस्य पक्षत्वे सिद्धसाधनमेव। एकः स्थूलो यमिति मिथ्येति चेत्, एतदेव तर्हि साध्यताम्। किमनेनाजागलस्तनकल्पेन सत्त्वेन। न च तत्रैवेदं शक्यमुपसंहर्त्तुम्, व्यधिकरणत्वात्। तस्माद्येन रूपेण यस्य पक्षत्वं विवक्षितम्, तेन सिषाधयिषितधर्मविरोधविवादाभ्यां तत्रानुमानप्रव त्तिर्नातो न्यथेति।

नापि द्वितीयः, विपर्ययापर्यवसानात्। न च विवादविषयो निरवयवस्तस्मान्न सन्निति विपर्ययः। न चैवं सावयवत्वं पक्षस्यानिच्छता प्रवर्त्तयितुं शक्यते। न च तत् त्वयेष्यते। न च तस्येष्टौ तेनासत्त्वं शक्यसाधनम्। आश्रयासिद्धेर्विरोधादसाधारण्याद्वा। न च विपर्ययो पि परेष्ट्या प्रवर्त्तत इति।

ननु परमाणुः सावयव इति विप्रतिपन्नं प्रति तत्र निरवयवत्वसाधने न सिद्धसाधनमिति शङ्कते – **विप्रतिपन्नं प्रति न तथेति चेत्?** इति। ये निरवयवं परमाणुं न स्वीकुर्वन्ति तान् प्रति तत्र निरवयवत्वस्य साधने न सिद्धसाधनमिति चेत् उत्तरयति – **न वै कश्चित् परमाणूनां निरवयवत्वं विप्रतिपद्यते** इति। वै = निश्चयेन परमाणूनां निरवयवत्वं न विप्रतिपद्यते। धर्मिग्राहकमानेन तस्य निरवयवत्वमेव स्वीकरोति। शङ्कते – **लोकव्यामोहनिबर्हणाय साधनमिति चेत्?** इति। अस्मिन् जगति यद्यपि कि चिदपि घटादिकं वस्तु न सावयवमस्ति, तथापि लोकाः सावयवत्वेन मुह्यन्ति 'घटादयः पदार्थाः सावयवाः सन्तीति'। तेषां मोहनिवर्तनस्य 'घटादयो निरवयवाः सत्त्वात्', 'यत् सत् तन्निरवयवमिति' चेत्? समाधत्ते – **तथापि यं लोक इति।** अस्तु लोकानां व्यामोहनिवर्तनाय घटादेः निरवयवत्वं साधनं तव, तथापि लोको यं घटादिमेकं स्थूलं च उपलब्धवान्। तस्य घटादेः पक्षत्वे विरोध एव वर्तते। 'घटो निरवयवः, सत्त्वात्' इत्यत्र स्थूलस्य सावयवत्वेन घटे सावयवत्व–निरवयवत्वयोः समावेशासंभवात्। स्थूलघटादेः अन्यस्य परमाणोः पक्षत्वे सिद्धसाधनम्। 'परमाणुः निरवयवः, सत्त्वाद्' इत्यत्र सिद्धसाधनम्। मेरुसर्षपयोः साम्यवारणाय अवयवधाराया विश्राम आवश्यकः अन्यथा अनन्तावयवकत्वेन तयोः साम्यत्वप्रसङ्गात्। यत्र च विश्रामः स निरवयवः परमाणुरिति परमाणोः धर्मिग्राहकप्रमाणेनैव निरवयवत्वस्य सिद्धेः।

ननु स्थूलोपलम्भस्य प्रामाण्ये सति, तत्र निरवयवत्वस्य साधने विरोधो भवति। तस्य स्थूलोपलम्भस्य प्रामाण्यमेव नास्ति कुतो विरोधः निरवयवत्वानुमानं स्थगयिष्यतीति शङ्कते – **एकः स्थूलो यमिति मिथ्येति चेत्?** इति। 'अयं घटादिः स्थूल एकश्च' इति प्रत्ययस्य मिथ्यात्वेन अप्रामाण्यात्, न तस्य निरवयवत्वसाधने विरोधः। अप्रामाण्यनिश्चयानास्कन्दितज्ञानस्यैव विरोधित्वादिति चेत्? समाधत्ते – **एतदेव हि तर्हि साध्यतां, किमनेन अजागलस्तनकल्पेन सत्त्वेनेति।** यदि घटादेः स्थूलत्वप्रत्यक्षस्य अप्रामाण्यादेव तव निरवयवत्वानुमाने विरोधस्य परिहारो भवति। तदा स्थूलोपलम्भस्य मिथ्यात्वमेव साधनीयम्। किं सत्त्वेन निरर्थकेन अजागल–स्तनकल्पेन। तथा च 'घटादयोः निरवयवाः सत्त्वाद्' इत्यनुमाने प्रव त्तस्य तव, सत्त्वेन निरवयवत्वसाधनं न स्वतन्त्रं भवति निष्प्रयोजक चेति भावः।

न च घटादिगतस्थूलोपलम्भस्य मिथ्यात्वम् अनेन घटादिगतसत्त्वेन साध्यते इति वाच्यम्? स्थूलोपलम्भे धर्मिणि उपलभ्य स्थूलाधारघटादिगतसत्त्वस्य असत्त्वेन तत्र स्थूलोपलम्भे मिथ्यात्वस्य अनेन सत्त्वेन साधयितुम् अशक्यत्वात्। अस्य पक्षे असत्त्वेन स्वरूपासिद्धत्वात् व्यधिकरणत्वाच्च। पक्षाव त्तिहेतुना पक्षे केनापि साध्यं न साध्यते। उपसंहरति – **तस्माद् येन रूपेण यस्य पक्षत्वं विवक्षितमिति।** येन रूपेण यस्य अविरोधेन विवादेन पक्षत्वं तत्र पक्षे अनुमानस्य प्रव त्तिः भवति।

अतो न्यथा न अनुमानप्रव त्तिः। घटादौ स्थूलत्वेन पक्षत्वे तत्र निरवयवत्वानुमानस्य प्रव त्तिः न भविष्यति। स्थूलस्य सावयवत्वेन तस्य निरवयवत्वेन विरोधात्, न परमाणौ निरवयवत्वानुमानस्य प्रव त्तिः। परमाणोः निरवयवत्वे कस्यापि विरोधाभावात्। तथा च 'स्थूलो यं घटादिः निरवयवः, सत्त्वाद्' इति तव अनुमानं न युक्तम्। निरवयवत्वेन साध्येन सह पक्षतावच्छेदकस्थूलत्वस्य विरोधात्। न वा 'परमाणुः निरवयवः सत्त्वाद्' इत्यनुमानं तव युक्तम्। परमाणौ निरवयवत्वे कस्यापि विवादाभावात्। 'पर्वतो वह्निमान्' इत्येको वदति, अन्यश्च 'पर्वतो वह्न्यभाववान्' इति। ततश्च विप्रतिपत्तिवाक्यात् संशयो भवति 'पर्वतो बह्निमान् न वेति'। ततो 'वह्निव्याप्यधूमवान् अयं पर्वत' इति निश्चयात् पर्वतो वह्निमान् इत्यनुमितिः प्रवर्तते। अतो न स्वतन्त्रसाधनं सत्त्वमिति बोध्यम्।

घटादीनां निरवयवत्वसाधनाय उक्तं सत्त्वं स्वतन्त्रसाधनं निरस्य तेषां तत्साधनाय सत्त्वं प्रसङ्गसाधनं निरसयितुमाह सिद्धान्ती – **नापि द्वितीयः।** यदीदं घटादि वस्तु सत् स्यात् निरवयवं स्यात् इति प्रसङ्गसाधकं सत्त्वमिति द्वितीयपक्षो न युक्तः। तत्र हेतुमाह – **विपर्ययापर्यवसानात्** इति। विपर्ययस्य पर्यवसानाभावात्। यथा 'धूमो यदि बह्निव्यभिचारी स्यात् बह्निजन्यो न स्याद्' इत्यत्र बह्निजन्यत्वेन बह्निव्यभिचारित्वस्य विपर्ययः बह्निव्यभिचारित्वाभावः पर्यवस्यति। तथा 'यदीदं घटादि सत् स्यात् निरवयवं स्याद्' इत्यत्र निरवयवत्वाभावेन सत्त्वाभावस्य घटे पर्यवसानात् न सत्त्वं प्रसङ्गसाधकं भवितुमर्हति। विपर्ययापर्यवसानम् एव दर्शयति – **न च विवादविषयो निरवयवः, तस्मात् न सन्निति विपर्ययः** इति। निरवयवः तर्केण पक्षे आपाद्याभावेन आपादकाभावः सिद्ध्यति। प्रकृते घटे निरवयवत्वमापाद्यम् आपादक च सत्त्वम्। आपाद्याभावेन = निरवयवत्वाभावेन आपादकस्य सत्त्वाभावस्य यदि पर्यवसानं घटे स्यात् तदा प्रसङ्गसाधकं सत्त्वं स्यात्। तदेव तु न भवति निरवयवत्वाभावेन सत्त्वाभावस्य घटे अपर्यवसानात्। भवन्तो घटे सावयवत्वं न स्वीकुर्वन्ति। विवादविषयो घटादिः तव मते न सावयवः। सावयवत्वाभावात् असत् इति विपर्ययस्य न पर्यवसानम्। विपर्ययपर्यवसानाभावं दर्शयति – **न चैवं सावयवत्वं पक्षस्य अनिच्छता प्रवर्तयितुं शक्यते। न च तत् त्वया इष्यते** इति। पक्षे आपाद्याभावेन व्याप्येन आपादकाभावस्य व्यापकस्य सिद्धिः भवति प्रसङ्गस्थले। एव च घटादिः यदि सन् स्यात् निरवयवं स्यादिति तर्केण घटादौ आपाद्यस्य निरवयवत्वस्य अभावेन आपादकस्य सत्त्वस्य अभावः साधयितुं शक्यते। तच्च न संभवति। निरवयवत्वाभावस्य सावयवत्वस्य व्याप्यस्य घटादौ त्वया सत्त्वं नेष्यते। हेत्वभावेन कथं सत्त्वाभावः सिद्ध्येत्? अत आपादकाभावस्य पर्यवसानं न भवति। अतः सत्त्वं न प्रसङ्गसाधकं भवितुमर्हति।

इष्यतां वा घटादेः सावयवत्वं त्वया, तथापि सावयवत्वेन आपाद्यविपर्ययेण आपादकसत्त्वस्य अभावः साधयितुं न शक्यते इत्याह – **न च तस्येष्टौ तेन असत्त्वं शक्यसाधनम्। आश्रयासिद्धेः विरोधाद् असाधारण्याद् वा** इति। घटे सावयवत्वस्य त्वया इष्टत्वे पि तत्र सावयवत्वेन आपाद्याभावेन सत्त्वाभावरूप–आपादकाभावस्य साधयितुं न शक्यते, (घटादयः असन्तः, सावयवत्वादिति असत्त्वस्य साधयितुं न शक्यते) आश्रयासिद्धेः। स्थूलस्य सावयवस्य आश्रयस्य त्वया अनभ्युपगमेन, आश्रयस्य पक्षस्य असिद्धेः। यदि सावयवं घटं स्थूलम् इत्यभ्युपगम्य तत्र असत्त्वं साध्यते तदा विरोधः स्यात्। घटस्य सत्त्वं स्वीकृत्य तस्य पक्षकरणेन तत्र सत्त्वाभावस्य साधने विरोधः सुस्पष्टः। सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरोधात्। असत्सु च शशविषाणादिषु सपक्षेषु सावयवत्वस्य अभावात् तस्य पक्षमात्रव त्तित्वादिना साधारणत्वात्। पक्षमात्रव त्तिर्हेतुः असाधारणः। एव च प्रसङ्गसाधकं तव सत्त्वरूपहेतुः हेत्वाभासः। न तदभावस्य आपाद्याभावेन साधयितुं शक्यते। तथा असत्त्वं न प्रसङ्गसाधकं भवितुमर्हति।

ननु यद्यपि बौद्धैरस्माभिः घटादेः न सावयवत्वमिष्यते, तथापि त्वया नैयायिकेन तस्य सावयवत्वम् इष्यते, अतः प्रसङ्गः निरवयवत्वाभावरूप–सावयवत्वम् परेष्ट्या प्रवर्तते। तथा विपर्ययस्यापि = सत्वाभावस्यापि परेष्टमात्रेण प्रव त्तौ को विरोधः? पराभ्युपगममात्रेण घटादीनां सावयवत्वे असत्त्वप्रसङ्ग इत्येवं यथा प्रसङ्गसाधनं भवति, तथा उक्तरीत्या विपर्ययापादानमपि स्यादिति शङ्कते – **न च विपर्ययो पि परेष्ट्या प्रवर्तत इति** इति। नहि परेष्ट्या प्रसङ्गे (प्रकृते आपाद्यस्य निरवयव–त्वस्य अभावरूपसावयवत्वस्य घटे स्वीक्रियमाणे) तद्विपर्ययो पि (सत्त्वा–भावरूप–आपादकाभावो पि परेष्ट्या प्रवर्तते इति) युज्यते, विरुद्धत्वात्। सत्त्वेन स्वीकृते घटादौ, सत्त्वाभावः कथं स्वीकरणीयः? सत्त्वासत्त्वयोः उभयोः विरोधात्। यत्र विरोधो भवति तस्य परेष्ट्या पि न स्वीकारो भवति। असत्त्वेन सत्त्वस्य विरोधात् कथं घटादौ असत्त्वं स्वीकरोमि? सावयवत्वस्य तु निरवयवत्वरूप–आपाद्याभावस्य प्रसङ्गस्य तु घटादेः न विरोधः। स्वेन स्वस्य अविरोधात्। पक्षतावच्छेदकेन स्थूलत्वेन सह सावयवत्वस्य अविरोधात्। सावयवत्वरूपप्रसङ्गः तत्र स्वीक्रियते इति भावः।

कः पुनरवयविनि न्यायः। तत् किं प्रत्यक्षान्न्यायो गरीयान्। यद्येवम्, बुद्धावेव को सौ। तस्मादसारमेतत्।

तथापि यन्निरस्तसमस्तविरुद्धधर्माध्यमासं तदेकमेव व्यवहर्त्तव्यम्, यथा विज्ञानम्। तथा च विवादाध्यासित एकस्थूलो नुभावगोचर इति स्वभावहेतुः। तावन्मात्रानुबन्धित्वादेकताव्यवहारस्य। न ह्ययमेकव्यवहारो निर्मिमित्तो नि-यमप्रसङ्गात्। नाप्यन्य निमित्तः, दुवकठिन शीतोष्णादावपि तथा व्यवहारप्रसङ्गात्।

अस्तु तर्हि बाह्येष्वर्थेषु नित्यसन्देहः। तथ्यातथ्यविभागस्याशक्यत्वादिति चेत्, न तावत् सर्वस्य यथार्थत्वादेव विभागो नुपपन्नः, उत्तरविरोधात्। तथाहि विपरीतमवगतं मयेति लौकिकी प्रतिपत्तिः अन्यथाख्यातिरिति च वैनयिकी यथार्था न वा, उभयथाप्युत्तरेण न सर्वयाथार्थ्यसिद्धिः।

एवं प्रत्यक्षतो वयविनि साधिते पि, अनुमानं विना अवयविरूप– साध्यसिद्धिम् अनुपपन्नां मन्वानः कश्चित् सिद्धान्तिनं प च्छति – **कः पुनरवयविनि न्यायः?** इति। अवयविनः सत्त्वे किमनुमानमिति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **तत्किं प्रत्यक्षान्न्यायो गरीयान्? यद्येवं बुद्धावेव को सौ? तस्मादसारम् एतत्** इति। प्रत्यक्षेण अवयवसिद्धौ न न्यायापेक्षा। प्रबलप्रमाणसिद्धे वस्तुनि दुर्बलप्रमाणेन कर्तव्यान्तराभावात्। प्रबल च अन्यप्रमाणेभ्यः प्रत्यक्षम्, ज्येष्ठत्वाच्च। प्रत्यक्षादनुमानस्य गरीयस्त्वे ज्ञानाद् भिन्नानाम् अवस्तुत्ववादिनो **योगाचारस्य** बुद्धावेव को सौ न्यायः (अनुमानम्)? तस्याः स्वसंवेद्यत्वेन तस्यां प्रत्यक्षप्रमाणस्यैव तेन स्वीकृतत्वात्। ज्ञानमात्रवादिनः तव ज्ञानसद्भावे पि को सौ न्यायः, येन ज्ञानमपि तावत्सिद्ध्यति? न हि ज्ञानसद्भावे पि प्रत्यक्षाद् अन्यत् प्रमाणमस्तीति भावः। तस्मात् अयं प्रश्नः तव न युक्तः।

पिशाचः पिशाचभाषयैव बोधितो भवतीति पररीत्येव अनुमानमाह – **तथापि यन्निरस्त-समस्त-विरुद्धधर्माध्यासं तदेकमेव व्यवहर्तव्यं, यथा विज्ञानम्। तथा च विवादाध्यासित एकस्थूलानुभवगोचर इति स्वभाव- हेतुः। तावन्मात्रानुबन्धित्वाद् एकताव्यवहारस्य। न ह्ययमेकव्यवहारो निर्निमित्तः अनियमप्रसङ्गात्। नापि अन्यनिमित्तः, द्रवकठिनोष्णशीतादौ अपि तथा व्यवहारप्रसङ्गात्** इति। यद्यपि प्रत्यक्षसिद्धे न्यायापेक्षा नास्ति तथापि भवतः सन्तोषार्थं न्याय उच्यते मया। **न्यायसिद्धेः** प चविधग्रहणाग्रहणादि–विरुद्धधर्माध्यासखण्डनावसरे निरस्तः समस्तः विरुद्धधर्माध्यासो यस्य तत् अवयविरूपं वस्तु यत् तत् एकमेव व्यवहर्तव्यम्, यथा विज्ञानम्। तथा च विवादाध्यासितः (घटाद्यवयवी) एकः स्थूलो नुभवगोचर इति स्वभावहेतुः। धान्ये एकत्व–महत्त्व–विरहे पि एको महान् धान्यराशिः इति व्यवच्छेदार्थं व्याप्तिं द्रढ़यति – **तावन्मात्रेति।** स्वभावमेव वा दर्शयति **तावन्मात्रेति।** अवयविमात्रानुबन्धित्वात् (अवयवि– विरुद्धधर्माध्यासाभावानुबन्धित्वात्) (घटादौ) एकताव्यवहारस्य। अवयविन एकत्वेन अयमेक इति व्यवहारः सिद्ध्यति। परमाणूनाम् अनेकत्वेन तत्रैक इति व्यवहारो न सिद्ध्येत्। अतः अवयवेभ्यो भिन्नो अवयवी स्वीकार्यः। अवयविभिन्नानु–बन्धित्वमेकत्वव्यवहारे दर्शयति अन्यथासिद्धिं वा निरस्यति – **न ह्ययमेकेति।** अयमेक इति व्यवहारो न निर्निमित्तकः। अन्यथा अनियमप्रसङ्गात्। कारणाभावे सर्वत्रैकत्वव्यवहारोपपत्तेः। नापि अवयविनि विरुद्धधर्माध्यासाभावाद् अन्यनिमित्तकः एक इति व्यवहारः। अन्यथा द्रवकठिनयोः, उष्णशीतयोः इत्यत्रापि एकत्वव्यवहारापत्तेः। जलपाषाण–अग्न्यादौ एकत्वव्यवहारापत्तेरिति भावः। विरोधस्य अपरिहारेण नैव

भवति तत्रैकत्वव्यवहारः। अवयविग्रहणाग्रहणयोः विरोधस्य परिहारेण एकत्वव्यवहारो भवतीति भावः। अनुमानाकारश्चायम् – यत् निरस्तसमस्त– विरुद्धधर्माध्यासम्, तत् एकमेव व्यवहर्तव्यम्, विवादाध्यासितैकस्थूलानुभवगोचरत्वात् यथा विज्ञानम् इति। अथवा निरस्तसमस्तविरुद्धधर्मग्रस्तश्च विवादविषयः एकः स्थूल इत्यनुभवविषयः इत्युपनयाकारः। तस्मात् घटादिरेकः स्थूल इति व्यवहर्तव्यः इति निगमनाकारः। एकस्थूलानुभवगोचरत्वात्, विज्ञानवदिति। बौद्धाः त्रीन् अवयवान् स्वीकुर्वन्ति प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि, अथवा उदारणोपनयनिगमनानि इति।

[बौद्धीयबाह्यसन्देहनिराकरणम्]

बाह्यपदार्थे सन्देहः 'बाह्यं सत्त्वं न वेति' विप्रतिपत्तिवाक्यत इति शङ्कते – **अस्तु तर्हि बाह्येषु सत्त्वेषु नित्यसन्देहः[३], तथ्यातथ्यविभागस्य अशक्यत्वादिति चेत्?** इति। बाह्येषु पदार्थेषु असत्त्वसंशयः तथ्यातथ्यविभागस्य अशक्यत्वात्। इदं सत्त्वम् इदमसत्त्वमिति विवेकस्य कर्तुम् अशक्यत्वात् इति चेत्? यद्यपि अपह्नवहेतूनां दुष्टत्वात् न बाह्यापह्नवः सिद्ध्यति। तथापि न निश्चितबाह्यसद्भावः सिद्ध्यति। किन्तु बाह्यपदार्थो स्ति न वेति सन्देह एव तत्त्वातत्त्वयोः सत्यत्वासत्यत्वयोः विवेकस्य कर्तुम् अशक्यत्वादिति शङ्का। सिद्धान्ती उत्तरे विरोधमेव दर्शयति – **न तावत् सर्वस्य यथार्थत्वादेव विभागो नुपपन्नः, उत्तरविरोधात्। तथाहि विपरीतमवगतं मयेति लौकिकी प्रतिपत्तिरित्यादि।** बाह्ये पदार्थे अयं यथार्थो यथार्थो वेति विभागस्य कर्तुम् अशक्यत्वेन बाह्ये पदार्थे असत्त्वस्य संशयो भवति। बाह्यः पदार्थो सत्त्वं न वेति बौद्धोक्तं न युक्तम्। पदार्थस्य यथार्थत्वादेव तस्य विभागः = अयं यथार्थः, अयमयथार्थ इति विभागो नोपपद्यते इति कथनं न युक्तम्। उत्तरस्य विरोधात्। तथाहि, 'मया विपरीतम् अवगतम्' इति लौकिकानां विपरीतज्ञानविषयकम् ज्ञानम् अन्यथाख्यातिरूपं जातम्। नयविदां परीक्षकाणां च तदभाववति तत्प्रकारकं विज्ञानम् अयथार्थम्। तदेव अन्यथाख्यातिरूपं जातम्। तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानम् अन्यथाख्यातिरूपं भवति। तथाच अयथार्थज्ञानस्य लोकाः विपरीतम् अवगतमिति शब्देन व्यवहारन्ति। परीक्षकाश्च अन्यथाख्यातिशब्देन व्यवहरन्ति। एतावान् विशेषः। न तु विपरीतज्ञाने विशेषः। इयम् उभयेषां प्रतीतिः यथार्था न वा? यथार्थत्वे स्वविषयीभूतायथार्थग्राहिणः प्रत्ययस्य यथार्थत्वेन स्वविषयीभूतस्य ज्ञानस्य अयथार्थत्वं सिद्ध्यतीति यथार्थत्वस्य (तत्त्वस्य) विभागः कर्तुं शक्यते। तस्य अयथार्थविषयज्ञानस्य अयथार्थत्वे तस्यैव अयथार्थत्वात् सर्वायथार्थसिद्धिर्न भवति। तथा च अयथार्थस्य विभागः कर्तुं न शक्यते इति कथयितुम् अशक्यम्। एताद शशब्दव्यवहारं प्रति अयथार्थज्ञानस्य कारणत्वात्, ज्ञानं प्रति च विषयस्य कारणत्वाच्च। एव च यथार्थत्वायथार्थत्वाविभागस्य कर्तुमशक्यत्वेन सर्वेषु बाह्येषु पदार्थेषु असत्त्वसंदेह

इति कथयितुं न शक्यते। ताद शायथार्थविषयकज्ञानस्य यथार्थत्वे अयथार्थत्वस्य सुग्रहत्वात्। तस्य अयथार्थत्वे अयथार्थत्वासिद्धेः।

शब्दासंलापमात्रमेतन्न प्रतीतिरिति चेन्न, विवादानुपपत्तेः। न हि व्यवहारमात्रे परीक्षकाणां विवादः। न च नायमस्तीति। शब्दार्थे विवाद इति चेत्, एवं सत्यप्रतीतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् पराभिप्रायनिषेधार्थत्वाच्च विवादस्य, अभ्युपगन्त प्रतिषेद्धोः प्रतिषेध्यप्रतीतिः कथं नास्तीति।

न चान्यज्ञानादन्यत्र प्रव त्तिसम्भवो तिप्रसङ्गात्। न च तज्ज्ञानसान्निध्यं नियामकमतिप्रसङ्गादेव। न च तत्सहितो भेदाग्रहः, अग्रहप्राधान्ये भेदाविवक्षायां निव त्तेरपि प्रसङ्गात्। तद्धेतोरभेदाग्रहस्यापि विद्यमानत्वात्। नासौ निवर्त्तकः, अपि तु भेदग्रह इति चेन्न। रजत एव नेदं रजतमिति कृत्वा न निवर्त्तेत, भेदग्रहस्य तत्कारणस्याभावात्। भावे वा विपरीतख्यातिरभिन्ने भेदप्रत्ययात्। तस्मात् प्रवर्त्तकवन्निवर्त्तको प्यग्रह एव तेषां स्वीकर्त्तुमुचितः। तथा च स दोषस्तदवस्थ एव।

अथ भेदः प्रधानम्, अङ्गमग्रहः। तदा सत्यरजतज्ञानाद्रजते न प्रवर्त्तेत। इदमंशरजतांशयोर्भेदाभावादिति स्वयमूहनीयम्।

ननु सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वेन विपरीतज्ञानमेव असिद्धमिति मया विपरीतम् अवगतमिति न विपरीतज्ञानविषयकं ज्ञानं येन तस्य प्रामाण्याप्रामाण्याभ्यां यथार्थत्वायथार्थत्वयोः सिद्ध्यसिद्धी भवतः। विपरीतं मया अवगतमिति शब्दमात्रमिति शङ्कते पूर्वपक्षी – **शब्दसंलापमात्रमेतत्, न प्रतीतिरिति चेत्?** इति। विपरीतं मया अवगतमिति अन्यथाख्यातिविषयकः केवलः शाब्दिको व्यवहारः, न तु विपरीत–ज्ञानविषयकं ज्ञानम्। तथा च तथ्यातथ्यविभागस्य कर्तुम् अशक्यत्वादिति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **न। विवादानुपपत्तेरिति।** स्वसिद्धान्तविपरीताभिधायिनि हि शब्दे परेण प्रयुक्ते तदर्थे एव परीक्षकाणां विवाद उपपद्यते न केवलं शब्दव्यवहारे। तथा च विवदमानयोः अन्यतरस्य तदर्थविषयकं यथार्थज्ञानम् अपरस्य अयथार्थज्ञानमिति न सर्वेषां ज्ञानानां यथार्थत्वमेव सिद्ध्यतीति रहस्यम्। ननु विवाद एव नास्तीति चेत्? तत्राह – **न च नायमस्तीति**। विवादो नास्तीति वक्तुं न शक्यते, तस्य अतिप्रसिद्धत्वात्।

ननु शब्दमात्रे न विवादः, विपरीतावगतिरिति शब्दार्थे विवाद इति शङ्कते – **शब्दार्थे विवाद इति चेत्?** तथा च विपरीतज्ञानविषयकज्ञानाभावेन न विपरीतस्य अतत्त्वस्य असत्त्वस्य सत्त्वाद् विभागः कर्त्तुं शक्यते इति बाह्यार्थस्य असत्त्वसन्देहः तदवस्थ इति चेत्? स्वसिद्धान्तविरुद्धस्य अर्थस्य अज्ञानेन तस्य निषेधयितुमशक्यत्वात्। न हि को पि अज्ञातार्थं निषेधति इत्युत्तयरति सिद्धान्ती – **एवं सति अप्रतीतस्य**

निषेद्धुम् अशक्यत्वात् इति। तथा च विपरीतावगतिः इति पदस्य अर्थो विपरीतावगमः प्रतीतो भवता। अप्रतीतस्य निषेद्धुम् अशक्यत्वात् न केवलं भवतो विपरीतावगतिविषया प्रतीतिर्वर्तते, अपितु अस्माकमपि विपरीतावगतिविषया प्रतीतिरस्तीति भवता अभ्युपगन्तव्यम्, इत्याह – **पराभिप्रायनिषेधत्वाच्च विवादस्य, अभ्युपगन्त - प्रतिषेद्धोः प्रतिषेध्यप्रतीतिः कथं नास्तीति?** इति। विपरीतावगतिः अस्तीति परस्य यो भिप्रायः = ज्ञानम्, तन्निषेधार्थत्वाद् विवादस्य। परज्ञानविषयनिषेधाय विवादो भवति। विपरीतावगमप्रतिषेधे (सति) प्रतिषेध्ये विपरीतावगमे (सति) प्रतीतिः परस्य नाभ्युपगतेति। तथा च कथं तन्निषेधः कर्तुं शक्यते इति भावः। तथा च विपरीतं मया अवगतम् इति विपरीतज्ञाने प्रमाणमिति प्रमाणिकज्ञानविषयीभूतस्य असत्त्वस्य निश्चितत्वेन कथं बाह्यपदार्थे सत्त्वस्य संशयो? निश्चयस्यैव सत्त्वात्। एव च अस्तु तर्हि बाह्येषु सत्त्वेषु नित्यत्वसन्देहः। तथ्यातथ्यविभागस्य अशक्यत्वादिति कथनं बौद्धस्य न युक्तम्। अथवा **एवं सत्यप्रतीतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्** इति। 'शुक्तौ इदं रजतमिति' विपरीतज्ञानं नैयायिकाः विशिष्टज्ञानं प्रवर्तकम् वदन्ति। मीमांसकाः ,तदग हीतभेदं ज्ञानद्वयम्। (शुक्तौ रजतम् इत्यत्र) इदं पदार्थे प्रत्यक्षं रजतांशे स्मरणं, द्वयोः भेदाग्रहेण प्रव त्तिः। ताद शविपरीतज्ञाने विवादः 'इदं विपरीतज्ञानमेकं विशिष्टज्ञानं प्रत्यक्षस्मरणात्मकं ज्ञानद्वयम्' इति। तथा च विशिष्टज्ञानं भ्रमात्मकं यन्निषिध्यते तदभ्युपगन्त्रा नैयायिकेन प्रतिषेघ्यम्, मीमांसकेन च अवश्यं प्रत्येतव्यम्।

तथा च प्रतिषेध्यविपरीतज्ञानविषये शुक्तिरजते असत्यत्वस्य निश्चयात् तद्भिन्ने घटादिबाह्ये पदार्थे सत्यत्वनिश्चयाच्च कथं बाह्ये पदार्थे सत्यत्वासत्यत्वयोः अविभागः? कथं वा असत्यसन्देह इति संगच्छते बौद्धस्य। अयथार्थज्ञानं प्रतिषेद्धुमपि न शक्यमित्याह – **न च अन्यज्ञानाद् अन्यत्र प्रव त्तिसंभवः, अतिप्रसङ्गात्** इति। शुक्तौ रजतज्ञानात् आपणस्थे रजते न प्रव त्तिसंभवः। यत्र यस्य ज्ञानं तस्मिन् देशे तदर्थी प्रवर्तते इति द श्यते। अन्यज्ञानस्य अन्यत्र प्रवर्तकत्वे अन्यत्वाविशेषेण, शुक्तौ इदं रजतमिति ज्ञानम् आपणस्थरजते इव घटादावपि प्रवर्तयेत्। तथा च पुरोवर्तिनि हि शुक्तिशकले यदि रजतज्ञानं न स्यात् किन्तु देशान्तरकालान्तरवर्ति रजतस्मरणं स्यात्, तदा अन्यत्र पुरोवर्तिनि शुक्तिशकले प्रव त्तिर्न भवेत्। भवति च प्रव त्तिः, अतो विशिष्टज्ञानमेव, न ज्ञानद्वयमिति विपरीतं ज्ञानम् अवश्यं मन्तव्यम्।

ननु यज्ज्ञानसान्निध्यं यस्य ज्ञानस्य तद्विषये तज्ज्ञानं प्रवर्तकम् इति स्वीकारेण न तत्र दोषः। रजतज्ञाने पुरोवर्तिविषयकज्ञानसान्निध्यम् एवास्तीति पुरोवर्तिनि शुक्तौ एव 'इदं रजतम्' इति ज्ञानं प्रवर्तकं भविष्यति इति शङ्कते – **न च तज्ज्ञानसांनिध्यं नियामकम्** इति। समाधत्ते– **अतिप्रसङ्गादेव** इति। पुरोवर्तिलोष्ठ– ज्ञानसांनिध्ये लोष्ठे पि 'इदं रजतम्' इति ज्ञानात् प्रव त्तिप्रसङ्गात्। तथा च शुक्तौ रजतमितिज्ञानात् शुक्तिवल्लोष्ठे पि रजतार्थिनः प्रव त्तिप्रसङ्गात्। इदमर्थक–

(शुक्ति)ज्ञानस्य इव तद्देशव त्तिलोष्ठज्ञानस्यापि रजतज्ञानसांनिध्यात्। ननु तज्ज्ञान–सांनिध्यसहितेष्टभेदग्रहः प्रवर्तक इति नियमस्वीकारे नोक्तदोषः। चाकचक्यादिना (शुक्तौ) इदमर्थविषयकज्ञानेन रजतस्मरणस्य इष्टविषयकस्य भेदाग्रहात् शुक्तिशकले रजतभेदाग्रहे शुक्तौ प्रव त्तिः लोष्ठे भेदग्रहे च अप्रव त्तिः। इदमर्थे प्रव त्तिः लोष्ठे न प्रव त्तिः। लोष्ठज्ञानेन सह इष्टरजतज्ञानस्य भेदाग्रहाभावादिति मनसिकृत्याह – **न च तत्सहितो भेदाग्रहः** (नियामक इति शेषः)। समाधत्ते – **अग्रहप्राधान्ये भेदाविवक्षाया निव त्तेरपि प्रसङ्गादित्यादि।** तज्ज्ञानसहितभेदाग्रहस्य प्रव त्तिं प्रति कारणत्वम् इत्यत्र अग्रहस्य प्राधान्ये (शुक्तौ) पुरोवर्तिनि रजतभेदाविवक्षायां तत्र निव त्तेरपि प्रसङ्गात्। यत्र भेदाग्रहाभावः तत्र भेदग्रहाभावो पि वर्तते। भेदस्य अविवक्षितत्वेन यथा भेदाग्रहः तथा अभेदस्य अविवक्षितत्वेन अभेदग्रहाभावः इति अभेदस्य कारणस्य असत्त्वेन इदमर्थे शुक्तिशकले इदं रजतमिति ज्ञानात् रजतार्थिनो निव त्त्यापत्तेः। निव त्तिहेतोः अभेदाग्रहस्यापि विद्यमानत्वात्।

ननु इष्टभेदाग्रहो न निवर्तकः लाघवात् इष्टभेदग्रह एव। स च प्रकृते नास्तीति नोक्तदोष इति शङ्कते – **नासौ निवर्तकः, अपि तु भेदग्रह इति चेत्?** इति। इष्टाभेदग्रहाभावो न निवर्तकः, किन्तु इष्ट– भेदग्रह एव लाघवात् निवर्तकः इति नोक्तदोषः। इदमर्थे शुक्तिशकले इष्टरजतभेदग्रहस्य असत्त्वादिति चेत्? समाधत्ते – **न। रजते एव नेदं रजतम् इति कृत्वा न निवर्तेत। भेदग्रहस्य तत्कारणस्य अभावात्। भावे वा विपरीतख्यातिः अभिन्नेभेदप्रत्ययात्। तस्मात् प्रवर्तकवत् निवर्तको पि अग्रह एव तेषां स्वीकर्तुमुचितः। तथा च स दोषः तदवस्थ एव** इति। रजते नेदं रजतमिति ज्ञाने सति तत्र रजतभेदस्य असत्त्वेन (रजते रजतभेदज्ञानस्य निवर्तकस्य अभावेन) रजते निव त्तिः स्यात्।

ननु रजतं रजतभिन्नमिति ज्ञाने जाते (रजतं रजतज्ञानं वा) तत्र रजतभेदग्रहस्य रजतनिवर्तकस्य सत्त्वेन निव त्तिरुपपद्यते। कारणसत्त्वेन कार्यस्य सत्त्वादिति मनसिकृत्य दोषान्तरम् अभिधातुम् आह – **भावे विपरीतख्यातिः, अभिन्ने भेदप्रत्ययात्** इति। रजते भ्रमात्मकरजतभेदग्रहस्य रजतनिवर्तकस्य स्वीकारे च विपरीतख्यात्यापत्तेः। रजताभिन्ने रजतभेदप्रत्ययात् विपरीतख्यातिश्च त्वया असत्ख्यातिवादिना न स्वीक्रियते इति स्वसिद्धान्तभङ्गापत्तेः। तथा च इष्टाभेदाग्रहः प्रवर्तक इव निवर्तको पि तेषां इष्टसांनिध्यसहितभेदाग्रहस्य प्रवर्तकत्वमिति वादिनां स्वीकर्तुमुचितः। तथा च शुक्तौ इदं रजतमिति ज्ञानं यथा प्रवर्तकं तथा निवर्तकमपि स्यात्। तथा च तत्र शुक्तिशकले रजतार्थिनः इदं रजतमिति ज्ञानं न प्रवर्तेत वा न निवर्तेत। सा निव त्तिः नेष्टा। अतो विशिष्टज्ञानमेव प्रवर्तकं न तु भेदाग्रहः प्रवर्तकः इति स्वीकार्यमिति भावः। तथा च विपरीतं मया अवगतमिति निश्चयविषयीभूतस्य विपरीतज्ञानस्य अवश्यमन्तव्यत्वेन तद्विषयस्य असत्यत्वस्य अनिश्चयात्। 'नायं घटः' इति निश्चयीभूतज्ञानविषये घटे

बाह्ये असत्त्वसन्देहः, विपरीतज्ञानाविषयत्वात्। अतो बाह्ये पदार्थे असत्यत्वसन्देहस्य बौद्धीयस्य युक्तत्वमेव बोध्यम्।

ननु पुरोवर्तिनि इदं पदार्थे रजतस्य यथार्थभेदो स्ति। तत्रैव भेदाग्रहात् इदं रजतमिति ज्ञानं प्रवर्तकं नान्यत्रेति। ययोः वास्तविको भेदो भवति तत्रैव भेदाग्रहः प्रवर्तक इति शुक्तिशकले रजतभेदस्य वास्तविकस्य सत्त्वेन तत्र रजतभेदाग्रहात् इदं रजतमिति ज्ञानेन प्रव त्तिः। शुक्तौ रजतभेदस्य वास्तविकत्वेन तत्र रजतभेदाविवक्षायां वास्तविकभेदस्य सत्त्वेन न निव त्तिः। यत्र भेदस्य प्राधान्यं तत्र प्रव त्तिः, यत्र न प्राधान्यं तत्र न प्रव त्तिः। भेदस्य प्राधान्य च प्रव त्तिविषयनिष्ठत्वम्। तथा च नोक्तदोष इति मनसिकृत्याह – **अथ भेदः प्रधानम्, अङ्गम् अग्रहः** इति। प्रव त्तौ वास्तविकभेदः प्रधानप्रवर्तकः, भेदाग्रहश्च अप्रधानप्रवर्तकः इति शङ्का। समाधत्ते – **तदा सत्यरजतज्ञानाद् रजते न प्रवर्तेत, इदमंश-रजतांशयोः भेदाभावाद् इत्यादि स्वयमूहनीयम्** इति। रजते रजतभेदस्य प्रधानप्रवर्तकस्य असत्त्वेन तत्रेदं रजतम् इति ज्ञानात्प्रव त्त्यनुपपत्तिः, अतो भेदस्य न प्राधान्यं मन्तव्यम्। अप्राधान्ये तस्य पूर्वोक्तदोष आक्रामति। अतो विपरीतज्ञानं विशिष्टमेव, न तु भेदाग्रहसहितज्ञानद्वयमिति। विपरीतज्ञाने सिद्धे बाह्यपदार्थे असत्त्वसन्देहकथनं बौद्धस्य न युक्तम्। ताद शभ्रम– विषयस्यैव असत्त्वात्। प्रमात्मकज्ञानविषयस्य सत्त्वाच्च सत्त्वासत्त्वविभागस्य सुवचत्वात्।

प्रव त्तिवत् प्रतिपत्तावप्युभयाग्रहस्तुल्य इति चेन्न। अग्रहस्याविविवक्षितत्वात्। सामग्रीविशेषादेव तत्सिद्धेः। तत्त्वे परिस्फुरतीति तु नियमः। न च क्वचिदपि भेदाभेदावुभावपि तत्त्वं यतस्तथा स्यादित्येषा दिक्।

नापि सर्वस्यायथार्थत्वात्, तद्ग्राहकस्य यथार्थत्वायथार्थत्वाभ्यामुत्तर विरोधात्। तत् कि चित् प्रमाणं कि चिदप्रमाणमिति विभाग एव वस्तुगतिः। न चासौ प्रतीतिगतिमवधूय व्यवहारगोचरः।

शङ्कते – **प्रव त्तिवत् प्रतिपत्तावप्युभयाग्रहस्तुल्य इति चेत्?** इति। भेदाग्रहस्य प्रव त्तिं प्रति कारणत्वमिति स्वीकारे इदं रजतम् इति भ्रमविषये रजते यथा प्रव त्तिः तथा निव त्तिरपि युगपद् भवेत्। यत्र भेदग्रहाभावः तत्र अभेदग्रहाभावो पि वर्तत एव। तथा च भेदाग्रहात् प्रव त्तिः, अभेदग्रहाभावात् निव त्तिश्च तत्र युगपद् भविष्यतः। उभयोः कारणयोः सत्त्वात्। तथा च यथा भेदाग्रहात्प्रव त्तौ अभेदाग्रहान्निव त्तिः प्रस जिता तथा भेदाग्रहादभेदे प्रतीतौ अभेदाग्रहात्प्रतीतिरपि प्रसज्ज्येतेति तवापि समानो दोषः। एव च इदं रजतमिति नैयायिकाभिमतभ्रमे शुक्तिरजतयोः भेदज्ञानाभावात् अभेदज्ञाने, तयोः अभेदज्ञानस्य अभावाद् उभयोः तयोः भेदज्ञानम् अपि स्यात्। तथा च कथम् अयथार्थज्ञानसिद्धिरिति चेत्? समाधत्ते – **न। अग्रहस्य अविवक्षितत्वादिति,** न पूर्वोक्तदोषः। भेदाग्रहस्य अभेदज्ञानं प्रति कारणत्वस्य अविवक्षितत्वात्, किन्तु

सामग्रीविशेषादेव अभेदग्रहसिद्धेः। शुक्तौ इदं रजतमिति भ्रमः चाकचक्यात्, रजतस्मरणे दूरादिदोषाच्च शुक्तेः असाधारणधर्माज्ञाने सति भवति। अधिष्ठानासाधारण–धर्मज्ञानाभावसहित–रजतस्मरणरूपज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिः तयोरभेदज्ञानं कारणम्। न तु तयोः भेदाग्रहः कारणम्। तथा च त्वदुक्तदोषस्य अवसरः। किं च अधिष्ठानस्य असाधारणधर्माज्ञाने सति भ्रमज्ञानं भवति इति मनसिकृत्याह – **तत्त्वे परिस्फुरतीति तु नियमः** इति। भ्रमज्ञानं प्रति अधिष्ठानासाधारणज्ञानाभावः कारणम्। तथा च अधिष्ठानासाधारणज्ञानाभावे सति अतत्त्वज्ञानं (भ्रमात्मकज्ञानं) भवतीति क्वचिद् भ्रान्तिः क्वचिद् भेदभ्रान्तिर्वेति नियमः। न तु सर्वत्र भेदाभेदयोः उभयोः ज्ञानमिति मनसिकृत्याह – **न च क्वचिद् भेदाभेदावुभावपि तत्त्वमिति** अयथार्थज्ञानम् अधिष्ठानासाधारणज्ञानाभावाद् भवति। तच्च क्वचित् शुक्तौ इदं रजतमित्यभेदग्राहि भवति, क्वचिद् रजते नेदं रजतमिति भेदग्राहि भवति। न तु युगपद् भेदाभेदग्राहि भवति। अतो नैकत्र भेदाभेदग्राहि प्रतीतिप्रसङ्गः। एवं प्रकारिका एषा भेदाग्रहस्य प्रव त्तिहेतुत्वे दूषणोक्तिरिति दिक्।

ज्ञानस्य यथार्थायथार्थत्वाभ्यां विभागो नुपपन्नः, सर्वस्य ज्ञानस्य अयथार्थत्वादिति मनसिकृत्याह – **नापि सर्वस्य अयथार्थत्वात्** इति। अत्र विभागो नुपपन्न इति दीर्घद ष्ट्या अनुषङ्गः कर्तव्यः। समाधत्ते – **तद्ग्राहकस्येति** सर्वज्ञानायथार्थ–त्वग्राहकज्ञानस्य यथार्थत्वे सर्वज्ञानस्य अयथार्थत्वमिति तव कथनम् असङ्गतम् विरोधात्। सर्वज्ञानस्य अयथार्थत्वे तद्ग्राहकस्य कथं यथार्थत्वं यथार्थायथार्थत्वयोः सहानवस्थानात्। सर्वज्ञानायथार्थत्वग्राहकज्ञानस्य अयथार्थत्वे तु तद्ग्राहकज्ञानस्य अप्रामाण्ये तज्ज्ञानं वस्तुसाधकं भवितुम् अर्हतीति सर्वज्ञानस्य अयथार्थत्वासिद्धिः। अतः सर्वज्ञानस्य न यथार्थत्वं न वा अयथार्थत्व च भवति। किन्तु गुणेन यथार्थत्वं दोषेण अयथार्थत्व च भवतीति मन्तव्यमिति मनसिकृत्याह – **तत् कि चित्प्रमाणं कि चिदप्रमाणमिति विभाग एव वस्तुगतिः** इति। तत् इत्यत्र **तस्मादि**ति पाठः **मिश्र**सम्मतः। तस्मात् कि चित्प्रमाणं ज्ञानम्, कि चिदप्रमाणं ज्ञानम्। न तु सर्वं ज्ञानं प्रमाणमेव भवति। अन्यथा सर्वं ज्ञानम् अप्रमाणम् इत्यस्य असिद्ध्यापत्तेः। एतद्ग्राहकज्ञानस्य प्रमाणत्वे सर्वज्ञानम् अप्रमाणम् इत्यसिद्धिः। तस्य अप्रमाणत्वे सर्वज्ञानम् अप्रमाणमिति न सिद्ध्यति। प्रमाणाधीना हि प्रमेयसिद्धिः न अन्यथेति सर्वसिद्धत्वात्। अतो यत्र गुणः तज्ज्ञानं प्रमाणम्, यत्र गुणाभावो दोषो वा तदप्रमाणमिति ज्ञानस्य यथार्थत्वायथार्थत्वाभ्यां विभागः समुचित एव। न तु सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वम्। ननु तथ्यातथ्यविभागस्य व्यवहारः सिद्ध्यतु न तु प्रतीतेरपीत्यत आह – **न च असौ प्रतीतिगतिमवधूय व्यवहारगोचरः** इति। ज्ञानस्य यथार्थत्वायथार्थत्वविभागः ज्ञानस्य प्रामाण्याप्रामाण्ययोः प्रतीतिं तिरस्कृत्य न व्यवहारगोचरः = न प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवहारः। तद्व्यवहारं प्रति तज्ज्ञानस्य कारणत्वात्। जानाति इच्छति यतते, ततो व्यवहरतीति नियमात्।

कथन्ता तु निरूप्यते स्वतः परतो वेति। आद्ये पि स्वयं स्वग्राहकेणेति वा। तत्र न प्रथमः स्वसम्वेदनस्यासिद्धेः। प्रकाशत्वस्यासाधारणत्वात्। शब्दसाम्येनानुमानाप्रव त्तेः। न चाध्यक्षमेवात्र प्रमाणम्, सन्दिग्धभेदत्वात्। अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थद ष्टिः प्रसिद्ध्यति। परेण परवेदने नवस्था स्यात्। न च क्रिया स्वजातीयक्रियाकर्मभावमश्नुते च्छिदावदिति तर्कपुरस्कारान्नैष दोष इति चेन्न।

उपलम्भापरपर्यायाया द ष्टेः सिद्धिर्निष्पत्तिर्वा स्यात् प्रतीतिर्वा। आद्ये नागतोपलम्भवेदनप्रसङ्गः, अनुपलब्धस्यानिष्पत्तेः। न चाविद्यमानेनाविद्यमानस्योपलम्भ इति स्वसम्वित्तावसम्वित्तिरेवेति।

[ज्ञाने स्वप्रकाशत्वनिराकरणम्]

ननु प्रामाण्याप्रामाण्ययोः कथं प्रतीतिः इत्यत आह – **कथन्ता तु निरूप्यते स्वतः परतो वेति**। प्रतीतेः कथं प्रतीतिः स्वतः परतो वेति निरूप्यते। निरूपणं विचारः। स च संशयाधीन इति संशयजनिकां विप्रतिपत्तिमाह – **स्वतः परतो वेति।** संशयजनकं वाक्यं विप्रतिपत्तिः। तथा च ज्ञानप्रामाण्यं स्वतः परतो वेति विप्रतिपत्तिर्बोध्या। ज्ञानप्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यमिति खण्डयितुं विकल्पयति – **आद्ये स्वयं, स्वग्राहकेणेति वा** इति। स्वशब्द आत्मवाची, आत्मीयवाचीति क्रमेण विकल्पः। तथा च ज्ञानप्रामाण्यं स्वेन ग ह्यते, स्वग्राहकेण वा ग ह्यते। ज्ञानस्य स्वसंवेदनत्वं न प्रमाणसिद्धम् इत्याह – **तत्र न प्रथमः, स्वसंवेदनस्य असिद्धेः** इति। उभयोः मध्ये प्रामाण्यस्य स्वग्राह्यत्वमिति प्रथमपक्षो न युक्तः। स्वस्य स्वसंवेदनत्वासिद्धेः। तत्र प्रमाणाभावात्। स्वेनैव स्वप्रामाण्यज्ञाने स्वसंवेदनम् अभ्युपगन्तव्यं स्यात्। तच्च असिद्धम्। ननु ज्ञानं स्वप्रकाशम्। स्वव्यवहारे प्रकाशा(ज्ञाना)न्तरानपेक्षम्, प्रकाशत्वात् (ज्ञानत्वात्) प्रदीपवद् इत्यनुमानरूपप्रमाणेन ज्ञानस्य स्वसंवेदनत्वसिद्धौ तत्प्रामाण्यस्यापि स्वग्राह्यत्वमिति मनसिकृत्याह – **प्रकाशत्वस्य असाधारणत्वात्** इति। पक्षाभावव त्तिर्हि हेतुः असाधारणो हेत्वाभासः। न हि हेत्वाभासः साध्यं साधयितुम् इष्टे, प्रकाशत्वस्य ज्ञानत्वस्य ज्ञानरूपपक्षमात्रव त्तित्वेनासाधारणत्वात्। प्रकाशत्वं यदि तेजस्त्वं तदा स्वरूपासिद्धिः इत्यपि बोध्यम्।

ननु पक्षद ष्टान्तयोः ज्ञानदीपयोः प्रकाशशब्दार्थसाम्याभावे पि शब्दयोः साम्यं, प्रकाशशब्दस्य उभयत्र व्यवहारात्। उभयत्र प्रकाशशब्दप्रयोगश्च शब्दसाम्यम् आदायैव इत्यत आह – **शब्दसाम्येन अनुमानाप्रव त्तेः** इति। ज्ञानं स्वप्रकाशं, प्रकाशत्वाद् इत्यनुमानं प्रदीपवाचकशब्दसाम्यमादाय भवतीति न युक्तम्। प्रदीपो यथा स्वप्रकाशः तथा ज्ञानम् अपि स्वप्रकाशः। प्रदीपवाचक–प्रकाशशब्दसद श–प्रकाशशब्दवाच्यत्वस्य ज्ञाने सत्त्वात् इति तु न युक्तम्। वचनं गोपदवाच्यम्, गोप्राण्यपि गोपदवाच्यः। तथा

च शब्दसाम्यम् आदाय अनुमानस्य प्रव त्तौ 'वाक् विषाणवती, गोशब्दवाच्यत्वात्', गौर्वदित्यनुमानेन गिरो विषाणवत्त्वापत्तेः।

ननु जानामि इति प्रत्यक्षमेव ज्ञानस्य स्वसंवेदनत्वे प्रमाणम् इत्यत आह – **न च अध्यक्षमेवात्र प्रमाणम्, सन्दिग्धभेदत्वात्** इति। ज्ञानस्य स्ववेद्यत्वे जानामीति प्रत्यक्षं न प्रमाणम्। जानामीत्यनेन ग्राह्यभिन्नं ज्ञानं ग्राह्यमेव वा ज्ञानं ग ह्यते इति सन्देहात्। जानामीत्यस्य सन्दिग्धभेदत्वात्। ज्ञानस्य ज्ञानं स्वभिन्नानुव्यवसायेन स्वेन वेति सन्देहः इति ज्ञानस्य स्वसंवेदनत्वं सन्दिग्धहेतुना साधयितुं न शक्यते। पक्षे साधननिश्चयस्यैव साध्यसाधकत्वात्। निश्चितहेतोरेव साध्यसाधकत्वात्। अन्यथा 'पर्वतो धूमवान् न वा' इत्यस्यापि तत्र बह्निसाधकत्वापत्तेः।

ननु ज्ञानं यदि स्ववेद्यं न स्यात्तर्हि अर्थप्रकाशकं न स्यादिति तर्केण तस्य स्वप्रकाशत्वम् इति शङ्कते – **अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थद ष्टिः प्रसिद्ध्यति। परेण परसंवेदने अनवस्था स्यात्। न च क्रिया स्वसजातीयक्रियाकर्मताम् अश्नुते, छिदावद् इति तर्कपुरस्कारात् न दोष इति चेत्?** इति। अप्रत्यक्षं (न विद्यते प्रत्यक्षं यस्य ज्ञानस्य, अप्रत्यक्षीभूतज्ञानस्य) नार्थदर्शकं प्रसिद्ध्यति। ज्ञानान्तरेण प्रथमज्ञानस्य ज्ञाने अनवस्थापत्तिः। प्रथमज्ञानग्राहकस्य ज्ञानान्तरेण ग्राह्यत्वे तस्यापि ज्ञानान्तरेणेति रीत्या अनवस्थापत्तिः। संवेदनक्रिया, सा च न सजातीयसंवेदनक्रियाज्ञानान्तरस्य कर्मैव भवतुमर्हति। छिदाया अन्यच्छिदाकर्मत्वादर्शनादिति तर्कपुरस्कारेण ज्ञानस्य स्वसंवेद्यत्वे सिद्धे, हेतोः सन्दिग्धत्वं न दोष इति चेत्? सिद्धान्ती विकल्पपूर्वकं समाधत्ते – **न। उपलम्भापरपर्यायाया द ष्टेः सिद्धिः निष्पत्तिर्वा स्यात् प्रतीतिर्वा? आद्ये अनागतोपलम्भवेदनप्रसङ्गः, अनुपलब्धस्य अनिष्पत्तेः। न च अविद्यमानेन अविद्यमानस्य उपलम्भ इति। असंवित्तावसंवित्तिरेव** इति। स्वयंप्रकाश–विरहितमर्थज्ञानम् अर्थं प्रकाशयितुं न समर्थम् इति न युक्तं, विकल्पासहत्वात्। तथाहि उपलम्भापरनामार्थद ष्टिः सिद्ध्यति, अप्रत्यक्षोपलम्भरूपार्थद ष्टिर्न प्रसिद्ध्यति इत्यत्र अर्थद ष्टेः सिद्धिः। अत्र सिद्धिपदेन किं निष्पत्तिः विवक्षिता प्रतीतिः वा? आद्ये भविष्यज्ज्ञानस्य संवेदनप्रसङ्गः। भविष्यज्ज्ञानस्य अनिष्पादने न तस्य निष्पत्तेः युक्तत्वात्। असन् एव उत्पद्यते। अनुपलब्धस्य च न निष्पत्तिरस्ति। तथा च भविष्यज्ज्ञानस्य अनुपलब्धत्वेन तस्य अनिष्पत्तेः स्वसंवेदनोत्पत्तिः = तस्योत्पत्तिः स्यात्।

ननु अनागतोपलम्भस्य संवेदनम् इष्टम् इत्यत आह – **न च अविद्यमानेन अविद्यमानस्य उपलम्भ इति स्वसंवित्तावसंवित्तिरेव** इति। अनागतेन ज्ञानेन अनागतस्य स्वसंवेदनस्य = अनुत्पन्नेन भविष्यज्ज्ञानेन अनुत्पन्नस्य स्वसंवेदनस्य उपलम्भः प्रत्यक्षं न संभवति। अज्ञाने सति अज्ञानमेव भवति। न हि खलु अविद्यमानपदार्थस्य दर्शनं भवति। एव च अविद्यमानस्य भविष्यज्ज्ञानस्य स्वसंवेदनम् इष्टं कर्तुं शक्नोषि।

अविद्यमानेन स्वेन भविष्यज्ज्ञानेन अविद्यमानस्य भविष्यज्ज्ञानस्य हि न वेदनं संभवतीति।

द्वितीये तु सिद्धसाधनम्, न ह्यनुपलब्ध उपलब्धो भवति। न चैवं सत्यर्थो पि नोपलभ्येत। न ह्युपलम्भप्रतीतिरर्थवेदनमपि तूपलम्भनिष्पत्तिः। उपलम्भाद ष्टावुपलम्भनिष्पत्तिरित्येव व्यवहारः कुत इति चेत्, मा भूत्। न ह्यव्यवहारादेव निष्पन्नस्य वस्तुनो निव त्तिः। तथा च तन्निबन्धनो र्थव्यवहारो दुर्वार एव। न चानवस्था, अवश्यवेद्यत्वानभ्युपगमात्, निश्चयवत्। अन्यथा त्वनिश्चितनिश्चयस्यार्थनिश्चयो पि न सिद्ध्येत्। न चासौ स्वात्मन्यपि निश्चय इति। तदिदं वधूमाषमापनव त्तान्तमनुहरति।

च्छिदादिवदिति तु द ष्टान्तमात्रेण नास्मदवधानम्। ज्ञानं न ज्ञानान्तरकर्म, तज्जातीयक्रियात्वात्। या यज्जातीया क्रिया नासौ तत्क्रियाकर्म, यथा च्छिदा च्छिदान्तरस्येति तु न्यायविप्लवः। छिदावत् सर्वथा सजातीयाकर्मत्वे साध्ये बाधितविषयत्वात् पुरुषान्तरज्ञानस्य च पुरुषान्तरज्ञानवेद्यत्वात् स्वयमपि स्म त्यादिगोचरत्वाच्च। स्वकर्मत्वे साध्ये द ष्टान्तस्य साध्यविकलतया हेतोर्विरुद्धत्वादिति।

तत्र सिद्धिः इत्यनेन प्रतिपत्तिरिति विवक्ष्यते इति द्वितीयविकल्पं खण्डयितुमाह – **द्वितीये तु सिद्धसाधनम्। न ह्यनुपलब्ध उपलब्धो भवति** इति। अप्रत्यक्षोपलम्भस्य अर्थद ष्टिर्न प्रतीयते इति पक्षे तु सिद्धसाधनं भवति। अर्थद ष्टिः अप्रत्यक्षा सती नैव उपलब्धा भवति इत्यत्र न केषामपि विवादः। एतावता स्वेन एव उपलब्धा भवतीति न सिद्ध्यति। ननु अर्थद ष्ट्युत्पत्तिकाले स्वस्य स्वेनैव उपलम्भाभावे अनुपलब्धस्य स्वस्य अनुपलम्भः स्यात्। उपलम्भरूपाया अर्थद ष्टेः अनुपलब्धायाः उपलम्भ–व्यवहाराभावात् अर्थद ष्टिरूपोपलम्भस्य असत्त्वेन कथमर्थ उपलम्भः स्यात्? अतः स्वेनैव स्वस्य उपलम्भः स्वीकार्य इत्यत आह – **न चैवं सत्यर्थो पि नोपलभ्यते, नहि अनुपलम्भप्रतीतिः अर्थवेदनम्, अपि तु उपलम्भनिष्पत्तिः** इति। अर्थोपलम्भस्य अनुपलम्भे स्व–स्व–संवेदनाभावे अर्थो नोपलभ्येत इति वक्तुं न शक्यते। न हि अर्थोपलम्भाभावाभावप्रतीतिः अर्थोपलम्भः। अर्थानुपलम्भाभावप्रतीतेः अर्थप्रतीतिर्भिन्नैव। सा च उपलम्भनिष्पत्तिः।

ननु अर्थज्ञानस्य स्वसंवेदनाभावे कथम् अर्थोपलम्भः सिद्ध्यति, साधकाभावात्? कथ च अर्थोपलम्भव्यवहारः तस्य अज्ञानादिति शङ्कते – **उपलम्भाद ष्टौ उपलम्भनिष्पत्तिरित्येव व्यवहारः। कुत इति चेत्?** समाधत्ते – **मा भूत्। न हि अव्यवहारादेव निष्पन्नस्य वस्तुनो निव त्तिः, तथा च तन्निबन्धनो र्थव्यवहारो दुर्वार एव** इति। अर्थोपलम्भस्य वस्तुत इन्द्रियादिना निष्पन्नस्य अव्यवहारादेव हि न

निव त्तिः, निष्पन्नेन अर्थोपलम्भेन तन्निबन्धनो र्थोपलम्भनिबन्धनो र्थव्यवहारो दुर्वार एव अर्थव्यवहारो भवति।

अन्यज्ञानस्य अन्यज्ञानेन वेदने या अनवस्था पूर्वपक्षिणा दत्ता तां परिहरन् आह – **न चानवस्था, अवश्यवेद्यत्वानभ्युपगमात्, निश्चयवत्** इति। ज्ञानस्य परेण अनुव्यवसायेन वेद्यत्वस्वीकारे नानवस्था भवति। ज्ञानमात्रस्य अवश्यवेद्यत्वानभ्युपगमात्। तथा च अनुव्यवसायस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वानावश्यकत्वेन अनवस्थाया अभावात्। ज्ञानमात्रस्य अवश्यवेद्यत्वमेव नास्तीत्यत्र द ष्टान्तो निश्चयवदिति। यथा ज्ञानं निश्चयात्मकमेव न भवति किन्तु निश्चयात्मकम् अनिश्चयात्मक च। तथा ज्ञानमात्रम् अवश्यवेद्यत्वमेवेति न नियमः। किन्तु ज्ञानं वेद्यम् अवेद्यमपि भवति। तथा च यथा सर्वज्ञानं न निश्चयात्मकमेव भवति तथा सर्वज्ञानं वेद्यमेव भवतीति न स्वीक्रियते। तथा च व्यवसायवेदकस्य अनुव्यवसायज्ञानस्य अवश्यवेद्यत्वाभावेन तत्र ज्ञानान्त–रानपेक्षणात् अनवस्था न भवति।

ननु ज्ञानस्य अवश्यं निश्चयत्वाभावः कथं भवतीत्यत आह – **अन्यथा त्वनिश्चितनिश्चयस्य अर्थनिश्चयो पि न सिद्ध्येत्। न च असौ स्वात्मन्यपि निश्चय इति। तदिदं वधूमाषमापनव त्तान्तमनुहरतीति**। ज्ञानस्य अवश्यं निश्चयत्वे तु अनिश्चितो निश्चयो यस्मिन् ज्ञाने, ताद शानिश्चितनिश्चयस्य ज्ञानस्य विषयीभूतो यो र्थः तस्य निश्चयो न सिद्ध्येत्। तदर्थविषयकनिश्चये निश्चितत्वस्य निश्चयो नास्ति। तस्य अर्थस्य निश्चयो न भवति। स इदानीं न स्यात्। सर्वज्ञानस्य निश्चयत्वम् अस्त्येवेति स्वीकारे तत्र निश्चयत्वाभावविषयकज्ञानस्य निश्चितत्व–निश्चयेन अर्थनिश्चयो भविष्यति। ताद शनिश्चयत्वाभावज्ञानस्य तं प्रति प्रतिबन्धकत्वात्। ज्ञाने संशये अनिश्चितत्वज्ञाने वा तद्विषये निश्चितत्वस्य अदर्शनात्। अर्थनिश्चयधर्मिकः अनिश्चितत्वप्रकारकं ज्ञानं न स्वस्मिन् निश्चयरूपं येन अर्थनिश्चयो न भविष्यति। न ह्यसौ निश्चयः स्वात्मन्यपि निश्चयरूपो विकल्परूपो भवद्भिरिष्यते, स्वात्मनि विकल्पकत्वात्। निर्विकल्पकमेव ज्ञानं प्रमाणभूतं निश्चयात्मकं त्वया स्वीक्रियते न विकल्पज्ञानम्। अनेन स्वार्थसाधकतया अभिमतः स्वानर्थो हि आपतितः इति दर्शितम्। एवं हि वधूव त्तान्तं श्रूयते – काचिद् वधू वेश्यासक्तं पतिं स्ववशम् आनेतुकामा वेश्याया एव चेटिकां पतिवशीकरणोपायम् अप च्छत्। सापि एनां विप्रलिप्सया माषमुष्टिमास्यपुटे निःक्षिप्य भर्त शयनं गच्छ इत्येव उक्त्वा प्रैरयत्। वधू च यथोक्तम् आचरितवती। ततो माषपरिवासदुर्गन्धेन आस्येन तया मिथः संलापे कृते स्वाभाविकदौर्गन्ध्याशङ्कया पतिः तां तत्याजेति। स्ववशकरणोपायः स्वत्यागे यथा हेतुः, तथा अर्थनिश्चयार्थं ज्ञानस्य स्ववेद्यत्वोपायः अर्थस्य अनिश्चायक एव भवति। अर्थनिश्चयधर्मिकनिश्चयत्वज्ञानस्य निश्चयत्वे अर्थनिश्चयाभाव एव आयातः।

ननु छिदिक्रिया यथा स्वसजातीयक्रियायाः कर्मत्ववती न भवति तथा ज्ञानमपि ज्ञानान्तरस्य कर्म न भविष्यति। अतो ज्ञानस्य स्ववेद्यत्वं सिद्ध्यतीति मनसिकृत्याह – **छिदादिवदिति द ष्टान्तमात्रेण न अस्मद्- अवधानम्** इति। छिदा यथा सजातीयक्रियान्तरस्य न कर्मरूपा भवति, तथा ज्ञानमपि स्वसजातीयज्ञानस्य न कर्म, न ज्ञानान्तरेण वेद्यम् इति केवलद ष्टान्तमात्रकथनेन न सेत्स्यति। हेतुरपि वक्तव्यः। हेतुसहायेन द ष्टान्तः स्वसजातीयं वस्तु साधयति न तु हेतुरहित इति त्वया अत्र हेतुर्नोक्त इति तव कथनं न सिद्ध्यति इति मम समाधानमत्र बोध्यम्। सहेतुकं प्रयोगमाशङ्कते – **ज्ञानं न ज्ञानान्तरकर्मेति।** ननु अस्य कथं न्यायाभासत्वम् इत्यत आह – **छिदावत् सर्वथा सजातीयाकर्मत्वे साध्ये बाधितविषयत्वात्** इति। बाधितविषयत्वं दर्शयति – **पुरुषान्तरज्ञानस्येति।** छिदा यथा सजातीयक्रिया कर्म न भवति, तथा ज्ञानान्तरस्य कर्म ज्ञानं न भवतीति नास्ति। एकपुरुषस्य ज्ञानं पुरुषान्तरस्य कर्म भवतीत्यस्य द ष्टत्वात्। देवदत्तो घटं जानातीति तु अहं जानामीत्यत्र तथा दर्शनात्। ज्ञानस्य स्म तिगोचरत्वमिति त्वया स्वीकृतमिति सजातीयज्ञानान्तर–रूपस्म तिकर्मत्वस्य ज्ञाने सत्त्वात्। घटविषयकं ज्ञानं स्मरामीति सर्वानुभवसिद्धत्वात्। तथा च ज्ञाने पक्षे स्वसजातीयक्रियाकर्मत्वरूपसाध्यस्य यो भावः स्वसजातीय–क्रियाकत्वरूपः, स्वसजातीयक्रियाकर्मत्वाभावाभावस्य स्वसजातीयक्रियाकर्मत्वरूपत्वात्। ताद शसाध्याभावस्य पक्षे निश्चये हेतोः तज्जातीयत्वस्य निश्चितसाध्याभाववत् पक्षकत्वरूपबाधेन बाधितत्वात्। कि च छिदायाः न सजातीयकर्मत्वं, ज्ञानस्य तु स्वजातीयस्वकर्मत्वमिति ज्ञानं स्वकर्म तज्जातीयक्रियात्वात्, छिदिक्रियावदिति प्रयोगे तज्जातीयक्रियात्वरूपहेतोः स्वसाध्याभाववत्यां छिदिक्रियायां विपक्षरूपायां पक्षरूपाया च ज्ञानात्मकक्रियायां वर्तमानत्वाद् विरुद्धो यं हेतुः। तदुक्तं **नारायण्याम् – द ष्टान्तस्य साध्यविकलतया तत्प्रतिपक्षत्वात् पक्षविपक्षयोरेव व त्तित्वात्** इति। वस्तुतः ज्ञानं न ज्ञानान्तरकर्म तज्जातीयत्वादित्यत्र तज्जातीयत्वरूपहेतोः ज्ञानं स्वकर्म तज्जातीयत्वाद् इति साध्याभावसाधकस्य साध्याभावव्याप्तत्वाद् विरुद्धत्वम्। साध्याभावव्याप्तत्वं विरुद्धत्वमिति विज्ञेयम्।

नापि स्वग्राहकेण, विवेचनानुपपत्तेः। न हि प्रमाणग्रहणं यथार्थत्वैक-नियतम्, अप्रमाणे पि प्रमाणाभिमानात्। अन्यथा विपर्ययज्ञानादप्रव त्तिप्रसङ्गाच्च।

ततो यदि प्रामाण्यमापाततः स्फुरेदपि, तथापि नियमहेतोरभावात् प्रमाणमेवेदमिति निश्चयः कुतः? स च म ग्यते, पारलौकिकव्यवहाराङ्गत्वात्। शङ्कानिवर्त्तनेन तदप्रत्यूहं निश्चितमेवेति चेत्, तन्निव त्तिरेव कुतः? प्रमाणा-न्तरादिति चेत्, तदपि निश्चयफलमन्यथा वेति। अन्यथात्वे न शङ्काविच्छेदो निश्चयसाध्यत्वात्तस्य। निश्चयफलत्वे तु यो म ग्यते नासौ स्वत इति।

स्फुरणमात्रमपि तावदस्तु स्वत इति चेत्, किं तेन। न चैतदपि, अननुसंहितोपाधेरुपहितप्रत्ययायोगात्। न च विषयोपधानमात्रं प्रामाण्यम्, तदाभाससाधारण्यात्। अपि त्वनुभवस्य सतो भूतार्थानुसन्धानम्। न चार्थानुसन्धाने पि तस्य भूतत्वमनुसन्धीयते। आरोपितत्वव्यावर्त्तकविशेषणाननुसन्धानात्। अननुसंहितस्य चारोपसाधारण्यात्। क्वचिद्विशेषो प्यनुसन्धीयत इति चेत्, न क्वापि प्राथमिकेन। अन्यथा नभ्यासदशायां तत्रापि संशयो न स्यात्। अभ्यासदशोत्पन्ने तु अनुसन्धानं व्याप्तिग्रहजनितसंस्कारसमुद्भवस्मरणबलेन भवत् प्रमाणान्तरशरीर एव प्रविशतीति परत एवावशिष्यते।

स्वग्राहकेणेति द्वितीयविकल्पं खण्डयितुमाह – **नापि स्वग्राहकेण इति विवेचनानुपपत्तेः** इति। ज्ञानग्राहकेण ज्ञाने प्रामाण्यस्य ग्रह इति कथनं न युक्तम्। ज्ञानग्राहकेण ज्ञानस्य प्रामाण्यग्रहे अप्रमाणज्ञानग्राहकेणापि तस्य प्रामाण्यग्रहणोपपत्तेः, ज्ञानग्राहकत्वस्य उभयत्र तुल्यत्वात्। तथा च 'इदं ज्ञानं यथार्थम्' 'इदं न यथार्थम्' इति विवेचनानुपपत्तेः। अथवा 'इदं ज्ञानं प्रमाणम् एव' इति निश्चयाभावेन विवेचनानुपपत्तेः। एतदेव दर्शयति – **न हि प्रमाणग्रहणं यथार्थैकत्वनियतमिति।** यत्रैव यथार्थज्ञानत्वं तत्रैवेदं ज्ञानं प्रमाणमिति तु न नियतम्। शुक्तौ इदं रजतमित्य–प्रमाणे पि ज्ञाने इदं ज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणाभिमानस्य दर्शनात्। अप्रमाणज्ञाने प्रमाणाभिमानाभावे शुक्तौ इदं रजतमिति विपर्ययज्ञानाद् प्रव त्तिप्रसङ्गात्। ज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चयसत्त्वे एव प्रव त्तिदर्शनेन तत्र प्रामाण्यनिश्चयाभावे तदा विषये अप्रव त्तिप्रसङ्गापत्तेः। यदि स्वग्राहकेण आपाततः स्वनिष्ठं प्रामाण्यं स्फुरेद् अपि तदापि इदं ज्ञानं प्रमाणमेवेति नियमहेतोरभावात् कुतः इदं ज्ञानं प्रमाणमेवेति निश्चयः? ननु माभूत् प्रामाण्यस्य निश्चय इत्यत आह – **स च म ग्यते** इति। स च प्रामाण्यनिश्चयो म ग्यते, कथमिदं ज्ञानं प्रामाण्यम् इति विचार्यते। प्रामाण्यस्य पारलौकिकव्यवहाराङ्गत्वात्। पारलौकिको हि व्यवहारः प्रामाण्यनिश्चयमन्तेरण न भवति। यथा ऐहिकलौकिकव्यवहारः सन्देहमात्रेणापि न तथायमपीति भावः।

ननु ज्ञाने प्रामाण्यग्रहः स्वग्राहकेणैव भवति अप्रामाण्यसन्देहः इदं ज्ञानम् अप्रमाणं न वेति ग्रहः कुतश्चित् निवर्तते इति शङ्कते – **शङ्कानिवर्तनेन तदप्रत्यूहं निश्चितमेवेति चेत्?** इति। ज्ञानग्राहकेण ज्ञानस्य प्रामाण्यं ग ह्यते। तच्च प्रामाण्यज्ञानं स्वभावतो निश्चीयमानम् अप्रामाण्यशङ्कया विहन्येत। ततः शङ्कां व्यावर्तयता निमित्तान्तरेण प्रत्यूहे स्वरसतो निश्चितं प्रामाण्यं तथैव अवतिष्ठते = पूर्ववदेव तिष्ठति इति चेत्? सिद्धान्ती प च्छति – **तन्निव त्तिरेव कुतः?** इति। कुतः = कस्मात् कारणात्, ज्ञानधर्मिकाप्रामाण्यसंशयस्य निव त्तिर्भवतीत्युच्यताम्। पूर्वपक्षी वदति – **प्रमाणान्तरादिति चेत्?** इति। ज्ञानग्राहकभिन्नप्रमाणान्तरात् प्रत्यक्षादेरेव इदं ज्ञानम् प्रमाणं न वेति शङ्का निवर्तते। तत् खण्डयितुं विकल्पपूर्वकं प च्छति

सिद्धान्ती – **तदपि निश्चयफलम् अन्यथा वेति।** इदं ज्ञानम् अप्रमाणं न वेति शङ्कानिवर्तकं प्रमाणान्तरं पूर्वज्ञानस्य यथार्थत्वनियतं प्रामाण्यनिश्चयम् उत्पादयत् तां शङ्कां व्यावर्तयति, किं वा पूर्वज्ञानस्य यथार्थत्वनियतं प्रामाण्यनिश्चयम् अनुत्पादयति, इदं ज्ञानम् अप्रमाणं न वेति शङ्कां व्यावर्तयति? तत्र न द्वितीयः पक्षो युक्तः। अप्रामाण्यसंशयस्य प्रामाण्यसंशयस्य वा उच्छेदः एककोटिकनिश्चयाधीन इति पूर्वज्ञानस्य यथार्थत्वनियतं प्रामाण्यनिश्चयम् अनुत्पादयतः प्रमान्तरस्य इदं ज्ञानं प्रमाणं न वेति शङ्कोच्छेदकत्वाभावात् शङ्कोच्छेदस्य एककोटिकनिश्च–यसाध्यत्वात्। पूर्वज्ञानस्य यथार्थत्वनियतं प्रामाण्यमुत्पादयत् प्रमाणान्तरम् इदं ज्ञानं प्रमाणं न वेति शङ्कां व्यावर्तयतीति प्रथमपक्षे तु यो सौ प्रामाण्यनिश्चयः पारलौकिकव्यवहारोपयोगिकतया म ग्यते तस्य प्रामाण्यनिश्चयस्य प्रमाणान्तराधीनत्वात् (गुणाधीनत्वात्) न स्वतस्त्वं प्रामाण्यनिश्चयस्य सिद्ध्यति।

शङ्कते – **स्फुरणमात्रं तावदस्तु स्वत इति चेत्?** इति। ज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयो न स्वतो भवति (ज्ञानग्राहकसामाग्रया न भवति), किन्तु प्रामाण्यज्ञानं ज्ञानग्राहकसामग्रया भवतीति चेत्। समाधत्ते – **किं तेन?** इति। (ज्ञानप्रामाण्यज्ञानस्य) ज्ञानग्राहकसामग्रीजन्यत्वे पि न किमपि फलं भवति। अतः फलाभावात् ज्ञानप्रामाण्यस्य ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वस्वीकारो व्यर्थः। 'अयं घट' इति ज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयादेव जलाद्याहरणाय घटे निष्कम्पा प्रव त्तिर्भवति लोकानाम्, न तु प्रामाण्यस्फुरणेनेति। ज्ञाने प्रामाण्यस्फुरणं निष्प्रयोजनकं न तत्र स्वतस्त्वं स्वीकार्यमिति भावः। ज्ञानग्राहकसामग्रया अपि न ज्ञाने प्रामाण्यज्ञानं भवतुिमर्हतीत्यत आह – **न चैतदपीति।** ज्ञानग्राहकसामग्रया ज्ञाने प्रामाण्यज्ञानं न संभवति। प्रामाण्यं हि विशेष्याव त्त्यप्रकारकत्वे सति तत्प्रकारकत्वे सति ज्ञानत्वम्। यथावस्थित–यथार्थवस्तुविषयकत्वं प्रामाण्यम्। तथाच अनुभवस्य सद्‌व त्तिसत्यत्वौपाधिकत्वं प्रामाण्यं भवति। ज्ञानग्राहकसामग्रया च न घटादिविषयस्य सत्यत्वम् अनुसन्धीयते। आरोपितघटत्वव्यावर्तकविशेषानुसन्धानेन आरोपितत्वस्य व्याव त्तिः भवति। घटादौ आरोपितघटत्वं व्यावर्तकविशेषस्य नानुसन्धानम्। अननुसंहितस्य च घटत्वस्य आरोपितत्वसाधारण्यात्। तथा च घटादिवस्तुनि सत्यत्वस्य ग्राहकत्वं न ज्ञानग्राहकसामग्रया वर्तते इति कथं तया सामग्रया ज्ञाने प्रामाण्यस्य स्फुरणं ज्ञानं भविष्यति? कारणं विना कार्यस्य अनुत्पादात्। विषयगतसत्यत्वरूपस्य प्रामाण्योपाधेः ज्ञानग्राहकसामग्रया अग्राह्यत्वे कथं तज्ज्ञाने प्रामाण्यग्रहः। अननुसंहितः अज्ञातः सत्यत्वरूपः उपाधिर्यस्य विषयस्य तस्य विषयस्य उपहितं यत् प्रामाण्यज्ञानं तत्संबन्धाभावात्। स्वमतं स्थापयितुमाह – **न च विषयोपधानमात्रं प्रामाण्यमिति।** ज्ञाने प्रामाण्यं विषयसम्बन्धमात्राधीनं विषयभासाधीनं वा न भवति। विषयसंबन्धस्य विषयित्वस्य विषयत्वस्य वा विषयभानस्य भ्रमसाधारण्यात्। भ्रमे पि विषयस्य भानं भवति। प्रमायामपि विषयभानं भवतीत्युभयसाधारण्यात्। किन्तु सतो नुभवस्य यथार्थज्ञानस्य भूतार्थानुसन्धानम् यथार्थवस्त्वनुसन्धानम्।

यथार्थवस्तुनः यथावस्थिततत्वेन विषयत्वं ज्ञाने प्रामण्यं भवति। ज्ञाने अर्थस्य भाने पि वस्तुनो विषयस्य सत्यत्वं यथार्थत्वं वा अनुसन्धीयते। सत्त्वस्य घटादेः रूपस्य वा आरोपितत्व–संभवात्। वस्तुनि आरोपितधर्मव्यावर्तकतन्मात्रव त्त्यसाधारण्यविशेषानुसन्धानं विना न वस्तुनि तद्धर्मस्य सत्यत्वमनुसन्धीयते। यथा घटे आरोपितव्यावर्तको विशेषः कम्बुग्रीवादिः व्यावर्तयति। नात्र घटत्वमारोपितमिति। अननुसंहितस्य आरोपसाधा–रण्यात्। तथा च सत्यविषये स्वव त्तिसत्यधर्मस्य ज्ञानं ग्राहकसामग्री न करोति केवलं विषयं ज्ञाने वभासयति। न तु सत्यधर्मविशिष्टसत्यपदार्थं ज्ञाने वभासयति। तथा च ज्ञानग्राहकसामग्र्या कथं सत्यधर्मविशिष्टसत्यवस्तुविषयकत्वं प्रामाण्यं ज्ञाने ग्राहयितुं शक्यते इति बोध्यम्।

ननु यत्र तद्वस्तुधर्मे आरोपितत्वस्य व्यावर्तको विशेषः तद्वस्तुनिष्ठः अनुसन्धीयते। तत्र प्रामाण्यस्य ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वं सिद्ध्यतीति शङ्कते – **क्वचिद् विशेषो प्यनुन्धीयते इति चेत्?** घटे आरोपितघटत्वस्य व्यावर्तकः कम्बुग्रीवादिमत्त्वरूपः तस्य अनुसन्धानेन घटविषयकज्ञानगतप्रामाण्यस्य ज्ञानग्राहक–सामग्र्या ग ह्यत्वमस्तीति चेत्? समाधत्ते – **न क्वापि प्राथमिकेन** इति। अयं घट इति ज्ञानं घटत्वेन घटमहं जानामीति अनुव्यवसायेन न विशेषो ग ह्यते। ननु कथं न ग ह्यते इत्यत आह – **अन्यथा अनभ्यासदशायां तत्रापि संशयो न स्यात्** इति। तद्व त्त्यसाधारणधर्मस्य प्राथमिकानुव्यवसायविषयत्वस्वीकारे 'अयं वह्निरेव' इत्यपरिचितबह्नेरपि शब्दाज्जायमाने ज्ञाने वह्न्यसाधर्म्यज्ञानेन प्रामाण्यस्य स्वयं ग्रहणात्। अथवा विशेषपदेन प्रामाण्यमेव ग ह्यत इति प्रामाण्यस्य स्वयं ग्रहणात् इदं बह्निज्ञानं प्रमाणं न वेति प्रामाण्यकोटिकसंशयानुपपत्तेः। ननु तर्हि अभ्यासदशापन्ने विषये भूतत्वा(तत्त्वा)नुसन्धानात् प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं भवतीत्यत आह – **अभ्यास-दशोत्पन्ने तु अनुसन्धानं व्याप्तिग्रहजनितसंस्कारसमुद्भवस्मरणबलेन भवत्प्रमाणान्तरशरीरे एव प्रविशतीति परत एवावशिष्यते** इति। यो यो गन्धवद्विशेष्यकः प थिवीत्व प्रकारको नुभवः प थिवीत्ववत्येव प थिवीत्वप्रकारक इत्यादिप्रकारेण यद् व्याप्तिग्रहणं तज्जनितो यः संस्कारः तत्प्रभवं स्मरणं, तद्बलेन भवत् यत् अभ्यासदशोत्पन्नं प्रामाण्यज्ञानमनुमानरूपप्रमाणान्तरशरीरे एव प्रविशतीति परत एव प्रामाण्यज्ञानं भवति।

तत्राप्यनवस्थेति चेत्, न तावदसौ द ष्टान्तद्वारिका, प्रागेव तन्निश्चयात्। फलद्वारिका तु स्यादपि, यदि प्रामाण्यमवश्यनिश्चेयमभ्युपेयते। अज्ञातप्रामाण्येन कथं परप्रामाण्यवेदनमिति चेत्, यथा विषयसंवेदनम्। अस्तु तर्हि धर्मिलिङ्ग-द्वारिका, ताभ्यामनिश्चिताभ्यामननुमानात्। तन्निश्चयस्य च प्रामाण्यनिश्चयमन्त-रेणानुपपत्तेः। न, द्वैताभावात्। यत्र हि लिङ्गज्ञाने धर्मिज्ञाने वा तथ्यातथ्यभावेन द्वैतमुपलभ्यते तत्र तथ्यत्वानिश्चये लिङ्गमाभासशङ्काक्रान्ततया न निश्चीयते।

यत्र तु तज्ज्ञानं तदेकनियतं तत्र तावतैव लिङ्गनिश्चयः, तदाभासशङ्कानुत्थानात्। एककोटिनियतो ह्यनुभवो निश्चयः। ज्ञानतद्धर्मग्राहिणि च ज्ञाने न द्वैतमिति व्यवस्थितिरेव। प्रामाण्यनिश्चयस्तु तस्यापि परत एवेति न्यायसम्प्रदायः। इत एव विशेषात्ताद शस्य स्वत एवेति तात्पर्याचार्याः।

ननु संवादिप्रव त्तिजनकतत्तज्जातीयत्वादिना लिङ्गेन यानुमितिः इदानीम् उत्पद्यते सापि ग हीतप्रामाण्या परतः प्रामाण्यं निश्चाययति। तत्रापि फलबोधिका न–वस्थेति शङ्कते – **तत्राप्यनवस्थेति चेत्?** इति। परिहरति – **न तावदसौ द ष्टान्तद्वारिकेति।** इदं प्रमाणं यथार्थं च एतज्जातीयत्वात् (संवादिप्रव त्ति–जनकजातीयत्वात्) गुणवत्, कारणजन्यत्वाद्वा सम्प्रतिपन्नवदिति अनुमानप्रामाण्यावगमे द ष्टान्तभूत(संप्रतिपन्नवदिति द ष्टान्तस्वरूप–)ज्ञानप्रामाण्यावगमे पि अनुमानान्तरापेक्षा स्यात्। तत्रापि द ष्टान्ते अनुमानान्तरापेक्षा इत्येवं द ष्टान्तद्वारिका अनवस्था। अथवा अनुभवफलभूतानुमितिप्रामाण्यविषयकज्ञाने पि प्रामाण्यावगमाय अनुमानान्तरापेक्षेति फलद्वारिका वा अनवस्था स्यात्। न प्रथमः। द ष्टान्तभूतज्ञानप्रामाण्यस्य अनुमानप्रव त्तेः प्रागेव निश्चयात्।

ननु प्रामाण्यगतनिश्चयस्य अनुमानापेक्षणे नवस्थैव? मैवम्। प्रव त्तिसामर्थ्येन तत्र अर्थस्य भूतत्वम् (सत्यत्वम्) अवगम्य तदुपाधिकस्य प्रामाण्यस्य ज्ञानग्राहकेणैव प्रतीतेः। तदुक्तं प्रमाणस्यार्थवत्त्वं साधयता **वात्स्यायन**मुनिना प्रथमसूत्रीयभाष्या–वतरणिकायाम् – **प्रमाणतो र्थप्रतिपत्तौ प्रव त्तिसामर्थ्यात् अर्थवत् प्रमाणमिति।** नापि फलद्वारिका अनवस्था, प्रामाण्यावश्यज्ञेयत्वानभ्युपगमात्। ननु इदं ज्ञानं प्रमा संवादिप्रव त्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घट इत्यनुमानप्रामाण्यम् न ग हीतम् इत्यग हीतप्रामाण्येन अनुमानेन कथं घटादिज्ञानस्य प्रामाण्यं ग ह्यते इति शङ्कते – **अज्ञातप्रामाण्येन कथं परप्रामाण्यवेदनमिति चेत्?** इति। प्रामाण्यग्राहके पि प्रामाण्यग्राहकापेक्षायाम् (अनवस्थेति तद्भिन्ना अज्ञातप्रामाण्येनैव परेण अन्यप्रामाण्यं ग्राह्यम्, तथा च) कथं स्वयमज्ञातप्रामाण्येन परप्रामाण्यस्य वेदनं कर्तुं शक्यते इति शङ्कार्थः। समाधत्ते – **यथा विषयसंवेदनम्** इति। यथा अज्ञातप्रामाण्येन घटज्ञानेन घटस्य विषयस्य वेदनं भवति, तथा अज्ञातप्रामाण्येनापि परेण परस्य प्रामाण्यस्य वेदनं स्यात्। न हि ग हीतप्रामाण्यमेव निश्चायकं भवति। तथा सति प्रथमम् अर्थनिश्चयो पि न स्यादिति भावः।

ननु अज्ञातप्रामाण्येनापि इदं ज्ञानं प्रमा इत्यनुमानेनैव ज्ञाननिष्ठप्रामाण्यग्रहणं कर्तव्यम्। तत्र च धर्मि–(पक्ष–)लिङ्गनिश्चयार्थम् तद्विषयक(पक्षविषयक–/हेतु–विषयक–)ज्ञानप्रामाण्यनिश्चयानुसारेणापेक्षितम् इत्यनवस्थेति शङ्कते – **अस्तु तर्हि धर्मिलिङ्गद्वारिकेत्यादि** धर्मि(पक्ष)लिङ्गद्वारिका प्रामाण्यानुमितिः पक्षहेतुविषयक–अनिश्चयात्मकज्ञानाभ्याम् अनुमितेः अदर्शनात्। हेतुपक्षविषयकनिश्चयस्य च

पक्षहेतुज्ञानप्रामाण्यनिश्चयं विना अनुपपत्तेः। तथा च हेतुपक्षनिश्चयज्ञानार्थं तत्तद्विषयकज्ञानधर्मिकप्रामाण्यज्ञानम् अपेक्षितम्। एतच्च अनुमानान्तरेण एवंरीत्या अनवस्था दुर्वारेति चेत्? समाधत्ते – **न। द्वैताभावात्** इति। यत्र विषयस्य तथ्यातथ्यविभागेन द्वैतम् (भेदम्) उपलभ्यते, तत्र न स्वतो विषयज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयः। यत्र द्वैतं (भेदम्) तेन विभागेन नोपलभ्यते, तत्र तज्ज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयः स्वतो भवति। प्रामाण्यस्य वस्तुतत्त्वाधीनत्वादिति। **तस्य भूतत्वमनुसन्धीयते** इत्यनेन प्रतिपादितमिति।

ननु तर्हि लिङ्गज्ञानं धर्मिज्ञानं वा क्वापि परीक्ष्येत इत्यत आह – **यत्र लिङ्गज्ञाने धर्मिज्ञाने वा तथ्यातथ्याभावेन द्वैतमुपलभ्यते, तत्र तथ्यत्वानिश्चये लिङ्गमाभासशङ्काक्रान्ततया न निश्चीयते, यत्र तु तज्ज्ञानं तदेकनियतं तत्र तावतैव लिङ्गनिश्चयः तदाभासशङ्कानुत्थानात्। एककोटिनियतो ह्यनुभवो निश्चय** इति। याद शस्थले हेतुज्ञाने पक्षज्ञाने वा तथ्यत्वेन अतथ्यत्वेन तद्भेदमुपलभ्यते तत्र तथ्यत्वस्य (हेतोः पक्षस्य वा सत्यत्वानिश्चये) अनिश्चये हेत्वाभासशङ्कया लिङ्गं न निश्चीयते। तत्र हेतुज्ञानस्य पक्षज्ञानस्य वा प्रामाण्याय हेत्वन्तरजन्यम् हेतुज्ञानधर्मिकं पक्षज्ञानधर्मिकं प्रामाण्यानुमानमपेक्षितं भवति। यत्र तु लिङ्गज्ञानं तथ्यत्वैकनियतम् (यथार्थहेतुविषयकमिदं ज्ञानम् प्रामाण्यस्य वस्तुतत्वाधीनत्वात्) तत्र अग हीताप्रामाण्यज्ञानमात्रेण हेतुज्ञानेन हेतुनिश्चयो भवति। न तत्र हेतुज्ञाननिश्चयत्वाय हेत्वन्तरजन्यं हेतुज्ञानधर्मिकप्रामाण्यानुमानमपेक्षितम्। हेत्वाभासशङ्काया अनुत्थानात्। एककोटिनियतो हि अनुभवो निश्चयः। एककोटि–मात्रविषयको नुभवो निश्चयः। प्रक ते च द्वैतं नास्तीत्यत आह – **ज्ञानतद्धर्मग्राहिणि च ज्ञाने न द्वैतम् इति व्यवस्थितिरेव। तस्यापि प्रामाण्यनिश्चयः परत एवेति न्यायसम्प्रदाय** इति। ज्ञानस्य धर्मिणः तद्धर्मस्य ज्ञानत्वस्य अरोपितत्व–व्यावर्तकविशेषजातीयस्य लिङ्गस्य च ज्ञाने = ग्राहके ज्ञाने तथ्यातथ्यविभागेन द्वैतं (भेदम्) नोपलभ्यते। न हि अज्ञाने ज्ञानत्वारोपेण भ्रान्तिर्द श्यते। नापि यथार्थत्वनियते वस्तुनि तन्नियतविशेषारोपेण भ्रान्तिः द श्यते इति। न हि हेतोः अज्ञाने हेतुज्ञानत्वारोपः। न वा अहेतौ हेतुधर्मारोपो द श्यते। किन्तु हेतुज्ञाने हेतुज्ञानत्वम्, हेतौ च हेतुधर्मो द श्यते इति हेतुज्ञाने यथार्थवस्त्वधीनप्रामाण्यस्य व्यवस्थितत्वेन तत्प्रामाण्यात् हेतुज्ञानं निश्चयात्मकम्, न तत्र प्रामाण्यानुमानान्तरापेक्षास्ति। अतो नानवस्था।

नन्वेवम् अनुव्यवसाये प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम् आयातम् इति अपसिद्धान्त इत्यत आह – **तस्यापीति।** यदि यथार्थवस्त्वधीनत्वं यथार्थवस्तुज्ञाने प्रामाण्यम्, तच्च अनुमानादेव ग ह्यते। तथा च सर्वत्र ज्ञाने प्रामाण्यं न्यायनये नित्यानुमेयमिति। प्रामाण्यस्य तन्नये नित्यानुमेयत्वात्। अत्र हेतुमाह – **इत एव (अत एव) विशेषात् ताद शस्य स्वत एवेति तात्पर्याचार्या** इति। यत्र तथ्यातथ्यविभागेन द्वैतं नोपलभ्यते

तत्र द्वैताभावादेव विशेषात् द्वैताभाववद्विषयकज्ञानस्य स्वत एव प्रामाण्यनिश्चय इति तात्पर्यम् इति **आचार्याः**। धर्मिलिङ्गज्ञानयोः एककोटिकनिश्चयात् तदाभासत्वशङ्का–नुत्थानेन व्यवहारस्थितिः उक्ता। हेतुधर्मिणो निश्चयात्मकं ज्ञानं युक्तम्। तदर्थं तत्र प्रामाण्यानुमितिः न अपेक्षिता इति नानवस्था।

स्यान्मतम्। एतदेव तु कथं निश्चेयं यदेवम्भूतमेककोटिनियतमेव यावता तत्राप्यनवस्थितिरिति चेन्न। व्याप्तिज्ञानस्य साक्षादात्मन्यप्रव त्तावपि सर्वोपसंहारेण यमुपाधिमादाय प्रव त्तिस्तद्धर्मवत्त्वात्। तज्जातीयत्वं हि तत्रोपाधिस्तच्च तत्राप्यविशिष्टमनुव्यवसायत्वात्। न च सामान्यतो नियमनिश्चये तदालिङ्गिते विशेषे द्वैतशङ्कावकाशः। यथा वाचकः शब्द इति स्वात्मनो वाचकत्वं न साक्षाद्विधत्ते व त्तिविरोधात्। तथापि सामान्येन यमुपाधिमधिकृत्य प्रव त्तः शब्दस्तद्वत्त्वात् शब्दशब्दो वाचको न वेति शङ्कया न परिभूयते नाप्यनवस्थेत्येवमिहापीति।

तत्र एककोटिकनिश्चय एव कुतः? एककोटिकनिश्चयार्थं तत्प्रामाण्यानुमितये तन्निश्चयत्वानुमितये वा व्याप्तिविशिष्टलिङ्गादेः अपेक्षितत्वेन पूर्ववदेवानवस्था दुर्वारेति शङ्कते – **स्यान्मतम्। एतदेव तु कथं निश्चेयमिति** तथ्यरूप–एककोटिकमेव हेतुज्ञानमिति कथं निश्चीयते? यदि अनुमाने तन्निश्चीयते, तदा व्याप्तिविशिष्ट–हेत्वन्तरज्ञाने तन्निर्णायके व्याप्त्यादिनिश्चयार्थम् अनुमानम् अपेक्षितम् इति रीत्या अनवस्थेति चेत्? उत्तरयति – **न। व्याप्तिज्ञानस्य साक्षादात्मनीति** अनुव्यवसाय–जातीयस्य एककोटिकनियतत्वेन व्याप्तिग्रहणात् धर्मिलिङ्गज्ञानयोरपि एककोटिक–नियतत्वं निश्चीयते। यो यो अनुव्यवसायः, स सर्वः प्रमाणमेव इत्यनुव्यवसायत्वावच्छेदेन ग हीता व्याप्तिः प्रक तानुव्यवसायस्य अपि, (पर्वतादिकम् अहं जानामि, धूमादिकम् अहं जानामि इत्यस्यापि) अनुव्यवसायत्वेनैव लिङ्गेन प्रामाण्यानुमानम्। तत्र व्याप्तिज्ञानस्यापि एककोटिनियतत्वनिश्चयाय न व्याप्तिज्ञानान्तरापेक्षा स्ति येन अनवस्था स्यात्। तेनैव व्याप्तिज्ञानेन (यो यो नुव्यवसायः स सर्वः एककोटिनियत इति व्याप्तिज्ञानेन, यो य एककोटिकः स सर्वः प्रमाणमिति व्याप्तिज्ञानेन वा) स्वव्याप्यैककोटिनिश्चयात् स्वात्मनि स्वव त्तित्वविरोधेन तस्य साक्षात् स्वात्मन्यव त्तित्वे पि सर्वविशेषसंग्रहेण (यो यो नुव्यवसायः स सर्व एककोटिनियत इत्यनेन) यमुपाधिं यत्सामान्यम् अनुव्यवसायत्वम् उपादाय प्रव त्तिः, तेनैव उपाधिना (अनुव्यवसायत्वेन स्वस्यापि पक्षहेतुज्ञानानुव्यवसायस्यापि) परिग हीतत्वात् एककोटिनियतत्वं निश्चितम्। एवं च तद्बलेन हेतुपक्षज्ञानयोरपि एककोटिकनिश्चयेन प्रामाण्यमुपपन्नम् इति।

नन्वेवं यो यो नुव्यसायः स सर्वः एककोटिनियतः इति सामान्यव्याप्त्या 'पर्वतम् अहं जानामि', 'धूमम् अहं जानामि' इत्यनुव्यवसाययोरपि एककोटिक–

त्वनिश्चयः। यो य एककोटिकः स सर्वः प्रमाणमिति व्याप्त्या च पक्षज्ञानं हेतुज्ञानं वा प्रमाणम्, निश्चितैककोटिकत्वात् इत्यनुमानेन तत्र तत्र प्रामाण्यं ग ह्यते। तथा च अत्रापि पक्षहेतुज्ञानयोः प्रामाण्याय अनुमानान्तरापेक्षा इति पुनरनवस्था पश्चाद्धावतीत्यत आह – **न च सामान्येन नियमनिश्चये तदालिङ्गिते विशेषे द्वैतशङ्कावकाशः** इति। यो यो नुव्यवसायः स सर्वः एककोटिनियतः, यो य एककोटिनियतः स सर्वः प्रमाणमिति अनुव्यवसायत्वे एककोटिनियतत्वव्याप्तेर्लाभे अनुव्यवसायत्वालिङ्गिते विशेषे 'पर्वतमहं जानामि', 'धूममहं जानामि' इत्यनुव्यवसायविशेषे न द्वैतशङ्कावकाशः। अत्र द ष्टान्तमाह – **यथा वाचकः शब्द इति स्वात्मनो वाचकत्वं न साक्षाद् विधत्ते, व त्तिविरोधात्, तथापि सामान्येन यमुपाधिमधिकृत्य प्रवत्तः शब्दः तद्वत्त्वात् शब्द-शब्दो पि वाचको न वेति शङ्कया न परिभूयते, नाप्यनवस्थेति। एवमिहापीति**। यथा 'शब्दः शब्दस्य वाचकः', 'शब्दः शब्द–शब्दवाच्यः' इत्यत्र शब्दः स्वात्मनः = स्वस्य वाचकत्वं न साक्षात् विधत्ते = बोधयति, स्वस्मिन् स्ववाचकत्वस्य विरोधात्। अन्यस्य (घटस्य = कम्बुग्रीवादिमतः वाचकत्वं घटशब्दे द श्यते, न द श्यते च) घटशब्दः घटशब्दस्य वाचक इति सत्त्वेन सह स्ववाचकत्वं सहानवस्थायिरूपविरोधी इत्यवधार्यते। तथापि (विरोधस्य सत्त्वे पि) शब्दत्वं यत्र वर्तते स वाचकः यथा घटशब्दः कम्बुग्रीवादिमतो वाचक इति शब्दत्वरूपं सामान्यं घटे इव शब्दे पि वर्तते इति शब्दो पि शब्दस्य वाचको भवति। शब्द–शब्दः (शब्दरूप–शब्दः) वाचको न वेति शङ्कया न परिभूयते तिरस्क्रियते, नापि अनवस्था भवति। तथा यो यो नुव्यवसायः स सर्वः एककोटिनियत इति सामान्यव्याप्त्याक्रान्तः 'पर्वतमहं जानामि', 'धूममहं जानामि' इत्यनुव्यवसायो पि। एषो नुव्यवसायः अनियतैककोटिक इति नियतैककोटिकत्वेन प्रामाण्यवान् भवति। अनुव्यवसायत्वरूप–सामान्यधर्मस्य धूमादिविषयकानुव्यवसाये पि। सो पि नियतैककोटिक इति भवति, सो पि प्रामाण्यवानिति।

तर्काश्चात्र भवन्ति। यदि धर्मिज्ञानं व्यभिचरेत्, निरालम्बनमसदालम्बनं वा भवेत्, निषिद्धं च तत्। यद्यनुव्यवसायो व्यभिचरेत् तदार्थकर्मको पि न स्यात्, ज्ञानेतरस्यार्थप्रावण्याभावात्। यदि तज्जातीयं व्यभिचरेत्, अव्यभिचारो न क्वचिद् व्यवतिष्ठेत्। तदव्यवस्थितौ व्यभिचारो पि न स्यात्। अन्यथाख्याति-रूपत्वात्तस्य, तत्त्वस्थितौ चान्यथात्वं स्यात्, तदवधिकत्वात्।

[अवयविबाधकखण्डनम्]

धर्मिज्ञानादीनाम् एककोटिनियतत्वग्राहकप्रमाणानुग्राहकान् तर्कान् दर्शयन्ति ग्रन्थकाराः – **तर्काश्चात्र भवन्ति** इति। धर्मिज्ञानादीनाम् एक– कोटिनियतत्वग्राहक– प्रमाणानुग्राहकाः भवन्ति। धर्मिज्ञानाव्यभिचाराय तर्कमाह – **यदि धर्मिज्ञानं**

व्यभिचरेदिति, निराश्रय–असदाश्रयधर्मिज्ञानं न संभवति। इदमो विषयस्य धर्मिणो भावे न धर्मिज्ञानं संभवति। यदि न हीदमिति ज्ञानं धर्मिज्ञानं भवेत् तदा निरालम्बनम् असदालम्बनं वा भवेत्। लिङ्गज्ञाने तर्कमाह – **यद्यनुव्यवसायो व्यभिचरेत्, तदा अर्थकर्मको पि न स्यात् ज्ञानेतरस्य अर्थप्रावण्याभावादिति**। यद्यनुव्यवसायः व्यवसायं विना स्यात् तदा अर्थकर्मको पि न स्यात्। ज्ञानभिन्नानाम् अर्थप्रकाशक– त्वाभावात्। (तथा च अनुव्यवसायरूपे, ज्ञानं विषयविषयकतानियतस्वविषयताक– प्रत्यक्षकं विषयाविषयकप्रत्यक्षाविषयत्वे सति प्रत्यक्षविषयकत्वात् इत्यनुमानं ज्ञानप्रत्यक्षस्य (अनुव्यवसायस्य) विषयविषयकत्वे प्रमाणमिति भावः। घटादिविषयकत्वं व्यवसायनिष्ठतन्नियतं यत् अनुव्यवसायीयविषयत्वं व्यवसायनिष्ठं ताद शविषयता–निरूपकमनुव्यवसायज्ञानम्, विषयाविषयकप्रत्यक्षाविषयकत्वे सति प्रत्यक्षव्यव–सायविषयकत्वात्)। व्याप्तिज्ञाने तर्कमाह – **यदि तज्जातीयं व्यभिचरेदित्यादि।** (यदि आरोपितत्वव्यावर्तकविशेषजातीयं व्यभिचरेत्, तदा) ततो तिरिक्तविशेषान्त–रानुपलम्भात्, क्वचिदपि व्यभिचारो न व्यवतिष्ठेत। 'घटत्वेन घटमहं जानामि' इत्यनुव्यवसायः, 'अयं घट' इति व्यवसायविषयकः। व्यवसायविषये घटे आरोपितघटत्वं व्यावर्तयति। स च अनुव्यवसायः अनुव्यवसायत्ववान्, अनुव्यवसायत्वरूपो (जातिरूपो) धर्मविशेषः। तज्जातीय च धूमज्ञानविषयको 'धूमत्वेन धूमं जानामि' इत्यनुव्यवसायः। स यदि व्यभिचरेत्, आरोपितत्वव्यावर्तको न भवेत्। आरोपितधर्मवद्विषयको भवेत्। तदा व्यभिचारो पि क्वचिदपि न व्यवतिष्ठेत = न तिष्ठेत्। अत्र हेतुमाह – **अन्यथाख्यातिरूपत्वात् तस्येति**। व्यभिचारस्य अन्यथाख्यातिरूपत्वात्, धूमत्ववति धूमे यो व्यवसायः तद्विषयकानुव्यवसाये धूमत्वाभाववद्धूमत्वविषयकव्यवसाय–विषयकत्वावगाहित्वेन तस्य भ्रमरूपत्वात्। अन्यथात्वस्य तत्त्वसापेक्षत्वेन तत्त्वाभावे अन्यथात्वमपि न भवति। अतस्तत्त्वसिद्धे अन्यथात्वं सिद्ध्यति। अन्यथात्वस्य तत्त्वावधिकत्वात्। तथा च अनारोपितधूमत्ववद् धूमादिलिङ्गविषयकव्यवसाय–विषयको नुव्यवसायो यदि आरोपितधूमत्ववद् धूमविषयकव्यवसायविषयकः स्यात् तदा भ्रमः स्यात्। भ्रमश्च क्वचिद् प्रसिद्धस्यैव भवति। तथा च अनारोपितधूमत्वादि तद्धूमादिविषयकव्यवसायविषयकत्वं 'धूमत्वेन धूममहं जानामि' इत्यनुव्यवसायः स्वीकार्यः। स चानारोपितधर्मविषयकः एककोटिनियतः। एककोटिनियतत्वेन प्रमाणरूपः। नात्र प्रामाण्याय व्याप्त्यन्तरहेत्वन्तरादिकम् अनुमानान्तरं च अपेक्षते। अतः नानवस्था भवति।

एतेन स्वप्नजागरावस्थयोरविशेष इति निरस्तम्। असत्ख्यातेरात्मख्यातेश्च निराकृतत्वात्। अन्यथाख्यातेश्च तत्त्वख्यातिव्यवस्थामन्तरेणानुपपत्तेरिति। सा च जागरे पि यदि न स्यात्, न स्यादेवेति।

तथापि कथमनयोरवस्थयोर्विभागः कर्त्तव्य इति चेन्न, लोकसिद्धत्वात्। किमनयोर्लक्षणमिति चेत्, कर्तृकर्मकरणदेशकालप्रबन्धबाधः। काकतालीय-सम्वादवान् स्वप्नस्य। प्रबन्धे काकतालीयः कस्यचिदेव विषयस्य बाधो जागरस्येति। एतेन बाध्यप्रबन्धो वस्थाविशेषः स्वप्नः, प्रबन्धबाधकादिर्बाध्यमान-प्रबन्धान्तो जागरितमित्यपि द्रष्टव्यमित्येषा दिक्।

तस्मात्तथ्यमेव विश्वं, मन्दप्रयोजनत्वात्तु सत्वरैर्मुमुक्षुभिरुपेक्षितमिति युक्तमुत्पश्यामः। तर्हि नैयायिकानां जगत्परिरक्षणे को यमभिनिवेशातिशय इति चेत्, सहसैव तदुपेक्षायां न्यायाभासावकाशे प्रमाणमात्रविप्लवो भवेत्। तथा च न्यायरुचिः प्रेक्षावान्न तत्त्वमधिगच्छेदिति भियेति।

[स्वप्नजागरणलक्षणम्]

सर्वमिथ्यात्ववादिनः स्वप्नजागरणयोर्न विशेषः, उभयोरपि मिथ्यात्वाद् इति वदन्ति। एतदपि पूर्वोक्तेन निरस्तम् इत्याह – **एतेन स्वप्न- जागरणयोरविशेष इति निरस्तम्।** तथ्यातथ्य(यथार्थत्व–अयथार्थत्व–/सत्यत्वासत्यत्व–)विभागव्यवस्थापनेन न स्वप्नजागरावस्थयोः अविशेषः, जागरज्ञानं न प्रमा, ज्ञानत्वात्, स्वप्नज्ञानवद् इत्यादीनां नावकाशः। उभयोरवस्थयोर्विशेषत्वस्य सत्त्वेन तज्ज्ञानयोः प्रमा–भ्रमयोः सत्त्वात्। ज्ञानत्वस्य प्रमात्वाभावरूपसाध्यस्याभाववति जागरज्ञाने व त्तित्वेन व्यभिचारित्वात् न स्वसाध्यं साधयितुं क्षमम्।

ननु असत एव अध्यस्तपदार्थाकारेण भानमिति बौद्धीयासत्ख्यातेः (असतो ख्यातिर्भानमिति बौद्धीयासत्ख्यातेः) अध्यस्तपदार्थाकारेण विज्ञानात्मनः (विज्ञानस्य) भानम् इत्यात्मख्यातेश्च वेदान्तिनः सत्त्वेन स्वप्नज्ञानस्य अन्यथाख्यातिरूपत्वं नाङ्गीकरणीयम्। तथा च तत्त्वख्यातिपूर्विकैव अन्यथाख्यातिः। तत्त्वख्यातिश्च जागरावस्थाज्ञानविशेष एवेति तव कथनं न युक्तम्। अप्रामाण्यं तव अभिमतम् ममापि सम्मतमेव। तत्त्वख्यातिपूविका अन्यथेति न सम्मतमिति स्वप्नजागरावस्थयोः कथं न अविशेषः? उभयोः ज्ञानयोः अप्रामाणिकत्वेन अविशेषादिति चेत्? न। उभयोरख्यात्योः निराकृतत्वात्। अन्यथाख्यातिस्तु तत्त्वख्यातिं विना अनुपपन्नेति सा सत्ख्यातिर्यदि जागरावस्थायामपि न भवेत् तदा सा न भवेदेव। स्वप्नज्ञानस्य भ्रमरूपत्वेन तस्य तत्त्वख्यातिरूपेण कथयितुमशक्यत्वात्। तस्य असंभवाच्च। तत्त्वख्यातिपूर्विकैव अन्यथाख्यातिः भवति इति विज्ञेयम्।

शङ्कते – **तथापि कथमनयोरवस्थयोर्विभागः कर्तव्य इति चेत्?** इति। स्वप्नजागरावस्थयोर्विभागः कथं कर्तव्यम् इति चेत्? स्वप्नजागरावस्थयोः लोकप्रसिद्ध–त्वेन तयोः विभागस्यापि लोकप्रसिद्धत्वमिति तयोः विभागस्य सुकरत्वात्। ननु

लोकस्यापि तयोर्विभागः लक्षणाधीन इति तयोः लक्षणमावश्यकमिति चेत् ? तदा आह – **किमनयोर्लक्षणमिति चेत्?** इति। समाधत्ते – **कर्त[5]-कर्म-देश-काल[6]-प्रबन्धबाधः काकतालीयसंवादवानिति।** स्वप्ने यः यस्मिन् देशे काले वा करोति, द ष्टं तेषां तेषां कर्त्रादीनां प्रबन्धस्य सम्बन्धस्य कात्स्न्र्यस्य बाध एव स्वरसतः = स्वभावतः। संवादस्तु = यथार्थस्तु काकतालीयसंवादवान्। तथा च प्रबन्धबाधः स्वप्नस्य लक्षणम्।

ननु स्वप्ने सर्वबाधे कथं ज्ञानं निरालम्बनम्? कथं वा अन्यथाख्यातिः? तस्याः ख्यातिपूर्वकत्वात्। 'अहं धवलग हे (प्रासादे) मध्याह्ने हस्तेन पायसं भु जे' इत्यत्र सर्वेषां कर्त्रादीनां बाधात्। कुत्र वा आरोपः? तत्र पदार्थस्य असत्त्वात्। कथं वा जागरान्तरमपि क्वचिद् विसंवादः? स्वप्नस्य विसंवादित्वात्। इत्यत आह – **कालतालीयसंवादवान्** इति। यथा अकस्मादेव तालफलस्य पतनम् अकस्मादेव च काकस्य गमनं विदीर्यमाणतालफलस्य च भोजनं भवति, तथैव अकस्मादेव स्वप्ने प्रबन्धः संवादवान् भवति। अन्यथानुपपत्त्यैव आरोपविषयाणाम् अन्ततो वह्नि–रूष्मादीनां यदन्तरतमादिभावेन शब्दानामप्युपलम्भादिति भावः। बहुषु प्रबन्धेषु कस्यचिदेव विषयस्य बाधः। सो पि बाधः काकतालीयः = अकस्मादेव भवति जागरस्य बाधः। तथा च प्रबन्धस्य क्वचित् काकतालीयो बाध इति जागरस्य लक्षणम्। एतेन बाध्यप्रबन्धो वस्थाविशेष इति। स्वप्नजागरयोः लक्षणान्तरेण विभागव्यवस्थापनेन बाध्यप्रबन्धः अवस्थाविशेषः स्वप्नः = सिद्धोपप्लुतान्तःकरणावस्थाविशेषः। तथा च स्वप्ननाडीविशेषसंयोगजं ज्ञानं स्वप्नः। तदितरज्ञानं जागरः। स्वप्नत्व–जागरत्वे जातिविशेषौ वेति **मिश्राः। एषा दिगि**त्यनेन लक्षणान्तरमपि स्वयमूह्यम्। तथा च इन्द्रियाजन्यविषयगोचरापरोक्षान्तःकरणव त्यवस्था स्वप्नः इति मतान्तरेणेदं स्वप्नलक्षणम्। जाग्रद्भोगप्रदकर्मोपरमे सति बाह्येन्द्रियोपरमे जाग्रदनुभवजन्य–संस्कारोद्भूतविषयः तज्ज्ञानावस्था वा स्वप्नः। इन्द्रियजन्यान्तःकरणव त्यवस्था–(जागर)–दिगाद्यधिष्ठात देवतानुग हीतैः इन्द्रियैः शब्दादिविषयानुभवावस्था वेति जागरस्य लक्षणान्तरं बोध्यम्।

उपसंहरति – **तस्मात् तथ्यमेव विश्वम्** इति। तथ्यातथ्यविभागस्य व्यवस्थाप–नात् विश्वं तथ्यमेव, यथार्थमेव, वस्तुरूपमेव, नत्ववस्तुरूपम्। स्वाप्निकवस्तुरूपम् अवस्तु। ननु जगतः सत्यत्वे सद्वरैराचार्यैः सर्वैरपि विश्वस्य सत्यत्वं कथं न प्रतिपाद्यते इत्यत आह – **मन्दप्रयोजनत्वात्** मुमुक्षुभिः सद्वरैः आचार्यैः संसारस्तु मन्दानाम् आत्मतत्त्वज्ञानशून्यानां प्रयोजनसाधकः, न तु तत्त्वज्ञानवतां विरागवतां मुमुक्षूणामिति निश्चित्य तथ्यमपि विश्वमुपेक्षितम्। संसारस्य अनित्यभोगसाधकत्वात्।

ननु धर्मार्थकाममोक्षेषु प्रयोजनेषु मध्ये मोक्ष एव परमप्रयोजनः अन्यानधीन–त्वादिति नैयायिकानामपि वेदान्तिनामिव जगत उपेक्षैव युक्तेत्यत आह – **तर्हि नैयायिकानां जगत्परिरक्षणे को यमभिनिवेशातिशय इति चेत्?** इति। वेदान्तिनामिव

नैयायिकानामपि मुमुक्षुत्वात् तेषां जगत्परीक्षणे को यम् आग्रहातिशयः? कुतो नोपेक्षा वेदान्तिनामिव मुमुक्षुत्वाविशेषात्? मुमुक्षुस्तु विरागी, न तु संसाराग्रही द श्यते इति चेत्? समाधत्ते – **सहसैव तदुपेक्षायां न्यायाभासावकाशे न्यायमार्गविप्लवो[७] भवेत्। तथा च न्यायरुचिः प्रेक्षावान् न तत्त्वमधिगच्छेदिति भियेति** इति। सहसैव जगत उपेक्षायाम् आश्रयासिद्ध्यादिना न्यायाभासस्य अवकाशः स्यात्। सत्यं जगत् कथं मिथ्या अवस्तुरूपम्? अवस्तुनः न को पि आश्रयः, न कस्यापि आश्रयो वस्तु भवतीति न्यायमार्गविप्लवो भवेत्। तथा च न्यायरुचिः प्रेक्षावान् तत्त्वं नाधिगच्छेदिति भिया जगत्परिरक्षणे नैयायिकस्य प्रव त्तिः। अयमर्थः। मोक्षोपायभूतत्वा(सत्य–त्वा)धिगमकाले एव यदि विश्वस्य उपेक्षा, ततो न्यायाभासेन = आश्रयासिद्ध्यादिना प्रमाणादीनां तत्त्वं केचिद् अपह्नुवीरन्। ततो न्यायेन तत्त्वं बुभुत्समानः प्रेक्षावान् तत्त्वं न अधिगच्छेदिति भयेन जगत्परिरक्षणे नैयायिकानां प्रव त्तिरिति सुधियो विभावयन्तु इति।

।। इति बाह्यार्थभङ्गवादः।।

सन्दर्भः

१. इत आरभ्य ''सिद्धान्ती समाधत्ते – **न।**'' (प. २८०) इत्यन्तं यावन्मूलग्रन्थभागः तदनुसारिव्याख्याभागश्च भिन्न इति भाति। वाराणसी–पुस्तके, १९८३, प. २७६, शिमलातः १९६५ प. २६४–५, द्रविडमहाभागेन संपादिते पुस्तके पि भिन्नः पाठ उपलभ्यते। स पाठांशः निम्नोक्तः व्याख्याक द्भिः न पराम ष्टः नापि व्याख्यातश्च। मन्ये व्याख्याक तां समक्षं भिन्नक्रमो ग्रन्थ आसीदिति। मुद्रितपुस्तकेष्वयं पाठो द श्यते – **''स्यादेतत्, मा भूवन्नेतानि दूषणान्यवयिविनि, अनुपलम्भस्तु स्यात्, न हि परमाणुस चयादपरं कि चिदुपलभ्यत इति चेत्, वैलक्ष्यविष्टम्भिकेयम्, स्थूलैकानुभवस्य सर्वजनसिद्धत्वात्। विकल्पमात्रं तदिति चेन्न, स्पष्टप्रतिभासत्वात्। औपाधिकमस्य स्पष्टत्वमिति चेत्''**। (द्र. वाराणसी. १९८३, प. २७६)

२. अस्य पदस्य व्याख्या न क ता ग्रन्थक ता।

३. मूले – नित्यसन्देहः इति पाठः (१९८३, वाराणसी–पुस्तके, प. २९५)।

४. मूले – सर्वथाथार्थ्यसिद्धिः इति पाठः (१९८३, वाराणसी–पुस्तके, प. २९५)।

५. ज्ञानेतरस्यार्थप्रावण्याभावात् इति पाठः (१९८३, वाराणसी–पुस्तके, प. ३१३)।

६. कर्त कर्मकरणकाल इति पाठः (१९८३, वाराणसी–पुस्तके, प. ३१४)।

७. प्रमाणमात्रविप्लवो इति पाठः (१९८३, वाराणसी–पुस्तके, प. ३१५–३१६)।

अथ त तीयपरिच्छेदः

गुणगुणिभङ्गवादः

अस्तु तर्हि गुणगुणिनोरभेदान्नैरात्म्यम्। क्षणिकज्ञानमात्रपरिशेषादिति चेत्, उच्यते। अस्ति तावदिह दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थानुसन्धानम्। तदिदमेकैकविषयं वा स्यात्, समुदायविषयं वा, तदतिरिक्तविषयं वा, वस्त्वननुरोध्याकारविषयं वा, अलीकविषयं वा।

न तावदाद्यः, न हि यदेव रूपं स एव स्पर्श इति। न च रूपं त्वगिन्द्रियाग्राह्यम्, अन्धस्यापि नीलादिप्रत्ययप्रसङ्गात्। न चैकमेव वस्तु करणभेदेनान्यथा प्रथत इति युक्तम्, अनात्मकत्वप्रसङ्गात्, भेदाभेदव्यवस्थानुपपत्तेश्च।

नापि द्वितीयः, स हि एकदेशतया वा, एककालतया वा, एककार्यतया वा, एककारणतया वेति।

न तावदुपादानरूपैकदेशसम्भवः तयोः प्रतिनियतोपादानत्वात्। सम्भवे वा तदेव द्रव्यमिति पर्यवसितं विवादेन। नाप्यधिकरणीभूतभूतलाद्याधारतया तत्सम्भवः। चक्षुषा ह्युपलभ्यमाने भूतले रूपविशेषे घटो पि चक्षुषैवोपलभ्यमानो रूपविशेषस्तदाधार इति शक्यते निश्चेतुम्। तयोरधरोत्तरभावेनैकज्ञानसंसर्गित्वात्। तदधिकरणाः स्पर्शादयो पीति तु कस्य प्रमाणस्य विषयः। न हि स्पर्शादयश्चाक्षुषे चेतसि चकासति। त्वचो यं व्यापार इत्यपि नास्ति। तयापि भूतलघटस्पर्शयोराधाराधेयभावप्रतीतेः। न च समुदाययोस्तत्सम्भवः, परस्पराश्रयत्वप्रसङ्गात्। एकाधारतायां हि समुदायानुसन्धानं समुदायानुसन्धाने चैकाधारतानुसन्धानसम्भव इति। अनवस्थाप्रङ्गाच्च, भूतलस्यापि समुदायत्वं किङ्कृतमित्यनुयोगानिव त्तेः।

[अथ नैरात्म्य-निराकरणम्]

गुणगुणिभेदभङ्गं त तीयां विप्रत्तिपत्तिं निराकर्तुमवतारयति – **अस्तु तर्हि गुणगुणिनोः अभेदान्नैरात्म्यम्, क्षणिकज्ञानमात्रपरिशेषादिति चेत्?** इति। गुणगुणिनोः अभेदेन न ज्ञानभिन्नः ज्ञानाश्रय आत्मा। न च वेदान्तिना 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति'

श्रुत्या ज्ञानरूपम् एव आत्मानं मन्यते इति नैरात्म्यमिति वाच्यम्। नित्यज्ञानरूपं ब्रह्मेति तेन स्वीकारात्। मया तु क्षणिकज्ञानमात्रस्य स्वीकृतत्वात्। तथा च नित्यात्मवादापेक्षया नैरात्म्यम् इति भावः।

आत्मप्रतिपादनसौकर्येण बाह्यमेव तुल्यन्यायं घटादिगुणिनं साधयति सिद्धान्ती – यथा बाह्ये गुणिनि घटे गुणस्य न तादात्म्यं तथा आभ्यन्तरे पि गुणगुणिनोर्ज्ञानज्ञानात्मनोर्न तादात्म्यमिति उच्यते – **अस्ति तावदिह दर्शनस्पर्शनाभ्याम् एकार्थानुसन्धानम्। तदिदम् एकैकविषयं वेत्यादि।** न तावदाद्यः 'यमहमद्राक्षं तम् अहं स्प शामि' इति दर्शनस्पर्शनाभ्याम् एकार्थविषयकं ज्ञानं भवति। तच्चेदं ज्ञानम् किं रूपस्पर्शैकैकविषयकम्, रूपस्पर्शसमुदायविषयकं वा, रूपस्पर्शातिरिक्तवस्तुविषयकं वा, वस्त्वननुरोध्याकारविषयकं वा, अलीकविषयकं वा त्वया मन्यते। तेषु विकल्पेषु न रूपमात्रविषयकम्। 'यमहम् अद्राक्षं तं स्प शामि' इति ज्ञानमिति प्रथमविकल्पो न युक्तः। यदेव रूपं स एव स्पर्श इति सर्वानुभवविरोधेन तयोरैक्याभावत्।

ननु भेदाभावेन चक्षुषा द ष्टं रूपं स्पर्शत्वेनानुसन्धीयते इति चेत्? न। रूपस्य चक्षुर्मात्रग्राह्यत्वेन त्वगिन्द्रियाग्राह्यत्वात्। अन्यथा अन्धस्यापि नीलादिरूप–प्रत्यक्षप्रसङ्गापत्तेः। नन्वेकमेव रूपादीनाम् अन्यतमं वस्तु, चक्षुरादिकरणभेदेन अन्यथा अन्यथा विवर्तते इति 'यमद्राक्षम् तमहं स्प शामि' इत्युपपद्यते इति चेत्? न। एकस्य वस्तुनः करणभेदेन अन्यथा प्रथनासंभवात्। चक्षुर्द ष्टस्य रूपस्य त्वगिन्द्रियेण स्पर्शविवर्तत्वे स्पर्शत्वेन भाने वा तस्य रूपस्य रूपस्वरूपत्वाभावापत्तेः। रूपत्वस्पर्शत्वे जाती, भिन्नेन्द्रियवेद्ये। तज्जातिमद्भिन्नेन्द्रियवेद्यं यदि न स्यात्, तदा तदवस्तु, न रूपं स्यात् न वा स्पर्शः स्यादिति तर्कविरोधात्। नैकं वस्तु भिन्नेन्द्रियेण अन्यथा भवतीति मन्तव्यम्। कि च रूपं स्पर्शाद् भिन्नम्, स्पर्शः रूपाद् भिन्न इति भेदव्यवस्थायाः रूपं रूपाद् न भिन्नम्, स्पर्शः स्पर्शान्न भिन्न इति व्यवस्थायाश्च अनुपपत्तेः। कि च रूपादीनां व्यवस्थितत्वाभावाद् व्यवस्थितवस्त्वात्मकत्वाभावप्रसङ्गात्। एकस्य नानात्मना अवभासे भेदाभेदव्यवस्थानुपपत्तेश्च। भिन्नस्य भेदावभासः अभिन्नस्य अभेदावभास इत्यङ्गीकारे हि भेदाभेदव्यवस्थासिद्धिः भवति।

'यमहमद्राक्षं तमहं स्प शामीति' प्रतिसन्धानं समुदायविषयकं = रूपस्पर्श–समुदायविषयकमिति द्वितीयविकल्पं दूषयितुमाह – **नापि द्वितीय** इति। समुदायविषयकं तत्प्रतिसन्धानमिति तव कथनं न युक्तम्, विकल्पासहत्वात्। एकोपाधिकृतयोः रूपस्पर्शयोः समुदायत्वमिति तव अभिप्रेतम्। ताद शसमुदायत्ववतोः रूपस्पर्शयोः तत्र प्रतिसन्धानमिति समुदायविषयकप्रतिसन्धानपक्षो पि न भवितुमर्हति। **स हि एकदेशतया वा, एककालतया वा, एककार्यतया वा, एककारणतया वेति?** रूपस्पर्शसमुदाय–विषयकप्रतिपक्षो हि एकदेशतया एकोपादानदेशतया रूपस्पर्शसमुदायविषयकं तत् प्रतिसन्धानमिति न भवितुमर्हति। रूपस्पर्शयोः उपादानरूपैकदेशासंभवात् इत्याह –

न तावद् उपादानरूपैकदेशसंभवः तयोः प्रतिनियतोपादानात्। संभवे वा तदेव द्रव्यम् इति पर्यवसितं विवादेन इति। कार्यस्य उपदानम् एकदेश इति शास्त्रमर्यादा। अधिकरणं देश इति लोकमर्यादा। तत्र शास्त्रमर्यादाम् अङ्गीकृत्य रूपस्पर्शयोः एकदेशत्वं न संभवति। रूपादिगुणानाम् एकावयवव्युपादानाङ्गीकर्तुः तव मते एकगुणस्य अपरगुणाभाव एवोपादानमिति रूपस्य स्पर्शाभाव उपादानम्, स्पर्शस्य रूपाभाव उपादानमिति उभयोः भिन्नोपादानकत्वेन एकोपादानकत्वाभावात्। एकरूपस्थले च रूपस्य क्षणिकत्वेन पूर्वरूपं पररूपस्य उपादानं भवति। अथवा उभयगुणस्थले सजातीयगुणः सजातीयगुणस्य उपादानमिति रूपस्य रूपमुपादानम्, स्पर्शस्य स्पर्श उपादानमिति रूपस्पर्शयोः एकोपादानकत्वाभावात्। नैकदेशतया रूपस्पर्शयोः एकप्रतिसन्धानं संभवति। यदि तयोः एकोपादानकत्वम् अङ्गीकृत्योच्यते, तदा इष्टं नः समीहितमिति कथयति **संभवे वेति।** उभयोः रूपस्पर्शयोः एकाधिकरणरूपम् एकोपादानमिति संभवे उभयोः एकाधिकरणं घटादिकं द्रव्यं गुणिरूपम् अवयवीति पर्यवसितम् आवयोः विवादेन। लोकमर्यादाया अधिकरणं देश इत्यङ्गीकृत्य रूपस्पर्शयोः एकदेशत्वेन तत्प्रतिन्धानं = रूपस्पर्शसमुदायप्रतिसन्धानं संभवतीत्युच्यते। तदाह – **नापि अधिकरणीभूत-भूतलाद्याधारतया तत्संभवः** इति। रूपस्पर्शयोरधिकरणी– भूतभूतलाद्याधारतया एकदेशतया रूपस्पर्शसमुदायप्रतिसन्धानस्य न संभवः। अत्र हेतुमाह – **चक्षुषा ह्युपलभ्यमाने रूपविशेषे घटो पि चक्षुषा एव उपलभ्यमानो रूपविशेषः तदाधार इति शक्यते निश्चेतुम्। तयोः अधरोत्तरभावेन एकज्ञान-संसर्गित्वात्। तदधिकरणाः स्पर्शादयो पीति तु कस्य प्रमाणस्य विषयः? न हि स्पर्शादयः चाक्षुषे चेतसि चकासति** इति। अवयवी नास्तीति वादिमते गुणसमुदायाद् भिन्नं द्रव्यं नास्तीति भूतलादेरपि गुणमात्रत्वात्। तथा च भूतलमपि रूपम्, घटो पि रूपमिति उपलभ्यमाने रूपविशेषे भूतले रूपविशेषो घटो पि चक्षुषैव उपलभ्यमान इति भूतलरूपरूपविशेषस्य आधारः घटरूपरूपविशेष इति निश्चेतुं शक्यते। घटभूतलयोः अधरोत्तरभावेन एकज्ञानसंसर्गित्वात्, घटभूतलयोः ज्ञानस्य समानकालिकत्वात्। तथा च भूतलं घटाधिकरणं न तु घटो भूतलाधिकरणम् इति सर्वानुभवविरोधः गुणिनो भाव इति वादिनि समुत्पतति।

ननु अधरोत्तरभाव एव नियामकः 'भूतलं घटाधिकरणम्', 'न घटो भूतलाधिकरणम्' इत्यस्य इति चेत्? एवमपि स्पर्शः किं घटरूपरूपाधिकरणकः किं वा भूतलरूपरूपाधिकरणक इति निश्चयासंभवात्। एकावयविरूपद्रव्याभावेन अयं स्पर्शः घटस्य न भूतलस्येति निर्णेतुम् अशक्यम्। उभयोः रूपत्वेनाविशेषात्, एकज्ञानसंसर्गित्वाच्च। 'यमद्राक्षं तं स्प शामि' इत्येव घटाद्यधिकरणकः स्पर्शः भूतलाधिकरणको वा स्पर्श इति कस्य प्रमाणस्य विषयः स्यात्?

ननु चाक्षुषस्यैव प्रमाणस्य विषयः स्पर्श इति चेत्? न। स्पर्शः चाक्षुषः इति चेतसि नायाति। रूपज्ञाने त्वचो व्यापार इत्यपि न चेतसि चकास्ति।

रूपस्पर्शविषयज्ञानयोः एकेन्द्रियव्यापारकत्वाभावात्। रूपज्ञानं चक्षुषा भवति स्पर्शज्ञानं च त्वचेति सर्वानुभवसिद्धस्य अपलपितुं न शक्यम्। स्पर्शः भूतलाधिकरणको घटाधिकरणको वा इति निश्चेतुम् अशक्यम्। घटभूतलयोः रूपविशेषयोः युगपत्प्रतिसन्धानेन स्पर्शः खलु पूर्वो भ्रान्त रूपाधिकरणको पि घटरूप–विशेषरूपमेव स्पर्शस्याधिकरणं भूतलरूपविशेषरूपमेव स्पर्शस्याधिकरणमिति निश्चेतुं न शक्यमिति। भूतलं घटस्पर्शाधिकरणमिति कथयितुमशक्यम्। उभयोराधाराधेयभावस्य अप्रतीतेः।

ननु भूतलरूपरूपादिविशेषसमुदायः घटरूपरूपादिविशेषसमुदायस्य आधार इति नोक्तदोषः। घटस्पर्शस्य भूतलाधारकत्वनिश्चयाद् इति चेत्? अत आह – **न च समुदाययोः तत्संभवः। परस्पराश्रयत्वप्रसङ्गात् एकाधारतायां हि समुदायानुसन्धानं समुदायानुसन्धाने चैकाधारतानुसन्धानसंभव इति। अनवस्थाप्रसङ्गाच्च भूतलस्य अपि समुदायत्वं किं कृतमित्यनुयोगानिव त्तेः** इति। भूतलरूपरूपादिविशेषसमुदाय–घटरूपरूपादिविशेषसमुदाययोः नाधाराधेयभावस्य संभवः। अन्योन्याश्रयत्वापत्तेः। एकाधिकरणत्वे रूपस्पर्शादीनां समुदायानुसन्धानं रूपस्पर्शादीनां समुदायस्य अनुसन्धाने एकाधारता नुसन्धानमिति, स्वग्रह–सापेक्षग्रह–सापेक्षग्रहविषयत्वेन समुदाययोः आधाराधेयभावासंभवात्। न हि अन्योन्याश्रये कस्यापि निश्चयो द श्यते। कि च अनवस्थापि स्यात्। भूतलस्यपि रूपादिसमुदायत्वानुसन्धानं तन्मूलभूतस्य रूपादि–समुदायस्य यत् अनुसन्धानं तदधीनैकाधारताधीनं स्यात्। तस्यापि तथा इत्येवं क्वचिदपि पर्यवसानाभावेन अनवस्थेति।

अत एव नैककालतयापि, तयोरेककालतायां प्रमाणाभावात्। भावे वा रासभकरभयोरप्येककालतया समुदायत्वप्रसङ्गः। भेदाग्रहस्य प्रकृते प्य-सम्भवात्।

अत एव नैककार्यतयापि, उपादेयरूपस्यैककार्यस्याभावात्। एकोदका-हरणलक्षणार्थक्रियेत्याद्यपि न युक्तम्। रूपाद्यतिरिक्तस्योदकस्यानभ्युपगमात्। एकैकस्यानेकाहार्यत्वे प्रमाणाभावात्। समुदायस्य चासिद्धेः।

अत एव नैककारणतयापीति। निमित्तमन्तरेण तु समुदायव्यवहारे ति प्रसङ्गः। त तीये न विवादः।

रूपरसादीनां गुणानाम् एकैकेन्द्रियग्राह्यत्वेन समुदायस्य न केनापि इन्द्रियेण ग्राह्यत्वमिति रूपस्पर्शयोः समुदायविषयप्रतिसन्धानम् एककालाधारतया एककालदेशतयेति द्वितीयपक्षो पि न युक्त इति कथयति – **अत एव नैककालतयापि, प्रमाणाभावात्** इति। रूपस्पर्शयोः एककालावच्छेदेन ज्ञानं न संभवति। त्वचः चक्षुषश्च समानकाले व्यापाराभावेन एकस्मिन् काले उभयज्ञानासंभवात्। ननु यमद्राक्षं तं स्प शामि इत्यनुभव एव उभयोः ज्ञानयोः एककालीनत्वे प्रमाणम्। ज्ञानयोः अयौगपद्यत्वे

एव न प्रमाणमिति यदि आग्रहः तदापि एककालता अतिप्रसजिकैव भवतीत्यत आह – **भावे पि वा रासभ-करभयोः एककालतया समुदायत्वप्रसङ्गः** इति। रूपस्पर्शज्ञानयोः एककालिकयोः उभयोः एककालरूपदेशसंभवेन तयोः समुदायः संभवतीति स्वीकारे रासभकरभयोः एककालतया समुदायत्वप्रसङ्गः। तथा च रूपस्पर्शयोः इव तयोरपि आधाराधेयभावापत्तिः। न चेष्टापत्तिः, सर्वानुभवविरोधात्।

ननु भेदाग्रहे सति एककालतानुसन्धानं समुदायत्वापादकं रासभकरभयोः तु भेदो गृह्यते एवेति नोक्तदोष इत्यत आह – **भेदाग्रहस्य प्रकृते प्यसंभवात्** इति। रूपस्पर्शयोः भेदस्य गृह्यमाणत्वेनैव तयोः भेदाग्रहस्य असंभव इति उभयोः समुदायत्वाभावेन 'यमद्राक्षं तं स्पृशामि' इति प्रतिसन्धानस्य रूपस्पर्शसमुदाय–विषयकत्वात्। अत एकमवयविनं गुणिनं विना न गुणसमुदायस्य अनुसन्धानं संभवति। अतो न गुणगुणिनोः तादात्म्यं संभवति। 'यमद्राक्षं तं स्पृशामि' इत्यस्य सर्वानुभव–सिद्धत्वात्। स च अनुभवः गुण्यपलापिनः तव मते नोपपद्यते। रूपस्पर्शयोः नियतोपादानकत्वेन न उभयोः एककार्यत्वमिति एककार्यत्वेनोभयोः समुदायत्वाभावात्। 'यमद्राक्षं तं स्पृशामि' इति प्रतिसन्धानस्य रूपस्पर्शसमुदायकत्वाभावात्।

एककार्यतया रूपस्पर्शसमुदायविषयकत्वमिति पक्षो पि न युक्त इत्यत आह – **अतएव नैककार्यतयापि, उपादेयरूपस्यैकस्य कार्यस्य अभावात्** इति। रूपस्य पूर्वरूपोपादानत्वं स्पर्शस्य पूर्वस्पर्शोपादानत्वं किं वा पूर्वगुणाभाव उत्तरगुणस्योपादानमिति रूपस्पर्शयोः प्रतिनियतोपादानत्वादेव रूपस्पर्शयोरेककार्योपादेयत्वमपि न वर्तते। जलाहरणस्य एकस्य कार्यस्य उभयोरुपादेयत्वाभावात्। एकस्य जलाहरणरूपादेः घटरूपस्पर्शयोः अनेककार्यत्वप्रमाणात्।

ननु घटरूपस्पर्शाभ्याम् एका जलाहरणदिरूपा क्रिया भवतीत्याह – **एकोदकाहरणलक्षणा अर्थक्रिया इत्यपि न युक्तम्। रूपाद्यतिरिक्तस्य उदकस्य अनभ्युपगमात्। एकस्यानेकाहार्यत्वे प्रमाणाभावात्। समुदायस्य चासिद्धेः** इति। द्रव्यरूपैकावयविनः त्वया स्वीकृतत्वेन जलस्यापि रूपस्पर्शादिसमुदायत्वेन बौद्धस्य तव मते जलाहरणरूपैकैकार्यस्य रूपस्पर्शादिसमुदायकार्यत्वे प्रमाणाभावेन तथा कथयितुम् अशक्यत्वात्। नन्वस्तु उदकस्य रूपरसादिसमुदायस्य अनेककार्यतेति नोक्त दोष इत्यत आह – **समुदायस्येति।** रूपरसस्पर्शादिसमुदाये रूपस्पर्शादि–समुदायरूपकारणतानिरूपितकार्यत्वस्य असिद्धेः। न हि तुरीवेमादिघटित–दण्डचक्रादि–समुदायः पट–घटादिरूप–समुदायकार्यं करोति। किन्तु तुरीवेमादिकमेकं पटकार्यं करोति, दण्डचक्रादिक च घटकार्यं करोति। तथा च विभिन्नकारणता–शालिसमुदायो विभिन्नकार्यसमुदायं कार्यं न करोतीति जलाहरणं तव मते रूपाहरणं रसाहरणं स्पर्शादिरूपसमुदायकार्यं विभिन्नजातीय–समुदायरूपं, विभिन्नजातीय–रूपस्पर्शादिघटितसमुदायरूपकारणजन्यं न भवितुमर्हति। न वा रूपरूपजलाहरणं

विभिन्नकारणताशलिभ्यां रूपस्पर्शाभ्यां जन्यते इत्यपि न वक्तव्यम्। विभिन्नकारणता–शालिभ्यां एकमेकं कार्यं भवतीत्यत्र प्रमाणाभावात्। तुरीवेमादिकं दण्डादिक च एकं पटकार्यं न करोति न वा घटकार्यमिति लोकप्रसिद्धिः तव अननुकूला भवति। एव च 'यमद्राक्षं तं स्प शामि' इत्यत्र एककार्यतया रूपस्पर्शसमुदायस्य प्रतिसन्धानं भवतीति त्वया कथयितुं न शक्यते। विभिन्नेन्द्रियाभ्यां त्वक्चक्षुर्भ्यां रूपस्पर्शादि– विभिन्न–कार्यजातीयसमुदायस्य एकं प्रतिसन्धानं भवितुं शक्यमिति गुणभिन्न एको गुणी अङ्गीकार्य इति सिद्धम्।

'यमद्राक्षं तं स्प शामि' इत्यत्र एककारणतया रूपस्पर्शसमुदायः विषयीभवतीति, द्वितीयविकल्पं खण्डयितुमाह – **अत एव नैककारणतया अपि इति। निमित्तमन्तरेण तु समुदायव्यवहारो तिप्रसङ्गः** इति। रूपं रूपस्य कारणम्, स्पर्शः स्पर्शस्य कारणम् क्षणिकवादिनः तव मतम्। रूपं स्पर्शं जनयतीति स्वीकर्तुं न शक्यते, रूपमित्यत्र स्पर्शसन्तानस्य त्वया भ्युपगमात्। रूपस्पर्शयोः प्रतिनियतकारणत्वेन विभिन्नकारणताशालिभ्यां रूपस्पर्शाभ्यां स्पर्शसमुदाये विभिन्नकार्यताशालिघटिते जन्यत्वस्य अभावेन ताद शसमुदायस्य तत्रैकप्रतिसन्धानविषयत्वमिति कथयितुम–शक्यत्वात्। भवति च दर्शनस्पर्शाभ्याम् एकार्थप्रतिसन्धानम् इति। एकार्थप्रतिसन्धानं गुणसमुदायाद् भिन्नमेकम् अवयविनं गुणिनं साधयति। गुणिनि गुणाद्भिन्ने प्रमाणमिति विज्ञेयम्। तथा च 'यमद्राक्षं तं स्प शामि' इत्यत्र रूपस्पर्शसमुदायविषयः। स हि समुदायः एकदेशतया वेत्यादिसकलविकल्पानां खण्डितत्वात्। भवति च तत्रैकार्थप्रतिसन्धानम्। स च एकार्थः गुणीरूपः गुणाद्भिन्न इति सिद्धम्।

ननु निमित्तं विनैव रूपस्पर्शसमुदायः। स च तत्प्रतिसन्धानस्य विषय इत्यत आह – **निमित्तमन्तरेण तु समुदायव्यवहारे तिप्रसङ्गः** इति। न हि कारणे समुदायव्यवहारो भवति। अन्यथा एकस्मिन् घटे घटसमुदायव्यवहारापत्तेः। रूपस्पर्शसमुदायस्य तत्र चैतस्य कारणं तु खण्डितमिति निर्मितः रूपस्पर्शसमुदायस्तत्र भासते इति कथयितुमशक्य इति बोध्यम्।

'यमद्राक्षं तं स्प शामि' इत्यत्र रूपस्पर्शयोः भिन्नः एको विषयो भवतीत्यर्थकः, तदतिरिक्तवस्तुविषयकं वेति त तीयविकल्पो मम इष्ट इति दर्शयितुमाह – **त तीये तु न विवाद** इति। तत्र चैताभ्यां रूपस्पर्शाभ्यां भिन्नस्य एकस्यैव गुणित्वात्। तथा च गुणसमुदाये गुणित्वव्यवहारः तद्भिन्नो न गुणीति तव कथनं न सिद्ध्यति। रूपादिसमुदायातिरिक्ते वस्तुरूपे तत्प्रतिसन्धानस्य विषये आवयोः अविवादः। स च पक्षो ममेष्टं जनयति न तवेष्टमिति किचिदपि न मया वक्तव्यमस्ति।

नापि चतुर्थः, स हि विज्ञाननयमाश्रित्य वा स्यात्। द्विचन्द्रादिवद् विसम्वादाद्वा।

आद्ये तु रूपादिषु कः पक्षपातः। प्राप्तेरर्थक्रियास्थितेश्च न द्वितीयो ऽपि। ते द्वे रूपादीनामिति चेत्, न तेषाम्, किन्तु तस्यैवेति किं न स्यात्। बाधकादिति चेत्, न तावत्क्रमयौगपद्यविरोधो रक्तारक्तविरोधो वा बाधकं, निषिद्धत्वात्। क्षणिकपरमाणुरूपद्रव्येणाक्रान्तेश्च। सम्बन्धाभाव इति चेत्, असम्बन्धस्तावदस्तु। कथं तद्वत् प्रतीयत इति चेत्, तेषां तथोत्पादादिति। परिहारो ऽस्तु तवैव यथा शरीरं चेतनावदिति। रूपादिभिरेव समस्तार्थक्रियासिद्धेः किं तदतिरिक्तद्रव्य-कल्पनयेति चेन्न। तावन्मात्रेणैव समस्तार्थक्रियासिद्धेः किं रूपादिकल्पनयेत्य-स्यापि वाचाटवचसो ऽवकाशप्रसङ्गात्। प्रतीयमानत्वादिति चेत्, तुल्यम्।

[**गुण्यसत्त्व-निराकरणम्**]

तत्र प्रतिसन्धाने वस्त्वननुरोध्याकारविषयकं वेति चतुर्थविकल्पं खण्डयितुमाह – **नापि चतुर्थ** इति। तत्प्रतिसन्धानं वस्त्वनुरोध्याकारविषयमिति चतुर्थविकल्पो नापि भवितुं योग्यः। विकल्पासहत्वात्। विकल्पौ दर्शयितुमाह – **स हि विज्ञाननयमाश्रित्य वा स्यात्? द्विचन्द्रादिवद् विसंवादाद्वा?** इति। घटादिविषयो ज्ञानस्य आकारविशेषः। स बाह्यो न सन्, न वस्तु किन्तु विज्ञानमेव सत् वस्तु क्षणिकम् इति नयम् (मतम्) आश्रित्य वा स्यात्। बाह्यं वस्तु वर्तते द्विचन्द्रादिवत्, बाधकाद्वा स्यात्। आद्यं खण्डयितुमाह – **आद्ये तु रूपादिषु कः पक्षपातः** इति। क्षणिकविज्ञानमेव वस्तु इति क्षणिकविज्ञानमात्रमेव जगदिति पक्षे रूपादीनां गुणानामपि अस्मिन् पक्षे सत्त्वात्। तथा च 'यमद्राक्षं तं स्प शामि' इति प्रतिसन्धाने रूपादिसमुदायो विषयो भवति, न तु तदतिरिक्तो गुणी विषयो भवतीति तव कथनं रूपादिगुणेषु तव पक्षपातं द्योतयति। गुणगुणिनोः उभयोः असत्त्वाविशेषेण गुणी नास्ति गुणो ऽस्तीति गुणे पक्षपातः। अन्यथा गुणो नास्ति गुण्यस्तीत्यस्यापि संभवात्। गुणिपदेन द्रव्यम् अवयवीति कथने गुणं विना गुणीति कथयितुम् अशक्यत्वात्।

घटादीनां जगतां विसंवादित्वे = असत्त्वे = अवस्तुत्वे, बाह्यघटादेः प्राप्तिः न स्यात्, जलाहरणादिक्रियापि न भवेत्। न शशश ङ्गादिना अवस्तुना किमपि कार्यं भवति। अतो जगतो नासत्त्वम्। न विसंवादित्वं, द्विचन्द्रादिवद् विसंवादाद् वेति विकल्पो ऽपि न युक्तः। शङ्कते – **ते द्वे रूपादीनामेवेति चेत्?** इति। बाह्यघटादिप्राप्तिः जलाहरणादिक्रिया च, रूपादीनां गुणानामेव, रूपादिसमुदायस्यैव प्राप्तिः, रूपादिसमुदायेनैव जलाहरणादिक्रिया चेति गुणाद्यतिरिक्तो न घटादिः अस्तीति चेत्? समाधत्ते – **न तेषां, किन्तु तस्यैव किं न स्यात् इति?** रूपादिगुणानामेव प्राप्तिः। तेषामेव जलाहरणादिक्रिया च भवति। न तु अवयविनः घटादेः इत्यत्र न को ऽपि विनिगमको ऽस्ति। तव मते ज्ञानातिरिक्तस्य गुणस्य गुणिनश्च असत्त्वमेव अवस्तुत्वमेवास्ति। तथा च अवयविन एव प्राप्तिः। अवयविन एव क्रिया किं न

स्यात्? रूपादिगुणानां प्राप्तिः जलाहरणादिक्रिया च नास्तीत्यस्य कथयितुं शक्यत्वात्।

ननु यदि गुणी घटादिः स्थिरः स्यात् तदा युगपद् क्रमेण वा न कुर्यात्। यदि चावयवी घटादिः भवेत् तदा रक्तारक्तविरोधः स्यादिति गुणिनि बाधकस्य सत्त्वेन गुणी न स्वीकार्य इति शङ्कते – **बाधकादिति चेत्?** कार्यस्य क्रमयौगपद्यविरोधात्। रक्तारक्तविरोधाच्च नैको वयवी स्वीकार्य इति घटादिप्राप्तिः गुणानामेव प्राप्तिः। घटेन जलाहरणादिक्रिया रूपादिगुणानामेव न तदतिरिक्तस्य अवयविनो घटस्य। अवयविनि बाधकस्य सत्त्वादिति चेत्? समाधत्ते – **न। तावत् क्रमयौगपद्यविरह-विरोधो रक्तारक्तविरोधो वा बाधकम्, निषिद्धत्वात्। क्षणिकपरमाणुरूपद्रव्येण अनाक्रान्तेश्च**[1] इति। स्थिरस्य अवयविनः क्रमयौगपद्यक्रियाया असंभवेन स्थिरत्वांशे बाधकम् रक्तारक्तत्वमेकस्मिन् अवयविनि असंभव इति एकस्मिन् अवयविनि बाधक च इत्यनयोः बाधकयोः निषिद्धत्वात् = निराकृतत्वात्। समर्थेनापि बीजेन सहकारिसमवधानविरहे अङ्कुराजननम्, तत्समवधानेन तज्जननमिति उभयोरुपपत्तौ बीजादीनां न क्षणिकत्वम् इति **प्रथमपरिच्छेदे** समर्थनेन तत्र तस्य बाधकस्य निराकृतत्वात्। अवयविनि रक्तारक्तविरोधस्य **द्वितीयपरिच्छेदे** निराक तत्वाच्च।

ननु क्षणिकपरमाणुभिश्च प्राप्ते जलाहरणादेश्च सिद्धे न तदतिरिक्तो वयवी स्वीकार्यः। तत्र प्रमाणाभावात् इति मनसिक त्य समाधत्ते – **क्षणिकपरमाणुरूप-द्रव्येणानाक्रान्तेश्च** इति। य एकः तत्कार्ये असमर्थः तत्समुदायो पि तत्रासमर्थ एव। यथैका सिकता तैलदाने समर्था तत्समुदायो पि तत्रासमर्थ एव द ष्ट इति। एकः क्षणिकः परमाणुः जलाहरणे समर्थः तत्समुदायो पि असमर्थ एव। तत्रेति अवयविनं क्षणिकपरमाणुद्रव्यं नाक्रामति। अतः बाह्यघटादेः परमाणुना क्षणिकेन द्रव्येण गुणगुणिनो नाक्रान्तेः एको गुणी स्वीकार्य इति।

गुणानां गुणिनां संबन्धाभावो गुणिनि बाधकः। गुणसमवायाद्धि गुणी भवेत्। स एव तु नास्तीति शङ्कते – **सम्बन्धाभाव इति चेत्?** गुणगुणिनोः समवायाद् भिन्नः संबन्धो बाधकात् त्वया नाङ्गीक्रियते। समवायसम्बन्धस्तु नास्त्येव साधकाभावात्। अतो गुणसंबन्धाभावरूपबाधकस्य सत्त्वेन गुणी नाङ्गीकार्य इति चेत्? समाधत्ते – **असंबन्धः तावदस्तु** इति। गुणगुणिनो न सम्बन्धो स्तु का क्षतिः। क्षत्यभावेन गुणगुणिनोः असंबन्ध एव तावदस्तु, तयोः सम्बन्धाभाव इष्ट एव न बाधक इति।

ननु गुणगुणिनोः असंबन्धे कथं गुणवान् गुणी इत्याधाराधेयभावस्य प्रतीतिः। न हि संबन्धं विना आधाराधेयभावो भवतीति शङ्कते – **कथं तद्वत्प्रतीयते इति चेत्?** इति। उभयोः गुणगुणिनोः संबन्धाभावे गुणवत्ता गुणिनः प्रतीयत इति चेत्? समाधत्ते – **तेषां तथोत्पादादिति परिहारो स्तु। तथैव यथा शरीरं चेतनावदिति।** गुणिनां गुणविशिष्टानामेव उत्पादात् गुणवत्तायाः तत्र प्रतीतिः, यथा तव मते चेतना–

विशिष्टस्य शरीरस्य उत्पादेन शरीरं चेतनावद् भवति। तथा च उभयोः सम्बन्धाभावो गुणिनि न बाधक इति। तथा च संबन्धं विनैव गुणवानिति विशिष्टबुद्धिजनकत्वेन गुणविशिष्टस्य गुणिनः उत्पादात् गुणवान् इति विशिष्टबुद्धिः संबन्धं विनैव उपपन्ना। विशिष्टबुद्धिः विशेष्य–विशेषणसंबन्धविषया भवतीति न स्वीक्रियते। तव मते संबन्धं विनैव चेतनाविशिष्टस्य शरीरस्य चेतनावच्छशरीरमिति विशिष्टबुद्धिजनकस्य उत्पाद–दर्शनेन त्वया साकं मम विचारे संबन्धं विनैव विशिष्टबुद्धिरिति कथने न कोपि दोषः।

गुणादीनाम् उभयमतसिद्धत्वेन क्ल प्तत्वमिति लाघवात् रूपादिभिः एव समस्तार्थक्रियायाः सिद्धेन गौरवात् तदतिरिक्तो गुणी न स्वीकार्य इति शङ्कते – **रूपादिभिरेव समस्तार्थक्रियासिद्धेः किं तदतिरिक्तद्रव्यकल्पनयेति चेत्?** इति। जलाहरणादिका सर्वा क्रिया रूपादिभिः गुणैरैव संभवतीति रूपाद्यतिरिक्तं द्रव्यं गौरवादुभयमतसिद्धत्वाच्च न कल्पनीयम्। विवादविषयीभूतस्य उभयमतसिद्धेन लघुना कार्यसिद्धौ गौरवं बाधकं भवतीति चेत्? गुणिमात्रेणैव समस्तार्थक्रियायाः सिद्धेः, किं रूपादिकल्पनया इत्यस्यापि वावदूकवचसो वकाशापत्तेः। एकेनैव गुणिना तत्कार्यसिद्धे बहूनां रूपादीनां तत्कारणत्वे गौरवात्।

ननु रूपरसादिः प्रतीयते। अतः सः स्वीकार्य इति शङ्कते – **प्रतीयमानत्वादिति चेत्?** इति। रूपादिकमेव सर्वत्र प्रतीयते न तु तद्विशिष्टम् अवयवि द्रव्यमिति गुणिद्रव्यस्य प्रतीत्यभाव एव गुणिनि द्रव्ये बाधक इति चेत्? प्रतिबन्धमेव निराकरोति – **तुल्यम्** इति। सर्वत्र गुणी प्रतीयते न रूपादिकमिति कथयितुं शक्यते इति। गुणिरूपद्रव्यम् अवयविभूतं स्वीकार्यं न रूपादिकमिति मया कथयितुं शक्यते, युक्तेः तुल्यत्वात्।

एतेनालीकविषयतापि निरस्ता। अभेदसाधनं बाधकमिति चेत्, किं तत्। सहोपलम्भनियम इति चेन्न। समसहोपलम्भनियमस्यासिद्धेः, पीतशङ्खोपलम्भादौ श्वैत्यानुपलम्भे पि शङ्खोपलम्भात्।

नासौ शङ्खः, किन्तु शङ्ख इव, तैमिरिककेशवदिति चेत्, अहो गुणवद्विद्वेषः। यत् तैमिरिककेशाः करतलपरामर्शप्रतिनियतार्थक्रिययोरपायान्न सम्भवन्तीति व्यवस्थापयति। इह तु तत्सम्भवे पि शुभ्रतामात्रानुपलम्भादिति।

व्यापकत्वादिति चेत्, वस्तुनोर्व्याप्तिरुपलम्भयोर्वा। आद्ये न विप्रतिपत्तिः। न च व्यापकानुपलब्धिमात्रेण व्याप्यतदुपलब्धी निवर्त्तेते। दहनानुपलब्धौ धूमतदुपलब्ध्योरपि निव त्तिप्रसङ्गात्। तत्रापि वा किं न परिकल्पयसि धूम इवासौ न धूम इति, पावकवत्तानुपलब्धेरिति। तस्मान्न व्यापकानुपलब्धेर्व्याप्यनिव त्तिः, किन्तु व्यापकनिव त्तेः। सा चात्रासिद्धेति वाच्यम्। तदेतत्

तुल्यं प्रकृते पि। उपलब्धेस्तु व्याप्तिरिहैव भग्ना। श्वैत्यानुपलम्भे पि शङ्खोपलम्भादित्युक्तम्।

'यमद्राक्षं तं स्प शामि' इति प्रतिसन्धानम् एकवस्तुविषयकं तत्र अलीकमेव भासते। तच्च अवस्तु इति अलीकविषयं वेति प चमविकल्पं निरसयितुमाह – **एतेन अलीकविषयतापि निरस्ता** इति। गुणस्य गुणिनश्च प्रतीयमानत्वाद् अवश्यं मन्तव्यत्वेन गुणिनि बाधकाभावेन च 'यमद्राक्षं तं स्प शामि' इति प्रतिसन्धानीयविषयता अलीके स्ति न गुणे गुणिनि वेति परास्तम्। सा विषयता परास्ता वा। अथवा गुणिनि बाधकस्य निरस्तत्वेन 'यमद्राक्षं तं स्प शामि' इति प्रतिसन्धानीयविषयता अलीके परास्ता।

ननु गुणगुणिनोः अभेदसाधनमेव गुणिनि बाधकमिति शङ्कते – **अभेदसाधनमेव बाधकमिति चेत्?** इति। तयोरभेदसाधकः किमिति प च्छति सिद्धान्ती – **किं तत्?** इति। गुणगुणिनोः अभेदस्य किं साधनम्? वादी उत्तरयति – **सहोपलम्भनियम इति चेत्?** इति। गुणगुणिनोः सहोपलम्भः तयोः अभेदादेव संभवति नान्यथेति तयोः सहोपलम्भ एव तयोः अभेदसाधकः। गुणी न गुणभिन्नः, सहोपलम्भात्। यस्य येन सहोपलम्भनियमः तत् तस्मान्न भिद्यते, यथैकस्मात् चन्द्राद् द्वितीयचन्द्र इति। नियतसहोपलम्भश्च गुणेन गुणवान्। अतस्तस्मात् गुणात् गुणी न भिद्यते इति। बौद्धमते प्रतिज्ञा–हेतु–उदाहरणानि किं वा उदाहरण–उपनय–निगमनानि न्यायावयवाः। गुणगुणिनोः सहोपलम्भनियम एव नास्तीति कथं तेन तयोः अभेदो भविष्यतीति परिहरति सिद्धान्ती – **न। सहोपलम्भनियमस्य असिद्धेः। पीतशङ्खोपलम्भादौ श्वैत्यानुपलम्भे पि शङ्खोपलम्भादिति।** गुणेन गुणिनः सहोपलम्भनियमो नास्ति। पित्तमहिम्ना 'पीतः शङ्खः' इति उपलम्भे, श्वैत्यस्य शङ्खगुणस्य अनुपलम्भे पि शंखस्य उपलम्भात्, गुणगुणिनोः सहोपलम्भनियमे व्यभिचारेण यत्र यत्र गुणिन उपलम्भः तत्र तत्र गुणस्योपलम्भ इति नियमस्य वक्तुमशक्यत्वेन गुणगुणिनोः सहोपलम्भनियमात् तयोरभेद इत्यसिद्धेः।

पूर्वपक्षी शङ्कते – **नासौ शङ्खः किन्तु शङ्ख इव तैमिरिककेशवदिति चेत्?** इति। शङ्खः पीत इत्यत्र यः पीतत्वेन उपलभ्यते असौ न शङ्खः। शङ्खसद शे शङ्खभ्रान्तिः भवति। यथा केशसद शे तैमिरिके केशभ्रान्तिः, अयं केश इति चेत्? तैमिरिककेशानां करतलपरामर्शस्य केशनियतार्थक्रियायाश्च अभावात् असत्त्वम्। 'शङ्खः पीतः' इत्यत्र तु तदुभयमस्ति। श्वेतगुणो स्ति, शङ्खो पि अस्ति, केवलपित्तदोषेण श्वेतत्वं न भासते इति कथं शङ्खस्य असत्त्वम् इत्याशयेन परिहरति सिद्धान्ती – **अहो! गुणवद्विद्वेषः, यत्तैमिरिककेशाः करतलपरामर्शप्रतिनियतप्राप्त्यर्थक्रिययोः अपायात् न सन्तीति व्यवस्थापयति, इह तु तत्सम्भवे पि शुभ्रतामात्रानुपलम्भादिति।** गुणवति गुणिनि विद्वेषो यस्य स गुणवद्विद्वेषो भवान्। यत् करतलपरामर्शस्य केशनियतार्थक्रियायाश्च अभावात् तैमिरिककेशा न सन्तीति

व्यवस्थापयति। तद् युक्तम्। पित्तदोषेण 'शङ्खः पीतः' इत्युपलम्भे तु शङ्खस्य सत्त्वेन तत्र शुक्लगुणो न भासते, तत्र दोषस्य कारणत्वं पीतत्व च भासते दोषात्। द ष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः वैषम्येन शङ्खाभावस्य अत्र कथयितुम् अशक्यत्वात्। तैमिरिककेशेन शङ्खः पीत इत्यत्र तुल्यन्यायत्वाभावे पि तव केशवद्भ्रान्तिः इति कथने गुणिनि तव विद्वेष एव कारणं नान्यदिति प्रतिभाति। तुल्यन्यायत्वाभावमेव दर्शयितुमाह मूलकारः – **तैमिरिककेशा इति।**

ननु व्यापकाभावेन व्याप्याभावः सिद्ध्यतीति सर्वे आमनन्ति। प्रकृते च शुभ्रताया अभावेन तद्व्याप्यस्य शङ्खस्य अभावः कथ्यते इति न गुणिनि मम विद्वेष इति शङ्कते – **व्यापकत्वादिति चेत्?** इति। न विद्वेषमात्राद् गुणिनो सत्त्वं ब्रूमः, किन्तु गुणिनं प्रति गुणस्य व्यापकत्वात्, व्यापकानुपलब्धेः व्याप्याभावो भिहितः। तथा च शङ्खः पीत इत्यत्र शङ्खव्यापिकायाः शुभ्रताया अनुपलम्भे कथं न शंखस्य अभावो भविष्यति इति चेत्? विकल्पासहत्वेन तव कथनं न युक्तमिति समाधत्ते सिद्धान्ती – **वस्तुनोः व्याप्तिः? उपलम्भयोर्वा? आद्ये न विप्रतिपत्तिः** इति। वस्तुनोः व्याप्तिरित्युच्यते? उपलम्भयोर्वा व्याप्तिरित्युच्यते? शुभ्रतायाः व्याप्यः शङ्ख इत्युच्यते? शुभ्रतोपलम्भस्य शङ्खोपलम्भो व्याप्य इत्युच्यते। आद्ये वस्तुनोः व्याप्तिरित्यत्र न मम विप्रतिपत्तिः मया पि स्वीक्रियते एव। शुभ्रता व्यापिका शङ्खो व्याप्य इति शुभ्रतानिरूपिता व्याप्तिः शङ्खे स्ति। पीतः शङ्ख इत्यत्र शुभ्रतायाः शङ्खे सत्त्वेन तदभावो नास्ति। शुभ्रताया अनुपलम्भस्तु पित्तदोषेण भवति। यावत्या सामाग्र्या यत्र प्रतियोग्युपलम्भो भवति तस्याः सामग्र्याः सत्त्वे तत्र यदि प्रतियोगी नोपलभ्यते तदा तत्र प्रतियोगिनो भावः सिद्ध्यति। प्रतियोगिप्रत्यक्षसामग्रीघटकश्च दोषाभावो पि। स च प्रकृते नास्ति। प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता सर्ववादिसिद्धा। प्रतियोगिसत्त्व–प्रस जनप्रसजितत्वम् अभावस्य। स्फीतालोकसत्त्वे यदि घटः स्यात् तर्हि उपलभ्येत, यतो त्र नोपलभ्यते अतो त्र घटो नास्तीति निर्णीयते। तथा च शुभ्रताया व्यापिका अभाव एव प्रकृते नास्ति इति कथं व्यापकाभावात् व्याप्यस्य शङ्खस्य अभावो भविष्यति। तदनुपलब्धिश्च न तदभावे कारणम्। शरावादिना पिहितस्य दीपस्य अनुपलम्भे पि तदभावस्यासत्त्वात्।

कि च गुणगुणिनोः व्याप्तौ न विप्रतिपत्तिः। किन्तु व्यापकनिव त्यैव व्याप्य–तदुपलम्भयोः निव त्तिर्वक्तव्या। न एकानुपलब्धिमात्रेण = न केवलं व्यापकानुपलब्ध्या। अत्र च श्वैत्यानुपलम्भे पि शङ्खोपलब्धेः प्रतिपाद्यत्वाद् उपलब्धिनिषेधः क्रियते, श्वैत्यानुपलब्ध्या शङ्खोपलब्धिः न स्याद् इत्यापाद्यते। व्याप्यनिव त्तिनिषेधो पि उपलब्धिनिषेधौपयिकतया क्रियते इति मन्तव्यम् इति **नारायणी व्याख्या।**

व्यापकनिव त्त्या व्याप्यस्य तदुपलम्भस्य च निव त्तिर्वक्तव्या। त्वया च व्याप्योपलम्भनिव त्तिः कथ्यते न व्याप्यस्य निव त्तिरिति न युक्तम्। उभयनिव त्त्योर्वक्त–

व्यत्वात्। व्यापकोलब्धिव्याप्योपलब्ध्योः व्याप्यव्यापकभाव इति द्वितीयविकल्पं खण्डयति – **न च व्यापकानुपब्धिमात्रेण व्याप्यतदुपलब्धी निवर्तेते। दहनानुपलब्धौ धूमतदुपलब्ध्योरपि निव त्तिप्रसङ्गात्। तत्रापि वा किं न परिकल्पयसि धूम इवासौ न धूम इति पावकवत्तानुपलब्धेरिति। तस्मान्न व्यापकानुपलब्ध्या व्याप्यतदुपलब्ध्योः निव त्तिः, किन्तु व्यापकनिव त्तेः। सा च अत्र असिद्धेति वाच्यम्। तदेतत् तुल्यं प्रकृते पि** इति। व्यापकानुपलब्धिमात्रेण व्याप्यतदुपलब्ध्युभौ न निवर्तेते। वह्न्यनुपलब्धौ दहनव्याप्यधूमोपलब्ध्योरपि निव त्तिप्रसङ्गात्। उपहसति – **तत्रापीति।** पर्वते धूमव्यापकवह्न्यदर्शनेन धूमदर्शनस्थले अपि तथा धूमसद शो यं न धूम इति किं न कल्पयसि। यथा पीतः शङ्खः इत्यत्र शङ्खसद शो न शङ्ख इति कल्पयसि? तस्मात् व्यापकानुपलब्ध्या व्याप्यतदुपलब्ध्योः निव त्तिर्नेति वाच्यम्। तथा च शङ्खः पीत इत्यत्र श्वैत्यानुपलब्ध्या शङ्खशङ्खोपलब्ध्योः निव त्तिर्न वाच्या। तथा वह्न्यनुपलब्ध्या पर्वते धूमे धूमसद श इति न भवति। तथा शङ्खः पीत इत्यत्र श्वैत्यानुपलब्ध्या शङ्खसद श इति न वक्तव्यम्। एव च तत्र शङ्खाभावो न सिद्ध्यतीति भावः। किन्तु व्यापकस्य निव त्त्या व्याप्यस्य निव त्तिर्भवति। सा च व्यापकस्य श्वेतत्वस्य निव त्तिः न सिद्धा। तदनुपलब्धिमात्रं न तदभावसाधकम्। सरावपिहिते दीपे व्यभिचारात्। एव च पर्वतो वह्निमान् धूमाद् इत्यत्र धूमदर्शने सति वह्नेरदर्शनात् यथा धूमसद शो यं न धूम इति न भवति इति धूमाभावो न सिद्ध्यति। तथा पीतः शङ्खः इत्यत्रापि शङ्खसद शो यं न शङ्ख इति न मन्तव्यमिति शङ्खाभावो प्यत्र न सिद्ध्यति। पित्तादिदोषेण शङ्खसमवेत–श्वेतत्वाभाने पि श्वेतत्वस्य तत्र सत्त्वात्। अन्यथा पित्तादिदोषाभाववतः पुरूषस्य शङ्खे श्वेतत्वप्रत्यक्षानुपपत्त्या शङ्खः श्वेत इति प्रत्यक्षानुपपत्तेः व्यापकोपलम्भव्याप्योपलम्भयोः व्याप्यव्यापकभाव इति द्वितीयविकल्पं खण्डयितुमाह – **उपलब्धेस्तु व्याप्तिरिहैव भङ्गा। श्वैत्यानुपलम्भे पि शङ्खोपलम्भादित्युक्तम्** इति। श्वैत्योपलम्भो व्यापकः, शङ्खोपलम्भो व्याप्यः इति व्यापकानुपलम्भात्। व्याप्यानुपलम्भेन पीतः शङ्ख इत्यत्र शङ्खाभावः सिद्ध्यति। यन्न उपलभ्यते तन्नास्तीति व्याप्तेः इति तव कथनं न युक्तम्। पीतः शङ्ख इत्यत्र श्वेतत्वानुपलम्भे पि शङ्खोपलम्भस्य सत्त्वेन उपलब्धेः व्याप्तिः अत्रैव भङ्गेति।

स्यादेतत्। पीत एव शङ्ख उत्पन्न इति चेन्न पुरुषान्तरेण श्वैत्यस्योपलब्धेः।

नाप्यसम एव सहोपलम्भानियमो हेतुः अनैकान्तात्। अभास्वरं रूपं भास्वरेण सह नियमेनोपलभ्यते। भिन्नं चेति। देशाविच्छेद इति चेन्न, असिद्धेः। देहदेहिभ्यामनैकान्ताच्च। न तयोरविच्छेदस्तदुपलम्भे प्युपलम्भादिति चेत्, तुल्यम्। रूपाद्यनुपलम्भे पि तद्वतामुपलब्धेः। तथापि न विपर्ययः कदापीति चेत्, तुल्यम्। न हि देहाद्यनुपलम्भे देह्यनुपलम्भवद्देह्यनुपलम्भे पि देहस्योपलम्भ-

सम्भवस्तव दर्शने प्रतिपत्तिनिष्पत्तिसामग्रीसाहित्यनियमेन सहोपलम्भो वा देशाविच्छेदो वा स्यात्। नियमेन विरुद्धधर्माध्यासाद्भेदश्चेति को विरोधः।

ननु शुक्तिरजतस्थल इव सर्वत्र भ्रमे अविद्याजन्य एव प्रातिभासिकः पदार्थो जन्यते। पदार्थेन सह इन्द्रियसंबन्धस्य प्रत्यक्षं प्रति कारणत्वात्। अविद्यमानेन पदार्थेन सह न इन्द्रियसंबन्धः (संभवति)। तथा च पीतः शङ्ख इत्यत्र अविद्यया संव त्त्या वा पीतः शङ्खः उत्पद्यते। न श्वेतशङ्खो स्तीति शङ्कते – **स्यादेतत्। पीत एव शङ्ख उत्पन्न इति चेत्?** इति। पीतः शङ्ख इत्यत्र पीतशङ्खस्य संव त्त्या अविद्यया वा उत्पन्नस्य भानं न तु श्वेतशङ्खस्य भानम् इति व्यापकोपलब्ध्यैव व्याप्योपलब्धिरिति गुणगुणिनोः सहोपलम्भनियमेन श्वेतत्वगुणस्य व्यापकस्य अनुपलब्ध्या शङ्खस्य व्याप्यस्य अनुपलब्धिरिति गुणगुणिनोः तादात्म्येन गुणिनो भावः सिद्ध्यति। न च गुणाभावः कथयितुं शक्यते। गुणस्य उभयवादिसिद्धत्वेन तदभावस्य कथयितुमशक्यत्वादिति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **न। पुरूषान्तरेण श्वेतस्य एव उपलब्धेः** इति। न संव त्त्या अविद्यया वा पीतः शङ्खः इत्यादि भ्रमस्थले प्रातिभासिकपीतशङ्खस्य उत्पत्तिः स्वीकार्या। तत्र पुरुषान्तरेण पित्तादिदोषरहितेन श्वेतः शङ्खः इत्युपलम्भेन श्वेतस्यैव शङ्खोपलब्धेः। कि च दोषापगमे कालान्तरेण तस्यैव पूर्वकालिकभ्रमोपलक्षितस्य पुरुषस्य नायं पीतः किन्तु श्वेतः शङ्खः इत्युपलब्धेः। तथाच श्वैत्यगुणस्य व्यापकस्य अनुपलम्भे पि व्याप्यस्य शङ्खस्य उपलब्धिर्भवति शङ्खः पीत इत्यत्र इति। गुणगुणिनोः सहोपलम्भनियमाभावेन न गुणाभावेन गुणिनो भावः सिद्ध्यति।

ननु गुणेन सह गुणिन उपलम्भ इति गुणगुणिनोः सहोपलम्भः पीतः शङ्ख इति दर्शयित्वा त्वया खण्डित इति तयोः सहोपलम्भो मास्तु। किन्तु गुणिना सहैव गुणोपलम्भ इत्यसम एव सहोपलम्भनियमो पि गुणिनि बाधको स्तीति शङ्कते पूर्वपक्षी – **नाप्यसम एव सहोपलम्भनियमो हेतुः** इति। गुणगुण्युपलब्ध्योः उभयोः अपि न साहित्यनियमो हेतुः। शङखः पीत इत्यत्र शङ्खव त्तिशुक्लत्वग्रहे पि गुणिनः शङ्खस्य ग्रहणात्। किन्तु असम एव गुणगुणिनोः उपलम्भो स्तु। गुण्युपलम्भं विना गुणोपलम्भस्य अभावात्। गुणोपलब्धेरेव गुण्युपलब्ध्या सहित्यनियमो हेतुः। न तु गुण्युपलब्धेः गुणोपलब्ध्या साहित्यनियमो हेतुः। शङ्खः पीत इत्यत्र व्यभिचारात्। गुणेन उभयवाद्यसिद्धत्वेन गुणिनोः अभावो स्ति न तु गुणस्य अभावः। गुणस्य उभयवादिसिद्धत्वात्। तथा च शुक्लः शङ्खः, पीतः शङ्खः इत्यादौ गुणस्यैवोपलम्भः, न तु गुणिन उपलम्भ इति गुणातिरिक्तो गुणी न मन्तव्य इति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **अनैकान्तिकात्। अभास्वरं हि रूपं भास्वरेण सह नियमेन उपलभ्यते, ततो भिन्न चेति**। गुणिना सहैव गुणोपलम्भ इत्यसमसहोपलम्भनियमो पि गुणिषु न बाधको भवितुमर्हति। येन सह यस्य उपलम्भः स तत्स्वरूपो न तु ततो भिन्न इति

अभिन्नत्वात् स न मन्तव्यः? इत्येव तव तात्पर्यम्। यथा गुणिना सह असमसहोपलम्भो गुणस्य भवति अतो गुणाद् भिन्नो गुणी न मन्तव्यो, गौरवात्। नात्र विनिगमनाविरहः। गुणस्य उभयवादिसिद्धत्वादिति तात्पर्यम्। तन्न युक्तम्। अभास्वरं हि घटस्य रूपम् आलोकस्य रूपेण सह भासते। तथा च आलोकरूपेण सह घटरूपोपलम्भे पि नालोकरूपाभिन्नं घटरूपं भवति। घटरूपं नालोकरूपं विना भासते। आलोकरूपं तु घटरूपं विनापि भासते इत्यसम एव सहोपलम्भनियमः तव व्यभिचरितः। घटरूपाद् आलोकरूपं भिन्नम्। तथा च गुणिना सह गुणस्य उपलम्भे अपि न तयोः ऐक्यं, किन्तु भिन्नत्वमेव। अतो न गुणगुणिनोः अभेदो येन गुणभिन्नो गुणी न स्यात्।

ननु गुणगुणिनोः देशाविच्छेद एव तयोरभेदसाधक इति शङ्कते – **देशाविच्छेद इति चेत्?** इति। ययोः देशः अभिन्नः स तदभिन्नः इति। गुणिनोश्च देशो भिन्न इति तयोः अभेदः। घटरूपालोकरूपयोश्च न देशो भिन्न इति न तयोरभेदः। घटरूपस्य घटो देशः आलोकरूपस्य आलोको देश इत्युभयोः देशयोः भिन्नत्वात्। तथा च अभिन्नदेशत्वे सति येन सह यस्य उपलम्भः स तद्भिन्न इति असमसहोपलम्भनियमे न व्यभिचार इति चेत्? सिद्धान्ती उत्तरयति – **न। असिद्धेः** इति। गुणगुणिनोः भिन्नदेशत्वेन अभिन्नदेशत्वे सति येन सह यस्य असम एव सहोपलम्भनियमः तयोः अभेदस्य साधक इति तव अभेदसाधकहेतोः गुणिनि सत्त्वेन गुणगुणिनोः अभेद इति कथयितुम् अशक्यम्। तव हेतोः पक्षैकदेशाव त्तित्वेन स्वरूपासिद्धत्वात्। पक्षतावच्छेदकत्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वं स्वरूपासिद्धत्वम्। न हेत्वाभासः साध्यं साधयितुं क्षमते। गुणस्य गुण्येव देशः, गुणिनश्च सावयवो देश इति उभयोः देशयोर्भेदात्।

ननु अन्यतरसंस ष्टाकाशदेशवर्तित्वमेव इतरस्य देश इति गुणगुणिनोः आकाश एव देश इत्युभयोरभिन्नत्वेन तयोः ऐक्यमिति शङ्कां मनसिकृत्योत्तरयति सिद्धान्ती – **देहदेहिभ्यामनैकान्ताच्च** इति। भिन्नत्वेन अभिमतयोः विज्ञानरूपदेहि–देहयोरपि अन्यतरसंस ष्टाकाशदेशवर्तित्वस्यैव अन्यतरस्य देश इत्युभयोः ताद शाकाशदेशत्वात् देहिदेहयोरप्यैक्यापत्तेः। क्षणिकविज्ञानमेवात्मा। विज्ञानस्य आकारो देह इति देहि–देहयोरपि तव अभिप्रेतयोः असिद्ध्यापत्तेः। देहदेहिनोः देशाविच्छेदे पि त्वया ऐक्यानुपगमाच्च। विपक्षी शङ्कते – **न तयोरविच्छेदः तदनुपलम्भे प्युपलम्भाद् इति चेत्?** इति। देहदेहिनोः देशाविच्छेदो न, देहानुपलम्भे पि देहिन अनुपलम्भादिति देहदेहिनोः नैक्यमिति चेत्? एवं तर्हि पीतशङ्खादौ स्वगत–शुक्लरूपानुपलम्भे पि शङ्खोपलम्भात् न गुण गुणिनोर्देशाविच्छेद इति नोभयोः गुणगुणिनोरैक्यं भवितुं योग्यमिति। समाधत्ते – **तुल्यम्, रूपाद्यनुपलम्भे पि तद्वतामुपलब्धेः** इति। शङ्खः पीत इत्यत्र पित्तादिदोषेण शङ्खे श्वेतत्वगुणानुपलम्भे पि पीततया शङ्खोपलब्धेः न गुणगुणिनोः अभेद इति युक्तेः तुल्यत्वात्। यथा तव विज्ञानरूपस्य देहिन अनुसन्धानसमये नियमेन न देहानुसन्धानम्। देहिनो विज्ञानस्य तव मते स्वप्रकाशस्य

अहमिति उपलम्भकाले नियमेन न देहोपलम्भः। तथा ममापि गुणवत्ताया उपलम्भकाले न नियमेन स्वकीयगुणस्य उपलम्भ इति उभयोः तुल्यत्वम्। पीतः शङ्ख इत्यत्र शङ्खस्य उपलम्भे पि स्वकीयशुक्लत्वस्य अग्रहात्।

शङ्कते – **तथापि न विपर्ययः कदापीति चेत्?** इति। गुणवतः अनुपलम्भे पि गुणस्योपलम्भ इति विपर्य्यासः कदापि न भवति। शङ्कर **मिश्रा**स्तु यद्यपि (पीतः शङ्ख इत्यत्र) गुणानुपलम्भे पि गुण्युपलम्भो स्ति तथापि गुण्यनुपलम्भे गुणानुपलम्भो स्तीति अभिप्रायेण आशङ्कते **तथापीति** वदन्ति। (तथापि गुण्यनुपलम्भे न गुणोपलम्भो स्तीत्यभिप्रायेण शङ्कते **तथापीति** मिश्राः वदन्तीति समीचीनं प्रतिभाति। अतो विपर्यय इत्युक्तम्) गुणानुपलम्भे पि गुण्युपलम्भो भवति। शङ्खः पीत इत्यत्र तथापि गुण्यनुपलम्भे गुणोपलम्भः कदापि न भवति। अतो गुणगुणिनोः असम एव सहोपलम्भनियमो हेतुः। गुणगुणिनोः तादात्म्यं साधयतीति गुणभिन्नो न गुण्यस्तीति चेत्? समाधत्ते सिद्धान्ती – **तुल्यम्। न हि देहानुपलम्भे देह्युपलम्भवद् देह्यनुपलम्भे पि देहस्य उपलम्भसंभवः। तव दर्शने प्रतिपत्तिनिष्पत्ति-सामग्री-साहित्यनियमेन च सहोपलम्भो वा देशाविच्छेदो वा स्यात्। नियमेन विरुद्धधर्माध्यासाद् भेदश्चेति को विरोधः?** इति। देहानुपलम्भे देह्युपलम्भवद् देह्यनुपलम्भे पि देहोपलम्भस्य न संभवः। विज्ञानात्मवादिनस्तव दर्शने देहविज्ञानकाले देहस्येव तद्विज्ञानस्यापि स्वयंप्रकाशस्य उपलम्भसिद्धेः। अतो देहज्ञानकाले देहदेहिनोः ज्ञानं भवति। देहिनो ज्ञानस्य स्वयंप्रकाशत्वात्। देह्यनुपलम्भकाले देहोपलम्भो न भवति। देहस्य स्वप्रकाशत्वाभावात्। तथा च देहदेहिनोः अभिन्नत्वेन देहिनो भावापत्तिरिति तव सिद्धान्तभङ्गः। सहोपलम्भनियमदेशाविच्छेदयोः स्वरूपासिद्धावपि तयोः अन्यथा–सिद्धिरित्याह – **तव दर्शने प्रतिपत्तिनिष्पत्तीति।** यद्यपि प्रतिपत्ति–(ज्ञान)–सामग्रीसाहित्यनियमेन सहोपलम्भनियमः, निष्पत्ति–(उत्पत्ति)–सामग्रीसाहित्यनियमेन देशाविच्छेदो वा स्यात्। तथापि नियमेन विरुद्धधर्माध्यासाद् गुणगुणिनोः भेदश्चेति को विरोधः? गुणगुणिनोर्भवतु सहोपलम्भस्तथापि उभयोर्भेदेन नाभेद इति गुणेन गुणिनो भावो न भवितुमर्हति।

धर्मविरोध एव को त्रेति चेत्, तदुपलम्भे प्यनुपलम्भः तदभिधाने प्यनभिधानं तन्निषेधे प्यनिषेध इत्यादि। नीलमुत्पलं चलतीत्यादौ च व्याव त्तिभेदनिराकरणे पूर्वक एव न्यायो नुसन्धेयः। अन्यत्रोपाधिभेदात्।

अभेदे च धर्मधर्मिणोर्दूरादूरतया ग्रहणे पट्वपटुनी कुतः। न च पुरुषभेदेन तथैवान्यस्योत्पादः, एकस्य द्वैरूप्याभावात्। न चान्यान्य एवासौ, एकदेशतया तत्त्वेन प्रतिसन्धानात्। न च सा भ्रान्ता, भिन्नदेशस्य तथाभूतस्य प्रत्यासीदताप्यनुपलम्भात्। न च निरालम्ब एव तदुपलम्भो व क्षादिदेशप्रतिनियमानुपपत्तेः।

न चाधिपतिप्रत्ययत्वात्तस्येति युक्तम्। अनुभवानां तद्देशोल्लेखाननुरोधात्। उल्लेखे वा स एवालम्बनप्रत्ययः। तावन्मात्रानुबन्धित्वादवलम्बनव्यवहारस्य। न च देशो स्त्वालबनं न तु व क्षादिरिति साम्प्रतम्। अनुपलब्धविशेषतया देशदेशिनोरविशेषात्। न च दवीयांसो पि विशेषाः स्फुरन्त्येव, न तु निश्चीयन्त इति युक्तम्। न हि योगविमला जनधौतद ष्टेरन्यस्य ताराव्यूहगतयः प्रतिभान्तीति शक्यं प्रतिपादयितुम्।

गुणगुणिनोः कः धर्मविरोधो येन उभयोः भेदः स्यादिति शङ्कते – **धर्मविरोध एव को त्रेति चेत्?** इति। गुणगुणिनोः अभेदे कः धर्मविरोध इति चेत्? समाधत्ते – **तदुपलम्भे प्यनुपलम्भः, तदभिधाने प्यनभिधाानं, तन्निषेधे प्यनिषेध इत्यादि** इति। गुणिन उपलम्भे पि गुणस्य अनुपलम्भः। पीतः शङ्खः इत्यत्र तयोः दर्शनात्। गुणिनो भिधाने पि गुणस्य अनभिधानं शङ्खाभिधाने पि शुक्लत्वस्य अनभिधानम्। गुणनिषेधे पि गुणिनो निषेधः। शङ्खः पीत इत्यत्र पित्तादिदोषेण विपर्ययवान् वदति शङ्खो यं पीतः न श्वेत इति। तथा च उपलम्भानुपलम्भयोः अभिधानानभिधानयोः गुणिगुणधर्मयोः भेदेन कथं न तयोः भेदः? एवं निषेधस्य गुणधर्मस्य, अनिषेधस्य गुणिधर्मस्य च परस्परं भिन्नत्वेन कथं न गुणगुणिनोः भेदः सिद्ध्यति। न हि विरुद्धधर्मवतोः ऐक्यं संभवति। अन्यथा जलदहनयोरपि ऐक्यापत्तेः। एव च रूपग्रहणे पि शङ्खग्रहणम्। शङ्खाभिधाने पि तद्रूपाद्यनभिधानम्। शङ्खानिषेधे पि तद्रूपनिषेध इत्येतत् सर्वं गुणगुणिनोः भेदे सत्येव उपपद्यते, न त्वभेदे इति। गुणगुणिनोः भेदाद् गुण्यभावः न सिद्ध्यति।

ननु यत्र यत्र गुणानुपलम्भे गुण्युपलम्भः त्वया उच्यते तत्र गुणी शङ्खो न भासते, किन्तु अशङ्खव्याव त्तिमात्रं भासते। अन्यत्र सहोपलम्भ एव गुणगुणिनोरिति न गुणगुणिनोः भेद इत्यत आह। अथवा विरुद्धधर्माध्यासेनापि गुणगुणिनोः व्याव त्तिभेदः (अतद्व्याव त्तिभेदः) एव अस्तु इति चेत्? तत्राह – **नीलमुत्पलं चलतीत्यादौ च व्याव त्तिभेदनिराकरणे पूर्वक एव न्यायो नुसन्धेय** इति। नीलमुत्पलं चलति इत्यादौ अनीलादिव्याव त्तिभेदः (अतद्व्याव त्तिः) गुणगुण्युपाधिभेदम् अन्तरेण न उपपद्यते। उपाधिश्च जाति–गुण–क्रियान्यतमरूपः। उपाधिभेदाभावे हि व्यावर्त्यभेदाभावाद् व्याव त्ति भेदो न स्यात् इति प्रथमपरिच्छेदे विधिस्फुरणस्य पूर्वम् अपोहवादनिराकरणावसरे उक्तत्वात्। तथा च नीलं कमलं चलति इत्यत्र नीलगुणविशिष्टस्य चलनक्रियाविशिष्टस्य यो भिन्नः तस्य व त्तिः नीलगुणेन चलनक्रियया कमलत्वरूपजात्या च भवति। अन्यथा (नील–क्रिया–जातीनामस्वीकारे) अतद्व्याव त्तेः असिद्ध्यापत्तेः। अपोहस्य प्रथमपरिच्छेदे निराकृतत्वात्।

ननु तत्किं सर्वत्र जातिगुणक्रियानिबन्धन एव विशिष्टप्रत्ययो भवति इति स्वीक्रियते चेत् तर्हि नित्यत्वानित्यत्वविशिष्टप्रत्ययाः कथं भवेयुः? नित्यत्वानित्यत्वयोः

जातित्वगुणत्वक्रियात्वानामभावाद् इत्यत आह – **अन्यत्रोपाधिभेदात्** इति यत्र जातिगुणक्रियान्यतमो नास्ति तत्र उपाधिभेदे अतद्व्याव त्तिर्बोध्या। कि च इतो पि गुणगुणिनोः न अभेद इत्याह – **अभेदे च धर्मधर्मिणोः दूरादूरतया ग्रहणे पट्वपटुनी कुतः?** इति। दूरस्थेषु व क्षेषु अल्पाः लघवो वा व क्षा इति ज्ञानं भवति। समीपेषु च तेषु महान्तो व क्षा इति ज्ञानं भवति। धर्मधर्मिणोरभेदे चाल्पत्व–लघुमहत्वयोः धर्मयोः व क्षाभिन्नत्वेन पाटवापाटवे तज्ज्ञाने न भवतः। उभयत्र व क्षाणामेव विषयत्वात्। तेषां च उभयत्र अविशेषात्। दूरे व क्षाणां ग्रहणे अपाटवम् अल्प–लघु–विषयकत्वम्। अदूरे च व क्षायां पाटवम् महद्विषयकत्वम्।

ननु विदूराविदूरवर्तिषु व क्षादिषु पुरुषभेदापेक्षया व क्षादेः अर्थस्य पटुत्वापटुत्वयोः उत्पाद इति चेत्तदाह – **न च पुरुषभेदेन तथैव अन्यस्य उत्पादः, एकस्य द्वैरूप्याभावात्** इति। पुरुषयोः विदूराविदूरस्थयोः भेदेन व क्षेषु महत्त्ववतां व क्षाणाम् एवम् अल्पत्ववता च–लघुत्ववता च व क्षाणामुत्पादो न स्वीकार्यः। एकस्यैव व क्षस्य महत्त्वाल्पत्वयोः द्वैरूप्ययोः अभावात्। एक एव घटपदार्थः पुरुषभेदेन अल्पो महान् वा न भवति, सर्वानुभवविरोधात्।

ननु भिन्नावेव पट्वपटुप्रतिभासविषयावर्थौ इति चेत् तत्राह – **न चान्यान्य एवासौ, एकदेशतया तत्त्वेन प्रतिसन्धानात्** इति। भिन्न एवासौ इति पाठः समीचीनः प्रतिभाति। दूरवर्तिव क्षो ल्पः, अदूरवर्ती च व क्षे महान् उत्पद्यते इति कथनं न युक्तम्। एकदेशव त्तित्वेन तदव क्षत्वेन च तदव क्षस्य प्रतिसन्धानात् तस्मिन् व क्षे विरुद्धयोः अल्पत्वमहत्त्वयोः धर्मयोः धर्मिणोश्च तत्रोत्पादस्य कथयितुमशक्यत्वात्। तथा च तत्र पुरुषज्ञानयोः भेदेन तदव क्षस्य व क्षान्तरत्वं न स्वीकार्यम्। तद्देशवर्त्ती स एवायं व क्ष इति प्रत्यभिज्ञाविरोधात्।

ननु तत्र पूर्वव क्षाद् भिन्न एव व क्षः अल्पो महान् वा, न तु दूरत्वदोषात् अदूरत्वदोषाच्च। साद श्याद् वा एकदेशतया वा एकत्वेन च भ्रान्त्या प्रतिसन्धीयते। तथा च एकदेशता भ्रमविषय इति चेत्? तत्राह – **न च सा भ्रान्ता। भिन्नदेशस्य तथाभूतस्य प्रत्यासीदता अप्यनुपलम्भात्।** व क्षे एकदेशस्थता न भ्रमविषयः। देशान्तरवर्तिव क्षो न तद्देशस्थत्वेन प्रतीयते दूरत्वदोषेण साद श्याद्वेति कथयितुं श्क्यते। समीपवर्तिना पुरुषेण अपि दूरत्वदोषाभाववता (अल्पत्वस्य) भिन्नदेशस्थत्वस्य अनुपलम्भात् तद् देशस्थत्वेन तस्य उपलम्भाच्च। ननु तैमिरिककेशोपलम्भवन्नि–रालम्बनमेव व क्षेषु पट्वपटुग्रहणम् इत्यत आह – **न च निरालम्बन एव तदुपलम्भः** इति। व क्षेषु पट्वपटूपलम्भो निरालम्बन एवेति न वाच्यम्। **व क्षादिदेशप्रतिनियमानुपपत्तेः।** निरालम्बनस्य उपलम्भस्य देशविशेषनियततया उत्पत्तौ न हि हेतुरस्ति इति तस्य व क्षनियतदेशभिन्नदेशे पि तथा प्रत्ययाप्रसङ्गापत्तेः। न तु तस्य व क्षादिदेशस्य अधिपतिप्रत्ययत्वात् (अनादिवासनामूलत्वात्) तन्नियततया तस्योत्पत्तिरिति चेत्?

तत्राह – **न चाधिपतिप्रत्ययत्वात् तस्येति युक्तमि**ति। व क्षादिदेशस्य अधिपति–प्रत्ययत्वात्, अनादिवासनामूलत्वात् तस्य देशस्य तत्र भानमिति न युक्तम्। अत्र प्रत्ययशब्दः कारणपर्यायः। तेन अधिपतिप्रत्ययशब्देन अधिपतिरूपसालम्बनव्यतिरिक्तम् इन्द्रियादिकारणमुच्यते। अधिपतिप्रत्ययस्य आलम्बनव्यतिरिक्तज्ञानहेतुषु प्रसिद्धेः इति **नारायणी व्याख्या**।

वासनायाः (संस्काररूपायाः) अथवा पूर्वज्ञानरूपायाः क्षणिकायाः निरपेक्षायाः कारणत्वाभ्युपमे तिप्रसङ्गः (अनपेक्षितादेरपि भानापत्तिः) इति तदुद्बोधको नुभवो वाच्यः। स च अनुभवो न देशमुल्लिखतीति तदुद्बोधिता वासना पि न तं देशमुल्लिखेदित्याह – **अनुभवानां तद्देशोल्लेखाननुरोधात्** इति। वासनोद्बोधकप्रत्यये तद्देशस्य अविषयत्वेन कथं तदुद्बोधिता वासना तं देशं विषयीकरिष्यतीति? वासनयापि तद्देशस्य भानासंभवात्। वासनाजनकानुभवेन तद्देशोल्लेखे सति सिद्ध एव व क्षादिदेशः। तत्र च स्पष्टास्पष्टग्रहणं च सिद्धमिति निरालम्बन एव तदुपलम्भः (पट्वपटूपलम्भः) इति कथनं न सङ्गतमित्याह – **उल्लेखे वा स एव आलम्बनप्रत्ययः। तावन्मात्रानुबन्धित्वादालम्बनव्यवहारस्य** इति। अनुभवानां तद्देशो(व क्षस्थदेशो)ल्लेखो द श्यते। स एव आलम्बनप्रत्ययः। तद्देशालम्बनव्यवहारस्य तद्देशमात्रानुभवसंबन्धित्वात् तद्देशव्यवहारं प्रति तद्देशानुभवः कारणम्। तद्देशानुभवश्च निरालम्बनवासनया न उद्बोधको भविष्यति। तथा च उद्बोधकाभावेन कथं निरालम्बनवासनोद्बुद्धो भविष्यतीति अधिपतिप्रत्ययत्वात् तस्येति तव कथनं न युक्तमिति भावः। तदुक्तं **नारायण्याम्** अनुभवानां तद्देशोल्लेखो द श्यते। न च एतदधिपतिप्रत्ययत्वे नुस तं भवति। आलम्बनप्रत्ययस्योल्लेखविषयत्वात्। तदाह – **उल्लेख इति**।

नन्वस्तु तर्हि विदूरप्रत्ययस्य आलम्बनं देश एव, न तु व क्षादिः। अत एकस्यैव व क्षादेः धर्मस्फुरणास्फुरणनिबन्धने पट्वपटुनी ग्रहणे भवत इत्येतदसिद्धम्। तथा च नियमेन विरुद्धधर्माध्यासात् गुणगुणिनोर्भेदः। स च विरुद्धधर्मः। गुणिन उपलम्भे गुणस्य अनुपलम्भ इत्यादिः। गुणिनि उपलब्धत्वम्, गुणस्य अनुपलब्धत्वम् विरुद्धधर्मः। दूरस्थव क्षग्रहणे अपटुत्वम् अल्पविषयकत्वम् अदूरस्थव क्षग्रहणे पटुत्वम् बहुविषयकत्वम् इति गुणगुणिनोः अभेदे नोपपद्यते इति तव कथनमसङ्गतम्। तत्र देशस्यैव विषयत्वेन व क्षादेः अविषयत्वाद् इत्यत आह – **न च देशो स्त्यालम्बनं न तु व क्षादिरिति साम्प्रतम्। अनुपलब्धविशेषतया देशदेशिनोरविशेषात्** इति। विदूरप्रत्ययो देशविषयकः न तु व क्षविषयक इति न युक्तम्। तथा च "धर्मधर्मिणोरभेदे दूरादूरतया ग्रहणे पट्वपटुनी कुतः इति" तव कथनं न सङ्गच्छते। व क्षादेरग्रहणादिति बौद्धस्य कथनं न युक्तम्। अत्र हेतुमाह सिद्धान्ती – **अनुपलब्धविशेषतया देशदेशिनोरविशेषात्** इति। धर्माग्रहणनिबन्धनम् अपटुग्रहणं देशे वा देशिनि व क्षे वेति न कश्चिद् विशेषः। दूरे धर्माग्रहणे पि धर्मिमात्रग्रहणात् धर्मिग्रहणस्य अपटुत्वम्

(अल्पविषयकत्वम्)। अदूरे धर्माग्रहणे पि धर्मिग्रहणात् धर्मिग्रहणस्य पटुत्वम् महद्विषयकत्वं बहुविषयकत्वं वेति धर्मधर्मिणोः अभेदस्य बाधको भवत्येव। एव च तदेवात्र उदाहरणम् अस्तु न व क्षादिः इति तव आग्रहेण न मया स्वीक्रियते। तथापि धर्मधर्मिणोरभेदो न सिद्ध्यतीति। तथा च दूरे धर्मिमात्रग्रहणस्य अपटुत्वम्, अदूरे धर्मसहितधर्मिग्रहणस्य च पटुत्वमिति पटुत्वापटुत्वाभ्यां धर्मग्रहणाग्रहणप्रयुक्तत्वाभ्यां न धर्मधर्मिणोरभेदः। अन्यथा तद्भेदानुपपत्तेः। धर्मिण उभयत्र विषयत्वेन उभययोः ज्ञानयोः अविशेषात्।

ननु दूरस्था अपि विशेषा धर्माः स्फुरन्त्येवेति तु निश्चयाभावेनैव धर्मिग्रहणस्यापटुत्वम्। यत्र ताद शनिश्चयः तन्निबन्धनमेव धर्मिज्ञानस्य पटुत्वम्। न तु धर्माग्रहेण धर्मिज्ञानस्य अपटुत्वं धर्मसहितधर्मिज्ञानस्य च पटुत्वमिति धर्माधर्मग्रहणप्रयुक्ते धर्मिज्ञानस्य पटुत्वापटुत्वे धर्मधर्मिणोरभेदे बाधके भवत इति शङ्कते – **न च दवीयांसो पि विशेषाः स्फुरन्त्येव न तु निश्चीयन्त इति युक्तम्** इति। सिद्धान्ती समाधत्ते – **न हि योगविमला जनधौतद ष्टेरन्यस्य ताराव्यूहगतयः प्रतिभान्तीति शक्यं प्रतिपादयितुम्। अनिश्चयानुपपत्तेश्च। अनुभूतो ह्यात्मा न निश्चीयते इत्यत्र हेतुर्वाच्यः** इति। योगेन धौते द ष्टी यस्य विमलेन अ जनेन धौते द ष्टी यस्य स योगविमला जनधौतद ष्टिः। तस्मादन्यस्य पुरुषस्य तारासमुदायस्य गतयः प्रतिभान्तीति प्रतिपादयितुं न हि शक्यम् इति। दवीयांसो पि विशेषाः निर्विकल्पकज्ञानविषया अपि सविकल्पकेन ज्ञानेन विषयीक्रियन्त इत्यस्य असिद्धेश्च। सूक्ष्मत्वेन दवीयंसो प्यात्म–विशेषस्य स्फुरणमनुभवति निश्चयस्तु न जायते इत्युक्तौ कारणं त्वया वाच्यम्। कारणं विना तव कथनम् असङ्गतम्। कारणं विना न किमपि सिद्ध्यति।

अनिश्चयानुपपत्तेश्च। अनुभूतो ह्यात्मा न निश्चीयत इत्यत्र हेतुर्वाच्यः। वासनानुद्भव इति चेन्न। निःशेषविशेषवन्तं धर्मिणमुपलभ्य विदूरवर्त्तिनस्तदखिल-स्मरणे पि अनुभवव्यापारानुसारिनिश्चयानुदयात्।

तथापि चानुभवकल्पनायां सर्वः सर्वदा सर्वं जानाति न तु निश्चिनोतीति किं न स्यात्। भ्रान्तिवशात् तद्विपरीतविशेषनिश्चये नुभूतविशेषानिश्चय इति चेन्न। अनुभववैवरीत्ये निश्चयस्य सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। यत्र च विपरीतस्याप्य-निश्चयस्तत्र का वार्त्ता, यथा पराचीनैर्भागैरर्वाचीनानां संयोगविभागयोरिति।

ननु विशेषविषयवासनानुद्भव एव अनिश्चयहेतुः। प्रकृते च आत्मरूप–विशेषविषयवासनानुद्भव आत्मविशेषानिश्चयकारणम्। निर्विकल्पकज्ञानानन्तरं यत्र संज्ञास्मरणं भवति तत्र तद्विशिष्टज्ञानमुत्पद्यते न सर्वत्रेत्यत आह – **वासना नुद्भव इति चेत्?** इति। परिहरति – **न। निःशेषविशेषवन्तमित्यादि।** विशेषविषयवासनायाः कारणं निःशेषविशेषवतो धर्मिणः अनुभवः, तस्य सत्त्वे पि तज्जन्याखिलविशेषाणां

स्मरणे पि दूरवर्तिनः पदार्थस्य अनुभवव्यापारानुसारि– निश्चयानुदयेन अन्वयव्यभिचाराद् विशेषविषयवासनायाः ताद शं निश्चयं प्रत्यकारणत्वेन ताद शवासनानुद्भवस्य ताद शानिश्चयं प्रति हेतुत्वाभावात्। किं वा निर्विकल्पकज्ञानानन्तरं यत्र संज्ञास्मरणं भवति तत्र विशिष्टज्ञानम् (सविकल्पकनिश्चयात्मकं ज्ञानम्) उत्पद्यते न सर्वत्रेति तव कथनं न युक्तम्। पूर्वोक्तस्थले निर्विकल्पकज्ञानोत्तरं संज्ञास्मरणस्य सत्त्वे पि तद्विशिष्टज्ञानस्य (तद्विशिष्टसविकल्पकनिश्चयात्मकज्ञानस्य) अनुदयेन अन्वयव्यभिचारात्।

अयं भावः। समीपं गत्वा निःशेषविशेषविशिष्टतया धर्मिणमुपलभ्य पश्चाद् विदूरवर्तिनः पुरुषस्य तदखिलविशेषस्मरणेन संस्कारोद्बोधे सत्यपि अनुभव–व्यापारानुसार्य्यपरोक्षनिश्चयानुत्पादात्। सकलधर्मविशिष्टधर्मिणः सन्निधौ यथा स्फुरणग्रहणात् प्रत्यक्षानुभवनिश्चयः तथा दूरत्वेन न भवति इति। तदनुरूपनिश्चया–भावे पि = तदनुरूपसविकल्पकनिश्चयाभावे पि अनुभव(निर्विकल्पक)कल्पनायाम् अतिप्रसङ्गः स्याद् इत्याह – **तथापीति।** तदनुरूपसविकल्पकनिश्चयाभावे पि च अनुभवनिर्विकल्पकानुभव)–कल्पनायां सर्वः जनः, सर्वदा = सर्वस्मिन् काले, सर्वम् = सर्वपदार्थं, जानाति = अनुभवति। सर्वपदार्थविषयकनिर्विकल्पकानुभववान् न निश्चिनोति सर्वपदार्थम्। सर्वपदार्थविषयकसविकल्पज्ञानवान् न भवतीति किं न स्यात्? पूर्वोक्तकथने को दोषः स्यात्। विशेषानिश्चये हेत्वन्तरं शङ्कते – **भ्रान्तिवशात् तद्विपरीतनिश्चये नुभूतविशेषानिश्चय इति चेत्?** इति। भ्रान्तिवशात् अनुभूतो यो विशेषः तस्य विरुद्धो यो विशेषः तदविशेषाविषयकनिश्चये सति पूर्वानुभूतविशेषनिश्चयाभावेन ताद शविशेषधर्मवद्धर्मिणो न निश्चय इति चेत्? परिहरति सिद्धान्ती – **न। अनुभववैपरीत्ये निश्चयस्य सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। यत्र च विपरीतस्यापि अनिश्चयः तत्र का वार्त्ता? यथा पराचीनैः भागैः अर्वाचीनानां संयोगविभागयोरिति।** अन्यथाभूतस्य अन्यथानिश्चये (तदसद शे पि विरुद्धे) तन्निश्चये सर्वेषु निश्चयेषु अनाश्वास–(अप्रामाण्यापत्ति)प्रसङ्गात्। भूतले घटाभावादभिन्ने घटे घटाभावनिश्चयो यदि भवेत् तदा सर्वेष्वपि निश्चयेषु अनाश्वासप्रसङ्गात् = अप्रामाण्यापत्तेः। घटविषयकं ज्ञानं न घटावगाहि तद्विरुद्धविषयकत्वात्। अतो भ्रमकारणं दोषं विना न विपरीतज्ञानं भवति। तथा च पूर्वविशेषविषयकज्ञाने दोषाभावेन दोषाधीनभ्रमत्वाभावात्। तथा च सकलधर्मविशिष्टधर्मिणः सन्निधौ यथा स्फुरण–ग्रहणात् प्रत्यक्षानुभवनिश्चयः तथा न दूरत्वे। अतो धर्मधर्मिणोः न तादात्म्यम् = नैक्यं मन्तव्यम्। कि च अनुभवानन्तरं यदि विपरीतनिश्चयश्चेत्, तदानुभव–(निर्विकल्पकानुभव)मात्रप्रामाण्यवादिनः तव क्वापि समाश्वासः = कस्मिन्नपि अनुभवे प्रामाण्यम् न स्यात्। अतो न सर्वत्र अनुभवानन्तरं विपरीतनिश्चयः कल्पनीयः। तथा च समीपे याद शधर्मविशिष्टधर्मिणो निश्चयो भवति तथा दूरे न भवतीति धर्मकृतं स्फुटास्फुटज्ञानं मन्तव्यमिति धर्मधर्मिणोः नैक्यम्। अन्यथा ताद शस्फुटास्फुटज्ञानयोः

अनुपपत्तेः। कि च यत्र विपरीतस्यापि न निश्चयः, तत्र विशेषानिश्चये को हेतुः स्यात्? न को पीति भावः। तथा च तत्र धर्मविशेषनिश्चयस्य तद्विपरीतज्ञानप्रतिबन्धकस्य सत्त्वेन विपरीतज्ञानाभावात् व क्षेषु समीपवर्तिपुरुषस्य बहुविषयकं प्रत्यक्षं भवति। तस्यैव पुरुषस्य तत्र अल्पविषयक च प्रत्यक्षमिति। तच्च धर्मकृतमेव मन्तव्यम्। न धर्मिकृतं धर्मिण उभयत्र ऐक्यादिति धर्मधर्मिणोरैक्यं न मन्तव्यम्। यथा दूरवर्तिनो भावस्य प्राचीनैः भागैः अर्वाचीनानां भागानां संयोगविभागयोः विशेषयोः विपरीतो विभागः संयोगश्च विशेषौ न निश्चितौ, संयोगस्य विपरीतो विभागः, विभागस्य विपरीतः संयोग इति विशेषौ न ग हीतौ। तत्र संयोगविशेषधर्मस्य विपरीतो यो विभागः तस्य अग्रहणेन तत्र संयोगस्य निश्चयो भवितुमर्हति, विभागविपरीतस्य संयोगस्य अग्रहेण तत्र विभागस्य निश्चयो भवितुमर्हति। तौ च संयोगविभागौ प्रत्यक्षं प्रत्यव त्तितया न प्रत्यक्षौ, तयोर्निश्चयाभावे को हेतुर्भवति? उभयोर्विपरीतौ न निश्चतौ। इति।

इति आत्मतत्त्वविवेके गुणगुणिभेदङ्गवादः।

सन्दर्भः

१. आक्रान्तेश्च इति पाठः (१९८३ वाराणसीतः मुद्रितपुस्तके, प. ३२३)।

अथ चतुर्थपरिच्छेदः

अथानुपलम्भवादः

अस्तु तर्हि नैरात्म्यम्, अनुपलब्धेरिति चेन्न।
सर्वाद ष्टेश्च सन्देहात् स्वाद ष्टेर्व्यभिचारतः।

द श्यत्वविशेषणान्नैवमिति चेन्न, तदसिद्धेः। परोपगमसिद्धेरदोष इति चेन्न, स्वतन्त्रसाधनत्वात्। यदि परः सहसैव नैवमभ्युपगच्छेत्, नूनं साधनमिदं मूर्छेत्। यदि च पराद ष्टिमवधूय द श्यन्तमभ्युपगच्छेत्, एवमपि सम्भवेत्। न चैवं शक्यम्, तस्य तदुपहितरूपत्वादिति सङ्क्षेपः। विस्तरस्त्वसन्तो क्षणिका इतिवदूहनीयः।

अथात्मसद्भावे किं प्रमाणम्। प्रत्यक्षमेव तावत्, अहमिति विकल्पस्य प्राणभ न्मात्रसिद्धत्वात्। न चायमवस्तुकः सन्दिग्धवस्तुको वा, आशब्दत्वादप्रतिक्षेपाच्च। न च लैङ्गिकः, अननुसंहितलिङ्गस्यापि स्वप्रत्ययात्। न च स्म तिरियम्, अननुभूते तदनुपपत्तेः। अनादिवासनावशादनादिरयमवस्तुको विकल्प इत्यपि न युक्तम्, नीलादिविकल्पसाधारण्यात्। इह वासनामुपादायानाश्वासे प्रमाणान्तरे पि कः समाश्वासो यतो नीलादिविकल्पेषु समाश्वासः स्यात्।

[नैरात्म्यवाद-निराकरणम्]

अनुपलम्भो वेति चतुर्थविकल्पं दूषियतुं शङ्कते – **अस्तु तर्हि नैरात्म्यम् अनुपलब्धेरिति चेत्?** इति। यदि क्षणभङ्गुरादिभिः विकल्पैः नैरात्म्यं न सिद्ध्यति तर्हि अनुपलब्धेरेव नैरात्म्यम् अस्तु। यत् नोपलभ्यते तत् नास्ति, आत्मा च नोपलभ्यते अत आत्मा नास्ति। शरीरादिभिन्नस्य आत्मनः अप्रत्यक्षत्वात्। तथा च आत्मा नास्ति, अनुपलब्धेः, शशविषाणवद् इत्यनुमानम् आत्मनो भावे प्रमाणमिति चेत्। सिद्धान्ती दूषयति – **न। सर्वाद ष्टेश्च सन्देहात् स्वाद ष्टेः व्यभिचारतः** इति। न हि सर्वा द ष्टिः आत्मनि निश्चेतुं शक्यते। अतः सा स्वाद ष्टिः सन्दिग्धा सिद्धा। तथा च सकलदार्शनिकमते आत्मा नास्तीति निश्चेतुम् अशक्यत्वात् सर्वा द ष्टिः, (अनुपलब्धिः) तत्र (आत्मनि) सन्दिग्धा सिद्धेति, सन्दिग्धहेतुः साध्यं साधयितुं न क्षमते। तथा च

आत्मा नास्तीति न सिद्ध्यति। के पि नैयायिकादयः नित्य आत्मा अस्तीति वदन्ति। अपरे क्षणिक आलयविज्ञानम् आत्मा न नित्य आत्मा अस्तीति नित्यात्मनः अभाव इति वदन्ति। केचिद् शरीरेन्द्रियमनोभिन्न आत्मा नास्तीति वदन्ति। विप्रतिपत्तिवाक्याद् भवति सन्देहः – आत्मा अस्ति न वेति। तथा आत्मनो अनुपलब्धिः सर्वा द ष्टिः संदिग्धा इति। न, सा आत्मन अभावं साधयितुं क्षमते। संदिग्धहेतुः न साध्यं साधयति। पर्वते धूमो स्ति न वेति सन्देहे तत्र बह्नेः अनिश्चयात्। बौद्धीया द ष्टिः रूपानुपलब्धिस्तु स्वरूपायोग्ये (प्रत्यक्षायोग्ये) दूरवर्तिनि वा पदार्थे सत्त्वे, असत्ताव्यभिचारिणी, असत्त्वाभाववति दूरवर्तिनि सत्पदार्थे अद ष्टिरूपाया अनुपलब्धेः व त्तित्वात् व्यभिचारिणी। साध्याभाववति हेतोः व त्तिर्हि व्यभिचारः। अतो न सा अद ष्टिरूपा अनुपलब्धिः नैरात्म्यसाधिका भवितुं योग्या।

ननु द श्यत्वविशिष्टानुपलब्धिः असत्त्वसाधिका। स्वरूपायोग्ये देशान्तरवर्तिनि पदार्थे च या अनुपलब्धिः सा न द श्यत्वविशिष्टा। तयोः द्रष्टुम् अशक्यत्वादिति शङ्कते – **द श्यत्वविशेषणान्नैवमिति चेत्?** इति। द श्यत्वस्य अनुपलब्धौ विशेषणात् न व्यभिचारः। द श्यत्वविशिष्टस्य दर्शनयोग्यस्य या अद ष्टिरूपा अनुपलब्धिः सा असत्त्वसाधिका। स्वरूपायोग्ये देशान्तरवर्तिनि पदार्थे दर्शनयोग्यत्वं नास्ति। इदानीं तयोः साक्षात्कारस्य कर्तुम् अशक्यत्वादिति प्रत्यक्षयोग्यत्वविशिष्टानुपलब्धेः तत्र असत्त्वेन न व्यभिचार इति चेत्? समाधत्ते – **न। तदसिद्धेः** इति। कदाचिद् द ष्टिगोचरजातीयस्य हि द श्यत्वं निश्चेतुं शक्यते। भवतस्तु आत्मा नास्तीति वादिनः मते आत्मैव नास्ति कुतः तव मते द ष्टिगोचरजातीयता आत्मनि संभवति? तथा च द श्यत्वविशिष्टानुपलब्धित्वं नात्मनि वर्तते इति स हेतुः स्वरूपासिद्धः। पक्षे हेत्वभावो स्वरूपासिद्धः इति आत्माभावं साधयितुं न शक्नोति अनुपलब्धिहेतुः।

शङ्कते – **परोपगमसिद्धेः अदोष इति चेत्?** परो हि आत्मसद्वादी द श्यत्वम् आत्मनि अभ्युपगच्छति। अतः तदभ्युपगमसिद्धेन द श्यत्वेन अनुपलब्धेः विशेषणं युक्तमिति द श्यत्वविशिष्टानुपलब्धिरात्मनि न स्वरूपासिद्धा इति नोक्तदोष इति चेत्? दूषयति – **न। स्वतन्त्रसाधनत्वात्** इति। आत्मा नास्ति, द श्यत्व–विशिष्टानुपलब्धेः इत्यत्र तव बौद्धस्य स्वतन्त्रसाधनं हेतुः। अत्र स्वतन्त्रसाधने पराभ्युपगमो न शरणं भविष्यति इति यदि एवं स्यात् तदा एवं स्याद् इत्यादिरूपप्रसङ्गसाधने हि पराभ्युपगमः शरणं भवतीति। स्वमते आत्मा नास्त्येवेति स्वरूपासिद्धत्वं द श्यत्वविशिष्टानुपलब्धौ वर्तते एवेति तव हेतोः साध्यसाधकत्वाभावात्।

ननु स्वतन्त्रसाधने पि पराभ्युपगमसिद्धस्य अङ्गत्वे को दोष इति चेत्? तत्राह – **यदि च परः सहसैव नैवमभ्युपगच्छेत्, नूनं साधनमिदं मूर्च्छेत्। यदि च परो द ष्टिमवधूय द श्यं तम् अभ्युपगच्छेत् एवमपि संभवेत्। न चैवं शक्यम्। तस्य तदुपहितरूपत्वादिति संक्षेपः। विस्तरस्तु असन्तो क्षणिका इतिवदूहनीयः**

इति। यदि परः = प्रतिवादी, सहसैव नैवम् अभ्युपगच्छेत्, आत्मनो नुपलब्धिं नैव स्वीकरोति तदा निश्चितम् इदमनुपलब्धिसाधनं मूर्च्छेत् = उच्छिद्येत। स्वरूपासिद्धः स्यात्। अतः स्वतन्त्रसाधने न पराभ्युपगममात्रेणैव हेतुत्वं युक्तम्। यदि नैयायिकमतेन आत्मनो दर्शनं विहाय द श्यत्वमङ्गीकृत्य परद श्यत्वे सति अनुपलब्धेरिति हेतुं कुर्यात्, तदा द ष्टिं विना द श्यत्वासंभवात् अनुपलब्धिरूपो हेतुः पक्षे आत्मनि स्वरूपासिद्धः। नैयायिकैः आत्मनः प्रत्यक्षत्वं स्वीक्रियते। अतः आत्माभावसाधकस्य हेतोः स्वरूपासिद्धत्वापत्तेः दुर्वारत्वात्। आत्मनो प्रत्यक्षत्वं स्वीकृत्य किं वा आत्मानमस्वीकृत्य स्वतन्त्रसाधने (स्वाभिमतसाधक–स्वहेतौ) पराभिमतेन द श्यत्वमभ्युपगभ्य द श्यत्व–विशेषणं न दातुं शक्यम्। द श्यत्वस्य द ष्ट्युपहितरूपत्वात्। यदि तव मते आत्मनो द श्यत्वं स्यात् तदा द श्यत्वविशेषणमनुपलब्धौ दातुं शक्येत। अनुपलब्धिस्तु तव आत्माभावसाधकः स्वतन्त्रहेतुः। त्वया च आत्मा न स्वीक्रियते। कुतः तस्य प्रत्यक्षस्य चर्चेति? तव विशेषणविशिष्टो हेतुः स्वरूपासिद्धः आत्मनि पक्षे अव त्तित्वात्। तथा च आत्मा नास्ति, द श्यत्वविशिष्टानुपलब्धेः इति तवानुमानं न आत्मनो भावे प्रमाणं भवितुम् अर्हति। अय च दूषणसंक्षेपः। विस्तरतस्तु यथा क्षणिकत्वानुमान–व्यतिरेकद ष्टान्ते, 'असन्तः अक्षणिकाः, क्रमयौगपद्यरहितत्वाद्' इत्यत्र आश्रयासिद्धिः, आभासप्रतिपन्नस्य च प्रामाणिकव्यवहारानङ्गत्वं च इत्यादिः दर्शितः, तथा अत्रापि ऊहनीय इत्याह – **इति संक्षेपः** इति। इति प्रकारे। एवं प्रकारः संक्षेप इति।

[आत्मसाधकप्रमाणकथनम्]

ननु माभूवन् आत्मनि क्षणभङ्गादयो बाधकाः। नैतावता सिद्ध्यत्यात्मा। बाधकाभाव इव साधकाभावो पि वर्तते। आत्मनि साधकस्यासत्त्वात्। यस्मिन् साधकाभावबाधकाभावौ स्तः तत्र सन्देह एव भवति। अतः साधके सत्येव आत्मसत्त्वनिश्चयः। तच्चात्मनः साधकं प्रमाणं किमिति शङ्कते – **अथात्मसद्भावे किं प्रमाणम्?** इति। आत्मनः सत्त्वे किं प्रमाणमिति? तत्र प्रमाणाभावेन आत्मा न मन्तव्यः। असति प्रमाणे तत्स्वीकारे बन्ध्यापुत्रादेरपि स्वीकृतत्वापत्तेः। प्रमाणाभावस्य उभयत्र तुल्यत्वेन विनिगमकाभावात्। नहि प्रत्यक्षे वस्तुनि सत्त्वं प्रमाणाधीनत्वम् अपेक्षते। प्रत्यक्षस्यापि ज्येष्ठस्य तत्र प्रमाणत्वात्। तदुपजीविनोः अनुमानशब्दयोरपि सत्त्वादिति समाधत्ते – **प्रत्यक्षमेव तावत् अहमिति विकल्पस्य प्राणभ न्मात्रसिद्धत्वात्** इति। आत्मनि तावत् प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् अस्ति। अहमिति विकल्पस्य (सविकल्पकज्ञानस्य) प्राणभ न्मनुष्यमात्रसिद्धत्वात्। आपामरः अहमिति जानाति। अस्य प्रत्ययस्य स्वानुभवसिद्धत्वेन आत्मनि प्रमाणम्।

ननु शशविशाषणवदहमिति प्रत्ययः स्यादिति। तस्य भ्रमत्वेन वस्त्वसाधकत्व–मिति शङ्कां मनसिकृत्य उत्तरयति – **न च अयमवस्तुकः सन्दिग्धवस्तुको वा, अशाब्दत्वादप्रतिक्षेपाच्च** इति। शाब्दलैङ्गिकविकल्पा हि सामान्यमात्रविषयकत्वात्।

तस्य च सामान्यस्य अतद्व्याव त्तिरूपत्वेन अभावरूपत्वाद् अवस्तुत्वमिति। सामान्यस्य अवस्तुनोः शाब्दलैङ्गिके च विषयत्वेन तयोरपि विकल्पयोः अवस्तुत्वम्। वस्तुत्व–विप्रतिपत्तेः सन्दिग्धवस्तुका वेति न ते प्रमाणे इति बौद्धा अभिमन्यन्ते। तेषां मते पि अहमिति प्रत्ययो न ताद शः अप्रमाणभूतः। अस्य अशाब्दत्वात् = अस्य प्रत्यक्षत्वात्। प्रत्यक्षविकल्पस्य वस्तुविषयकत्वेन प्रमाणत्वमिति। अहमिति प्रत्यक्षात्मक–विकल्पकज्ञानमेव आत्मनि प्रमाणं बौद्धैरपि स्वीकार्यम्। स्वमते पि नास्य (अहमिति प्रत्ययस्य) अप्रमाणत्वम् इत्याह – **अप्रतिक्षेपाच्च** इति। यस्मिन् ज्ञाने उत्तरकाले बाधः तस्यैव अप्रमाणत्वम्। यथा 'शुक्तौ रजतमिदम्' इति ज्ञाने 'नेदं रजतं किन्तु शुक्तिः' इत्युत्तरकालबाधेन तस्य अप्रमाणत्वेन न वस्तुसाधकत्वं तस्य। अहमिति प्रत्ययस्य नाहमित्यस्य उत्तरकाले बाधकस्य अभावेन न अप्रमाणत्वमिति तद्वस्तु साधयति। स एव प्रत्यय आत्मनि प्रमाणं बोध्यम्। यथा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वेति' सन्देहस्य करचरणादिविशेषदर्शनेन 'नायं स्थाणुरिति' यथा प्रतिक्षेपः तथा अहमिति प्रत्ययस्य नाहमिति प्रतिक्षेपाभावेन न तस्य सन्दिग्धविषयकत्वम्।

नापि लैङ्गिकतया अहमिति प्रत्ययस्य अवस्तुकता इत्याह – **न च लैङ्गिकः। अननुसंहितलिङ्गस्यापि स्वप्रत्ययत्वात्** इति। अहमिति प्रत्ययो न लैङ्गिको येन तव मते पि अप्रमाणं स्यात्। अज्ञातहेतुकस्य अपि जनस्य अहमिति स्वप्रत्ययात्। नन्वहमिति प्रत्ययस्य स्म तित्वेन नात्मनि प्रमाणम्। स्म तेर–प्रमाणत्वमुभयवादिसिद्धमित्यत आह – **नापि स्म तिरियम्**[१] **। अननुभूते तदनुपपत्तेः** इति। अहमिति ज्ञानं न स्म तिः। अनुभूते स्म तिदर्शनेन अननुभूते आत्मनि स्म त्यनुपपत्तेः। स्म तिं प्रति पूर्वानुभवस्य कारणत्वात्। न च आत्मनः पूर्वानुभूतत्वं, येन अहमिति प्रत्ययस्य स्म तित्वं स्यात्।

ननु अहमिति प्रत्यय अनादिवासनया भवतीति तस्य अवस्तुविषयकत्वात् न स प्रत्ययः आत्मनि प्रमाणमिति शङ्कां मनसि निषेधति – **अनादिवासनावशाद् अनादिरयमवस्तुको विकल्प इत्यपि न युक्तम्। नीलादिविकल्पसाधारण्यात्। इह तु वासनामुपादायानाश्वासे प्रमाणान्तरे अपि कः समाश्वासो यतो नीलादिविकल्पेषु समाश्वासः स्यात्?** इति। अनादिवासना (संस्कारः पूर्वक्षणिकविज्ञानं वा) तद्बलेन अहमिति सविकल्पकः प्रत्ययः अवस्तुविषयक इति। स प्रत्ययो नात्मनि प्रमाणं भवितुमर्हति। अवस्तुविषयकत्वेन अप्रामाण्यात् इति कथनं न युक्तम्। अहमिति प्रत्ययस्य अयं नील इति विकल्पसमानत्वेन अनादिवासनामूलकत्वाभावेन अयं नील इत्यस्य इव अहमिति प्रत्ययस्यापि प्रमाणत्वेन वस्तुसाधकत्वात्। तस्य आत्मसाध–कत्वाक्षतेः। आधुनिकवासनाया मूलानुभवसापेक्षत्वम्। तच्च अहमिति प्रत्यये नास्ति, अनादिरित्युक्तत्वात्। अनादिवासनायां मूलानुभवस्य अनपेक्षितत्वात् यदि अहमिति प्रत्ययो न प्रमाणं तदा नीलमिति प्रत्ययो पि न प्रमाणं स्यात्, इत्यत आह – **इह त्विति।** अहमिति प्रत्ययो यदि अनादिवासनामादाय न तव विश्वासः अयमात्मविषयक

इति न विश्वासः, तर्हि चाक्षुषादिविकल्पकरूपप्रमाणान्तरे पि प्रत्यक्षे को विश्वासः? अयमात्मेति प्रत्यक्षम्, नानादिवासनाजन्यम् इत्यत्र प्रमाणाभावात्। तदपि अनादिवासना–मूलकम्। अहमिति प्रत्ययवद् इति कथयितुं शक्यते। किं वा नीलो यमित्यादिप्रत्यक्षं न नीलविषयकम् इति कथयितुं शक्यते। यथा नाहमिति बाधकं विनैव अहमिति प्रत्ययस्य अप्रमाणत्वं, स न वस्तुसाधकः। तथा नीलो यमित्यस्य नायं नील इति बाधकं विनैव अप्रमाणत्वम्। अप्रमाणत्वाच्च न वस्तुसाधकमिति कथयितुं शक्यते। तथा च नीलादिविकल्पो पि न प्रमाणं स्यात्। एव च स्वकपोलकल्पितत्वमहंप्रत्ययस्य अनादिवासनाजन्यत्वम् अविशेषात् नीलादिप्रत्यये समागच्छेत्। नीलादिप्रत्ययः तव प्रमाणभूतः अप्रमाणं स्यात्। अतो यत्र बाधकं द श्यते तस्य अप्रामाण्यं यत्र तन्नास्ति तन्न अप्रमाणम् इति। अहंप्रत्यये नाहमिति बाधकं नास्तीति स प्रमाणभूत आत्मानं साधयतीति आत्मनि स प्रमाणमिति भावः।

तस्माद्वासनामात्रवादं विहायागन्तुकमपि किचित् कारणं वाच्यम्। तच्चाप्तानाप्तशब्दौ वा लिङ्गतदाभासौ वा प्रत्यक्षतदाभासौ वेति। तत्र यथा प्रथममध्यमप्रकाराभावान्नीलविकल्पश्चरमं कल्पमालम्बते तथाहमिति विकल्पो पि। तत्रायं

प्रत्यक्षप ष्ठभावित्वे साक्षादेव सवस्तुकः,
तदाभासे तु मूले स्य पारम्पर्यात् सवस्तुता। इति।

न च बाह्यप्रत्यक्षनिव त्तावेव निर्मूलत्वम्, बुद्धिविकल्पस्यापि तथात्व-प्रसङ्गात्। तत्र स्वसम्वेदनं मूलमिहापि मानसप्रत्यक्षमिति न कश्चिद्विशेषः।

शरीरादिवस्तुको भविष्यतीति चेन्न, निरुपाधिशरीरेन्द्रियबुद्धितत्समुदाया-लम्बनत्वे तिप्रसङ्गात्। स्वसम्बन्धिशरीरादावयं स्यादिति वाच्यम्, तत्र कः स्वार्थ इति वचनीयम्। अनन्यत्वं स्वत्वं सर्वभावानाम्। तथा च यदा तेनैव तदनुभूयते तदा प्रत्येतुः प्रत्येतव्यादव्यतिरेकादहमिति स्यात्। अत एव घटादयो न कदाचिदनन्यानुभवित का इति न कदाप्यहमास्पदमिति चेत्, एवं तर्हि त्वन्मते प्यहं प्रत्ययः शरीरादावारोपरूप एव, ततः प्रत्येतुरन्यत्वात्।

एवं वासनामात्रजन्यत्वेन अहंप्रत्ययस्य अवस्तुकत्वं निराकृत्य सवस्तुकत्वं साधयितुं पीठमाचरयन्नाह – **तस्माद् वासनामात्रवादमित्यादि।** यथा त्वया अहंप्रत्ययस्य अप्रमाणत्वं मन्यते तथा नीलो यमिति प्रत्ययस्य समानयुक्तिकत्वेन अप्रामाण्यमायातीति नीलादिकं किमपि न सिद्ध्येत इति।

नीलादिसर्वोपप्लवभयात् अनागन्तुकम् अनादिवासनामात्रवादं (वासनामात्रादेव सर्वपदार्थस्य सिद्धिरिति वादम्) परित्यज्य आगन्तुकं सादि किमपि कारणं वाच्यम्।

तच्च = आगन्तुकं कारणम् किम् आप्तशब्दः अनाप्तशब्दो वा स्यात्? किं वा हेतुः हेत्वाभासो वा स्यात्? किं वा प्रत्यक्षमिन्द्रियं चक्षुरादि प्रत्यक्षाभासो वा स्यात्? तत्र यथा प्रथममध्यमप्रकाराभावादिति। तत्रायं प्रत्यक्षप ष्ठभावित्वे साक्षादेव सवस्तुकः इति तेषु विकल्पेषु मध्ये नीलम् इति प्रत्यक्षज्ञाने यथा आप्तानाप्तशब्दलिङ्गतदा–भासानामनवकाशात् प्रत्यक्षतदाभासौ एवागन्तुकं कारणम्। तथा अहमिति विकल्पे प्यनयोरेव सम्भवः। प्रत्यक्षं प ष्ठभावि = मूलं यस्य तस्य भावस्तस्मिन् प्रत्यक्षप ष्ठभावित्वे साक्षादेव अव्यवधानेन स्वयमेव वस्तुविषयकः अहमिति प्रत्ययः आत्मनि वस्तुनि प्रमाणं भवितुम् अर्हति। प्रत्यक्षाभासे पि विकल्पे निर्विकल्पकस्य ज्ञानस्य वस्तुविषयत्वात् तज्जन्ये पि सविकल्पे विकल्पपारम्पर्येण सवस्तुकतेति। अहमिति विकल्पस्य प्रत्यक्षाभासजस्य प्रमाणीभूतनिर्विकल्पपारम्पर्येण वस्तुविषय–कत्वम् इति स प्रत्ययः आत्मनि प्रमाणं भवितुमर्हति।

ननु अशाब्द–अलैङ्गिकविकल्पस्य स्मरणभिन्नस्य समूलत्वं बाह्यप्रत्यक्षत्वेन व्याप्तम्। यत्र यत्र शाब्दलैङ्गिकभिन्नस्मरणभिन्नविकल्पस्य समूलत्वम् तत्र तत्र बाह्यप्रत्यक्षत्वमिति। अहमिति विकल्पबाह्यप्रत्यक्षत्वस्य अभावेन समूलत्वाभावः इति नात्मनि अहमिति प्रत्ययः प्रमाणम्, अवस्तुविषयकत्वादित्याशङ्क्य आह – **न च प्रत्यक्षत्वनिव त्तावेव**[२] **निर्मूलत्वं, बुद्धिविकल्पस्यापि तथात्वप्रसङ्गादि**ति। अहमिति विकल्पस्य बाह्यप्रत्यक्षनिव त्तावेव न निर्मूलत्वम्, बुद्धिमात्रात्मवादिनः तव मते बुद्धिविकल्पस्यापि निर्मूलत्वप्रसङ्गात्। बुद्धिविकल्पस्य बाह्यस्य बाह्यप्रत्यक्षत्वाभावात्। आलयविज्ञानस्य क्षणिकस्य त्वया आत्मत्वेन स्वीकारात्।

ननु विज्ञानस्य (आलयविज्ञानस्य) स्वसंवेदनसिद्धत्वात् बुद्धिविकल्पो न निर्मूलः। तव तु अहमिति विकल्पे प्रमाणाभावात् निर्मूलत्वम् इति शङ्कां मनसिक त्य उत्तरयति – **तत्र स्वसंवेदनं मूलम्, इहापि मानसप्रत्यक्षमिति न कश्चिद् विशेष** इति। यथा बुद्धिविकल्पे स्वसंवेदनं मूलम्, तथा अहमिति आत्मज्ञाने मानसप्रत्यक्षं मूलमिति बुद्धिविकल्पाद् आत्मविकल्पे न कश्चिद् विशेष इति बुद्धौ बुद्धिविकल्पः तव प्रमाणमिति एकशेषस्य कर्तुमशक्यत्वात्।

ननु अहं गौर इत्यादिप्रत्ययस्य गौरत्वसामानाधिकरण्येन शरीरविषयकत्वमेव न तु तद्भिन्नात्मविषयकत्वमिति शरीरादिभिन्ने तव आत्मनि अहमिति विकल्पो न प्रमाणमिति शङ्कते – **शरीरादिवस्तुको पि भविष्यतीति चेत्?** इति। अहं गौरः, अहं काण इत्यादिप्रतीत्या अहमिति विकल्पस्य शरीरविषयकत्वम्, चक्षुरादिविषयकत्व च सिद्ध्यति, न तदितरात्मविषयकत्वमिति स नात्मनि प्रमाणमिति चेत्? उत्तरयति – **न। निरूपाधि-शरीरेन्द्रियबुद्धितत्समुदायावलम्बनत्वे अतिप्रसङ्गात्। स्वसंबन्धिनि शरीरादौ अयं स्यादिति हि वाच्यम्। तत्र कः स्वार्थ इति वचनीयम्** इति। अहं गौर इति प्रत्ययस्य शरीरमात्रविषयकत्वे, अहं काण इति प्रत्ययस्य च

चक्षुरिन्द्रियमात्रविषयकत्वे परशरीरादिविषयकत्वापत्त्या अतिप्रसङ्गः। परशरीरादि–व्यावर्तकविशेषणाभावात्। परशरीरादिव्यावर्तकस्य स्व–इत्यस्य शरीरादौ विशेषणत्वे तु स्वशब्दवाच्य एवात्मा अहं प्रत्ययवेद्यः, न तु शरीरादिः। तथा च अहमिति विकल्पस्य प्रमाणत्वाक्षतिरिति।

ननु स्वत्त्वं स्वभिन्नभिन्नत्वम्, स्वभेदात्यन्ताभाववत्त्वं वेति सर्वभावानाम्। गौरत्वेन यदा 'अहं गौर' इति स्वशरीरं प्रत्येति तत्र स्वशब्दवाच्यः बुद्धिरेव अहं प्रत्ययेनैव विज्ञानमनुभूयते। न तु तद्भिन्नः को पि आत्मा अबुद्धिरेव प्रत्येति। सैव प्रत्येतव्य इति तत्र मुख्य एवाहंप्रत्यय इति। अहंप्रत्ययस्य प्रत्येतुः अव्यतिरेकात् (अभिन्नत्वात्)। प्रत्येता ज्ञातव्यः (ज्ञानविषयः)। स च बुद्धिरेव न तु तद्भिन्नः। अतः प्रत्येतुर्व्यतिरेकादेव स्वशब्देन घटादयो न प्रतीयन्ते। घटादयो न कदाचित् अनन्यानुभवकर्तृका इति न कदाचिदपि अहंप्रत्ययविशेष इति चेत्? समाधत्ते – **एवं तर्हि त्वन्मते हंप्रत्ययः शरीरादावारोपरूप एव, ततः प्रत्येतुरन्यत्वात्** इति। प्रत्येतुः प्रत्येतव्याद् व्यतिरेकस्यैव मुख्यस्य अहंप्रत्ययप्रयोजकत्वे, ज्ञानम् एव आत्मा इति वादिनः तव मते पि यदि हि बुद्धिपर्यायं ज्ञानम् एव अहंप्रत्ययविषयः, तदा अहं गोरः अहं काण इत्यत्र शरादौ अहंप्रत्यय आरोपरूप एव, न तु मुख्यः। एव च शरीरादितः प्रत्येतुः आत्मनो भिन्नत्वात्।

बुद्धौ मुख्य एवेति चेन्न। तस्याः क्रियात्वेनानुभूयमानाया भिन्नस्य कर्त्तुरहं च्छिनद्मीतिवत् अहं जानामीत्यनुभवात्। नीलादिप्रत्येतव्याकारवत् प्रतिपत्त्याकारो पि प्रतिपत्तेरेवायमात्मा तथा भासत इति चेत्, तर्हि प्रत्येतव्य-प्रतिपत्त्याकारयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वात् सिद्धं नः समीहितम्। अस्तु स्वोपादान-मात्रमिति चेन्न। तत्प्रतिभासने तदाकारस्यापि प्रतिभासप्रसङ्गात्। आकार-मन्तरेणाकारिणो नवभासात्। प्रव त्तिसन्तानान्यो बुद्धिसन्तानः प्रतिपत्ता, वयं तमालयविज्ञानमाचक्ष्मह इति चेत्, अस्तु तर्हि प्रव त्तिविज्ञानोपादानमनादिनिधनः प्रतिपत्ता। स किं सन्तन्यमानज्ञानरूपस्तद्विपरीतो वेति चिन्तावशिष्यते, निःशेषिता चासौ प्रागेवेति।

शङ्कते – **बुद्धौ मुख्य एवेति चेत्?** इति। बुद्धौ अहंप्रत्ययो मुख्यः। आलयविज्ञानस्यैव आत्मत्वेन तस्यैव अहंप्रत्ययविषयत्वं न तु ततो भिन्नः स्थिरो नित्य आत्मेति चेत्? समाधत्ते – **न। तस्याः क्रियात्वेनेत्यादि।** क्रियायाः तत्कर्तुः भिन्नत्वमिति क्रियात्वेनानुभूयमानज्ञानक्रियातः तत्क्रियाकर्तुः भिन्नस्य अहं जानामीत्यनुभवविषयत्वात्, न तु विज्ञानमात्मा भवितुमर्हति, क्रियाक्रियावतोर्भेदात्। यथा छिनद्मि इत्यत्र छिदिक्रियातः तत्क्रियाकर्ता भिन्नः, तथैव अहं जानामि इत्यत्र ज्ञानक्रियाकर्ता ज्ञानक्रियातो भिन्न इति बोध्यम्।

शङ्कते– **नीलादिप्रत्येतव्याकारवदिति।** बाह्यार्थशून्यत्ववादि – **योगाचार**मते, ज्ञानविषयो नीलादिः ज्ञानाकार एव आन्तरः, न तु बाह्यो यथा ज्ञाने भासते, तथा प्रतिपत्तापि ज्ञानाकारो प्रतीतिरेवायमात्मा अहं जानामि इत्यत्र भासते, ज्ञानभिन्नवस्तुनो सत्त्वात्। तथा च अयं नील इत्यादौ नीलादिः ज्ञानाकारः, तथा अहं जानामि इत्यत्रापि प्रतिपत्ताकारो पि ज्ञानरूप एवेति चेत्? समाधत्ते – **तर्हि प्रत्येतव्यप्रतिपत्ताकारयोः तुल्ययोगक्षेमत्वात् सिद्धं नः समीहितम्** इति। प्रत्येत–व्याकारस्य प्रतिपत्तेः = ज्ञानाद् भेदो द्वितीयपरिच्छेदे समर्थितः। प्रतिपत्राकारस्यापि तत्त्वतः प्रतिपत्तितो भेदः सिद्ध एव। तथा च ज्ञानक्रियातः ज्ञानकर्ता भिन्नः, ज्ञानाकारो पि प्रतिपत्ता ज्ञानाद् भिन्न इति सिद्धं नः समीहितम्। ज्ञानाद् भिन्नो ज्ञानकर्तेति नः समीहितम्।

शङ्कते – **अस्तु स्वोपादानमात्रमिति चेत्?** इति। ज्ञानक्रियाया प्रतिपत्ता (कर्ता) स्वस्य ज्ञानस्य उपादानमात्रम्। स्वस्योपादानं पूर्वज्ञानं तदेव प्रतिपत्ता (उत्तरज्ञानकर्ता) अहंप्रत्ययविषयः अस्त्विति क्रियाक्रियावतोश्च भेदो पि उपपन्न इति चेत्? परिहरति – **न। तत्प्रतिभासे तदाकारस्यापि प्रतिभासप्रसङ्गात्। आकारमन्तरेणाकारिणो नवभासात्** इति। उत्तरज्ञानस्य यत् पूर्वज्ञानरूपोपादानकारणं तस्य अहंप्रत्ययस्य विषयत्वे, उपादानकारणीभूतपूर्वविज्ञानस्य य आकारः तस्यापि अहंप्रत्ययविषयत्वप्रसङ्गात्। अहंकारं विना आकारवतो भानात्। न च निराकारं ज्ञानमस्ति। सर्वज्ञानस्य सविषयकत्वात् विषयोल्लेखस्यैव तदुल्लेखिन आकारत्वात्। तच्च पूर्वज्ञानं नात्मविषयकं येन इष्टापत्तिः कर्तुं शक्यते इति।

शङ्कते – **प्रव त्तिसन्तानान्यो बुद्धिसन्तानः प्रतिपत्ता। वयं तमालयविज्ञान-माचक्ष्मह इति चेत्?** इति। प्रव त्तिसन्तानो नाम सालम्बने बुद्धिसन्तानः 'अयं घटः' 'अयं पट' इत्यादिः। तदन्यो बुद्धिसन्तानो निरालम्बनम् आलयविज्ञानम् व त्त्युपपन्नोपादानम् आत्मा (क्षणिकः) प्रतिपत्ता अहंप्रत्ययविषयः। यः सालम्बनप्रव त्ति–सन्तानभिन्नो निरालम्बनबुद्धिसन्तानः तमालयविज्ञानं वयं बौद्धा आचक्ष्महे = आलयविज्ञानस्य निराकारत्वेन अहंप्रत्ययविषयस्य आलयविज्ञानरूपोपादानस्य अहंप्रत्यये प्रतिभासे तदाकारस्य प्रतिभासो नुपपन्नः, तस्य निराकारत्वादिति चेत्? समाधत्ते – **अस्तु तर्हि प्रव त्तिविज्ञानोपादानमनादिनिधनः प्रतिपत्तेति।** प्रव त्तिविज्ञानस्य 'अयं घटः', 'अयं पट' इत्यादिरूपज्ञानस्य उपादानम् अनादिनिधनः प्रतिपत्ता आत्मा आलयविज्ञानम् अस्तु। प्रव त्तिविज्ञानस्य अनादिनिधनत्वस्वीकारात्। तदुपादानात् तस्यापि आलयविज्ञानस्य प्रतिपत्तुः आत्मनः अनादिनिधनत्वम्, (अनादिः नित्यश्च प्रतिपत्ता क्षणिकम् आलयविज्ञानम् अनादि)। न च आलयविज्ञानरूपः प्रतिपत्ता आत्मा। किं सन्तन्यमानरूपः तद्विपरीतो वा (सन्तन्यमानज्ञानाद् भिन्नो वा)? इति विचारो वशिष्यते = अयं विचारः कर्तव्यः। असौ ज्ञानरूपः आत्मा प्राग् = प्रथमपरिच्छेदे क्षणभङ्गनिराकरणेन निःशेषितः = साफल्येन निराकृतः। तथा च ज्ञानरूपात्मनः

क्षणिकत्वनिराकरणेनैव ज्ञानातिरिक्तो नादिनिधनः, (अनादिः नित्यश्च) स्थिरो ज्ञानाश्रयः सन्तन्यमान—ज्ञानातिरिक्त आत्मेति सिद्ध्यतीति भावः।

कः पुनरत्र न्यायः। प्रतिसन्धानम्। तथ्यमिदमित्यसिद्धमतथ्य च विरुद्धम्। अविशिष्टमनैकान्तिकमिति चेन्न। हेत्वर्थानवबोधात्। नहि प्रत्यभिज्ञान-मात्रमत्र विवक्षितम्। तत् किं कार्यकारणयोरेकसन्तानप्रतिनियमः। सो पि विरुद्ध इति चेत्? एषो पि न विवक्षितो नः। कस्तर्हि? पूर्वापरधियामेककर्त्तया विनिश्चयः। एषो पि तासामुपादानोपादेयभावेनाप्युपपद्यत इति चेन्न। स्थैर्यस्थितौ तदभावात्। क्षणिकत्वे पि नैकजातीयत्वे सति तदुत्पत्तिरेवोपादानोपादेयभावः। शिष्याचार्यधियामपि तथाभावाप्रसङ्गात्।

[आत्मसाधकानुमानवर्णनम्]

प्रत्यक्षसिद्धे पि स्थिरे आत्मनि अनुमानेन विना न परितोषः। अतः किमत्र अनुमानम्? प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थम् अनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिका इति प च्छति पूर्वपक्षी — **कः पुनरत्र न्यायः?** इति। स्थिरात्मनि किमनुमानम्? उत्तरयति — **प्रतिसन्धानम्** इति। दर्शनस्पर्शाभ्याम् एकार्थग्रहणादित्यादिना गौतमेनोक्तं 'यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्प शामि' इत्याद्यनुसन्धानमेव = स्मरणमेव स्थिरैककर्त्रात्मसाधकम्। अस्थिरयोः विभिन्नयोः आलयविज्ञानयोः 'यो हं घटमद्राक्षं तं स्प शामि' इति ज्ञानयोः असंभवात्, स्थिरैकात्मा स्वीकार्यः। प्रतिसन्धानम् = अनुमानम्। तथा च प्रयोगः — अहमिति प्रत्ययालम्बनं स्थिरं, ताद्रूप्ये प्रत्यभिज्ञायमानत्वाद्, घटवदिति **शङ्करमिश्राः।**

ननु तथ्यं वा प्रतिसन्धानहेतुः? अतथ्यं वा? अविशिष्टं वा? न प्रथमः, असिद्धत्वात्। न हि क्षणिकज्ञानात्मवादिन आत्मप्रतिसन्धानस्य तथ्यत्वं सिद्धमिति। न द्वितीयः, विरुद्धत्वात्। अतथ्यस्य ज्वालादिप्रतिसन्धानस्य (सेयं दीपकलिका इत्यादिप्रतिसन्धानस्य) अनेकज्वालादिविषयकत्वात्। साध्यस्य एकविषयकत्वस्य विपक्ष एव अनेकविषयकत्वे प्रतिसन्धानं विरुद्धमेवेति। नापि त तीयः, अनैकान्तिकत्वात्। अविशिष्टस्य हेतुत्वे भवत्पक्षे पि एकविषये घटादिप्रतिसन्धाने, अनेकविषये ज्वालादि—प्रतिसन्धाने च हेतोः व त्तेरनैकान्तिकत्वमिति पूर्वपक्षी शङ्कते — **तथ्यम् इदम् इत्यसिद्धम्। अतथ्य च विरुद्धम्। अविशिष्टम् अनैकान्तिकमिति चेत्?** इति। 'यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्प शामि' इति प्रतिसन्धानम् हेतुरूपम् यथार्थमिति वक्तुं शक्यते। क्षणिकालयविज्ञानात्मनः एताद शप्रतिसन्धानासंभवात् ताद शप्रतिसन्धानम् असिद्धम्। अतः तत्प्रतिसन्धानं न सत्यम् यथार्थं वा हेतुरूपं भवितुमर्हति। तत्प्रतिसन्धानम् अतथ्यम् असत्यम् अयथार्थम् हेतुरूपं न भवितुमर्हति विरुद्धत्वात्। अतथ्यस्य सेयं ज्वाला सेयं दीपकलिका इत्यादि प्रतिसन्धानस्य अनेकज्वालादिविषयकत्वेन 'यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्प शामि' इत्येककर्त्सन्धानस्य विरुद्धत्वात्। नापि तत्प्रतिसन्धानम्

सत्यासत्यसाधारणरूपम्, अविशिष्टम्, हेतुरूपं भवितुमर्हति, अनैकान्तिकत्वात्। भवत्पक्षे एकविषये घटादिप्रतिसन्धाने तथा अनेकविषये एकविषयत्वाभाववति ज्वालादिप्रतिसन्धाने च हेतोः व त्तित्वेन व्यभिचारात्। साध्यवद्व त्तित्वे सति साध्याभाववद् व त्तित्वम् विरुद्धव्याव त्तम्। व्यभिचारस्य लक्षणं तदाक्रान्तत्वात्। अतः हेतोः असिद्धत्वात्, विरुद्धत्वात्, व्यभिचारित्वाच्च एकप्रतिसन्धानकर्तारं साधयितुम् अशक्यत्वादिति चेत्? परिहरति सिद्धान्ती – **न, हेत्वर्थानवबोधात्। न हि प्रत्यभिज्ञानमात्रस्य विवक्षितम्। तत्किम् कार्यकारणयोः एकसन्तानप्रतिनियमः?** इति। 'यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्प शामि' इति प्रत्यभिज्ञानमात्रं नैकात्मसाधकं विवक्षितम्, येनोक्तदोषाणाम् अवसरः स्यात्। मम हेत्वर्थम् अजानन्नेव असिद्ध्यादिदोषमवादीत्। कश्च तव हेत्वर्थ इत्युच्यताम्। श णु, 'यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्प शामि' इति प्रत्यभिज्ञाने घटविषयकपूर्वानुभवः कारणम्। अपरश्चानुभवः कार्यम्। एताद शानुभवयोः कार्यकारणभावश्च। स च समानाधिकरणयोः एव संभवति। न तु भिन्नाधिकरणयोस्तयोरिति स्थिरैकर्त कत्वं साधयति। तथा च ताद शप्रतिसन्धानबलाद् स्थिरात्मा सिद्ध्यति। यः पूर्वानुभवकर्ता स एव अपरानुभवकर्तेति स्थिरं विना नोपपद्यते।

ननु ज्ञानयोः कार्यकारणभाव एकस्मिन् देवदत्तादिसन्ताने (देवदत्तादिरूपस्य ज्ञानस्य सन्ताने, ज्ञानभिन्नपदार्थाभावात्) प्रतिनियमः व्यवस्थितः। न तु शिष्याचार्यधियोः कार्यकारणभूतयोरिव भिन्नसन्ततिवर्तित्वमिति। एकस्मिन् देवदत्तादिरूपज्ञानसन्ताने पूर्वापरानुभवयोः कार्यकारणभावव्यवस्था एकसन्तानवर्तिनी संभवति। स च सन्तानः स्थिर इति यत् त्वयोक्तम्, तन्न युक्तम्। कार्यकारणयोः एकसन्तानप्रतिनियमः अपि एकत्वरूपसाध्याभाववति अनेकज्वालादिप्रत्यभिज्ञाने विपक्षे व त्तित्वाविरुद्ध इति विरुद्धहेतुः न साध्यं साधयतीति शङ्कते – **सो पि विरुद्ध इति चेत्?** इति। कार्यकारणयोरेकसन्तानप्रतिनियमो पि विरुद्धः। एकत्वाभाववति ज्वालादिप्रत्यभिज्ञाने, सेयं दीपकलिकेति प्रत्यभिज्ञाने वा विपक्षे वर्तते। साध्यवदव त्तित्वे सति साध्याभाववद्व त्तित्वं विरुद्धत्वमिति चेत्? परिहरति सिद्धान्ती – **एषो पि न विवक्षितो नः** इति। कार्यकारणयोः एकसन्तानप्रतिनियमो पि अस्माकं न विवक्षितम् येन विरुद्धः स्यात्। विपक्षी प च्छति – **कस्तर्हि पूर्वापरधियाम् एककर्त कतया विनिश्चयः? एषो पि तासाम् उपादानोपादेयभावेनापि उपपद्यत इति चेत्?** इति। यदि कार्यकारणयोः एकसन्तानप्रतिनियमो न त्वया विवक्षितः विरुद्धहेत्वाभासभिया, तर्हि पूर्वापरधियाम् = 'य एवाहं घटमन्वभूवं स एवाहं स्मरामि', 'य एवाहं घटमज्ञासिषं स एवाहं जानामि' इति धियाम् एककर्त कतया विनिश्चयः किं विवक्षितस्त्वया? पूर्वापरज्ञानानामेककर्त कत्वनिश्चयो पि उपादानोपादेयभावाङ्गीकारेणैव ज्ञानानां संभवति इति किं तदाश्रय(ज्ञानाश्रय)स्थिरैकात्मकल्पनयेति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **न। स्थैर्यस्थितौ तदभावात्** इति। भावानां स्थैर्यं मया प्रथमपरिच्छेदे साधितम्। "सहकारिसमवधानासमवधानाभ्यां बीजेभ्योः अङ्कुरजननाजननयोः संभवेन न बीजानां

क्षणिकत्वमित्याद्युक्त्या पदार्थानां स्थिरत्वं साधितम्। स्थिरपक्षे च स्थिरस्यैवात्मनो ज्ञानोपादानत्वमिति न पूर्वापरज्ञानानामुपादानोपादेयभावो स्ति गौरवात्। एकोपादानेनैव तत्सम्भवे अनेकोपादानकल्पनायां गौरवात्। भावानां क्षणिकत्वपक्षे पि उपादानो–पादेयत्वं दूषयति – **क्षणिकत्वे पि नैकजातीयत्वे सति तदुत्पत्तिरेवेति।** सजातीयात् सजातीयोत्पत्तौ सत्याम् उपादानोपादेयभावस्त्वयाङ्गीक्रियते। यथा पूर्वस्मात् घटज्ञानात् अपरं घटज्ञानं जायते, तयोरुपादानोपादेयभावो भवति। पूर्वघटज्ञानमुपादानम् अपर चोपादेयम्। तथा च एकजातीयत्वे सति तदुत्पत्तिरेव उपादानोपादेयभावः (तदुत्पत्तिः कार्यकारणभावः) इति न युक्तम्। तथा सति शिष्याचार्यधियामपि उपादानोपादेयभावापत्तेः। एकजातीयत्वे सति आचार्यज्ञानोत्पत्तेः शिष्यविज्ञाने सत्त्वात्। तथा च एताद शोपादानोपादेयभावः कथयितुं न शक्यते, अतिव्याप्तेः।

भेदाग्रहे सतीति चेन्न, प्रकृते पि तदभावात्। शरीरभेदाग्रहस्तावदस्तीति चेन्न। भिन्नजन्मज्ञानाव्याप्तेः। अनुपलब्धपित केणापि बालेनातिप्रसङ्गात्। घटकपालक्षणयोरतथाभावप्रसङ्गाच्च। एकाधारतया नियम इति चेन्न। तस्य वास्तवस्य क्षणिकत्वपक्षे पि विषमसमयानां क्षणानामभावात्। काल्पनिकस्य त्वतिप्रस जकत्वात्। शरीरबुद्ध्योरपि समानदेशताभिमानात्।

पूर्वपक्षी शङ्कते – **भेदाग्रहे सतीति चेत्?** इति। भेदाग्रहत्वे सति सजातीयत्वे सति तदुत्पत्तिरूप(कार्यकारणभावः)उपादानोपादेयभावः। तथा च शिष्याचार्यबुद्ध्योः परस्परभेदाग्रहत्वेन तद्ग्रहत्वाभावान्न उक्तदोष इति चेत्? घटज्ञानानाम् एकसन्तानवर्तिनां भेदाग्रहस्यासत्त्वेन क्षणिकविज्ञानपक्षे पि उपादानोपादेयभावस्य असंभव इति दूषयति – **न। प्रकृते पि तदभावात्** इति। क्षणिकविज्ञानपक्षे पि पूर्वापरविज्ञानयोः भेद–ग्रहस्य सत्त्वेन भेदाग्रहासत्त्वात् उपादानोपादेयभावस्य तत्राभिलषितस्य अनुपपत्तेः।

ननु एकसन्ताने ज्ञाने शरीरभेदाग्रहेण विज्ञानरूपस्य आत्मनो पि न भेदग्रह इति भेदाग्रहस्य तत्र सत्त्वेन, भेदाग्रहत्वे सति एकजातीयत्वे सति तदुत्पत्तिमत्वरूपः उपादानोपादेयभावः तत्र वर्तते। नासंभव इति शङ्कते – **शरीरभेदाग्रहस्तावदस्तीति चेत्?** इति। आत्मस्थानिनां विज्ञानानाम् उपाधिभूतस्य शरीरस्य भेदाग्रहः तावदस्ति एकसन्ताने। ततः उपाधिभूतशरीरभेदाग्रहेण ज्ञानानां भेदाग्रह इति पूर्वापरविज्ञानयोः उपादानोपादेयभावो भवतीति चेत्? परिहरति – **न। भिन्नजन्मज्ञानाव्याप्ते**रिति। विभिन्नजन्मव त्तीनां ज्ञानानाम् उपादानोपादेयभूतानां शरीराणां भेदेन शरीरभेदाग्रहाभावात् भेदाग्रहत्वे सति एकजातीयत्वे सति तदुत्पत्तिरूपस्य उपादानोपादेयभावलक्षणस्य तत्र अव्याप्तेः। **अनुपलब्धपित केणापि बालकेनातिप्रसङ्गात्** इति। कि च अनुपलब्धपित केणापि बालेन पित शरीरज्ञानात् पित शरीराद् भिन्नमिदम् अस्मच्छ–शरीरमिति भेदज्ञानाभावेन तयोर्ज्ञानयोः उपादानोपादेयभावापत्त्या अतिव्याप्तेः।

बालकज्ञाने पित शरीरभेदाग्रहत्वस्य एकजातीयत्वस्य (पित ज्ञानसजातीयत्वस्य) तदुत्पत्तेः सत्वात्।

कि च घटकपालयोः तदनुपपत्तिः इत्याह – **घटकपालक्षणयोः अतथाभावप्रसङ्गाच्च** इति। घटकपालयोः भेदाग्रहेण भेदग्रहाभावात् तयोः उपादानोपादेयभावानुपपत्तेश्च। एकाधारतासम्बन्धवत्त्वे सति कार्यकारणत्वम् उपादानोपादेयभावस्य लक्षणमिति घटकपालयोः तदुत्पत्तिः इति शङ्कते – **एकाधारतया तथा नियम इति चेत्?** एकाधारसत्त्वे सति कार्यकारणत्वम् उपादानोपादेयभावस्य लक्षणमिति न घटकपालयोः तदनुपपत्तिः, तयोः आधाराधेयभावस्य कार्यकारणभावस्य च सत्त्वात्। भिन्नजन्मज्ञानानामपि तथात्वेन नाव्याप्तिः। अनुपलब्धपित क–बालकज्ञाने नातिव्याप्तिः। पित ज्ञानबालकज्ञानयोः आधाराधेयभावात् इति चेत्? वास्तविकस्य एकाधारस्य अभावेन एकसन्ताने पूर्वापरज्ञानयोः उपादानो–पादेयभावानुपपत्त्या तत्रास्य लक्षणस्य अव्याप्तिरिति परिहरति सिद्धान्ती – **न। तस्य वास्तवस्य क्षणिकत्वपक्षे पि विषमसमयानां क्षणानाम् अभावात्** इति। विभिन्नसमये उत्पन्नानां क्षणानां = क्षणिकपदार्थानां वास्तविकाधाराधेयभावस्य असत्त्वेन घटकपालयोः क्षणिकयोः, एकज्ञानसन्ताने वर्तमानयोः पूर्वापरज्ञानयोश्च एकाधारतासंबन्धवत्त्वस्य अभावेन एकाधारतासंबन्धवत्त्वे सति कार्यकारणभावस्य उपादानोपादेयभावस्य तत्र तत्र असत्त्वेन अस्य लक्षणस्य असंभवापत्तेः। विषमसमयानां क्षणानाम् एकाधारत्वे अनेककालक्षणस्थायित्वस्य स्थिरत्वस्य आपत्तिः। अतो न वास्तविकाधाराधेयभावो घटकपालयोः। तथा अन्येषामपि वर्तते।

ननु क्षणिकत्वपक्षे घटकपालादीनाम् आधाराधेयभावः काल्पनिक इति काल्पनिकाधारतासंबन्धवत्त्वे सति कार्यकारणस्य तत्र सत्त्वेन न उपादानोपादेयभाव–लक्षणस्य असंभव इति शङ्कां मनसिकृत्य उत्तरयति सिद्धान्ती – **काल्पनिकस्य त्वतिप्रस जकत्वात्। शरीरबुद्ध्योरपि समानदेशताभिमानात्** इति। तन्तुपटयोः कपालघटयोश्च कदाचिद् एकाधारताभ्रमसंभवेन तयोरपि उपादानोपादेयभावापत्तेः। एवं शरीरबुद्ध्योः उपादानोपादेयभावशून्ययोरपि समानदेशत्वाभिमानात् तयोरपि एकाधारत्वात् उपादानोपादेयभावापत्तेश्च इति।

एतेन-

अभ्रान्तसमतैकावसायः प्रकृतिविक्रिये।
ततौ हेतुफलस्योपादानोपादेयलक्षणम्। इति निरस्तम्।

काष्ठस्य तु प्रकृतेर्विकृतिरङ्गार इति कुतो निश्चितं भवता, यावता वह्नेरेवायं विकारः किं न स्यात्? वह्निसम्बन्धिकाष्ठादेव तदुत्पत्तेरिति चेन्न। काष्ठसम्बन्धेन वह्नेरेव तदुत्पत्तिरित्यपि किं न कल्प्येत। पार्थिवं पार्थिवोपादा-

नकमिति निश्चयादिति चेत्? कुत एतत्। सभागेषु स्वक्षणेषु तथादर्शनादिति चेत्? एतदपि कुतः? अभ्रान्तसमतैकावसायादिति चेत्! अथ केयं समता नाम? यदि साजात्याम्? सादेश्यं वा? तत् प्राङ्निरस्तम्। एकसन्तानत्व चेत्तदपि तदुपत्तिमात्र चेत्? निमित्तकयोरपि तथाभावप्रसङ्गः। उपादानोपादेयभावश्चेत्? कथं तेनैव तद्व्यवस्थाप्येत। ज्ञानेषु तत्प्रतिसन्धानमेवोपादानोपादेयलक्षणमिति चेन्न। आत्माश्रयप्रसङ्गात्।

[प्रतिसन्धानेनैककर्त्साधनम्]

उपादानोपादेयभावस्य परोक्तलक्षणान्तरमपि उक्तन्यायेन निरस्तम् इत्याह – **एतेन** इति

अभ्रान्तसमतैकावसायः प्रकृतिविक्रिये वा।
ततो हेतुफलभावस्योपादानोपादेयलक्षणम्।।

इति निरस्तम् इति। एकाधारतया तथानियम इति उपादानोपादेयभावरूपोक्तलक्षणस्य घटकपालयोः उपादानोपादेयभावापन्नयोः अव्याप्तिदोषेण यथा निरसनं तथा परोक्तवक्ष्यमाणतल्लक्षणमपि तस्य निरस्तं बोध्यम्। विज्ञानसन्ततौ हेतुपूर्वकस्य फलस्य अभ्रान्तसमतैकावसाय उपादानोपादेयलक्षणम्। प्रकृतिविक्रिये (प्रक तिविकारभावः) विज्ञानसन्ततौ अभ्रान्तसमतैकावसायः उपादानोपादेयभावलक्षणं वा निरस्तं बोध्यम्। तच्च प्रकृतिविकृतिभावरूपम् उपादानोपादेयत्वं विज्ञातुमशक्यत्वान्न संभवति इत्याशयेन आह – **काष्ठस्य तु प्रकृतेः विक तिः अङ्गारः** इति। काष्ठस्य प्रकृतेर्विकारो ग्निरिति भवता कुतो निश्चितम्? यतः अग्निः अग्नेर्विकारः किं स्यात्? तथा च बह्निः काष्ठविकारः किं न वा बह्नेर्विकार इति सन्देहसत्त्वात् बह्निः काष्ठविकार इति निश्चयस्य असंभवात्। संशयान्यज्ञानस्यैव निश्चयत्वात्। शङ्कते – **वह्निसम्बन्धि-काष्ठादेव तदुत्पत्तेरिति चेत्?** इति। वह्निसंयुक्तकाष्ठादेव वह्निः यत उत्पद्यते अतो वह्निः काष्ठस्य विकार इति निश्चीयते इति चेत्? परिहरति – **न। काष्ठसंबन्धेन वह्नेरेव तदुत्पत्तिरित्यपि किं न कल्पयेत्?** इति। वह्निसंबन्धेन वह्निः काष्ठाद् उत्पद्यते इति काष्ठविकारो वह्निः। काष्ठसंबन्धेन वह्नेरुत्पत्तेः वह्निरिति कथं न कल्पयन्ति भवन्तः? विनिगमकाभावेन अस्य कथयितुं शक्यत्वादिति वह्निसंयुक्तेन काष्ठेन वह्निरुत्पद्यते, किं वा काष्ठसंबन्धेन वह्निः वह्नेरुत्पद्यत इति सन्देहस्यैव सत्त्वेन तन्निश्चयासंभवात्।

शङ्कते – **पार्थिवं पार्थिवोपादानकमिति निश्चयादिति चेत्?** इति। पार्थिवं पार्थिवोपादानकमिति निश्चयात् काष्ठादेव पार्थिवात् वह्निः पार्थिव इति निश्चीयते इति चेत्? सिद्धान्ती प च्छति – **कुत एतत्?** इति। पार्थिवं पार्थिवोपादानकमिति कुतो निश्चीयते भवता? पूर्वपक्षी उत्तरयति – **सभागेषु स्वक्षणेषु**

तथा दर्शनादिति चेत्? इति। काष्ठेभ्यः उत्पद्यमानेषु सद शेषु काष्ठेषु पार्थिवं पार्थिवोपादानकमिति तथा दर्शनेन उपादानोपादेयभावदर्शनेन निश्चितम्। तथा च सभागसन्ततौ = सद शसन्ताने उपादानोपादेयभावं प्रति साजात्यमेव तन्त्रम्। विसद श– सन्तानादावपि एतदेव तन्त्रमिति कल्पनीयम्। यथा काष्ठात् सद शकाष्ठस्य सजातीयस्य उत्पत्तिः, तथा काष्ठात् विसद शस्य वह्नेः उत्पत्तिः कल्प्यते इति चेत्? सिद्धान्ती प च्छति – **एतदपि कुतः**? इति। सजातीयात् सजातीयस्य विजातीयात् विजातीयस्य च उत्पत्तिरिति कुतो ज्ञायते भवता? अथवा साजात्यं कुतो ज्ञायते भवता? उत्तरयति पूर्वपक्षी – **अभ्रान्तसमतैकावसायादिति चेत्?** इति। 'घटो यं', 'घटो यम्' इत्यनुगते व्यवसाय इति। तेन तत्र साजात्यं निश्चीयते। पूर्वघटात् स्वसद शं परघटम् उत्पद्यते। पूर्वघटसद श उत्तरघट इति निश्चीयते इति चेत्। सद शेषु सजातीय– विजातीयान्यतरजन्येषु उपादानात् काष्ठात् काष्ठेषु वह्नौ च ताद शोत्पत्तिः अभ्रान्तसमतैकावसायात् (ज्ञानात्) निश्चीयते। **तत्र केयं समता नाम? यदि साजात्यं सादेश्यं वा तत् प्राङ्निरस्तम्। एकसन्तानत्वं चेत् तदपि तदुत्पत्तिमात्रं चेत्? निमित्तनैमित्तिकयोरपि तथाभावप्रसङ्ग** इति। यदि सन्तानदेशत्वरूपं साजात्यं विवक्ष्यते इति चेत्? तत्साजात्यं प्राङ् निरस्तम्। वास्तवस्य सादेश्यस्य अभावात्। सर्वेषां पदार्थानां तव मते क्षणिकत्वेन न केषामपि पदार्थानां सादेश्यं संभवति। समानो देशो यस्य स सदेशः, सदेशस्य भावः सादेश्यमिति न भिन्नस्य तत्समानदेशत्वं वास्तविकं संभवति। आभिमानिकस्य सादेश्यस्य शरीरबुद्ध्योः अतिप्रसक्तिरिति तु प्रागेव एतन्निरस्तम्। यदि समानत्व च एकसन्तानत्वं तदपि तदुत्पत्तिमात्रम् = कार्यकारणम् इति चेत्? तदा निमित्तनैमित्तिकयोः अग्नि–अङ्गारयोः प्रकृतिविकाराभावप्रसङ्गात्। **मिश्रास्**तु पु जात् पु जोत्पत्तिः, तथा च पूर्वरूपं पररूपं प्रत्युपादानत्वं स्यादिति वदन्ति (पूर्वरूपं पररूपं प्रति उपादानत्वं तद्भिन्नं रसादिकं प्रति निमित्तत्वमिति पूर्वरूपं पररसं प्रति उपादानत्वं स्यात्)।

ननु तदुत्पत्तिशब्देन उपादेयभाव एव विवक्षित इति पूर्वरूपस्य पररसे नोपादेयत्वमिति नोक्तदोषः। पूर्वरूपपररसयोः न उपादानोपादेयभावो पि तु निमित्तनैमित्तिकभावो मया स्वीक्रियते इति चेत्? न। उपादानोपादेयलक्षणत्वेन समता उपन्यस्ता। तत्र चोपादानोपादेयभाव एव समता इत्युच्यमाने लक्ष्यलक्षणयोः अभेद एव प्रसज्येत। तथा च लक्षणज्ञानं लक्ष्यज्ञानं विना न संभवति। लक्ष्यज्ञानं च लक्षणज्ञानं विना न इति आत्माश्रयः। स्वग्रह–सापेक्षग्रह–विषयत्वम् आत्माश्रयत्वमिति उपादानोपादेयभावस्य समताघटितोक्तलक्षणं न भवितुमर्हति।

ननु तज्ज्ञानेषु तत्प्रतिसन्धानमेव उपादानोपादेयलक्षणम्। प्रकृते ज्ञानविषये तावत्प्रतिसन्धानम् (ज्ञानम्) स एव उपादानोपादेयलक्षणम्। तेष्वेव उपादानोपादेयभावः इति प्रतिसन्धानमेव उपादानोपादेयलक्षणम्। ज्ञानविषये घटे म त्तिकाया ज्ञानं भवति

इति घटम त्तिकयोः घटकपालयोर्वा उपादानोपादेयभाव इति चेत्? न। आत्माश्रयप्रसङ्गात्। एककर्त कत्वमन्तरेणापि प्रतिसन्धानं – 'यो हं घटमद्राक्षं तमहं जानामि' इति ज्ञानम्। उत्पादानोपादेयभावतो पि उपपद्यते इति वदता उपादानोपादेयत्वमेव प्रतिसन्धानम् इत्युच्यमाने प्रतिसन्धानमुपपद्यते इत्युक्तं स्यादिति। (घटमहं जानामीत्यत्र पूर्वापरज्ञानानामुपादानोपादेयभावो भवति, तदेव प्रतिसन्धानम् इत्यात्माश्रयः।) पूर्वज्ञानविषयघटादिविषयकं ज्ञानम् अनुसन्धानम् 'घटमहं जानामि' इत्याकारकम्। उपादानोपादेयत्वम् तज्ज्ञाने तज्ज्ञानत्वम्। तच्च तज्ज्ञानविषय–विषयकत्वमित्यात्माश्रय इति।

तद्योग्यतेति चेत्? सैव केति चिन्त्यम्। शक्तिविशेष इति चेत्? स तावन्न प्रतिक्षणनियतः। यथा हि तेन तत्कर्तव्यं तथा ताद शापि तत्कर्तव्यमित्यपि नियम एव। अन्यथा तेन तत्कृतमित्यपि न निश्चीयेत। क्षणस्य दुरुन्नेयत्वात्। तथा च निरीहं जगज्जायेत। आकस्मिक च कार्यस्य ताद शत्वमापद्येत। यथा च न नियम उपलभ्येत। नापि प्रतिसन्तानियतः (शक्तिविशेषः) विशेषाभावात्।

ननु प्रतिसन्धानयोग्यतैव उपादानोपादेयत्वमिति नात्माश्रय इति शङ्कते – **तद्योग्यतेति चेत्**? इति। सिद्धान्ती प च्छति – **सैव का इति चिन्त्यम्** इति। प्रतिसन्धानयोग्यता केति विचारणीयम्।

ननु बुद्धीनां स ताद शशक्तिविशेषो येन प्रतिसन्धाननियमः कार्यकारणभावे सत्युपपद्यते। शिष्याचार्यधियोश्च स शक्तिविशेषो नास्तीति न प्रतिसन्धानमिति शङ्कते – **शक्तिविशेष इति चेत्?** शक्तिविशेषरूपा योग्यतेति चेत्? शक्तिविशेषस्य प्रतिक्षणनियतत्वं दूषयितुं कथयति सिद्धान्ती – **स तावन्न प्रतिक्षणनियत** इति। उपादानोपादेयभावनियामकः। प्रतिसन्धानयोग्यतां प्रति क्षणिकपदार्थनियतो न (प्रतिक्षणनियतो न) येन शिष्याचार्यबुद्धिषु उपादानोपादेयभावो न स्यात्। शिष्यबुद्धिसन्तानव त्तिघटादिबुद्धिः उत्तरतदव त्तिघटादिबुद्धिं प्रत्येव उपादानम्। एवं सा च उत्तरघटादिबुद्धिः तत्सन्तानव त्तिपूर्वघटादिबुद्धिं प्रत्येव उपादेय इति वक्तुं न शक्यते, उत्तरयुक्तेः।

प्रतिक्षणनियतत्वम् उपादानोपादेयभावनियामकस्य शक्तिविशेषस्य नास्तीत्यत्र युक्तिं प्रदर्शयितुमाह – **यथा हि तेन तत् कर्तव्यमिति।** यदि उपादानोपादेयभाव–नियामकः प्रतिक्षणिकपदार्थनियतः शक्तिविशेषः स्यात्। तदा जगन्निरीहं जायेत, कार्य च सजातीयम् आकस्मिक च जायेत, कार्यस्य आकस्मिकत्व च भवेदिति। न चेष्टापत्तिं कर्तुं शक्नुवन्ति भवन्तः। कार्योत्पादस्य नियामकाभावे सर्वत्र सर्वकार्यापत्तिरिति देवदत्तबुद्धिसन्तानस्य घटबुद्धिः, तदव त्तिघटबुद्धिमेव जनयति न पटबुद्धिम्।

एवमाचार्यबुद्धिः न शिष्यबुद्धिं जनयति इति नियमो पि नोपपद्येत। एव च देवदत्तघटबुद्धिः तदीयपटबुद्धिं जनयेत्, आचार्यबुद्धिः शिष्यबुद्धिं च जनयेत्। तथा च प्रतिसन्तान–नियतः शक्तिविशेषो पि न सिद्ध्येत इति प्रतिक्षणव त्तिशक्तिविशेषः अर्थविशेषं जनयन् उपादानोपादेयभावस्य नियामक इति कथयितुं त्वया न शक्यते। अन्यथा प्रतिक्षणनियतशक्तिविशेषादेव कार्यस्वीकारे घटजातीयः पूर्वघटादेवोत्पद्येत, उत्पद्यमानो पि घटः सजातीयघटान्तरम् उत्पाद्येतेति कुलालादेर्न किमपि प्रयोजनं स्यात्, कर्त्तव्याभावात्। एवमन्येषामपि तत्कार्यकर्तृणामिति सर्वेषां कार्यकर्तृणाम् उद्योगशीलता नश्येत। विषयेभ्यः = घटादिपदार्थेभ्य एव सजातीयविजातीयकार्याणाम् उत्पत्तिसंभवात्।

अक्षरार्थस्तु – यथा हि पूर्वक्षणिकघटादिना स्वसजातीयोत्तरघटजननं कर्तव्यमस्ति। तथा तदुत्पद्यमानेनापि घटादिना स्वोत्तरस्वसजातीयजननं कर्तव्यमिति नियम एव उपादानोपादेयभावनियामकशक्तिविशेषाद् भविष्यति। अन्यथा (एतन्नियमास्वीकारे) पूर्वघटादिः उत्तरसजातीयं जनयति, सजातीयघटान्तरं च = स्वोत्तरसजातीयघटान्तरं च न जनयतीति स्वीकारे च, पूर्वघटो पि एकदेवदत्तीयबुद्धिसन्तानस्थः तद्व त्तिस्वसजातीयोत्तरघटमपि जनयति इत्यपि न निश्चीयेत, क्षणस्य दुरुन्नेयत्वात्। अयं क्षणिक इदमेव कार्यं करोति नान्यदिति ज्ञातुं न शक्यते। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणभावस्य निश्चय इति क्षणिकपदार्थवादिमते न संभवति। प्रतिव्यक्तिकार्यकारणभावस्य अनागतकार्यानुपस्थित्या ग्रहीतुमशक्यत्वात्। सामान्यरूपेण तदग्रहे इष्टानिष्टोपायताग्रहस्य कारणस्य अभावात्। क्वचिदपि प्रव त्तिनिव त्ती न स्याताम्। स्थिरवादिमते तु कुलालात् घटजननं द ष्ट्वा जलार्थी घटानयनार्थं कुलालस्य समीपं गत्वा घटं ग ह्णाति। एवम् अन्यत्रापि बोध्यम्। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कुलालः घटकारणमिति निश्चयः तस्य वर्तते। एवं निव त्तिरप्यूह्या।

कि च कारणजातिप्रयुक्ता कार्यजातिः। तत्र कारणजातेः अप्रयोजकत्वे कार्यजातेराकस्मिकत्वमापद्येत। कार्यजातेराकस्मिकत्वे तु कस्यचिदेव काचिदेव जातिरिति नियमो पि न सिद्ध्येत्।

ननु न प्रतिक्षणनियमः, नापि जातिनियमः शक्तिविशेषः, किन्तु प्रतिसन्ताननियत इति न शिष्याचार्यबुद्ध्योः उपादानोपादेयभावापत्तिः। एकसन्तानत्वाभावादिति चेत्? न। सन्तानान्तरनीलबुद्धिभ्यः सन्तानान्तर– नीलबुद्धेः विशेषाभावात्। शिष्याचार्य–नीलबुद्ध्योः उपादानोपादेयभावापत्तेः दुर्वारत्वात्। अतो न उपादानोपादेयभावनियामकः शक्तिविशेष इति कथयितुं न शक्यते इति स्थितम्।

अस्तु वैजात्यमिति चेन्न, अनुपलब्धिबाधितत्वात्। नहि शिष्याचार्य-नीलधियोर्मात्रयापि जातिकृतं विशेषमुपलभामहे। अद श्यत्वादयमदोष इति

चेन्न। द श्यसमवायिन्या जातेरद श्यत्वानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा धूमादावपि अवकाश-प्रसङ्गात्। तथा चावान्तरसत्त्ववदवान्तरधूम एव वह्नेः कार्यः स्यादिति शङ्काकलङ्कितत्वात्। न (च) धूमसामान्यमग्नि गमयेत्। एवमेतत्। आद्यस्यैव तथाभावादिति चेन्न। तत्रापि शङ्कायास्तदवस्थत्त्वात्। तस्मात् कारणस्य वैजात्ये प्रमाणसिद्धे कार्यस्य सौसाद श्ये प्यवान्तरजातिभेदः कल्प्यते। हेतुवैजात्यस्य फलवैजात्यं प्रति प्रयोजकत्वात्। अप्रयोजकत्वे तस्या कस्मि-कत्वप्रसङ्गात्। कारणसाजात्ये पि कार्यस्य वैजात्यं सहकारिवैजात्ये पर्यवस्यतीति युक्तमुत्पश्यामः। अन्यथा प्रकृते परलोको पि न सिद्ध्येत्। अचेतनोपादानकमपि ज्ञानमवान्तरजातीयं स्यात्। अचेतनमप्यवान्तरजातीयं ज्ञानोपादानं भवेत्। द श्यजात्यभेदे पि कि चिदेव निमित्तं भविष्यतीति शङ्कायाः समुत्थापयितुं शक्यत्वादिति।

शङ्कते – **अस्तु वैजात्यम् इति चेत्?** इति। सद शेषु क्षणेषु = क्षणिकपदार्थेषु उपादानोपादेयभावस्य दर्शनात् पार्थिवं पार्थिवोपादानम् इति निश्चयेन काष्ठस्य प्रकृतेः विकारः अङ्गार इति निश्चीयते। सद शेषु क्षणिकपदार्थेषु पार्थिवं पार्थिवोपादानमिति दर्शनमिति कुतो ज्ञायते इत्यनुयोगश्चेत्? अभ्रान्तसमतैकावसायात् पार्थिवं पार्थिवोपादानदर्शनं स्वीक्रियते। तत्र तद्घटकसमत्वस्यैव उपादानोपादेयभाव–नियामकत्वम् इत्यायाति। तच्च समत्वं वैजात्यम् = विलक्षणत्वमुच्यते इति चेत्? खण्डयितुमाह – **न। अनुपलब्धिबाधितत्वात्। न हि शिष्याचार्यनीलधियोः मात्रयापि जातिकृतं विशेषमुपालभामहे** इति। शिष्याचार्ययोः नीलधियोः कि चिदपि वैलक्षण्यं स्व–स्व–नीलबुद्ध्यपेक्षया न द श्यते इति वैजात्यस्य अनुपलम्भबाधितत्वेन ताद शवैजात्यस्य गौरवेण अस्वीकारात्। तथा च यदि शिष्याचार्यनीलधियोः वैजात्यं स्यात् तर्हि उपलभ्येत, नोपलभ्यते अतो नास्तीति ज्ञायते।

शङ्कते – **अद श्यत्वादयमदोष इति चेत्?** इति। शिष्याचार्यधियोः अद श्यत्वात्, तत्र विशेषस्य वैलक्षण्यस्य सत्त्वे पि अस्मदादीनाम् अद श्यत्वात् नीलधियोः वैलक्षण्यं नोपलभ्यते, न तु अभावान्नोपलभ्यते इति चेत्? खण्डयति सिद्धान्ती – **न। द श्यसमवायिन्या जातेरद श्यत्वानुपपत्तेरिति**। शिष्याचार्य–नीलधियोः द श्यत्वेन (अनुमेयत्वेन) तत्र जातेः विशेषस्य = वैलक्षण्यस्य, अद श्यत्वानुपपत्तेः। द श्यव त्तिजातौ द श्यत्वस्यैव दर्शनात्।

दोषान्तरदानाय अभ्युपगम्याह – **उपपत्तौ वा धूमदावपि अवकाशप्रसङ्गात्** इति। द श्यव त्तिजातेः अद श्यत्वाङ्गीकारे धूमादावपि अद श्यजातेः अवकाशप्रसङ्गात्। तत्रापि धूमत्वादिजातिः अद श्या इति कथयितुं शक्यते। किंवा अद श्यजात्यन्तरस्य स्वीकारप्रसङ्गः।

ननु भवतु धूमादौ द श्ये अद श्यजातिः का क्षतिरित्यत आह – **तथा च अवान्तरसत्त्ववद् अवान्तरधूम एव वह्नेः कार्यः स्यात् इति शङ्काकलङ्कितत्वात् न धूमसामान्यम् अग्निं गमयेत्** इति। यदि द श्ये धूमे अवान्तरद श्यजातिः स्वीक्रियते ततो वान्तरजातिविशेषवान् धूम एव महानसीयवह्निजन्यो भवेत्, वह्निजन्यो वा भवेत्। ताद शविशेषजातिमता धूमेन वह्निव्याप्येन वह्नेः अनुमितिः स्यात्, न धूमसामान्येन वह्न्यनुमितिः। धूमसामान्यस्य वह्निजन्यत्वानिश्चयात्। अवान्तरजातिमान् धूमो वह्निजन्यः, धूमसामान्यं वा वह्निजन्य इति शङ्कायाः सत्त्वात्।

शङ्कते – **एवमेतत्, आद्यस्यैव तत्राभावादिति चेत्?** इति। अग्निक्षणानन्तरवर्तिनः = क्षणिकवह्न्यनन्तरवर्तिनः आद्यस्य = प्रथमस्य धूमक्षणस्य = क्षणिकधूमस्य वह्निजन्यत्वम्। तद्भिन्नानां क्षणिकानां धूमानां पूर्वपूर्वधूमजन्यत्वमेव। सर्वस्य धूमस्य वह्निजन्यत्वव्यवहारश्च आद्यधूमस्य वह्निजन्यत्वेन परम्पराजन्यत्वमादायैव भवति न तु आद्यभिन्नेषु धूमेषु वह्निजन्यत्वं साक्षाद् वर्तते इति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **न। तत्रापि शङ्कायाः तदवस्थत्वात्** इति। आद्यक्षणेष्वेव अवान्तर– जातिमादाय अग्निजन्यत्वमिति शङ्कायाः तदवस्थत्वात्। कि च आद्यो पि धूमक्षणः पिशाचादेव जायते इति किं न स्यादिति शङ्काया आद्यधूमे पि संभवात्। तथा च द श्ये अद श्यजात्यन्तरकल्पने धूमसामान्यं न वह्निं गमयेत्। अतो द श्ये अद श्यजातिर्न कल्पनीया। तथा च शिष्याचार्यधियोः वैजात्यमद श्यं न कल्पनीयमिति शिष्याचार्यधियोरपि उपादानोपादेयभावस्य त्वदनिष्टस्य आपत्तिः स्यात्।

ननु यदि द श्यसमवायिषु अद श्यजातिः न अभ्युपगम्यते तदा कथं तर्हि त णारणिजन्येषु वह्निषु अद श्यावान्तरजातिः स्वीक्रियते? अन्यथा तज्जन्ययोः वह्न्योः परस्परभेदानुपपत्तेः। द श्यवह्नित्वस्य उभयत्र अविशेषाद् इत्यत आह – **तस्मात् कारणस्य वैजात्ये प्रमाणसिद्धे कार्यस्य सौसाद श्ये पि अवान्तरजातिभेदः कल्प्यते। हेतुवैजात्यस्य फलवैजात्यं प्रति प्रयोजकत्वात्। अप्रयोजकत्वे तस्य आकस्मिकत्व-प्रसङ्गात्। कारणसाजात्ये पि कार्यस्य वैजात्यं सहकारिवैजात्ये पर्यवस्यतीति युक्तमुत्पश्यामः** इति। प्रमाणसिद्धे हि कारणवैजात्ये कार्यस्य सौसाद श्ये अपि = समानत्वे पि, अवान्तरजातिः कल्प्यते। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वह्निं प्रति त णारण्योः उभयोरपि कारणत्वं निश्चीयते। तत्र व्यतिरेकव्यभिचारवारणम् त णजन्यवह्नौ अद श्यावान्तरजातिविशेषः स्वीक्रियते, एवमरणिजन्ये पि वह्नौ। तथा च ताद शजातिविशेषवह्निः तत्तदभावे न जायते, न भवति व्यतिरेकव्यभिचारः। त णारण्योः वैजात्यं च प्रमाणसिद्धम् तद्वैजात्यमेव कार्यगतवैजात्यप्रयोजकमिति त णारणिजन्ययोः वह्न्योः अद श्यावान्तरजाती स्वीक्रियेते। सामान्ये वह्नौ वैजात्यं न प्रमाणसिद्धम् इति तत्कार्ये धूमे द श्ये समाने अद श्यजातिः न कल्पनीया। धूमजनके वह्नौ

वैजात्यस्य प्रमाणासिद्धत्वात् न फले वैजात्यं स्वीकरणीयम्। हेतुवैजात्यस्य कार्यगतवैजात्यं प्रति अप्रयोजकत्वे कार्यगतवैजात्यस्य त णजन्यवह्निगतवैजात्यस्य आकस्मिकत्वात्। अरणिजन्याद् वह्नेः विलक्षणः त णजन्यवह्निः इति सर्वानुभवविरोधो पि आपतेत। कि च त णारणिजन्ययोः वह्न्योः समानत्वे तिरस्कृते धूमत्वावान्तरजाती अनतीन्द्रिये प्रमाणसिद्धेन कारणवैजात्येन व्यज्येते, न तु अतीन्द्रिये जाती तत्र तत्र स्वीक्रियेते।

ननु यदि कार्यवैजात्यं कारणवैजात्यप्रयुक्तमिष्यते कथं तर्हि सेवा–अध्ययन–तुल्यत्वे फलवैजात्यम्? ज्ञान–सुखयोः अत्ममनःसंयोगजन्ययोः कथं वैलक्षण्यं आत्ममनःसंयोगे कारणवैलक्षण्याभावात्। अत आह – **कारणेति**। आत्ममनःसंयोगस्य समानत्वे पि विषयेन्द्रियसंयोगादिसहकारिणोः भेदात् ज्ञानसुखयोः कार्ययोर्भेदः। अतः सर्वत्र सामग्रीवैजात्यमेव कार्यवैजात्यप्रयोजकं स्वीकार्यमिति सेवाध्ययनयोः समानत्वे पि आत्ममनःसंयोगस्य वा समानत्वे पि फलभेदः, सामग्र्यधीन इति न का पि क्षतिः। सहकारिवैजात्यप्रयुक्तं कार्ये वैलक्षण्यं युक्तम् इत्यालोचयामः। तथा च सेवाध्ययनादेः तुल्यत्वे पि बुद्ध्यादिसहकारिवैजात्यात् फले वैजात्यम्। तथा च फलवैजात्यं क्वचिद् उपादानकारणवैजात्येन क्वचिच्च सहकारिकारणवैजात्येन च भवतीति बोध्यम्।

द श्येषु अद श्य–वैजात्याभ्युपगमे भवत्पक्षे परलोको न सिद्ध्येत् इत्याह – **अन्यथा प्रकृते परलोको पि न सिद्ध्येत्** इति।

वैभाषिकं प्रत्याह – **अन्यथे**ति **मिश्राः**। परलोकासिद्धिमेव दर्शयति – **अचेतनोपादानकमपि ज्ञानम् अवान्तरजातीयं स्यात्। अचेतनमपि अवान्तर-जातीयमुपादानं स्यात्**[३] **। द श्यजातिभेदे पि कि चिदेव निमित्तं भविष्यति इति शङ्कायाः समुत्थापयितुं शक्यत्वादिति** इति। परलोको पि न सिद्ध्येद् इत्यत्र अपिशब्दो नुमानसिद्धसमुच्चयार्थः। धूमस्य अवान्तरजातिमतो वह्निजन्यत्वशङ्कायां धूमसामान्यस्य वह्निजन्यत्वानिश्चये धूमसामान्यं न वह्निमनुमापयितुं शक्नोति। धूमसामान्ये धूमो वह्निव्याभिचारी न वेति वह्निव्यभिचारशङ्कायाः सत्त्वात्। धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् वह्निजन्यो न स्यादिति तर्कस्य न व्यभिचारशङ्का–निवर्तकत्वं भवति। अवान्तरजातिमतो धूमस्य जनकत्वं वह्नौ संदिग्धम्। धूमसामान्ये पि वह्निजन्यत्वं संदिग्धम्। न हि सन्दिग्धो (हेतुः) प्रसङ्गे हेतुर्भवति। विज्ञानस्य (आलयविज्ञानस्य) आलयविज्ञानान्तरपूर्वकत्वनियमेन एव हि देहान्तरविज्ञानस्य देहरूपपरिणतभूतोपादानत्वं परित्यज्य, ज्ञानान्तरोपादानत्वमेव तस्यापि इत्यनेन न्यायेन ज्ञानसन्तानस्य अविच्छेदात् जन्मान्तरलक्षणपरलोकसिद्धिर्न स्यात्। अद श्य–अवान्तरजात्यभ्युपगमे तु न स नियमः (विज्ञानस्य विज्ञानान्तरपूर्वकत्वनियमः) विज्ञानान्तरजातीयस्य अचेतनभूतोपादानस्यापि संभवात्। अचेतनान्तरजातीयस्य विज्ञानोपादानत्वसंभवाच्च। तथा द श्यजात्यभेदे पि कि चिदेव अवान्तरजातीयनिमित्तं

भवेदिति शकाङ्संभवाच्चेति। (द श्येषु प्रमाणासिद्धाद श्यवैजात्यस्वीकारे धूमविशेषे वह्निजन्यत्वसन्देहे तत्र वह्निव्याप्त्यनिश्चयेन धूमसामान्यात् वह्न्यनुमित्यनुपपत्तिः। प्रमाणसिद्धस्य अद श्यवैजात्यस्य च अस्वीकारे तव मते जन्मान्तररूपः परलोको न सिद्ध्येत्। आलयविज्ञानरूपात्मनः क्षणिकस्य विज्ञानान्तरपूर्वकत्वेन आलयविज्ञानधाराया विच्छेदाभावात् मरणानुपपत्त्या जन्मान्तररूपः परलोको न सिद्ध्येत्। मरणं विना जन्मनो संभवात्। पूर्वपूर्वविज्ञानस्य उत्तरोत्तरविज्ञानजननात्। विज्ञानधाराया अविच्छेदात्। प्रामाणिकाद श्यवैजात्यस्वीकारे च विज्ञानस्य विज्ञानान्तरपूर्वकत्वमिति नियमस्य अभावात्। आलयविज्ञानस्य अचेतनशरीरभूतोपादानत्वासंभवेन शरीरनाशे उत्पादकाभावेन उत्पद्यमानस्य आलयविज्ञानस्य अभावात् मरणे सति जातः जन्मान्तररूपपरलोकः सिद्ध्यति। विनिगमनाविरहेण आलयविज्ञानस्य शरीरविज्ञानो–पादानत्वम्। शरीरविज्ञानस्य च आलयविज्ञानोपादानत्वमिति संसिद्ध्यति परलोकः। त णस्य वह्निकारणस्य अभावे पि अरण्यजन्यवह्नेः उत्पत्त्या न व्यतिरेकव्यभिचारः। त णजन्यवह्नेः विजातीयस्य तत्र अभावात्। अरण्यजन्यो वह्निस्त णजन्यवह्निविलक्षण इति सर्वानुभवप्रमाणे न त णजन्ये अरण्यजन्ये च वह्नौ परस्पराद श्यजातिः स्वीक्रियते। अतः प्रमाणासिद्धाद श्यवैजात्यं द श्ये न मन्तव्यम्, उक्त दोषात्।

अस्तु तर्हि सहकारिभेदान्नियम इति चत्? स एवैकः कर्तेति गीयते। अथैक एव कर्ता न तु ताद क् सहकारिपरम्परेति। कुतो, विशेषादिति चेत् (न), तत्कर्त कत्वं भिन्नकर्त केभ्यो व्यावर्तते न तु ताद क् सहकारित्वमित्यतो विशेषात्। कतश्चिदेवमपि स्यादिति चेन्नतु स एव विशेषश्चिन्त्यते। स च तत्स्वभावत्वं वा, तज्जातीयत्वं वा, तत्सहकारित्वं वा, ताद क् सहकारित्वं वेत्यतो नातिरिच्यते। तत्र प्रथमो सम्भवी। द्वितीयो तिप्रस जकः। चतुर्थे नियामकाभावः। ततस्त तीय एव परिशिष्यते गत्यन्तराभावादिति।

ननु एककर्त कत्वनिश्चयनियमः अनुसन्धाने सहकारिभेदेन एव उपपद्यतामिति ज्ञानसुखयोः उपादानस्य ऐक्ये पि सहकारिवैलक्षण्येन वैलक्षण्यमिति नैककर्त कत्वं सिद्ध्यतीति शङ्कते **अस्तु तर्हि सहकारिभेदान्नियम इति चेत्?** इति। 'यो हं घटम् अद्राक्षं सो हं स्प शामि' इति प्रतिसन्धाने यद् वैलक्षण्यं तत्सहकारिप्रयुक्तमिति चेत्? परिहरति सिद्धान्ती **स एवैकः कर्तेति गीयते** इति। पूर्वापरधियोः एककर्त कत्वनिश्चयहेतुः प्रतिसन्धाननियामकः सहकारिभेदः तत्तद्विषयक एककर्तैव परिशिष्यते इत्यभिप्रायः। प्रतिसन्धातरि सिद्धे पि तद्भेदसिद्धिः कथमिति शङ्कते – **अथैक एव कर्ता न तु ताद क्सहकारिपरम्परेति कुतो विशेषाद् इति चेत्?** इति। 'यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्प शामि' इति प्रतिसन्धाने एक एव कर्ता उभयोः क्रिययोः न द्वितीयः कर्ता। कर्तैव तज्जनकः (ताद शक्रिययोर्जनकः) न सहकारीति कस्माद् विशेषात् त्वया अवगम्यते इति चेत्? सिद्धान्ती विशेषं दर्शयति – **न।**

तत्कर्त कत्वं भिन्नकर्त केभ्यो व्यार्वतते। न तु ताद क्सहकारित्वमित्यतो विशेषात् इति। प्रतिसन्धाने उभयोः क्रिययोरेक एव कर्ता। एककर्तैव उभयोः क्रिययोः जनको भवति न सहकारी क्रिययोः कर्ता, न वा ताद शक्रिययोर्जनकः। यतः, सम्प्रतिपन्नभिन्नकर्त काभ्यः शिष्याचार्यबुद्धिभ्यः प्रतिसन्धानरहिताभ्यो व्यावर्तमान एव 'यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्प शामि' इति प्रतिसन्धाननियमे सहकारी वक्तव्यः। स च एक एव कर्तेति विशेषात् एकः कर्तैव प्रतिसन्धाने भासते इति। समानजातीयक्षणिक–सहकारित्वेभ्यः व्यावर्तमानं कर्त त्वं कथं तत्र तिष्ठेत्? क्षणिकबुद्धिरूपायाम् एकसन्तानपतितानां सहकारिणां परस्परभिन्नत्वेन एककर्त कत्वाभावात्।

ननु सजातीयक्षणिकैकसन्तानपतितानां बुद्धीनां सहकारिणीनामपि यतः कुतश्चिद् विशेषाद् प्रतिसन्धाननियमः स्यादिति शङ्कते – **कुतश्चिद् एवमपि स्यादिति चेत्?** इति। सजातीयक्षणिकपक्षे पि कुतश्चिदेव प्रतिसन्धाननियमः स्यात्। अतः प्रतिसन्धानस्य एकः कर्ता प्रतिसन्धाननियामको न स्वीकार्यः। अक्ल प्तकल्पने गौरवात्। तथा च यतः कुतश्चिदेव विशेषात् प्रतिसन्धाननियम उपपद्यते इति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **ननु स एव विशेषः चिन्त्यते। स च (१) तत्स्वभावत्वं वा? (२) तज्जातीयत्वं वा ? (३) तत्सहकारित्वं वा? (४) ताद क्सहकारित्वं वा? इत्यतो नातिरिच्यते** इति। ननु निश्चयेन अनिर्धारितरूपं प्रतिसन्धाननियामकं परीक्षक–व्यवहाराङ्गम् इति मत्त्वा स एव प्रतिसन्धाननियामको विशेषनिर्धारणाय (प्रतिसन्धाननियामकस्य निश्चयाय) चिन्त्यते = विचार्यते। स च अनुसन्धाननियामको विशेषः किं तत्स्वभावत्वम् = पूर्वापरधियाम् एकस्वभावत्वम्? किं वा बुद्धिसन्तानजातीयः सद शत्वम्? किं वा तत्सहकारित्वम् = पूर्वापरबुद्धिसन्ताने पि एकमात्र सहकारि–सापेक्षत्वं वा? किं वा ताद क् सहकारित्वं वा? पूर्वापरबुद्धिजातीय(सद श) सहकारित्वं वा? इत्यतो नातिरिच्यते = एतेभ्यः चतुर्विधविकल्पेभ्यो भिन्नः पक्षो नास्ति। तान् विकल्पान् खण्डयितुमाह – **तत्र प्रथमो संभवी, द्वितीयो तिप्रस जकः, चतुर्थे नियामकाभावः, त तीय एव परिशिष्यते, गत्यन्तराभावादिति** इति। ताद शेषु चतुर्विधेषु विकल्पेषु यः प्रथमो विकल्पः, पूर्वापरधियामेकस्वभावत्वार्थकः तत्स्वभावत्वरूपो न संभवति। अत्यन्तविभिन्नानां पूर्वापरधियामेकस्वभावत्वासंभवात्। यद्येकस्वभावो भावः स्यात्, तदा भिन्न एव न स्यात्। बुद्धिसन्ताने पि एकमात्र सहकारिसापेक्षत्वार्थकः तज्जातीयत्वं वेति द्वितीयविकल्पो पि न संभवति। समानजातीयासु शिष्याचार्यधीष्वपि प्रतिसन्धानप्रस जकत्वापत्तेः। उभयोः अपि बुद्ध्योः नीलादिविषयकत्वेन समानजातीयत्वात्। पूर्वापरबुद्धिजातीय (सद श)सहकारित्वार्थकः ताद क् सहकारित्वं वेति चतुर्थविकल्पो न संभवति, नियामकाभावात्। ताद क्सहकारिपरम्पराभिन्नकर्त केभ्यः सम्प्रतिपन्नेभ्यो व्यावर्त्य क्वचिदेककर्त कत्वाभावे पि एक–कर्त कतया विनिश्चयं नियन्तुं न हि शक्नोतीति चैत्रद ष्टे पि मैत्रस्य स्मरणप्रसङ्गः स्यात्। अतो गत्यन्तराभावात् पूर्वापरबुद्धिसहकारित्वार्थकः तत्सहकारित्वं वेति त तीयो विकल्प एव परिशिष्यते।

तत्सहकारिभ्यो व्यावर्तमानः, अनेककर्तृकेभ्यश्च व्यावर्तमानः एककर्ता 'योहं घटमद्राक्षं सो हं तं स्पृशामि' इत्यनुसन्धाने पूर्वापरज्ञानक्रिययोः भवितुमर्हति। सिद्धं तदा अनुसन्धानस्य एककर्तृकत्वम्। स च स्थिर एव न तु क्षणिकः। विभिन्नक्षणवर्तमानयोः क्रिययोः जनकत्वासंभवात्। न हि नष्टः पिता पुत्रं जनयति। स्थिरश्च कर्ता विभिन्नक्षणवर्तमानयोः क्रिययोः कर्ता भवितुमर्हति। कर्ता च क्रियाजनक उभयकालवृत्तिः। क्रियाजनकत्वं कारकत्वमिति वैयाकरणानां सम्मतम्।

अथवा सम्भवन्नपि नायमुपाधिः। तत्र तावन्मात्रस्यानिबन्धनत्वात्। तथाहि सर्वज्ञः स्वप्रत्ययानेककर्तृकतया प्रतिसन्धत्ते न वा? आद्ये तत्प्रतिसन्धानादेव प्रतिसन्धातुरेकत्वं सिद्धं ज्ञानाद्भेदश्च। धियामस्थैर्यस्य सर्वैरेव प्रतीतेः। प्रतिसन्धातुः क्षणिकतायाः सर्वज्ञेनाप्यनाकलनात्। अथ न प्रतिसन्धत्ते? न तर्हि कार्यकारणभावमात्रनिबन्धनं प्रतिसन्धानम्। न ह्यस्ति सम्भवो यदन्वये पि यस्यानन्वयस्तत्तावन्मात्रनिबन्धनमिति। प्रतिसन्धत्ते, न तु सत्यं तत्प्रतिसन्धानमतो न तावन्मात्रादेककर्तृकत्वसिद्धिरिति चेत्? तत् किं सर्वज्ञस्यापि विपर्ययः? आहार्यो न दोषावह इति चेत्, न। निबन्धनाभेदे पि कथमेक आहार्यो न्यस्तु स्वरसवाहीति वाच्यम्। भेददर्शनादर्शनाभ्यामिति चेन्न। प्रवृत्तिविज्ञानानां भेदस्यासर्वज्ञैरपि दर्शनात्। विषया एव भिन्नाः प्रतिभान्ति न बुद्धय इति चेन्न। तासामपि भेदनिश्चयात्। विषयभेदाप्रथने पि ज्ञानाभ्यासदर्शनात्। यदि च भेदग्रहे पि बुद्धितामात्रेण तदग्रहो भेदारोप उपपद्यते। पार्थिवतया वृक्षात् काष्ठं काष्ठादङ्गारस्ततो भस्माप्यभेदेन प्रतिसन्धीयेत। न चैवम्।

अथ कार्यकारणभूतानां पूर्वापरधियाम् एकस्वभावत्वं संभवे पि न अस्य उपादानोपादेयभावस्य प्रतिसन्धानं प्रति उपाधित्वम् = प्रयोजकत्वं संभवतीत्याह – **अथवा संभवन्नपि नायमुपाधिरिति**। पूर्वापरधियाम् एकस्वभावः संभवन्नपि नायमेक–स्वभावः उपादानोपादेयभावस्य प्रयोजकः। एककर्तृकत्वप्रतिसन्धाने एक–सन्तानस्थपूर्वापरधियोः कार्यकारणभावमात्रस्यानिबन्धनत्वात् = अप्रयोजकत्वात्। अनिबन्धनत्वमेव दर्शयति – **तथाहि सर्वज्ञः स प्रत्ययानेककर्तृकतया प्रतिसंधत्ते न वा? आद्ये प्रतिसन्धानादेव प्रतिसन्धातुरेकत्वं सिद्धम्, ज्ञानाद् भेदश्च** इति। बौद्धभिमतः स सर्वज्ञः सुगतः प्रत्ययान् एककर्तृकत्वेन प्रतिसन्धत्ते न वा इत्यर्थः। यदि अनेकज्ञानानि एककर्तृकत्वेन स सर्वज्ञः प्रतिसन्धत्ते इति प्रथमपक्षे पूर्वापरबुद्धीनाम् एककर्तृकत्वेन प्रतिसन्धानादेव प्रतिसन्धातुरेकत्वं सिद्धम्। प्रतिसन्धानकर्ता च ज्ञानाद् भिन्नः सिद्धः। 'यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्पृशामि' इति अनुभवस्मरणयोः कर्तृभिन्नत्वस्यैव स्फुरणात्। ज्ञानाद् भेदः अनुसन्धानकर्तरि विरुद्धधर्माध्यासप्रयुक्त

इति विरुद्धधर्मं दर्शयितुमाह – **धियाम् अस्थैर्यस्य सर्वैरेव प्रतीतेः। प्रतिसन्धातुः क्षणिकतायाः सर्वज्ञेनाप्यनाकलनात्** इति। ज्ञानानां स्थिरत्वाभावं सर्वे आमनन्ति = जानन्ति। प्रतिसन्धानकर्तुः क्षणिकतायाः सर्वज्ञेनापि तवाभिमतबुद्धेन सुगतेन अनाकलनात् = अज्ञानात्। अनुसन्धानकर्तरि स्थिरत्वं ज्ञाने स्थिरत्वमिति विरुद्धधर्मदर्शनेन ज्ञानाद् भिन्नः अनुसन्धानकर्ता। यदि अनुसन्धानकर्ता क्षणिकः स्यात् तदा पूर्वानुभवः परस्मरणे विभिन्नकालीने न अनुसदन्धीत। अनुसन्धानानुपपत्त्यैव अनुसन्धातुः नैव क्षणिकत्वं मन्तव्यम्।

अथ स सर्वज्ञः पूर्वापरबुद्धीः न प्रतिसन्धत्ते इति पक्षः स्वीक्रियते। तदाह – **अथ न प्रतिसन्धत्ते, न तर्हि कार्यकारणभावमात्रनिबन्धनं प्रतिसन्धानम्। न ह्यस्ति संभवो यदन्वये पि यस्य अनन्वयः तत् तावन्मात्रनिबन्धनम्** इति। सर्वज्ञः स सुगतः ज्ञानानि एककर्तृकत्वेन न प्रतिसन्धत्ते इति पक्षे प्रतिसन्धानं कार्यकारणभावमात्रनिबन्धनमिति न सिद्ध्यति। प्रतिसन्धानं कार्यं प्रतिसन्धानकर्ता कारणमिति कार्यकारणभावमात्रनिबन्धनं प्रतिसन्धानं भवति। प्रतिसन्धानमपि ज्ञानं, प्रतिसन्धानकर्तापि ज्ञानरूपः। ज्ञानाद् भिन्नस्य पदार्थस्यासत्त्वात्। ज्ञानाद् भिन्नो न ज्ञानकर्तेति बौद्धाः वदन्ति। यदि सर्वज्ञः ज्ञानानि एककर्तृकत्वेन न प्रतिसन्धत्ते तदा एककर्तैव नास्ति, कुतः ज्ञान–तत्कर्त्रोः कार्यकारणभावः स्यात्? तथा च कार्यकारणभावमात्रनिबन्धनं प्रतिसन्धानमिति बौद्धस्य कथनं न युक्तम्। किं वा प्रतिसन्धानरूपकार्यसत्त्वे प्रतिसन्धानकर्तृरूपकारणासत्त्वेन अन्वयव्यभिचारादपि न तयोः कार्यकारणभावः संभवतीति तस्य कार्यकारणभावमात्रनिबन्धनं प्रतिसन्धानमिति कथनम् असङ्गतम्। सहकारिकारणरूपस्य कर्तुः विशेषस्य अधीनं प्रतिसन्धानं भवति, न तु एककर्त्र्यधीनम् इति बौद्धकथनं न संगच्छते।

ननु प्रतिसन्धानम् अनुभवस्मरणात्मकं ज्ञानद्वयमिति स्मरणकर्त्ता क्षणिको पि प्रतिसन्धानस्य कर्ता भवितुमर्हति इति नोक्तदोष इत्यत आह – **नह्यस्तीति**। स्मरणस्य स्मरणकर्तरि संबन्धे पि, यस्य प्रतिसन्धानस्य अनुभवस्मरणात्मकस्य असंबन्धे पूर्वानुभवसंबन्धस्य क्षणिके स्मरणकर्तरि अभावप्रयुक्तप्रतिसन्धाने कर्तृसंबन्धा–भाववति सति प्रतिसन्धानं स्मरणकर्तृमात्रनिबन्धनमिति न संभवति।

ननु दीपकलिकाया प्रतिक्षणमुत्पन्ननष्टत्वेन अस्थिरत्वे पि 'सेयं दीपकलिका' इति प्रत्यभिज्ञानं यथा न दीपकलिकायाः स्थिरैकत्वसाधने समर्थम्, तथा 'यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्पृशामि' इति प्रत्यभिज्ञानमपि स्थिरैककर्तुर्न साधकमिति शङ्कते – **प्रतिसन्धत्ते न तु सत्यं तत्प्रतिसन्धानम्। अतो न तावन्मात्रादेककर्तृकत्व-सिद्धिरिति चेत्?** इति। 'यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्पृशामि' इति प्रत्यभिज्ञाने एककर्तृकत्वं यद्यपि भासते, तथापि तेन प्रत्यभिज्ञानेन स्थिरैककर्ता न सेत्स्यति, तस्य प्रत्यभिज्ञानस्य असत्यत्वात् = भ्रमत्वात्। न हि भ्रमात्मकं ज्ञानं पदार्थं

साधयितुमिष्टे। अन्यथा शुक्तौ इदं रजतमिति ज्ञानात् सत्यरजतसिद्ध्यापत्तेः। अतः ताद शप्रत्यभिज्ञानमात्रात् नैककर्त कत्वस्य तत्र सिद्धिः इति चेत्? समाधत्ते – **तत्किं सर्वज्ञस्यापि विपर्यय** इति। तस्य प्रत्यभिज्ञानस्य अभ्रमत्वात् सर्वज्ञस्य त्वदीयसुगतस्य विपर्ययः = भ्रमो भवति। तस्य भ्रमो न भवतीति स्वीकारे प्रत्यभिज्ञानस्य स्थिरैककर्त कत्वसिद्धिः। तस्य भ्रमो भवतीति कथने त्वदीयसुगतो भ्रमवानिति भवद्भ्यः तस्य को विशेषः स्यात्?

ननु प्रत्यभिज्ञाने अनुभवस्मरणात्मके ज्ञाने। ज्ञानयोः अनुभवस्मरणयोः परस्परं भेदं पश्यति सर्वज्ञः, असर्वज्ञश्च तत्र तयोः भेदं न पश्यति इत्युभयोः सर्वज्ञासर्वज्ञयोः विशेषो स्तीति शङ्कते – **आहार्यो पि न दोषावह इति चेत्?** न, सर्वज्ञस्य स्वरसवाहिनी भ्रान्तिः। किन्तु स्वयम् अभ्रान्तो पि आहार्यभ्रान्तिं कृत्वा तदनुकूलं व्यवहरति। तथा च भ्रान्तिमूलक विशेषदर्शनेन न सर्वज्ञत्वाभावदोषः तत्रापतति इति चेत्? समाधत्ते – **निबन्धनाभेदे पि कथमेक आहार्यो अन्यस्तु स्वरसवाहीति वाच्यम्।** प्रयोजकस्य अभेदे सर्वज्ञस्य पूर्वापरज्ञानानुसन्धानम् आहार्यः, असर्वज्ञस्य च तदेव स्वरसवाहीति कथं भवतीति त्वया वक्तव्यम्।

शङ्कते – **भेददर्शनादर्शनाभ्यामिति चेत्?** इति। भेददर्शनेन प्रतिसन्धातुः ज्ञानस्य अभेददर्शनम् आहार्यः। तददर्शनात् असर्वज्ञस्य स्वरसवाहीति चेत्? समाधत्ते – **न। प्रव त्तिविज्ञानानां भेदस्य असर्वज्ञैरपि दर्शनात्** इति। ज्ञानं द्विविधं बौद्धानाम्, प्रव त्तिविज्ञानम् आलयविज्ञान च। तत्र प्रव त्तिविज्ञानानां भेदस्य असर्वज्ञैरपि दर्शनात्। तथा च असर्वज्ञस्य प्रव त्तिविज्ञानानां भेदादर्शनेन स्वरसवाहिनी प्रतीतिरित्यस्य कथयितुम् अशक्यत्वात्। प्रव त्तिविज्ञानमिति नीलपीतादिविषयाकारोल्लेखि ज्ञानम् इष्यते। तेषां च भेदो सर्वज्ञैरपि द श्यते। अन्यथा 'अयं नीलः', 'अयं पीतः' इत्याकारकप्रतीतिः तेषां न स्यात्। उभयोः भेदादर्शने को पि तत् कथयितुं न शक्नोति। शङ्कते – **विषया एव भिन्नाः प्रतिभान्ति न बुद्धय इति चेत्?** 'अयं नीलः', 'अयं पीतः' इत्यादि–नीलपीतादिज्ञानेषु असर्वज्ञानां विषयभेद एव स्फुरति? न तु ज्ञानभेद इति ज्ञानानां भेदादर्शनेन असर्वज्ञानां स्वरसवाहिनी प्रतीतिः, सर्वज्ञानां भेददर्शनेन ज्ञानाभेदज्ञानम् आहार्यः। बाधकालीनेच्छाजन्यं ज्ञानम् आहार्य इति नोक्तदोष इति चेत्? सिद्धान्ती समाधत्ते – **न। तासामपि भेदनिश्चयात्, विषय-भेदाप्रथने पि ज्ञानाभ्यासदर्शनात्** इति। असर्वज्ञानां नीलपीतादिविषयक–प्रव त्तिविज्ञानेषु विषयभेदः स्फुरति न तु ज्ञानभेद इति कथनं तव न युक्तम्। 'अयं घटः' 'अयं घट' इत्यादि धारावाहिकज्ञाने विषयभेदास्फुरणे पि बुद्धीनां पूर्वापरक्षणव त्तीनां भेदस्फुरणस्य सर्वैः स्वीकृतत्वात्। तव मते ज्ञानस्य क्षणमात्रस्थायित्वं क्षणिकत्वम्। अन्येषां मते त तीयक्षणव त्तिध्वंसप्रतियोगित्वं क्षणिकत्वमिति विशेषः।

ननु धारावाहिकज्ञानेष्वपि बुद्धित्वाकारेण भेदाग्रहः अभेदारोपे उपयुज्यते इति असर्वज्ञानां तत्रापि भेदादर्शनेन स्वरसवाहिनी प्रतीतिरिति कथयितुं शक्यते इत्यत आह – **यदि च भेदग्रहे पि बुद्धिमात्रेण तदग्रहो अभेदारोप उपयुज्यते**[४] इति। यदि असर्वज्ञानां धारावाहिक ज्ञानेषु तत्तद्व्यक्तित्वेन भेदग्रहे, बुद्धित्वेन तेषां भेदाग्रहात्, तेषां ज्ञानानामभेदारोपेण न भेदस्य स्फुरणमिति स्वरसवाहिनी प्रतीतिर्युज्यते इति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **पार्थिवतया व क्षात् काष्ठं काष्ठादङ्गारः ततो भस्माप्यभेदेन प्रतिसन्दधीत, न चैवम्** इति। वस्तुतो भिन्नेषु येन केनापि धर्मेण भेदाग्रहेण अभेदारोपः कर्तुं न शक्यते। तथा सति व क्षकाष्ठाङ्गारभस्मानां परस्परभिन्नानां पार्थिवत्वेनाभेदभानप्रसङ्गात्। न हि को पि तत्र अभेदं जानाति। अतो नुभवापलापेन धारावाहिकज्ञानानां बुद्धित्वेन भेदाग्रहो असर्वज्ञानामिति कथयितुमशक्यमिति। विषयभेदस्फुरणे पि तत्र ज्ञानानां भेदस्फुरणमित्यस्य त्वया कथयितुमशक्यत्वात्।

स्यादेतत् आलयभेदाग्रहात् प्रतिसन्धानमिति चेत् न। स ह्यहमास्पदं प्रव त्तिसन्तानादन्य एव वा स्यात्तदन्तःपाति कादाचित्कानेकाहम्प्रत्ययरूपो वा। न तावदाद्यः। न ह्यहमहमिकया मिथः स्वतन्त्रं सन्तानद्वयमनुभूयते। सत्यपि वा परस्परमनुपादानोपादेयभावान्न परस्परं प्रत्याकलितार्थानुसन्धानबन्धः। तथात्वे पि वा चैत्रमैत्रादिष्वपि प्रसङ्गः। उभयोर्वा उभयोपादानत्वे एकमप्यनेकाश्रयमिति किमपराद्धमवयविसंयोगादिभिः। न चालयविज्ञानोपात्तं प्रव त्तिविज्ञानं न कि चिदुपादत्त इति युक्तम्। तथात्वे निमित्ततामपि न यायात्। उपादानत्वव्याप्तत्वान्निमित्ततायाः। अन्यथा निमित्ततामात्रमुपगम्य एकस्य निव त्तौ सर्वसन्तानोच्छेदः, अविशेषात्। ओमिति ब्रुवतश्चरमक्षणानामकि चित्करणे शक्तिविहतेरसत्त्वप्रसङ्गः।

ननु नीलपीतोल्लेखि–प्रव त्तिज्ञानेषु भेदस्य भाने पि अहमित्याकारक–आलयविज्ञानानाम् अभेदाग्रहात्, 'यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्प शामि' इत्यादौ ज्ञानयोः अभेदारोप इति अभेदारोपेण भेदाग्रहात् असर्वज्ञस्य स्वरसवाहिनी प्रतीतिः तत्रोपपद्यते इति शङ्कते पूर्वपक्षी – **स्यादेतत्, आलयविज्ञानभेदाग्रहात् प्रतिसन्धानमिति चेत्?** इति। 'यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्प शामि' इत्यादिषु ज्ञानरूपकर्त्रोर्भेदे पि आलयविज्ञानानाम् अभेदाग्रहात् पूर्वापरज्ञानयोः अभेदारोपात् एककर्त विषयकं ताद शप्रतिसन्धानमुपपद्यते इति चेत्? सिद्धान्ती तं खण्डयितुमाह – **न। स हि अहमास्पदं प्रव त्तिसन्तानाद् अन्य एव वा स्यात्, तदन्तःपाति-कादाचित्कानेकाहंप्रत्ययरूपो वेति?** आलयभेदाग्रहात् 'यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्प शामि' इत्यत्र आलयविज्ञानानां भेदाग्रहात् ज्ञानयोरभेदारोपात् एककर्त (ज्ञान)विषयकं तत्प्रतिसन्धानमिति यत्त्वया कथ्यते, तन्न युक्तम्। स च अहमास्पदमिति वाच्यः आलयः (आलयविज्ञानम्) विषयोल्लेख्यहमास्पदप्रव त्तिविज्ञानात् अन्य एव वा स्यात्।

(अहमास्पदमिति पदवाच्य आलयः विषयोल्लेखिप्रव त्तिज्ञानात् अन्य एव वा स्यात्) तदन्तःपाति–कादाचित्कानेकाहंप्रत्ययरूपो वा?। न तावदाद्यः, यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्प शामीत्यत्र यो हं सो हमिति अहमहमिकया आलयधिया मिथः स्वतन्त्रं सन्तानद्वयं नहि अनुभूयते सत्यपि सन्तानद्वये समानसन्ततिज्ञानमेव उपादानोपादेय–भावाभ्युपगमात्। सन्तानद्वयस्य प्रतिसन्धाननिबन्धनस्य परस्परम् उपादानोपादेयभावस्य अभावात् न परस्परावगतार्थप्रतिसन्धानसिद्धिः। (यो हं सोहमिति आलयविज्ञानयोः स्वतन्त्रयोः भेदाग्रहे पि तयोरुपादानोपादेयभावस्य, एकसन्तानपतितत्वाभावेन अभावात् एकघटरूपार्थविषयकत्वस्य ताद शप्रतिसन्धाने असिद्ध्यापत्तिः)। ननु उपादानो–पादेयभावे पि प्रतिसन्धानमभ्युपगम्यते इति नोक्तदोष इति चेत्? न। तथा सति चैत्रेण द ष्टस्य मैत्रेण प्रतिसन्धानोपपत्तेः। (चैत्रद ष्टविषयकप्रतिसन्धानस्य मैत्रे आपत्तेः)।

अथ (आलयविज्ञानयोः) परस्परावगतार्थप्रतिसन्धानाभावे पि उभयोः (स्वतन्त्रयोः अहम् अहमित्याकारयोः आलयविज्ञानयोः) उपादानोपादेयभावः इष्यते इति चेत्? तत्राह – **उभयोरपीति।** प्रव त्तिविज्ञानम् (नामोल्लेखिज्ञानम् 'इदं नीलम्' इत्याद्याकारकम्) आलयविज्ञानप्रव त्तिविज्ञानयोः उभयोः उपादानम् अहमित्याकारकम् आलयविज्ञानम्। प्रव त्तिविज्ञानालयविज्ञानयोः उभयोरुपादानम्। एवं च उपादानस्य आश्रयत्वात् ताद शविज्ञानयोः आश्रयत्वं स्यात्। तथा च एकमुपादानभूतं विज्ञानम् उभयोः विज्ञानयोः आश्रय इत्यभ्युपगमे, अनेकाश्रयैरवयविसंयोगादिभिः किमपराद्धम् येन व त्तिविकल्पादिभिः (स संयोगः किमेकदेशावच्छेदेन, किं वा सर्वावयवाच्छेदेन वर्तते इत्यादिविकल्पादिभिः) दूष्येरन्। आदिना सामान्यम् (जातिं) उपादत्ते। तच्च किं सर्वावयवावच्छेदेन वर्तते किंवा एकदेशावच्छेदेन वेत्यादि विकल्पैः दूष्येरन्।

ननूभयोः ज्ञानयोः प्रव त्तिविज्ञान–आलयविज्ञानयोः न परस्परोपादानो–पादेयभावो स्ति येन एकस्य अनेकाश्रयत्वं स्यात्। किन्तु आलयविज्ञानमेवोपादानम्, प्रव त्तिविज्ञानमुपादेयम्, न तदन्यत् कि चिदुपादत्ते इत्याह – **न च आलयविज्ञानोपात्तं प्रव त्तिविज्ञानं न कि चिदुपादत्त इति युक्तम्** इति। आलयविज्ञानम् उपादानकारणम्, प्रव त्तिविज्ञानम् = नामोल्लेखि–पीतादिज्ञानम् नोपादानकारणमिति एकविज्ञानम्। आलयविज्ञानस्वसन्तानान्तःपाति स्वसजातीयज्ञानयोः नाश्रय इत्येकं न अनेकाश्रयमिति, आलयविज्ञानमुपादत्ते न प्रव त्तिविज्ञानं कि चिदुपादत्ते इति न युक्तम्। खण्डयति सिद्धान्ती – **तथात्वे निमित्ततामपि न यायादिति।** प्रव त्तिविज्ञानस्य अनुपादानत्वे, बाह्यप्रव त्त्यादिप्रव त्तिं प्रति प्रव त्तिविज्ञानं निमित्ततामपि प्राप्नुयात्। निमित्ततायाः भवन्मते उपादानता। यदेव क्वापि उपादानं तदेव क्वचित् निमित्तमिति भवन्मतम्। व्यापकाभावात् व्याप्यस्याभावः सर्वैः स्वीक्रियते। न चेष्टापत्तिः। बाह्यप्रव त्त्यादिकं प्रति प्रव त्तिविज्ञाने निमित्ततायाः सर्वैः स्वीकृतत्वात्। उपादानमेव निमित्तमिति व्याप्तिः विपक्षबाधकोपन्यासेन द्रढ़यति – **अन्यथेति।** निमित्ततायामुपादानत्वव्याप्यत्वास्वीकारे एकस्य ज्ञानस्य

निमित्ततामात्रमुपगम्य निव त्तौ सर्वज्ञानसन्तानोच्छेदापत्तिः प्रसज्येत। तथाहि यद्येवं ज्ञानं किंचिद् अनुपादायैव क्वचिन्निमित्तत्वमात्रमनुभूय निव त्तं स्यात् तर्हि सर्वेषां ज्ञानसन्तानानामुच्छेदः प्रसज्येत। तत्तत्सन्तानवर्तिनां ज्ञानकारणानाम् अवश्यं ज्ञानान्तरोपादानत्वनियमाभावात्, तेषामपि ज्ञानत्वाविशेषात्।

ननु किंचिन्निमित्तमपि मा भूत्, को दोषः, इत्यत आह। अथवा सर्वेषां ज्ञानसन्तानानां क्षणिकत्वात् उच्छेदः स्वीक्रियत एव इतीष्टापत्तौ आह – **ओमिति ब्रुवतः चरमक्षणानामकिंचित्करणे[५] शक्तिविहतेरसत्वप्रसङ्गः।**

तथा च पूर्वक्षणानामपीत्यनेन पर्यायेणाकिंचित्करं जगदापद्येत इति साधु कार्यकारणभावः प्रतिसन्धाननिबन्धनं समर्थितः स्यात्। तस्मादन्यदेव निमित्तं किंचिदुपाददीत। तथाच न प्रतिसन्धानमपूर्वानन्तसन्तानप्रव त्तिश्च प्रसज्येतेति। एवं च-

अशक्तिरनुपादानादन्यादानादनन्तता।
मिथो न प्रतिसन्धिश्च सङ्करे नेकसंश्रितिः। इति सङ्ग्रहः।

नापि द्वितीयः। तस्यापि भेदाग्रहः स्वरूपतो वा स्यात्, विषयतो वा। आद्ये पूर्वाहमिति प्रत्ययमात्राद्वा प्रव त्तिविज्ञानेभ्यो पि वा। न प्रथमः, अहमित्यज्ञासिषमहमिति जानाम्यहमिति ज्ञास्यामीति त्रैकाल्योल्लेखस्य भेदनिश्चयमन्तरेणानुपपत्तेः। कथंचिदुपपत्तौ तदर्थस्यैव प्रतिसन्धिरुचितो न प्रव त्तिविज्ञानार्थानामपि। न च तेभ्यो पि भेदाग्रह इति चोक्तमेव। नापि विषयतः। स हि आकारो वा, वस्त्वन्तरं वा, अलीकं वेति। नाद्यो, दूषितत्वात्। न द्वितीयः, स्वयमनभ्युपगमात्। यो प्यभ्युपगच्छेत् सो पि विरुद्धधर्माध्यासाद्भेदमिच्छेत् तन्निव त्तौ च तन्निव त्तिम्।

न त तीयः। अहमिति विकल्पस्य सवस्तुकतायाः प्रागेव प्रसाधनात्। अवस्तुकत्वे पि न तत्र प्रकृतोपयोगिभेदाग्रहसम्भवः। सदसदारोपितसत्त्वारोपितासत्त्वव्यधिकरणाव्यपदेश्यभेदेन षड्विधस्यापि भेदस्याग्रहो भेदारोपौपयिकतया तत्र न सम्भवतीत्युक्तत्वादिति।

तथा च तत्पूर्वक्षणानामपीत्यनेन पर्यायेण अकिंचित्करं जगद् आपद्येत इति। तत्तत्सन्तानवर्तिनां चरमज्ञानक्षणानाम् अन्योपादानत्वभावेन किंचित्करणशक्ति–विरहे अर्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वाभावप्रसङ्गः। तस्य चरमज्ञानस्य असत्त्वे तत्पूर्वक्षणानामपि (तत्पूर्वज्ञानानाम् अपि) अकिंचित्करत्वम् एवं तत्पूर्वक्षणानामपि (एवं तत्पूर्वज्ञानानाम् अपि) इत्यनेन न्यायेन जगतः सर्वस्य अकिंचित्करत्वप्रसङ्गः।

नन्वस्तु शून्यतैव परमं निर्वाणम् अत आह – **साधु कार्यकारणभावप्रतिसन्धाननिबन्धनः समन्वितः स्यात्** इति। सर्वस्य जगतः अकिंचित्करत्वे कार्यकारणभावस्य अभावात् तन्निबन्धनं कार्यकारणभावनिबन्धनं प्रतिसन्धानं न स्यात्। तथा च प्रतिसन्धानासत्वाद् कार्यकारणभावो पि न स्यात् इति। **तस्मादन्यदेव निमित्तं किंचिदुपाददीत। तथा च न प्रतिसन्धानम् अपूर्वानन्तसन्तानप्रवृत्तिश्च प्रसज्येत** इति। आलयविज्ञानोपात्तं प्रवृत्तिविज्ञानमपि स्वसन्तानवर्ति–ज्ञानान्तरोपादानस्य एकस्य अनेकाश्रयत्वप्रसङ्गेन अन्यदेव सन्तानान्तरवर्त्येव किंचिद् उपाददीत। तथाच एकसन्तानवर्तिनाम् उपादानोपादेयभावाभावात् आत्मतत्त्ववत् तत्तत्सन्तानवर्तिनां परस्पराकलितार्थप्रतिसन्धानं न स्याद् इति सर्वेषां सन्तानान्तरोपादानेन अपूर्वानन्तसन्तानप्रवृत्तिश्च प्रसज्येतेति। अन्योपादानत्वाभावे (चरमज्ञानस्य किंचित्करणशक्तिविहते सति) अर्थक्रियाकारित्वरूपसत्त्वस्य अभावः प्रसङ्गः। तस्यासत्त्वे तत्पूर्वक्षणानाम् (ज्ञानानाम्) अकिंचित्करत्वप्रसङ्गः इति न्यायेन सर्वस्य जगतः अकिंचित्करत्वमिति कार्यकारणभावो पि नास्ति। तथा च कार्यकारणभावस्याभावे तन्निबन्धनं प्रतिसन्धानमपि न स्यात्। प्रतिसन्धानाभावे आलयविज्ञानोपात्तं प्रवृत्तिविज्ञानम् स्वसन्तानवर्तिज्ञानान्तरोपादानस्य अनेकाश्रयप्रसङ्गेन (एकमालयविज्ञानम् अपर च स्वसन्तानवर्तिज्ञानान्तरम् इति तदुभयोपादानेन अनेकाश्रयत्वप्रसङ्गेन) अन्यदेव = सन्तानान्तरवर्त्येव किंचिदुपाददीत। तथाच एकसन्तानवर्तिनाम् उपादानोपादेय–भावाभावात् आत्मतत्त्ववत् तत्तत्सन्तानवर्तिनाम् परस्पराकलितार्थप्रतिसन्धानं न स्यादिति सर्वेषां (ज्ञानानाम्) (स्वसन्तानभिन्नसन्तानवर्त्युपादानेन, सन्तानान्तरोपादानेन अपूर्वानन्तसन्तानप्रवृत्तिश्च प्रसज्येत इति)। पूर्वोक्तमर्थं श्लोकेन संगृह्णाति – **एव च** -

अशक्तिरनुपादानादन्यादानादनन्तता।
मिथो न प्रतिसन्धिश्च सङ्करे नेकसंश्रितिः। इति संग्रहः।

अशक्तिरिति। चरमक्षणानाम् = चरमक्षणिकानाम् अन्योपादानत्वाभावात् न किंचित्करणशक्तिः, अन्यस्यैव उपादानात् सन्तानानन्तता, एकसन्तानवर्तिनां परस्पराकलितार्थाप्रतिसन्धिश्च, आलयविज्ञानस्य = अहमित्याकारकज्ञानस्य, प्रवृत्तिविज्ञानस्य नामोल्लेखिज्ञानस्य नीलो यं पीतो यम् इत्यादिज्ञानस्य च एकसन्तानवर्तिज्ञानं प्रति उपादानत्वे एकस्य अनेकाश्रयत्वं स्यादित्यर्थः। अनुपादानात् चरमस्येव तन्न्यायेन पूर्वेषामपि क्षणानाम् अकिंचित्करत्वे अशक्तिः कार्यकारण–सामर्थ्यविरहः।१। स्वसन्तानभिन्नसन्तानवर्तिक्षणिकोपादानत्वे अनन्तता। विनिगमना–विरहात् अनेकसन्तानवर्तिनाम् अनन्तक्षणानाम् उपादानात् अनन्तता।२। स्वसन्तान–वर्तिनाम् अनुपादानत्वे तदविषयविषयकत्वेन तदप्रतिसन्धिः।३। आलयविज्ञानस्वसन्तान–वर्तिक्षणोपादानत्वे एकस्योपादानस्य द्व्याश्रयत्वेन अनेकाश्रयत्वन्।४। इति बोध्यम्।

तदन्तःपाति–कादाचित्कानेकाहं–प्रत्ययरूप इति द्वितीयपक्षं निराकरोति – **नापि द्वितीय इति।** प्रव त्तिविज्ञानानाम् 'अयं नीलः' 'अयं पीत' इत्याकारक–नामोल्लेखिज्ञानानां परस्परं भेदभाने पि तदन्तःपाति कादाचित्कानेकाहंप्रत्ययरूप आलयविज्ञानानामभेदाग्रहात् प्रतिसन्धानमिति द्वितीयपक्षो न युक्तः, विकल्पासहत्वात्। विकल्पावुत्थापयितुमाह – **तस्यापि भेदाग्रहः स्वरूपतो वा स्याद्? विषयतो वा स्यादित्यादि। न च तेभ्यो पि भेदाग्रह इति चोक्तमेव** इति। तदन्तः–पातिकादाचित्कानेकाहंप्रत्ययरूपस्य अपि भेदाग्रहः प्रतिसन्धाननियामकः किं स्वरूपतो विवक्ष्यते? किं वा विषयतो विवक्ष्यते? तत्रापि आलयविज्ञानमात्रात् भेदाग्रहो विवक्ष्यते? किं वा नामोल्लेखिप्रव त्तिविज्ञानेभ्यो पि भेदाग्रहो विवक्ष्यते? तत्र आलयविज्ञानमात्राद् भेदाग्रहो विवक्ष्यते इति न युक्तम्। अहमज्ञासिषम्, अहं जानामि, अहं ज्ञास्यामि इति भूत–वर्तमान–भविष्येति क्रियाकालयोः उल्लेखस्य, त्रिकालवर्तिकर्त विषयकाहंप्रत्ययस्य आलयविज्ञानस्य परस्परं भेदनिश्चयाभावे पि उपाधिभेदनिश्चयमात्रेणैव आलयविज्ञानानां परस्परं भेदनिश्चये, तदर्थस्यैव प्रतिसन्धानमुचितम्। येषां हि भेदाग्रहः तदर्थस्यैव प्रतिसन्धानं संभवति। एकसंबन्धिज्ञानम् अपरसम्बन्धानवतो स्मारयतीति नियमः। येषां न भेदाग्रहः तेषां स्मरणं संभवति। तत्प्रतिसन्धिनो ज्ञानात्। द श्यते च येषां न भेदाग्रहः तदर्थस्यापि प्रतिसन्धानम्। भवद्भिः तदन्तःपातिकादाचित्कानेकाहं–प्रत्ययरूपाणाम् आलयविज्ञानमेव भेदाग्रह उच्यते। न तु नीलो यमित्यादिनामोल्लेखि–प्रव त्तिविज्ञानानाम्। आलयविज्ञानभिन्नानां भेदाग्रह उच्यते 'यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्मरामि' इत्यत्र प्रव त्तिविज्ञानानां विषयस्यापि घटस्य प्रतिसन्धानं द श्यते। तत्प्रतिसन्धानं भवन्मते नोपपद्यते। अतो भवन्मतं न युक्तम्।

ननु तदन्तःपाति–कादाचित्कानेकाहंप्रत्ययरूप–आलयविज्ञानस्य तत्प्रव त्ति–ज्ञानेभ्यो पि अभेदाग्रह इति नोक्तदोषः। आलयविज्ञान–प्रव त्तिविज्ञानयोः भेदाग्रहेण येषां भेदाग्रहः तदर्थस्य तद्विषयकप्रतिसन्धानमिति नियमे न व्यभिचार इति चेत्? न। प्रव त्तिविज्ञानानां भेदस्य असर्वज्ञैरपि दर्शनादित्यादिना तस्य खण्डितत्वात्, द्वितीयपरिच्छेदे दूषितत्वात्।

तदन्तःपातिकादाचित्कानेकाहंप्रत्ययरूप–आलयविज्ञानानां विषयतो भेदाग्रहः इति विकल्पं दूषयितुमाह – **नापि विषयतः। स हि आकारो वा? वस्त्वन्तरं वेत्यादि।** तदन्तःपाति–कादाचित्कानेकाहंप्रत्ययरूपाणाम् आलयविज्ञानानां परस्परं विषयतो भेदाग्रहप्रतिसन्धानस्य हेतुरित्यपि न युक्तम्। स विषयो हि किं ज्ञानस्य आकारो वा? ज्ञानभिन्नं वस्त्वन्तरं वा? किम् अलीकं वेति विकल्पासहत्वात्। तत्र ज्ञानस्याकारो विषय इति कथयितुं न शक्यते। अस्य द्वितीयपरिच्छेदे दूषितत्वात्। न द्वितीयः। ज्ञानाद्भिन्नो विषयः, ज्ञानाद् वस्त्वन्तरं विषय इत्यपि न युक्तम्। बाह्यार्थशून्यवादिभिः **योगाचारैः** स्वयमनभ्युपगमात्। अहमिति विज्ञानस्य

वस्त्वन्तरविषयकत्वम् (विज्ञानभिन्नविषयकत्वम्) इत्यस्य **योगाचारैः** अस्वीकृतत्वात्। यदि वस्त्वन्तरं **योगाचारैः** स्वीक्रियते तदा तत्र स एव आत्मा। यो वा **सौत्रान्तिकः** विज्ञानाद् बाह्यवस्तु स्वीकरोति, सो पि ययोः विरुद्धधर्मो भासते तयोः भेदः, ययोः न विरुद्धधर्मो भासते तयोरभेद इति स्वीकरोति। तथा चाहंप्रत्ययार्थे अहंप्रत्ययरूप– आलयविज्ञानविषये र्थे विरुद्धर्माध्यासाभावाद् भेद एव नास्ति। कुतो भेदाग्रहः स भवति। **सौत्रान्तिक**श्च ययोः विरुद्धधर्माध्यासः तयोः भेदमिच्छति, विरुद्धधर्माध्यासनिव त्तौ भेदस्य निव त्तिम् इच्छति। तदन्तःपातिकादाचित्कानेकाहंप्रत्ययरूपाणाम् आलय– विज्ञानानाम् अलीकरूपविषयभेदाग्रहप्रयुक्तं प्रतिसन्धानमिति न युक्तम्। अहमिति विकल्पस्य सवस्तुकतायाः, प्रत्यक्षप ष्ठभावित्वे साक्षादेव सवस्तुक इत्यादिना प्रतिपादनात्।

किंवा अहं प्रत्ययरूपालयविज्ञाने अलीकविषयकत्वे पि, अभेदारोपोपयोगी भेदाग्रहो न संभवति। कथमित्याह – **सदसदेति।** भेदस्य परमार्थसत्त्वे अलीकत्वानुपपत्तिः।१। भेदस्य परमार्थसत्त्वे परमार्थभेदप्रसङ्गात् अलीकत्वानुपपत्तिः।२। आरोपितसत्त्वस्य भेदस्याग्रहानुपपत्तिः ।३। विरोधात् आरोपे सति अग्रहानुपपत्तिः। आरोपितासत्त्वस्य भेदस्य परमार्थसत्त्वप्रसङ्गात् अलीकत्वानुपपत्तिः।४। व्यधिकरणस्य भेदस्याग्रहात् आरोपे वस्त्वन्तरवर्तिनो भेदस्याग्रहात् घटपटयोरभेदारोपप्रसङ्गः।५। अव्यपदेश्यस्य चतुष्कोटिविनिर्मुक्तस्य भेदस्याग्रहात् अभेदारोपे त्रैलोक्यस्य अभेदारोपप्रसङ्गः ।६। इति द्वितीयपरिच्छेदे उक्तत्वात्। अतो यो हं घटम् अद्राक्षं सो हं तं स्प शामि इत्यनुसन्धानेन क्षणिकालयविज्ञानाद् नीलो यमित्यादि नामोल्लेखिप्रव त्तिविज्ञानाद् भिन्नः अनुसन्धानकर्ता स्थिरः सिद्ध्यति। तस्य स्थिरत्वास्वीकारे पूर्वापरज्ञानविषयानुसन्धानानुपपत्तिरिति स एव स्थिरः आत्मा बोध्यः इति।

अथवा इहानुभवः कालान्तरभाविनीं स्म तिं जनयेत्, तज्जनितो वा संस्कारः। सो प्यतीन्द्रियः प्रत्यक्षसिद्धो वा, अतीन्द्रियो पि तावत्कालावस्थायी सन्तन्यमानो वा, अध्यक्षसिद्धो पि तदुत्तरबुद्धिधारारूपः तदन्यो वा तद्विशेषो वा, विशेषो प्यनुभवप्रभवत्वमात्रं वा अनुभवित सन्तानवैजात्यं वा। तत्र न प्रथमः। अनुत्पन्नानन्वयध्वस्तयोरविशेषात्। नापि द श्यो न्यः। तस्यानुपलब्धि-बाधितत्वात्। नाप्यनुभवप्रभवत्वमात्रं विशेषः। न हि कर्मकरकरोपनीतमेव बीजं क्षितिमासाद्याङ्कुरं कुरुते न तु प्रमादपतितम्। तथा नीलाद्यनुभवप्रभव-सन्तानः पीताद्यनुभवेनैवोपनीयतां नीलाद्यनुभवेनैव वेति न कश्चिद्विशेषः। एवं चाननुभूते पि स्मरणप्रसङ्गो न चानुभूते पीति।

शालिप्रभवस्य बीजस्य शालित्वप्रतिसन्धानवन्नियम इति चेत्, न। क्षीरजम्बूरसपायिनीलधवलकलरवजनितविपरीतपारावतवदनियमदर्शनेन तस्याप्रयोजकत्वात्। वैजात्यन्तु विशेषो भवेत्, यथा क्षीरावसेकादम्लत्वं परिहृत्य माधुर्यमुपादायानुवर्तमाना मलकी कालान्तरे पि फले माधुर्यमुन्मीलयति। लाक्षारसावसेकाद्वा धवलिमानमपहाय रक्ततामनुवर्तमानं कार्पासबीजं कुसुमेषु रक्तताम्। न चैवं प्रकृते, जपाकुसुमाद्युपधानसन्निधाने पि तद्रूपतामनादाय धवलिमानमेव सन्दधानस्य स्फटिकस्येव विज्ञानस्य विषयोपधानमपगम्य चिद्रूपतामात्रेणानुव त्तेः। सर्वाकारत्वमेव सर्वज्ञानानां किन्तु कश्चिदाकारः पटुरन्ये त्वपटव इति स्वदर्शनश्रद्धावतो विरुद्धधर्माध्यासादपि न भीः। न हि स एव पटुरपटुश्चेति संभवति। न च स्वसंविदितरूपस्यापाटवार्थं पश्यामः।

[प्रकारान्तरेण स्थिरात्मसाधनम्]

एवं प्रतिसन्धानेन स्थिरात्मानं प्रसाध्य प्रकारान्तरेण तं साधयितुं प्रक्रमते – **अथवा इहानुभवः किं कालान्तरभाविन स्म तिं जनयेत्, तज्जनितो वा संस्कारः?** इति। प्रतिसन्धानबलात् प्रत्यक्षतः कर्त्रैकं प्रसाध्य, अधुना स्म त्यन्यथानुपपत्त्या अनुभवस्म त्योः अभेदं साधयितुम् उपक्रमते – **अथवेति मिश्राः।** अनुभवः किं कालान्तरभाविनीं स्म तिं जनयति, किं वा अनुभवजन्यः संस्कारः स्म तिं जनयति? अनुभवसमानकाले अव्यवहितोत्तरकाले वा स्म तिर्नोत्पद्यते। अनुभवश्च तां प्रति कारणं, तं विना स्म तेरदर्शनात्। अननुभूतं न को पि स्मरति। अनुभवः स्म तिं जनयतीत्यत्र विकल्पयति – **सो पि अतीन्द्रियः? प्रत्यक्षसिद्धो वेति?** स्म तिजनको पि अनुभवः किम् अतीन्द्रियः स्म तिं जनयति, किं वा प्रत्यक्षसिद्धः अनुभवः स्म तिं जनयति? अतीन्द्रियो पि अनुभवः किं स्मरणकालं यावत्स्थायी स्म तिं जनयति? किं वा सन्तन्यमानो तीन्द्रियो नुभवः स्म तिं जनयति? प्रत्यक्षसिद्धो पि अनुभवः किं प्रथमानुभवोत्तरधारारूपः स्म तिं जनयति? किंवा स्वोत्तरधारा–भिन्नो नुभवः स्म तिं जनयति? किं स्वोत्तरबुद्धिधारागतो विशेषो वा स्म तिं जनयति? विशेषो पि अनुभवप्रभवत्वमात्रं वा स्म तिं जनयति? किं वा अनुभवित सन्तानवैजात्यं वा स्म तिं जनयति?

तान् खण्डयति – **तत्र न प्रथमः। अनुत्पन्नानन्वयध्वस्तयोरविशेषात्** इति। अतीन्द्रियः स्म तिकालावस्थायी अनुभवः क्षणिकः कालान्तरभाविनीं स्म तिं जनयतीति प्रथमपक्षो न युक्तः। अनुत्पन्नानन्वयध्वस्तयोः अविशेषात्। यथा अनुत्पन्नो नुभवो न कि चिज्जनयति, तथा निरन्वय(असंबद्ध)ध्वस्तो प्यनुभवो न कि चिज्जनयति। उभयोरविशेषात्। तथा च अतीन्द्रियानुभवस्य स्म तिकाला–वस्थायित्वाभावेन क्षणिकत्वेन च कथं कालान्तरभाविनीं स्म तिं जनयिष्यति? तदानीमसत्त्वात्। क्षणिकत्व च आत तीयक्षणव त्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्। स्वोत्पत्त्यव्यवहित–

क्षणव त्तिध्वंसप्रतियोगित्वं वा भवतु।

ननु नीलानुभवप्रभवानुभवसन्तानः क्षणिकः स्म तिकालावस्थायी नीलस्म तिं जनयेद् इत्यत आह – **नापीति।** अयं **नारायणी**संमतः, अयुक्तश्च प्रतिभाति। अध्यक्षसिद्धो प्यनुभवः तदुत्तरबुद्धिधाराभिन्नः स्म तिं जनयतीति खण्डयितुमाह – **नापि द श्यो न्यः। तस्य अनुपलब्धिबाधितत्वात्** इति। अध्यक्षसिद्धो पि अनुभवः तदुत्तरबुद्धिधाराभिन्नः स्म तिं जनयतीति पक्षो न युक्तः। ताद शानुभवधाराभिन्नस्य अनुपलम्भेन असत्त्वात्। असच्च न किमपि जनयति। अन्यथा बन्ध्यापुत्रस्यापि कार्यजनकत्वोपपत्तेः। तदुत्तरबुद्धिधाराव्यतिरेकेण अनुभवजनितं द श्यम् अन्यत् नोपलभामहे इति। अध्यक्षसिद्धो पि अनुभवः स्वोत्तरबुद्धिधारागतो विशेषः स्म तिं जनयतीति पक्षं खण्डयितुमाह – **नाप्यनुभवप्रभवत्वमात्रं विशेष इति।** अध्यक्षसिद्धानुभवोत्तरबुद्धिधारागतविशेषो पि अनुभवप्रभवत्वमात्रं स्म तिं जनयतीति पक्षो न युक्तः। स्वगतविशेषादेव बुद्धिः कार्यविशेषो भवति नोपनेत भेदात्। स्वगतविशेषाद् एव कार्यविशेषो भवति, न तु कारणजन्यत्वमात्राद्। तथा पूर्वानुभवधारागतविशेषः अनुभवप्रभवत्वमात्रप्रयुक्तो न भवितुं योग्यः। तत्र द ष्टान्तमाह – **नहि कर्मकरेति।** बीजं कर्त करोपनीतं प थिवीं प्राप्य अङ्कुरं जनयति, प्रमादात् पतितं बीजं प थिवीमासाद्याङ्कुरं न जनयतीति न द श्यते। कर्त करोपनीतमपि बीजं प थिव प्राप्य कदाचिन्नाङ्कुरं जनयति प्रमादपतितं बीज च प थिवीमासाद्य कदाचिद् अङ्कुरं जनयति इति द श्यते। अतः कर्त करोपनीतमेव बीजं क्षेत्रमासाद्य अङ्कुरादिकार्यं करोतीति न कथयितुं शक्यते। तथा च प्रथमानुभवप्रभवत्वमात्रं स्वोत्तरधारागतविशेषः स्म तिं जनयतीति न कथयितुं शक्यते। न चोपनेत भेदात् स्वगतो पि विशेषो भवतीत्याह – **नीलाद्यनुभवेति।** यदि कारणभेदात् कार्यगतविशेषो न भवतीत्युच्यते, तर्हि नीलानुभवप्रभवसन्तानः पीताद्यनुभवेनैवोपनीयताम् = स्मर्यताम्। नीलाद्यनुभवेनैव वा न कश्चिद् विशेष इति। एव च अननुभवित सन्तानेभ्यो पि ताद शबुद्धिधारापत्तेः। अननुभूते पि स्मरणप्रसङ्गापत्तेः। न वा अनुभूते स्मरणमित्यत आह – **एव चेति।**

ननु तत्प्रभवत्वमात्रेणा पि कार्यविशेषो द श्यते। तथा च नीलादि– विषयस्म तावनुभवप्रभवत्वमात्रं बीजत्ववत् प्रयोजकमिति शङ्कते – **शालिप्रभवस्य बीजस्य शालिप्रतिसन्धानवन्नियम इति चेत्?** शालिप्रभवमेव हि बीजं शालिप्रतिसन्धानं करोति, नत्वन्यप्रभवम्। एवमनुभवप्रभवबुद्धिसन्तानः स्म तिं जनयेदिति चेत्? तत्प्रभवत्वस्य ताद शप्रतिसन्धानजनकत्वव्यभिचारेण तस्य अप्रयोजकत्वात्, नैतद् युक्तम् इत्याह – **क्षीरजम्बूरसपायिनीलधवलकलरवजनितविपरीतपारावतवदनियमदर्शनेन तस्या-प्रयोजकत्वात्** इति। क्षीरपायिनः नीलपारावताद् श्वेतपारावतो भवति, जम्बूरसपायिनः श्वेतपारावतात् नीलपारावतो भवतीति, नीलपारावतसन्ताने श्वेतपारावतो दर्शनात्, श्वेतपारावतसन्ताने नीलपारावतो दर्शनाच्च तत्प्रभवत्वं न तत्प्रतिसन्धाने प्रयोजकमिति नियमो भवितुमर्हति। अत्रैव व्यभिचारात्। तथा च नीलानुभवप्रभवत्वं नीलप्रतिसन्धानेन

न प्रयोजकमिति नीलानुभवादपि पीतस्मरणापत्तिः कदाचित् स्यात्। अनुभवित सन्तानवैजात्यं वेति विकल्पं दूषयितुमाह – **वैजात्यं तु विशेषो भवेत्। यथा क्षीरावसेकादम्लत्वं परिहृत्य माधुर्यमुपादाय अनुवर्तमाना आमलकी कालान्तरे पि माधुर्यमुन्मीलयति, लाक्षारसावसेकाद् वा धवलिमानमपहाय रक्ततामुपादाय अनुवर्तमानं कार्पासबीजं कुसुमेषु रक्तताम्। न चैवं प्रकृते पि। जपाकुसुमाद्युपधानसन्निधाने पि तद्रूपतामनादाय धवलिमानमेव सन्दधानस्य स्फटिकस्येव ज्ञानस्य विषयोपरागमपगमय्य**[६] **चिद्रूपतामात्रेणानुव त्तेरिति।** वैजात्यं विशेषो भवत्येव। न चात्र प्रतिसन्धाने संभवति। यथा क्षीरावसिक्ता आमलकी अम्लत्वाभाववती माधुर्यवासनानुरक्ता माधुर्यमुत्पादयति कदाचित् कालान्तरे पि फले माधुर्यं नोत्पादयति, अम्लत्वमेवोत्पादयति, यथा वा लाक्षा(*लाही*–इति भाषायां)रसावसिक्तं कार्पासबीजं धवलिमानमपहृत्य जायमानरक्तत्वं रक्तकुसुमं करोति कालान्तरे च न करोति, तथा ज्ञाने न संभवति। 'नीलो यम्', 'पीतो यम्' इत्याकारकं ज्ञानं नीलपीताद्युपाधिना तथावभासमानमपि न तद्रूपतां प्राप्नोति। यथा जपाकुसुमसन्निधाने रक्ततयावभासमानो पि स्फटिको धवलतां त्यजन् रक्ततां न प्राप्नोति। उपाधिना तथाभाने पि प्रायः स्वस्वरूपं न त्यजति पदार्थः। क्वचित् त्यजत्यपीति न तथा नियमः। यथा लाक्षारसावसिक्तं कार्पासबीजं रक्ततामुपादाय पुष्पेषु रक्तताम् आसादयत् कालान्तरे पुष्पेषु तथा न करोति। किं वा क्षीरावसिक्ता आमलकी अम्लत्वं परित्यजन्ती माधुर्यवती कालान्तरे माधुर्यं त्यजति अम्लत्वं परिदधाति। एव च यत्रापि पदार्थः स्वरूपं त्यजति अन्यरूप च ग हृणाति, तत्रापि न नियमो स्ति। ग हृणात्येव न कदाचित् त्यक्ष्यति इत्याकारकनियमो नास्ति। तथा नीलानुभवप्रभवो पि नीलानुभवसन्तानः कदाचित् पीतमप्यनुसन्धीत। अतो अनुभवित सन्तानवैजात्यं न प्रतिसन्धाननियामकमिति विज्ञेयम्। एव च ज्ञानस्य नीलादिविषयाकारत्वम् उपाधिः नात्मीयम्। उपाधेरनात्मीयत्वात्।

ननु ज्ञानस्य नीलाद्याकारो नौपाधिकः, येन वैजात्यं न भवेत्, किन्तु स्वाभाविक एव इत्याशङ्क्य परिहरति – **सर्वाकारत्वमेव सर्वज्ञानानाम्, किन्तु कश्चिदाकारे पटुः, अन्ये तु अपटव इति तु स्वदर्शनश्रद्धावतो विरुद्धधर्माध्यासादपि न भीः। न हि स एव पटुरपटुः च संभवति** इति। ज्ञानानां सर्वाकारत्वमेव। तथा च 'नीलो यम्' इति ज्ञानस्य नीलाकारत्वं नौपाधिकं किन्तु स्वाभाविकमेव। एव च यः पूर्वरूपं परित्यजन् पदार्थः अन्यरूपं ग हीत्वा पुनस्तद्रूपं जहाति, तस्य अपटुता यथा क्षीरावसिक्ता आमलकी लाक्षारसावसिक्तं कार्पासबीजम्। यः तु कदापि न परित्यजति पूर्वं रूपं तस्य पटुता यथा स्फटिकः। ज्ञानाद् भिन्नो बाह्यपदार्थो नास्तीति सर्वेषां रूपत्वम्। एव च नीलो यमिति ज्ञानं पटु। अतो न नीलाकारानुभवात् पीतानुसन्धानमिति न पूर्वोक्तदोषस्य अवसर इति पूर्वपक्षिणः कथनं स्वदर्शने श्रद्धया। अयुक्तमपि स्वदर्शनसिद्धान्तं न परित्यजन्ति स्वदर्शनश्रद्धालवः। यदि ज्ञानस्य सर्वाकारत्वं

स्वीक्रियते तदा नीलाकारज्ञानानन्तरं पीतानुसन्धानं दुर्वारम्। ज्ञानस्य सर्वाकारत्वोपन्यासेन तस्य नीलपीताद्याकारत्वात्। यः पटुः स कथम् अपटुर्भवति? पटुत्वापटुत्वयोः सहानवस्थानरूपविरोधस्य सत्त्वात्। एकता– ज्ञानात्मना आकाराणां परस्पराभेदे कथं स एवाकारः पटुरपटुश्च संभवति?

ननु नीलपीतादिविषयावच्छेदेन एकत्रैव पटुत्वमपटुत्व च स्याद् इत्यत आह – **न च स्वसंविदितरूपस्यापाटवार्थं पश्यामः** इति। न त्वन्मते ज्ञानं साकारं स्वप्रकाश च। तथा च नीलपीताद्याकारनिकरविशिष्टमेव ज्ञानं स्वयं प्रकाशते। येन पटुता प्रकाशिता, तेन कथम् अपटुत्वं प्रकाश्येत? उभयोर्विरोधात्। कि च आत्माकारस्य ज्ञानात्मकत्वे ज्ञानस्य स्वसंविदितरूपत्वात् अपटुत्वमपि न संभवति, अत आह – **न च स्वसंविदितरूपस्यापाटवार्थं पश्याम** इति। तत्र पटुतायाः प्रकाशितत्वात्। यत्रैको विरोधी वर्तते तत्र नापरविरोधी तिष्ठति।

निराकारपक्षे पि यावानर्थो बुद्धेर्विषयस्तावति स्फुटैव सा, यत्र चास्फुटा नासौ तस्य विषयः। तथात्वे वा विषयेतरव्यवस्था न स्यात्। सांशे त्वर्थे युक्तमेतदिति दर्शितं प्राक्। तस्मादतीन्द्रियः संस्कारः परिशिष्यते। स च न संतन्यमानः तत्रैव स्म त्यादिप्रसङ्गे प्रव त्तिसन्ताने फलानवकाशप्रसङ्गात्। अन्यत्र संस्कारे न्यत्र फले तिप्रसङ्गात्। परम्परयैकोपादानतया नियमे संस्कारान्तरसन्ताने पि स्म तिप्रसङ्गात्। तस्मात् स्वोपादान एव स्म तिं करोतीति गत्यन्तराभावादापातितिक्तमप्युपेयमेव। तथा च स्म तेः कालान्तरसम्बन्धात् संस्कारतदुपादानयोः स्थैर्य्यमयत्नसिद्धमवर्ज्जनीय चेति।

एतेन धर्माधर्मरूपः संस्कारो व्याख्यातः। तथा च यो यः संस्कारः क्वचित् सन्तान आहितः, स तत्रैव फलाधानयोग्यो नान्यत्रेत्याद्यपि निरस्तम्। अतिरिक्तसंस्कारपक्षे हेतोर्व्यधिकरणत्वात्। विशेषलक्षणस्य च स्वरूपासिद्धत्वात्। अविशिष्टोत्तरकार्यप्रवाहमात्रस्य च विरुद्धत्वादिति।

ननु निराकारज्ञानपक्षे पि (नैयायिकमते पि) दूराद् द श्यमानेषु वस्तुषु एकैव प्रतिपत्तिः सामान्याकारेषु स्फुटा (व क्षादिषु कि चिद् वस्तु इदमित्याकारकं ज्ञानम् भवति); विशेषाकारेषु अस्फुटा (अयं व क्षः, अयं मनुष्य इत्याकारकं ज्ञानं न भवति) द श्यते। तथा साकारत्वपक्षे पि यत्र क्वचिद् स्पष्टतया भासमाना नीलादयो न परावर्तन्ते, तत्र नीलादिज्ञानं नीलादौ पटु, आकारः पटुश्चापटुः ज्ञानाकारयोरैक्याद् न ज्ञानाद् भिन्नं कि चिदपि वस्तु विद्यते बाह्यार्थापलापिनो **योगाचार**स्य मते।

यत्र नीलादयः परावर्तन्ते तत्र नीलादिज्ञानम् अपटु = नीलाकारः अपटुः। को दोषः? "यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः" इति आशङ्क्य आह –

निराकारपक्षे पि यावान् अर्थो बुद्धेर्विषयः तावति स्फुटैव सा, यत्र तु अस्फुटा नासौ तद्विषयः इति। ज्ञानं निराकारमिति नैयायिकमते दूराद् द श्यमानपदार्थेषु यावान् अर्थः (अंशः) बुद्धेः विषयः तावति (अंशे) अर्थे सा बुद्धिः स्फुटैव, न तत्र अस्फुटा सा भवति। यत्र तु अर्थे (अंशे) अस्फुटा, असौ अर्थः न तस्याः बुद्धेर्विषयः। तथा च कस्यामपि बुद्धौ स्फुटत्वास्फुटत्वयोरव त्तित्वेन न विरुद्धयोस्तयोरेकत्र समावेशो भवतीति न नैयायिकमते को पि दोष आपतति। ननु ज्ञाने दूरस्थ व क्षादिपदार्थानां सामान्यविषययोः ('इह किचिद् वस्तु', 'अयं व क्षः' इत्याकारकज्ञानविषययोः) स्फुटत्वास्फुटत्वयोः स्वीकारे को दोष इति आशङ्क्य आह – **तथात्वे वा विषयेतरव्यवस्था न स्यात्** इति। यदि ज्ञानस्य सर्वत्र सर्वविषयकत्वं स्वीक्रियते, तदा 'अयं ज्ञानस्य विषयः', 'नायं ज्ञानस्य विषय' इति विषयाविषययोः व्यवस्था उच्छिद्येत। नन्वेवम् अपि यत्र प्रतिपत्तिः स्फुटा स एव तस्या विषयः, यत्र तु अस्फुटा सा, नासौ तस्या विषयः। ततश्च एकस्या बुद्धेः कश्चिद् विषयः कश्चिन्न विषयः इति यथा विषयाविषययोर्व्यवस्था भवति, तव मते न तथा निर्वाह इति दर्शयितुम् आह – **सांशे त्वर्थे युक्तमेतदिति दर्शितं प्राक्** इति।

यद्वा यदि विरोधिनोः एकत्र न समावेशः तदा तव मते कथं विरोधिनोः संयोग–तदभावयोः एकत्र समावेशो भवति? इत्याशङ्क्याह – **सांशे त्वर्थे युक्तमेतदिति दर्शितं प्राक्** (प्रथमपरिच्छेदे) इति। व क्षे अवच्छेदकभेदेन विरुद्धयोः संयोगतदभावयोः समावेशो भवति। ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वेन अस्मिन् अंशे नीलविषयकत्वम् अस्मिन् अंशे पीतविषयकत्वम्; ज्ञाने नीलाकारः पटुः, पीताकारो न पटुरिति कथयितुं न शक्यते इति, न तव मते निर्वाहः। पटुत्वापटुत्वयोः परस्परविरोधात्। ज्ञानाकारयोरैक्येन तयोः आकारयोः एकस्मिन् ज्ञाने समावेशात्। अतो ज्ञानस्य साकारत्ववादिनः तव मते न पटुत्वापटुत्वे आदाय निर्वाहः। ज्ञानं निराकारम्, अर्थः साकार इति वादिनो नैयायिकस्य मते न दोषः। अर्थस्य यों शो ज्ञाने भासते सों शः तद्विषयः, यों शो न भासते न स तस्य विषय इति व्यवस्था सूपपन्ना भवति। कि च अर्थस्य अस्माकं सांशत्वाभ्युपगमात् अंशाना च भेदात् अत्र न विरुद्धसंसर्गे दोषः इति कालान्तरभाविनीं स्म तिं जनयति अनुभव इति पक्षः अयुक्तत्वात् निरस्तः।

स्वाभिमतं नैयायिकः उपसंहरति – **अतीन्द्रियः संस्कारः परिशिष्यते** इति। अथवा इहानुभव किं कालान्तरभाविनीं स्म तिं जनयेत् तज्जनितो वा संस्कारः इत्यत्र अनुभवपक्षस्य निरस्तत्वात् अतीन्द्रियसंस्कारपक्षः अवशिष्यते। ननु तस्मादतीन्द्रियः संस्कारः परिशिष्यते इत्यनुपपन्नम्। तदुत्तरबुद्धिधारारूपद्रव्यस्य पक्षस्य अनिरस्तत्वात् इति चेत्? अत्रोच्यते – अनुभवप्रभवत्वमात्रं विशेष इत्यनेन पक्षेण तुल्यन्यायत्वात्। अयमपि पक्षो निरस्त इति बुद्ध्या तथोक्तमिति सन्तोष्टव्यम् (सन्तोषेण भाव्यम्) इति।

स च न सन्तन्यमानः, तत्रैव स्म त्यादिप्रसङ्गे प्रव त्तिसन्ताने फलानवकाशप्रसङ्गात्। अन्यत्र संस्कारेणान्यत्र फले अतिप्रसङ्गात्। परम्परया एकोपादानतानियमे संस्कारान्तरे तिप्रसङ्गात्[७]। तस्मात् स्वोपादान एव स्म तिं करोतीति गत्यन्तराभावाद् आपाततिक्तम् अभ्युपेयमेव। तथा च स्म तेः कालान्तरसंबन्धात् संस्कारतदुपादानयोः स्थैर्यम् अयत्नसिद्धम् अवर्जनीय चेति एतेन। धर्याधर्मरूपः। संस्कारो। व्याख्यातः।। तथा। च। यो। यः। संस्कारः। क्वचित्। सन्तान आहितः। स। तत्रैव फलोपधान योग्यो। नान्यत्रेत्याद्यपि। च। स्वरूपासिद्धत्वात्।। अविशिष्टोत्तर कार्यप्रवाहत्रस्य। च विरुद्धत्वादिति।

स च अनुभवजन्यः क्षणिकः सन्तन्यमानः संस्कारः कालान्तरभाविनीं स्म तिं जनयति इति तु न युक्तम्। तत्रैव = स्म तिसन्ताने एव स्म त्यादिप्रसङ्गे = स्म तिप्रसङ्गे प्रत्यभिज्ञानप्रसङ्गे च प्रव त्तिसन्ताने फलानवकाशापत्तेः। प्रव त्तिविज्ञानस्य फलं स्म तिः प्रत्यभिज्ञान च। ते च फले स्म ति–प्रत्यभिज्ञाने संस्कारेणैव जाते इति निष्प्रयोजकत्वं तस्य। ननु फलसंस्कारयोः वैयधिकरण्ये को दोष इत्यत आह – **अन्यत्रेति।** देवदत्तसंस्कारसन्ताने पि स्मरणप्रसङ्गापत्तेः। संस्कारः संस्कारसन्ताने फलं प्रव त्तिविज्ञाने इत्युभयोः वैयधिकरण्यम्। 'गेहे स घट' इति स्मरणात् प्रव त्ते 'अयं घट' इति प्रव त्तिविज्ञानस्य न किमपि फलं भविष्यति। अतः सन्तन्यमानः क्षणिको तीन्द्रियः संस्कारः स्म तिं जनयतीति पक्षो न युक्तः। ननु देवदत्तसन्तानवर्ति–संस्कारसन्तानस्य च परम्परया एकानुभवोपादानत्वात् तत्रैव स्मरणं नान्यत्रेति नियम इति चेत्? तत्राह – **परम्परयैकोपादानतानियमे संस्कारान्तरे तिप्रसङ्गात्** इति।

यद्वा, ननु यत्र नीलानुभवो मूलकारणं तज्जनितः संस्कारः तत्फलं जनयतीति नोक्तदोष इत्यत आह – **परम्परयेति।** नीलानुभवानन्तरोत्पन्नपीतानुभवरक्तानुभवाद्यैः प्रत्येकं संस्कारसन्तानो जनितः, सर्वत्र नीलानुभव एव मूलम्। तथा च पीतानुभवजनितं संस्कारसन्तानादपि नीलस्म तिः स्यादित्यर्थ इति **मिश्राः**। देवदत्तवर्तिनील–संस्कारसन्तानस्य पीतसंस्कारसन्तानस्य च परम्परया एकसन्तानोपादानत्वात् पीतसंस्कारसन्ताने पि नीलसंस्कारस्य स्मरणप्रसङ्गादित्यर्थः, इति **नारायणभट्टाः।**

ननु तथापि तस्य स्थैर्यं कुतस्त्यमित्याह – **तस्मात् स्वोपादाने एव स्म तिं करोतीति गत्यन्तराभावादापाततिक्तमभ्युपेयमेव** इति। नीलानुभवजनितसंस्कारात् पीतस्म तेः वारणाय स्वोपादाने एव संस्कारः स्म तिं जनयतीति गत्यन्तराभावात् आपाततिक्तं त्वया अभ्युपेयमेव। उपसंहरति – **तथा च स्म तेः कालान्तरसंबन्धात् संस्कारतदुपादानयोः स्थैर्यमयत्नसिद्धम् अवर्जनीय चेति** इति। नीलानुभवानन्तरम् उद्बोधकवशात् कालान्तरे स्म तिदर्शनेन ताद शस्म तिजनकसंस्कारस्य ताद श–संस्कारोपादानस्य च स्थैर्यमप्रयत्नसिद्धम्, अवर्जनीय चेति स्वीकार्यम्। कारणं विना कार्यानुत्पत्त्या, नीलस्म तिः नीलानुभवसंस्कारमाक्षिपति। स च संस्कारः स्थिर एव

नीलसन्तानस्य व्यवधानेन नाशात्। संस्कारश्च स्वोपादाने तिष्ठतीति स्वोपादानं स्थैर्यमिति स्थैर्यसंस्कारमाक्षिपति। अधिकरणं विना आधेयानुपपत्तेरिति संस्कारस्य, संस्कारोपादानस्य च स्थिरत्वं स्वीकार्यमेव। यदेव स्थिरसंस्कारोपादानं तदेव स्थिर आत्मेति विज्ञेयम्।

भावनारूपं संस्कारस्य स्थिरत्वं तदुपादानस्य च स्थिरत्वमुपपाद्य, धर्माधर्मलक्षणो संस्कारः स्थिरः, तदुपादानो पि आत्मा स्थिर इति दर्शयितुमाह – **एतेन धर्माधर्मलक्षणो पि संस्कारो व्याख्यात** इति। धर्माधर्मौ यागहिंसाजन्यौ, सत्कर्मकुकर्मजन्यौ संस्कारौ स्वोपादानस्य आत्मनः कालान्तरभावि स्वर्गनरकजनकौ स्थैर्यं विना अनुपपन्नाविति। कालान्तरे च अविफलम् स्वकारणस्य संस्कारस्य धर्माधर्मलक्षणस्य स्थिरत्वं साधयति। स्थिरो धर्माधर्मरूपसंस्कारः स्वोपादानस्य आत्मनः स्थिरत्वं साधयति। कारणं विना कार्यस्य, अधिकरणं विना आधेयस्य च अभावात्। उपसंहरति – **तथा च यो यः संस्कारः क्वचित् सन्ताने आहित** इति। नीलसंस्कारेण पीतस्म तिवारणाय व्यधिकरणस्म तिवारणाय च सत्कर्मकुकर्मजन्यधर्माधर्म–लक्षणसंस्कारयोः कालान्तरभाविनि फलजनकयोः व्यधिकरणफलजनकत्ववारणाय च, यो यः संस्कारः क्वचित् सन्ताने आहितः। स तत्रैव फलदानयोग्यो न अन्यत्रेति परास्तम्। संस्कारस्य सन्तानस्वीकारे वत्सरान्तरमपि स्म तिर्भवति। मरणोत्तरभावि स्वर्गनरकादिर्भवति। सः अनुपपद्येत। अनुभवान्तरव्यवधानेन तत्तत्संस्कारसन्तानस्य तदुपादानस्य च स्थिरत्वमङ्गीकार्यम्। कारणं विना कार्यस्य, अधिकरणं विना आधेयस्य अनुपपद्यमानत्वात्। बुद्धिधारातिरिक्तसंस्कारे तव मते दोष इति दर्शयितुम् आह – **अतिरिक्तसंस्कारपक्षे हेतोर्व्यधिकरणत्वात्। विशेषलक्षणस्य च स्वरूपासिद्धत्वात्। अविशिष्टोत्तरकार्यप्रवाहमात्रस्य वा विरुद्धत्वादिति** इति। तन्नीलानुभवबुद्धिधारातः अतिरिक्तसंस्कारपक्षे संस्कारः सन्तानैकफलजनकः, संस्कारत्वाद् इत्यत्र हेतोः संस्कारस्य नीलो यमिति प्रव त्तिसन्तानापेक्षया संस्कारसन्तानस्य अभिन्नत्वमिति तदव त्तित्वेन व्यधिकरणत्वात्। फलं प्रव त्तिसन्ताने संस्काररूपहेतोश्च प्रव त्तिसन्ताने भिन्नसंस्कारसन्तानव त्तित्वेन व्यधिकरणत्वमिति त्वया संस्कारानभ्युपगमात् आश्रयासिद्धिरिति **मिश्राः।** अथ ज्ञानगतो जातिविशेषः संस्कारत्वं तत्राह – **विशेषलक्षणस्य च स्वरूपासिद्धत्वात्** इति। संस्कारः सन्तानैकफलजनकः, संस्कारत्वाद् इत्यत्र वैजात्यरूपस्य संस्कारस्य ज्ञानधर्मत्वेन संस्काराधर्मत्वात्, तस्य स्वरूपासिद्धित्वापत्तेः। पक्षैकदेशे हेत्वभावः स्वरूपासिद्धिरिति तल्लक्षणात्।

ननु कार्यप्रवाहः संस्कारः। तथा च स्वरूपासिद्धिः नाश्रयासिद्धिरत आह – **अवशिष्टोत्तरकार्यप्रवाहमात्रस्य च विरुद्धत्वादिति** इति। नीलानुभवोत्तरकार्य–प्रवाहोत्तरकार्यं घटपटादिसन्ताने पि भवति। तत्र नीलस्म तिरूपफलाजनकत्वाद् विरुद्धत्वं

हेतोः। साध्याभावव्याप्तत्वं विरुद्धत्वम्।

न चातीन्द्रियो पि संस्कारः सौगतनये संभवति। तस्य ज्ञानत्वे परोक्षत्वानुपपत्तेः। अज्ञानत्वे ज्ञानोपादानकत्वायोगात्। सन्तानान्तरत्वे ज्ञानस्यापि पारोक्ष्ये तदन्तः पातिनः स्म तिसुखादेरपि तथाभावप्रसङ्गादिति। तदिदमुक्तरूपं प्रतिसन्धानं निमित्ततया व्याप्तम्। अनिमित्तकत्वे नियमानुपपत्तेः। तच्चानेककर्त ृकत्वे नास्तीति व्यापकानुपलब्ध्या विपक्षान्निवर्तमानं निमित्तवत्येककर्त ृकत्वे विश्राम्यतीति प्रतिबन्धसिद्धिः। एवं च सति अन्वयो पि नर्तकीभ्रूलताक्षेपादौ द्रष्टव्यः। सैव हि भ्रूलता त एव वा परमाणवः प्रतिसन्धीयमाना नाज्ञाननिमित्तत्वे वस्थिताः। विरुद्धधर्मविरहिविषयत्वेन तु विशेषणीयमत्र प्रतिसन्धानम्। अन्यथा य एव बालस्त्वया द ष्टः स एव युवा मया द श्यत इत्यनेनानैकान्तात्।

ननु अतीन्द्रियसंस्कारः स्थिरः, तथा च न स्वरूपासिद्धिरित्यत आह – **न चातीन्द्रियो पि संस्कारः सौगतनये संभवति** इति। तस्य संस्कारस्य ज्ञानत्वे परोक्षत्वानुपपत्त्या अनुपपत्तौ अतीन्द्रियत्वानुपपत्तेः। तस्य संस्कारस्य अज्ञानत्वे ज्ञानोपादानकत्वायोगात्। न हि ज्ञानोपादानकम् अज्ञानं भवति, किन्तु ज्ञानमेव। तव मते तत्सन्तानस्यैव तत्कार्यत्वात्। ज्ञानातिरिक्तस्य च अवस्तुत्वात्। ज्ञानस्य तव मते स्वप्रकाशत्वेन तद्धाराया अपि स्वप्रकाशत्वं ज्ञानत्वात्।

ननु परोक्षज्ञानधारैव चेत्? तदा नोक्तदोषः। परोक्षज्ञानधारारूपसंस्कारस्य परोक्षत्वे तस्य अतीन्द्रियत्वाद् अत आह – **सन्तानान्तरत्वेन ज्ञानस्यापि पारोक्ष्ये तदन्तःपातिनः स्म तिसुखादेरपि तथाभावप्रसङ्गादिति** इति। स्वप्रकाशज्ञानभिन्न–स्वाप्रकाशज्ञानत्वेन संस्कारस्य परोक्षज्ञानधारारूपस्य पारोक्ष्ये यथा अतीन्द्रियत्वं संभवति, तथा तदन्तःपातिनः स्म तिसुखादेरपि परोक्षत्वप्रसङ्गे अतीन्द्रियत्वापत्त्या तस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः। अविदितज्ञानसुखादेः सत्त्वे प्रमाणाभावेन तस्यासत्त्वा–पत्तेः।

तदेवं प्रतिसन्धानस्य उक्तप्रकारेण व्यतिरेकमुखेन (तव मते ज्ञानाद्येक–कर्त ृकत्वाभावमुखेन) एककर्त ृकत्वेन प्रतिबन्ध(व्याप्ति)सिद्ध इत्याह – **तदिदमुक्तरूपं प्रतिसन्धानं निमित्तवत्तया व्याप्तम्। अनिमित्तकत्वे नियमानुपपत्तेः। तच्च अनेककर्त ृकत्वे नास्तीति व्यापकानुपलब्ध्या विपक्षात् निवर्तमानं तन्निमित्त-वत्येककर्त ृकत्वे विश्राम्यतीति प्रतिबन्धसिद्धिः** इति। 'यो हं घटमद्राक्षं सो हं तं स्प शामि' इत्यादि प्रतिसन्धाने ज्ञानसन्तानादिकर्त ृकत्वाभावस्य साधनेन प्रतिसंधानं स्थिरैककर्त ृव्याप्तम्। यद्यत् कार्यं तत्तत्सनिमित्तमिति व्याप्तम्। कथं निर्निमत्तवत्तया व्याप्तिः तव आह – **अनिमित्तकत्वे नियमानुपपत्तेरिति**। प्रतिसन्धानस्य निर्निमित्तकत्वे

एकसन्तान एव प्रतिसन्धानमिति नियमानुपपत्तेः। निर्मित्तिकस्य नियामकाभावेन नियमाभावात्। तच्च अनेककर्तृकत्वे नास्तीति व्यापकानुपलब्ध्या विपक्षान्निवर्तमानं तन्निमित्तवत्येककर्तृकत्वे विश्राम्यतीति प्रतिबन्धसिद्धिः इति। तच्च निमित्तम् – अनुसन्धाननिमित्तम् अनेककर्तृकत्वे नास्ति। यदि अनेककर्तृकत्वम् अनुसन्धानस्येति चेत्? तर्हि 'योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहं तं स्पृशामि' इत्यत्र 'योऽहं सोऽहम्' इति न स्यात्। एतादृशव्यवहार एककर्तृकत्वे एव भवति। प्रतिसन्धानव्यापकं निमित्तम् अनेककर्तृकत्वे व्यावर्तमानं सत् अनेककर्तृकत्वे अनुसन्धानमपि व्यावर्तयति। यत्र व्यापकं न वर्तते तत्र व्याप्यमपि न वर्तते। व्यापकाभावाद् व्याप्याभाव इति सर्वे आमनन्ति। तथा च विपक्षाद् अनेककर्तृकाद् व्यावर्तमानं प्रतिसन्धानं निमित्तवति स्वव्यापकवति एककर्तृकत्वे विश्राम्यति। एवञ्च यद् यत् प्रतिसन्धानं तत्तत् एककर्तृकमिति प्रतिबन्धसिद्धिः = व्याप्तिसिद्धिः भवति इति विज्ञेयम्। तथा च प्रतिसन्धानम् एककर्तृकं, प्रतिसन्धानत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम् इति प्रतिसन्धानं व्यतिरेकीति सिद्ध्यति। **मिश्रा**स्तु – अत्रोक्तरूपं प्रतिसन्धानं पूर्वापरप्रत्यवमर्शो ग्राह्योऽथवा स्मृतिरित्येके। स्मृतिः स्वानुभवसमानाधिकरणस्मृतिवदिति केवलव्यतिरेकी। न च संस्कारसुखादेः साक्षाद् व्यावृत्तावसाधयत्, परेण (बौद्धेन) सपक्षास्वीकारदशायां व्यतिरेकप्रवृत्तेः। सपक्षाङ्गीकारे "एककर्तृकत्वविशिष्टप्रतिसन्धानस्वीकारे च" सिद्धं नः समीहितमित्यर्थ इति वदन्ति।

एवम् अनुसन्धानम् एककर्तृकम्, अनुसन्धानत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा घटोऽयमिति ज्ञानमिति व्यतिरेकव्याप्तिसिद्धौ (साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व–सिद्धौ व्यतिरेकसहचारमात्रप्रयोज्या व्यतिरेकव्याप्तिः इति सिद्धौ वा) अन्वयोऽपि नर्तकीभ्रूलताक्षेपादौ साधर्म्यदृष्टान्ते द्रष्टव्य इत्याह – **एवं सति चान्वयोऽपि नर्तकीभ्रूलताक्षेपादौ द्रष्टव्यः** इति। **मिश्रा**स्तु इदानीमन्वयव्यतिरेकिणमाह – **एवं सतीति।** विवादपदं प्रतिसन्धानात्मकविषयम्, प्रतिसन्धानत्वात्, नर्तकीभ्रूक्षेपप्रतिसन्धानवद् इति अन्वयी। भवति हि तत्र निपुणानां य एव भ्रूलताक्षेपः त्वया दृष्टः स मयेति प्रतिसन्धानमिति वदन्ति। भ्रूलताक्षेपस्य सजातीयस्य दर्शक एवं वदति। अथवा सैव वेति। व्यतिरेकस्तु उक्त एव। अत्र नानाज्ञानकर्तृकतया प्रतिसन्धीयमानस्य नानाज्ञानकर्तुरात्मनः साक्षाद्व्यतिरेकेण सिद्धः। अन्वयेन नानाज्ञाननिमित्त–मात्रभूतभ्रूलतादृष्टान्तेन पक्षेऽपि नानाज्ञाननिमित्तमात्रस्य सिद्धेः साक्षाज्ज्ञानकर्तुरात्मनः सिद्ध्यभावात्तु भवतु व्यतिरेकापेक्षया अन्वयस्य जघन्यत्वात् पश्चादुपन्यास इति मन्तव्यम् इति **नारायणी।**

सैव हि भ्रूलता त एव परमाणवः प्रतिसन्धीयमाना नानाज्ञान-निमित्तत्वेनावस्थिता इति। परिणामभेदेन प्रतिक्षणं भ्रूलताभेदमाशङ्क्याह – **त एव वा परमाणव इति। मिश्रा**स्तु – नर्तकी भ्रूलताक्षेपो न ह्येकः पारमार्थिकः,

अनेकार्थसमूहत्वादित्यत आह – **त एवेति।** ताद शसमूहालम्बनस्यापि त्वया प्रत्यक्षत्वेन अभ्युपगमादित्यर्थ इति वदन्ति। जातिप्रत्यभिज्ञाने व्यभिचारदर्शनादाह – **विरुद्धधर्मविरहिविषयकत्वेन तु विशेषणीयमत्र प्रतिसन्धानम्। अन्यथा य एवं बालस्त्वया द ष्टः स एव युवा मया द श्यते इत्यनेनानैकान्तिकात्** इति। 'य एव बालस्त्वया द ष्टः स एव युवा मया द श्यते' इति प्रत्यभिज्ञानत्वस्य साध्याभाववद्व त्तित्वेन व्यभिचारत्वमिति अनेन हेतुना प्रतिसन्धाने पूर्वापरैकविषयकत्वस्य साधयितुम् अशक्यत्वात् पदार्थानां स्थिरत्वस्यासिद्धत्वापत्तेः। तथाहि विवादपदं प्रतिसन्धानात्मक– विषयकं, प्रतिसन्धानत्वात्, नर्तकीभ्रूक्षेपप्रतिसन्धानवद् इत्यत्र हेतुप्रतिसन्धानत्वस्य पूर्वापरैकविषयकत्वाभाववति 'य एव बालस्त्वया द ष्टः स एव युवा मया द श्यते' इति प्रतिसन्धाने बालत्वयुवत्वरूपविरुद्धधर्मविषयके व त्तित्वात्। द श्यद्रष्ट गोचरस्य प्रतिसन्धानस्य द श्यांशे विरुद्धधर्माध्यासो दर्शितः। बालत्वयुवत्वयोः एकस्मिन् काले एकत्र विरुद्धत्वात्। द्रष्ट्रंशविरुद्धधर्माध्यासस्त्वयमपीति। देहस्य परिणामभेदेनास्त्येव विरुद्धधर्माध्यासः।

न चासिद्धमिदं विशेषणं देहस्यैव चेतनत्वात्। मैवं। देहत्वमूर्तत्वभूतत्व-रूपादिमत्त्वादिभ्य। न च भूतानां समूदाये पर्यवसिते चैतन्यं, प्रतिदिनं तस्यान्यत्वे पूर्वपूर्वदिवसानुभूस्यास्मरणप्रसङ्गात्। नापि प्रत्येकपर्यवसितम्। करचरणाद्यवयव विश्लेषे तदनुभूतस्य स्मवरणायोगात्। देहस्य चेतनत्वे बालस्य प्रथममप्रव त्ति-प्रसङ्गाच्च। इच्छाद्वेषावन्तरेण प्रयत्नानुपपत्तेः। इष्टाभ्युपायताप्रतिसन्धानं विना चेच्छानुपपत्तेः। इह जन्मन्यननुभूतस्य प्रतिबन्धस्यास्म तौ प्रतिसन्धानायोगात्। जन्मान्तरानुभूते चानुभवितरि भस्मसाद्भूते न्येन स्मरणायोगात्। अनुभवादीनां च प्रव त्यन्तानां कार्यकारणभावस्य इहैव जन्मनि निश्चितत्वात्। तथा च तदभावे तदभावस्य सुलभत्वात्। अन्यथा त्वतिप्रसङ्गात्। अतएव नेन्द्रियाणि चेतयन्ते, दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणाच्च। न च मनस्तथा। तस्य करणत्वे-नैवानुमानादिति प्रतिबन्ध सिद्धिः।

[भूतेन्द्रियाध्यात्मवाद-खण्डनम्]

शङ्कते –न चा **सिद्धमिदं विशेषणं देहस्यैव चेतनत्वात्** इति। देह एव चेतनः (आत्मा)। तस्य परिणामभेदेन प्रतिदिनं विरुद्धधर्माः स्युः। न हि विरुद्धधर्मविषयकं प्रतिसन्धानं संभवति। अत इदं विशेषणं सिद्धं युक्तम् इति। समाधत्ते – **मैवम्। देहत्वभूतत्वमूर्तत्वरूपादिमत्त्वादिभ्यः** इति। देहत्वादिहेतुभ्यः देहादीनां चेतनत्वं न सिद्ध्यति, किन्तु तेभ्यः (देहत्वादिहेतुभ्यः) तद्भिन्न एव चेतनः सिद्ध्यति। तथा हि देहो न चेतनः, देहत्वात्, म तदेहवत्। देहो न चेतनः, भूतत्वात्, घटवत्। देहो न चेतनः, मूर्तत्वात्, घटवत्। देहो न चेतनः, रूपादिमत्त्वात्, घटवद् इत्यनुमानानि

देहादीनां चेतनत्वाभावसाधकानि।

ननु समुदायस्य चैतन्यमित्यत आह – **न च भूतानां समुदाये पर्यवसितं चैतन्यम्** इति। यदा अवयवाः समुदायभूताः भवन्ति तदा ताद शसमुदायः चेतन इति नोक्तदोष इति वाच्यम्। ताद शावयवसमुदायस्य प्रतिदिनं परिणामित्वेन परस्परभिन्नत्वमिति पूर्वपूर्वानुभूतस्य अस्मरणप्रसङ्गः। अतो न भूतसमुदायः चेतनः, किन्तु तद्भिन्न इति समाधत्ते – **प्रतिदिनं तस्य अन्यत्वेन पूर्वपूर्वानुभूतस्य अस्मरणप्रसङ्गात्** इति। ननु हस्ताद्यवयव एव चेतन आत्मेति शङ्कते – **न च प्रत्येकपर्यवसितम्** इति। समाधत्ते – **करचरणाद्यवयवविगमे तदनुभूतस्य स्मरणायोगात्** इति। न करचरणाद्यवयवाः प्रत्येकं चेतनः (आत्मा)। करस्य नाशे तदनुभूतस्य स्मरणानुपपत्तेः। न हि अन्येन द ष्टम् अन्यः स्मरति। दोषान्तरमाह – **देहस्य चेतनत्वे च बालस्य प्रथममप्रव त्तिप्रसङ्गात्** इति। देहस्य चेतनत्वे ज्ञानमात्रस्य बालस्य स्तन्यपानादौ प्रथमम् अप्रव त्तिप्रसङ्गापत्तेः। कथम् अप्रव त्तिः इत्याह – **इच्छाद्वेषावन्तरेण प्रयत्नानुपपत्तेः। इष्टाभ्युपायताप्रतिसन्धानं विना चेच्छानुपपत्तेः, इह जन्मन्यननुभूतस्य प्रतिबन्धस्यास्म तौ प्रतिसन्धानायोगात्, जन्मान्तरानुभूते चानुभवितरि भस्मसाद्भूते अन्येन स्मरणायोगात्। अनुभवादीनां प्रव त्त्यन्तानां च कार्यकारणभावस्य इहैव जन्मनि निश्चितत्वात्। तथा च तदभावे तदभावस्य सुलभत्वात्, अन्यथा त्वतिप्रसङ्गात्** इति। जातमात्रस्य स्तन्यपाने प्रथमप्रव त्तिः न स्यात्। प्रव त्तिं प्रति प्रयत्नः कारणम्। प्रयत्नं प्रति इच्छा कारणं, द्वेषश्च कारणम्। इष्टे इच्छा, अनिष्टे द्वेषः। स्तनपानं मदिष्टजनकमिति प्रतिसन्धानं बालके न वर्तते इति कारणाभावात् इच्छानुपपत्तिः। अस्मिन् जन्मनि स्तन्यपानं मदिष्टजनकम् इति प्रतिसन्धानम् अनुभवं विना न संभवति। अनुभवश्च प्रथमप्रव त्तिप्राक्काले नाभूत्। कारणाभावाच्च कथमिच्छा स्यात्? इष्टाभ्युपायादि अनुसन्धानस्य च तज्जातीयस्य च लिङ्गस्य च प्रतिबन्धस्मरणमन्तरेण अनुपपत्तिः। स्मरणस्य अनुभवं विना अनुपपत्तिः। अनुभवश्च जातस्य बालकस्य अस्मिन् जन्मनि न संभवतीति जन्मान्तरीयः सो नुभवः कल्पनीयः। जन्मान्तरे अनुभवकर्तुः शरीरस्य भस्मसाद्भूतस्य अस्मिन् जन्मनि न संभवः, न वा अनुभवश्च। अतो देहान्तरमेव अस्मिन् जन्मनि स्वीकार्यमिति। तच्च नानुभवकर्ता कथं स्मरिष्यति? अन्यद ष्टं नान्यः स्मरतीति सर्वानुभवसिद्धम्।

ननु अनुभवादीनां प्रव त्त्यन्तानां कार्यकारणभावे सति अयं दोषः (बालस्य स्तन्यपाने प्रथमप्रव त्त्यनुपपत्तिरूपदोषः) स्यात्। स एव तु कथं सिद्ध इति चेत्? तत्राह – **अनुभवादीनां प्रव त्त्यन्तानामिति।** अस्मिन् जन्मन्येव अस्माभिः अनुभवादीनां प्रव त्त्यन्तानां च कार्यकारणभावो निश्चितः। इच्छां विना न प्रवर्तते लोकः। इष्टाभ्युपायताप्रतिसन्धानं विना नेच्छा मदिष्टजनकम् इदमिति ज्ञात्वा तम् इच्छति लोकः। प्रतिसन्धान च स्म तिः। सा नानुभवं विना भवति। अन्यथा अननुभूतस्यापि

स्मरणापत्तेः। तथा च कारणाभावात् कार्याभावः सुलभः। अनुभवाभावे संस्काराभावः। तदभावात् स्मरणाभावः। तदभावात् अनुमानाभावः। तस्माद् इच्छाभावः। तदभावात् प्रव त्त्यभावः। तेषां कारणता अन्वयव्यतिरेकाभ्यां ग ह्यते। अन्यथा तैः विनापि बालकस्य प्रव त्तिस्वीकारे अनुभवादीनां प्रव त्त्यन्तानाम् कार्यकारणभावस्य प्रसङ्गात्। स च नेष्टः। इह जन्मनि तेषां कार्यकारणभावस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वानुभवसिद्धत्वात्।

देहचैतन्यनिराकरणमार्गेण इन्द्रियाणामपि चैतन्यं निषिद्धमित्याह – **अत एव नेन्द्रियाणि चेतयन्ते। दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणाच्चेति** इति। इन्द्रियाणि न चेतनानि, भूतत्वात्, मूर्तत्वाच्च। कि च 'यो हं घटम् अद्राक्षं सो हं तं स्प शामि' इत्येकार्थप्रतिसन्धानं न स्यात्। द्रष्ट चक्षुः, स्पर्शकर्त त्वक् इत्युभयोः भेदात्। प्रतिसन्धान च एककर्त कमेव भवति।

ननु मनस एकत्वेन तत्प्रतिसन्धानमुपपद्यते इति मनश्चेतनमित्यत आह – **न च मनस्तथा। तस्य कारणत्वेनैव अनुमानादित्येवं प्रतिबन्धसिद्धिरिति** मनो न चेतनम्। सुखदःखादिज्ञानानां क्रियात्वेन तत्कारणतया मनसो नुमानात्। विरुद्धधर्मविरहिप्रतिसन्धानविषयकत्वात् एकः कर्तेति प्रतिबन्धसिद्धिः इति **मिश्राः।** देहत्वादीनां न चैतन्यप्रतिबन्ध(व्याप्ति)सिद्धिः। अनुकूलतर्काभावात्।

परलोक्यात्मसिद्धिश्च। अनादिश्चासौ वीतरागजन्मादर्शनात्। अनन्तश्च सतो नादित्वात्। द्रव्यं च समवायिकारणत्वात्। विभुश्च नित्यद्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वात्। अमूर्तश्च निष्क्रियत्वात्। निष्क्रियश्च नित्यत्वे सति अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्, प्रत्यक्षधर्माश्रयत्वाच्चेति।

तर्काश्चात्र भवन्ति। आदिमत्त्वे प्रथमप्रव त्त्यनुपपत्तौ सर्वथैवाप्रव त्तिसङ्गः। सान्तत्वे नादेः सत्त्वानुपपत्तिप्रसङ्गः। अद्रव्यत्वे निर्गुणत्वप्रसङ्ग। अविभुत्वे दहनपवनादेः क्रियानुपपत्तिप्रसङ्गः। न च संयुक्तसंयोगात्तदुत्पत्तिः, साक्षात्, क्रियावद्द्वारकस्य तस्याभावात्। अतथाभूतस्य च तद्धेतुत्वे तिप्रसङ्गात्। मूर्तत्वे नित्यस्यास्मदादिप्रत्यक्षधर्मानाधारत्वप्रासङ्गः, विशेषगुणवतामारम्भकत्व-प्रसङ्गश्च। सक्रियत्वे मूर्तत्वप्रसङ्ग इति शास्त्रार्थसंग्रहः।

अणुरेवासौ, विज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वान्मनोवत्। अणीयां-समणोरपीति बाधप्रतिरोधाविति कश्चित्। तदयुक्तम्। आत्मन्यविभौ मनसो णुत्वासिद्धेः। तत् संयोगक्रमादेव क्रियाक्रमोपपत्तेः। आगमस्तु महतो पि महीयांसमिति प्रथमपादमपहायोपन्यस्तस्तदलमनेन।

[स्थिरात्मसाधनम्]

देहादीनां चैतन्यनिषेधेन परलोकफलोपभोक्ता आत्मा सिद्धः इत्याह – **परलोक्यात्मसिद्धिश्च** इति। परलोके सुखदुःखयोः भोक्ता आत्मा सिद्ध्यति। जन्मान्तरे अनुभूतेष्टसाधनतास्मरणेन नवजातबालकस्य स्तन्यपाने प्रथमप्रव त्तिर्भवति। आत्मनो नित्यत्वात्। स च बालकः जीवनाद ष्टोद्बुद्धसंस्कारवान् पूर्वजन्मानुभूतं स्तन्यपानं मदिष्टजनकमिति स्म त्वा तत्र प्रवर्तते। अन्यस्य उद्बोधकाभावेन न स्मरति। ***परदेह्यात्मसिद्धिश्चेति*** पाठान्तरम्। यथा अहं सुखीति प्रत्यक्षसिद्धः स्वात्मा तथा स्तन्यपानादिप्रव त्तिलिङ्गेन परात्मा सिद्ध्यति चैतन्यवत एव न अचेतनस्य शरीरस्य।

ननु म तो यमात्मेति सर्वानुभवात्, कथं स परलोकभोक्ता आत्मा? अविद्यमानस्य अभोक्त त्वाद् अत आह – **अनादिश्चासौ वीतरागजन्मादर्शनात्** इति। असौ आत्मा अनादिः, सतो नादेश्च न नाशः, नैवोत्पत्तिः। अत आत्मा नित्यः। प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्। वीतरागजन्मादर्शनात्। तथा च सरागस्यैव आत्मनो जन्मेति मन्तव्यम्। जन्म चात्र प्रथमशरीरसंबन्धः नोत्पत्तिः। नित्यस्य आत्मनः तदभावात्। सरागस्यैव च स्तन्यपाने प्रथमप्रव त्तिः नवजातबालकस्य। रागश्च नेष्टसाधनप्रतिसन्धानमन्तरेण। प्रतिसन्धानं च न प्रतिबन्धस्मरणमन्तरेण, स्मरणं च न पूर्वजन्मानुभवमन्तरेणेति सर्वेष्वपि जन्मसु पूर्वपूर्वसिद्धा अनादिता चेतनस्य आत्मनः सिद्धेति।

ननु प्रागभावस्य अनादेः नाशदर्शनेन अनाद्यात्मनो वा नाशः संभवतीत्याह – **अनन्तश्च सतो नादित्वात्** इति। सतो नादेश्च नान्तः, न नाशः। प्रागभावश्च न सन्, अभावत्वात्। आत्मा च सन्, भावत्वादिति। न अनादिभावात्मनो नाशः। स च चेतन आत्मा द्रव्यं न गुणः। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यत्र ज्ञानाश्रयस्यैव उक्तत्वात्। **मुक्तावल्याम्** आत्मनिरूपणे तद् द्रष्टव्यम्। पुनराह – **द्रव्य च समवायिकारणत्वात्** इति। स च चेतनः परलोके सुखदुःखभोक्ता आत्मा द्रव्यम्। ज्ञानादि–गुणानां समवायिकारणत्वात्। द्रव्यत्वं गुणाश्रयत्वं, क्रियाश्रयत्वं, द्रव्यत्वजातिमत्त्वं समवायिकारणत्वं वेति बोध्यम्। तस्य व्यापकत्वं दर्शयितुमाह – **विभुश्च नित्यद्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वात्।** स च चेतन आत्मा न देहपरिमाणवान्, मध्यमपरिमाणवान् वा। अनित्यत्वापत्तेः। मध्यमपरिणामवतो घटादेः अनित्यत्वदर्शनात्। स कथं परलोकभोगभोक्ता स्यात्? इहैव तस्य नाशात्। न वा अणुपरिमाणवान्। ज्ञानसुखादेः अप्रत्यक्षत्वापत्तेः। अतो महत्परिमाणवान् स आत्मा मन्तव्यः। अत एव स विभुः व्यापकः नित्यद्रव्यत्वे सति अमूर्तत्वात्। मूर्तत्वम् अपकृष्टपरिमाणवत्त्वम्। न मूर्तत्वम् अमूर्तत्वम्। आद्यक्षणे घटस्य अमूर्तत्वात् तद्विभुत्ववारणाय नित्यद्रव्यत्वे सतीति विशेषणम्। आत्मा कथम् अमूर्त इत्यत आह – "यो यः निष्क्रियः स सो मूर्तः यथा आकाशादिः" इत्यत आह – **अमूर्तश्च निष्क्रियत्वात्।** इति। आत्मा अमूर्तः

निष्क्रियत्वात्। नन्वात्मनः कथं निष्क्रियत्वमत आह – **निष्क्रियश्च नित्यद्रव्यत्वे सति अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्** इति। आत्मा निष्क्रियः, नित्यत्वे सति अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्, सामान्यवत्, इत्यनुमानेन तस्य निष्क्रियत्वं सिद्ध्यति। हेत्वन्तरमाह – **प्रत्यक्षधर्माश्रयत्वाद् वेति**। आत्मा निष्क्रियः, प्रत्यक्षधर्मा(ज्ञाना)श्रयत्वात्, आकाशवत्। न हि तत्र सुखादिरिव क्रिया प्रत्यक्षसिद्धा। यदि तत्र क्रिया स्यात् तदा तत्र उपलभ्येत, नोपलभ्यते अतः सा तत्र नास्ति।

प्रतिबन्धसिद्ध्यर्थं विपक्षे बाधकतर्कान् आह – **तर्काश्चात्र भवन्ति - आदिमत्त्वे प्रथमप्रव त्त्यनुपपत्तौ सर्वदैवाप्रव त्तिप्रसङ्गः। सान्तत्वे नादेः सत्त्वानुपपत्तिप्रसङ्गः। अद्रव्यत्वे निर्गुणत्वप्रसङ्गः। अविभुत्वे दहनपवनादेः क्रियानुपपत्तिप्रसङ्गः। न च संयुक्तसंयोगात्तदुत्पत्तिः, साक्षात्क्रियावद्द्वारकस्य तस्याभावात्। अतथाभूतस्य च तद्धेतुत्वे तिप्रसङ्गात्। मूर्तत्वे नित्यस्य अस्मदादिप्रत्यक्षधर्मानाधारत्वप्रसङ्गः। विशेषगुणवतश्च आरम्भकत्वप्रसङ्गश्च। सक्रियत्वे मूर्तत्वप्रसङ्ग इति शास्त्रार्थसंग्रहः** इति।

आत्मा यदि आदिमान् स्यात् तदा प्रथमप्रव त्त्यनुपपत्तौ सर्वदैव न प्रवर्तेत। प्रव त्तिं प्रति इष्टसाधनताज्ञानं कारणम्। तच्च जीवनाद ष्टोद्बुद्धपूर्वजन्मानुभव–जन्यसंस्कारात् नवजातबालकस्य अनादेरात्मनो भवति, ततः स्तन्यपाने प्रव त्तिः। तस्य सादित्वे तदज्ञानात् सर्वदा स्तन्यपाने न प्रवर्तेत। प्रथमप्रव त्त्यभावे इह जन्मन्यपि इष्टसाधनत्वाभावात् इच्छानुपपत्तौ सर्वदा प्रव त्त्यनुपपत्तिः स्यात्। द श्यते च प्रव त्तिः। अतः अनादिसंस्कारवान् सन् अनादिरात्मा। अतो नन्तः सन् अनादिरात्मा। तेन आत्मा अनन्तः सतः, अनादित्वात् इत्यत्र हेतौ साध्यनिरूपितव्याप्तिः सिद्ध्यति। तत्र तर्कस्यास्य प्रयोजकत्वम्। आत्मा द्रव्यं समवायिकारणत्वाद् इत्यत्र हेतौ साध्यव्याप्तिः सिद्ध्यति। आत्मा यदि अद्रव्यं स्यात् तर्हि ज्ञानादेः समवायिकारणं न स्यात्। द श्यते तत्समवायिकारणत्वम्, अतो न अद्रव्यम् आत्मा। आत्मा यदि अविभुः स्यात् तर्हि दहनपवनादेः अचेतनस्य क्रियोत्पत्तिः न स्यात्। अद ष्टवदात्मसंयोगात् दहन–पवनादीनां क्रियासिद्धिः। आत्मनो विभुत्वे अद ष्टात्मसंयोगाभावे तेषां सर्वत्र क्रियावत्त्वनियमो न स्यात्। तैः सह अद ष्टात्मसंयोगेन तत्र क्रिया भवति। आत्मनो विभुत्वे कदाचित् संयोगः स्यात् कदाचिदपि संयोगो न स्यात्।

नन्वद ष्टवदात्मसंयुक्तानामाकाशादीनां संयोगाद् दहनादीनां क्रिया भविष्यति इत्याशङ्क्याह – **न च संयुक्तसंयोगात्तदुत्पत्तिः, साक्षात्क्रियावद्द्वारकस्य तस्याभावात्** इति। अद ष्टवदात्मसंयुक्ताकाशादिसंयोगात् दहनादौ क्रियोत्पत्तिरिति न वाच्यम्। साक्षात्क्रियावद्द्वारक एव हि संयुक्तसंयोगः क्रियाहेतुर्द ष्टः। यथा प्रयत्नवदात्मसंयुक्तेन साक्षात्क्रियावता शरीरेण द्वारभूतेन संयोगात् शरीरसंबन्धाद् दण्डादौ क्रिया निष्पद्यते। इह तु द्वारभूतानामाकाशादीनां न साक्षात् क्रियावत्त्वमस्ति

इति कथं तद्द्वारिका दहनादीनां क्रिया सिद्ध्यतीति? एतस्यास्वीकारे दोषमाह – **अतथाभूतस्य च तद्धेतुत्वे तिप्रसङ्गात्** इति। प्रयत्नवदात्मसंयुक्तक्रियावत्संयोगस्य क्रियाहेतुत्वे, अन्येषां क्रियारहितानामपि प्रयत्नवदात्मसंयुक्ताकाशादिसंयुक्तानां क्रियासिद्धिप्रसङ्गात्। ताद शाकारस्य तत्र सत्त्वात्। **मिश्रा**स्तु प्रयत्नवदात्मसंयुक्त–शरीरसंयुक्ते आकाशे क्रियोत्पत्तिरिति वदन्ति।

नित्य आत्मा यदि मूर्तः स्यात्, तदा अस्मदादिप्रत्यक्षधर्मानाधारः स्यात्, प थिव्यादिपरमाणुवत्। भवति च आत्मा अस्मदादिप्रत्यक्षीभूतसुखादिधनवान्। अतो नासौ मूर्तः। अतः आत्मा अमूर्तः, निष्क्रियत्वात् आकाशादिवत्। अत्र धर्मपदं गुणपरं, तेन जातिमत्तया न व्यभिचारः। विशेषगुणवान् आत्मा यदि मूर्तः स्यात् तदा आरम्भकः स्यात्, विशेषगुणवन्नित्यम् आरम्भकमेवेति व्याप्तिः। आद्यविशेषणेन मनसः, द्वितीयेन अन्त्यावयविनो व्युदास इति **मिश्राः।** प थिव्यादिपरमाणुवत्। आत्मा अनारम्भकः। अतो न मूर्त आत्मेति बोध्यम्। नित्य आत्मा यदि क्रियावान् स्यात् तदा मूर्तः स्यात्। आत्मा न मूर्तः। अतो न क्रियावान्।

अयं च आत्मनो नादिरर्थो न्यायशास्त्रे विस्तरेणोक्तः। इह संग ह्य कथित इत्याह – **इति शास्त्रार्थसङ्ग्रहः** इति। अस्मिन् ग्रन्थे = अत्र वा संक्षेपेण आत्मनो नादित्वकथनम्। आत्मनो गुणत्ववादिमतं खण्डयितुं स्वमते विभुत्वदाढर्याय आह – **अणुरेवासौ विज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वात् मनोवत्। अणीयांसमणोरपीति बाधविरोधाविति कश्चित्** इति। असौ परलोकगामी चेतन आत्मा अणुरेव, न महान्। विज्ञानस्य असमवायिकारणम् आत्ममनःसंयोगः तदाधारत्वात् मनोवत्, इत्यनुमानेन आत्मनो अणुत्वे सिद्धे आत्मनो विभुत्वकथनम् असङ्गतम्। आत्मा अणुः, विज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वात् मनोवत्। अणोरपि आत्माणीयान् इत्यर्थकस्य "अणीयांसमणोरपीति" वेदाच्च आत्मनो णुत्वमिति कश्चित् वैष्णवाचार्यो वदति। तद् खण्डयितुमाह – **तदयुक्तम्** इति। आत्मा अणुः इति वादिमतं न युक्तम्। अत्र हेतुमाह – **आत्मन्यविभौ मनसो णुत्वासिद्धेः, तत्संयोगक्रमादेव क्रियाक्रमोपपत्तेः** इति। आत्मनि अविभौ = अणुपरिमाणवति मनसः अणुत्वासिद्धेः, आत्मसंयोगक्रमादेव क्रियाक्रमोपपत्तेः। अयम् अर्थः। युगपज्ज्ञानानुत्पत्त्या ज्ञानक्रियाक्रमसिद्ध्यर्थं क्रमेण बाह्येन्द्रियैः संयुज्यमानम् अणुत्वेन मनः कल्प्यते। तत्र यदि आत्मैव अणुः स्यात् तदा तत्संयोगक्रमादेव ज्ञानक्रियाक्रमोपपत्तेः मनसः न अणुत्वं सिद्ध्यति। (ज्ञानानाम् अयौगपद्यम्, इन्द्रियेण सह अण्वात्मसंयोगेनैव उपपत्तेः मनसः अणुत्वं तदर्थं न स्यात्। आत्मनो महत्त्वे तु तत्सिद्ध्यर्थं मनसो णुत्वं आवश्यकम् इति सारः)। अणीयांसमणोरपीति आगमेन आत्मनो विभुत्वे बाधः। आत्मा अणुः, ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वात्, मनोवद्, इत्यनुमानेन आत्मनि विभुत्वस्य प्रतिरोधः इति यदुक्तं वैष्णवाचार्येण; तत्र प्रतिरोधः मनसो णुत्वानुपपत्त्या

परिहृतः। विज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वस्य आत्मनि अणुत्वाभाववति महत्त्ववति व त्तित्वेन व्यभिचरितत्वात् नात्मनि अणुत्वं साधयितुं क्षमः सो हेतुः। हेत्वाभासात्। आगमबाधं परिहर्तुमाह – **आगमस्तु 'महतो पि महीयांसम्' इति प्रथमपादमपहाय उपन्यस्तः। तदलमनेन** इति। "महतो पि महीयांसमणीयांसमणोरपि" इति एवंरूप आगमः। तत्रात्माणुत्वपक्षपातात् प्रथमपादमपहाय त्वया उपन्यस्तः। अणुत्वे पि आगमस्य विद्यमानत्वात्। एवं च आत्मनि महत्त्वमपि तदागमसिद्धमेव। न च एकस्यैव आत्मनो विरुद्धधर्मप्रतिपादक आगमः, अप्रमाणमिति वाच्यम्। आत्मनो व्यापकत्वे आगमस्य तात्पर्येण अप्रामाण्याभावोपपत्तेः। आत्मा सर्वत्र वर्तते, सर्वपदार्थव्यापकत्वात्। सर्वपदार्थव्यापकस्य न कुत्राप्यभावो भवति। अन्यथा सर्वपदार्थव्यापकत्वानुपपत्तेः। यत्र स नास्ति तत्र तस्याभावेन तद्व्यापकत्वात् सर्वपदार्थव्यापकत्वानुपपत्तिः। एवं च यत्र अणुत्वं तत्रापि आत्मा वर्तते, विभुत्वात्। यत्र महत्वं तत्रापि आत्मा वर्तते विभुत्वात्। एवं च आत्मनो विभुत्वसाधकः स आगमः, विभुत्वाभावो यत्त्वया उपन्यस्तः, अतः त्वं छली, अज्ञानी वेति कथयितुं शक्यते मया।

स्यादेतत्, सिद्धो प्ययमीद शो हेय एव। आत्मदर्शी हि तदुपकारिणि रज्यते, तदपकारिणं च द्वेष्टि, रागद्वेषौ च मूलं संसारस्य। यस्तु न तं पश्येत् नासौ तदुपकारापकारिणमपि, ततो न रज्येत, न द्विष्यात्, न संसरेदिति जाङ्गलिकेन (विषविद्यावता) नैर्विष्यवत् मुमुक्षुणापि नैरात्म्यमेव भावनीयमिति चेत्, न। अनात्मदर्शिनो मुमुक्षुत्वव्याघातात्। न ह्यात्मानमप्रतिसन्धाय कश्चिद्दुःखं हातुमिच्छेत् सुंख वावाप्तुम्। मया स्वर्गापवर्गफलभागिना भवितव्यमित्यभिप्रायस्य यावदभियोगमनुव त्तेः। अननुव त्तावभियोगनिव त्तौ फलासिद्धेः। इयं च नैरात्म्यद ष्टिर्नास्तिक्यं द्रढयेत्। तच्च प्रबलविषयत ष्णा-निष्णातमनर्थमनन्तं प्रसुवीत्। न चेदेवं कुतो यावज्जीवेत् सुखं जीवेदित्यादयो पि निःशङ्कमुल्लापाः। यदुक्तमुपकारिणि रज्येत्, अपकारिणं द्विष्यादिति तदेवमेतदिति। यो हि मोक्षमुपकारं मनुते स तद्धेतौ रक्तः तमुपाददानः तत्परपन्थिनं द्वेषादलंप्रत्ययाद्वा परिहरन्नेव समीहितं समासादयेत्, न विपर्ययात्। यस्तु भोगं, सो पि तथा इत्यनुकूलमेव प्रतिकूलत्वेन ग हीतं मन्दैः। अन्यत्रानुरज्येत, अन्यत्रापि द्विष्यादिति तु न द ष्टं गोवैद्यके पीति।

तथापि दुःखहेतुत्वादिन्द्रियादिवदसौ हीयतामिति चेत्? याद शो दुःखहेतुस्ताद श हेय एव, सोपाधिश्च तथा। निरुपाधिरपि हीयतामिति चेत्? न। अशक्यत्वात्, निष्प्रयोजनत्वाच्च। न हि तस्य हानं विनाशो नित्यत्वात्। नापि विप्रयोगो व्यापकत्वात्। नाप्यप्रतिपत्तिः, यथा यथा तदर्थं यत्नः, तथा तथा प्रतिपत्तेः। उपेक्षात इति चेत्? कृतैवैतावन्तं कालमुपेक्षा, तथापि

तद्धानासिद्धेः। निष्प्रयोजनं चैतत्, सोपाधेर्हि त्यागो दुःखहानाय, निरुपाधेस्तु किमर्थम्। पुनः सोपाधित्वशङ्कया इति चेत्, न। बीजाभावादिति। कुतः पुनरुपादेयः? तथा सति भावनाक्रमेण निःश्रेयससिद्धेः। किमस्योपादानं? विवेकः। कुतः? अनात्मनः शरीरादेः।

[आत्मन उपादेयत्वम्]

ननु "महतो पि महीयांसम्" इति श्रुतिरात्मनः स्तुतिपरा, न महत्वसाधिका। स्तुतिवाचकस्य लोके यथार्थत्वादिति शङ्कते – **स्यादेतदिति। नारायण**मतेन **'ताद श'** इति पाठः। **सिद्धो पि अयमीद शो हेय एव। आत्मदर्शी हि तदुपकारिणि रज्यते तदपकारिणं च द्वेष्टि इत्यादि।** अनादित्वादिविशेषणविशिष्टः सिद्धो पि अयं आत्मा चेतनः हेय एव। आत्मदर्शी हि तदुपकारिणि रज्यते = स्नेहं करोति। उपकारिणं हि लोकः स्नेहेन पश्यति। तदपकारिण च लोकः द्वेष्टि। अपकारिणं लोकः क्रूरद ष्ट्या पश्यति। रागद्वेषौ च संसारस्य मूलम्। सति मूले अवश्यं संसारो भविष्यति। यस्तु तम् आत्मानं न पश्येत्, नासौ तदुपकारिणमपकरिण च पश्येत्। ततो न रज्येत, न द्विष्यात्। रागद्वेषयोः संसारकारणयोः अभावात्। स न संसरेत्। तस्य न संसारो भवष्यिति। रागद्वेषयोः संसारकारणयोः अभावात्। न हि कारणाभावे कार्यसत्ता भवति, उत्पादकाभावात्। यथा जाङ्गलिकेन विषवैद्यैन नैर्विष्यभावेन विषचिकित्सा क्रियते इति तच्छास्त्रे प्रसिद्धिः, तथा मुमुक्षुणापि नैरात्म्यमेव भावनीयम् इति चेत्? समाधत्ते – **न। अनात्मदर्शिनो मुमुक्षुत्वव्याघातात्** इति। मुमुक्षुणा नैरात्म्यमेव भावनीयमिति कथनं न युक्तम्, व्याघातात्। अनात्मदर्शी मुमुक्षुरिति परस्परव्याघातवचनम्, मम माता बन्ध्येतिवत्। व्याघातं दर्शयितुमाह – **न ह्यात्मानमप्रतिसन्धाय कश्चिद् दुःखं हातुम् इच्छेत् सुखं वा अवाप्तुम्** इति। दुःखवन्तमात्मानं द ष्ट्वैव दुःखहानेच्छा मुमुक्षोः आत्मदर्शिन एव भवति, न निरात्मदर्शिनः। आत्मानमप्रतिसन्धाय = अज्ञात्वा को पि जनः दुःखं हातुं न हीच्छेत्, न वा सुखम् अवाप्तुम् इच्छेत्। किन्तु आत्मानं ज्ञात्वैव तथा करोति। कुतो नैरात्म्यं भावनीयम्? इति संशयो भवेत्। **मया स्वर्गापवर्गफलभागिना भवितव्यम् इत्यभिप्रायस्य यावदभियोगमनुव त्तेः।** स्वर्गापवर्गयोः फलयोः भागी अहम्। तेन मया भवितव्यमिति अभिप्रायः इच्छा यस्य पुरुषस्य, यावदभियोगम् = सुखावाप्ति–दुःखहानानुकूलव्यापारम् अनुव त्तेः प्रयत्नाभिसंबन्धात्। स्वर्गश्च न दुःखेन मिश्रितं सुखम्, अपवर्गश्च दुःखप्रागभावासमानकालीनदुःखध्वंसः। एतद्विषयकाभिप्रायवान् पुरुषः सुखावाप्ति–दुःखहानानुकूलव्यापाराय यतते व्यापारं करोति। **अननुव त्तावभियोगनिव त्तौ फलासिद्धेः**। ताद शप्रयत्नाभावे अभियोगस्य स्वर्गापवर्गरूपफलयोरसिद्धेः। यत्नाभावात् व्यापाराभावः, तदभावे फलाभावः। न हि यत्नं विना फलानुकूलो व्यापारो द श्यते, न वा व्यापारजन्यं फलम्। व्यापारस्य तज्जनकत्वात्। कि च इयं नैरात्म्यद ष्टिः केवलम् आस्तिक्यानुकूला

न भवति इति न वक्तव्यम्, प्रत्युत नास्तिक्यमेव द्रढयेदित्याह – **इय च नैरात्म्यद ष्टिः नास्तिक्यं द्रढ़येत्। तच्च प्रबलविषयत ष्णापरिप्लुतमनर्थमनन्तं प्रसुवीत** इति। तच्च नास्तिक्यं प्रबला या विषयत ष्णा, तया परिप्लुतमनन्तम् अनर्थं प्रसुवीत। अनन्तानर्थस्य जन्मदमपि नास्तिक्यं भवति। तथा च न केवला आत्महानिरेव अनर्थप्राप्तिरपि भवति नैरात्म्यद ष्ट्या। परलोकभोक्ता ह्यात्मा नास्तीति पश्यत ऐहिकविषयत ष्णया स्वरसप्रव त्तं परलोकं प्रति नास्तिक्यं द ढ़ीक तं स्यादिति।

नास्ति कर्म, नास्ति कर्मफलम् इति निश्चयो नास्तिक्यम्। अनर्थ प्रसाधकत्वाभावेन आस्तिक्यस्य नास्तिकानां विषयत ष्णानिमित्ता "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्" इत्यादयः समूला याः प्रतिषिद्धगोचराः कुतो भवेयुः इत्याह – **न चेदेवं कुतो "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्" इत्यादयो निःशङ्कप्रलापाः?** परलोके कर्मभोक्ता यदि नास्ति तर्हि निषिद्धाचरणं प्रतिबन्धकाभावात् सुलभतया लोकाः करिष्यन्ति, सर्वे च सुखमभिलषन्ति। आचारे च दुःखमनुभूय अनाचारे लोकाः प्रवर्तेरन्। एवमन्ये पि पापजनकाः क्रियाकलापा विज्ञेयाः। नैरात्म्यद ष्टेः नास्तिक्यदाढ्र्यनिमित्तत्वं न चेद् इवा र्थो वर्णनीयः। यदुक्तम् – आत्मदर्शिनो रागद्वेषौ भवत इति, तद् अस्त्येव, तत्तु न दोषाय, तत्तु गुणायैव इत्याह – **यदुक्तमुपकारिणि रज्येत, अपकारिणं द्विष्यादिति, तद् एवमेतत्। यो हि मोक्षमुपकारं मनुते स तद्धेतौ रक्तः तमुपाददानः तत्परिपन्थिनं द्विष्याद् अलंप्रत्ययाद् वा परिहरन्नेव समीहितं समासादयेत्, न तु विपर्ययात्। यस्तु भोगं सो पि तथा इत्यनुकूलमेव प्रतिकूलत्वेन ग हीतं मन्दैः (बौद्धैः)। अन्यत्र अपि अनुरज्येत अन्यदपि द्विष्यादिति तु न द ष्टं गोवैद्यके पीति** इति। युदक्तं विपक्षिभिः बौद्धैः – उपकारिणि रागः, अपकारिणि द्वेषः, रागद्वेषौ संसारस्य हेतू इत्यादि; तद्रागद्वेषौ एवमेव। तत्सत्यमुक्तम्। किन्तु सूक्ष्मद ष्टिर्न दत्ता। यो हि मुमुक्षुः मोक्षमुपकारं मनुते स जनः मोक्षहेतौ रक्तः मोक्षजनकमुपाददानः, द्वेषात् अलंप्रत्ययाद्वा, अयं विरोधो न मम हानिकर इत्याद्यलंप्रत्ययाद् वा मोक्षपरिपन्थिनं परिहरन्नेव समीहितं मोक्षं समासादयेत् प्राप्नुयात्। यः पुरुषः विषयोपभोगम् उपकारं मनुते, सो पि तत्र रक्तः तस्य रागात् संसारो भविष्यति। मोक्षमुपकारं यो मनुते तस्य मोक्षरागात् न संसारः तस्य परिपन्थित्वात्। न हि परिपन्थिरागात् संसारः। मन्दैः विचारशून्यैः बौद्धैरनुकूलमेव मोक्षं प्रतिकूलतया ग हीतम्। विपर्ययमतिः बौद्धः अनुकूलं प्रतिकूलत्वेन जानाति, मन्दबुद्धित्वात्। रागः कः संसारस्य हेतुः को वा न इति न जानाति सः। उपकारानुकूलात् मोक्षे रागात् समीहितमोक्षाद् अन्यत्र विषयभोगादौ बौद्धः अनुरक्तः। संसारमूलयोगाद् अन्यत्र मोक्षे द्वेषं करोति। गोवैद्यः गवे दुःखं दत्त्वा परिणामसुखाय चिकित्सते। तथा परिणामदुःखाभावाय मोक्षे अनुरक्तः मुमुक्षुः।

शङ्कते – **तथापि दुःखहेतुत्वाद् इन्द्रियादिवद् असौ हीयताम् इति चेत्?** इति। परलोकभोक्ता चेतन आत्मा सिद्धे पि असौ आत्मा हेय एव, दुःखहेतुत्वात्। इन्द्रियाणि तद्विषयाः रूपादयः, तज्ज्ञानानि शरीराणि च दुःखकारीणि एव। रूपं

चक्षुषा पश्यन्नेव रूपे रज्यति जनः, एवं रसादिषु आत्मापि इन्द्रियाणि प्रेरयति ततश्च विषयमुपभुङ्क्ते। तत्र रज्यति द्विषं द्वेष्टि। अत इन्द्रियादेः दुःखहेतुत्वात् मुमुक्षुः तान् यथा नाशयति परित्यजति वा, तथा आत्मापि तेन हेय इति चेत्? समाधत्ते – **याद शो दुःखहेतुः ताद शो हेय एव सोपाधिश्च तथा** इति। याद श आत्मा दुःखहेतुः ताद श आत्मा हेय एव। शरीरेन्द्रियाद्युपहित आत्मा दुःखहेतुः हेयः। शङ्कते – **निरुपाधिरपि हीयतामिति चेत्?** इति। शरीरेन्द्रियाद्यनुपहितो पि आत्मा हीयतामिति चेत्? समाधत्ते – **अशक्यत्वान्निष्प्रयोजनत्वाच्च न हि तस्य हानं विनाशो नित्यत्वात्** इति। शरीरेन्द्रियाद्यनुपहितस्य आत्मनः हानं = नाशः न कर्तुं शक्यते। तस्य नित्यत्वात्। प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वं नित्यत्वमिति नित्यात्मनो विनाशासंभवात्। अप्रयोजनत्वात्। प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दो पि न प्रवर्तते इति कथम् आत्मविनाशे मुमुक्षुः प्रवर्तेत? अतो हीयताम् इत्यस्य नाश्यतामिति यद्यभिलषितम् तन्न संभवत्यात्मनः, आत्मनो नित्यत्वात्। तच्च साधितम् बालकस्य स्तन्यपाने प्रथमप्रव त्त्या। हानं विनाश इति मत्वा अशक्यादिना हानमित्यस्य परित्यागो र्थ इति मत्त्वोच्यते – **नापि विप्रयोगो, व्यापकत्वात्** इति। आत्मनो हानं विप्रयोग इति तु न संभवति। आत्मनो व्यापकत्वात्। यः सर्वपदार्थव्यापकः कथं तर्हि तस्य परित्यागः? यः सर्वत्र तिष्ठति तेन सह असंबन्धः संयोगाभावः कथम्? न ह्यवर्जनीयः परित्यज्यते जनैः। आत्मनो हानं तस्य ज्ञानाभावः, आत्मज्ञानं न कर्तव्यमिति आत्मा हीयतामित्यस्य अर्थं मत्त्वोच्यते – **नाप्यप्रतिपत्तिः, यथा यथा तदर्थं यत्नस्तथा तथा प्रतिपत्तेः** इति। आत्मनो ज्ञानाभावः कर्तव्य इति आत्मा हीयतामित्यस्य अर्थः। स च न संभवति। यथा यथा आत्मनो ज्ञानाभावाय यत्नः क्रियते तथा तथा आत्मज्ञानम् आवर्तते। अभावज्ञाने प्रतियोगी ज्ञानस्य कारणत्वात्। शङ्कते – **उपेक्षात इति चेत्?** इति। आत्मा उपेक्षणीयः, दुःखहेतुत्वात् इति चेत्? समाधत्ते – **क तैवैतावन्तं कालमुपेक्षा, तथापि तद्धानासिद्धेः** इति। मुमुक्षुः वदति संसारावस्थायां मया आत्मन उपेक्षा कृता, तथापि आत्मनो हानं न सिद्धम्, यद्यपि आत्महितार्थं प्रवर्तमानेन मया संसारे विषयभोगकाले आत्मन उपेक्षा कृता तथापि आत्महानासिद्धेः। आत्मप्रतिपत्तौ उपेक्षा कृता, आत्मश्रवणादौ यत्नो न कृतः, तथापि आत्महानं न सिद्धमिति **मिश्राः**।

आत्महाने निष्प्रयोजकत्वादिति द्वितीयहेतुम् उपपादयति– **निष्प्रयोजनं चैतत् सोपाधेर्विनाशो दुःखहानाय। निरुपाधेस्तु किमर्थम्?** इति। दुःखनाशाय शरीरेन्द्रियादिविशिष्टस्य सोपाधेः विनाशो स्तु, निरुपाधेः शरीराद्युपाधिरहितस्य आत्मनो विनाशः किमर्थं क्रियते? प्रयोजनाभावात्। प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दो पि न प्रवर्तते इति। शङ्कते – **पुनः सोपाधित्वशङ्कयेति चेत्?** इति। अग्रे उपाधियुक्तो न भवेत्, एतदर्थं निरुपाधिरपि आत्मा नाश्यः, तस्यापि नाशः कर्तव्य इति चेत्? समाधत्ते – **न, बीजाभावादिति** इति। निरुपाधेः आत्मनः (मुक्तात्मनः) शरीरादिसंबन्धकारणं

धर्माधर्मरूपम्, तच्च तत्र नास्तीति कारणाभावात् कथं शरीरादिसंबन्ध आत्मनः स्यात्? अतो न पुनराव त्तिरात्मनो भवष्यिति। मिथ्याज्ञानरूपसंसारबीजस्य तत्त्वज्ञानेन नाशात्। न पुनराव त्तिस्तस्येति वार्थ इति **नारायणभट्टः।**

शङ्कते – **कुतः पुनरयमुपादेयः?** इति। कुतः कस्मात् प्रयोजनात् अयं निरुपाधिः आत्मा उपादेयः? समाधत्ते – **तथा सति भावनाक्रमेण निःश्रेयससिद्धेः** इति। निरुपाधेरात्मनो नित्यत्वेन विभुत्वेन च हानवद् उपादानस्य अशक्यत्वे मननार्थं न्यायानुरागेण मननजातभावनया निदिध्यासनेन तस्य आत्मनः साक्षात्कारान्मोक्षो भवति। अतः स आत्मोपादेय इति मोक्षार्थं तस्य उपादेयत्वात्। मोक्षस्य कारणं प च्छति – **किमस्योपादानम्?** इति। अस्य मोक्षस्य किं कारणम्?। उत्तरयति – **विवेक** इति। भेदज्ञानं मोक्षस्य कारणम्। भेदं प च्छति – **कुतः?** इति। कस्माद् भेदज्ञानान्मोक्षो भवति? उत्तरयति – **आत्मनः शरीरादेः** इति। शरीरेन्द्रियादेः आत्मनः भेदज्ञानं मोक्षं जनयति। अतः तस्मादात्मनो भेदज्ञानाय आत्मोपादेयो भवति।

किं पुनरत्र प्रमाणं? न्यायः, आम्नायश्च। शरीरमेव हि तावन्मूर्धाभिषिक्त-मनात्मानमात्मानं मन्यमान्यस्य। तदुपादाय तदनुकूलत्रैलोक्यविषया त ष्णा विज म्भते। तथा तत्प्रतिकूलविषयो द्वेषः। न चैतत्केवलात्मदर्शिनः सम्भवति, निरुपाधेः पुत्रवित्तलोभाभावात्, तैरनुपकार्य्यत्वात्, छेदक्लेददाहशोषाद्यनुपपत्तेः विधिनिषेधानधिकाराच्च। जन्मजातिवयोवित्तसंस्काराद्युपग्रहेण तत्प्रव त्तेः। ततो नात्मन्यात्मग्रहो निदानं संसारस्य, मिथ्याज्ञानं च तत्त्वज्ञानान्निवर्तते। तच्च श्रवणमननादिक्रमेणोत्पद्यते, कारणनिव त्तौ च कार्यं न जायते। उत्पन्नश्च धर्माधर्मप्रचयो भागेन क्षीयत इति न्यायार्थसारसङ्क्षेपः। आम्नायसारसङ्क्षेप-'स्त्वशरीरं वावसन्त'मित्यादि।

शङ्कते – **किं पुनरत्र प्रमाणम्?** इति। आत्मोपादाने निःश्रेयससिद्धिरित्यत्र किं प्रमाणम्? यद्वा शरीरादेर्भेदेन आत्मा प्रतिपत्तव्य इत्यत्र किं प्रमाणम्? समाधत्ते – **न्याय आम्नायश्च** इति। शरीरादेरात्मनो भेदज्ञानं मोक्षं जनयतीत्यत्र न्यायः वेदश्च प्रमाणम्। शरीरादेः भेदेन आत्मा प्रतिपत्तव्य इत्यत्र न्यायो वेदश्च प्रमाणमिति वार्थः।

न्यायं तावद् दर्शयति – **शरीरमेव हि तावन्मूर्धाभिषिक्तम् अनात्मानम् आत्मानं मन्यमानस्येत्यादि।** सर्वथा आत्मप्रत्यनीक–(विरुद्ध) धर्माश्रयता शरीरमेव मूर्धाभिषिक्तं सर्वप्रधानमनात्मानम् आत्मानं मन्यमानस्य, ग हदाहे पुत्रवित्तादिकं परित्यज्य शरीररक्षायै पलायनं द ष्ट्वा, कृत्वा च शरीरमेवात्मनः सर्वप्रियः गौरो हं श्यामो हमिति प्रतीत्या च शरीरमेवात्मा अहं पदवाच्य इत्यभिमन्यमानस्य पशुप्रायजनस्य शरीरो–

पादाय शरीरानुकूलेषु त्रैलोक्यविषयेषु त ष्णा विज म्भते। महती त ष्णा जायते। तथा शरीरप्रतिकूलेषु विषयेषु द्वेषो जायते। शरीरभिन्नो यम् आत्मेति केवलात्मदर्शिनः शरीरानुकूलेषु विषयेषु त ष्णा, शरीरप्रतिकूलेषु द्वेषश्च न संभवति। आत्मन उदासीनेषु विषयेषु प्रयोजनाभावात्। त ष्णाद्वेषयोश्च अभावः स्वभावाद् भवति। निरुपाधेरात्मनः पुत्रवित्तयोः लाभाभावात्, पुत्रवित्तयोः अभावेन तेषु न त ष्णा जायते। तैः पुत्रवित्तैः अनुपकार्यत्वात्। अनुपकार्यत्वमेव दर्शयति – **छेदक्लेदेति**। आत्मनो नित्यत्वेन तस्य छेदक्लेददाहशोषाद्यनुपपत्तेः। निरुपाधिके आत्मनि छेदादिजन्यदुःखाभाव इति न तद्धेतुकः तेषु द्वेषः। केवलस्य आत्मनः छेदाद्यभावात् न तन्निवर्तकत्वेन तेषामात्मन उपकारकत्वम्। यस्मान्निवर्तते यः तस्य पुरुषस्य निवर्तने तद्वस्तु उपकारकं भवति। तज्ज्ञात्वैव तस्मात् निवर्तते। नापि हितप्रतिषिद्धयोः अनुष्ठानपरित्यागसिद्ध्यर्थं ताद शं वस्तु केवलो निरुपाधिरात्मा अपेक्षते, तस्य विधिषु निषेधेषु च अनधिकारात्। कथं न तत्र अधिकारः तस्य इत्यत आह – **जन्मजातीति**। पुत्रे जाते तत् पिता जातेष्ट्यादौ प्रवर्तते। ब्राह्मणो न सुरां पिबेत् इति निवर्ततो तस्पात् प्रव त्तिनिव त्ती सोपाधिकस्य भवतः। तस्यैव पुत्रः, तस्यैव ब्राह्मणत्वजातिश्च। न केवलस्य आत्मनः, तस्य पुत्राभावात् जात्यभावाच्च। तथा च जन्म–जाति–वयो–वित्त–संस्काराद्युपग्रहेण सोपाधिकस्य आत्मनः विधिषु प्रव त्तिः, निषेधेषु निव त्तिः भवति, न केवलस्य निरुपाधेरात्मनः। तस्य विधिनिषेधेषु अनधिकारात्। पुत्रे जाते जातेष्टिः, ब्रह्मणो न सुरां पिबेत्, क ष्णकेशो ग्नीनादधीत। अष्टवर्षं बालकमुपनयीत, शरीरादिरक्षार्थं धनं ग्राह्यमित्यादिषु जन्मजातिवयोवित्तसंस्काराः प्रयोजकाः द श्यन्ते। ते च जन्मादयः सोपाधिकस्य आत्मनो न निरुपाधिकस्य केवलस्य आत्मनः। तस्य पुत्राद्यभावात्। केवलात्मदर्शिनश्च न विधिः न वा निषेधो स्ति। अतः तस्य विधिषु न प्रव त्तिः, न वा निषेधेषु निव त्तिः। जन्माद्युपग्रहेण विधिनिषेधयोः प्रव त्तेः। अतो नात्मनि शरीरादौ आत्मग्रहः संसारस्य निदानं = कारणम्। आत्मनि अनात्मज्ञानं मिथ्याज्ञानम्। तच्च तत्त्व(यथार्थ)ज्ञानान्निवर्तते। तत्त्वज्ञान च श्रवणमननादिक्रमेणात्पद्यते – 'आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यसितव्यः', इत्यादिभिः। संसारस्य कारणम् अनात्मनि आत्मज्ञानम्। तस्य तत्त्वज्ञानेन निव त्तौ कार्यं धर्माधर्मं च जायते, तयोरभावात् न संसारः। संसारं प्रति तयोः कारणत्वात्। कारणाभावात् कार्याभावस्य लोकप्रसिद्धत्वात्। उत्पन्नश्च धर्माधर्मसमुदायः योगेन क्षीयते। "कर्मणां भोगादेव क्षयः" इति श्रुतेः। इति न्यायानुसारेण आत्मन उपादेयत्वमिमि संक्षेपः। "अशरीरं वाव सन्तम्" इत्याद्याम्नायसारसंक्षेपः इति।

तदप्रामाण्यं प्रप चमिथ्यात्वसिद्धान्तभेदतत्त्वोपदेशपौनःपुन्येषु अन त-व्याघातपुनरुक्तदोषेभ्य इति चेत्, न। सतात्पर्यत्वात्। निष्प्रप च आत्मा ज्ञेयो मुमुक्षुभिरिति हि तात्पर्यं प्रप चमिथ्यात्वश्रुतीनाम्। आत्मन एकस्य

ज्ञानमपवर्गसाधनमित्यद्वैतश्रुतीनाम्। दुरूहो यमिति पौनः पुन्यश्रुतीनाम्। बहिः संकल्पत्यागो निर्मनस्कश्रुतीनाम्। आत्मैवोपादेय इत्यानन्दश्रुतीनाम्। गारुडवदनुष्ठाने तात्पर्यं प्रकृत्यादिश्रुतीनाम्, तन्मूलानां साङ्ख्यादिदर्शनानां चेति नेयम्। अन्यथा

जैमिनिर्यदि वेदज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि वेदज्ञौ व्याख्याभेदस्तु किं कृतः।। इति।

प्रामाण्यं तु तस्य कुत इति चेत्? आप्तोक्तत्वात्। तदसिद्धिमिति चेत्, न। विश्वस्य कर्तुरनुमानसिद्धत्वात्। विवादाध्यासितकर्तृकं सकर्तृकं कार्यत्वादिति।

विशेषविरुद्धो यं हेतुरिति चेत्, न। विरोधिविशेषाप्रतीतौ विरोधस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्। तत्प्रतीतौ वा सहोपलम्भनियमेन विरोधस्य बाधितत्वात्। सर्वथैवाप्रतीतस्याभिप्रायगोचरत्वमपि कथमिति चेत्, न। स्वार्थानुमानसिद्धत्वात्। ततो पि कथं सिध्यत्विति चेत्, अप्रतीतिप्रत्यायकं प्रमाणं, न त्वप्रतीतेन विरोधः शक्यनिश्चय इत्यतो विशेषात्। का पुनरनुमानस्यैवम्भूतप्रत्यायने शक्तिरस्तीति चेत्? आकाङ्क्षानुपपत्तिनियमभेदेन त्रिविधः सम्बन्धः। तत्राकाङ्क्षानियमाभ्यामन्वयी, अनुपपत्तिनियमाभ्यां व्यतिरेकीति विभागः।

[आम्नायप्रामाण्यस्थापनम्]

अत्र पूर्वपक्षी सूत्रेणैव आम्नायस्य अप्रामाण्यम् आशङ्कते – **तदप्रामाण्यं प्रप चमिथ्यात्वसिद्धान्तभेदतत्त्वोपदेशपौनःपुन्येष्वन तव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः इति चेत्?** इति। प्रप चमिथ्यात्वश्रुतीनाम् ("एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति कि चन" इत्यादीनाम्) प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरविरोधाद् अन तवादित्वम्, नानासिद्धान्तप्रतिपादिनीनां श्रुतीनां परस्परव्याघातः ("सदेव सोम्येदमग्र आसीत्", नाहरासीन्न रात्रिरासीद्" इत्यादौ नानासिद्धान्तप्रतिपादनाद् व्याघातः)। एकस्मिन्नेव तत्त्वे पुनः पुनः उपदिश्यमाने पौनरुक्त्यम्। तत्त्वोपदेशः सिद्धान्तभेदोपदेशः, आम्नायोपदेशो वा। त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्, इत्यादौ च यौक्त्यम्, एभिर्हेतुभिः तस्य आम्नायस्य अप्रामाण्यमिति चेत्? समाधत्ते – **न। सतात्पर्यत्वात्।** तासां श्रुतीनाम् अन्यतात्पर्यात्। एतेषां दोषाणामभावात्। तदेवाह – **निष्प्रप च आत्मा ज्ञेयो मुमुक्षुभिरिति तात्पर्यं प्रप चमिथ्यात्वश्रुतीनाम्। आत्मन एकस्यैव ज्ञानम् अपवर्गसाधनमिति अद्वैतश्रुतीनाम्। दुरूहो यमिति पौनःपुन्यश्रुतीनाम्** इति। प्रप चस्य मिथ्यात्वात्, देहादि– प्रप चशून्य एव आत्मा ध्येय इत्यत्र प्रप चस्य मिथ्यात्वश्रुतीनां तात्पर्यम्। न तु मिथ्यात्वस्वरूपे तात्पर्यम्। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति कि चन" इति अद्वैतश्रुतिः प्रप चमिथ्यात्वश्रुतिरपि।

अद्वितीय एव स्वात्मा अपवर्गसाधनतया ज्ञेय इत्यत्र तात्पर्यम् अद्वैतश्रुतीनां, न तु द्वितीयात्मानास्तित्वे तात्पर्यम्। दुरूहत्वाद् आत्मनः पुनराव त्त्या तत्त्वोपदेशपौनः—पुन्यश्रुतिभिः। अतः प्रप चमिथ्यात्वबोधिकायाः श्रुतेः न प्रत्यक्षादिबाध्यत्वेन अप्रामाण्यम्। न वा अद्वैतश्रुतीनामप्रामाण्यम्। अद्वितीयात्मा अपवर्गसाधनत्वेन ज्ञेय इत्यत्र तात्पर्यात्। आत्मा दुरूहः, अतः पुनः पुनरस्य उपदेश इति पौनःपुन्येनोपदेश इति न पुनरुक्तदोषः। निरर्थकः पुनरुक्तः दोषाधायको भवति। न तु सप्रयोजनकः स दोषाधायक इति। अन तव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यो न श्रुतीनामप्रामाण्यम्। तथा च निरस्ता अप्रामाण्या श्रुतिः कथं नात्मनि प्रमाणं भवितुमर्हति? अतः श्रुतिरपि आत्मनि प्रमाणम् ज्ञेयम्।

सिद्धान्तभेदप्रतिभासश्रुतीनाम् "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्", "नाहरासीत् न रात्रिरासीद्" इत्यादीनाम् अन्यपरत्वे तात्पर्यमिति न सिद्धान्तभेदप्रतिपादकत्वात् तासाम् अप्रामाण्यमिति दर्शयितुमाह — **बहिःसंकल्पत्यागो निर्मनस्कश्रुतीनाम्। आत्मैवोपादेय इत्यानन्दश्रुतीनाम्। गारुडवद् अनुष्ठाने तात्पर्यं प्रकृत्यादिश्रुतीनाम्। तन्मूलाना च सांख्यादिदर्शनानां चेति नेयम्** इति। समनस्कस्यैव आत्मनो बहिर्मनस्कत्यागो निर्मनस्कत्वश्रुतीनां तात्पर्यमित्यर्थः। न तु केवलमात्मत्यागे तासां तात्पर्यमिति सिद्धान्तभेदः। आनन्दधर्मकस्यापि आत्मन आनन्दस्वरूपप्रतिपादिनीनां श्रुतीनाम् ("सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादीनाम्), अथवा मोक्षदशायाम् आनन्दस्यापि विशेषगुणस्य उच्छेदात् तत्प्रतिपादिनीनाम् "आनन्द एवात्मा उपादेय" इत्यत्र तात्पर्यम्। **गारुडवदिति**। शरीरादितो भिन्नं स्वकीयं तत्त्वमजानत एव आत्मनः तत्त्वज्ञानार्थं प्रणिधानं विधेयमित्यतः तदर्थं सांख्यमतोपस्थापनम्। तत्रापि च अहम् चेतनो, य एव प्रकृतेर्महतत्त्वस्य वा (बुद्धेः प्रक ति—प्रथमपरिणामरूपायाः) चेतनोपरागप्रतिपादनम्। यथा जाङ्गलिकेन (सर्पवैद्येन) अचेतनस्यैव दष्टस्य कष्टेन चैतन्यमुत्पाद्यते इत्यर्थ इति **मिश्राः।**

कथं प्रकृत्यादिश्रुतीनां साङ्ख्यदर्शनाना च कर्मानुष्ठाने तात्पर्यम् इत्यत्राह — **अन्यथा** -

जैमिनिर्यदि वेदज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
उभौ च यदि वेदज्ञौ व्याख्याभेदस्तु किं कृतः।। इति।

श्रुतीनां तात्पर्यभेदाकल्पने जैमिनिवत् कपिलो पि वेदज्ञ एव। तत्र यथा जैमिनिः कर्मानुष्ठानपरतया वेदं व्याचष्टे, तथा कपिलो वेदं व्याचक्षाणः कर्मानुष्ठानमभिप्रैति इति वक्तव्यम्। न ह्येकस्य वेदस्य तदभिज्ञयोः व्याख्याभेद उपपद्येत इति। केनापि समुचितरूपेण सर्वेषां शास्त्राणां वेदकर्मानुष्ठानतात्पर्यकल्पने तु न को पि विरोधः आपतति। साङ्ख्यशास्त्रस्यापि जैमिनीयमीमांसाशास्त्रस्येव वेदविहितकर्मानुष्ठाने तात्पर्येण उभयोः एकतात्पर्यकत्वेन अविरोधात्।

ननु मा भूद् वेदस्याप्रामाण्यनिश्चयः। प्रामाण्यनिश्चयो पि कुतस्त्य इत्याशङ्कते – **प्रामाण्यं तु तस्य कुत इति चेत्?** इति। वेदस्य कुतः प्रामाण्यं येन आत्मनि प्रमाणं स्यात्। समाधत्ते – **आप्तोक्तत्वात्** इति। वेदस्य आप्तोक्तत्वात् प्रामाण्यमिति। शङ्कते – **तदसिद्धमिति चेत्?** इति। आप्तस्य असिद्ध्या वेदे आप्तोक्तत्वम् असिद्धमिति चेत्? समाधत्ते – **न। विश्वस्य कर्तुः अनुमानसिद्धत्वात्। विवादाध्यासितकत कं हि सकर्त कं कार्यत्वादिति** इति। जगतः कर्ता ईश्वरो अनुमानसिद्धः। तदुक्तत्वात् वेदस्य प्रामाण्यम्। न हि विश्वस्य कर्ता असर्वज्ञः संभवति। उपादानज्ञानं विना उपादेयकार्यस्य कर्तुम् अशक्यत्वेन तज्ज्ञानम् आवश्यकम्। सर्वेषां पदार्थानाम् उपादानं न स्थूलमेव, सूक्ष्मं सूक्ष्मतरमपि भवति। तज्ज्ञानं न अस्मदादीनां संभवति। अस्मदादिज्ञानं प्रति महत्त्वस्य कारणत्वात्। अतो जगतः कर्ता सर्वज्ञः। सर्वज्ञस्य न विशेषदर्शनं संभवति। तथा सति असर्वज्ञत्वापत्तेः। विशेषदर्शनवतो न भ्रमः। एवं प्रति विशेषदर्शनस्य प्रतिबन्धकत्वात्। अतो जगतः कर्तुरीश्वरस्य सर्वज्ञस्य न भ्रमः। मिथ्याज्ञानाभावे तन्मूलरागद्वेषयोः असत्वे न तन्मूलस्य विप्रलम्भाभावात् आप्तोक्तत्वमिति। आप्तस्य यथार्थवक्त त्वम्। यथार्थवक्ता चाप्तः। तदुक्तत्वात् वेदस्य प्रामाण्यम्। "अशरीरं वाव सन्तम्" इति वेद आत्मानं प्रतिपादयति। अत आत्मा स्वीकार्य इति।

जगतः कर्ता को पि अस्ति न वेत्यत्र नैके विप्रतिपद्यन्ते। 'न को पि जगतः कर्ता' इति नास्तिकादयः; 'अस्ति' इति आस्तिकाः। विवादाध्यासितकर्त कं हि जगत् सकर्त कम्, कार्यत्वात्, यद्यत् कार्यं तत्तत् सकर्त कं, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा घटः, इत्यनुमानेन जगतः कर्ता ईश्वरः सिद्ध्यति। शङ्कते – **विशेषविरुद्धो यं हेतुरिति चेत्?** इति। जगतः कर्ता अशरीरी त्वया मन्यते। न च अशरीरी कार्यस्य कर्ता द श्यते इति तव कार्यत्वं हतुः विशेषविरुद्ध इति चेत्? विरोधो हि अशरीरी कर्ता, स च न सिद्धः। सिद्धश्चेन्न विरोधिविशेष इति समाधत्ते – **न। विरोधिविशेषाप्रतीतौ विरोधस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्, तत्प्रतीतौ च सहोपलम्भनियमेन विरोधस्य बाधितत्वात्** इति। प्रकृतहेतुना विरुद्ध्यन्ते विशेषाः। ते प्रतीताः न वा? यदि न प्रतीताः कथं विरोधः प्रत्येतव्यः? प्रतीतस्वरूपयोर्हि द्वयोः मिथो धर्मिपरिहारोपलब्धेर्विरोधो निश्चीयते। अतः प्रतीताः। तर्हि हेतुयुक्ते पक्षधर्मिण्येव तेषां (विशेषाणाम्) प्रतीते हेतुना (कार्यत्वेन) सहोपलब्धानां कुतो विरोधः? विरोधश्च सहानवस्थानरूपः बध्यघातकभावरूपश्चेति द्विविधः। न हि पक्षधर्मव्यतिरेकेण सर्वज्ञपूर्वकत्वादीनां विशेषाणां क्वचित्सिद्धिरिति। विवादाध्यासितकर्त कं सकर्त कम्, कार्यत्वाद्, इत्यत्र कार्यत्वं सर्वज्ञपूर्वकत्वविशिष्टकार्यत्वं त्वया अभिलषितम्। तच्च कार्यत्वं सर्वज्ञपूर्वकत्वविरुद्धम्। घटादिकार्ये कार्यत्वस्य असर्वज्ञपूर्वकत्वविशिष्टकार्यत्वस्य द ष्टत्वात् इति शङ्का। तन्न युक्तम्। स विशेषः प्रतीतो न वा? अप्रतीतश्चेत् न विरोधः। प्रतीतस्वरूपयोर्हि विरोध इति नियमात्।

अथ प्रतीतः, स च हेतुयुक्ते पक्षे एव तर्हि कार्यत्वेन सह सर्वज्ञपूर्वकत्वस्य पक्षे सहोपलम्भान्न तयोः विरोधः। विरोधस्य सहानवस्थाननियमादिति न विशेषविरुद्धो यं हेतुरित्युत्तरम्।

ननु क्षित्यादिकर्तुरलौकिका विशेषा ये भवदभिप्रेताः तेषां सर्वथैव अप्रतीतानां कथं भवदभिप्रायगोचरत्वमपीति शङ्कते – **सर्वथैवाप्रतीतस्य अभिप्रायगोचरत्वमपि कथमिति चेत्?** इति। यः सर्वथा अप्रतीतः स न अभिप्रायविषय इति सर्वथा प्रतीतश्च तव क्षित्यादिकर्तेति कथं त्वदभिप्रेतः? एव च अनभिप्रेतसिद्धये न न्यायप्रयोगः संभवति। तथा च विवादाध्यासितकर्त कं सकर्त कं, कार्यत्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा घटः, इति न्यायप्रयोगः तव अयुक्तः इति चेत्? समाधत्ते – **न। स्वार्थानुमान-सिद्धत्वात्** इति। क्षित्यादिकर्तुः ये सर्वज्ञत्वादयो विशेषाः ते पक्षधर्मताबलेन स्वार्थानुमाने भासन्ते। क्षित्यङ्कुरादिकम् अस्मदादिभिः न कर्तुं शक्यते इति सर्वज्ञेतरकर्त कत्वबाधज्ञाने सति क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्त कं कार्यत्वाद् घटवद्, विवादाध्यासितकर्त कं सकर्त कं, कार्यत्वाद् घटवद् इत्यत्र च इतरबाधसहकृतपक्षधर्मताबलात् सर्वज्ञस्य स्वार्थानुमाने भाने सति सो विशेषः परार्थानुमाने प्रयुज्यते इति पूर्वोक्तदोषस्य अनवकाशात्। तथा च स्वार्थानुमानमेव प्रथमं प्रतीतम्। ततश्च विशेषमभिप्रेत्य परार्थानुमानेन परं प्रति प्रतिपादनं क्रियते इति। तथा च पक्षधर्मताबलेन स्वार्थानुमाने तद्भानमावश्यकम्। किं तत् स्वार्थानुमानमिति चेत्? श णुष्व, प्रतीतसमारूढमिदमेव कार्यत्वं स्वार्थानुमानं भवति। इदमेव प चावयववाक्यारूढं परार्थानुमानमिति व्यवह्रियते इति बोधव्यमिति। स्वार्थानुमानेनापि अप्रतीतं कथं सिद्ध्यत्विति शङ्कते – **ततो पि कथं सिद्ध्यत्विति चेत्?** इति। स्वार्थानुमानेनापि अप्रतीतं कथं सिद्ध्यतु इति चेत्? समाधत्ते – **अप्रतीतप्रत्यायकं प्रमाणं, न त्वप्रतीतेन विरोधः शक्यनिश्चय इत्यतो विशेषात्** इति। प्रमाणमहिम्ना अप्रतीतपदार्थस्योपस्थितेः। ननु एवमपि विरोधो पि तेनैव प्रमाणेन निरूप्यतामिति चेत्? न। अप्रतीतेन सह अभिप्रायविषयस्य सहोपलम्भेन अविरोधात्। प्रकृतेन अप्रतीतेन सह अभिप्रायविषयस्य सहोपलम्भेन विरोधाभावात्। शङ्कते – **का पुनरत्र अनुमानस्य एवंभूतप्रत्यायने शक्तिः अस्तीति चेत्?** इति। अनुमानरूप– प्रमाणस्य अप्रतीतपदार्थभासिका शक्तिरस्तीति यया शक्त्या अनुमानेन अप्रतीतपदार्थस्य भानं भवतीति चेत्? समाधत्ते – **आकाङ्क्षानुपपत्तिनियमभेदेन त्रिविधः संबन्धः। तत्राकाङ्क्षानियमाभ्याम् अन्वयी, अनुपपत्तिनियमाभ्यां व्यतिरेकीति विभागः** इति। आकाङ्क्षानुपपत्तिनियमभेदेन त्रिविधः संबन्धः (व्याप्तिः)। एको न्वयसहचारमात्रग्राह्यः, अपरो न्वयव्यतिरेकसहचारग्राह्यः, अन्यश्च व्यतिरेकसहचारमात्रग्राह्यः। यथा वाच्यं प्रमेयत्वाद् इत्यत्र अन्वयमात्रग्राह्यः संबन्धः (व्याप्तिः), साध्याभावस्य असत्त्वात्। वह्निमान् धूमाद् इत्यत्र अन्वयव्यतिरेकसहचारग्राह्यः संबन्धः। यत्र यत्र धूमः तत्र तत्राग्निः, यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमो पि नास्तीति अन्वयव्यतिरेकसहचारयोः सत्त्वात्। प थवी इतरेभ्यो भिद्यते प थिवीत्वाद् इत्यत्र (गन्धवत्त्वाद्वा इत्यत्र) प थिवीमात्रस्य

पक्षत्वेन अन्वयसहचाराभावेन व्यतिरेकसहचारमात्रग्राह्यः संबन्धः। तत्र आकाङ्क्षा– प्रतीत्यपर्यवसानम्, अनुपपत्तिश्च प्रतीतापर्यवसानम्। अनयोः अन्यतरस्य अनुमितौ नियम एव इत्यर्थः। क्वचित्तु द्विविधः संबन्ध इति पाठः। स तु सुगमः। इममेव पाठं विशदयति मूले तत्रेति **मिश्राः।**

लिङ्ग(हेतु)सामान्यस्य लिङ्गि(साध्य)सामान्येन नियमात् तन्मात्रे प्रथमं प्रतिपन्ने पक्षविशेषस्य स्वानुकूललिङ्गिविशेषापेक्षया तस्य अद ष्टपूर्वकस्यापि प्रतीतिः अन्वयिना, यथा वेदस्य वाक्यत्वेन पौरुषेयत्वमात्रे प्रमिते तस्य अलौकिकार्थस्य तदभिज्ञसर्वज्ञप्रणीतत्वसिद्धिः। अलौकिकार्थवेदस्य रचना अस्माभिः कर्तुं न शक्यते। अलौकिकस्य इन्द्राद्यर्थस्य अस्माभिः असर्वज्ञैः अद ष्टत्वादिति इतरबाधस्य (सर्वज्ञेतरबाधस्य) सत्त्वेन सर्वज्ञकर्त कत्वं तत्र सिद्ध्यति। व्यतिरेकिणा तु (हेतुना) विपक्षव्याव त्ततया द ष्टेन तदभावनियतेन तत एव विपक्षे अनुपपन्नेन अद ष्टस्यापि विपक्षविरोधिनः साध्यस्य सिद्धिः। यथा वेदस्य वेदत्वेन हेतुना असर्वज्ञ– प्रणीतेभ्यो व्याव त्तेन तत्त्वे अनुपपत्त्या तद्–(असर्वज्ञप्रणीतत्व)–विरोधिनः सर्वज्ञप्रणीतत्वसिद्धिरिति। (वेदः पौरुषेयः, वाक्यकदम्बत्वात् भारतादिवत्, इत्यनुमानेन वेदस्य पौरुषेयत्वं सिद्ध्यति।) वेदो न अस्मत्कर्त कः, अलौकिकार्थप्रतिपादकवाक्यघटितत्वात्, इतीतरबाधसहकारेण सर्वज्ञकर्त कत्वं तत्र सिद्ध्यति। इन्द्रादिरलौकिकार्थः, तत्प्रतिपादकं वाक्यम् "इन्द्रो मायाभिः" इत्यादिवाक्यं, तद्घटितत्वं वेदस्य। "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिवाक्य– घटितत्वमपि बोध्यम्। अत्रानुमाने प्रथमं पौरुषेयत्वहेतुना सिद्ध्यति, अस्मदादि– कर्त कत्वबाधेन सर्वज्ञकर्त कत्वमभिलषितं साध्यं सिद्ध्यति। अन्वयिना हेतुना एतत् सिद्ध्यति। वेदः पौरुषेयः वेदत्वात्, इत्यत्र व्यतिरेकिणा वेदत्वाभाववति भारतादौ व्याव त्तेन वेदत्वेन असर्वज्ञप्रणीतेभ्यो व्याव त्तेन असर्वज्ञप्रणीतत्वविरोधि सर्वज्ञप्रणीतत्वं साधयति। वस्तुतस्तु इतरभेदसहाकरेण हेतुना अभिलषितं साध्यं साधयति। वेदे अलौकिकार्थप्रतिपादकस्य सत्त्वेन अस्मदादिकर्त कत्वाभावस्य निश्चये सर्वज्ञकर्त कत्वस्य साध्यस्य अभिलषितस्य वाक्यत्वहेतुना सिद्धिरिति। तथा च अनुमानेनैव वेदस्य सर्वज्ञकर्त कत्वेन प्रामाण्यम्। तस्य पुरुषस्य सर्वज्ञस्य भ्रमप्रमादादेः अभावेन अप्रतारकत्वाद्यभावेन यथार्थवक्त त्वरूपाप्तत्वात्।

अस्तु तर्हि सत्प्रतिपक्षत्वं शरीराजन्यत्वादिति चेत्। न। असमर्थ-विशेषणत्वेनासिद्धभेदस्यातुल्यबलत्वात्। असिद्धिपरिहारे विशेषणं समर्थमिति चेत्, न। एकामसिद्धिं परिहरतो द्वितीयापत्तेः। अन्यथा विवादाध्यासितं नाद ष्टहेतुकं शरीराजन्यत्वादित्यनेनापि जन्यत्वस्य सत्प्रतिपक्षप्रसङ्गादिति।

तर्हि तर्क्कापरिशुद्धिरस्तु दूषणम्। शरीरनिव त्तौ बुद्धिनिव त्तेः, बुद्धिनित्यत्वे शरीरानुपयोगवत्। प्रयत्ननित्यतायां ज्ञानेच्छानुपयोगादिति चेत्, न। प्रयत्नस्य

द्विधर्मकत्वात्। स हि ज्ञानकार्यो ज्ञानैकविषयश्च कर्तृत्वम्। तत्र कार्यत्वमिव त्तौ कारणतया ज्ञानं मा पेक्षिष्ट, विषयार्थं तु तदपेक्षा केन वार्यते? न चास्य स्वरूपेणैव विषयप्रवणत्वं ज्ञानत्वप्रसङ्गात्। अयमेव हि ज्ञानात् प्रयत्नस्य भेदः, यदयमर्थाप्रवण इति। न च निर्विषय एवास्त्विति वाच्यम्, अकारणत्वप्रसङ्गात्। तथा च सो प्येकः, कथं सिद्ध्येत्? मा सैत्सीदिति चेत्, न। तत्र साधनस्य निर्दोषत्वात्। दोषे वा स एव बाधः। सर्वविषयत्वात्तस्य किं विषयनियमार्थेन ज्ञानेनेति चेत्, न। तस्य स्वरूपेणार्थप्रवणत्वाभावात्। भावे वा ज्ञानत्वप्रसङ्गादित्युक्तम्। जीवनयोनिप्रयत्नवद्विषयव्यवस्था भविष्यतीति चेत्, न। जात्यन्तरत्वात्। एकजातीयत्वे तस्या पीच्छापूर्वकत्वप्रसङ्गात्। इच्छाया वा तत्कारणत्वं न स्यात्, तामन्तरेणापि तज्जातीयस्योत्पत्तेः। तस्मात् कृतिजातीयस्य ज्ञानेच्छाभ्यामेव सविषयव्यवस्था। स च साधयितुमिष्ट इति।

[ईश्वरसाधकानुमानदोषोद्धारः]

ननु मा भूद् विशेषविरुद्धत्वं हेतोः, अस्तु सत्प्रतिपक्षत्वमिति शङ्कते – **अस्तु तर्हि सत्प्रतिपक्षत्वं शरीराजन्यत्वादिति चेत्?** इति। वेदः सर्वज्ञकर्तृकः, असर्वज्ञास्मदादिकर्तृकत्वाभावे सति अलौकिकार्थप्रतिपादकवाक्यसमूहत्वात्। वेदो न सर्वज्ञकर्तृकः, शरीराजन्यत्वादिति सत्प्रतिपक्ष इति चेत्? अथवा विवादपदं (वेद–रूपस्थानम्) अकर्तृकं, शरीराजन्यत्वाद् व्योमवद्, इत्यनेन सत्प्रतिपक्षत्वम्। समाधत्ते – **न। असमर्थविशेषणत्वेनासिद्धभेदस्यातुल्यबलत्वात्** इति। केवल–स्याजन्यत्वस्य अकर्तृकत्वसाधकत्वसंभवे शरीरेति विशेषणस्य निष्प्रयोजनकत्वे–नासमर्थत्वम् इति तुल्यबलत्वाभावात् नासत्प्रतिपक्षत्वम्। ननु केवलाजन्यत्वस्य जन्ये वेदे असत्त्वेन स्वरूपासिद्धिः, अतः शरीरेति विशेषणम् अजन्यत्वे आवश्यकम् इति व्यर्थविशेषणत्वाभावेन समबलत्वमिति सत्प्रतिपक्षत्वमुपपद्यते इति शङ्कते – **असिद्धिपरिहारेण विशेषणं समर्थमिति चेत्?** इति। स्वरूपासिद्धिवारणाय शरीराजन्यत्वाद् इत्यत्र शरीरपदस्य सार्थक्यमिति चेत्? समाधत्ते – **न। एकामसिद्धिं परिहरतो द्वितीयापत्तेः** इति। स्वरूपासिद्धेः परिहरतो विशेषस्य व्याप्यत्वासिद्ध्या हेतोः असामर्थ्यस्य तादवस्थ्यात्। 'पर्वतो वह्निमान् नीलधूमाद्' इत्यत्र नीलधूमस्येव अत्रापि शरीराजन्यत्वस्य व्याप्यत्वासिद्ध्या असामर्थ्यम्। प्रकृतसाध्यविषय–कानुमित्यजनकत्वरूपं हेतावस्त्येव। **अन्यथा विवादाध्यासितं नादृष्टहेतुकं शरीराजन्यत्वाद् इत्यनेनापि जन्यत्वस्य सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्गात्** इति। **अन्यथेति** हेतुविशेषणस्य विपक्षव्यवच्छेदकत्वमितरेण स्वरूपासिद्धिमात्रेणैव सामर्थ्यं चेत्? **नादृष्टेति**। मीमांसकैश्चापि विवादाध्यासितस्य अदृष्टहेतुकत्वं कर्मभिस्सर्वजीवानां तत्त्वसिद्धेः, सिद्धसाधनमिति वदद्भिरिष्यत एव इत्यभिप्रायः। इदं च तेषां साधनम् –

विवादास्पदम् अद ष्टहेतुकम्, जन्यत्वात्, सम्प्रतिपन्नवदिति। (वादिप्रतिवाद्युभयसिद्धं सम्प्रतिपन्नम्)।

ननु वेदः प्रमाणम्, आप्तोक्तत्वाद्, इत्यत्र आप्तोक्तत्वसिद्धये विवादाध्यासित– कर्त कं जगत् सकर्त कं, कार्यत्वाद् इत्यत्र कार्यत्वहेतौ विशेषविरुद्धस्य सत्प्रतिपक्षत्वस्य च दूषणस्य असत्त्वे पि प्रतिकूलतर्कोपहतेः दूषणस्य दुर्वारत्वमिति शङ्कते – **तर्हि तर्कापरिशुद्धिरस्तु, शरीरनिव त्तौ बुद्धिनिव त्तेः। बुद्धिनित्यत्वे शरीरानुपयोगाद्वा प्रयत्ननित्यतायां ज्ञानेच्छानुपयोगादिति चेत्?** इति। वेदः सकर्त कः, वाक्यकदम्बत्वात्, भारतादिवद् इत्यनुमानेन वेदस्य सकर्त कत्वे सिद्धे, वेदो न अस्मदाद्यल्पज्ञकर्त कः, इन्द्राद्यलौकिकपदार्थप्रतिपादकत्वाद् इत्यस्मदादिकर्त कत्वस्य बाधे सति वेदस्य सर्वज्ञकर्त कत्वं सिद्ध्यति। यः सर्वज्ञः स न विशेषदर्शनवान्। अन्यथा सर्वज्ञत्व– भङ्गापत्तेः। यो विशेषदर्शनवान् स न मिथ्याज्ञानवान् प्रमादी च। तत्प्रतिबन्धक– विशेषदर्शनस्य तत्र सत्त्वात्। यो न मिथ्याज्ञानवान् स न रागी द्वेषी च, तयोः मिथ्याज्ञानमूलत्वात्। यो रागद्वेषयोः अभाववान् स न प्रतारकः। एताद शश्चेश्वरः। स यथार्थवक्ता। तदुक्तश्च वेदः प्रमाणम्। तथा च जगत्कर्त त्वेन ईश्वरसिद्धिः। अस्मदा– द्यल्पज्ञकर्त कत्वाभावरूपबाधसहकारेण वेदः सकर्त कः, वाक्यकदम्बकत्वाद् इत्यनुमानेन, अन्वयिना व्यतिरेकिणा च हेतुना सर्वज्ञेश्वरकर्त कत्वं तत्र सिद्ध्यति। सर्वज्ञत्वेनास्मद्व्याव त्त्या च तस्य सर्वज्ञस्यैव ईश्वरत्वात्। तथा च वेदः प्रमाणम्, आप्तोक्तत्वाद् इत्यनुमानेन तस्य प्रामाण्यं सिद्धम्।

यद् यत्कार्यं तत्तद्बुद्धिमत्कर्त कं, कार्यत्वाद् घटवद् इत्यनेन वेदस्य बुद्धिमत्कर्त कत्वमायाति। यो बुद्धिमान् स सशरीरको द श्यते। ईश्वरश्चाशरीरी त्वया मन्यते। तथा च तस्य शरीराभावेन अबुद्धिमत्त्वेन कथं वेदकर्त कत्वं तस्य सेत्स्यति, कार्यस्य बुद्धिमत्कर्त कत्वनियमात्। तदुक्तं मूले शरीरनिव त्तौ बुद्धिनिव त्तेः इति। तथा च बुद्धेः शरीरहेतुकत्वात्, शरीरनिव त्तौ बुद्धिरपि निवर्त्तते ईश्वरे। यदीश्वरबुद्धिः नित्या न ह्यत्र शरीरस्य उपयोगः। शरीरस्य जन्यबुद्धिं प्रत्युपयोगात्। तर्हि तव ईश्वरप्रयत्नस्यापि, तदर्थं ज्ञानेच्छयोरपि ईश्वरे स्वीकार्यत्वेन वेदरूपकार्यस्य बुद्धिपूर्वकत्वाभावापत्त्या सर्वज्ञेश्वरकर्त कत्वाभावः सिद्ध्यति। तथा च वेदस्य प्रामाण्यम् आप्तोक्तत्वहेतुना न सिद्धमिति चेत्? नित्यावपीच्छाप्रयत्नौ विषयलाभार्थम् ज्ञानम् अपेक्षेते इति परिहरति – **न। प्रयत्नस्य द्विधर्मकत्वात्। स** (प्रयत्नः) **हि ज्ञानकार्यो, ज्ञानैकविषयश्च कर्त त्वम्** (कृतिः)**। तत्र** (प्रयत्ने) **कार्यत्वनिव त्तौ कारणतया ज्ञानं मापेक्षिष्ट। विषयार्थन्तु तदपेक्षा केन वार्यते?** इति। ईश्वरप्रयत्नस्य त्वन्मते नित्यत्वेन ज्ञानापेक्षितत्वात् नेश्वेर ज्ञानमिति बुद्ध्यैव कर्तुः कर्त त्वेन नेश्वरे वेदकर्तेति त्वत्कथनं न युक्तम्। प्रयत्नो हि द्विधर्मको भवति। ज्ञानकार्यः ज्ञानस्य यो विषयः तन्मात्रविषयकश्च। तत्र ईश्वरप्रयत्नो न कार्य इति तत्र कार्यत्वस्य निव त्तौ सकारणत्वेन ज्ञानं न

अपेक्षते। विषयार्थं च तस्य ज्ञानापेक्षा वर्तते एव इति ईश्वरे ज्ञानस्य सिद्धौ बुद्धिपूर्वकत्वविशिष्टकार्यत्वस्य इष्टत्वसिद्धेः।

ननु प्रयत्नः स्वयमेव विषयग्राहीति स ज्ञानं नापेक्षते इत्यह आह – **न च तस्य स्वरूपेण विषयप्रवणत्वम्, ज्ञानत्वप्रसङ्गात्** इति। प्रयत्नस्य स्वरूपेण = प्रयत्नत्वेन न विषयप्रवणत्वम् = अन्यानधीनविषयग्राहकत्वम्, अन्यानधीनविषयित्वं वा। केचित्तु विषयप्रवणत्वम् = विषयनिरूपणाधीननिरूपणत्वमिति वदन्ति। अन्यथा तस्य ज्ञानत्वप्रसङ्गात्। ज्ञानमात्रस्यैव विषयप्रवणत्वात्। तथा च प्रयत्नो न निर्विषयकः, विषयस्य तत्र भानात्। नापि साक्षात्सविषयः, ज्ञानत्वप्रसङ्गात्। यदि प्रयत्नः स्वरूपेणैव विषयप्रवणः स्यात् तर्हि ज्ञानं स्यात्। भवति च ज्ञानाद्भिन्नः प्रयत्नः। अतो न स स्वरूपेणैव विषयप्रवणः। तदेव दर्शयति – **अयमेव हि ज्ञानात्प्रयत्नस्य भेदो यदयमर्थाप्रवण** इति। अर्थाप्रवणः = स्वरूपसंबन्धेन न निरूपणाधीननिरूपणः (स्वरूपेण साक्षाद् विषयाग्राहकत्वम्, ज्ञानद्वारैव विषयग्राहकत्वं वा)। ज्ञानाद् भेदो प्रयत्ने अस्ति।

शङ्कते – **न च निर्विषय एवास्त्विति वाच्यम्** इति। प्रयत्नो निर्विषय एवेति न वाच्यम्। हेतुमाह – **अकारणत्वप्रसङ्गात्।** प्रव त्तिं प्रति यत्नस्य अकारणत्वापत्तेः। तं विषयं ज्ञात्वा इच्छति, ततो यतते, ततः तत्र विषये प्रवर्तते। जानाति, इच्छति, यतते, प्रवर्तते इति नियमः। यदि यत्नो निर्विषयः स्यात्, तर्हि कारणं न स्यात्। अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारात्। यद्विषयकयत्नो स्ति तदन्य–विषये प्रव त्तेः। तदन्यविषयकयत्नाभावे तद्विषये प्रव त्तेश्च। यत्नस्य सविषयकत्वे तु नोक्तदोषः। यद्विषयकं ज्ञानं तद्विषयको यत्नः, तद्विषयकप्रव त्तिं प्रति कारणम् इति नोक्तव्यभिचार इति यत्नस्य कारणत्वं सिद्धम्। कारक(कारण)विषयस्य प्रयत्नस्य प्रवर्तकत्वेन कार्यहेतुत्वं यत्नस्य। हेतुता च कारणविषयकत्वयत्नत्वेन। न तु केवलयत्नत्वेन, स्वरूपेण वा, पूर्वोक्तव्यभिचारयोः सत्त्वात्। अतो यत्नस्य निर्विषयकत्वाभावो बोध्यः।

तथा च सो प्येकः कथं सिद्ध्येत्? इति। प्रयत्नपूर्वकत्वमात्रमपि (जगति) कार्यत्वेन हेतुना कथं सिद्ध्येत् (यदि प्रयत्नो निर्विषयः स्यात्)? केचित्तु जगत् प्रयत्नपूर्वकं, कार्यत्वाद् इत्यत्र कथमीश्वरस्य प्रयत्नः एकः सिद्ध्येत्? तव मते ईश्वरप्रयत्नस्यैकत्वादिति। सो प्येक इति द ष्ट्वा वदन्ति। **मा सैत्सीदिति** विपक्षीकृतशङ्काया – "न तत्र साधनस्य निर्दोषत्वाद्" इत्यादिसमाधानं तन्मतं चिन्त्यम्। बौद्धः शङ्कते – **मा सैत्सीदिति चेत्?** इति। कार्यत्वहेतुना जगतः एकप्रयत्नपूर्वकत्वं न सिद्ध्यतामिति चेत्? समाधत्ते – **तत्र साधनस्य निर्दोषत्वात्। दोषे वा स एव वाच्य**[६] इति। क्षित्यङ्कुरादिजगत् प्रयत्नपूर्वकं, कार्यत्वात्, यद्यत्कार्यं तत्तत्प्रयत्नपूर्वकं, यथा घट इत्यत्र साधनस्य कार्यत्वस्य निर्दोषत्वेन साध्यसाधकत्वाक्षतेः।

यदि कार्यत्वहेतौ दोषो स्ति तदा स एव दोषो वाच्यः। तथाच प्रयत्नपूर्वकत्वमात्रसाधने साधनस्य कार्यत्वस्य निर्दोषत्वात् तावन्मात्रसाधने तर्कापरिशुद्धेरप्यभावात्। कार्यत्वेन कृतिमज्जन्यत्वे साध्ये दोषाभावात् इति **कल्पलता।**

शङ्कते – **जीवनयोनि**[११]**प्रयत्नवद्विषयव्यवस्था भविष्यतीति चेत्?** इति। जीवनयोनियत्नसुषुप्त्यवस्थायां ज्ञानाभावे पि अनुवर्तमानः सविषयकः तत्र विषयनियामकज्ञानाभावे पि यथा तस्य विषयनियमः, तथा जगत्कर्तरि ज्ञानाभावे पि तद्यत्नस्य स्वविषयनियमो भविष्यतीति चेत्? (जीवनयोनियत्नस्य ज्ञानमन्तरेण यथा श्वासादिविषयत्वं तथा अत्रापि स्याद् इत्यर्थ इति **मिश्राः**)। समाधत्ते – **न। तस्य जात्यन्तरत्वात्** इति। जीवनयोनियत्नस्य जात्यन्तरत्वात् = कृतिजातीयत्वा– भावात्, विजातीयत्वात्। न हि विजातीयद ष्टान्तमादाय कृतिजातीये ज्ञानपूर्वकत्वाभावः सेत्स्यति। अतः तव कथनं न युक्तम्। जीवनयोनियत्नस्य कृतिविजातीयत्वे हेतुमाह – **एकजातीयत्वे तस्यापि इच्छापूर्वकत्वप्रसङ्गात्, इच्छाया वा कारणत्वं न स्यात्। तामन्तरेणापि तज्जातीयस्योत्पत्तेः** इति। जीवनयोनियत्नस्य यदि कृतिजातीयत्वं स्वीक्रियते, तदा तस्यापि कृतेरिव इच्छापूर्वकत्वापत्तेः। फलेच्छायाः कृतिं प्रति कारणत्वात्। एव च इच्छायाः सुषुप्तिकाले भावेन जीवनयोनियत्नस्यापि तदानीमभावापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। तदभावे मरणापत्तेः। कि च जीवनयोनियत्नस्य कृतिजातीयत्वे तस्य इच्छां विनापि उत्पत्त्या व्यतिरेकव्यभिचारात् क तिं प्रति तस्याः अकारणत्वापत्तेरित्युभयतः पाशा रज्जुरिति बोध्यम्। उपसंहरति – **तस्मात् कृतिजातीयस्य ज्ञानेच्छाभ्यामेव विषयव्यवस्था। स च साधयितुमिष्ट** इति। अतः क तिरूपस्य यत्नस्य स्वरूपेण न विषयित्वं किन्तु ज्ञानेच्छाभ्यामेव स्वविषयकत्वं तत्र व्यवस्थाप्यते। इच्छाया कृतेः, इच्छायाश्च ज्ञानेन विषयनियम इति भावः इति।

तार्किकगर्ववाहस्त्वाहननु सपक्षविपक्षयोर्दर्शनादर्शनमात्रस्य शतशः प्रव त्तावपि व्यभिचारोपलम्भात्। तल्लक्षणस्यानुपलब्धव्यभिचारस्यापि तथाभाव-संभावनाक्रान्तत्वात् लक्षणान्तरं प्रतिबन्धस्य वक्तुमुचितम्। तच्चोपाधिविरहो वा स्यात्, तदुत्पत्तिर्वा, विपक्षे बाधकं वेति संक्षेपः। तत्र न प्रथमः, अद श्योपाध्यभावनिश्चयोपायाभावात्। द श्येनैवोपाधिना भवितव्यमिति च नियमानुपपत्तेः। नापि द्वितीयः, सा ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चीयते। तौ च द श्यशरीरवच्चेतननिष्ठौ वा स्याताम्, उपाधिविधुरद श्याद श्यसाधारणचेत-नमात्रनिष्ठौ वा। न प्रथमः, विटपादौ व्यभिचारात्, प्रकृतासिद्धेश्च। न द्वितीयः, घटादिकार्यव्यतिरेकसमये तत्प्रयोजककुलालव्यतिरेकवद् द श्यचेतन-मात्रव्यतिरेकस्य निश्चेतुमशक्यत्वात्। न हि कुलालादिद श्यव्यतिरेकस्यावश्यं व्यतिरेको विटपादावपि तथाभावप्रसङ्गात्। तर्हि सन्तानान्तरानुमानमपि कथम्,

कुम्भकारव्यतिरेके द श्याद श्यचिन्मात्रे व्यतिरेकासिद्धिवत् स्वचित्तव्यतिरेके पि कम्पं प्रति चिन्मात्रव्यतिरेकासिद्धेरिति चेत्, न। वादान्तरत्वात्। यदापि तत्प्रस्तावः तदापि स्वदेहे स्वपरसन्तानसाधारणचिन्मात्राविनिर्भागव त्तिद श्य-देहमात्रस्यैव प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां कम्पं प्रति कारणत्वप्रतीतेः। परचित्तस्यापि कारणत्वं प्रतीयत इति। नापि त तीयः विपक्षे बाधकाभावात्। देशकालनियमादीनां स्वकारणायातसन्निधिना कादाचित्केन प्रतिनियतशक्तिना कारणेनाचेतनेनाप्यु-पपत्तेरिति।

[सकर्त कत्वव्याप्तावाक्षेपः]

तार्किकगर्ववाहस्तु (बौद्धस्तु) **आह - ननु सपक्षविपक्षयोः दर्शना-दर्शनमात्रस्येत्यादि**। नैयायिकम्मन्यो बौद्ध आह – ननु साध्यहेतोः सपक्षे निश्चितसाध्यवति सहचारमात्रस्य, विपक्षे निश्चितसाध्याभाववति सहचारादर्शनमात्रस्य च शतशः दर्शने पि पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वादौ व्यभिचारोपलब्धेः, अव्यभिचारित्वस्य (व्याप्तिलक्षणस्य) अविनाभावस्य अनुपलब्धव्यभिचारस्य सव्यभिचारत्व–संभावनाक्रान्तत्वात् लक्षणान्तरं प्रतिबन्धस्य (व्याप्तेः) अविनाभावस्य वक्तुमुचितम्। तच्च लक्षणान्तरम् अनौपाधिकसंबन्धो वा स्यात्, तदुत्पत्तिर्वा, विपक्षबाधकं वेति संक्षेपः। सम्बन्धान्तरप्रतिबन्धस्य खण्डयितुमाह – **तत्र न प्रथमः। अद श्योपाध्यभाव-निश्चयो पायाभावादिति**[११] **।** प्रतिबन्धस्य व्याप्तेः उपाधिविरहः = अनौपाधिकसम्बन्धः इति लक्षणान्तरं न युक्तम्। अद श्योपाध्यभावनिश्चयस्य उपायाभावेन उपाधिविरहस्य अनौपाधिकसम्बन्धस्य प्रतिबन्धलक्षणान्तरस्य कथयितुमशक्यत्वात्।

ननु अद श्योपाधिमत्त्वमेव नास्ति, किन्तु द श्यस्यैव उपाधिमत्त्वदर्शनात् (अद श्यस्य नोपाधित्वं द श्यस्यैव उपाधित्वात्) इति चेद्? अत्राह – **द श्येनैवेति।** द श्यमेव उपाधिर्भवति इति नियमाभावात्। अद श्योपाधेः अभावनिश्चय एव न कर्तुं शक्यते। अत उपाधिविरहः प्रतिबन्धस्य संबन्धान्तरं न युक्तम्।

प्रतिबन्धस्य तदुत्पत्तिर्वेति संबन्धान्तरं खण्डयितुम् आह – **नापि द्वितीयः। सा ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चीयते। तौ च द श्यशरीरवत् चेतननिष्ठौ वा स्याताम्? उपाधिविधुरद श्याद श्यसाधारणचेतननिष्ठौ वा?** इति। प्रतिबन्धस्य तदुत्पत्तिः कार्यकारणभावः सम्बन्धान्तरं न भवितुं अर्हति। तदुत्पत्तिः = कार्यकारणभावो हि अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् = तत्सत्त्वे तत्सत्ता, तदभावे तदभाव इत्याभ्यां निश्चीयते। तौ च अन्वयव्यतिरेकौ द श्यशरीरवच्चेतननिष्ठौ वा स्याताम्, उपाधिविधुरद श्याद श्य–साधारणचेतननिष्ठौ वा स्याताम्।

अयमर्थः – अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव तदुत्पत्तिः = कार्यकारणभावः अवधार्यते। तौ च अन्वयव्यतिरेकौ कार्यस्य चेतनकारणत्वं बोधयन्तौ द श्यशरीरावाच्छिन्नचेतनगोचरौ वा स्याताम्, द श्याद श्यशरीरसाधारणचेतनमात्रगोचरौ वा स्याताम्। (चेतनमात्रगोचरौ अन्वयव्यतिरेकौ स्याताम्। चेतनश्च शरीरोपाधिरहितो वा? द श्यशरीरोपाधिसहितो वा? अद श्यशरीरोपाधिसहितो वा भवतु इति अन्यदेतत्)।

द श्यशरीरावच्छिन्नचेतनगोचरौ अन्वयव्यतिरेकौ खण्डयितुम् आह – **न प्रथमः। विटपादौ व्यभिचारात्। प्रकृतासिद्धेश्च** इति। विटपादीनां कार्यभूतानां शरीरोपहितचेतनपूर्वकत्वस्य (शरीरोपहितचेतनकारणकत्वस्य) अद ष्टत्वेन तत्र तदुत्पत्तेः प्रतिबन्धलक्षणान्तरस्य व्यभिचरितत्वात्। पर्वतादौ भाद्रपदमासादौ च शरीरावच्छिन्नचेतनं विनापि अङ्कुरादेर्दर्शनात्। न हि तत्र को पि चेतनः अङ्कुरं करोति। ननु विटपादीनामपि अशरीरी कर्ता अस्तीति न व्यभिचार इत्यत आह – **प्रकृतेति।** साधयितुमिष्टस्य अशरीरिणः कर्तुरीश्वरस्य तव मते अभावात्। अतः ताद शचेतनकर्त कत्वं व क्षादीनां त्वया कथयितुं न शक्यते। तथा च द श्यशरीरावच्छिन्नचेतनगोचराभ्याम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणभावरूपतदुत्पत्तिः प्रतिबन्धस्य लक्षणान्तरं न कथयितुं शक्यते। व क्षादौ कार्यत्वस्य सत्त्वे पि द श्यशरीरावच्छिन्नचेतनकारणकत्वस्य = शरीरावच्छिन्नचेतनपूर्वकत्वस्याभावेन व्यभिचारात्। कार्यत्वद श्यशरीरावच्छिन्न–चेतनपूर्वकत्वयोः कार्यकारणभावरूपतदुत्पत्तेः व क्षादावसत्त्वात्। शरीररहितः तथा द श्याद श्यशरीरसहितो वा चेतनः, तन्निष्ठौ अन्वयव्यतिरेकौ (एताद शचेतनसत्त्वे कार्यं, एताद शचेतनाभावे कार्याभाव इत्यन्वयव्यतिरेकौ) ताभ्यां कार्यचेतनयोः कार्यकारणभावरूपतदुत्पत्तिप्रतिबन्धस्य लक्षणान्तरमिति खण्डयितुमाह – **न द्वितीयः। घटादिकार्यव्यतिरेकसमये तत्प्रयोजककुलालादिव्यतिरेकवद् द श्यचेतनव्यतिरेकस्य निश्चेतुमशक्यत्वात्। न हि कुलालादिद श्यव्यतिरेके तस्यावश्यं व्यतिरेको, विटपादावपि तथाभावप्रसङ्गात्** इति। द श्यशरीरवच्चेतनसत्त्वे व क्षसत्त्वम् इत्यन्वयासिद्धिरुक्ता। पर्वतादिस्थव क्षसत्त्वे द श्यशरीरवच्चेतनासत्त्वात्। शरीररहित–द श्याद श्यशरीरसहितचेतनासत्त्वे घटादिकार्यसत्त्वेन व्यतिरेकव्यभिचारस्य असिद्ध्या द्वितीयो पि पक्षो न युक्तः। तथाहि घटादिकार्यव्यतिरेकसमये घटप्रयोजक–कुलालादिव्यतिरेकवत्, अद श्यचेतनमात्रव्यतिरेकस्य निश्चेतुमशक्यत्वात्। ताद शचेतनस्य अद श्यत्वेन अद श्यप्रतियोगिकाभावस्य निश्चयाभावात्। अद श्यचेतनो त्र वर्तते न वेति सन्देहस्यैव सत्त्वात्। यदि स्यात् तर्हि उपलभ्येतेति द श्ये भवति न त्वद श्ये। प्रतियोगित्वसत्त्वप्रस जितप्रतियोगिकत्वरूपयोग्यताया अभावप्रत्यक्षे अपेक्षितत्वात्। अन्यथा पिशाचाभावस्य प्रत्यक्षत्वापत्तेः। सन्देहाजन्यज्ञानस्यैव निश्चयरूपत्वेन ताद शाद श्यचेतनाभावो निश्चेतुमशक्यः। तथा च कारणसत्त्वे पि घटरूपकार्याभावाद् व्यतिरेकव्यभिचारः।

ननु कुलालादिव्यतिरेक एव निरुपाधिचेतनव्यतिरेकेऽपि प्रमाणम्। कुलालादिचेतनाभावे घटादिकार्याभावस्य सत्त्वात् न व्यतिरेकव्यभिचार इति चेत्? तदाह – **न हि कुलालादीति।** कुलालादिव्यतिरेके तस्य घटस्य व्यतिरेक इति कथयितुं त्वया न शक्यते। अन्यथा विटपादावपि सोपाधिकव्यतिरेकेऽपि निरुपाधेरपि व्यतिरेकप्रसङ्गापत्तेः। तत्रापि द श्यशरीरवच्चेतनव्यतिरेकनिरुपाधिद श्याद श्य–साधारणचेतनरूपनिरुपाधेरपि व्यतिरेकस्य सत्त्वात्। तच्च अनिष्टं भवताम् इत्यभिप्रायः। तत्रापि कुलालादिव्यतिरेके चेतनमात्रव्यतिरेकोऽपि ग ह्यत इति हेतोः तत्र सकर्त कत्वव्यभिचारः स्यादित्यर्थ इति **मिश्राः।**

बौद्धः शङ्कते – **तर्हि सन्तानान्तरानुमानमपि कथम्? कुम्भकारव्यतिरेके द श्याद श्यसाधारणचिन्मात्रव्यतिरेकासिद्धिवत्, स्वचित्तव्यतिरेकेऽपि कम्पं प्रति चिन्मात्रव्यतिरेकासिद्धेरिति चेत्?** इति। परचेष्टया सन्तानान्तरानुमानं न सिद्ध्येत्। चेष्टां प्रति ज्ञानसन्तानं कारणम्। जानाति, इच्छति, यतते इति नियमात्। कारणता चान्वयव्यतिरेकगम्या भवति। तौ च अन्वयव्यतिरेकौ दुर्लभौ चात्र। घटादिकार्यव्यतिरेकसमये कुलालादिव्यतिरेकस्य इव अद श्यचेतनव्यतिरेकस्य अनिश्चयः। अभावप्रत्यक्षं प्रति प्रतियोगियोग्यताया अपेक्षणीयत्वात्। स च प्रतियोगी नात्र योग्यः। तथा स्वचित्तव्यतिरेकेऽपि अद श्यचित्तव्यतिरेको ग्रहीतुम् अशक्यः। अयोग्यो हि प्रतियोगी। तच्चित्तसत्त्वे चेष्टासत्त्वमित्यन्वयस्य ग्रहीतुं शक्यत्वेऽपि चित्ताभावे चेष्टाभाव इति व्यतिरेको ग्रहीतुमशक्यः। अद श्यचित्तस्य प्रत्यक्षत्त्वेन चित्ताभावं ग्रहीतुमशक्यत्वात्। तथा च चित्तव्यतिरेकनिश्चयाभावात् चेष्टाव्यतिरेकस्य असिद्ध्या तदन्वयव्यतिरेकाभ्यां चित्तस्य चेष्टां प्रति न कारणत्वं सिद्ध्यति। तथा च चेष्टायाः चित्तकार्यत्वाभावेन तया चित्तसन्तानानुमानानुपपत्तिरिति चेत्? बौद्ध एव समाधत्ते – **न। वादान्तरत्वात्** इति। इयं शङ्का न युक्ता। अस्या अर्थान्तरत्वात्। प्रस्तुतं खलु व्याप्तिलक्षणम्। तच्च तदुत्पत्तिरूपम्। तत्र विचारः प्रचलति। चेष्टां प्रति ज्ञानसन्तानस्य कारणानुपपत्तेरर्थान्तरत्वम्। स्वयमेव तद्दर्शयति – **यदापि तत्प्रभावः तदापि स्वदेहे स्वपरसन्तानसाधारणचिन्मात्राविनिर्भागव त्तिद श्यदेहमात्रस्यैव प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां कम्पं प्रति कारणत्वप्रतीतेः परचित्तस्यापि कारणत्वं प्रतीयत इति।** ननु तत्रापि तदुत्पत्तिग्रहः त्वयावश्यं वक्तव्य इत्यत आह – **यदापीति मिश्राः।** यस्मिन् कालेऽपि चित्तसन्तानस्य कथं चेष्टया अनुमानमिति प्रश्नो भवति, तस्मिन् कालेऽपि चिन्मात्रस्य चेष्टाकारणत्वं नेष्टं, येन व्यतिरेकासिद्धिः स्यात्, किन्तु चिदुपहितस्य द श्यदेहस्यैव। तत्र स्वदेह एव स्वपरसन्तानचिन्मात्रसंबलित–द श्यदेहमात्रस्यैव कारणत्वम् इष्यते। तत्र स्वदेह एव स्वपरसन्तानचिन्मात्रसंबलित–द श्यदेहमात्रस्यैव कम्पं प्रति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वावधारणात् परचित्तस्यापि कारणत्वं प्रतीयत इति। (चिद्विशिष्टस्य देहस्य चेष्टां प्रति कारणत्वे विनिगमना–विरहात् देहविशिष्टचित्तस्यापि कारणत्वम्)।

प्रतिबन्धस्य (व्याप्तेः) लक्षणान्तरं विपक्षबाधकमिति त तीयविकल्पं खण्डयितुमाह – **नापि त तीयः, विपक्षे पि बाधकाभावात्** इति। सपक्षविपक्षयोः दर्शनादर्शनमात्रस्य शतशो द ष्टत्वे पि पार्थिवलोहलेख्यादौ उपलब्धेः अव्यभिचारित्वलक्षणस्य = अविनाभावस्य = व्याप्तेः, अनुपलब्धव्यभिचारस्यापि सव्यभिचारत्वसंभावनाक्रान्तत्वात् प्रतिबन्धस्य = व्याप्तेः लक्षणान्तरं विपक्षबाधकरूपम् उचितम्। तन्न समीचीनम्। (कार्यस्य) चेतनपूर्वकत्वाभावे पि कार्यत्वस्य बाधकत्वाभावात्। यत्र यत्र कार्यत्वं तत्र तत्र विपक्षबाधकत्वमिति नियमाभावेन विपक्षबाधकं प्रतिबन्धस्य अविनाभावस्य व्याप्तेर्लक्षणं न युक्तम्।

ननु कार्यस्य प्रेक्षावत्स्वतन्त्र(कर्त)चेतनपूर्वकत्वाभावे, तस्य देशनियमः, कालनियमः, कारणनियमश्च कथं सिद्ध्येयुः? यस्मिन् देशे, यस्मिन् काले, येन कारणेन दण्डादिना स्वतन्त्रश्चेतनः कुलालादिः घटादिकार्यं करोति। भवति च घटादिकार्यं तद्देशीयं तत्कालीयं तत्कारणकम् इति नियमः। यदि चेतनो न करोति क्वचित् कार्यं चेतनपूर्वकत्वाभावाद्, यदि च क्वचिद् कार्यं भवेत्? तदा एताद शनियमो न स्यात् इत्याशङ्क्याह – **देशकालनियमादीनां स्वकारणायत्तसन्निधिना कादाचित्केन प्रतिनियतशक्तिना कारणेनाप्युपपत्तेरिति**। यस्मिन् देशे स्वकारणैः सन्निधाप्यन्ते, कारणानि तस्मिन्नेव देशे कार्यं नान्यस्मिन् देशे, इति देशनियम उपपद्यते। एवं यस्मिन् काले कारणानि सन्निधाप्यन्ते तस्मिन्नेव काले कार्यं नान्यस्मिन् काले इति कालनियम उपपद्यते। यस्मिन् कारणे येषु कारणेषु वा यत्कारणसामर्थ्यम् (शक्तिः) तत् कारणम् तानि वा कारणानि तत्कार्यं करोति कुर्वन्ति वा नान्यत्कार्यं करोति कुर्वन्ति वा इति कारणनियम उपपद्यते। तथा च कार्यस्य क्वचिद् चेतनपूर्वकत्वे पि तस्य देशकालकारणानां नियमोत्पत्त्या तस्य चेतनपूर्वकत्वाभावे पि कार्यत्वस्य बाधकाभावात्। तथा च चेतनकर्त कत्वाभाववति कार्ये कार्यत्वस्य सत्त्वेन तस्य (कार्यत्वस्य) न विपक्षबाधकत्वम् (यत्र यत्र कार्यत्वं तत्र तत्र चेतनाकर्त कत्वाभाव इत्यस्य असत्त्वेन न विपक्षबाधकमिति, विपक्षबाधकं व्याप्तिलक्षणं न भवितुमर्हतीति विज्ञेयम्। **देशकालेति**। यदि कर्त्ता न स्यात् तर्हि, इह इदानीम् कार्यं न स्याद् इत्यनेन विपक्षबाधकेन कर्त कत्वकार्यत्वयोः व्याप्तिर्ग्राह्या। तत्र कर्त व्यतिरेकप्रयुक्तो न कार्यव्यतिरेकः, न वा कर्त्रन्वयप्रयुक्तः तदन्वयः, किन्तु कारणान्तरप्रयुक्तव्यतिरेकः (किन्तु कारणव्यतिरेकप्रयुक्तः कार्यव्यतिरेक एवेत्यर्थः) इति **मिश्राः**।

उत्तानोल्लपितमेतत्। विकल्पत्रयस्याप्युपपत्तेः। तथाहि चत्वारो जगति भावा भवन्ति। विरोधी बहिर्व त्तिः सहव त्तिरन्तर्व त्तिश्चेति। न च प चमः प्रकारः काङ्क्षितुमपि शक्यते। विरोधाविरोधयोः साहित्यासाहित्ययोः आधिक्यानाधिक्ययोः परस्परनिषेधरूपत्वात्। तत्र द्वयमत्र नोपाधित्वेन शङ्कनीयम्। कार्यस्येवाकार्य

स्यापि वा सकर्तृकत्वप्रसङ्गात्। न चेदमिष्टम्। अकार्यस्य कारणवत्तामात्रेण सहजविरोधे कारकविशेषस्य कर्तुरनवकाशात्। नापि तृतीयः, तुल्ययोगक्षेमयोरविशेषात्, व्यभिचारशङ्कानापादकत्वाच्च। चतुर्थस्तु स्यात्। सोऽपि न शरीरन्तर्भूतवृत्तिः, चेष्टमानशरीरहेतुकस्यापि कस्यचिदचेतनपूर्वकत्वप्रसङ्गात्। न चेदमिष्टं, चेष्टाचेतनयोरविनाभावभङ्गप्रसङ्गात्। नापि सहवृत्तिः, देहस्यानुपाधित्वे तस्याप्यनुपाधित्वात् तयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वात्। अतथाभावे वा सहवृत्तिनियमानुपपत्तेः।

[अथ सकर्तृकत्वव्याप्तावुपाधि-निराकरणम्]

उत्तानबौद्धः समाधत्ते – **उत्तानोल्लपितमेतत्। विकल्पत्रयस्यापि उपपत्तेः। तथाहि चत्वारो हि जगति भावा भवन्तीति।**

प्रतिबन्धस्य व्याप्तेः, (उपाधिविरहः, तदुत्पत्तिः, विपक्षबाधकं वेति) संबन्धान्तरस्याप्युपपत्तेः। उपपत्तिं दर्शयितुमाह – **तथाहीति।** जगति = संसारे भावाः = पक्षाः चत्वारो भवन्ति। (१) विरोधी = साधनविरोधी, (२) बहिर्वृत्तिः = साधनव्यापकः, (३) सहवृत्तिः = साधनसमनियतः, साधनस्य व्याप्यः व्यापकश्च, (४) अन्तर्वृत्तिः = साधनव्याप्य इति। **विरोधीति।** प्रथमम् तावत् विरोधाविरोधव्यतिरेकेण प्रकारान्तराभावः। तयोः एकस्य विधिरूपत्वात् इतरस्य निषेधरूपत्वात्। विध्यभावे निषेध एव, निषेधाभावे विधिरेवेति न तृतीयप्रकारावकाशः। एवम् अविरुद्धोऽपि सहितासहितभेदेन द्विविध एव। असहितोऽपि बहिर्वृत्तिः, अन्तर्वृत्तिश्चेति द्विविध एव। कथं हि परस्परविधिनिषेधाभ्यां प्रकारान्तरं वदन् विध्यभाववचनेन निषेधं विधाय पुनरनुन्मत्तः तमपि निषेधेत् सोऽपि नेति? **इति नारायणी।** 'अत्र घटोऽस्ति' इति कश्चिद् वदति, स एव वदति 'अत्र घटो नास्तीति'। पुनः स एव वदति 'अत्र घटाभावो नास्ति' इति उन्मत्तः एव वदेत्, नान्यः कोऽपीति भावः।

तत्र चतुर्विधेषु मध्ये **द्वयम्** = विरोधी बहिर्वृत्तिश्चेति द्वयम् **अत्र उपाधित्वेन न शङ्कनीयम्। कार्यस्येव अकार्यस्यापि वा सकर्तृकत्वप्रसङ्गात्।** क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं, कार्यत्वाद्, घटवद् इत्यत्र कार्यत्वरूपहेतोः विरोधी चेत् साध्यव्याप्तः उपाधिः। तदा सः (उपाधिः) साध्यव्यापकत्वे सति साध्यव्याप्यो वक्तव्यः। उपाधेः साध्यसमव्याप्यत्वात्। तथा च साध्यव्याप्येन उपाधिना कार्यत्वरूपहेतुविरोधिना, अकार्यस्य ज्ञानादेरेव सकर्तृकत्वं सिद्धचेत्। कार्यत्वरूपहेतोः विरोधी य उपाधिः तस्य साध्यसमव्याप्तत्वेन साध्यव्याप्तत्वात्। सकर्तृकत्वरूपसाध्यव्याप्योपाधेः कार्यविरोधिनि अकार्ये सत्त्वेन तत्रोपाधिव्यापकस्य सकर्तृकत्वस्य साध्यस्य सत्त्वावश्यकत्वात्। यत्र व्याप्यस्तत्र व्यापक इति नियमात्। तत्र कार्यत्वरूपसाधन–व्यापकस्य उपाधेः बहिर्वृत्तेः दोषमाह – **अकार्यस्यापि वा सकर्तृकत्वप्रसङ्गात्।**

अकार्यस्यापि = ज्ञानस्यापि सकर्त कत्वं सिद्ध्येदित्यर्थः। बहिर्व त्तेरुपाधेः कार्यत्वरूपहेतु–विरोधिनः कार्यत्वरूपसाधनव्यापकस्य कार्यत्वाभाववति अकार्ये ज्ञाने सत्त्वेन तत्र सकर्त करूपकार्यस्य सत्त्वं सिद्ध्येत्। कार्यत्वरूपहेतुव्यापकस्य सकर्त कत्वरूपसाध्य–व्याप्यस्य उपाधेः तत्र अकार्ये ज्ञाने सत्त्वात्। व्यापकस्य व्याप्याभाववति व त्तित्वम्, व्यापकस्य व्याप्यवद्व त्तित्वस्य द ष्टत्वात्।

अकार्यस्य सकर्त कत्वं नेष्टमित्याह – **न चेदमिष्टम्** इति। अकार्यस्य सकर्त कस्य नेष्टम्। ननु भवतु अकार्यमपि सकर्त कं, को दोष इत्यह आह – **अकार्यस्य कारणवत्तामात्रेण सहजविरोधे कारकविशेषस्य कर्तुरनवकाशात्** इति। अकार्यस्य कारणवत्तामात्रेण सकारणकत्वमात्रेण सह सहजविरोध इति कारक(कारण)विशेषस्य कर्तुः अनवकाशात्। यत्र सकारणकत्वं नास्ति तत्र कारणविशेषकर्त कत्वं कुतः संभवति? व्यापकाभाववति व्याप्याभावो वर्तते एव। अतो विरोधी वह्निर्व त्तिश्चेत्यत्र नोपाधिरिति। साधनसमनियतरूपं सहव त्तिं खण्डयितुम् आह – **नापि त तीय** इति। अत्र सहव त्तिः उपाधित्वेन न शङ्कनीया। **तुल्ययोगक्षेमयोर-विशेषाद् व्यभिचारशङ्कानापादकत्वाच्च** इति। साधनसहव त्तिः उपाधिरिति न युक्तम्। परस्परपरिहारेण वर्तमानयोः तयोः एकस्य इतरं प्रत्युपाधित्वे विपरीतं किं न स्यादिति (सहव त्तेः उपाधिः हेतुरिति किं न स्यादिति)? अस्य वाचाटवचसो पि सावकाशत्वादिति। कि च साधनस्य साध्यव्यापकत्वाभावेन उपाधेर्व्यभिचारशङ्कोत्थापने उपाध्युत्थापनस्य दूषणत्वात्। न चात्र साध्यव्यापकत्वाभावेन उपाधेः व्यभिचारशङ्का उत्थापकत्वम् इत्याह – **व्यभिचारेति।** नन्वेवं साधनस्य सोपाधित्व(कार्यत्वाद् इति)हेतोः साधनसमनियतसहव त्त्युपाधिना सोपाधित्वं स्यादित्यत आह – **व्यभिचारेति।** साध्यव्यापकेन साधनाव्यापकेन च उपाधिना व्यभिचारशङ्काधानं भवेत्, न तु साधनसमनियतेन (उपाधिना) इति उपाधिपरिभाषामात्रम् (त्वया क्रियते)। नहि साधनसमनियतेन उपाधिना व्यभिचारशङ्कोत्थापनं भवति इत्यर्थ इति **कल्पलता**। यथा पर्वतो धूमवान् वह्नेः इत्यत्र आर्द्रेन्धनसंयोगस्य उपाधेः साध्यव्यापकस्य साधनाव्यापकस्य अयोगोलके भावेन तत्र वह्नेः व त्तेः भवति अनुमानम्। वह्निः धूमव्यभिचारी, धूमव्यापकार्द्रेन्धनव्यभिचारित्वाद् इत्यनुमानम्। किं वा भवति सन्देहः (वह्निः धूमव्यापकार्द्रेन्धनव्यभिचारी, वह्निः धूमव्यभिचारी न वेति) यदि साधनसमनियत उपाधिर्भवेत् तदा साध्यव्याप्ये हेतौ कथं व्यभिचारशङ्का स्यात्? साध्यव्याप्याहेतौ व्यापकाभाववति व्याप्यस्याव त्तित्वनिश्चयात्।

साधनव्याप्याम् अन्तर्व त्तिं विचारयितुमाह – अथवा अन्तर्व त्तेस्तु उपाधित्वं संभवेत्। स च ताद शो न प्रकृते संभवतीति अभिप्रायेण आह – **चतुर्थस्तु स्यात्। सो पि न शरीरान्तर्भूतव त्तिः। चेष्टमानशरीरहेतुकस्यापि कस्यापि कस्यचिदचेतन-पूर्वकत्वप्रसङ्गात्** इति। अभिप्रायम् आविष्करोति – **सो पीति।** कार्यत्वावान्तरव त्तित्वेन

उपाधिर्भवच्छरीरान्तर्वर्त्तिः वह्निवर्त्तिर्वा भवेत्। तत्र न प्रथमः। तत्र शरीरस्य कर्तृत्वप्रयोजकोपाधिव्यतिरेकेणापि स्थितस्य कर्तृव्यतिरेकेणा पि स्थितिश्चेत् समानं शरीरहेतुकस्यापि कस्यचित् कार्यस्य चेतनपूर्वकत्वाभावप्रसङ्गादिति **नारायणी** टीका। यदि साधनव्याप्यरूपः (शरीरकर्तृकत्वप्रयोजकः) अन्तर्वर्त्तिरूपोपाधिः भवेत् तदा कुविन्दजन्यपटादौ चेतनपूर्वकत्वं निवर्तेत। घटे वर्तमानस्य चेतनपूर्वकत्वस्य (चेतनकर्तृकत्वस्य) शरीरकर्तृत्वप्रयोजकस्य कुलालजन्यत्वस्य कुविन्दजन्यपटादौ अभावेन तत्र चेतनकर्तृकत्वाभावापत्तिः। उपाधेः साध्यव्यापकत्वे सति साधनव्याप्यत्वेन, घटकर्तृकत्वस्य कुलालशरीरकर्तृत्वप्रयोजकस्य अन्तर्वर्त्तेरुपाधेः चेतनकर्तृकत्व–व्यापकस्य कार्यत्वरूपहेतुव्याप्यस्य कुविन्दजन्ये पटे अभावात्। तत्र व्यापको नास्ति, व्याप्यो पि न वर्तते। चेतनकर्तृत्वरूपसाध्यव्यापकत्वम् अन्तर्वर्त्तौ कुलालजन्यत्वे उपाधौ वर्तते। कार्यत्वरूपहेतुव्याप्यत्व चेति कुलालजन्यत्वरूपोपाध्यभावस्य पटे सत्त्वात्। मन्मते 'धूमवान् वह्नेः' इत्यत्र साध्यव्यापकस्य हेतुव्याप्यस्य च आर्द्रेन्धनसंयोगस्य अयोगोलके अभावात् हेतौ साध्यव्यभिचारोन्नायकत्वं (साध्यसन्दे–होन्नायकत्वं वा) तस्य इति भवत्युपाधित्वम्। भवदभिलषितस्य अन्तर्वर्त्त्युपाधेः दोषग्रस्तत्वेन नोपाधित्वं, किन्तु तत्र पारिभाषिकमुपाधित्वमस्तीति विज्ञेयम्।

ननु चेष्टमानशरीरहेतुकमपि चेतनपूर्वकं (चेतनकर्तृकम्) मास्तु, किं तत इत्यत आह – **न चेदमिष्टम्। चेष्टाचेतनयोरविनाभावभङ्गप्रसङ्गात्** इति। यदि चेतनकर्तृकं चेष्टमानशरीरहेतुकं न स्यात्, तर्हि चेष्टाचेतनयोरविनाभावभङ्गः स्यात्। या या चेष्टा सा सा चेतनजन्येति व्याप्तिः न स्यात्। न चेष्टापत्तिः। अकारणिकायाः चेष्टाया आकस्मिकत्वापत्तेः। तस्या आकस्मिकत्वे पदार्थग्रहणाग्रहणयोः अव्यवस्थापत्त्या संसारे व्याकुलीभावापत्तेः।

सो पीत्यस्य कार्यत्वरूपहेतूपाधिः बहिर्वर्त्तिर्हेतुः व्याप्यः हेतुसमनियतरूपः सहवर्त्तिर्वा भवेद् इत्यत्र बहिर्वर्त्युपाधिं खण्डयित्वा, इदानीं देहवर्त्तिः साधनसमव्याप्तं सहवर्त्तिरूपोपाधिं खण्डयितुमाह – **नापि सहवर्त्तिः।**[१२] **तुल्ययोगक्षेमत्वादिति**। तुल्ययोगक्षेमयोरविशेषात् व्यभिचारशङ्कानाधायकत्वाच्च इत्यनेन पूर्वं खण्डितो पि सहवर्त्तित्वेन उपाधिर्भवत्–शरीरान्तरवर्त्तिः बहिर्वर्त्तिः सहवर्त्तिर्वेति विकल्पघटकं तमुपाधिं खण्डयितुं पुनरुक्तं न दोषाधायकम्। विशेषस्य अत्र सत्त्वात्। सिंहावलोकनन्यायेन वा तस्य पुनरुपादानम्। यद्वा सहवर्त्तिः देहवर्त्तिः, शरीरजन्यत्वसमव्याप्त इति यावत्। वस्तुतस्तु ईश्वरानङ्गीकर्तृमते कार्यत्वशरीरजन्यत्वयोः एकार्थकत्वेन पूर्वोक्तमेवमिति प्रतिभाति। सहवर्त्तिः = देहवर्त्तिः उपाधिः न युक्तः। तयोः = देह–तदुपाध्योः तुल्ययोगक्षेमत्वात्। देहः उपाधिः देहसहवर्त्तिर्वा उपाधिरिति निश्चेतुमशक्यः। देहसहोक्तेरिव देहस्य शरीरजन्यत्वसमव्याप्तेन उपाधित्वसंभवात्। न चात्र विनिगमको येन एकशेषः कर्तुं शक्यते। शरीर–शरीर–सहवर्त्त्योः उभयोः तुल्ययोगक्षेमत्वाभावे

दोषं दातुमाह – **अतथाभावे वा सहव त्तिनियमानुपपत्तेः** इति। देहदेहव त्त्योः समानयोगक्षेमत्वाभावे वा सहव त्तिनियमस्य यत्रैव देहः तत्रैव देहसहव त्तिरिति नियमस्य अनुपपत्तेः = उपपत्त्यभावापत्तेः; देहं विनापि देहसहव त्तेः अनुत्पादेन अस्य उत्पत्त्यभावापत्तेर्वा।

शरीरस्य च नोपाधित्वं, कर्त्रव्यापकत्वात्। तत्कार्यत्वस्योपाधेर्विद्य मानत्वात्। नाप्यायतनतया तथाभावो भोगोपाधित्वात्। नाप्युपकरणप्रापकतया साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयतोपाधित्वात्। अन्यथापि तत्प्राप्तेरिति। नाप्यधिकव त्तिः। शरीरविनाकृतस्य कर्तुः स्वयमनभ्युपगमात्। अस्तु पाक्षिको भ्युपगमः, तेन न कार्यत्वमात्रात्, कर्त मत्वसिद्धिः, शङ्कितोपाधित्वात्। न चोपाधेरेव तत्सिद्धिः, तस्य स्वयं सन्दिग्धासिद्धत्वादिति चेत्, न। उभयथाप्यशरिरकिर्त व्यवस्थिति-नियमात्। किं तु कथ चिदुपाधिमादाय स व्यवतिष्ठताम्। यद्वा कार्यत्वमेवेति सन्देहः परिशिष्यते गत्यन्तराभावादिति सो पि निवार्यते। न तावत् देहव्यतिरेके नित्यज्ञानसम्भवः, तयोः कार्यकारणभावनियमात्। ततो नित्यं भवेत् ततः सर्वविषयं च नियतविषयताया अनित्यत्वेन व्यापनात् विषयनियमस्य सामग्रीशक्तिसमवधानाधीनतया नित्यात्तस्याः सव्याप्यमुपादाय निवर्तमानाया अनित्ये विश्रामात्। सर्वगोचरे च ज्ञाने चिकीर्षाप्रयत्नयोरपि तथाभावः, तदेकविषयत्वात्तयोः। तथा च क चिदुपाधिमादायाशरीरपूर्वकमपि कि चिदेव कार्यं कर्त पूर्वकं भविष्यतीति शङ्कापिशाच्या क्वावकाशः। एवमन्यत्राप्यनया दिशा उपधिशङ्का निरकारणीयेति निरुपाधिसम्बन्धसिद्धिः। विपक्षसम्भवे च साधनप्रयुक्तसाध्यसद्भावसिद्धौ साध्याभावप्रयुक्तसाधनाभावलक्षणस्य व्यतिरेकस्यापि सिद्धेः, न तदर्थं प थगपेक्षेति।

अस्तु तर्हि शरीरस्यापि उपाधित्वमिति चेद् अत्राह – **शरीरस्य च नोपाधित्वं कर्त्रव्यापकत्वात्। तत्कार्यत्वस्य उपाधेः विद्यमानत्वात्** इति। कर्त साध्ये शरीरस्य नोपाधित्वं संभवति। शरीरस्योपाधेः कर्त रूपसाध्याव्यापकत्वात्। उपाधिश्च साध्यव्यापकः साधनाव्यापकश्च भवति। न साध्याव्यापक उपाधिर्भवति। ननु कथं शरीरं कर्त रूपसाध्याव्यापकमित्यत आह – **तत्कार्यत्वस्येति।** सकर्त कत्वे साध्ये शरीरजन्यत्वं नोपाधिः। कर्त त्वे साध्ये शरीरित्वं नोपाधिरिति **मिश्राः**। **तत्कार्यत्वस्य** अयमर्थः। ज्ञान–चिकीर्षा–कृति–समवायित्वं कर्त त्वम्। यद् यत्र ज्ञानादीनां शरीरकार्यत्वं तत्र तद्रूपस्यापि (ज्ञान–चिकीर्षा–कृति–समवायित्वस्यापि) कर्तुः शरीरकार्यत्वं भवति। तत्रैव शरीरिणः कर्त त्वम्। यत्र तु न तत्(शरीर)कार्यत्वं तत्र शरीरमन्तरेणापि कर्त त्वात् न शरीरं कर्त व्यापकमिति।

अयं भावः। शरीरावच्छेदेनैव (जन्य)–ज्ञान–चिकीर्षा–कृतय उत्पद्यन्ते। तद्वानेव कर्ता। अतो जन्यज्ञानादीनां प्रति शरीरस्य कारणत्वमिति। यत्र (जीवात्मनि) ज्ञानादीनां शरीरकार्यत्वम्, तस्य ज्ञानादिसमवायिनः (जीवस्य) शरीरकार्यज्ञानादिमत्त्वेन कर्तुरपि (जीवस्य अपि) शरीरवतः शरीरकार्यत्वम्। तथा च यत्र यत्र शरीरी तत्र तत्र शरीरमिति ज्ञानादिमच्छरीरवत्कर्त निरूपितव्यापकत्वं शरीरे वर्तते। यत्र (ईश्वरे) तु न शरीरकार्याणि ज्ञानादीनि वर्तन्ते, तस्य (नित्य)ज्ञानादिसमवायिनः (ईश्वरस्य) कर्त त्वम् अस्ति। तत्र शरीरित्वं नास्ति शरीरं न वर्तते इति शरीरस्य कर्त्रव्यापकत्वेन नोपाधित्वमिति।

ननु करणतया शरीरं मापेक्षिष्ट कर्ता, आयतनतया त्वपेक्षमाणस्य कर्तुः शरीरं व्यापकम्। (यत्र यत्र आयतनापेक्षी कर्ता तत्र तत्र शरीरम्।) शरीरावच्छेदेनैव आत्मनो भोगात्। भोगायतन च शरीरमित्याशङ्क्याह – **नाप्यायतनतया तथाभावो, भोगोपाधित्वात्** इति। नापि भोगायतनतया शरीरस्य अपेक्षा कर्तरि वर्तते, यथा कर्त व्यापकत्वं शरीरस्य स्यात्। भोगः खलु सुखं वा दुःखं वा, नान्यतराद् भिन्नो भोगः। भोगश्च शरीरावच्छेदेन आत्मनि भवति। जीवस्य कर्तुः भोगाय शरीरापेक्षास्ति, न तु ईश्वरस्य। अस्य कर्मजन्यधर्माधर्मयोः अभावेन धर्मजन्यसुखाय अधर्मजन्य दुःखाय वा न शरीरापेक्षास्ति। न हि किलेश्वरः सुखदुःखयोः भोक्ता।

ननु यथा कुलालः उपादानदेशे दण्डाद्युपकरणप्रापकतया शरीरम् अपेक्षते तथा ईश्वरस्यापि उपकरणप्रापकतया शरीरम् अपेक्षते इत्याङ्क्याह – **नाप्युकरण-प्रापकतया। साक्षात् प्रयत्नानधिष्ठेयतया उपाधित्वात्। अन्यथापि तत्प्राप्तेरिति**। कुलालनामकजीवप्रयत्नेन सह साक्षात्संबन्धो न दण्डादौ वर्तते, शरीरेण व्यवधानात्। किन्तु शरीरद्वारैव संबन्धः, अतः तत्र शरीरं भवत्युपाधिः। ईश्वरप्रयत्नस्य तु शरीरम् अन्तरेणापि साक्षात् सम्बन्धो स्ति जगतां कारणेन सह। अतो न भवति शरीरमुपाधिः। तस्य अनपेक्षणात्। ईश्वरप्रयत्नस्तु जगत्कारणानाम् अधिष्ठानम्। कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति तस्य निमित्तकारणत्वात्। भवति च कार्येण सह कारणस्य साक्षात्संबन्धः नात्र सन्देहः, घटादौ तथा द ष्टत्वात्। कार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताशालित्वं साधारणकारणत्वम्। तच्च ईश्वरे तज्ज्ञानेच्छाप्रयत्नेषु कालदिशोश्च। कार्यत्वावान्तर–धर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताशालित्वम् असाधारणकारणत्वम्। यथा घटं प्रति दण्डादीनाम्। कुलालप्रयत्नस्य घटादिकारणेन दण्डादिना न साक्षात् संबन्धो स्ति, शरीरेण व्यवधानात्। अतः तत्र शरीरम् उपाधिः। ईश्वरप्रयत्नस्य तु कार्यमात्रं प्रति कारणत्वेन ताद श दण्डादिना तस्य साक्षात्संबन्धो स्ति। अतः शरीरानपेक्षणात् तत् न उपाधिः।

ननु कर्तैव भवतु उपाधिरित्यत आह – **नाप्यधिकव त्तिः। शरीरविनाकृतस्य कर्तुः स्वयमनभ्युपगमात्** इति। न चात्र कर्ता भवत्युपाधिः। ईश्वरस्य विभुत्वेन

कार्यात् तत्कारणाच्चाधिकदेशवृत्तित्वात्। कर्तुः उपाधेः शरीराधिकवृत्तित्वेन अशरीरस्यापि कर्तृत्वापत्तेः। यत्र यत्र उपाधिः तस्य तस्य कारणत्वात्। शरीरस्येव तदन्यस्यापि तेन संबन्धेन विशेषात्। अनीश्वरवादिभिरपि शरीरान्यस्याशरीरस्य कर्तृत्वं नाभ्युपगम्यते इति।

[शङ्कितोपाधि-निराकरणम्]

अस्तु शरीरविनाकृतस्यापि कर्तुः पाक्षिको ऽभ्युपगमः। ततश्च न कार्यत्वमात्रात् कर्तृत्वसिद्धिः, शङ्कितोपाधित्वात्। न चोपाधेरेव पक्षे कर्तृत्वसिद्धिः। उपाधेः पक्षे सन्दिग्धासिद्धत्वाद् इत्याशङ्कते – **अस्तु (वा) पाक्षिको ऽभ्युपगमः। तेन न कार्यत्वमात्रात् कर्तृमत्त्वसिद्धिः, शङ्कितोपाधित्वात्। न चोपाधेरेव तत्सिद्धिः, तस्य स्वयं सन्दिग्धासिद्धत्वादिति चेत्?** इति। शरीरं विना कृतिमान् कर्तास्ति न वेति सन्देहविषयः। शरीरं विना कृतिमान् कर्ता सन्देहस्यैककोटिरस्तु, तथापि विश्वस्य कार्यत्वमात्रहेतुना न सन्दिग्धकर्त्रा कर्तृमत्त्वसिद्धिः = कर्तृजन्यत्वसिद्धिः। कर्ता शरीरी न वेति सन्देहविषयीभूतकर्तृरूपोपाधिमत्त्वस्य कार्यत्वहेतौ सत्त्वात्। कार्यत्वहेतोः सन्दिग्धोपाधिमत्त्वेन व्याप्यत्वासिद्ध्या साध्यासाधकत्वात्। न हि हेत्वाभासः साध्यं साधयति। अन्यथा धूमवान् वह्नेः इत्यापद्येत। साध्यस्य सकर्तृकत्वस्य व्याप्यो ऽपि उपाधिरिति तद्वत्त्वात् (कर्तृत्वरूपोपाधिमत्त्वात्) अशरीरस्य = शरीररहितस्य कृमिमतः कर्तृत्वं सेत्स्यतीति स एव अपसिद्धान्त इत्याह – **न चेति।** उपाधेरेवं साध्यव्याप्यात् अशरीरस्य जगत्कर्तृत्वसिद्धिः। जगतः सकर्तृकत्वे सिद्धे इतरबाध–सहकारेण ईश्वरः कर्ता सिद्ध्यति। जगतः अस्मदादिभिः कर्तुम् अशक्यत्वादिति न कथयितुं शक्यते। त्वया तस्य = कर्तुः उपाधित्वं न स्वीक्रियते येन तद्(उपाधि)वत्त्वा–साध्यं सिद्ध्येत्।

परिहरति – **न। उभयथाप्यशरीरिकर्तृव्यवस्थितिनियमात्। किन्तु किंचि-दुपाधिमादाय स व्यवतिष्ठताम्। यद्वा कार्यत्वमेवेति सन्देहः[१३] परिशिष्यते, गत्यन्तराभावात् सो ऽपि निवार्यते** इति। शरीराधिकवृत्तित्वेन कर्ता नोपाधिरिति स्वीकारे जगत्सकर्तृकत्वसाधकस्य कार्यत्वस्य निरुपाधिकत्वेन तेन जगतः सकर्तृ–कत्वसिद्ध्या इतरबाधसहकारेण (जगतो ऽस्मदादिकर्तृकत्वाभावनिश्चयरूपबाध–सहकारेण) अशरीरी कर्ता सिद्ध्यति। यदि शरीराधिकवृत्तिकर्ता चेद् उपाधिस्तदा तद्वत्त्वादेव (उपाधित्ववत्त्वादेव) अशरीरी कर्ता सिद्ध्यति। क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् इतीतरबाधसहकारेण ईश्वरकर्तृकत्वस्य जगति सिद्ध्या अशरीरी कर्ता ईश्वरः सिद्ध्यति। कार्यत्वस्य हेतोः निरुपाधित्वात् इति कार्यत्वप्रयुक्तेश्वरसिद्धिः। यदि शरीराधिकवृत्तिकर्तुरुपाधित्वं स्वीक्रियते तदा उपाधिप्रयुक्तेश्वरः सिद्ध्यति। किन्तु किंचिद् उपाधिमादाय स = अशरीरी कर्ता ईश्वरः व्यवतिष्ठताम्। यद्वा कार्यत्वं यदि सोपाधिकं तदा कार्यत्वम् आदाय, क्षितिः सकर्तृका, कार्यत्वाद् इत्यनुमित्या

इतरबाधसहक ततया ईश्वरः सिद्ध्यति।'' कार्यत्वं सोपाधिकम् आदाय अशरीरी कर्त्ता किं वा निरुपाधिकं कार्यत्वामादाय अशरीरी कर्ता सिद्ध्यतीति सन्देहः परिशिष्यते। कार्यत्वस्य सोपाधिकत्वे निरुपाधिकत्वे वा उभयथा अशरीरी कर्ता सिद्ध्यति। किन्तु कार्यत्वं सोपाधिकं निरुपाधिकं वेति सन्देहः परिशिष्यते। यद्वा उपाधिमत्त्वात् अशरीरी कर्ता किं वा निरुपाधिहेतुकत्वाद् अशरीरी कर्ता स्यादिति सन्देहः। **गत्यन्तराभावात्।** उपाधिना कार्यत्वेन वा ईश्वरः सेत्स्यति। तदुभयं विना ईश्वरसाधने न कापि गतिरस्ति। उपाधिकार्यत्वमन्तरेण गत्यन्तराभावात्। सो पि = सन्देहो पि कार्यत्वं सोपाधिकं निरुपाधिकं वेति सन्देहो पि निवार्यते। अथवा उपाधिमत्त्वाद्वा स्याद् अशरीरी कर्ता, निरुपाधिहेतुकत्वाद्वेति सन्देहो पि निवार्यते।

पूर्वोक्तशङ्कां निवारयितुमाह – **न तावद् देहव्यतिरेकेणानित्यज्ञानसंभवः। तयोः कार्यकारणभावनियमात्। ततो नित्यं भवेत्। ततः सर्वविषय च। नियतविषयताया अनित्यत्वेन व्यापनात्। विषयनियमस्य सामग्रीशक्तिसमवधानाधीनतया नित्यात् तस्याः स्वव्याप्यमुपादाय निवर्तमानाया अनित्यत्वे विश्रामात्। सर्वगोचरे च ज्ञाने सिद्धे चिकीर्षाप्रयत्नयोरपि तथाभावः, तदेकविषयत्वात्तयोः। तथा च किञ्चिदुपाधिमादाय अशरीरपूर्वकमपि किञ्चिदेव कार्यं कर्तृपूर्वकं भविष्यतीति शङ्कापिशाच्याः क्वावकाशः?** इति। देहं विना अनित्यज्ञानं न संभवति। अवच्छेदकतासंबन्धेन ज्ञानं प्रति तादत्म्येन शरीरस्य कारणत्वात्। शरीरावच्छेदेनैव आत्मनि समवायेन उत्पद्यते ज्ञानम्। अन्यथा आत्मनो विभुत्वेन घटाद्यवच्छेदेनापि ज्ञानस्यात्मनि उत्पादप्रसङ्गात्। यदुत्पद्यते तदनित्यमिति तज्ज्ञानमनित्यम्। शरीरव्यतिरेकेण ज्ञानं नोत्पद्यते। तत्र युक्तिमाह – **तयोरिति** अनित्यज्ञानदेहयोः कार्यकारणभावनिश्चयात् कारणं विना कार्यासंभवेन शरीरं विना अनित्यज्ञानं नोत्पद्यते इति। ईश्वरज्ञान च शरीरं विनैव अस्ति। अतो अनित्यज्ञानाद् भिन्नं नित्यं तद्। यद्यत् कार्यं तत्तत् बुद्धिमत्पूर्वकमिति। क्षित्यङ्कुरादिकं कार्यम् अस्मदादिभिः कर्तुम् अशक्यमिति कर्तुरीश्वरस्य ज्ञानं भवितव्यमिति तन्नित्यम्। यन्नित्यं ज्ञानं तत् सर्वविषयकं भवति। ईश्वरज्ञानस्यानियतविषयकत्वात्। घटविषयकमेव ईश्वरज्ञानं न पटविषयकमिति निर्धारयितुम् अशक्यत्वात्। नित्यत्वे सति तज्ज्ञानं सर्वविषयकं भवेत्। नियतविषयताया अनित्यत्वव्याप्यत्वात् ईश्वरज्ञानस्य अनियतविषयकत्वेन नित्यत्वम्। जन्यज्ञानस्य च नियतविषयकत्वेन अनित्यत्वम्।

ननु न खलु राज्ञ आज्ञा नियतविषयता अनित्यत्वेन व्याप्या अनियतविषयता नित्यत्वव्याप्येति चेद्? अत आह – **विषयनियमस्येति।** विषयनियमस्य ज्ञानसामग्रीशक्तिर्हि नियामिका भवति। सा च ज्ञानप्रयोजिका सामग्री प्रयोज्यतासंबन्धेन कार्ये ज्ञाने वर्तते। तत्र अनित्यत्वमपि वर्तते इति भवति व्याप्यव्यापकभावः तयोः। सामग्रीशक्तिश्च सामग्रीनिष्ठा प्रयोजकतारूपा न तदतिरिक्ता, नैयायिकैः

कारणतादिभिन्नशक्तेः अस्वीकारात्। सामग्र्याः सामग्रीनिष्ठशक्तेर्वा नित्यत्वेन सहानवस्थाननियमात् परस्परविरोधात्। तथा च सामग्रीशक्तिसमवधानसत्त्वे ज्ञाने विषयनियमः ज्ञानस्य नियतविषयकत्वम्। यत्र सामग्रीशक्तिसमवधानं नास्ति, तत्र विषयनियमो पि नास्ति। नास्ति च नित्ये ईश्वरज्ञाने सामग्रीशक्तिसमवधानम्। नातः तस्य नियतविषयकत्वम्। नित्यात् ईश्वरज्ञानात् व्यावर्तमाना सामग्रीशक्तिः स्वव्याप्यं विषयनियममुपादाय अनित्ये ज्ञाने इन्द्रियादिजन्ये विश्राम्यति। अतो नित्यज्ञानस्य नियतविषयकत्वं सामग्रीशक्तिसमवधानाद् भवति। नित्यज्ञानस्य सामग्रीशक्ति–समवधानाभावेन नियतविषयकत्वाभावाद् अनियतविषयकत्वं भवति इति नित्यानित्य–ज्ञानयोः नियतानियतविषयकत्वव्यवस्था।

सर्वविषयकनित्यज्ञाने ईश्वरस्य सिद्धे तदीयचिकीर्षाप्रयत्नयोरपि सर्वविषयकत्वं सिद्धम्। चिकीर्षाप्रयत्नयोः तयोः कारणीभूतस्य ज्ञानस्य यो विषयः स एव तयोर्विषयः। न स्वकारणीभूतज्ञानविषयाद् भिन्नः तयोः विषयो भवति। ज्ञानम् इच्छायाः कारणम्, इच्छा प्रयत्नस्य इत्युभयोः स्वस्वकारणविषयविषयकत्वमेव भवति। यत्र विषयनियतज्ञानसामग्री तत्रैव नियतविषयकं ज्ञानम्। यत्र च ताद शज्ञानं तत्रैव चिकीर्षा। यत्र च चिकीर्षा तत्रैव प्रयत्नः। प्रयत्नाच्च तत्र विषये प्रवर्तते हि लोकः। यद्यत् कार्यं तत्तज्ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नपूर्वकमिति नियमेन सर्वकार्यकारणविषयकनित्यानां ज्ञान–चिकीर्षा–प्रयत्नानां यानि कार्याणि तान्यपि ज्ञान– चिकीर्षा–प्रयत्नपूर्वकाणि। ज्ञान–चिकीर्षा–कृतिसमवायित्वं हि कर्त त्वम्। तथा च क्षितिः सकर्त का, कार्यत्वाद्, घटवद्, इत्यनुमानेन अस्मदादिभिः क्षितिः कर्तुं न शक्यते इति बाधसहकारेण कार्यत्वहेतुमादाय सर्वज्ञः अस्मदादिविलक्षणः क्षितिकर्ता ईश्वरः सिद्ध्यति। शरीराधिकव त्तिः कर्ता नोपाधिः संभवति। कर्त्रुपाधेः शरीराधिकव त्तित्वेन अशरीरस्यापि कर्त त्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। त्वया नभ्युगमात्। एव च कार्यत्वमादाय क्षितिकर्त त्वेन सर्वज्ञस्येश्वरस्य सिद्ध्या, शरीराधिककर्त रूपोपाधिमत्त्वेनाशरीरी कर्ता सिद्ध्यति। किं वा अनौपाधिककार्यत्वहेतुमादाय अशरीरी कर्ता सिद्ध्यतीति शङ्काया अनवतारः सिद्धः। अशरीरी विभुः कर्ता नोपाधिकः, शरीराधिकदेशव त्तित्वेन शरीरभिन्नस्य ताद शोपाधिमत्त्वेन कर्त त्वापत्तेः। स च तव नेष्टः। अनौपाधिककार्यत्वमादायैव अशरीरी कर्ता सिद्ध इति क्व ताद शशङ्काया अवकाशः? **सो पि निवार्यते** – इत्यनेन सा शङ्का निवारिता। तथा च कचिद् उपाधिमादाय अशरीरपूर्वकमपि किचिदेव कार्यं कर्त पूर्वकं भविष्यतीति शङ्कापिशाच्याः क्वावकाशः? नित्यज्ञानं प्रति शरीरस्य अकारणत्वात् नित्यज्ञानवतः कर्तुः साधने शरीरस्य अनुपाधित्वात्।

एवम् अनुमानान्तरेष्वपि साधनकर्मविरोधिनी बहिर्व त्तिः सहव त्तिः अन्तर्व त्तिः वा उपाधिः इत्यनया दिशा उपाधिशङ्का निरसनीया इत्याह – **एवमन्यत्रापि अनया दिशा उपाधिशङ्का निराकरणीयेति निरुपाधिसम्बन्धसिद्धिः।**

एवमनुमानान्तरेष्वपि साधनधर्म–(१) विरोधिनी, (२) बहिर्वृत्तिः, (३) सहवृत्तिः, (४) अन्तर्वृत्तिः वेति विकल्पचतुष्टयमुखेनोक्ता उपाधयः अनयादिशा निराकरणीयाः। अतो निरुपाधिकसंबन्धरूपा यत्कार्यं तत्सकर्तृकमिति व्याप्तिः सिद्ध्यति। यत्कार्यं तत्सकर्तृकमित्यन्वयव्याप्तिं साधयित्वा यन्न सकर्तृकं तन्न कार्यमिति व्याप्तिं साधयितुं सैव सरणिः ग्राह्या तयैव तस्याः सिद्धौ तदर्थं न पृथगुपाधिविधूननापेक्षा = पृथगुपाधिनिराकरणापेक्षा इत्याह – **विपक्षेति।** अविद्यमाने विपक्षे व्यतिरेकस्यैव असंभवाद् विपक्षसंभव इत्युक्तम्। साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वं व्यतिरेक–व्याप्तिः। यदि निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षो न सिद्ध्येत्, तदा कुत्र साध्याभावो हेत्वभावश्च सिद्ध्येत्? सिद्धे च तस्मिन् तत्र साध्यहेत्वभावौ सिद्ध्यतः। हेतुर्व्याप्यः साध्यं व्यापकमिति तद्विपरीतः हेत्वभावो व्यापकः साध्याभावो व्याप्यो भवति। तथा चान्वयव्याप्तौ निराकृते उपाधौ पृथग् स न निरसनीयः। हेतौ पूर्वप्रयासेनैव सोपाधिकत्वस्य निरस्तत्वात्। किन्तु तदभावाय विपक्षोऽन्वेषणीयः, येन यत्र यत्र साध्याभावः, तत्र तत्र हेत्वभावः, यथा विपक्षे इति व्यतिरेकसहचरात् साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूपा व्यतिरेकव्याप्तिः सिद्ध्येत्। यथा वह्निमान् धूमाद् इत्यत्र यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा ह्रद इति भवति। तथा यत्र सकर्तृकत्वं नास्ति तत्र कार्यत्वं नास्ति यथा गगनादिर्नित्य पदार्थ इति व्यतिरेकसहचारेण (उपाध्यभावेन च) सकर्तृकत्वाभावव्यापकीभूतकार्यत्वाभावप्रतियोगित्वरूप–व्यतिरेकव्याप्तिः कार्यत्वहेतौ सिद्ध्यति। तथा च क्षितिः सकर्तृका, कार्यत्वाद्, इत्यत्र सकर्तृकत्वाभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूपव्यतिरेकव्याप्तिमत्कार्यहेतुना क्षितौ सकर्तृकत्वसिद्धौ, सा अस्मदादिभिः कर्तुमशक्येति, इतरबाधसहाकरेण तेन अनुमानेन अशरीरी कर्ता ईश्वरः सिद्ध्यति। ईश्वरे शरीराभावः पूर्वोक्तयुक्त्या बोध्यः इति।

द्वितीयेऽपि श्रवणसम्पुटमवधाय कलकलस्त्यज्यताम्। तथाहि दण्डादिषूदासीनेषु दृश्यो दृश्यो वा (नाना) कारकव्यापाराविनिर्भागवृत्तिश्चेतनो निवृत्तो न वेति त्वमेव प्रष्टव्यः। न चेत्, कुतः कारणान्युदासते। निवृत्तश्चेत् कथमदृश्यव्यतिरेकसंशयः। तथापि यादृशस्यान्वयः, तादृशस्य व्यतिरेकोऽपि उपयुज्यत, इति चेत्। कोऽत्र विप्रतिपद्यते, कारकप्रयोक्तुरुभयत्रापि तुल्यत्वात्। देही तादृश इति चेत्? को स्यार्थः? किं देह-(देहव्यापारसंपादन-) द्वारैव सर्वाणि कारकाणि प्रयुङ्क्ते चेतनः, आहो देहं प्रयुञ्जान एवेति। न पूर्वः देहस्यापि कारकतया देहान्तरप्रयोज्यतायामनवस्थानात्। न द्वितीयः, विषशकल-चालनादौ व्यभिचारात्। देहं धारयन्निति चत्? सोऽयं देहो धार्यः, किं कारकतया तत्कारकान्तरप्रयोगार्थम्? अथ स्वकर्मोपात्ततामात्रेण? प्रथमे न विरोधः। देहस्य क्वचित् कार्यकारकतयाधिष्ठाननियमात्। यत्र तु न तत् कारकं तत्रापि तदधिष्ठेयमिति कश्चेतनोऽभिदध्यात्। द्वितीयेऽपि यः साक्षादधिष्ठा-

तुमशक्तः स साक्षादधिष्ठेयमुपादाय तत् प्रयु जीत, न त्वेकस्य साक्षादधिष्ठाना-योग्यमन्यस्यापि तथेति नियमः। देह एव व्यभिचारात्। त तीये त्वजागलस्तनकल्पः कायो नोपयुक्तांशविवेचने स्वं निवेशयति। यथा धूममात्रं प्रति तार्णदहनान्वय-व्यतिरेकयोरालोकवत्तेति। यदि चाकारकस्याप्यतत्प्रयोजकस्यापि अवश्यमपेक्षा स्यात्, य एव कुलालकायवान्, घटस्य कर्त्ता स एव करभशरीरवानपि दण्डादीन् प्रयु जीत। न खलु स्वकर्मोपात्ततामात्रेण करभकुम्भकारशरीरयोः कश्चिद्विशेषः। कार्यविशेषे कायविशेषो नुपयोग्यपेक्षणीय इति चेत्? तत्र कार्ये नुपयुक्तश्चावश्यापेक्षणीयश्चेति व्याघातः। अव्याघाते वा कुम्भे कर्तव्ये करभशरीरमप्यवश्यमपेक्षणीयमविशेषादिति। तस्मात् सन्दंशवदयः पिण्डवत् कारकतत्प्रयोजकतयैव शरीराधिष्ठाननियमो न तु शरीरत्वेनैव। न च शरीरस्य सर्वत्र कार्ये कारकत्वं तत्प्रयोजकत्वं वेति। एवं तर्हि न प्रतिनियतदेहाधि-ष्ठात सिद्धिः। अङ्कुरादिकारकाधिष्ठात्रापि तत्सिद्धेरिति चेत्, न। वादान्तरत्वात्। यदापि तत्प्रस्तावः तदापि न कार्यमात्रेण कारकाधिष्ठानमात्रेण वा तदनुमानम्। ततः कर्त मात्रसिद्धेः। किं तु हर्षभयशोकस्तिस्मितादिलिङ्गै-स्तानुन्नीय तैर्भोक्तुरनुमानमिति न कि चिदेतत्।

[अथ तदुत्पत्तिप्रतिबन्ध-साधनम्]

प्रतिबन्धरूपव्याप्तेः लक्षणान्तरं वक्तुमुचितम्। तच्च उपाधिविरहो वा स्यात्, तदुत्पत्तिर्वा, विपक्षबाधकं वा इत्यत्र, उपाधिविरहः प्रतिबन्धलक्षणमिति प्रथमो विकल्पः उपपादितः। इदानीं तदुत्पत्तिः प्रतिबन्धलक्षणमिति द्वितीयं विकल्पयितुम् उपपादयति – **द्वितीये पि श्रवणसंपुटमवधाय कलकलः त्यज्यतामिति।** कर्णयोः यत्परिवर्तनं तत्कृत्वा कलकलः = कोलाहलः त्यज्यतामिति बौद्धम् आक्षिपति। पूर्वं यत् गुरुमुखात् श्रुतं व्याप्तेः लक्षणान्तरमुचितमिति 'जगतो न को पि कर्ता' इति, 'क्षितिः कर्तारं विनैव भवति' इति च तव संप्रदाये यः कोलाहलः तं विस्म त्य, स्वस्थचित्तीभूय विचार्य च तत्त्यज्यताम्। यदि त्वया विचारः क्रियते तदा त्वं कथयिष्यसि कोलाहलो न युक्त इति। त्वं न विचारयसि, अतो मया सह विवदसे इति। कोलाहलस्य अयुक्तत्वं दर्शयति – **तथापीति।** व्याप्तेः लक्षणे य उदासीना दण्डादयः यद्वा व्यापाररहिताः ये दण्डादयः तेषु कारकाणि (कारणानि) दण्डादयः, तेषु यो नियतव्यापारः तत्प्रयोक्ता चेतनो द श्यो अद श्यो वा? स निव त्तो (व्यापारं परित्यज्य) तिष्ठति न वेति त्वमेव प्रष्टव्यः। घटजनके दण्डे यो व्यापारः स चेतनकर्तुरधीनो न वेति त्वां प च्छामि। यद्वा दण्डे यो व्यापाराभावः चेतनाभावप्रयुक्तो न वेति प च्छामि यदि कर्ता दण्डव्यापारात् न निव त्तः, अथ दण्डे व्यापारं करोति, दण्डं स चालयति, तदा कथं दण्डे व्यापारो न द श्यते? दण्डः कथं व्यापारहीनः? यदि चेतनः कर्ता दण्डं न स चालयति

दण्डव्यापारात् निव त्तश्चेत् दण्डे व्यापारः = पर्वतादिः क्वचिद् क्रमशः प्रादुर्भवति। तत्र तदवयवे या क्रिया सा चेतनाधिष्ठितेषु तेषु चेतनव्यापाराधीनैव क्रिया भवति। द श्यते च तथैव कुठारादिषु क्रिया। एव च अद श्यस्य चेतनस्य तत्क्रियाकर्तुः अभावसंशयः कथं क्रियते? अस्मदाद्यनधिष्ठितेषु ये व्यापाराः ते अद श्यचेतनाधीना इति निश्चयस्य ताद शसंशयाभावस्य सत्त्वेन ताद शो न युक्त इति भावः। तथा च पर्वताद्यवयवेषु या क्रिया भवति तस्याः कर्ता अद श्यचेतन ईश्वर एवेति सिद्धम्। दण्डादिषु क्रियाया अभावात् चेतनमात्रव्यतिरेको न निश्चेतुं शक्यते। सन्नपि चेतनो व्यापारं न करोति इत्यस्य संभवात्। किन्तु दण्डादिकारकप्रयोक्ताः कश्चित् चेतनो त्र नास्तीति निश्चेतुं शक्यते। अन्यथा दण्डादिषु व्यापारः स्यात् इत्यभिप्रायेणाह – **द श्यो द श्यो वेति।** तथा च द श्यचेतनस्य निव त्तिः दण्डव्यापाराभावेन भवितुं शक्यते। अद श्यस्य चेतनस्य अभावः कथं निश्चितः भवेत्? ताद शचेतनस्य अद श्यत्वादिति भावः।

ननु दण्डादिषु निर्व्यापारेषु सत्सु तत्प्रयोक्त द श्याद श्यसाधारण–चेतनमात्रव्यतिरेकसिद्धावपि याद शस्य देहिनो घटादिजनकेषु दण्डादिषु अन्वयो द ष्टः ताद शस्य चेतनस्य देहिनो व्यतिरेकः कारणत्वावधारणे पर्वतादिकर्त त्वावधारणे उपयुज्यते। यथा दण्डादिव्यापारे शरीरिणः चेतनस्य अन्वय इति व्यतिरेको पि तस्यैव वक्तव्यः, नत्वद शस्य चेतनस्य अशरीरिणः व्यतिरेको वक्तव्यः। अन्वय–व्यतिरेकयोः एकविषययोरेव प्रमाणत्वात्। अशरीरिणो अद श्यस्य चेतनस्य अन्वयः त्वया न कथयितुं शक्यते। तस्य अप्रत्यक्षत्वात् इत्यभिप्रायेणाशङ्कते – **तथापि याद शस्य अन्वयः ताद शस्य व्यतिरेको पि उपयुज्यत इति चेत्?** निर्व्यापार–दण्डादिषु द ष्टेषु अद श्यव्यतिरेकसंशयस्य अयुक्तत्वे पि यथा घटादिजनकेषु दण्डादिषु शरीरिण एव व्यापारान्वयव्यतिरेकित्वं तथा अशरीरिणो न द श्यते। केवलव्यतिरेकः तत्र कारणत्वनिश्चायको न भवितुमर्हतीति चेत्? अन्वयो पि कारकप्रयुक्त एव। देहसम्बन्धस्तु तस्य अजागलस्तनकल्प एव इत्यभिप्रायेण परिहरति – **को त्र विप्रतिपद्यते? कारकप्रयोक्तुः उभयत्र तुल्यत्वात्** इति। यथा घटजनकदण्डव्यापारं प्रति चेतनः कर्ता अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रयोजकः, तथैव पर्वताद्यवयवेषु क्रियां प्रत्यपि चेतनकर्ता अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रयोजको भवति। अत्र केषां विप्रतिपत्तिरस्ति? सर्वे तं स्वीकुर्वन्ति। कारकप्रयोगकर्तुः चेतनस्य घटजनके दण्डे पर्वतादिजनके तदवयवे च उभयत्रापि समानत्वात्। परः स्वाभिप्रायमाविष्करोति – **देही ताद श इति चेत्?** इति। देही = शरीरवान् एव कारकचक्रप्रयोक्ता = कर्ता दण्डादिव्यापारजनकः द श्यते, न तु अदेही। त्वया तु पर्वताद्यवयवे यो व्यापारः तं प्रति शरीररहितः चेतनः कर्ता कथ्यते इति भवत्युभयत्र भेद इति चेत्? उत्तरयति – **को स्यार्थः? किं देहद्वारैव कारकाणि प्रयुङ्क्ते चेतनः? आहो देहं प्रयु जान एवेति? न पूर्व इत्यादि।** चेतनः कारकाणि साक्षात् न प्रयुङ्क्ते, किन्तु देहद्वारैव कारकाणि प्रयुङ्क्ते?

अथवा साक्षात्कारकाणि प्रयुङ्क्ते एव, किन्तु देहमपि प्रयु जान एवेत्यर्थः। तत्र न पूर्वः। देहस्यापि कारकत्वेन तस्यापि प्रयोक्ता चेतनः देहद्वारैवेति कथनीयमेव। एवमग्रे पि इति अनवस्थापत्तेः। न द्वितीयः। विषशकलस्य चालनं देहमप्रयु जान एव विषवैद्यः कुरुते। जाङ्गलिको हि देहम् अप्रयु जान एव ध्यानमात्रेण विषशकलं (खण्डम्) चालयन् द श्यते इति भवत्यत्र व्यभिचारः। देहम् अप्रयु जान एव चेतनो विषशकलं कारकं प्रयुङ्क्ते इति व्यभिचारस्य स्पष्टत्वात्। ननु चेतनो देहं प्रयु जान एव कारकाणि प्रयुङ्क्ते इति न वदामः, किन्तु देहं धारयन् कारकाणि प्रयुङ्क्ते इति। तथा च नोक्तव्यभिचारः। विषवैद्यो पि चेतनो देहं धारयन्नेव विषशकलं कारकं चालयतीति शङ्कते – **देहं धारयन् इति चेत्?** इति। विकल्प्योत्तरयति – **सो यं देहो धार्यः किं (१)कारकतया, (२)तत्कारकान्तरप्रयोगार्थम्, (३)अथ स्वकर्मोपात्तता-मात्रेण? प्रथमे न विरोध इत्यादि।** किं कारकत्वेन (कारणत्वेन) देहो धार्यते? किं वा कारकान्तराणां प्रयोगाय देहो धार्यते? किं वा स्वकर्मोपात्तं देहं परित्यक्तुमशक्तः तं देहं धारयन्नेव कारकाणि प्रयुङ्क्ते? इति। शरीरं कारणम्, तद् अध त्वा कार्यं करोतीति प्रथमे न विरोधः न विवादः। देहस्यापि क्वचित्कार्ये उपदेशादिरूपे कारणतया अधिष्ठाननियमात् (शरीरधारणनियमात्) "अयं मम हितचिन्तको मां हितम् उपदिशति" इति तं विना शिष्यस्य असंभवात्। अथवा शरीरधारणं विना हितोपदेश एव न कर्तुं शक्यते। यत्रापि जगत्स ष्ट्यादौ शरीरस्य न कारणं तत्रापि जगत्स ष्ट्यादौ शरीरम् अधिष्ठेयम् निष्प्रयोजनकं शरीरं ध त्वैव जगत्स जतीति कश्चेतनो बुद्धिमान् कथयेत्? न कथयेदिति भावः। जगत्स ष्ट्यादौ शरीरस्य न कारणं न वा शरीरम् अध त्वा जगत्कर्तुं शक्यते इत्यपि न इति किमर्थं शरीरं धरिष्यति? प्रयोजनम् अनुदिश्य मन्दो पि न प्रवर्तते, कुतो यं महान् चेतनः प्रवर्तेत? द्वितीये पि – कारणान्तरप्रयोगार्थं शरीरं धार्यते इति पक्षे पि, यः चेतनः साक्षात् कारणान्तरं दण्डादिकम् ग्रहीतुं न शक्नोति किन्तु शरीरद्वारैव ग्रहीतुं शक्नोति, तत्र अस्तु शरीरधारणं तस्य। यः कारणान्तराणि शरीरं विनैव ग्रहीतुं शक्नोति सः समर्थः चेतनः किमर्थं शरीरं धारयेत्? प्रयोजनाभावात्। एकस्य चेतनस्य साक्षादधिष्ठानयोग्यम्, तदन्यस्यापि तदधिष्ठानयोग्यमेवेति नियमो नास्ति। यः कारणान्तरं साक्षाद् ग्रहणे असमर्थः स ग ह्णाति शरीरम्। न समर्थो पि तथा करोति, प्रयोजनाभावात्। तत्र शरीरस्य ग्रहणे सामर्थ्यं प्रयोजकम्, अग्रहणे चासामर्थ्यम् इत्यस्यैव नियामकत्वात्। कुलालादिः घटादिकरणे प्रव त्तो पि शरीरं विना दण्डादिकारणं स्वयं ग्रहीतुं न शक्नोति। अतः तदर्थं शरीरं ध त्वैव दण्डादिकं ग ह्णाति? समर्थश्चेतनः न क्षित्यादिकरणे प्रव त्तः, किमर्थं शरीरं ध त्वैव तत्परमाण्वादिकारणं ग ह्णीयात्? साक्षात् तद्ग्रहणे सामर्थ्यस्य सत्त्वात्।

नन्वेकवद् अन्यो पि कारणान्तरग्रहणे अशक्त एव इत्यत आह – **न त्वेकस्येति।** एकस्य साक्षाद् अधिष्ठानयोग्यं कारणान्तरम् = ग्रहणयोग्यम् कारणान्तरम्;

तदन्यस्यापि कारणान्तरं न योग्यमिति नियमः। चैत्रशरीरं मैत्रानधिष्ठेयमपि = चैत्रशरीरं मैत्रग्रहणायोग्यमपि चैत्राधिष्ठेयम् एव चैत्रग्रहणयोग्यमेव। सर्वो हि अन्यस्य साक्षादधिष्ठानयोग्यमपि = ग्रहणयोग्यमपि देहं स्वयमधितिष्ठन् = ग ह्णन् द श्यते।

त तीये तु – स्वकर्मोपात्तं देहं परित्यक्तुम् अशक्तः तं धारयन्नेव कुलालादिः दण्डादिकं कारणान्तरं प्रयुङ्क्ते इति त तीयपक्षे तु अजागलस्तनसद शः कायः = देहः न उपयुक्तांशविवेचने। अयं कायो जगत्स ष्टौ उपयोगी नवेति विचारे जायमाने स्वयं चेतनः तत्सर्जने उपयुक्तेषु स्वदेहं न प्रवेशयति इति केचित्। यद्वा, जगत्स ष्टौ अजागलस्तनसद शः कायः उपयुक्तप थक्करणे अयमत्रोपयुक्तो यं नोपयुक्त इति विचार्य स्वं = कायं न निवेशयति = प्रवेशयति। कायः स्वयमेव जगत्सर्जनस्योपयुक्त–कारणमध्ये न प्रविशति। यथा धूममात्रं प्रति तार्णवह्न्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वावधारणे सति तस्य आलोकवत्ता धूमोपयोगिनि कृष्टे स्वयम् आत्मानं न प्रवेशयति। धूमं प्रति आलोकवत्ताया अनुपयोगात्, धूमसामग्री मध्ये तस्या न प्रवेश इति। **नोपयुक्तेति**। स्वकर्मोपात्तं देहं धारयतः कारकप्रयोजकत्वे पि तस्य तत्र अनुपयुक्तत्वात् न उपयुक्तांशे निकृष्टे प्रवेशः संभवतीत्यर्थः। यथा धूममात्रं प्रति तार्णदहनान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वावधारणे तस्य आलोकवत्ता नोपयुक्तांशनिष्कर्षे स्वात्मानं निवेशयति इत्यर्थः। अकारकस्य (अकारणस्य) अकारकप्रयोगद्वारकस्य देहस्य स्वकर्मोपात्तत्वमात्रेण अपेक्षा न युक्तेत्युक्तम्। यदि ताद शापेक्षा स्यात् तर्हि य एव चेतनः कुलालादिशरीरवान् घटस्य कर्ता, स एव करभयोनिः जन्मनिमित्तेन कर्मणा करभशरीरवानपि घटकारणभूतान् दण्डादीन् प्रयु जीत। स्वकर्मोपात्तदेहस्य तदानीम् अपि अविशेषाद् इत्याह – **यदि च अकारकस्य अतत्प्रयोगद्वारकस्यापि देहस्य अवश्यमपेक्षा स्यात्, य एव कुलालकायवान् घटस्य कर्ता, स एव करभशरीरवानपि दण्डादीनि प्रयु जीत। न खलु स्वकर्मोपात्ततामात्रेण करभकुम्भकारशरीरयोः कश्चिद् विशेष** इति **नारायणीटीका**। **शङ्करमिश्रास्तु** एकस्य आत्मनो अद ष्टवशात् कुलालकरभशरीरपरिग्रहः संभाव्यत एव। पुण्येन मनुष्यशरीरं पापेन तद्भिन्नपश्वादिशरीरं भवति। तथा च करभशरीरावच्छेदेन अपि तस्य आत्मनो घटकर्त कत्वं प्रसज्येत इत्यर्थः।

अयं भावः। अस्मिन् कार्ये अस्य शरीरस्य उपयोगः स्वयं कारणान्तराणि ग्रहीतुं न शक्नोमीति विचार्य तच्छरीरं तत्कार्यार्थं ग ह्णाति कर्ता चेतनः; न तु कर्मोपात्तत्वमात्रेण शरीरं तत्कार्ये ग ह्णाति। अन्यथा कुलालात्मा चेतनः घटकार्ये पि करभशरीरं ग ह्णीयात्। कर्मोपात्तत्वमात्रकुलालशरीरकरभशरीरयोः उभयोः अविशेषात्, विनिगमकाभावात्। यस्मिन् कार्ये शरीरस्य नोपयोगः तस्मिन् कार्ये शरीरं न ग ह्णाति। यथा जगत्सर्जने शरीरं विनैव इच्छया प थिव्यादिपरमाणुषु कर्मोत्पत्त्या तेषां संयोगेन द्व्यणुकादिक्रमेण महत्याः प थिव्या उत्पत्तौ तस्मिन् कार्ये शरीरं न

ग ह्णाति। कि च जीवो पि कर्मवशप्राप्तशरीरं, यत्कार्ये यस्य शरीरस्य उपयोगः, तस्मिन् कार्ये तच्छरीरं ग हीत्वा कार्यं करोति, न तु कर्मोपात्तानि सर्वाणि शरीराणि ग हीत्वा कार्याणि करोति। ईश्वरस्य तु न कर्मोपयोगः। येन तदर्थं शरीरं स्यात्। इच्छयैव तत्तत्कार्यं करोतीश्वरः। "मनसैवास जत्" इत्यादि वेदे उपलभ्यते। वेदस्य प्रामाण्यमुक्तम् इति। जगत्सर्जने नुपयोगिशरीरम् अध त्वैव स जति जगत् अशरीरी ईश्वरः कर्तेति।

घटरूपकार्यविशेषे अनुपयुक्तो पि कुलालकाय एव अपेक्षणीयः, न तु करभकाय इति शङ्कते – **कार्यविशेषे कार्यविशेषो नुपयोगी अपि अपेक्षणीय इति चेत्?** इति। कार्यस्य अप्रयोजकत्वम् अपेक्षणीयत्वं चेति व्याहतम्। (यो घटे कार्ये अप्रयोजकः कुलालकायः स तस्मिन्नेव कार्ये अपेक्षणीय इति कथं स्यात्? अप्रयोजकत्व–अपेक्षणीयत्वयोः सहानवस्थायित्वेन परस्परं विरोधात्) कुलालकायस्य स्वकर्मोपात्तत्वेन परित्यक्तुम् अशक्यत्वात् घटकार्ये तस्य अप्रयोजकस्य तस्मिन् कार्ये पेक्षणीत्व चेत्? तदा पापाचरणेन प्राप्तकरभकायस्य स्वकर्मोपात्तत्वेन परित्यक्तुमशक्यत्वात् कुलालस्य घटकार्ये पि तदपेक्षणीयत्वापत्तिर्दुरवस्था लोकविरोधात्।

ननु स्वकर्मोपात्तत्वेन परित्यक्तुमशक्यतया घटकार्ये कुलालकायो अपेक्षणीय इत्याशङ्क्य उत्तरयति – **अव्याघाते वा कुम्भे कर्तव्ये करभशरीरमपि अवश्यम् अपेक्षणीयम् अविशेषादिति**। यदि घटकार्ये अनुपयुक्तस्य कायस्य अपेक्षा न विरुद्ध्येत = स्वकर्मोपात्तत्वेन तस्य त्यक्तुमशक्यतया न व्याघातश्चेत्, अनुपयुक्तत्वापेक्षणीयत्वयोर्न विरोधश्चेत्, तदा कुम्भे कर्तव्ये कुलालेन करभशरीरमपि अपेक्षणीयं स्यात्। कुलालकायकरभकाययोः स्वकर्मोपात्तत्वेन त्यक्तुमशक्यत्वस्योभयत्र तुल्यत्वात्। तस्माद् यस्मिन् कार्ये यस्य शरीरस्य कारणत्वं कारक–(कारण)–प्रयोजकत्वं वा तस्मिन् कार्ये तस्य शरीरस्य अधिष्ठानम् = ग्रहणम् इति नियमः। न तु स्वकर्मोपात्तत्वेन त्यक्तुमशक्यतया शरीरस्य शरीरत्वेन अधिष्ठाननियमः = ग्रहणनियमः। तथा च कुलालः स्वयं दण्डादिकारणं ग्रहीतुम् अशक्नुवन् कुलालकायं ग हीत्वा दण्डादिकारणं ग ह्णाति। भवति च कुलालशरीरस्य कारक–(कारण)–प्रयोजकत्वम् न तु करभशरीरस्य इत्युपसंहरति – **तस्मात् सन्दंशवदयःपिण्डवत् कारकप्रयोजकतयैव शरीराधिष्ठाननियमो न तु शरीरत्वेनैवेति।** यस्मिन् कार्ये यस्य शरीरस्य कारकत्वं (कारणत्वं) तस्मिन् कार्ये तच्छरीरमपेक्षणीयम्। यथा उपदेशः मनुष्यशरीरं विना न संभवति इति उपदेशं प्रति मनुष्यशरीरं कारणमिति उपदेशरूपकार्ये मनुष्यशरीरमपेक्षणीयम्। घटादिकार्ये दण्डादिकारकाणां ग्रहणं कुलालादिशरीरं विना न संभवतीति कुलालादिशरीरस्य कारकप्रयोजकत्वेन अपेक्षणीयम्, प्रयोजकत्वात्। कारकत्वेन शरीरस्य ग्रहणे सदंश इति द ष्टान्तः। कारकव्यापाराश्रयत्वेन तु अयःपिण्ड इति। ननु क्षित्यादेरपि शरीरं कारकं प्रयोजकं वा स्यात्। तथा च

क्षितिसर्जने तव ईश्वरेण शरीरं ग्राह्यं कुलालवत् इति कथम् अशरीरी चेतनः कर्ता क्षित्यादेः त्वया कथ्यते इत्यत आह – **न च शरीरस्य सर्वत्र कारकत्वं प्रयोजकत्वं वेति**। "सो यं देहो धार्यः किं कारकतया" इत्यादिना शरीरस्य सर्वस्मिन् कार्ये कारकत्वं प्रयोजकत्वं वेति खण्डितम्। तथा च क्षित्यादिकार्ये ईश्वरस्य शरीरस्य न अपेक्षा। अतः तस्मिन् शरीरस्य कारकत्वं न वा प्रयोजकत्वमिति तस्मिन् शरीरं विनैव ईश्वरः तत्कार्यं करोति। ईश्वरेच्छया परमाणुकर्मोत्पत्त्या संयोगोत्पत्तेः द्व्यणुकादिक्रमेण प थिव्यादीनां स ष्टिर्भवतीति **कणादसूत्रप्रशस्तपादभाष्ययोः** द्रष्टव्यम्।

ननु यदि अशरीरस्यैव (न विद्यते शरीरं यस्य तस्य) चेतनस्य साक्षाद् अङ्कुरादिकारकाधिष्ठानम्, तर्हि सर्वविषयकज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नवता तेनैव कारकीभूतसमस्तदेहाधिष्ठानोपपत्तेर्न प्रतिदेहमधिष्ठात भेदः सिद्ध्येदिति आत्मनानात्वं न स्याद् इत्याशङ्कते – **एवं तर्हि न प्रतिनियतदेहाधिष्ठात सिद्धिरिति।** यद्वा, ईश्वरेणैव घटादिकार्यनिर्वाहात् किं कुलालादिना स्याद् इत्याशङ्कते – **एवं तर्हि न प्रतिनियतदेहाधिष्ठात सिद्धिः, अङ्कुरादि- कारकाधिष्ठात्रसिद्धेरिति चेत्?** इति। अस्ति तावत् अङ्कुरादिकार्याधिष्ठानाद् देहशून्यश्चेतनः। अयमेव च साधयितुमुपक्रान्तः, आत्मनानात्वविचारस्तु वादान्तरम्। अतः किं तदसिद्ध्या हीयत इति परिहरति – **न। वादान्तरत्वात्।** ईश्वरः साधयितुमुपक्रान्तः, स च सिद्धः। किमधुना कुलालादिकर्त त्वसाधनेन। अस्य वादान्तरत्वात् प्रश्नमाला न युक्ता। तस्या निग्रहप्रयोजकत्वात् इति समाधानार्थः।

यदा यर्हि तत्प्रस्तावः, तदा कथं प्रतिनियतदेहाद्यधिष्ठात सिद्धिरिति चेत्? तत्राह – **यदापि तत्प्रस्तावः, तदापि न कार्यमात्रेण कारकाधिष्ठानमात्रेण वा तदनुमानमिति।** यदापि प्रतिनियत–देहाधिष्ठात सिद्धिप्रस्तावः, तदापि कार्यमात्रेण कारकाधिष्ठात मात्रेण वा प्रतिनियतदेहाधिष्ठातुः अनुमानम्, ततः कार्यतः कारकाधिष्ठानमात्रतः कर्त मात्रसिद्धेः, 'यद्यत्कार्यं तत्तत् सकर्त कं, कार्यत्वात्, घटवद्' इत्यनुमानेन यः कारकाधिष्ठाता स कर्ता अधिष्ठात त्वात् दण्डाद्यधिष्ठात देवदत्तवद् इत्यनुमानेन कर्त मात्रसिद्धेः। किन्तु हर्ष–भय–शोकानां यानि स्मित–कम्प–रुदितानि लिङ्गानि, तैः तान् हर्षादीन्, उन्नीय तैश्च हर्षादिभिः प्रतिनियतदेहाधिष्ठातॄणां चेतनानाम् आत्मनाम् अनुमानं भवति। यद्येक एव सर्वेषु शरीरेषु आत्मा स्यात् तदा एकस्य हर्षेण स्मितवन्तः सर्वे स्युः। एवं भय–शोकयोः लिङ्गयोरपि बोध्यम्। **यदापीति**। अयमर्थः, भोक्तैव प्रतिनियतदेहाधिष्ठाता इष्यते। स च न कार्यमात्रेण कारकाधिष्ठानत्वेन वा अनुमीयते। तेन कर्त मात्रस्यैव सिद्धेः। किन्तु स्मितादिलिङ्गानुमितैः हर्षभयशोकैः; तेषां भोक्त धर्मत्वात्। तैश्च प्रतिनियतैः प्रतिनियता एव भोक्तारो अनुमातुं शक्यन्ते एवेति भाव इति **नारायणी।**

त तीये पीर्ष्याकषाये चक्षुषी निमील्य न्यायानुसारः श्रूयताम्। इह जगति नास्त्येव तत्कार्यं नाम, यत्कारकचक्रमवधीर्यात्मानमासादयेदित्यविवादम्। तच्च सर्वं चेतनोपहितमर्यादम्। अन्यथा तल्लक्षणव्यवस्थानुपपत्तेः। तथा हि आधेयकारकोपहितमर्यादमधिकरणस्य रूपम्, आधारत्वात्। अपनेयापगन्त कारकोपहितं च स्वरूपमपादानस्य, तदवधित्वात्। करणीभूतकर्मोपहितं च रूपं सम्प्रदानस्य, तदभिप्रेयत्वात्। करणोपहितं च रूपं कर्मणः, तद्व्याप्यत्वात्। कर्त्रुपहितं च रूपं करणस्य। साक्षात्तद्व्यापारविषयत्वात्। समस्तकारकोपहितं च रूपं कर्तुः, तत्प्रयोजकत्वात्। ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारत्वव्यवस्थितेश्च न चक्रकेतरेतराश्रयदोषः। एवं सति कर्त व्याव त्तेस्तदुपहितसीमसमस्तकारकव्याव त्तावकारककार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इति स्थूलः प्रमादः।

[कारकाधीनकार्य-वर्णनम्।]

विपक्षे बाधकं वेति त तीयं विकल्पम् उपपादयति – **त तीये पीर्ष्याकषायिते चक्षुषी निमील्य न्यायानुसारः श्रूयताम्।** ईर्ष्यया कषायिते नेत्रे निमील्य न्यायानुसारः श्रूयताम्। इह जगति नास्त्येव तत्कार्यं यत्कारकचक्रम् (समुदायम्) अवधीर्य = परित्यज्य आत्मानम् = स्वरूपम् आसादयेत् = प्राप्नुयात् इत्यविवादम्। कारणं विना कार्यं न भवतीति निर्विवादम्। अन्यथा कार्यस्य आकस्मिकत्वापत्तेः। कार्यस्य स्वोत्पत्तौ केषामपि अपेक्षाविरहात्। न को पि कार्यमाकस्मिकम् इच्छति। धूमार्थी वह्निम् अनुसरति, वह्नेः धूमजनकत्वात्। पिपासया पीड़ितो जनश्च जलम् इच्छति, जलस्य पिपासाशामकत्वात्। अन्यथा धूमार्थी पर्वतम् अनुसरेत्, पिपासया पीडितश्च अन्नमिति लोकव्यवहार उच्छिद्येत। तच्च सर्वम् = कारकचक्र च (कारकसमुदाय च) सर्वम् चेतनोपहितमर्यादम् = चेतनेन उपहिता = व्यवस्थिता मर्यादा यस्य, तत् चेतनोपहितमर्यादम्; कारकचक्रम् कारकसमुदायम्। कर्त–कर्म–करण–संप्रदान–अपादान–अधिकरण–भेदेन कारकं षड्विधं भवति। तच्च कारकं चेतनं विना न भवति। सर्वत्र कारके साक्षात् चेतनोपहितमर्यादत्वम्, क्वचिच्च परम्परया तद् भवति। तच्चाग्रे स्फुटीभविष्यति। कारकचक्रे चेतनोपहितमर्यादत्वास्वीकारे दोषमाह **अन्यथेत्यादि।** कारकचक्रस्य चेतनोपहितमर्यादत्वाभावे कारकाणां लक्षणव्यवस्था–नुपपत्तेः। अयं कर्ता, इदं कर्म, इदं करणम्, इदं सम्प्रदानम्, इदमपादानम्, इदम् अधिकरणमिति व्यवस्थानुपपत्तेः। तल्लक्षणव्यवस्थानुपपत्तिं दर्शयति – **तथाहीत्यादिना।** आधेयम् यत् कर्त–कर्मान्यतरत् तदुपहितमर्यादम्, (तद् व्यवस्थिता मर्यादा यस्य, तत् तदुपहितमर्यादम्) अधिकरणस्य स्वरूपम् (अधिकरणम्) आधारत्वात्। कर्त कर्मणोराश्रयत्वात् कर्त कर्मद्वारा क्रियाधारस्यैव अधिकरणत्वं भवति। तन्नियामकं पाणिनीयसूत्रम् "आधारो धिकरणम्" इति। आधारस्य आधेयापेक्षितत्वेन अधिकरणस्य च भवति आधेयोपहितत्वम्।

अपादानस्य रूपम् (स्वरूपम्) अपनेयापगन्त कारकोपहितत्वम्। अपनेयम् = त्याज्यः, अवधिरूपो व क्षादिः, अपगन्ता च खगादिः। तथा च अपनेता अवधिभूतेन कारकेण अपगन्त्रा कारकेण = कर्त कारकेण उपहितं व्यवस्थितं येन तत् अपनेयापगन्त कारकोपहितम् अपादानम् = अपादानस्य स्वरूपम्। अपनेयश्च अपगन्ता चेति अपनेयापगन्तारौ, तौ च कारकौ इत्यपनेयापगन्त कारकौ, ताभ्याम् उपहितं यत्तत् अपादानस्य रूपम् अपादानकारकम्। कथमित्याह – तदवधित्वात् विभागावधित्वात् इति "ध्रुवमपाये पादानम्" इत्यपादानस्य तदवधित्वम्। अपायो विश्लेषः विभागापरपर्यायी। तत्र ध्रुवम् अवधिभूतम्, तत् अपादानम्। 'व क्षात् पतति खगः' इत्यत्र खगस्य विभागावधिभूतो व क्षः। 'कस्मात् पतति खगः' इति प्रश्ने सति 'व क्षात् पतति' इत्युत्तरम्। विभागश्च व क्षखगनिष्ठः। तस्य अवधिरत्र व क्षः, न तु खगः। अनेनापि अपनेयस्य नियतकर्मत्वात्, कर्मोपहितत्वम् अपादानस्य दर्शितम्।

करणीभूतं क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकम् यत् कर्मकारकम्, तेन उपहितं व्यवस्थितं यत् तत् संप्रदानम्, संप्रदानस्य रूपम्। बहुब्रीहिसमासेन सम्प्रदानस्य तद्करणेन संप्रदानस्य रूपं भवति। इयं रीतिः अधिकरणे पादाने च बोध्या। अनेन सम्प्रदानस्यापि कर्मोपहितत्वं स्पष्टम् एव उक्तम्। कथमित्याह – **तदभिप्रेयत्वादिति।** "कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्" इति कर्माभिप्रेयत्वात् सम्प्रदानस्येति। 'विप्राय गां ददाति देवदत्तः' इत्यत्र कर्मणा गोरूप–देयद्रव्येण दाता देवदत्तः विप्रम् अभिप्रैति इच्छति। तथा च विप्रे देयद्रव्येण दात्रभिप्रेतत्वं वर्तते। एव च अधिकरण–अपादान–सम्प्रदानेति कारकत्रयस्य कर्मोपहितत्वम् उक्तम्।

कर्मणश्चापि करणोपहितरूपमित्याह – **करणेति।** करणेनोपहितं = व्यवस्थितं कर्मणो रूपम्। कथमित्याह – **तद्व्याप्यत्वात्** इति। कर्मणः करणव्यापारविषयत्वात्। करणं कर्तव्यं तेन उपहितं व्यवस्थितं रूपं कर्मणः। 'देवदत्तो हरिं भजति' इत्यत्र देवदत्तसमवेतभजनक्रियाविषयस्य हरौ सत्त्वात् भवति हरिः कर्म। भजनक्रियाया कर्त्तव्यत्वेनोपहितं व्यवस्थितरूपं कर्मणो भवति। कर्तारं विना क्रियाया अनिष्पत्तेः।

करणस्यापि रूपं कर्त्रुपहितमित्याह – **कर्त्रुपहितमिति।** कर्त्रा उपहितं व्यवस्थितं रूपं करणस्य। कथमित्याह – **साक्षादिति।** करणस्य साक्षात्कर्त व्यापार–विषयत्वात्। अन्योद्दिष्टकृतिव्याप्यं करणं धात्वर्थफलरूपम् कृतिश्च कर्त व्यापार एवेत्यभिप्रायः। 'देवदत्तो हरिं भजति' इत्यत्र करणं प्रीतिरूपं फलम्, तच्च प्रीतिरूपं फलम् कर्तुर्देवदत्ताद् भिन्ने हरौः, यतः तदुद्देशकम्। हरेः प्रीतिमुद्दिश्य देवदत्तः भजनरूपव्यापारे प्रव त्तः। भजन च प्रीत्यनुकूलो व्यापारः देवदत्तरूपकर्त समवेतः। तद्व्याप्यं प्रीतिरूपफलं भवति। व्याप्यता च तादात्म्येन व्यापकता च जन्यत्वसंबन्धेन। जन्यत्वसंबन्धेन कर्त व्यापारः धात्वर्थफले प्रीतौ वर्तते। तत्र प्रीतिरूपफलमपि तादात्म्येन अस्ति। कृतिश्च धातुवाच्यो व्यापारः। एवमन्यत्रापि बोध्यम्।

एव च चेतनरूपकर्त्रुपहितत्वात् करणोपहितत्वाच्च कर्मणः, कर्मो–पहितत्वाच्चेतरकारकत्रयस्य (अधिकरणापादानसम्प्रदानानाम्) साक्षात् परम्परया वा चेतनोपहितमर्यादत्वम् कारकचक्रस्य दर्शितम्। इदानीं न केवलं कारकान्तराण्येव कारकान्तरोपहितरूपाणि, कर्त कारकमपि कारकान्तरोपहितरूपमित्याह – **समस्तेति।** स्वव्यतिरिक्तसमस्तकारकोपहितं रूपं कर्तुः, कारकप्रयोक्त रूपत्वात् तस्येति। तथा च स्वव्यतिरिक्तैः समस्तकारकैः उपहितं = व्यवस्थितं रूपं यस्य स कर्त रूपकारकम्, तस्य भावः कर्त कारकत्वम्, कर्तुः कारकचक्रप्रयोक्त त्वात्। कारकचक्रप्रयोक्त त्वं कर्त त्वं बोध्यम्।

आधेयं यत् कर्त कर्मकारकान्यतरत्, तदुपहितत्वं = तदन्यतरेण उपहितं व्यवस्थितं रूपं यस्य तद् अधिकरणम्। कर्त कर्मद्वारा क्रियाधारस्यैव अधिकरण–संज्ञाविधानात्। अपनेयापगन्त कारकोपहितमपनेयेन त्याज्येन (व क्षादिना) अपगन्त्रा खगादिना कारकेणोपहितं व्यवस्थितं रूपं = स्वरूपम् अपादानस्य। अपनेयावधित्वाद–पादानस्य। अपनेयापगन्त भ्यां व्यवस्थितं रूपं यस्य अपादानस्य तत् अपनेयापगन्त कारकव्यवस्थितरूपम् (अपनेयापगन्त कारकोपहितं रूपं तद् रूपं यस्य तत् अपनेयापगन्त कारकरूपम्) अपादानम्; तस्य भावः अपनेयापगन्त कारको–उपहितरूपत्वम् अपादानत्वम्। अपनेयस्य नयतिकर्मत्वेन अपादानस्य कर्मोपहितत्वं दर्शितमनेन। विभागावधिभूतस्यापादानत्वेन ततः प चमी भवति। 'व क्षात् पतति खगः' अत्र विभागस्य धात्वर्थत्वाभावात् प चमी द्वितीयया न बाध्यते। 'व क्षं त्यजति खगः' इत्यत्र विभागस्य धात्वर्थत्वेन द्वितीयया प चमी बाध्यते। अतो वधेः अपनेयस्य त्याज्यस्य व क्षादेः कर्मत्वयोग्यताम् आदाय कर्मत्वोपहितत्वमपादानस्य संगतम्। तथा च धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वं यत्र अवधिभूतस्य भवति, तत्र द्वितीया भवति। यत्र न तस्य तथात्वं तत्र प चमी। परत्वेन द्वितीयायाः बलवत्त्वात्। करणीभूतेन कर्मणा उपहितं व्यवस्थितं सम्प्रदानस्य रूपं भवति। तद् कर्मणा देयद्रव्येण दातुरभिप्रेयत्वात् संप्रदानस्य विप्रादेः। करण च अन्योद्दिष्टकृतिव्याप्यम्, कृतिश्चात्र कर्त व्यापारः। कृतेः व्यापकताच्छेदकसंबन्धो जन्यत्वम्। अन्योद्दिष्टस्य धात्वर्थतावच्छेदकफलस्य व्याप्यतावच्छेदकसंबन्धः तादात्म्यम्। 'विप्राय गां ददाति देवदत्तः', इत्यत्र स्वस्वत्त्वनिव त्तिपूर्वक–परस्वत्त्वोत्पत्त्यनुकूलव्यापारो धात्वर्थः। कर्त रूपदेवदत्तान्यविप्रोद्देश्यम् तद्व त्तिः स्वस्वत्त्वनिव त्तिपूर्वक–विप्रस्वत्त्वोत्पत्तिरूपं फलम् स्वत्वम्, एताद शफलानुकूलस्य देवदत्तसमवेतव्यापारस्य व्याप्यं भवति। जन्यत्वसम्बन्धेन तादत्म्येन ताद शफले (सम्बन्धिफले) व्यापारस्य सत्त्वात्। गोकर्मणा च दात्रा भिप्रेतो विप्रः। तथा च अधिकरणापादानसम्प्रदानकारकाणां त्रयाणां कर्मोपहितत्वं बोध्यम्। कर्मणो रूप च करणोपहितम्। करणेन धात्वर्थतावच्छेदकफलेनोपहितं व्यवस्थितं रूपं यस्य कर्मणः तच्च रूपं तस्य भावः करणोपहितरूपत्वं कर्मत्वं कर्मणो लक्षणम्। कर्मणः धात्वर्थतावच्छेदकफलशालिनः करणघटक–कृतिरूप–

कर्त व्यापारव्याप्यफलशालित्वात्। अन्योद्दिष्टकृतिव्याप्यरूपकरणघटककृतिजन्य–फलशालि कर्म भवति। 'देवदत्तः ग्रामं गच्छति' इत्यत्र देवदत्तव त्तिव्यापारजन्य–संयोगरूपधात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वस्य ग्रामे सत्वात्। कर्त भिन्नो ग्रामादिः तदुदिष्टं फलं संयोगादिः। तादात्म्येन स्वव त्तिः, तत्र जन्यता संबन्धेन कर्त व्यापारस्य सत्त्वात् भवति कृतिव्याप्यम्। अन्योद्दिष्टं फलं करणम्, करणस्य रूपं कर्त्रुपहितम् व्यवस्थितम्। करणस्य साक्षाद् कर्त व्यापारविषयत्वात्। साक्षात्कर्त व त्तिव्यापारजन्यं हि धात्वर्थतावच्छेदकं फलं करणं भवति। एव च चेतनरूपकर्त्रुपहितत्वात् करणोपहितत्वाच्च कर्मणः। करणकारकस्य च कर्त्रुपहितत्वम्। स्वव्यतिरिक्तसमस्तकारकोपहितं रूपं कर्त कारकस्य कारकचक्रप्रयोक्त रूपत्वात्। कारकचक्रप्रयोक्त त्वं कर्त त्वम्। तथा च अधिकरणापादानसम्प्रदानकारकाणां त्रयाणां साक्षात् कर्मोपहितत्वं परम्परया चेतनो–पहितमर्यादत्वम्। एवम् अन्येषामपि कारकाणां साक्षात्परम्परया कर्त रूपचेतनोपहित–मर्यादत्वं बोध्यम्।

ननु कर्त्रपेक्षत्वात् करणस्य, करणापेक्षत्वात् कर्मणः, कर्मापेक्षत्वात् च इतरकारकत्रयस्य तदपेक्षत्वाच्च (कारकचक्रापेक्षितत्वाच्च) कर्तुरिति चक्रकम्। स्वापेक्षग्रह–सापेक्षग्रह–सापेक्षग्रह–विषयत्वं चक्रकत्वम्। तथा करणापेक्षं कर्त रूपम्, कर्त्रपेक्षं च करणरूपमिति इतरेतराश्रयश्चापद्येत। स्वग्रह–सापेक्षग्रह–सापेक्षग्रहविषयत्वम् इतरेतराश्रयत्वमिति मनसि क त्य आह – **ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारत्व-व्यवस्थितेश्च न चक्रकेतरेतराश्रयदोषः** इति। अयमभिसन्धिः – "ज्ञान–चिकीर्षा–प्रयत्नसमवायित्वम् प्रत्येकं वा समवायित्वं कर्त त्वम्"; कारकचक्रप्रयोक्त त्वं वा कर्त त्वम्, इति कर्तुः द्वे रूपे स्तः। तत्र कारकचक्रप्रयोक्त त्वस्य कारकान्तरसापेक्षत्वे पि इतरस्य ज्ञान–चिकीर्षा–प्रयत्न–समवायित्वस्य कारकान्तरानपेक्षत्वेन स्वरूप एव व्यवस्थितत्वात् न चक्रकेतरेतराश्रयदोषयोः प्रसक्तिः इति। उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं कर्त त्वमित्यनेन प्रकारेण कर्त लक्षणे करणादि–(कारकादि)–निरूप्यत्वं नास्तीति न चक्रकादिरित्यर्थ इति **मिश्राः**। एव च विपक्षे बाधकप्रसिद्ध्यर्थं समस्तकारकचक्रस्य कर्त्रुपहितसीमत्वम् (मर्यादत्वम्) उक्तम्। इदानीं तदुपजीवनेन विपक्षे बाधकमेवाह – **एवं च सति कर्त व्याव त्तेस्तु अकारककार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इति स्थूलः प्रमादः** कर्तारमन्तरेण कार्यम् अभ्युपेतुः पूर्वपक्षिणः इति शेषः इति। कारकसमुदाये कर्त्रुपहित–मर्यादत्वस्य (कर्त व्यवस्थितमर्यादत्वस्य) सिद्धे, क्षित्यादेः कार्यत्वम् अकर्त कत्व च इत्यभ्युपगन्तुः तव कर्तुरभावे कर्त्रुपहितसीमस्य कारकचक्रस्यापि व्याव त्या अकारक–(अकारणक)–कार्यस्योत्पत्तिप्रसङ्ग इति स्थूलः प्रमाद आपतति। न को प्यस्य निरोधको स्ति, येन न पतेत्तदिति।

भवेदेवं यदि कर्त्रा कारकमात्रस्य व्याप्तिः स्यात्, सैव तु कुत इति चेत्, कुतः पुनरव्याप्तिः। न हि षड्भ्यो न्यत् कर्त्रनुपहितं कारकमस्ति। न

चैषामेव कर्त्रुपधानशून्यं लक्षणमस्ति। एकैकमपोह्य शेषतः कार्यसम्भावनायां सर्वापोहसम्भावनाप्रसङ्गात्। न च समस्तविशेषापोहे सामान्यस्थितिः। यतः षड्कारक व्याव त्तावपि कारकमात्रतः कार्यप्रत्याशा स्यात्। एकप्रव त्तौ तु सर्वप्रव त्तिरप्रत्यूहेति श ङ्खलाबन्धेन व्यवस्थितेः।

अथ मतं तवैवेयं प्रक्रिया, अस्माकं तु कार्येणानुविहितभावाभावं चेतनमचेतनं वा कारणमुच्यते। संहतौ तु सर्वं स्वप्रधानम्। उपादानेतरव्यवस्था तु कथ चिदिति चेत्, न। तथापि निरुपादानत्वप्रसङ्गात्। जातिप्रतिनियतहेतुत्वेन तदवश्यमभ्युपेयम्। तस्य प्रमाणसिद्धतया पह्नोतुमशक्यत्वादिति चेत्, न उपादानमात्रस्य तद्धेतुत्वे निमित्तवैचित्र्ये प्येकजातीयत्वप्रसङ्गात्। निर्मिमित्तं वा प्रसज्येत, उपादानादेव तथाविधात्तदुपपत्तेः। न कि चिदेकमेकस्मात्, सामग्र्याः सर्वसम्भव इति चेत्, कुत एतत्। निमित्तसहितस्यैवोपादानस्य प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां कारणत्वावधारणादिति चेत्, न। द श्यमात्रविषयत्वात्तयोः द श्यत्वं तस्य कथ चिदविवक्षितमिति चेत्, न। चेतने पि तथा किं न स्यादिति। तस्मादुपादानमिमित्तयोर्यथा परस्परसहितयोरेव कार्यशक्तिस्तथा चेतनाचेतन-योरपीत्येकनिव त्तावितरनिव त्तिप्रसङ्गः।

ननु कर्त व्याव त्त्या कारकमात्रव्याव त्तिं वदता, कर्त कारकमात्रव्याप्तिरङ्गीकर्तव्या, सैव कुतस्त्या इत्याशङ्कते – **भवेदेवं यदि कर्त्रा कारकमात्रस्य व्याप्तिः स्यात्, सैव तु कुत इति चेत्?** इति। कर्त व्याव त्त्या कारकमात्रस्य व्याव त्तेः क्षित्यादिकार्यस्य अकारणकत्वप्रसङ्गः तदा स्यात्, यदि कर्त्रा सह कारकमात्रस्य व्याप्तिः सिद्ध्येत्। तदा कर्तुः व्यापकस्य अभावे व्याप्यस्य कारकमात्रस्य अभावस्य सिद्धेः क्षित्यादि–कार्यस्य अकारणकत्वमापद्येत्। सैव तु कुतः सिद्ध्यति? तथा च कर्त्रा सह कारकसमुदायस्य व्याप्यव्यापकभावासिद्ध्या (कर्त्रा सह कारकसमुदायस्य व्याप्त्यसिद्ध्या) कुतः क्षित्यादिकार्यस्य अकारकत्वप्रसङ्ग इति चेत्? भवेदेवमिति प्रतीकमादाय – तथा च कि चित्कार्यं कर्त्रा कार्यम् इति, तत एवेदमङ्कुरादि इति। कुतः तत्कर्त त्वेन ईश्वरसिद्धिः इत्याशयः इति केचिद् वदन्ति। कर्त्रा सह कारकसमुदायस्य व्याप्त्यसिद्ध्या कर्त्रुपहितमर्यादत्वमिति कारकलक्षणे व्याप्तिरुक्ता, सा अव्याप्तिः द्विधा संभवति। यदि कर्त्रनुपहितं कर्त –कर्म–करण–सम्प्रदान–अपादान–अधिकरणेभ्यः षड्भ्यो न्यत्कारकं स्यात्, यदि वा तेषां कर्त्रादिकारकाणां षण्णामेव कर्त्रनुपहितत्वं कारकत्वमिति लक्षणं स्यात्। न च उभयथा पि अव्याप्तिः संभवतीति कर्त्रा सह कारकमात्रस्य व्याप्तिः सिद्धैवेति। न हि कर्त्रादिषड्भ्यो न्यत्कारकमस्ति। कर्त्रनुपहितत्वं कारकत्वमिति कारकाणां लक्षणमपि न संभवति। करकमात्रस्य कर्त्रुपहितत्वेन तदनुपहितकारकाभावात् तल्लक्षणे असंभवापत्तेः। अव्याप्त्यतिव्याप्त्य–संभवदोषत्रयशून्यत्वं हि लक्षणस्य लक्षणम् इत्येतत्सर्वं मनसिकृत्य परिहरति –

कुतः पुनरियमव्याप्तिः? नहि षड्भ्यो न्यत् कर्त्रनुपहितं कारकमस्ति। न च एषामेव कर्त्रुपधानशून्यं लक्षणमस्ति इति। कुतः पुनः कर्त्रुपहितमर्यादत्वं कारकत्वमिति कारकलक्षणे अव्याप्तिः स्यात्? कर्त्रनुपहितं कर्त्रादिषड्भ्यो अन्यत् न हि कारकमस्ति। एषां कर्त्रादिषड्विधकारकाणां कर्त्रुपधानशून्यं न च लक्षणमस्ति।

ननु कर्त्तारमन्तरेणापि क्षित्यादिकार्यं स्यात्। तथा च कथं क्षित्यादिकर्त ्त्वेन ईश्वरः सिद्ध्येदिति मनसिकृत्याह – **एकैकमपोह्य शेषतः कार्यसंभावनायां सर्वापोहसंभावनाप्रसङ्गात्** इति। यदि कर्त ्रूपं कारकं विना पि क्षित्यादिकार्यं स्यात् तदा शेषतः षड्विधकारकाणां मध्ये एकमेकं परित्यज्य शेषं यत् कारकं तेनैव कार्यं भवति इति कथने विनिगमनाविरहेण सर्वेषां कारकाणामभावस्य संभावनाप्रसङ्गापत्तेः। अस्यैव कारकस्य शेषो नान्यस्येति त्वया विनिगमकाभावेन कथयितुम् अशक्यत्वेन कर्तुरभावस्येव अन्येषामपि कारकाणाम् अभावापत्त्या कारणं विना पि तव कार्यमुत्पद्यते। न चेष्टापत्तिः। तथा अदर्शनात्। अन्यथा कर्त ्भिन्नस्य कारकस्य शेष इव कर्तुरपि शेषः स्यात्। कर्ता न द श्यते अतो नास्तीति कथयितुमशक्यम्। सत्यपि पदार्थे तस्यादर्शनं कस्यापि व्यवधानेन न भवति।

ननु सर्वकारकविशेषव्याव त्तावपि सामान्यकारणमात्रात् कार्यं सेत्स्यतीति चेत् तदाह – **न च समस्तविशेषापोहे सामान्यस्थितिरिति।** षण्णां कर्त्रादिकारकाणां समस्तानामसत्त्वेन च सामान्यकारकस्य स्थितिर्भवति। यावद्विशेषाभावस्य सामान्या–भावसाधकत्वात्। यत्र यावद्–घट–विशेषाणां नीलादिघटानामभावः, तत्र घटसामान्याभावो वर्तते एव। (कि च यथा नीलादिघटाद् भिन्नः सामान्यघटः प्रथमक्षणावच्छेदेन नोपलभ्यते निष्क्रियं निर्गुण च द्रव्यमुत्पद्यते इति सिद्धान्तात्। तथा कर्त्रादिषड्कारकेभ्यो भिन्नं सामान्यकारकं नोपलभ्यते इति सामान्यं नास्तीति निश्चीयते)। षट्कारकासत्त्वे कुतः कारकमात्रतः कार्यस्य प्रत्याशा क्रियते। कारणासत्त्वे कार्यं न भवति, उत्पादकाभावात्। अथ कारकसामान्यप्रव त्त्यर्थम् एककारक–प्रव त्तिराश्रियेत, तदा सर्वकारकप्रव त्तिरप्रत्यूहा स्यादित्याह – **एकेति।** एकस्य कारकस्य प्रव त्तौ सर्वेषां कारकाणां प्रव त्तिर्दुवारा, कारकाणां श ङ्खलाबन्धेन व्यवस्थितेः। एकस्य कारकस्याग्रे एकं कारकम् इति रूपेण कारकाणां व्यवस्था वर्तते इति। यथा "दण्डेन देवदत्तो घटं करोति" इत्यत्र करणकर्मणां कारकाणां व्यवस्थितिः। 'विप्राय गां ददाति चैत्रः' इत्यत्र कर्त ्कर्मसंप्रदानानां कारकाणां व्यवस्थितिः। 'व क्षाद् उड्डीयते खगः' इत्यत्र कर्त्रपादानयोः व्यवस्थितिः। देवदत्तः ग हे प्रविशति इत्यत्र कर्त्रधिकरणयोः व्यवस्थितिः। कार्यं नैकेन कारकेण भवति। 'घटं करोति देवदत्तः' इत्यत्र कर्त ्करणाधिकरणकर्मकारकाणां सत्त्वात्। कुलालः कर्ता, दण्डादि करणम्, अधिकरण च भूतलं चक्रं वा, कर्म च घट इति। एकस्य कारकस्य प्रव त्तिः इत्यङ्गीकारे कारकान्तराणामपि प्रव त्तिरावश्यकी भवति। तथा च क्षित्यादिकार्याय चेतनः कर्ता

आवश्यकः। न हि कर्तारमन्तरेण इतराणि कारकाणि कार्यं कर्तुं शक्नुवन्ति। चेतनः कर्ता प्रधानीभूतः कारकान्तरप्रयोक्ता च, तद् इतराणि अप्रधानीभूतानि प्रयोज्यानि च। अतः कर्तारमन्तरेण प थिव्यादिकार्याणि अन्यानि कारकाणि कुर्वन्ति, चेतनः कर्ता तत्र नाङ्गीकार्य इति तव कथनं न युक्तमिति क्षितिकर्त त्वेनेश्वरः सिद्धः। अस्मदादिभिः क्षितेः कर्तुमशक्यत्वात्।

नन्वधिकरणादिकारकभेदानां परस्परोपहिततया (परस्परोपकारकतया, परस्परव्यवस्थापकतया वा) लक्षणभेदकल्पनं यत्, यच्च कारकेषु चेतनः कर्त्ता प्रधानभूतः कारकान्तरप्रयोक्ता च। इतरत्तु (कारकम्) सर्वतः प्रयोज्यम्। तत्(कर्त)परतन्त्रम् इत्यादि तत्सर्वं तवैव (नैयायिकस्यैव) प्रक्रियामात्रम्। अस्माकन्तु (बौद्धानान्तु) कार्येण अनुपहितान्वयव्यतिरेकं (तत् सत्त्वे कार्यसत्ता तदभावे कार्याभाव इति) चेतनमात्रम्, अचेतनमात्रं वा कारणम्। संहितयोः (चेतनाचेतनयोः क्वचित् मिलितयोः) क्वचित् कारणत्वाभ्युपगमेन तयोः गुणप्रधानभावः। (यथा घटाकार्ये कुलालदण्डाद्योः चेतनाचेतनयोः मिलितयोः; कुलालः चेतनः प्रधानं कारणम्, अचेतनो दण्डादिरप्रधानं कारणमिति गुणप्रधानभावो भवति)। किन्तु सर्वं स्वप्रधानम्। उपादानेतरतया गुणप्रधानभावस्तु कथ चित् कल्प्यते। (यथा प थिव्यादिकार्येषु स्वावयवं प्रधानं कारणम् तदन्यच्च अप्रधानं गौणं कारणम्)। इत्याशङ्कते – **अथ मतं तवैवेयं प्रक्रिया। अस्माकं तु कार्येणानुविहितभावाभावं चेतनं वा अचेतनं कारणमुच्यते। संहतौ च सर्वं स्वप्रधानम्। उपादानेतरव्यवस्था तु कथ चिदिति चेत्?** इति। कारकेषु चेतनः प्रधानः, अन्यानि कारकाणि अप्रधानानि; कारकाणां चेतनोपहितमर्यादत्वम्। अधिकारणापादानसम्प्रदानकारकाणां कर्मोपहितत्वम् (कर्मिणि व्यवस्थितत्वम्)। करणोपहितत्व च कर्मकारकस्य। कर्त्रुपहितत्वम् (कर्त व्यवस्थितत्वम्) करणस्य। समस्तकारकोपहितत्व च कर्त कारकस्येत्यादिप्रक्रिया नैयायिकस्य सम्प्रदायसिद्धा। तत्र न किमपि मूलम्। येन चेतनं कर्तारं विना क्षित्यादिकार्यं न स्यात्। अतश्चेतनः कर्त्ता कल्पनीयः स एवेश्वरः इति कथनं युक्तं भवेत्। अस्माकन्तु यस्य सत्त्वे कार्यं भवति, यदभावे कार्यं न भवति, स एव कारणम् कारकमुच्यते। तच्च चेतनमचेतनं वा भवतु। (यत्र चेतनो द श्यते तत्र स एव कर्ता, यथा घटादौ। यत्र न द श्यते तत्र तदवयवः कर्ता स्तु)। ननु तर्हि अस्मदाद्यकर्त कं यत् क्षित्यादिकार्यम् तत् किं भवतां सर्वथैव अकर्त कम् इति चेत्? न, इत्याह – **संहताविति।** कारकाणां समुदाये सर्वं कारकम् स्वीये व्यापारे प्रधानम् कर्त । अत एवाहुः – **"स्वव्यापारे च कर्त त्वं सर्वत्रैवास्ति कारके"** इति। **उपादानेतरव्यवस्था तु** (इदमुपादानं कारणं = घटस्य म त्तिकाकपालं वा उपादानकारणम्, दण्डादिक च नेति व्यवस्था तु। किं वा कुलालः प्रधानं कारणम्, दण्डादिक च गौणं कारणमिति व्यवस्था तु) **कथ चित्।** प्रधानक्रियामपेक्ष्य म त्तिकाकपालौ वा उपादानकारणं दण्डादिक च अनुपादानमिति वा व्यवस्था इति चेत्? **दीधिति**कारस्तु – करणत्वं न कर्त व्यापार्यत्वं गुणकर्मणोः

अतथात्वप्रसङ्गात्। किन्तु व्यापारवत्कारणत्वादिकम् न वा करणत्वेन कारणत्वम् मानाभावात्, परन्तु कार्यविशेषे कारणाभावावच्छेदक–तत्तद्रूपेण, कर्मत्वं च परसमवेत–क्रियाफलशालित्वादिकम्। सम्प्रदानत्वादिकं च विना कार्यसामान्योत्पत्तिः तवापि अनुमता। निरुक्तयोश्च करणाधिकरणयोः व्यतिरेको न क्वचिदपि कार्ये अस्माकम् अपि इत्याशयवान् आशङ्कते – **अथेति।** यद्येवं भवतां (बौद्धानां) सिद्धान्तः, तथापि यथा कर्तारमन्तरेण कार्योत्पत्तिः, तथोपादानमन्तरेणापि कदाचित् कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः। न चैतदिष्टं भवतामपीत्यभिप्रायेण परिहरति – **न। तथापि निरुपादानत्वशङ्का-प्रसङ्गात्** इति। यदि कर्तारं विना कार्यं भवति, तदा उपादानं विनापि कार्यं स्वीक्रियताम्। अनुभवापलापस्य तु उभयत्र तुल्यत्वात्। यथोपादानं विना न कार्यं भवति, तथैव कर्तारं विनापि न कार्यमिति सर्वानुभव एव कार्यं कर्त्रधीनम् इत्यत्र प्रमाणम्। अतः क्षितिकर्तृत्वेन ईश्वरः सिद्ध्यतीति भावः।

शङ्कते – **जातिप्रतिनियमहेतुत्वेन तदवश्यमभ्युपेयम्। तस्य प्रमाणसिद्धतया पह्नोतुमशक्यत्वादिति चेत्?** इति। यज्जातीयम् उपादानम् कारणं तज्जातीयं कार्यं भवति। यथा मृत्तिकात्वजातीयाद् उपादानात् जायमानं घटकार्यं मृत्तिकात्वजातीयमेव दृश्यते। अत उपादानस्य कार्ये तज्जात्यर्थत्वमावश्यकम्, न तु कर्तुरावश्यकत्वम्; कार्ये तज्जातीयत्वविरहात्। अतः कार्यस्य जातिप्रतिनियमः = उपादानजात्येकत्वनिबन्धनः तद्धेतुतया उपादानमवश्यमभ्युपेयम्। न कार्ये कर्तृजात्येकनिबन्धनः जातिनियमः। अत उपादानस्य प्रमाणसिद्धत्वेन अपह्नोतुम् अशक्यत्वम्। प्रमाणाभावात् कर्तुर्नाङ्गीकरणीयम् इति चेत्? सामग्रीजातिरेव कार्यजातिनियामिका न तु उपादानजातिमात्रम्। निमित्तवैचित्र्ये पि कार्यस्य उपादानजात्येकत्वमात्रेण एकजातीयत्वप्रसङ्गाद् इत्यभिप्रायेण शङ्कां निरस्यति – **न। उपादानमात्रस्य तद्धेतुत्वे निमित्तवैचित्र्ये पि एकजातीयत्वप्रसङ्गात्। निर्निमित्तत्वं वा प्रसज्येत, उपादानादेव तथाविधात् तदुत्पत्तेः** इति। कार्यस्य उपादानजात्येकत्वनियमेन उपादानमावश्यकम्। अतथाभूतः चेतनः कर्ता क्षित्यादिकार्ये नावश्यक इति तव कथनं न युक्तम्। उपादानमात्रस्य कार्यजातौ नियामकत्वे कार्यजातौ हेतुत्वे वा निमित्तवैचित्र्ये पि कार्यस्य एकजातीयत्वप्रसङ्गापत्तेः। दृश्यते च गोमयपिण्डरूपोपादानात् वृश्चिकस्य गोमयपिण्डभिन्नजातीयस्य उत्पत्तिः। अतः समग्र्या एव कार्यजातिनियामकत्वं न तु उपादानमात्रस्येति। यदि वा उपादान–जातिमात्रनिबन्धनैव कार्यजातिः स्यात्, निमित्तमन्तरेणैव कार्योत्पत्तिः प्रसज्येतेत्याह – **निर्निमित्तत्वं वा प्रसज्येत। उपादानादेव तथाविधात् तदुत्पत्तेः** इति। यदि घटगतजातिः पृथिव्युपादानजातिमात्रनिबन्धना स्यात्, तदा पृथिवीमात्रादेव घटजातीयात् घटकार्यं स्यात्। दण्डादिकारणानाम् अहेतुत्वापत्तेः। घटस्य कार्यस्य वा दण्डादि–निमित्तकत्वाभावापत्तेश्च। घटे दण्डत्वजातिविरहस्य सत्त्वात्।

ननु न कि चिदपि कार्यमेकस्मात् कारणात् संभवति, किन्तु बहूनां कारणानां सामग्र्यैव कार्यं भवति। अतो दण्डादिकमपि घटं प्रति कारणम् इति घटादिकार्यस्य निर्निमित्तत्वप्रसङ्ग इति शङ्कते – **न कि चिदेकम् एकस्मात्। सामग्र्याः सर्वसंभव इति चेत्?** सिद्धान्ती प च्छति – **कुत एतत्?** इति। कार्यमनेककारणजन्यं नत्वेककारणजन्यं भवति इति कुतो लभ्यते इति प्रश्नः। विपक्षी उत्तरयति – **निमित्तसहितस्यैवोपादानस्य प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां कारणत्वावधारणात्** इति। दण्डादिसहितमेव प थिव्युपादानम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां घटं प्रति कारणम् प्रत्यक्षसिद्धम्। अत उपादानस्य दण्डादिनिमित्तसहितस्यैव घटं प्रति कारणत्वं, न तु केवलस्य उपादानमात्रस्य इति चेत्? परिहरति – **न। द श्यमात्रविषयत्वात् तयोः** इति। दण्डादिसहितस्यैव प थिव्युपादानस्य घटं प्रति कारणत्वम् अन्वय– व्यतिरेकाभ्यां निश्चीयते इति तव कथनं न युक्तम्। अन्वयव्यतिरेकयोः द श्यनिमित्तविषयकत्वेन अद श्यनिमित्ते तत्कथयितुमशक्यत्वात्। द श्यनिमित्तसहितस्य उपादानकारणस्य कार्यं प्रति कारणत्वम् अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् अभिगन्तुं शक्यते, न तु अद श्यनिमित्तस्य कारणत्वम्। अद श्यनिमित्तसहिते उपादाने अन्वयव्यतिरेकयोः निश्चेतुम् अशक्यत्वात्। तथा च अद श्यनिमित्तसहितस्य उपादानस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वं निश्चेतुम् अशक्यम् इत्युपादानस्यापि कर्तुश्चेतनस्य एव अकारणत्वापत्तेः।

ननु अन्वयव्यतिरेकावित्यत्र द श्यत्वं न विवक्षणीयं केवलं निमित्तत्वमात्रं विवक्षितमिति अद श्यनिमित्तसहितोपादाने अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वं संभवतीति शङ्कते – **द श्यत्वं तस्य कथ चिद्विवक्षितमिति चेत्?** इति। परिहरति – **न। चेतने पि तथा किं न स्यादिति**। कार्यस्य चेतनपूर्वकत्वे पि द श्यत्वम् अविवक्षितत्वमिति किं न स्यात्? तथा च कारकाणां चेतनोपहितत्वात् कार्यस्य कारकपूर्वकत्वे चेतनपूर्वकत्वम् अवर्जनीयमित्युक्तम्। तथा च क्षित्यादिकार्यस्य कारकजन्यत्वेन चेतनजन्यत्वं परम्परासिद्धमिति। स च चेतनो नास्मदादिः तत्कर्तुं शक्नोतीति क्षित्यादिकर्त त्वेन ईश्वरः सिद्ध्यति। उपसंहरति – **तस्माद् उपादाननिमित्तयोः यथा परस्परसहितयोरेवकार्यशक्तिः तथा चेतनाचेतनयोः अपि इत्येक- निव त्तावितर- निव त्तिप्रसङ्ग** इति। अतः उपादाननिमित्तयोः परस्परसहितयोरेव कार्यं प्रति कारणत्वम्। न तु असहितयोः तयोः यथा भवति। तथा चेतनाचेतनयोरपि परस्परसहितयोः कार्यं प्रति कारणत्वं न तु परस्परासहितयोः तयोरिति। क्षित्यादि कार्ये यदि चेतनो न कारणं स्यात् तदा त्वदभिलषितम् अचेतनमपि कारणं न स्यात्। तथा च अकारणकं कार्यं तव मते भवति। अतश्चेतनः कर्ता ईश्वरः इतरबाधसहकारेण सिद्धः।

अपि च म त्पिण्डदण्डादिषु स्वव्यापारे पारतन्त्र्यं तावन्नियमेनोपलभ्यते। तदिदं दण्डादित्वमात्रानुबद्धं वा स्यात्, अद ष्टविशेषोपग्रहानुबद्धं वा, अचैतन्यमात्रा- नुबन्धं वेति निपुणं निरूपय।

तत्र न प्रथमः। वेमादीनां स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्। तेषां वेमादित्वमात्रानुबद्ध-मिति चेत्, न। दण्डादीनां स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्। न चैतत्कार्यविशेषनियतं, गवाभ्याजनादौ दण्डादीनां स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्। न द्वितीयः। तस्य जातिविशेषा-नियतत्वे घटार्थमपि तेषां कदाचित् स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्। तन्नियतत्वे स एवोच्यताम्। न च घटपटशकटकटाहादिगतं दण्डवेमवासीसन्दंशादिगतं वा सामान्यविशेषमुपलभामहे। अस्त्यसौ यतः शरीरिकर्तृकत्वानुमानमिति चेत्, न। घटत्वादेरेव तथाभावात्। अस्तु वा संस्थानविशेषः। न च स एवात्र निबन्धनम्। तस्याभावे पि जलानलादीनां चेतनप्रेर्यत्वदर्शनात्। न च शरीर-प्रयोज्यं यत् तदेव चेतनप्रेर्यमिति नियमः। शरीरस्यैव स्वातन्त्र्यप्रसङ्गा-दित्युक्तप्रायम्।

तस्मादचैतन्यमात्रनिबन्धनमेतद्दण्डादिषु। तथा च परमाण्वदृष्टादिष्वपि तस्य भावात्तथाभावो दुर्वारः। तदेतत् कार्यं कारणवत्तया व्याप्तं, सा च विपक्षे संभवन्ती स्वव्याप्यमुपादाय व्यावर्तमाना सपक्षे विश्राम्यतीत्युभयमुखी प्रतिबन्धसिद्धिः।

इदानीम् अचेतनमात्रस्य प्रवृत्तिः चेतनपरतन्त्रा कुठारादौ दृश्यते इति चेतनपूर्वकत्वम् अचेतनपूर्वकत्वमात्रं कार्यस्येति वादिनस्तव गले पतितमिति दर्शयितुमाह – **अपि च मृत्पिण्डदण्डादिषु स्वव्यापारे पारतन्त्र्यं तावत् नियमेन उपलभ्यते। तदिदं (१)दण्डादिमात्रानुबद्धं वा स्यात्, (२)अदृष्टविशेषोपग्रहानुबद्धं, (३)अचैतन्य-मात्रानुबन्धम् वेति निपुणं निरूपय। तत्र न प्रथमः। वेमादीनां स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्** इति। अचेतनेषु मृत्पिण्डदण्डादिषु स्वव्यापारे पारतन्त्र्यं = पराधीनत्वं नियमेन दृश्यते। जानाति, इच्छति, यतते, ततो व्यापारं कुरुते चेतनः। अचेतनस्य ज्ञानादिशून्यस्य यो व्यापारः सः अन्यव्यापाराधीनो भवति। तत्र स्वव्यापारजनकानां ज्ञानादीनाम् अभावात्। तत् किमयं दण्डादिव्यापारः दण्डादिमात्रजन्यः? दण्डादिव्यापारे पारतन्त्र्यं किं दण्डादिमात्रप्रयोज्यम्? किं वा अदृष्टविशेषोपग्रहजन्यः? किं वा अचैतन्यमात्रजन्यः? तत्र दण्डमात्रजन्यो दण्डव्यापार इति प्रथमपक्षो न युक्तः। वेमादीनामपि स्वव्यापारे कर्तृत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, तथा सति तन्तुवायं विनापि पटोत्पत्त्यापत्तेः।

शङ्कते – **तेषां वेमादिमात्रानुबन्धित्वमिति चेत्?** इति। स्वीयव्यापाराणां वेमादिमात्रानुबन्धित्वेन तेषु वेमादीनां स्वातन्त्र्यमिष्यते इति चेत्? उत्तरयति – **न। दण्डादीनां स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्** इति। यथा स्वीयव्यापारे वेमादिमात्रानुबन्धित्वं तथा स्वीयव्यापारे दण्डादिमात्रानुबन्धित्वम् अस्ति। तथा च वेमादीनामिव दण्डादीनां स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यापत्तेः। स्वातन्त्र्य च कर्तृत्वम्।

ननु दण्डादीनां पारतन्त्र्यं घटादावेव जनयितव्ये न त्वन्यत्रापि, स्वव्यापारे तस्य स्वातन्त्र्यमेवेत्याह – **न चैतत्कार्यविशेषनियतम्** इति। घटादिकार्ये जनयितव्ये दण्डादीनां कुलालादिपारतन्त्र्यमस्ति। न तु स्वव्यापारादाविति न वाच्यम्। हेतुमाह – **गवाभ्याजनादौ दण्डादीनां स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्** इति। तथा सति गवानयनादौ दण्डादीनां स्वातन्त्र्यापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। 'दण्डेन गाम् आनयति देवदत्तः' इत्यत्र दण्डः गाम् आनयतीत्यापत्तेः। स्वतन्त्रस्य दण्डस्य कर्तृत्वात्। (दण्डादिषु यो व्यापारः सो दृष्टविशेषोपग्रहानुबद्धः = अदृष्टविशेषाधीनः? (भोक्तॄणाम् अदृष्टविशेषेण तद्भोगाय अचेतनं (दण्डादि) तत्(अदृष्ट)परतन्त्रं न तु स्वतः इत्यर्थकः। अचेतने दण्डादौ यो व्यापारः, स भोक्तुरदृष्टविशेषाधीन इत्यर्थः।

अदृष्टविशेषोपग्रहनिबन्धनमिति द्वितीयविकल्पं खण्डयितुमाह – **न द्वितीयः। तस्य जातिविशेषानियतत्वे घटार्थमपि कदाचित् तेषां स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्** इति। अदृष्टविशेषस्य जातिविशेषानियतत्वे घटार्थमपि तेषां दण्डादीनां कदाचित् स्वातन्त्र्यापत्तेः। तथा च दण्डो घटं करोति इत्यापत्तिः। **तस्येति।** दण्डादौ भोक्त्रदृष्टविशेषोपग्रहो ऽस्ति येन घटादिकं जनयति। तत्रैव पारतन्त्र्यम्। क्षित्यादौ तु तत्तत्कारणानां स्वातन्त्र्यमेवेति तदा स्याद् यदि जातिविशेषनियतो दृष्टोपग्रहः स्यात्। (दण्डादितत्तत्कारणं घटत्वाद्यवच्छिन्नं कार्यं प्रत्येव भोक्त्रदृष्टविशेषोप– ग्रहम्, नान्यत्र क्षित्यादिकार्ये इति यदि जातिनियतम् अदृष्टविशेषोपग्रहं दण्डादिकारणं स्यात्, तदा दण्डादिकारणं कार्यं प्रति परतन्त्रं स्यात्)। न च तादृशो जातिविशेषनियमो ऽस्ति। तथा च घटकार्ये ऽपि जनयितव्ये दण्डादिः कदाचित्स्वतन्त्रः (कर्ता) स्यात्। **तन्नियतत्वे च स एवोच्यताम्।** यदि भोक्त्रदृष्टविशेषोपग्रहः घटत्वाद्यवच्छिन्नकार्यं प्रत्येव दण्डादिव्यापारः, न क्षित्यादिकार्यं प्रतीति नियमो ऽस्ति तदा स नियम उच्यताम् यज्जात्यवच्छिन्नं यद्दण्डादिपारतन्त्र्यं स एव जातिविशेषो ऽभिधीयतामिति तदर्थः।

न च **घट-पट-शकट-कटाहादिगतं दण्ड-वेम-वासी-सन्दंशगतं वा सामान्यविशेषमुपलभामहे।** घटादिकार्येषु तथा दण्डादिकारणेषु च तादृशं सामान्यं (जातिम्) नोपलभामहे, यत्प्रयुक्तमचेतनानां दण्डादीनां स्वातन्त्र्यं न स्यात् पारतन्त्र्य च स्यात्। नन्वस्त्येव कार्यविशेषः, यतः कार्यविशेषाद् भवद्भिरपि केषुचित् कार्यविशेषेषु शरीरकर्तृकत्वमनुमीयते इति। शङ्कते – **अस्त्यसौ यतः शरीरिकर्तृकत्वमनुमानमिति चेत्?** असौ = सामान्य(जाति)विशेषः। शरीरिकर्तृकत्वव्याप्यतावच्छेदकं सामान्यमस्ति। यतः = शरीरिकर्तृकजातेः तदवच्छिन्नकार्यधर्मिकशरीरिकर्तृकत्वसाधकानुमानं भवति इति चेत्? न वयं शरीरकर्तृकाभिमतसर्वकार्यसाधारण–जातिविशेषेण तादृशम् अनुमास्यामः। किन्तु घटत्वादिभिरेवावान्तरजातिभिः इत्याह – **न। घटत्वादेरेव तथाभावात्** इति। शरीरकर्तृकाभिमतसर्वकार्यसाधारणजातिविशेषो मया न स्वीक्रियते, मानाभावात्; क्षित्यादौ व्यभिचाराच्च। न वा तेन जातिविशेषेण क्षित्यादौ

सकर्तृकत्वमनुमीयते। न कोऽपि शरीरी क्षित्यादेः कर्तास्ति, किन्तु यथा घटः सकर्तृकः कार्यत्वात् भवति, तथा क्षितिरपि सकर्तृका कार्यत्वाद् भवितव्या। कार्यत्वस्य उभयसाधारण्यात्। किन्तु क्षितिकर्तृकत्वं नास्मदादीनां संभवति अतः तत्कर्तृकत्वेनेश्वरः सिद्ध्यति इत्यभिप्रायेण मूले **न** इत्युक्तम्। तत्र हेतुमाह – **घटत्वादेरेव तथाभावात्।** शरीरिकर्तृकत्वव्याप्यतावच्छेदकजातिविशेषत्वात्। व्याप्ये च अननुगमो न दोषावहो भवति।

ननु तथाप्यनुगमकं किञ्चिदास्थेयमित्याह – **अस्तु वा संस्थानविशेष** इति। अस्तु वा शरीरिकर्तृकसर्वकार्यसाधारणसंस्थानविशेषः अनुगमकः। न तु चेतनपूर्वकत्वविशिष्टकार्यसाधारणः। येनाशरीरी कर्ता क्षित्यादेर्न सिद्ध्येत्। यद्वा, यत्र दृष्टे क्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धिरुत्पद्यते तदङ्कुरादिव्यावृत्तं घटपटाद्यनुगतं संस्थानविशेषत्वमेव शरीरि– कर्तृकत्वव्याप्यतावच्छेदकमस्तु इत्यर्थः। ननु कार्यस्य (क्षित्यादिकार्यस्य) चेतनपूर्वकत्वेऽपि तदेव (संस्थानविशेषवत्त्वमेव) प्रयोजकमस्तु, न तु अचेतनत्वमात्रमित्यत आह – **न च स एवात्र निबन्धनम्, तस्याभावेऽपि जलानलादीनां चेतनप्रेर्यत्वदर्शनात्** इति। शरीरिकर्तृकसकलकार्यानुगतसंस्थानविशेष एव अचेतनवृत्तिव्यापारनियामको न कथयितुं शक्यते। संस्थानविशेषस्य अभावेऽपि जलस्य अनलादेश्च प्रेर्यत्वदर्शनात्। तथा च यत्र यत्र प्रेर्यत्वं तत्र तत्र न संस्थानविशेष इत्यभावेन संस्थानविशेषस्य अचेतनव्यापारे न प्रयोजकत्वमिति स्थितम्।

ननु दण्डादिव्यापारस्य अचेतननिबन्धनत्वं मास्तु शरीरप्रयोज्यत्वनिबन्धनत्वम् एवास्तु इत्याह – **न च शरीरप्रयोज्यं यत् तदेव चेतनप्रेर्यम् इति नियम** इति। अत्र हेतुमाह – **शरीरस्य स्वातन्त्र्यप्रसङ्गादित्युक्तप्रायम्** इति। चेतनप्रेर्यस्य दण्डादिव्यापारस्य यदि कुलालशरीरप्रेर्यत्वमेव न तु चेतनकुलालप्रेर्यत्वं स्यात् तदा शरीरस्यैव स्वातन्त्र्यं स्यात् शरीरमेव घटादिकर्ता स्यात् न तु चेतनः कुलालादिः। स्वतन्त्रस्यैव कर्तृत्वात्। उपसंहरति – **तस्मादचैतन्यमात्रनिबन्धनम् एतद् दण्डादिषु। तथा च परमाण्वदृष्टादिष्वपि तस्य भावात् तथाभावो दुर्वार इति।** अचेतने व्यापारस्य पारतन्त्र्यात् दण्डादिव्यापारे, दण्डादिषु वा यत् पारतन्त्र्यमस्ति, तत् अचैतन्यप्रयुक्तम्। अचेतनः स्वव्यापारं कर्तुं न शक्नोति। चेतन एव स्वव्यापारकरणे समर्थः। अचेतनेषु (अचेतनवृत्तिव्यापारे) नियमतः पारतन्त्र्ये सिद्धे पृथिव्यादिपरमाणुषु अदृष्टेषु वा चेतनत्वस्य सत्त्वात् पारतन्त्र्यं दुर्वारम्। पृथिव्यादिकार्यं कारणवत्तया व्याप्तम् = सकारणत्वं व्याप्यम्। सा च कारणवत्ता अचेतनपूर्वके कालादौ असंभवन्ती स्व(कारणता)व्याप्यं यत्कार्यत्वं तदुपादाय (गृहीत्वा) व्यावर्तमाना सपक्षे कर्तृजन्यकार्ये विश्राम्यतीति, उभयमुखी = अन्वयव्यतिरेकमुखी प्रतिबन्धसिद्धिः। यत्र यत्र कार्यत्वं तत्र तत्र सकर्तृकत्वं यथा घटः, यत्र यत्र सकर्तृकत्वाभावः तत्र तत्र कार्यत्वाभावः, यथा कालादिः इति उभयमुखी = अन्वयव्यतिरेकमुखी प्रतिबन्ध(व्याप्ति)सिद्धिः।

क्षितिः सकर्तृका, कार्यत्वाद् इत्यत्र यद् यद् कार्यं तत्तत्सकर्तृकं, यथा घटः, यो यः सकर्तृकत्वाभाववान् स स कार्यत्वाभाववान् यथा कालादिरिति अन्वयव्याप्तिः व्यतिरेकव्याप्तिश्च कार्यत्वे सिद्ध्यत इति।

कः पुररयं प्रतिबन्धः? स्वाभााविकः संबन्धः। कः स्वाभाविकार्थः? निरुपाधित्वम्। कः पुनरुपाधिः? साध्यप्रयोजकं मिमित्तान्तरम्। किमस्य लक्षणम्? साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकत्वम्। कथं पुनरेवं लक्षणको र्थः प्रत्येतव्यो निराकर्तव्यो वा? विपर्ययाविरोधबाधकाभ्याम्। किं बाधकं? अन्वयव्यतिरेकभूयोदर्शनसाहायकमाचरन्ननुत्तरस्तर्कः। स चा त्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकानवस्थानिष्टप्रसङ्गभेदेन प चविधो पि क्वचिद् व्यभिचारं निराकुर्वाणः क्वचित्तन्निबन्धनमुपाधिमवधुन्वन्सहायीभवतीति फलतो न कश्चिद्विशेषः। तदुदाहरणानि चात्रैव यथायथं परिचेयानीति।

[प्रतिबन्धप्रतिपादनम्]

कः पुनरयं प्रतिबन्धः? अयं प्रतिबन्धः (व्याप्तिः) कः? **स्वाभाविकः संबन्धः। कः स्वभावार्थः?** स्वभावशब्दस्य को र्थ इत्युच्यताम्। **निरुपाधित्वम्।** उपाधिरहितत्वं स्वभावशब्दस्यार्थः। **कः पुनरुपाधिः?** निरुपाधिघटकोपाधिशब्दस्य को र्थः? **साध्यप्रयोजकं निमित्तान्तरम्।** साध्यप्रयोजकान्तरम् उपाधिशब्दस्यार्थः। **किं वा अस्य लक्षणम्?** उपाधेः किं लक्षणं येन तस्य ज्ञानं भवेत्? लक्षण च असाधारणधर्मः। तन्मात्रव त्ति भवति। तेन इतरव्याव त्तिर्भवति। सैव तस्य फलम्। **साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकत्वम्।** हेत्वव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकत्वमुपाधेः लक्षणम्। एवं लक्षणकस्य उपाधेर्ज्ञानं विना तस्य निराकरणम् असंभवि। अतः स प्रत्येतव्य इति प च्छति – **कथं पुनरेवंलक्षणको र्थः प्रत्येतव्यो निराकर्तव्यो वेति?**। साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकत्वरूपलक्षणविशिष्टार्थः कथं प्रत्येतव्यः? कथं वा निराकर्तव्य इत्युच्यताम् इत्याह – **विपर्ययाविरोधबाधकाभ्याम् इति। विपर्ययाविरोधेति।** विपक्षहेतुसंभवे प्रमाणाविरोधेन उपाधिसद्भावः बाधकेन च तदभाव इति **नारायणभट्टः।** विपक्षबाधकाभावेन निराकर्तव्य इत्यर्थ इति **मिश्राः**। विपर्यये साध्यं विना साधनसत्त्वे विरोधेन बाधकाभावेन प्रत्येतव्यो बाधकेन च निराकर्तव्य इति **दीधितिः।** उपाधिर्बाधकेन निराकर्तव्य इत्यत्र किं बाधकमित्यत आह – **किं बाधकम्?** इति। तद् दर्शयति – **अन्वयव्यतिरेकविषयभूयोदर्शनसाहायकमाचरन्ननुत्तरस्तर्कः** इति। साधनस्य साध्यान्वये व्यतिरेके व्यतिरेकश्च विषयः येषां भूयसां दर्शनानां विषयः, तेषां भूयोदर्शनानां साहायकमाचरन्नित्यर्थः(तर्कः)। येषां भूयोदर्शनानां यः साधनस्य साध्यान्वये (साध्यसत्त्वे साधनसत्त्वम्। व्यतिरेके – साध्याभावे साधनाभावः) विषयः तेषां भूयोदर्शनानां साहायकं कुर्वन् यस्तर्कः, स कीद शः? अनुत्तरः = अप्रतितर्कः,

नास्ति उत्तरं यस्मात् स अनुत्तरः तर्कः। स तर्कः बाधकः। अन्वयसहचारग्रहे व्यतिरेकसहचारग्रहे वा साहायकम् आचरन् अनुत्तरस्तर्कः एव विपक्षबाधक इत्यर्थः। अनुत्तर इत्यस्यार्थमाह – अप्रतितर्क इति। नास्त्युत्तरं यस्मादित्यर्थः। कर्तारं विनापि कार्यं स्यादिति विपक्षशङ्का। सा च न सम्भवति। एतावता ग्रन्थेन अचेतनव्यापारस्य कर्त व्यापारसहभावनियमे दर्शिताकारणकार्योत्पत्तिशङ्का पर्यवसन्नायाः तस्याः स्वक्रियाव्याघातेन अनुदयादित्यर्थ इति **मिश्राः।**

तर्कं विभजते – **स च आत्माश्रय-इतरेतराश्रय-चक्रक-अनवस्था-अनिष्टप्रसङ्गभेदेन प चविधो पि क्वचिद् व्यभिचारं निराचक्षाणः क्वचित्तन्निबन्धनम् उपाधिमवधूचन् सहायीभवतीति फलतो न क्वचिद् विशेषः। तदुदाहरणानि चात्रैव यथायथं परिचेयानीति** इति। स्वापेक्षत्वम् आत्माश्रयः। स्वापेक्षापेक्षित्वम् अन्योन्याश्रयः। स्वापेक्षापेक्षापेक्षित्वादिः चक्रकम्। आपत्तिप्रयोजकीभूतरूपापाद्यापादनमनवस्था। अनभिमतार्थापादनम् अनिष्टप्रसङ्ग इति प चविधः तर्कः। चक्रकान्तानां साक्षात्परम्परा–साधारणमात्माश्रयत्वमेव दुष्टौ बीजम्। व्यवहारे पुनरवान्तरविशेषो यद्यपि आत्माश्रया–दावनिष्टप्रसङ्गः तथापि गोबलीवर्दन्यायेन प थगुपन्यास इति **दीधितिः।**

स च प चविधो पि तर्कः क्वचिद् व्यभिचारं निराचक्षाणः; यथात्रैव कार्यत्वस्य(क्षित्यङ्कुरादिकं कर्त जन्यं, कार्यत्वाद्, इत्यत्र कार्यत्वस्य) कर्त व्यभिचारित्वं स्यादिति तदा कारणमात्रस्याव्याप्याभावेन कादाचित्कत्वं न स्यादिति व्यभिचारनिरासः। कारकचक्रप्रयोक्त त्वं कर्त त्वम्, कारकचक्रप्रयोक्तुश्चेतनास्याभावे अचेतनस्य कारकचक्रस्य प्रयोगाभावेन कारकचक्रस्य व्यापाराभावेन च तस्य कार्याजनकत्वापत्तेः। कार्यस्य कादाचित्कत्वानुपपत्तेश्च कार्यस्य कादाचित्कत्वं कारणाधीनं भवति। यदा कारणघटितसामग्री तदा कार्यम्। अतः कार्यत्वं न कर्त व्यभिचारि इति कार्यत्वे कर्त व्यभिचारनिरासः।

क्वचित् तन्निबन्धनमित्यादि**।** यदि कार्यत्वस्य सन्निवेशविशिष्टत्वम् उपाधिः स्यात्, कर्त पूर्वकत्वेनाभिमतयोरपि गुणकर्मणोः तदभावेन (सन्निवेशविशिष्टत्वाभावेन) तत्पूर्वकत्वं (कर्त पूर्वकत्वं) न स्यात्। सामान्यस्य तद्विशेषोपाधिकत्वे = सन्निवेश–विशिष्टोपाधित्वे धूमादावपि तथाभावप्रसङ्गाच्च। (धूमस्य अवयवसंस्थानविशेषाभावेन कर्त पूर्वकत्वाभावप्रसङ्गाच्च) इत्येवम् उपाधिविधूननमिति, सहायीभवति तर्कः। फलतो न कश्चिद् विशेषः। उपाधिनिरासे पि व्यभिचारनिरासो भविष्यतीत्यर्थः। **तदुदाहरणानि** = बाधतर्कोदाहरणानि च अत्रैव अस्मिन्नेव ग्रन्थे क्षणिकमतवादे अपोहवादे च परिचेयानीत्यर्थः।

अथ न्यायदुर्बलस्य प्रतिबन्दीकरणं, यदुतैवं शशविषाणस्यापि सिद्धिः स्यात्। द श्यमात्रनियतत्वात् प्रत्यक्षबाधस्य। न च द श्यत्वनिव त्तेरेव विषाणत्व-

निव त्तिः, अव्यापकनिव त्तावव्याप्यनिव त्तेरयोगात्। विषाणगतकार्यत्व- प्रयुक्तत्वाच्च द श्यत्वव्याप्तेः। तेन तन्निव त्तावपि नाकार्यस्य श ङ्गस्य निव त्तिरिति। तच्च महार्थसिध्या कृतकृत्यस्य न परिभ्रंशाय, निष्प्रयोजनविषयत्वात्। तथापि सम्भावितस्याकीर्तिभिया नोपेक्षामर्हति प्रतिबन्दिरिति चेत्, तर्हि मा भैषीरिय-मुन्मोच्यते। तथा ह्यर्थतः स्वशिरः श ङ्गसाधनप्रव त्त इदं प्रष्टव्यः, किं ते विषाणशब्देनान्यदेव कि चिदभिप्रेतं रोमादिविषाणजातीयं वा द्रव्यम्? प्रथमे सिद्धसाधनं, लोकविरोधश्च। लोके तद्विपरीतस्यैवार्थस्य विषाणशब्देनाभिधानात्। द्वितीये त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां संस्थानविशेषकार्यत्वात्, व्यवहारलक्षणाया-स्तदभिव्यक्तेः। कथं तद्रहितेषु परमाण्वादिषु तत्सम्भवः। सम्भवे वा कथं न तत्र घटत्वादिकमपि। ओमिति ब्रुवतः कथं न जातिसङ्करप्रसङ्गः। करणं विना कार्यसम्भवप्रसङ्गो वा। न वान्वयव्यतिरेकौ कार्यकारणभावे प्रमाणमिति सर्वं समाकुलमेवाकुलमतेः। तस्मादतीन्द्रियं नित्यं वा विषाणमेव न भवति यच्च विषाणं तत् प्रत्यक्षबाधितमेव कुतस्तदनुमानावकाशः।

[प्रतिबन्ध-प्रतिबन्दि-निरासः]

न्यायतो दुर्बलस्य न्यायेनैव स्वाभिप्रेतं प्राप्तुमसमर्थस्य प्रतिवादिनः प्रतिबन्दीकरणं यदि स्याद् यथालोके इत्यभिप्रायक आह – **अथ न्यायदुर्बलस्य प्रतिबन्दीकरणमित्यादि।** न्यायेन दुर्बलस्य बौद्धस्य प्रतिबन्दीकरणं दर्शयामि। यदि क्षितिकर्त त्वेन अशरीरिणो लोके प्रसिद्धस्य कर्तुश्चेतनस्य सिद्धिः त्वया प्रतिपादिता, तदा शशविषाणस्यापि अलीकस्य तस्येव सिद्धिः स्यात्। नेदं शशविषाणमिति प्रत्यक्षबाधस्य द श्यमात्रनियतत्वेनाद श्यस्य शशविषाणस्य तेन बाधेन बाधायोगात्। न च शशविषाणे द श्यनिव त्त्या विषाणत्वस्यापि निव त्तिरिति वाच्यम्। विषाणत्वाव्यापकस्य द श्यत्वस्य निव त्तौ अव्याप्यस्य विषाणत्वस्य निव त्त्यभावात्। न हि घटनिव त्त्या पटनिव त्तिर्द श्यते। तेन द श्यत्वस्य निव त्तावपि द श्यत्वाकार्यस्य शशश ङ्गस्य न निव त्तिरिति ईश्वरसिद्धौ शशविषाणसिद्धिः प्रतिबन्दी त्वयोच्यते इति चेत्? उच्यतां प्रतिबन्दी, न ईश्वरसिद्धौ कापि क्षतिरिति कथयति – **एतच्च महार्थसिद्ध्या कृतकृत्यस्य न परिभ्रंशाय, निष्प्रयोजनविषयत्वात्** इति।

महतः अर्थस्य ईश्वररूपस्य सिद्ध्या कृतकृत्यस्य मम परिभ्रंसाय अवसंस्राय एतत् = प्रतिबन्दीरूपेण शशविषाणसिद्धिकथनं न दोषाय भवति। ईश्वरसिद्धिम् अङ्गीक त्यैव प्रतिबन्द्या शशविषाणस्य सिद्धिः त्वया उक्ता। शशविषाणं सिद्ध्यतु न वेति निष्प्रयोजनकत्वात् तस्य सिद्धौ न मम द्वेषः न वा उत्कण्ठा चेति विरमामि, यतः सिद्धिप्रयोजनको हम्। तुल्यन्यायतया शशश ङ्गमपि अयं साधयितुमुपक्रान्त इति उपहास एव ईश्वरो नास्तीति साधने समर्थस्त्वम्।

शङ्कते – **तथापि संभावितस्य अकीर्तिभिया नोपेक्षामर्हति प्रतिबन्दिरिति चेत्?** इति। "संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते" इति त्वया खण्डयितुं योग्यो यं प्रतिबन्दिर्मम भिया अकीर्तेश्च भिया वा सा प्रतिबन्दित्वमुपगतः तुल्यन्यायेनेश्वर इव शशविषाणमपि साधयतीति नोपेक्षामर्हति इति चेत्? उत्तरयति – **तर्हि मा भैषीः, इयम् उन्मोच्यते।** अलीकस्य शशविषाणं यथा सिद्ध्यति, तथा प्राणित्वादिना स्वशिरसो पि विषाणं सिद्ध्येतेति भयं मा कार्षीः त्वं, मया सा प्रतिबन्दिरुन्मुच्यते। **तथा हि अर्थतः स्वशिरःश ङ्गसाधनप्रव त्त इदं प्रष्टव्यः किं ते विषाणशब्देन अन्यदेव कि चिद् विवक्षितं रोमादि, विषाणजातीयं वा द्रव्यम्? प्रथमे सिद्धसाधनं लोकविरोधश्च। लोके तद्विपरीतस्यैव अर्थस्य विषाणशब्देन अभिधानात्।** विषाणशब्देन त्वया विवक्ष्यते रोमादि किं वा विषाणजातीयम्? विषाणशब्देन रोमादिविवक्षणे सिद्धसाधनं भवति। रोमादिकूर्मस्य भवत्येव। रोमादिशब्देन रोमादिविवक्षायां लोकविरोधो भवति। लोके रोमादिविरुद्धस्यैवार्थस्य विषाणशब्देन अभिधानात्। विषाणजातीयं द्रव्यं विवक्ष्यते इति द्वितीयं पक्षं दूषयितुमाह – **द्वितीये त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां संस्थानविशेषकार्यत्वात् व्यवहारलक्षणायास्तदभिव्यक्तेः कथं तद्रहितेषु परमाण्वादिषु तत्संभवः? संभवे वा न कथं तत्र घटत्वादिकम्?** इति। विषाणशब्देन विषाणजातीयं द्रव्यं विवक्ष्यते इति पक्षे तु अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विषाणस्य संस्थानविशेषकार्यत्वमेव। अवयविनः विलक्षणसंयोगरूपस्य संस्थानविशेषस्य कार्यत्वमेवेति संस्थानरहितेषु परमाण्वादिषु कथं विषाणस्य संभवः? अवयविनः त्वया अस्वीकारात् परमाणुपु जमेव तत्र स्वीक्रियते। तत्र संस्थानविशेषकार्यं विषाणं कथं भवेत्? विषाणव्यवहाररूपाया विषाणजातिव्यक्तेः संस्थानविशेषेण विषाणैकनियतकार्यविशेषेण च अभिव्यङ्ग्यत्वात्, कथं संस्थानरहितेषु परमाणुषु विषाणजातिसंभव इति? अभ्युगमे त्वाह – **संभवे वा न कथं न तत्र घटत्वादिकम्?** इति। यदि संस्थानरहितेषु परमाणुषु संस्थान–व्यङ्ग्यविषाणं त्वया अङ्गीक्रियते तदा तुल्ययुक्त्या विलक्षणसंस्थानव्यङ्ग्यघटत्वं किं न तत्राङ्गीक्रियते? संस्थानव्यङ्ग्ययोः उभयोः तुल्यत्वात्। विषाणे घटगतं संस्थानविशेषव्यङ्ग्यम् अपि घटत्वं शशविषाणे ङ्गीकरोषि त्वं तदा जातिसङ्करप्रसङ्ग इति कथयति सिद्धान्ती – **ओमिति ब्रुवतः कथं न जातिसङ्करप्रसङ्गः? कारणं विना कार्यसंभवप्रसङ्गो वेत्यादि।** यदि घटगतसंस्थान–(अवयवसंयोगविशेष)–व्यङ्ग्यमपि घटत्वं विषाणे स्वीक्रियते, तदा घटत्वविषाणत्वजात्योः साङ्कर्यापत्तेः। विषाणे घटत्वस्य, घटे विषाणत्वस्य चात्यन्ताभावस्य सत्त्वेन एतस्मिन् विषाणे उभयोः समावेशात्। घटगतसंस्थानविशेषकारणासत्वे पि घटत्वस्य कार्यत्वस्य विषाणगत–संस्थानविशेषरूपकारणसत्त्वे पि घटे विषाणत्वस्य कार्यस्य त्वया अङ्गीकृतत्वेन कारणं विना कार्यसंभवापत्तेः। घटत्वं नित्यं त्वया नाङ्गीक्रियते येन कार्यत्वं न भवेत्, किन्तु व्यवहारलक्षणाया घटत्वाभिव्यक्तेः घटादिगतसंस्थानविशेषकार्यत्वमेवेति। घटगतसंस्थानव्यङ्ग्यं घटत्वं विषाणगतसंस्थानविशेषव्यङ्ग्यं विषाणत्वमिति

तत्तत्संस्थानविशेषतत्तज्जात्योश्च कार्यकारणभावात्। एताद शकार्यकारणभावास्वीकारे आक्षिपति – **न चान्वयव्यतिरेकौ कार्यकारणभावे प्रमाणमिति सर्वं समाकुलमेवाकुलमतेः** इति।

[१]एवं तर्हि नित्यं ज्ञानमित्यपि व्याहतम्। इन्द्रियादिविकारमात्रव्यक्तिमात्रव्यङ्ग्यत्वात्। ज्ञानत्वसामान्यस्येति चेत् न, अतद्भावत्वात् अतदाक्षेपकत्वाच्च। न हि मात त्वस्य वन्ध्यात्ववत् नित्यत्वस्याभावो ज्ञानत्वम्। अचेतनानामपि चेतनत्वप्रसङ्गात्। नापि नित्यत्वं ज्ञानत्वाभावमाक्षिपेत्। ज्ञानत्वेनाविरोधात्। विरोधमूलस्य विपक्षे बाधकस्याभावात्, दर्शनादर्शनयोश्चार्थप्रवणत्वाप्रवणत्वोपाधिग्रस्तत्वात्। रूपत्वानित्यत्वयोश्चक्षुर्मात्रग्राह्यव्यक्तित्ववत्। न चेन्द्रियादिविकारो ज्ञानत्वाभिव्यक्तिहेतुरर्थप्रवणव्यक्तिमात्रस्यैव तन्निरपेक्षस्य तथाभावात्। एतदपेक्षस्य तस्यातिप्रस जकत्वादिति।

अथ क्षुद्रोपद्रवाः। केवलस्य कर्त त्वे विश्वस्य वैश्वरूप्यव्याघातः, सततोत्पत्तिप्रसङ्गश्च। अद ष्टापेक्षायां कल्पनागौरवम्, तत एव तदुत्पत्तेः। स्वार्थं प्रव त्तावनीश्वरत्वप्रसङ्गः। परार्थं प्रव त्तावदुःखमयसर्गप्रसङ्गः। एवमेव प्रव त्तावचैतन्यम्। एकत्वे प्रमाणाभावः। अनेकत्वे त्वसार्वज्ञ्यम्, प्रतिनियतसामग्रीविज्ञत्वादित्येवमादयः।

तत्र कारणचक्रस्यैकमुपादाय शेषवैय्यर्थ्यप्रस जने सर्ववैयर्थ्यप्रसङ्गः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धकारणभावस्य न वैयर्थ्यमिति चेत्? अनुमितकारणभावस्याप्येवम्, प्रमाणसिद्धत्वाविशेषात्। यच्च यदनुगुणत्वेन कल्पितं तस्य तेनैव विफलीकरणे सर्वत्राद ष्टमुपादाय द ष्टवैफल्यप्रसङ्गः। तथा च तदपि न स्यात्, प्रमाणाभावात्। द ष्टेन ह्यद ष्टमुन्नीयते। परार्थं च प्रव त्तिः, स्वार्थाभावात्। न च दुःखस ष्ट्या कारुण्यापवादः। जनकाध्यापकचिकित्सादिषु व्यभिचारात्।

अथ दौर्जन्यादेव किन्नैवमिति चेत्, न। दोषाभावात्। तदभावश्च मोहाभावात्। तदभावो पि सर्वज्ञत्वादिति।

एकद्व्यणुककारी च परमाणुमद ष्टमुपकार्यत्र्यणुकादिभोगपर्यन्तं द्रव्या-

---

१. मूले 'एवं तर्हि' इत्यारम्य 'वेदा अपि सर्वज्ञपूर्वका इत्युन्नीयते' इत्यन्तं यावत् चतुःष्टिपङ्क्ती– नांव्याख्या सम्पादकप्रमादात् कारणान्तरतो वा नोपलम्यते। सम्पादकः कम्प्यूटर यन्त्रे निरदिशत् About 44 Pages missings here, to be added from the original manuscrips. सम्भवति यद्धस्तलिखिता व्याख्या मूलपङ्क्तीनां नोपलब्धा सम्पादकेनेति।

दिपदार्थषट्कं च जानाति नूनमित्यविवादम्। एषामुपादानादिरूपत्वात्। अवच्छेद्यावच्छेदकभावापरिज्ञानेन वोपादानादिपरिज्ञानानुपपत्तेः। यश्च यज्जातीयमेकं कर्त्तुं ज्ञातुं वा समर्थः, स तज्जातीयं सर्वमेवेति नियमः। सामर्थ्यस्य जातिनियतत्वात् केवलं समर्थो पि सहकार्यसन्निधेर्न कुर्यान्न जानीयात्। तत्र प्रथममिष्यते। कार्यस्य कालदेशनियमोपलम्भात्। द्वितीयस्तु संभवेदपि यदि कार्यमस्य ज्ञानं स्यात्। न च तत्तथा। कथमिति चेत्? शरीरापाये तदाश्रितानामिन्द्रियादीनामपायात्। न चान्वयव्यतिरेकसिद्धहेतुभावस्याभावे पि हेत्वन्तरात् कार्यजन्म, निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात्। न चाहेतुकं कार्यं नाम। ततः स्वतः सिद्धैवास्य ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नशक्तिर्यत्गोचरा तज्जातीयसमस्तगोचरेति सार्वज्ञ्यसिद्धिः।

शरीरापाय एव कथमिति चेत्? द श्यस्य प्रत्यक्षबाधितत्वात्, अद श्यस्यापि सावयवतया मूर्ततया च निविडतरपाषाणमध्यवर्तिनि भेकादौ कार्ये कार्तव्ये नाभग्नस्य प्रवेशः। न च परमाणुरूपं तच्छरीरम्। अनन्तरालत्वेन निर्मनस्कतया इन्द्रियाश्रयत्वानुपपत्तेः। न च बहिव ॅत्ति मनोज्ञानजननोपयोगि शरीरवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न च दविष्ठ एव सूर्यादिस्तत्कुर्यादिति साम्प्रतम्। कारकानधिष्ठानात्, शरीरस्य तदायतनतया प्रसत्नस्याव्यापकत्वात्। तथापि व्यापकत्वे त्वसमवायिकारणाननुरोधेनाकारणकतया तदेव नित्यत्वम्। न चोद्देशमात्रसंबन्धेन क्रियाहेतुत्वमस्मदादिप्रयत्नस्यापि तथाभावप्रसङ्गात्। न च संयुक्तसंयोगादधिष्ठानं, साक्षादधिष्ठानस्य विवक्षितत्वात्। विषापनोदादौ कथमिति चेत्, न। तत्रास्मदादेर्ज्ञानमात्रं प्रति यत्नस्याविरोधात्। विषापनोदादौ तु तत्सहकारिणस्तज्जन्याद ष्टसहकारिणो वा अन्यस्यैव तत्रत्यो यत्नः क्रियाहेतुरिति। सर्गादौ तु न शरीरगन्धो पीति सर्वथा कलेवरविगमात् अकारणतया बुद्धेः सर्वज्ञत्वमनिवार्यं विश्वेषां कर्तुरेकस्येति।

अस्तु तावदसौ सर्वज्ञः कर्त्ता, वक्ता तु कथमिति चेत्? न। वचनशक्तौ सत्यां परार्थैकतानत्वात्। यो हि हिताहितविभागं विद्वान् परार्थमभिप्रायः संस्थानकरणपाटवे सत्यविदुषे वश्यमुपदिशेत्। यथा अन्धाय दक्षिणेन याहि वामेन मा गाः इति प थग्जनो पि तथा भगवानिति। स्थानकरणपाटवमसिद्धं देहाभावात्। तेषां ताल्वादिविव तादिरूपत्वात्। न च तदन्तरेण वर्णनिष्पत्तिः, तदुत्पत्तेरवधारणात्। न च तत्कारणान्यनधितिष्ठतः तत्कर्त ॅत्वमीश्वरस्यापीति चेत्? न, यस्य कार्यस्य यत्कारणान्वयव्यतिरेकसिद्धं तत्कारणाधिष्ठानयोः स्थूलसिद्ध्यर्थं तदवयवपरम्पराकारणाधिष्ठानवदवश्यम्भावनियमात्। ननु सर्वत्र

कार्ये कायः कारणमिति प्रागुपेक्षितः। पित त्वाद्वोपदेशानुमानम्। तथापि कतम आगमस्तेन प्रणीत इति चेत्? वेदायुर्वेदादिरित्यरिकरिकर्णज्वरः सिहंनादः।

तथाहि न तावदयमायुर्वेदो प्रमाणं, संवादस्य प्रायिकत्वात्। विसंवादस्य काकतालीयतया कर्त कर्मसाधनवैगुण्यहेतुकत्वात्। पुनस्तत्साद्गुण्ये तत एव फलसिद्धेः। न च निर्मूलस्तथा भवितुमर्हति। अतिप्रसङ्गात्। न चान्वयव्यतिरेकभावो स्य मूलं आवापोद्वापेन योगानामनन्ततयार्वाचीनेनाशक्यत्वात्। विषादौ तथाकरणे बहुतरानर्थप्रसङ्गात्। कः प्रेक्षावान् अनाकलितवस्तुतत्त्वः पाटवपोषणच्छेदनक्षारणशिरावेधनलङ्घनादि योग्यायै कारयेत्, कुर्याद्वा। न चोपदेशस्य उपदेशपारम्पर्यमात्रं मूलं, अवश्यमुपदेशस्य क्वचित् प्रमाणे विश्रान्तेरिति हि व्याप्तेः। न च नित्यागमसम्भवो वाक्यत्वात्। तस्मादतीन्द्रियार्थदर्शिपूर्वको यमिति परिशेषः। तथा चानेन द ष्टान्तेन महाजनपरिग हीतत्वाद्वेदा अपि सर्वज्ञपूर्वका इत्युन्नीयते।

ननु महच्छब्दो त्र यदि प्रामाणिकवचनस्तदा सन्दिग्धासिद्धविशषणो हेतुः। अथ बह्वर्थः? तदा सुगताद्यागमैरनैकान्तः। तेषामपि वा सर्वज्ञपूर्वकत्वमिति चेत्, न। बहुत्वातिशयस्य विवक्षितत्वात्। को तिशयः। सर्वदर्शनान्तःपातित्वम्। कस्तैः परिग्रहः? तदर्थानुष्ठानं, स्वीकृतव्यवहारव्याकरणादिपालनीयत्वं, स्वीकृतप्रामाण्यायुर्वेदादिस्वीकृतार्थत्व च। तथाहि नास्त्येव तद्दर्शनं यत्र सांव तमित्युक्त्वापि गर्भाधानाद्यन्त्येष्टिपर्यन्तां वैदिकीं क्रियां जनो नानुतिष्ठति। स्प श्यास्प श्यादिविभागं वा नानुमनुते, व्यतिक्रमे चा चमनादिस्नानादि प्रायश्चित्तं वा नानुतिष्ठति। न सर्वत्र सर्वो जन एवमिति चेत्? मा भूत्, न हि सर्वै रोगिभिरायुर्वेदार्थो नानुष्ठीयत इति न तस्य महाजनपरिग्रहः। अपि तु सर्वदर्शनान्तःपातिभिरित्येव। तथापि न सर्वो वेदार्थ एवमिति चेत्? मा भूत्। न हि सर्वो वैद्यकार्थ एवमपि तु कश्चित् केनापि। एवं तर्हि सौगताद्यागमार्थो पि कश्चिदहिंसादिः सर्वदर्शनान्तःपातिभिरनुष्ठीयत एव कैश्चिदिति सो पि महाजनपरिग हीतः स्यात्। न, सन्देहात्। किमयमहिंसादिर्वैदिक एवार्थो विडालव्रतन्यायेन श्रद्धा पादनाय शौद्धोदनिप्रभ तिभिरुपनिबद्ध, आहो स्वयं द ष्ट एवेति। न तावत् स्वयं द ष्टः, श्रमणकाद्यागमसाधारणत्वात्। यस्त्वसाधारणो मण्डलीकरणादिः केशोल्लु चनादिर्वा नासौ सर्वैरनुष्ठीयते। वैदिकस्तु असाधारण एव निषेकादिस्तथेति। अपि च वाचकापभ्रंशविभागो स्तु न वा, तद्व्यवहारस्तावत् सर्वैरेव तीर्थिकैरविगानेन स्वीकृतः। तथा शिक्षाज्योतिश्छन्दोनिगमनिरुक्ताद्यार्थश्च। तेषां च वेदरक्षैव परमं प्रयोजनमिति।

[वेदे महाजनपरिग हीतत्वम्]

ननु महच्छब्दः पूज्यवाची बहुवाची वा। प्रथमे सर्वज्ञप्रणीतत्वसाधनात् प्राग् वेदेषु महाजनग हीतत्वज्ञानम् आवश्यकम्; न तदधीनतया सर्वज्ञपूर्वकत्वं सिद्ध्यति। तच्च न संभवति। मन्वादौ प्रामाणिकत्वसन्देहेन तत्र पूज्यत्वसन्देहः, तदा वेदेषु महाजनपरिग हीतत्वानिश्चयात्, कथं वेदेषु सर्वज्ञपूर्वकत्वमिति शङ्कते – **ननु महच्छब्दो यद्यत्र प्रामाणिकवचनस्तदा सन्दिग्धासिद्धविशेषणो हेतुः। अथ बह्वर्थः, तदा सुगताद्यागमैः अनैकान्तः। तेषामपि वा सर्वज्ञपूर्वकत्वमिति चेत्?** इति। यदि महच्छब्दः पूज्यवाची तदा मन्वादिषु अप्रामाणिकवचनत्वसन्देहाधीनः तत्र पूज्यत्वसन्देह इति वेदाः सर्वज्ञपूर्वकाः (सर्वज्ञप्रणीताः वा), महाजनपरिग हीतत्वाद्, इत्यनुमानं न संभवति; हेतोः सन्दिग्धविशेषणत्वेन असिद्धत्वात्। महच्छब्दस्य बह्वर्थकत्वं यद्यपि न पूर्वोक्तम्, बहुभिरास्तिकैः ग हीतत्वस्य वेदेषु सत्त्वात्, तथापि वेदेषु सर्वज्ञपूर्वकत्वानुमानं न संभवति। तव मते सुगतागमस्य सर्वज्ञपूर्वकत्वाभावस्य सर्वज्ञेश्वरप्रणीतत्वाभावस्य च सत्त्वेन तत्र नैकैः बौद्धैः ग हीतत्वस्य सत्त्वेन हेतोः व्यभिचरितत्वात्। त्वया तस्य सर्वज्ञत्वास्वीकारात्। साध्याभाववद्व त्तित्वं हि व्यभिचारः। किं वा तव वेदानामिव सुगतागमस्यापि सर्वज्ञपूर्वकत्वापत्तिरिति उक्तहेतुना महाजनपरिग हीतत्वेन वेदे न सर्वज्ञपूर्वकत्वं सर्वज्ञप्रणीतत्वं वा सिद्ध्यतीति चेत्? समाधत्ते – **न। बहुत्वातिशयस्य विवक्षितत्वात्** इति। अतिशयितानां बहूनां महच्छब्देन अभिधानेन उक्तदोषाभावात्। अतिशयविशिष्टबहुजनग हीतत्वस्य आयुर्वेदादिष्वेव सत्त्वेन सुगतागमेषु तदसत्त्वात्। तथा च वेदाः सर्वज्ञपूर्वकाः, सर्वज्ञेश्वरप्रणीता वा, बहुत्वविशिष्टातिशयत्वविशिष्टजन–परिग हीतत्वाद्, इत्यनुमानेन तत्र साध्यस्य सिद्धेः। सुगतागमेषु हेतोः असत्त्वेन न सर्वज्ञेश्वरप्रणीतत्वस्य अनुमानेन सिद्धिः।

पूर्वोत्तराभ्याम् अतिशयत्वं स्फुटयति – **को तिशयः? सर्वदर्शनान्तःपातित्वम्। कस्तैः परिग्रहः? तदर्थानुष्ठानमित्यादि।** बहुत्वविशिष्टातिशयत्वाद् इत्यत्र को तिशयः? सर्वदर्शनेषु न्यायमीमांसादिषु तदन्तःपातित्वस्य वेदप्रतिपाद्यस्य मुख्यार्थ–स्वर्गापवर्गादिस्वीकर्त त्वस्य अतिशयस्य तत्र सत्त्वात्। सौगतदर्शनानि तु न दर्शनानि, किन्तु दर्शनप्रतिरूपकाणि। तथा च वेदाः स्वप्रतिपाद्यार्थप्रतिपादकत्वसंबन्धेन सर्वेषु न्यायमीमांसादिदर्शनेषु वर्तन्ते इति भवति वेदानां दर्शनान्तःपातित्वम्। स्वर्गापवर्गादीन् वेदमुख्यार्थान् ग हीत्वैव सर्वाणि दर्शनानि न्यायमीमांसादीनि प्रवर्तन्ते। बहुत्व–विशिष्टातिशयविशिष्टजनपरिग हीतत्वात्, (महाजनपरिग हीतत्वात्) इति हेतुः। महाजनपरिग्रहपदार्थः क इति प च्छति – **कस्तैः परिग्रहः** इति। महाजनैः वेदस्य कः परिग्रहः? परिग्रहशब्दस्य त्रीन् अर्थान् ग हीत्वा उत्तरयति – **तदर्थानुष्ठानम्, स्वीकृतप्रामाण्यव्याकरणादिपालनीयत्वम्, स्वीकृतप्रामाण्यायुर्वेदस्वीकृतार्थत्व चेति।** ग्रहणधारणात्मकः परिग्रहो यद्यपि नास्ति तेषाम्, तथापि वेदार्थानुष्ठानमेकः परिग्रहः। तथा तैः स्वीकृत(व्यवहार)–प्रामाण्यव्याकरणादिभिः वेदस्य परिपालनीयत्वम्। अपरः

परिग्रहः। तथा तैः स्वीकृतप्रामाण्यायुर्वेदेन वेदस्य स्वीकृतार्थत्वमपि तैर्वेदस्य परिग्रहः। अस्मदभिमतस्य वेदस्यार्थो निषेकादिः गर्भाधानादिः तैः (महाजनैः) अनुष्ठीयते, न तु त्वदागमस्यार्थः मण्डलीकरणादि इति एकः परिग्रहार्थः। द्वितीयं महाजनपरिग्रहमाह – **स्वीकृतेति**। स्वीकृतं प्रामाण्यं यद् व्याकरणं पाणिन्यादिप्रणीतं तत्साधिता–साधारणपदवत्त्वं महाजनपरिग हीतत्वम् इत्यर्थः। "छन्दसि बहुलम्" इत्यादि सूत्रप्रतिपादितासाधारणपदवत्त्वं यथा अस्मदागमे, न तथा त्वदागमे पीति भावः। त तीयमाह – **स्वीकृतेति।** "शतकृत्वो गायत्रीमभ्यस्य नीरुग् भवति" इत्यादौ गायत्र्या अस्मदागम एव सत्त्वादित्यर्थः। स्वीकृतप्रामाण्येनायुर्वेदेन स्वीकृतः ग हीतः यः गायत्रीरूपो र्थः, सो र्थो यस्य वेदस्य तस्य भावस्तत्त्वम्। उभयोः आगमयोर्भेदं वेदागमप्रतिपालकेभ्यः सुगतागमप्रतिपालकेभ्यश्च दर्शयितुम् आह – **तथाहि नास्त्येव तद्दर्शनं यत्र सांव तम् इत्युक्त्वापि गर्भाधानाद्यन्त्येष्टिपर्यन्तां वेदिकीं क्रियां जनो नानुतिष्ठति; स्प श्यास्प श्यादिविभागं वा जनो नानुमनुते; व्यतिक्रमे वा आचमन-स्नानादि-प्रायश्चित्तं नानुतिष्ठति** इति। बौद्धमतावलम्बी जनः यस्मिन् दर्शने सांव तम् इत्युक्त्वापि गर्भाधानाद्यन्त्येष्टिपर्यन्तां वैदिकीं क्रियां नानुतिष्ठति इत्यनेन प्रथमपरिग्रहं बौद्धजनो न करोति इति दर्शितम्। वेदोक्तस्प श्यास्प श्य–विभागं वा बौद्धजनो नानुमनुते = न स्वीकरोति। अस्प श्यस्पर्शे वा आचमनस्नानादिप्रायश्चित्तं नानुतिष्ठति = न करोति। अतो बौद्धजनो न महाजनः, किन्तु सनातनधर्मावलम्बी एव महाजनः। न वा बौद्धागमो दर्शनम् महाजना–परिग हीतत्वात्।

तद्दर्शनान्तःपातिनः कतिपय एव अनुतिष्ठन्ति न तु सर्वे इति शङ्कते – **न सर्वत्र सर्वो जन एवमिति चेत्?** इति। तद्दर्शनान्तःपातिनः वेदोक्तं कर्म सर्वे जनाः सर्वत्र नानुतिष्ठन्ति इति वेदस्यापि न महाजनपरिग हीतत्वमिति हेतुर्विरुद्धः पक्षमात्राव त्तित्वादिति चेत्? एकेन अपि महाजनेन परिग हीतत्वे महाजनपरिग हीतत्वं तत्र अस्तीति समाधत्ते – **मा भूत्। न सर्वत्र सर्वै रोगिभिः आयुर्वेदार्थो नानुष्ठीयत इति न तस्य महाजनपरिग्रहः, अपि तु सर्वदर्शनान्तःपातिभिरित्येव** इति। तद्दर्शनान्तःपातिनः सर्वे जनाः सर्वथा वेदोक्तं कर्म न परिपालयन्तु, को पि तु परिपालयति तत्कर्म, तेनैव महाजनपरिग हीतत्वं तस्य भविष्यति। अन्यथा सिद्धमहाजनपरिग हीतत्वस्य आयुर्वेदस्यापि महाजनपरिग हीतत्वानुपपत्तेः। तत्रोक्तौषधं तद्दर्शनान्तःपातिभिः सर्वैः योगिभिः रोगिभिः नानुष्ठीयते इति न तस्य महाजनपरिग्रहः अपि तु सन्त्येव बहवस्तथाभूताः योगिनो रोगिणश्च तत्रौषधं परिग ह्णन्ति। सर्वदर्शनान्तःपातिभिः जनैः परिग्रहो स्तीत्येवं महाजनपरिग्रहः तस्यापि इत्याह – **अपि तु सर्वदर्शनान्तःपातिभिरित्येव** इति। सर्वदर्शनान्तःपातिभिः परिग हीतत्वं महाजनपरिग हीतत्वमिति। तच्च वेदेषु वर्तते इति नोक्तदोषः।

शङ्कते – **तथापि न सर्वो वेदार्थ एवमिति चेत्?** इति। सर्वदर्शनान्तःपातिभिः जनैः वेदार्थस्य परिग्रह इति कथनेन, "न सर्वथा सर्वो जनो वेदार्थो नुष्ठीयते" इति दोषस्य वारणे पि सर्वो वेदार्थः सर्वदर्शनान्तःपातिभिः जनैः अनुष्ठीयते इति न द श्यते। वेदार्थस्य राजसूयादेः बहुधनैः अनेकजनैः साध्यत्वेन इदानीम् अनुष्ठानासंभवात् इति चेत्? सिद्धान्ती निराकरोति – **मा भूत्। नहि सर्वो वैद्यार्थक एव, अपि तु कश्चिदपि केनापि** इति। प्रत्यक्षप्रामाणिकत्वेन उभाभ्यां वादिप्रतिवादिभ्यां ग हीतप्रामाण्यकस्य आयुर्वेदस्यार्थः औषधविशेषः बहुधनेन साध्यः बहुप्रयाससाध्यश्चेति दरिद्रमहाजनेन अपरिग हीतो द श्यते। तथापि तस्य नाप्रामाण्यं त्वयापि स्वीक्रियते इति। राजसूयादिवेदार्थस्य बहुधनबहुप्रयाससाध्यत्वेन अग्रहे पि तदन्यवेदार्थस्य महाजनेन परिग्रहात् तस्य महाजनपरिग हीतत्वसिद्धेः।

पूर्वपक्षी शङ्कते – **एवं तर्हि सौगताद्यागमार्थो पि कश्चिद् अहिंसादिरित्यादि।** यदि कस्यापि वेदार्थस्य कतिपयमहाजनपरिग्रहे पि वेदस्य महाजनपरिग हीतत्वं त्वया स्वीक्रियते, तदा सौगताद्यागमस्यापि महाजनग हीतत्वापत्त्या वेदस्येव तस्यापि प्रामाण्यापत्तिः दुर्वारा स्यात्। सौगताद्यागमार्थो पि कस्यचिद् हिंसादेः सर्वदर्शनान्तः–पातिभिः कैश्चित् महाजनैरनुष्ठीयमानत्वादिति चेत्? सिद्धान्ती समाधत्ते – **न। सन्देहात्** इति। अहिंसादेरर्थस्य सौगताद्यागमे विडालव्रतन्यायेन[1] **(१. यस्यधर्मध्वजो नित्यं सुरध्वज इवोच्छ्रितः।**

प्रछन्नानि च पापानि वैडालं नाम तद्व्रतम्

(तद्व त्तिः)।। मनुस्म तिः ४.१९५)

श्रद्धापादानाय विशेषः, किं वा स्वं प्रद ष्टत्वेनेति सन्देहात् तस्य सौगताद्या–गमार्थत्वेनानिश्चितत्वेन तथा कथयितुमशक्यत्वात्। सन्देहाकारं दर्शयति – **किम् अहिंसादिर्वैदिक एवार्थो विडालव्रतन्यायेन श्रद्धापादानाय शौद्धोदनिप्रभ तिभिः उपनिबद्धः, आहोस्वित् स्वयं प्रद ष्ट एवेति?** इति। यथा मांसादिभक्षको पि विडालः तत् सन्निधौ मांसादिग्रहीतुं विडालो यं वैष्णवो न मांसादिकं भक्षयिष्यतीति लोकस्य विश्वासदानाय तदभक्षीव उपविशति, तथा बौद्धादिभिः स्वागमे श्रद्धादानाय वैदिकार्थो हिंसादिर्निबद्धः, किं वा "हिंसा पापजनिका" इति समालोच्य स्वयं प्रद ष्ट एवेति सन्देहात् अहिंसादेरर्थस्य सौगताद्यागमार्थत्वेनानिश्चितत्वात्। तथा च सौगताद्यागमार्थस्य तदागमार्थत्वेन निश्चितस्य महाजनैरपरिग्रहात् न तदागमस्य महाजनपरिग हीतत्वेन अप्रामाण्यात्। एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धकोटिद्वयावगाहिज्ञानस्य संशयस्य एककोटिनिश्चयेन प्रतिबध्यत्वात् वैदिकार्थस्याहिंसादेः लोकानां श्रद्धापादानाय स्वागमे निवेशः बौद्धादिभिः कृतः, न स्वागमासाधारणधर्मबुद्धिं कृत्वा धर्मद ष्ट्या निवेश इति बोधयितुं स्वयं द ष्ट एवेति सन्देहविषयीभूताम् एककोटिम् सन्देहनिवारणाय

खण्डयितुमाह सिद्धान्ती – **न तावत् स्वयं द ष्ट एवेति श्रमणकाद्यागमसाधारणत्वात्। यस्त्वसाधारणो मण्डलीकरणादिः केशोल्लु चनादिर्वा नासौ सर्वैरनुष्ठीयते। वैदिकस्त्वसाधारण एव निषेकादिस्तथेति** इति। स्वागमासाधारणधर्मं स्वीकृत्य वैदिकार्थाहिंसादेः धर्मबुद्ध्या स्वागमे बौद्धैः जैनैर्वा न निवेशः, श्रमणाद्यागमसाधारणत्वात्। बौद्धजैनाद्यागमसाधारणो यम् अहिंसादिः, तस्य बौद्धजैनादिदर्शनेषु द श्यमानत्वात्। असाधारणधर्मस्तु तन्मात्रव त्तिर्भवति, तदन्याव त्तिश्च। साधारणधर्मस्तु तद्व त्तिः तदन्यव त्तिश्च भवति। यस्त्वसाधारणो धर्मः मण्डलीकरणादिः, केशोल्लु चनादिर्वा असौ तत्तदागमानुयायिभिरपि बौद्धजैनादिसन्न्यासिभिरानन्तर्येणानुष्ठीयमानत्वात् तस्य तस्य। वैदिकसाधारणो धर्म एव निषेकादिः गर्भाधानादिः अधिकारिसर्वानुष्ठान–गोचरः। अतो बैडालिकव्रतन्यायेन अहिंसादेः वैदिकधर्मस्य बौद्धाद्यागमे निवेशात्, न महाजनपरिग हीतत्वं तत्तदागमानामिति सिद्धम्।

स्वीकृतप्रामाण्यव्याकरणादिभिः वेदस्य पालनीयत्वरूपं द्वितीयं महाजनपरिग्रहं विव णोति – **अपि च वाचकापभ्रंशविभागो स्ति वस्तुतो न वा? तद्व्यवहारस्तावत् सर्वैरेव तैर्थिकैरविगानेन स्वीकृत इति** ननु वाचकापभ्रंशफलं व्याकरणम्। तद्विभागश्च वस्तुगत्या नास्तीत्यत आह – **अपि चेति**। वाचकापभ्रंशविभागो वस्तुतो नास्ति। तद्विभागश्च व्याकरणाधीन एव सर्वैरेव शास्त्रकारैः एकमत्या स्वीकृतः। व्याकरणं प्रकृतिप्रत्ययादिपरिकल्पकं वाक्यम्। न गोशब्दवत् गावीशब्दे तत्(प्रकृति–प्रत्ययादि) कल्पनास्ति। तत्(प्रकृति–प्रत्ययादि)परिकल्पकत्वेन सर्वैः शास्त्रकारादिभिः अनुमतेन व्याकरणेन "बहुलं छन्दसि" इत्यादिना (भद्रंकरणमित्यादीनां) साधनात् तत्(वेद)परिपालनीयत्वं व्याकरणे सिद्धम्। एवं शिक्षा–ज्योतिः–छन्दो–कल्प–निरुक्ताद्यर्थश्च वेदस्य पालक। तेषां शिक्षादीनां वेदरक्षैव परमं प्रयोजनम् इति। तथा च वेदस्य व्याकरणादिना परिपालनरूपपरिग्रहः सिद्ध इति।

स्यादेतत्, व्याकरणादीति तावत् सर्वैरभ्युपगतार्थानि, वेदा अपि तै पालनीया भवन्तु। त एवेति तु कुतः, संसारमोचकागमो पि तत्पालनीयः किन्न स्यादिति चेत्, न। तत्कर्त भिस्तथानभ्युपगमात्, अव्युत्पादनात्, असाधारण-लिङ्गभावात्, विरुद्धलिङ्गसद्भावाच्च। न हि वेदशब्दार्थाविव सुगताद्यागमा-साधारणशब्दार्थावनुरुध्य तेषां प्रव त्तिः। यत एवमुन्नीयेत, प्रत्युत विरोध एव, तैस्तदप्रमाण्यव्युत्पादनात्। तस्मात् सर्वाभ्युपेतव्यवहारव्याकरणादिपालनीय-त्वमपि वेदानामेव नान्येषाम्। सर्वाभ्युपेतप्रामाण्यैरायुर्वेदादिभिः स्वीकृतश्चैषामर्थः। प्रतिपदं तदीयशान्तिकपौष्टिकप्रायश्चित्ततपोजपदानहोमाद्युपदेशात्। न चैष भागस्तत्राप्रमाणमेव, तुल्ययोगक्षेमत्वात्। एतदेवासिद्धं, प्रक्षेपस्यापि संभवादिति चेत्, न। अध्येत्रध्यापयित संप्रदायाविच्छेदात्।

''अन्यथाकरणे चास्य बहुभ्यः स्यान्निवारणम्''। इति न्यायात्।

तस्मादेवंरूपो पि महाजनपरिग्रहो वेदानामिति। सो यमीद शो महाजन-परिग्रहो सर्वज्ञपूर्वकत्वे संभवन् सर्वज्ञपूर्वकत्वेन व्याप्यते।

विपक्षी शङ्कते – **स्यादेतत्, व्याकरणादीतीत्यादि।** सर्वैः शास्त्रकारैरशास्त्र–कारैर्विज्ञैः व्याकरणशिक्षादीनि स्वीकृतार्थानि। वेदा अपि व्याकरणशिक्षादिभिः परिपालनीया भवन्तु। व्याकरणशिक्षादयो वेदस्यैव रक्षका इति कुतो लभ्यते? अर्थात् न लभ्यते। अतः संसारमोचका सर्वे आगमा व्याकरणादिपालनीया किं न स्युः? तथा च अस्मादाद्यागमो पि वेद इव व्याकरणादिभिः परिपालनीय इति महाजनपरिग हीतत्वम् अस्मदाद्यागमस्येति वेदस्येव अस्मदागमप्रमाणं महाजनपरिग हीतत्वादिति चेत्? सिद्धान्ती परिहरति – **न। तत्कर्त भिस्तथानभ्युपगमात्, अव्युत्पादनादित्यादि।** इन्द्र–पाणिनि–प्रभ तिभिः व्याकरणकर्त भिः तदनभ्युपगमात्। संसारमोचकागमप्रतिपाद्यार्थशब्दयोः अनभ्युपगमादित्यर्थः। अनभ्युपगमः कथमिति चेत्? तत्राह अव्युत्पादनात्। व्याकरणसूत्रैः वैदिकानि पदानि व्युत्पाद्यन्ते, न तथा त्वदागमस्थान्यपि। प चस्कन्धादिपदानि तु भाषायामेव सिद्धानीति भावः। व्याकरणसूत्रैरव्युत्पादनमेव कथमिति चेत्? अत आह – **असाधारणलिङ्गाभावाद् विरुद्धलिङ्गसद्भावाच्च** इति। असाधारण–लिङ्गाभावमाह – **नहि वेदशब्दार्थाविव सुगताद्यागमासाधारणशब्दार्थावनुरोध्य तेषां प्रव त्तिः यत एवमुन्नीयेत।** यथा वेदानां शब्दान् वेदार्थान् वा आदाय इन्द्रपाणिनिप्रभ तीनां यतः प्रव त्तिः, तथा सुगताद्यागमानां शब्दान् अर्थान् वा आदाय तेषां यतो न हि प्रव त्तिः, अतो वेदा एव पालनीयत्वेन व्याकरणकर्त भिः इन्द्र–पाणिनि–प्रभ तिभिः ग हीताः, न तु सुगताद्यागमाः प चस्कन्धादय इत्यनुमीयते। विरुद्धलिङ्गसद्भावम् आह – **प्रत्युत विरोध एव तैः तदप्रामाण्यव्युत्पादनात्** इति। तैः = इन्द्रपाणिनिप्रभ तिभिः व्याकरणकर्त भिः सुगताद्यागमानाम् अप्रामाण्यप्रति–पादनेन तेषां विरोध एव कृतः। कथं विरोधकर्तारः तेषां पालकाः भवेयुः? उभयोः विरोधात्। उपसंहरति – **तस्मात् सर्वाभ्युपेतव्यवहार-व्याकरणादिपालनीयत्वमपि वेदानामेव नान्येषाम्** इति। वेदस्य शब्दार्थयोः व्याकरणकर्त भिः व्युत्पादनात्, असाधारणलिङ्गात् विरुद्धलिङ्गाभावाच्च, सर्वैरभ्युपेतो व्यवहारो येषां ते सर्वाभ्युपेत–व्यवहारा व्याकरणादयः, तैः पालनीयत्वं वेदानामेव, नान्येषां संसारमोचकत्वेन ग हीतानां सुगताद्यागमानाम्। यतो व्याकरणकर्त भिः तत्रस्थशब्दार्थयोरव्युत्पादनं कृतम्, न वा साधारणं लिङ्गं प्रदर्शितम्, विरोधश्च कृतः, अतो न तेषामागमानां परिग हीता इति न सुगताद्यागमानां महाजनपरिग हीतत्वं, नातस्तेषां प्रामाण्यम्। वेदस्थाः शब्दा अर्थाश्च तैः परिग हीता अतो महाजनपरिग हीतत्वेन वेदानां प्रामाण्यमिति सुधीभिर्विज्ञेयाः।

स्वीकृतप्रामाण्यायुर्वेदस्वीकृतार्थत्वं त तीयं परिग्रहमाह – **सर्वाभ्युपेतप्रामाण्यैः आयुर्वेदादिभिः स्वीकृतश्चैषामर्थः। प्रतिपदं तदीयशान्तिक-पौष्टिक-प्रायश्चित्त-**

तपो-जप-दान-होमाभ्युपदेशादिति। प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वेन सर्वाभ्युपेतप्रामाण्यैः आयुर्वेदादिभिः वेदानामर्थः स्वीकृतः, न तु वेदभिन्नानां त्वदागमानाम्। प्रतिपदं वेदस्थ–शान्तिक–पौष्टिकप्रायश्चित्त–तपो–जप–दान–होमानामायुर्वेदेनोपदेशात्।

पूर्वोक्तं द्रढयितुं शङ्कां कृत्वा उत्तरयति – **न चैष भागः तत्र अप्रमाणमेव, तुल्ययोगक्षेमत्वादि**ति। आयुर्वेदशान्तिकादिभागो प्रमाणमेव, तथा च शान्तिकादिकम् आदाय वेदस्य न महाजनपरिग हीतत्वमिति न वाच्यम्। तत्रस्थतद्भागस्य अप्रामाण्ये दशमूलीकषायाद्युपदेशभागस्यापि अप्रामाण्यापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। संवादेन तस्य प्रामाण्यग्रहात्। न च मदंशे संवादस्तदंशे तस्य प्रामाण्यं न तु सर्वांशे प्रामाण्यम्। तथा च शान्तिक–पौष्टिकादि–भागस्य तत्र अप्रामाण्यमेवेति वाच्यम्। एवं सति आयुर्वेदवक्तुः अप्रामाण्यापत्त्या सर्वावयवावच्छेदेन तस्याप्रामाण्यापत्तेः। शान्तिकादिपाठं प्रक्षिप्तं मत्वा शङ्कते – **एतदेवासिद्धं, प्रक्षेपस्यापि संभवादिति चेत्?** इति। शान्तिकादिभागस्य तत्र प्रक्षेपस्यापि संभवेन, संवादेन तस्य अनुभूयमानस्य दशमूलीकषायादेर्भाग इव शान्तिकादिभागो न तुल्ययोगक्षेम इति चेत्? तत्रस्थस्य शान्तिकादिभागस्य प्रतिक्षेपं खण्डयितुम् आह – **न। अध्येत्रध्यापयित - सम्प्रदायाविच्छेदात्** इति। अध्येतृणामध्यापयितृणां च सम्प्रदायाविच्छेदात् इति। अध्येतृणाम् अध्यापयितृणा च संप्रदायस्य विक्षेपाभावेन चरकसुश्रुतादेः परम्परागतत्वेन तत्र शान्तिकादिभागस्य प्रक्षिप्तत्वाभावात्। संप्रदायस्याविच्छेदे पि प्रतिक्षेपकल्पनायां दोषमाह – **"अन्यथाकरणे चास्य बहुभ्यः स्यान्निवारणम्"** इति न्यायात्।

यद्यपि संप्रदायस्याविच्छेदे हि न प्रक्षेपसंभावनाप्यस्ति, तथापि (अविच्छेदे पि) कुतो न प्रेक्षेपसंभावनेति शङ्काकरणे बहुभ्यः स्यान्निवारणम् = बहुभ्यः ग्रन्थकर्त्र्भ्यः सम्प्रदायाविच्छेदे पि प्रक्षेपसंभवनाकर्तुः निवारणं स्यात्। अन्यथा सर्वत्र प्रक्षेपसंभावनायाः संभवेन कस्यापि आगमस्य प्रामाण्याभावापत्तेः। न च त्वया इष्टापत्तिः कर्तुं शक्यते। तुल्यन्यायेन त्वदागमे पि प्रक्षेपसंभावनापत्तेः। अतो यत्र संप्रदायस्य विच्छेदः तत्रैव प्रक्षेपसंभावना कथमपि संभवति, न तु यत्र संप्रदायस्याविच्छेदस्तत्र प्रक्षेपसंभावना संभवति। तथा च चरकसुश्रुतादेः आयुर्वेदस्य संप्रदायाविच्छेदेन तत्र शान्तिक–पौष्टिक–प्रायश्चित्त–तपो– जप्य–दान–होमादिभागस्य प्रक्षेपसंभवना न कर्तव्या। नो चेत् तवागमे पि निरोधकाभावेन सा पिशाचिनी आगत्या प्रामाण्यं कुर्यात्। सिद्धान्ती उपसंहरति – **तस्माद् एवंरूपो पि महाजनपरिग्रहो वेदानामेवेति**। व्याकरणादिशास्त्रैः वेदस्य शब्दार्थयोः न तु संसारमोचकत्वेन त्वदभिलषितागमस्य पालनीयत्वमिति महाजनपरिग हीतत्वेन वेदानां प्रामाण्यं सिद्धम्।

नन्वस्तु वेदानामेव महाजनपरिग्रहः। तथापि तस्य सर्वज्ञपूर्वकत्वं कथं लभ्यते इत्यत आह – **सो यमीद शो महाजनपरिग्रहो वेदस्य असर्वज्ञपूर्वकत्वे असम्भवन् सर्वज्ञपूर्वकत्वेन व्याप्यते** इति। सो यं पूर्वकथितः त्रिविध ईद शो महाजनपरिग्रहो

वेदस्य असर्वज्ञपूर्वकत्वे न संभवति। वेदानाम् असर्वज्ञपूर्वकत्वे तेषाम् अप्रामाण्यस्यापि संभवेन व्याकरणादिकर्तृभिः तत्रस्थौ शब्दार्थौ गृहीत्वा तद् व्युत्पादनं न क्रियते। असर्वज्ञस्य भ्रमप्रमादसंभवेन तदुक्तेषु वेदेषु अप्रामाण्यसंभावना दुर्वारेति। अतो वेदस्य सर्वज्ञपूर्वकत्वमङ्गीकार्यम्। तथा च वेदाः सर्वज्ञपूर्वकाः, महाजनपरिगृहीतत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा सुगताद्यागम इत्यनुमानेन वेदानां सर्वज्ञपूर्वकत्वं सिद्ध्यति। एव च वेदाः प्रमाणानि, सर्वज्ञपूर्वकत्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा सुगताद्यागम इत्यनुमानेन वेदानां प्रामाण्यं सिद्धम्।

यथा हि पूर्वविरुद्धापूर्वव्याकरणादिवैद्यकादिषु विगानादपरिग्रहः। न च तथाविधे धर्मशास्त्रे पि। व्यामोहाद्भवन्नपि कस्यचिदेव न तु सर्वेषाम्। अथ पूर्वाविरुद्धं चेत्तथापि पूर्वस्य पूर्ववदपरिग्रहे केनचित् परिग्रहे वा कथं तन्मूलस्यान्यस्य सर्वैः परिग्रहः। न च नासीदेव पूर्वं धर्मशास्त्रं मानान्तरस्यात्र वस्तुनि कुण्ठतया नुष्ठानाभावप्रसङ्गात्। तथा च धर्माभावे तत्कार्यस्य सुखस्याप्यभावे रागानुत्पतौ लोकसमीहोच्छेदे लोकोच्छेदप्रसङ्गः।

तस्मान्महाजनपरिगृहीतपूर्वपूर्वागमपूर्वकत्वात्, प्रवाहनित्यत्वाद्वा, प्रलयविच्छेदे सर्गादौ सर्वानुविधेयपुरुषधौरेयपूर्वकत्वाद्वा महाजनपरिग्रहो, न तु पूर्वागमानपेक्षार्वाचीनपुरुषपशुपूर्वकत्वात्। पूर्वागमप्रामाण्याप्रामाण्ययोरुभयथापि तस्य विप्रलम्भकत्वात्। प्रामाण्ये हि तद्विरुद्धाभिधानं विप्रलम्भ एव। अप्राामाण्ये प्युपायमविदुषो ननुष्ठाने तदाभासानुष्ठाने वा सर्वज्ञस्योपदेशो विप्रलम्भ एवेति।

वेदेषु असर्वज्ञपूर्वकत्वस्यासंभवं दर्शयितुं “धाता यथापूर्वमकल्पयद्” इति बोधयितुं चाह – **यथा हि पूर्वविरुद्धापूर्वव्याकरणवैद्यकादिषु विगानाद् अपरिग्रहः तथा तथाविधे धर्मशास्त्रे पि व्यामोहाद् भवन्नपि कस्यचिदेव न तु सर्वेषामित्यादि।** यथा हि पूर्व(प्राचीन)व्याकरण–वैद्यकादि–विरुद्धेषु, अपूर्व–(नवीनेषु अर्वाचीनेषु) व्याकरणवैद्यकेषु विगानाद् (दोषात्, अप्रामाण्यसंशयाद् वा) अपरिग्रहः, तथा तथाविधे = पूर्व(प्राचीन)धर्मशास्त्रविरुद्धे नवीनधर्मशास्त्रे अपि (अपि–शब्दात् पूर्वसर्गाद्युद्भव–वेदविरुद्धेषु अपरसर्गाद्युद्भववेदेषु) व्यामोहाद् भवन्नपि कस्यचिदेव पुरुषस्य विज्ञानात् अपरिग्रहः, न तु सर्वेषां पुरुषाणाम्। विगानात् अपरिग्रहः व्यामोहः सर्वेषां पुरुषाणां भवतीत्यत्र प्रमाणाभावात्। इदानीन्तनं धर्मशास्त्रं पूर्वधर्मशास्त्राविरुद्धमेव यदि तदा तदपि धर्मशास्त्रं स्वमूलभूतपूर्वाविरुद्धमेवेति तत्पूर्वमपि स्वीकर्तव्यमेवेति। यदि तादृशं न स्यात् तदा महाजनपरिग्रहविषयो न स्यात् इति तर्कस्य तत्र तत्र प्रवृत्तेरित्याह – **अथेति मिश्राः।** अथ पूर्व(प्राचीन)धर्मशास्त्रविरुद्धं तत्(अर्वाचीनधर्मशास्त्रम्) तथापि पूर्वस्य (प्राचीनधर्मशास्त्रस्य) पूर्ववद्परिग्रहे व्यामोहात् केनचित् अपरिग्रहे; अव्यामोहात्

केनचित् परिग्रहे वा कथं तन्मूलस्य = (प्राचीनधर्मशास्त्रं मूलं यस्य अर्वाचीन–धर्मशास्त्रस्य) अन्यस्य अर्वाचीनधर्मशास्त्रस्य सर्वैः परिग्रहः? पूर्वं धर्मशास्त्रं नासीदेव इति न वाच्यम्। अत्र वस्तुनि यागादीनामिष्टसाधनत्वे प्रमाणान्तरस्य कुण्ठतया यागादीनाम् अनुष्ठानाभावस्य प्रसङ्गात्। यागादौ प्रव त्तिं विना तत्(यागादि)–कारणकस्य धर्मस्याभावे तु धर्मकारकस्य (धर्मकार्यस्य) सुखस्याप्यभावे सुखान्तरे रागानुत्पत्तौ लोकानां तदधीनप्रव त्तिर्न स्यात्। समीहाया उच्छेदे निरीहं जगज्जायेत। तथा च पुत्राद्युत्पत्तिरपि न स्यादिति लोकोच्छेदस्य प्रसङ्गात्। अतः पूर्वकोटिसद्भावे (पूर्वधर्मशास्त्रादिसद्भावे) महाजनपरिग हीतपूर्वपूर्वागमपूर्वकत्वाद्वा, पूर्वकोटिमनङ्गीकृत्य तस्यैव (धर्मशास्त्रस्यैव) प्रवाहाविच्छेदाद्वा, पूर्वकोटिसद्भावे पि सर्गादौ सर्वानुविधेय–पुरुषधौरैयपूर्वकत्वाद्वा महाजनपरिग्रहस्य संभव इत्याह – **तस्मादिति**। **मिश्रास्तु** – तत्तत्तीर्थिक(शास्त्रकार) मतानुसारेण विकल्प्य तानि उपसंहरति – **तस्मादिति।** लोकानुच्छेदात्, धर्मशास्त्रादीनां महाजनपरिग हीतपूर्वपूर्वागमपूर्वकत्वाद्वा, पूर्वपूर्वकोटिम–नङ्गीकृत्य (पूर्वपूर्वधर्मशास्त्रादिकम् अनङ्गीकृत्य) मीमांसकमतेन तस्यैव (धर्मशास्त्रा–देरेव) प्रवाहाविच्छेदाद्वा, न्यायमतेन प्रलयेन धर्मशास्त्रादेः विच्छेदे स ष्ट्यादौ सर्वानुविधेयपुरुषधौरेय(पुरुषविशेषेश्वर) पूर्वकत्वाद्वा महाजनपरिग्रहो स्त्येव।

ननु न पूर्वागमपूर्वकत्वं, नापि प्रवाहनित्यता, नापि च पुरुषधोरेयपूर्वकता, पूर्वागमानपेक्षार्वाचीनपुरुषपूर्वकता धर्मशास्त्रादीनां किं न स्याद् अत आह – **न त्विति। मिश्रास्तु** – संसारमोचकाद्यागमान् अभिप्रेत्याह – **न त्विति।** धर्मशास्त्रादीनां न पूर्वागमानपेक्षार्वाचीनपुरुषपशुपूर्वकत्वाद् महाजनपरिग्रहो भवति। पूर्वागमानां प्रामाण्ये अप्रामाण्ये वा उभयथापि तस्य = अर्वाचीनपुरुषस्य तत्प्रणीतागमस्य वा विप्रलम्भकत्वात् = प्रतारकत्वात्। पूर्वागमस्य प्रामाण्ये हि तद्विरुद्धाभिधानं विप्रलम्भ एव। पूर्वागमं वेदादिकं प्रमाणं मनुषे चेद्, तद्विरुद्धार्थं म तनरशिरःपावित्र्याभिधानं विप्रलम्भ एव। वेदेषु तस्यापावित्र्याभिधानात्। त्वया तु आस्तिकजनेषु वेदप्रामाण्यं स्वीकृत्य तत्रोक्तापावित्र्यस्य पावित्र्यं कथ्यते इति स्पष्टव चकस्त्वमसि। पूर्वागमस्या–प्रामाण्ये पि हिताहितप्राप्तिपरिहारोपायं स्वयमसर्वज्ञत्वात्, प्रमाणान्तराभावाच्च, अविदुषो नुष्ठाने तदाभासानुष्ठाने वा असर्वज्ञोपदेशो विप्रलम्भ एव। स्वयमसिद्धः परान् साधयति।

तत्र न प्रथमः, वेदपरम्परानुपलम्भात्, अर्वाचीनानां पाठपारतन्त्र्यमात्रेण प्रवाहोपपत्तौ तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात्। नापि द्वितीयः, वेदह्रासदर्शनात्। यत इदानीमश्रूयमाणस्यापि वेदस्यार्थो नुष्ठीयते निबध्यते च मन्वादिभिः, पुरुषाणामपचीयमानशक्तिकत्वाच्च। यथा ह्यश्वमेधराजसूयाद्यनुष्ठानशक्ते-रपचयस्तथाध्ययनशक्तेरपि।न च पूर्वमपि नानुष्ठिता एव राजसूयादयः, तदर्थस्य वेदराशेर्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न च नित्यानुमेयवेदसम्भवः। वर्णानां नित्यत्वे प्यानु-

पूर्व्याः पाठाश्रयत्वात्। न चानुपूर्वीशून्यवर्णाः पदं नाम। न चा काङ्क्षाद्युपेतपदकदम्बादन्यद्वाक्यं नामेति गुरुरपि लघुरेव। तस्मात् पुरुषाणामनुष्ठानशक्तिवत् अध्ययनशक्तिरपि युगक्रमेणापचीयते। ततो वेदानां शाखोच्छेदः, तदर्थानामनुष्ठानोच्छेदः, वर्णाश्रमाचारव्यवस्थाविप्लवश्चेति। अत एव भगवतो व्यासस्य पुरुषशक्त्यपचयमवेक्ष्य वचनानि ''अल्पायुषो ल्पसत्त्वा'' इत्यादीनि। वेदोच्छेदमवेक्ष्य ''प्रतिमन्वन्तर चैषा श्रुतिरन्या विधीयते'' इत्यादीनि। अनुष्ठानोत्सादमवेक्ष्य ''दानमेकं कलौ युगे'' इत्यादीनि। आचारविप्लवमवेक्ष्य ''प्रजास्तत्र भविष्यन्ति शिश्नोदरपरायणा'' इत्यादीनि। तथा च श्रूयमाणा अपि वेदा उच्छेदमुपयास्यन्ति वेदत्वाद्वाक्यत्वाद्वा उच्छिन्नशाखावदिति न्यायात्। यथा चैतत्तथा पर्वता अपि चूर्णीभविष्यन्ति पार्थिवत्वात् घटवत्। समुद्रा अपि शोषमेष्यन्ति जलाशयत्वात् स्थलीपल्वलवत्। सूर्यो पि निर्वास्यति तैजसत्वात् प्रदीपवत्। ब्रह्मापि प्रैष्यति शरीरित्वात् अस्मदादिवदित्यागमाविरोधेनानुमीयताम्।

संभावितेष्वपि च पक्षेषु (१) महाजनग हीतपूर्वपूर्वागमपूर्वकत्वात्, (२) पूर्वकोटिमनङ्गीकृत्य तस्यैव (धर्मशास्त्रादेरेव) प्रवाहाविच्छेदात्, (३)पूर्वकोटिसद्भावे पि सर्गादौ सर्वानुविधेयपुरुषधौरेयपूर्वकत्वादिति त्रिषु संभावितेष्वपि पक्षेषु प्रथमं पक्षं दूषयति – **तत्र न प्रथमः। वेदपरम्परानुपलम्भात्** इति। इदानीं स्वमतमात्रस्य प्रामाणिकत्वं सिषाधयिषुः विकल्पितानि तीर्थिकमतानि दूषयति – **तत्र न प्रथमः। वेदपरम्परानुपलम्भात्** इति। पूर्वकोटि(पूर्वधर्मशास्त्रवेदादि)सद्भावे महाजन–परिग हीतपूर्वपूर्वागमपूर्वकत्वात् महाजनपरिग्रहः इति प्रथमः पक्षो न युक्तः। वेदपरम्परानुपलम्भात् पूर्वपूर्वागमपरिग हीतत्वम् इदानीन्तनागमस्येति न संभवति। तत्र हेतुमाह – **वेदपरम्परानुपलम्भात्।** यजुर्वेदसामवेदर्गवेदाथर्ववेदसमुदायस्य गुरुशिष्यपरम्परयोपदेश एव भवति, न तु वेदपरम्परा स्ति अद्यत्वे, अनुपलम्भात्। प्रमाणासिद्धत्वात्। विमतवाक्यं न प्रमाणम्।

वेदपरम्परा नास्तीति साधयितुमाह – **अर्वाचीनानां पाठपारतन्त्र्यमात्रेण प्रवाहोपपत्तौ तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात्** इति। गुरुणा स्वशिष्यान् वेदो ध्यापितः, तेनापि तथेति एकस्यैव वेदस्य पाठपारतन्त्र्येण प्रवाहस्योपपत्तौ मूलभूतवेदकल्पनायां प्रमाणाभावेन गौरवेण च वेदपरम्पराया अभावात्। ननु वेदान्तरानुपलम्भे पि द श्यमान एव वेदः स्वमूलतया वेदान्तराण्यपि कल्पयतीति चेत्? तत्राह – **अर्वाचीनानामिति। मिश्रास्**तु – ननु गुरुशिष्यपरम्परया वेदपरम्परा प्यनुभूयत एव कथमनुपलम्भ? इत्यत आह – **अर्वाचीनानामिति।**

पूर्वकोटिमनङ्गीकृत्य तस्यैव प्रवाहाविच्छोत् महाजनपरिग्रह इति द्वितीयं पक्षं खण्डयति – **नापि द्वितीयः** इति। तत्र हेतुमाह – **वेदह्रासदर्शनात्** इति।

वेदस्य ह्रासदर्शनेन वेदस्य प्रवाहविच्छेद इति कथं तस्य प्रवाहाविच्छेदः कथयितुं शक्यते? वेदप्रवाहाविच्छेदे ह्रासासंभवात्। अतो न द्वितीयपक्षो मीमांसकस्य युक्तः। ननु यावान् वेदभाग इदानीम् अध्ययनविषयः पूर्वमपि तावान् एव वेदभाग आसीदिति कुतो वेदस्य ह्रास इत्यत आह – **यत इदानीमश्रूयमाणस्यापि वेदस्य अर्थो नुष्ठीयते निबद्ध्यते च मन्वादिभिरिति**। इदानीम् अश्रूयमाणस्यापि वेदस्यार्थो नुष्ठीयते लोकैः। अतः उच्छिन्नशाखो वेदो यम् इत्यनुमीयते। मन्वादिभिः उच्छिन्नशाखस्य वेदस्यार्थो स्वस्वरचितधर्मशास्त्रे निबद्ध्यते। स च मन्त्रार्थद्रष्टा नान्यथावादी। उत्सन्नशाखामूलमेव इष्टिकाद्यनुष्ठानं भवति। शाखोत्सादे कारणमाह – **पुरुषाणाम् अपचीयमान-शक्तित्वाच्च**। यथा ह्यश्वमेधराजसूयाद्यनुष्ठानशक्तेः अपचयः तथा अध्ययनशक्तेरपि इति, पुरुषाणां शक्तिरपचीयमाना द श्यते। यथा नहि किल इदानीं को पि जनः अश्वमेधयागं राजसूययाग च कुरुते, तयोः अनुष्ठानशक्तेः अपचयात्। तथा सम्पूर्णवेदाध्ययनमपि न करोति, अध्ययनशक्तेरपचयात्। एव च यस्याः वेदशाखायाः अध्ययनाध्यापनं नाभूत् तस्याः (तच्छाखायाः) प्रवाहविच्छेदात् उत्सन्नं जातम्। अतो वेदस्य प्रवाहनित्यत्वं नास्तीति प्रवाहानित्यत्वाद् वेदस्य महाजनपरिग्रहः कथयितुम् अशक्य इति।

ननु पूर्वम् अनुष्ठितस्य अश्वमेधादेः शक्त्यपचयात् इदानीं नानुष्ठानम्, किन्तु इदानीमिव तस्य सर्वदैवाननुष्ठानमिति चेत्? तत्राह – **न च पूर्वमपि नानुष्ठिता एव राजसूयादयः, तदर्थस्य वेदराशेः वैयर्थ्यप्रसङ्गात्** इति। पूर्वम् अननुष्ठिता एव राजसूयादय इति कथयितुं न शक्यते। इदानीम् अधीयमानवेदराशेः अश्वमेधराज–सूयार्थकत्वोपलम्भेन तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। यदि पूर्वं न केनापि राजसूयादियागो नुष्ठितः स्यात्, तदा तदर्थबोधकं वाक्यं नोपलभ्येत, तत्रोपलभ्यते, अतः एवानुष्ठितः।

ननु इष्टिकादिकार्यताबोधको वेदः कदापि न वेदपाठिद ष्टिगोचरः, किन्तु अनुमितादेव तस्मात् स्म त्याचारादिति गुरुमतमाशङ्क्याह – **न च नित्यानुमेयवेद-संभवः। वर्णानां नित्यत्वे पि आनुपूर्व्याः पाठाश्रयत्वात्** इति। नित्यो वेदो नुमेय इति कथयितुं न शक्यते। वर्णान् नित्यत्वेन अभ्युपगम्य मयोच्यते यत् वर्णानां नित्यत्वे पि आनुपूर्व्याः = तत्तद्वर्णोत्तररूपायाः पाठाधीनत्वात् सा आनुपूर्वी न तव मते पि नित्या भवितुं योग्येति। वर्णनित्यत्ववादिमीमांसकादिमते पदवाक्ययोः अनित्यत्वेन तत्समूहवेदस्यापि न नित्यत्वम्। वेदः पौरुषेयः, वाक्य(पद)समूहत्वात्, भारतादिवत्। यो यः पौरुषेयः, स स अनित्यः, प्रयत्नजन्यत्वाद्, घटवदिति वेदस्य अनित्यत्वमपि ईश्वरोच्चरितत्वेन प्रामाण्यं न तु नित्यत्वेनेति बोधयितुमाह – **न च आनुपूर्वीशून्यवर्णाः पदं नाम। न च आकाङ्क्षाद्युपेतपदकदम्बकादन्यद् वाक्यं नाम इति गुरुरपि लघुरेव** इति। आनुपूर्वीशून्या वर्णा न पदं भवति, किन्तु अनुपूर्वीविशिष्टा वर्णा पदम्। आकाङ्क्षा–योग्यता–आसत्तिमत्–पदसमुदायो वाक्यम्, न तु ततो न्यदिति नित्यो

वेदो नुमेय इति गुरु(प्रभाकर)कथनं लघुभूतम् न युक्तमिति भावः। गुरुः महान्, लघुः अल्पः; गुरुः अल्पो यात इति व्यङ्ग्यम्।

उपसंहरति ग्रन्थकारः – **तस्मात् पुरुषाणामनुष्ठानशक्तिवत् अध्ययनशक्तिरपि युगक्रमेण अपचीयते, ततो वेदानां शाखोच्छेदः, तदर्थानुष्ठानोच्छेदः, वर्णाश्रमाचारव्यवस्थाविप्लवश्चेति**। राजसूयादियागादेरनुष्ठानस्येदानीमभावात् वेदे द ष्टत्वाच्च यथा पुरुषाणाम् अनुष्ठानशक्तेः अपचयः, तथा अध्ययनशक्तेरपि अपचयः। तत्र कारणं युगक्रमः। सत्ययुगे यथा लोकादयः श्रूयन्ते न तथा त्रेतायाम्। यथा त्रेतायां न तथा द्वापरे, यथा द्वापरे न तथा कलियुगे। कलियुगे पि यथापूर्वं न तथा इदानीं द श्यते। पुरुषाणां शक्तेः अपचयेन अध्ययनाध्यापनाभावात् वेदानां शाखोच्छेदः, तदर्थानुष्ठानोच्छेदः, वर्णाश्रमाचारव्यवस्थाविप्लवश्च। इदान्तीन्तना इव न पूर्वकालिका जना *सार्वजनिकभोजनग हे* भुक्तवन्तः आसन्, न वा सन्ध्याविहीना न वा स्नानविहीना इति परम्परया अनुश्रवणात्। स्वयं चेदानीं द श्यते पूर्वकालतः इदानीं तेषां ह्रासः विलोपश्चेति। उक्तेषु अर्थेषु आगमानुमितिं दर्शयति – **अतएव भगवतो व्यासस्य पुरुषशक्त्यपचयभवेक्ष्य वचनानि "स्वल्पायुषो स्वल्पसत्त्वा" इत्यादीनि, वेदोच्छेदमवेक्ष्य "प्रतिमन्वन्तर चैषा श्रुतिरन्या विधीयते" इत्यादीनि, आचारविप्लवमवेक्ष्य "प्रजास्तत्र भविष्यन्ति शिश्नोदरपरायणाः" इत्यादीनि** इति। पूर्वयुगान्तरापेक्षया पूर्वकालापेक्षया च शक्तेः ह्रासादेव पुरुषशक्त्यपचय–वचनानि स्वल्पायुषः = अल्पकालजीविनः, स्पल्पसत्त्वा = स्वल्पसामर्थ्यवन्तः, लोका भविष्यन्ति, अभूवन्, भवन्ति च। एषा श्रुतिः (वेदः) प्रतिमन्वन्तर चैषाश्रुतिरन्या विधीयते इति। पुरुषशक्तिह्रासात् पठनह्रासेन वेदशाखोच्छेदात् वेदस्य पूर्ववेदाद् अन्यत्वम्। तत्र कलियुगे परस्त्रीपरायणाः व्यभिचारिणः आचारहीनाः भोजनमात्रापेक्षिणः प्रजाः भविष्यन्ति इति सङ्गच्छन्ते। एतेन स्नानपूजादिविहीनाः प्रजा भविष्यन्ति इत्यनुमानम्।

ननु शाखाह्रासससिद्धौ किं सिद्ध्यतीत्यत आह – **तथा च श्रूयमाणा अपि वेदावयवा उत्सादमुपयास्यन्ति, वेदत्वाद्, वेदवाक्यत्वाद् वा उत्सन्नशाखावदिति न्यायः। यथा चैतत् तथा पर्वता अपि चूर्णीभविष्यति, पार्थिवत्वात्, घटवत्। समुद्रा अपि शोषमुपयास्यन्ति, जलाशयत्वात्, स्थलीपल्वलवत्। सूर्यो पि निर्वास्यति, तेजस्त्वात्, दीपवत्। ब्रह्मापि प्रैष्यति, शरीरित्वात्, अस्मदादिवत्, इत्याद्यागमाविरोधेनानुमीयताम्** इति। श्रूयमाणा (वर्तमानकालिका) वेदावयवाः (वेदभागा) उत्सादम् (उच्छेदम्) उपयास्यन्ति, वेदत्वात्, वेदवाक्यत्वाद् वा, उत्सन्नशाखावदिति अनुमानप्रयोगः। यथा श्रूयमाणवेदा नङ्क्ष्यन्ति, तथा द श्यमाना पर्वता अपि चूर्णीभवष्यिन्ति (न द्रक्ष्यन्ति), पार्थिवत्वात्, घटवत्। द श्यमानाः समुद्रा अपि शोषमुपयास्यन्ति (नङ्क्ष्यन्ति), जलाशयत्वात्, स्थलीजलवत्। द श्यमानसूर्यो पि निर्वास्यति (नङ्क्ष्यति), तेजस्त्वात् (तेजःसमवेतद्रव्यत्वात्, तेन तेजःपरमाणौ न

व्यभिचारः), दीपवत्। ब्रह्मा पि प्रैष्यति (गमिष्यति, नङ्क्ष्यति), शरीरित्वात्, अस्मदा– दिवत् इत्याद्यागमाविरोधेनानुमीयताम्।

स्यादेतत्, भविष्यन्नुच्छेदो नुमितः। स तु भूतो पीति कुत इति चेत्? यत एव उच्छेदानन्तरं पुनः सर्गेण भाव्यम्। अन्यथा संसारिणां कृतहान-प्रसङ्गात्। न हि विश्वनिर्माणमन्तरेण भोगज्ञानयोः संभवः। न च तेन विना कर्मप्रवाहसंरोधः, ततो यथा भविष्यन् विश्वसर्ग उच्छेदपूर्वकस्तथायमपीति। समयनियमस्तु प्राणिनां कर्मवैषम्ये पि वर्षादिनियमवदुदयास्तनियमवद्वा द्रष्टव्यः। कर्मणामेवैवं स्वभावत्वात्। एतदर्थमेव हि पुराणेषु स ष्टिप्रलययोर्दिवस-रात्रिव्यवहारः। तथापि सर्वप्राणिनाशयौगपद्ये किं प्रमाणमिति चेत्? द्विः सप्तभौमभुवनप्रसादभङ्गे पि निर्भया एव ग्रामकुटीहट्टविहारिणः शरीरिण इति महती प्रेक्षा। तस्मात् सर्गादिमहाजनमन्वादिपरिग्रहपूर्वको यमद्य-यावदनुवर्तत इति नानवसरदोषावकाशो पीति युक्तमुत्पश्यामः।

[प्रलयसाधनम्]

ननु श्रूयमाणवेदावयवा इत्यादिना सर्वानुविधेयपुरुषधौरेयपूर्वकत्वमिति भविष्यतः सर्गस्य वेदाना च तथाभूतानाम् प्रदर्शितम् भूतस्य उच्छेदस्य तत्कृतत्वमित्यत्र किं प्रमाणमिति शङ्कते – **स्यादेतत्, भविष्यत्युच्छेदो नुमितः। स तु भूतो पीति कुत इति चेत्?** इति। उत्तरयति – **यत एव उत्सादानन्तरं पुनः सर्गेण भाव्यमिति।** यथा भविष्यतः सर्गस्य उच्छेदो अनुमानादेव तथैव भूतसर्गस्योच्छेदः अनुमितिविषयः सिद्ध्यति इति। यतः सर्गस्योत्सादानन्तरं पुनः सर्गेण भाव्यम्। ननु सर्गस्य उत्सादनानन्तरं पुनः सर्गे किं मानमित्यत आह – **अन्यथेति।** सर्गस्योत्सादानन्तरं पुनः सर्गस्यानुद्भवे वर्तमानसर्गे यत्कर्म संसारिभिः कृतं तज्जन्याद ष्टजन्यस्य सुखादेर्भोगो जन्मान्तरे तस्य भविष्यति। जन्मान्तरं विना तत्फलं न भविष्यति। कृतहानस्याभावाय पुनः सर्गस्य आवश्यकत्वात्। नहि विश्वनिर्माणं विना कर्मभोगस्य ज्ञानस्य वा संभवः। नहि तत्त्वज्ञानं विना, फलभोगं विना च कर्मप्रवाहस्य निरोधः। भोगादेव प्रारब्धकर्मणः क्षयः ज्ञानाग्निना भवति। प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय इत्यभियुक्तोक्तेः, नामुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपीति वचनस्यात्रैव तात्पर्यम्। "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते र्जुन" इति गीतावचनं तु स चितस चीयमानकर्मणां भस्म करोति। तस्मात् उभयोर्वाक्ययोः समन्वये न कश्चित् क्षतिः।

नन्वस्तु, भविष्यदुच्छेदस्य किं जातम्? तत्राह – **ततो यथा भविष्यन् विश्वसर्ग उच्छेदपूर्वकः तथायमपीति।** यथा भविष्यन् विश्वसर्ग उच्छेदपूर्वको भवति, तथास्य सर्गस्य क्षयानन्तरं पुनर्विश्वसर्गो भविष्यतीति। विश्वसर्ग– प्रलययोर– नादित्वम्। तथा च अयमपि विश्वसर्गः प्रलयपूर्वकः, सर्गत्वात्, भाविसर्गवद्, इत्यनुमानं

प्रमाणम्। अस्मिन् संसारिभिः कृतकर्मणां वैयर्थ्यवारणाय सर्गान्तरस्य आवश्यकत्वात्। एवं सर्गान्तरे पीति विश्वसर्गप्रलयप्रवाहो नादिः।

नन्वेतेषां कर्मणाम् अनियतविपाकसमयानाम् उपमर्द्योपमर्दकस्वभावानां कथं युगपत् व त्तिनिरोधः? येन तत्कर्मजन्याद ष्टवतां स्थितिः भवेत्? नाशो वा भवेत्? विपाकसमये कर्मजन्याद ष्टाधीनफलभोगाय नाशानन्तरं जन्म, अविपाकसमये कर्मजन्यफलभोगाभावे नाशाभावात् स्थितिः इत्युभयोः विरोधात् तद् यौगपद्यं वा कथम्? तत्फलभोगार्थस्य जगतो विनाशयौगपद्यम् वा कथम् ? इत्यत आह – **समयनियमस्तु प्राणिनां कर्मवैषम्ये पि वर्षादिनियमवद्, उदयास्तसमयनियमवद् वा द्रष्टव्य इति।** यथा वर्षाशरदाद्य तूनाम्, उदयास्तसमयानां च कर्मवैषम्ये पि सर्वप्राणिनः प्रति यौगपद्यम् द श्यते, तथा प्रणिनां कर्मवैषम्ये पि सर्गप्रलययोः यौगपद्यं भवति। कर्मणामेव एताद शस्वभावत्वात्। सर्गप्रलययोः यौगपद्यम् दिवसरात्रितुल्यम् न्यायसिद्धम्। एतदर्थमेव हि पुराणेषु स ष्टिप्रलययोः दिवसरात्रिव्यवहारः क तो द श्यते इति।

ननु कतिपयप्राणिकर्मणामेव युगपद् व त्तिविरोधबाधौ स्याताम्, न तु सर्वेषामिति कथं प्रलयः सिद्ध्यति? प्रलये सर्वेषामनित्यानां नाशादिति शङ्कते – **तथापि सर्वप्राणिनाशयौगपद्ये किं प्रमाणमिति चेत्?** इति। प्रलयस्य सिद्धे पि चतुर्दशभुव–नात्मकस्य जगतो नाशः कथं सिद्ध्येत्? खण्डप्रलयस्य कथचित् सिद्धत्वे पि महाप्रलये मानाभावात्, महाप्रलयो न सिद्ध्यतीति चेत्? समाधत्ते – **द्विःसप्तभौमभुवन-प्रासादभङ्गे पि निर्भया एव ग्रामकुटीहट्टविहारिणः शरीरिणः इति महती प्रेक्षा (प्रत्याशा)** इति। सर्वेषां कार्यभूतानाम् अवयववतामवश्यं नाशेन तदाश्रितानामनित्या–नामपि नाश इति चतुर्दशभुवनरूपस्य प्रासादस्य नाशो पि अवश्यंभावी इति। ताद शप्रासादनाशे पि मम कुटीरस्य नाशो न भविष्यति इति मनसिकृत्य निर्भया एव ग्रामकुटीहट्टविहारिणः शरीरिण इति महती प्रत्याशा यथा, तथा सर्वप्रणिनाशो न भविष्यतीत्याशा। चतुर्दशभुवननाशे तदन्तर्गतस्य अस्यापि अवश्यं नाश इति सर्वप्राणिनाशो युगपद्भावी। कर्मणां नाशात् प्राणिनां कर्मवैषम्ये पि वर्षाशरदादीनामिव दिवारात्र्योः सर्वप्राणिनः प्रति यौगपद्यम् इव सर्गप्रलययोः यौगपद्यम् अविरुद्धमिति। तच्चैकस्यैव भुवनस्य भविष्यतीत्यत्र प्रमाणाभावेन विनिगमकाभावेन च चतुर्दश–भुवनस्यापीति महाप्रलयः सिद्ध्यति। अत्र पुराणादिः प्रमाणम्।

ननु सर्गादौ महाजना एव न सन्तीति कुतो वेदानां महाजनपरिग्रहः प्रवर्तेत इत्याशङ्क्य उपसंहरति – **तस्मात् सर्गादौ महाजनमन्वादि-परिग्रहपूर्वको यम् अद्य यावद् अनुवर्तत इति न अनवसरदोषावकाशो पीति युक्तमुत्पश्यामः** इति। ईश्वरेण वेदवचनावसरे मन्वादयो महाजनाः मानसाः स ष्टाः। तैः मन्वादिभिः वेदाः परिग हीता इति वेदेषु महाजनपरिग हीत्वमस्त्येव। तच्च अद्य यावदनुवर्तते इति

अनवसरदोषाणां नावकाश इति युक्तम् उत्पश्यामः।

तदेवं कथं मन्वादिभिः परिग ह्यन्तां वेदा इति चेत्? *आयुर्वे*दवदाप्तोक्तत्वनिश्चयात्। स एव कुत इति चेत्? अध्यक्षतः, तेषामप्यतीन्द्रियार्थदर्शित्वात्। ताद शां तेषां तत्परिग्रहेण किं प्रयोजनमिति चेत्? अस्मद्व्यवहारेणास्मदपत्यादि व्युत्पद्यताम्। तथा च धर्मसंप्रदायः प्रवर्ततामिति भूतदया, स्वाधिकारसम्पादनं च।

अथवा सर्गान्तरग हीतव्याप्तिप्रादुर्भावे सुप्तप्रतिबुद्धवत् पित त्वेना विप्रलम्भकत्वमुच्चावचभूतनिर्माणदर्शनेन सार्वज्ञ्यमनुमाया प्त्वनिश्चयस्तस्य तेषाम्।

यद्वा भगवानेव संप्रदायप्रवर्तनव्यसनव्यग्रः कायसहस्राणि व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावव्यवस्थितानि निर्माय तदातनं महाजनं परिग्राहितवान्, नटनोपाध्याय इव स्वयं नटित्वेति सर्वं सुस्थम्। पक्षत्रये प्यत्र पुराणादिसंकथाप्यस्तीति।

[वेदसम्प्रदायस्य नित्यत्वम्]

शङ्कते – **तदेवं कथं मन्वादिभिः परिग ह्यन्तां वेदा इति चेत्?** इति। सन्तु मानसा ईश्वरेण स ष्टा महाजना मन्वादयः स ष्ट्यादौ। तैः वेदानां परिग्रहः कथं सिद्ध्यति? परिग्रहे प्रमाणाभावात्। अन्यथा अप्रामाणिका बन्ध्यापुत्रादयो पि सिद्ध्येरन्। प्रमाणाभावस्य उभयत्र तुल्यत्वाद् इति चेत्? परिहरति – **आयुर्वेदवदाप्तोक्तत्वनिश्चयात्** इति। आयुर्वेदस्येव एतेषां यजुर्वेदादीनाम् आप्तोक्तत्वनिश्चयेन मन्वादिभिः वेदाः परिग हीता इति वेदानां महाजनैः परिग्रहस्य सिद्धत्वात्। शङ्कते – **स एव कुत इति चेत्?** इति। वेदेषु आप्तोक्तत्वनिश्चय एव कुतो मन्वादीनाम् इति चेत्? परिहरति – **अध्यक्षतः, तेषामपि अतीन्द्रियार्थ- दर्शित्वादि**ति। वेदप्रयोक्तुरीश्वरस्य यथार्थवाक्यार्थज्ञानत्वम् आप्तत्वं मन्वादिभिः प्रत्यक्षेण ग हीतम्। अत्र हेतुमाह – **तेषामिति।** तेषां मन्वादीनामपि अतीन्द्रियार्थदर्शित्वात् आप्तोक्तत्वस्य वेदेषु निश्चयः। शङ्कते – **ताद शां तेषां तत्परिग्रहेण किं प्रयोजनमिति चेत्?** इति। स्वयमेव ताद शाम् अतीन्द्रियार्थदर्शिनामपि मन्वादीनां वेदानां परिग्रहेण किं प्रयोजनम्? निष्प्रयोजनको मन्दो पि न प्रवर्तते इति प्रयोजनाभावात् वेदानां मन्वादिभिः परिग्रहस्य अयुक्तत्वमिति चेत्? समाधत्ते – **अस्मद्व्यवहारेण अस्मदपत्यानि व्युत्पद्यताम्, तथा च धर्मसम्प्रदायः प्रवर्ततामिति भूतदया, स्वाधिकारसम्पादन च** इति। अस्मत्परिग्रहात्मकेन व्यवहारेण अस्मदपत्यानि स्वयमेव अतीन्द्रियार्थं द्रष्टुमसमर्थानि व्युत्पाद्यन्ताम्। अस्माभिरपि अयं वेदः परिग्राह्यः, अस्मदपरिग्रहे अपत्यानि न अनुतिष्ठेयुः अतः अस्माभिरपि परिग्राह्यो यं वेद इति बुद्ध्या वेदो मन्वादिभिः परिग हीतः। इदं

प्रयोजनं मन्वादीनाम्। धर्मसम्प्रदायः प्रवर्तताम्, येन सर्वे प्रजाः सुखिनः स्युरिति भूतेषु दयया तत्र परिग हीतत्वं युज्यते। धर्मप्रचारका अधर्मप्रचारनिवर्तकाश्च वयमिति स्वाधिकारसम्पादनाय वेदः परिग हीतो मन्वादिभिः। किं वा ईश्वरेणैव वेदं प्रणीय तत्परिग्रहे मन्वादयो अधिकारिणः कृताः। एव च परमेश्वरनियोगादेव भूतदयायाम् अधिकृतानां मन्वादीनां तदधिकारसम्पादनमपि प्रयोजनं बोध्यम्।

वेदस्य मन्वादिपरिग्रहे हेत्वन्तरमाह – **अथवा सर्गान्तरग हीतव्याप्ति-प्रादुर्भावे सुप्तप्रतिबुद्धवत् पित त्वेन अविप्रलम्भकत्वम् उच्चावचभूतनिर्माणदर्शनेन सार्वज्ञ्यमनुमाय आप्तत्वनिश्चयस्तस्य तेषाम्** इति। सुप्तप्रबुद्धानामिव मन्वादीनां पित त्वेन तस्य ईश्वरस्य अविप्रलम्भकत्वम् अनुमीय तत्र आप्तोक्तत्वनिश्चयः। उच्चावचानां भूतानां निर्माणस्य दर्शनेन ईश्वरे स ष्टिकर्तरि सार्वज्ञ्यत्वमनुमीय वा तत्र आप्तत्वस्य निश्चयः। ईश्वरो न विप्रलम्भकः, पित त्वात्, यो यस्य पिता स तं प्रति न विप्रलम्भकः इति प्राग्भवीयसंस्काराधीनव्याप्तिबलात् ईश्वरे आप्तोक्तत्वस्य अनुमानं मन्वादीनाम्। किं वा उच्चावचभूतनिर्माणदर्शनेन ईश्वरे सार्वज्ञ्यस्य निश्चयः। यः सर्वज्ञः स न भ्रान्तिमानिति तत्र अभ्रान्तिमनुमीय ईश्वरे आप्तत्वस्य निश्चयो मन्वादीनाम्। तदनन्तरं वेदानां परिग्रह इष्टबुद्ध्या कृतः तैः मन्वादिभिः।

ननु "वर्षशतान्ते संस्कारोद्बोध इत्यपि असंभावित" इत्यनुशयेन कल्पान्तरमाह – **यद्वा भगवानेव सम्प्रदायप्रवर्तनव्यसनव्यग्रः कायसहस्राणि व्युत्पाद्यव्युत्पादकभाव-व्यवस्थितानि निर्माय तदातनं महाजनं परिग्राहितवान्, नटनोपाध्यायवत् स्वयं नटित्वेति सर्वं सुस्थम्। पक्षत्रये पि चात्र पुराणदिसङ्कथा प्यस्तीति** इति। परमेश्वर एव सम्प्रदाय(वेद)प्रवर्तनपरतया उपाध्याय–शिष्यभावेन व्यवस्थितानि कायसहस्राणि निर्माय स्वयमेव वेदं परिग्राह्य अनेन व्यापारेण तददर्शिनं मन्वादिमहाजनं परिग्राहितवान्, यथा नटनोपध्यायः स्वयं नटित्वा नटनं ग्राहयति स्वशिष्यान् तथा ईश्वरः वेदं ग्राहितवान्। वेदपरिग्रहोपायतया उक्तस्य पक्षत्रयस्यापि (प्रत्यक्षेण, अनुमानेन, शरीरपरिग्रहेणेति पक्षत्रयस्य) पुराणाद्यनुसारित्वमस्तीत्याह – **पक्षत्रये पीति।** अत्र पुराणसंवादः प्रमाणं बोध्यम्।

स्यादेतत् परमेश्वरप्रवर्तितो यमेव वेदसंप्रदायः सर्गान्तरवेदापेक्ष एवेति सेश्वरमीमांसापक्षः कपिलपक्षो वा स्यादिति चेत्? किमर्थं पुनरियमपेक्षा? पूर्ववेदे जगन्नाथस्य न तावद्वेदार्थोपलम्भय। नित्यसर्वज्ञत्वात्। नापि रचनार्थम्। स्वभावतः सर्वकर्त कतया आदर्शानपेक्षणात्। नापि विरोधपरीहारार्थम्। प्रतिपाद्यानां तदनुसन्धानविधुरत्वात्। अवैधुर्ये वा कर्तुः सार्वज्ञ्यविज्ञानादेव समस्तविरोध-विधूननात्। तथापि पूर्वसर्गान्तरवेदव्यरहारो पि परमेश्वरस्य गोचर इति चेत्? कः सन्देहः, यदि चैतदेव वेदस्य प्रवाहनित्यत्वं, न केवलमेतस्य किं तु

घटादेरपीति न्याय एव दर्शनम्। अन्यथा मीमांसेति क्व सेश्वरमीमांसेति। तस्मादुक्तरूपः परिग्रहो नान्यथा संभवतीति प्रतिबन्धसिद्धिः। तथा चाप्तोक्तत्वात् प्रामाण्यसिद्धिः।

[आप्तत्वोपसंहारः]

वेदसम्प्रदायस्य अनादित्वात् अद्यतनो वेदसम्प्रदायः पूर्वसर्गसंप्रदायाद्यपेक्ष एवेति सेश्वरमीमांसकपक्षः, कापिलो वा स्यादिति शङ्कते – **स्यादेतत् परमेश्वरप्रवर्तितो प्ययमेव संप्रदाय इति।** ईश्वरस्य वेदकर्तृत्वाभ्युपगमात् सेश्वर–मीमांसापक्षः, कपिलस्यैव धर्मविज्ञानैश्वर्यादिसंपन्नस्य सुप्तप्रबुद्धवत् सर्गान्तरग हीत–वेदस्म तिमतः तत्प्रत्यभिज्ञानवतो वा वेदप्रद्योतकत्वमिति कपिलपक्षप्रतिपाद्यानामिति **मिश्राः।** ईश्वरेण प्रवर्तितः अपि एवंभूतो वेदसंप्रदायः सर्गान्तरवेदापेक्ष एवेति सेश्वरमीमांसापक्षः। तथा च पूर्वोक्तपक्षत्रयः अस्मात् पक्षाद् विरुद्ध इति न प्रमाणम्। ताद शज्ञानादिमान् कपिलः वेदमवादीत्, न तवेश्वर इति वेदस्य ईश्वरोक्तत्वं तव न संगच्छते इति शङ्का। सर्गान्तरे वेदसंप्रदायस्य स्वीकारे पि नाद्यतनः तदपेक्ष इति परिहरति – **किमर्थं पुनरियम् अपेक्षेति।** जगन्नाथस्येश्वरस्य वेदकर्तुः पूर्ववेदविषयिणी का अपेक्षा? पुनः किमर्थम् सा? इति कथ्यताम्। यदि पूर्ववेदार्थानां प्राप्तये ज्ञानायैव पूर्ववेदस्य अपेक्षा अस्तीति चेत्? नित्यस्य सर्वज्ञस्येश्वरस्य तदभावात्, सर्वज्ञत्वेन तदर्थस्यापि ज्ञानात्। अन्यथा सर्वज्ञत्वानुपपत्तेः। यदि रचनार्थम् पूर्ववेदस्य अपेक्षा तस्य अस्तीति चेत्? तदपि न युक्तम्। तस्य स्वभावतः सर्वकर्तृत्वेन आदर्शस्य प्रतिलिपिरूपस्य अनपेक्षणात्। यः स्वयं कर्तुं यन्न शक्नोति तस्य आदर्शस्य अपेक्षा भवति, न तु स्वयं कर्तुः तदपेक्षा द श्यते। यदि पूर्ववेदविरोधे अद्यतनीनां मम कृतीनां विषयस्य वेदस्य अप्रामाण्येन प्रतिपाद्यानां मन्वादीनां परिग्रहशैथिल्यं मा भूद् इति विरोधपरिहार्थं पूर्ववेदावलोकनम् आवश्यकमिति। पूर्ववेदावलोकनाय तस्य अपेक्षा स्तीति चेत्? प्रतिपाद्यानां मन्वादीनां पूर्ववेदानुसन्धानाभावेन पूर्ववेदेन सह अद्यतनवेदस्य विरोध इति ज्ञानस्य प्रतिपाद्येषु मन्वादिषु अभावेन पूर्ववेदविरोधपरिहारार्थं पूर्ववेदापेक्षाया ईश्वरे अभावात्।

ननु प्रतिपाद्या मन्वादयो पि सर्वज्ञा एवेति तेषु पूर्ववेदानुसन्धानस्य सत्त्वेनेति पूर्ववेदेन अद्यतनवेदस्य विरोधो मा भूदिति विरोधपरिहाराय तदवलोकनार्थं पूर्ववेदस्य अपेक्षा स्ति ईश्वरस्येति वक्तुं न शक्नोषि। वेदकर्तुरीश्वरस्य सर्वज्ञत्वेन पूर्ववेदार्थज्ञानेन तेन सह अद्यतनवेदस्य यो विरोधः तस्य परिहारसंभवेन तदर्थम् ईश्वरस्य पूर्ववेदापेक्षा इत्यस्य कथयितुम् अशक्यत्वात्। प्रतिपाद्यानां मन्वादीनां पूर्ववेदानुसन्धानेन अद्यतनवेदे ईश्वरकृते यदि पूर्ववेदविरोधस्य ज्ञानं भवेत् तदापि अद्यतनवेदकर्तुः ईश्वरस्य उच्चावचभूतनिर्माणादिसर्वशक्तिमत्त्वं सार्वज्ञ्यं च विदित्वा स्वकीयप्रतिभासस्य भ्रान्ततया निश्चेतुं शक्यत्वात्। किं वा वेदप्रणेतुः ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वेन तत्प्रणीतत्वादद्यतनवेदे

विरोधज्ञानस्य मन्वादिषु प्रतिपाद्येषु अभावात्।

ननु ईश्वरस्य पूर्ववेदज्ञानत्वाभ्युपगमपक्ष एव सेश्वरमीमांसापक्ष इति ईश्वरस्य सर्गान्तरवेदापेक्षा अस्तीति वादी सेश्वरवादी कथयितुं शक्नोति। ईश्वरेण तथा व्यवहारादिति शङ्कते – **तथापि पूर्वसर्गान्तरवेदव्यवहारे पि परमेश्वरस्य गोचर इति चेत्?** इति। अद्यतनवेदकर्तृत्वस्य ईश्वरे स्वीकारे पि किं वा पूर्ववेदापेक्षाया ईश्वरे भावे पि व्यवहारो पि पूर्वसर्गान्तरादेव ईश्वरस्य गोचर इति वेदसंप्रदायः। सर्गान्तरवेदापेक्ष एव ईश्वरे सर्वव्यवहारस्य सर्गान्तरगोचरत्वे अद्यतनवेदसंप्रदायस्यापि सर्गान्तरवेदसंप्रदायगोचरत्वादिति चेत्? अभ्युपगम्योत्तरयति सोपहासं सिद्धान्ती – **कः सन्देहः? यदि वैतदेव वेदस्य प्रवाहनित्यत्वम्। न केवलमेतस्य, किन्तु घटादेरपीति न्याय एव दर्शनम्। अन्यथा मीमांसैव इति क्व सेश्वरमीमांसेति?**। ईश्वरस्य सर्गान्तरव्यवहारगोचरत्वमित्यत्र कः सन्देहः? ईश्वरस्य नित्यत्वेन आद्यन्तराभावात्। तथा च ईश्वरज्ञानविषयत्वं वेदस्य प्रवाहनित्यत्वम् सेश्वरमीमांसकमते पर्यवसितमिति वेदे ताद शप्रवाहनित्यत्वस्येव घटादिष्वपि सर्गान्तरघटादि–ज्ञानसजातीयज्ञानविषयत्वस्य प्रवाहनित्यत्वस्य सत्त्वेन वेदस्येव घटादीनां प्रवाहनित्यत्वापत्तिः दुर्वारा स्यात्। ईश्वरस्य पूर्वसर्गघटादिरपि ज्ञानविषयः इति घटप्रवाहो पि नित्यः स्यात्। तथा चेदं न्यायदर्शनमेव, न तु सेश्वरमीमांसादर्शनम्।

किंवा स ष्टिप्रलयानङ्गीकारे अविच्छिन्नप्रवाहनित्यत्वे स एव = वेदप्रवाह इदानीमपि अस्तीति मीमांसापक्ष एवेति क्व सेश्वरमीमांसा? मीमांसापक्षस्तु पूर्वमेव दूषितः, तेनैव सेश्वरमीमांसापक्षो पि दूषितः, उभयोः भेदाभावात्।

एवं महाजनपरिग्रहस्य असर्वज्ञपूर्वकत्वे असंभवमुपसंहरति – **तस्मादुक्तरूपः परिग्रहो नान्यथा संभवतीति प्रतिबन्धसिद्धिः** इति। पूर्वोक्तग्रन्थात् वेदस्य पूर्वोक्तत्रितयरूपमहाजनपरिग्रहः न असर्वज्ञपूर्वकः किन्तु सर्वज्ञपूर्वक एवेति महाजनपरिग्रहे सर्वज्ञपूर्वकत्वस्य प्रतिबन्धसिद्धिः = व्याप्तिसिद्धिः। तथा च वेदाः सर्वज्ञपूर्वकाः, महाजनपरिग हीतत्वात्, इत्यनुमानेन वेदेषु सर्वज्ञपूर्वकत्वसिद्धौ; यः सर्वज्ञः स न प्रमादीति यथार्थवक्त त्वरूपम् आप्तत्वं सर्वज्ञे सिद्धम्। तथा च वेदा आप्तोक्ताः, महाजनपरिग हीतत्वादिति सिद्ध्यति। महाजनपरिग हीतत्वस्य आप्तोक्तत्वा–भाववदव त्तित्वम्। आप्तोक्तत्वस्य व्यापकस्य पित गुरुवाक्ये सत्त्वे पि न क्षतिः। साध्यस्य हेत्वभाववदव त्तित्वे पि क्षत्यभावात्।

एवं किं वेदाः आप्तोक्ताः, सर्वज्ञपूर्वकत्वादित्यनुमानेन वेदानाम् आप्तोक्तत्वं सिद्ध्यति? एवं सति (वेदानां सर्वज्ञपूर्वकत्वे सति) आप्तोक्तत्वेनैव प्रामाण्यं न तु मीमांसकसंमतेन नित्यत्वेन प्रामाण्यमिति मनसिक त्य आह – **तथा चाप्तोक्तत्वात् प्रामाण्यसिद्धिरिति**। वेदानाम् आप्तोक्तत्वादेव प्रामाण्यम्, न तु नित्यत्वेन। वेदानां पौरुषेयत्वेन अनित्यत्वात्। एवं वेदानामेव महाजनपरिग्रहः, स ष्ट्यादौ तेषां

परिग्रहप्रकारश्च दर्शितः।

कथं पुनः सुगताद्यागमेषु ना दरश्छान्दसानां, वेदविद्वेषिदर्शनान्तः पातिपुरुषप्रणीतत्वादिति मा शङ्किष्ठाः। जिनेन्द्रजगदिन्द्रप्रभ तिप्रणीतेष्व-प्यादरात्। तत्कस्य हेतोः, महाजनपरिग हीतपूर्वागमाविरुद्धतया तदनुसारित्वात्। कुतस्तर्हि? सिद्धप्रामाण्यवेदविरोधात्। कथं तर्हि कतिपयैरपि तत्परिग्रहः? अलसभीरुभि र्दुःखमयजात्यकर्मविद्वेषात्। उदुम्बरगर्तीयतन्तुवायवत्। नत्वेवं वेदे कर्मण्येव निर्भरत्वात्। त्रैवर्णिकबहिष्कृतैरनधिकारिभिरनन्यगतिकत्वात् कीर्तिप्रज्ञाकरवत्। न तु एवं श्रुतौ परैः पूज्यानामप्यत्राप्रवेशात् इतः पतितानामपि परैरुपादानात्। भक्ष्यपेयाद्यद्वैतरुचिभिश्च रागात् सरभादिवत् न त्वेवमाम्नाये तद्विभागव्यवस्थापरत्वात्। कुतर्काभ्यासिभिश्च मोहात् काणाचार्यादिवत् न त्वेवं ब्रह्मणि आबालभावं प्रव त्तेः। अविवेकिभिश्च पाषण्डिसंसर्गात् शौण्डिकादिवत् न त्वेवं प्रकृते पित्रादिक्रमेण प्रवर्तनात्। योगाभ्यासाभिमानिभिश्चाव्यग्रताभिसन्धः सुभूत्यादिवत् न त्वेवं प्रस्तुते प्रथमस्य कर्मकाण्ड एव नियोगात्। अयोग्यै-राजीवनात् सामान्यश्रमणकवत् न त्वेवं प्रक्रान्ते आगन्तुकानामनधिकारात्। कुहकव चितैः समीचीनप्रत्ययात् दीपङ्करसुषिरदर्शिबालिशवत् न त्वेवं प्रकृते तदभावात्। किन्तु महाजनपरिग्रहात् वक्त प्रामाण्यमनुमाय आयुर्वेदे नैरुज्यकामवदिति।

[बौद्धागमापरिग्रहे युक्तिः]

इदानीं सुगताद्यागमानां कैश्चित् परिग्रहे कैश्चिदपरिग्रहे तावत् सर्वज्ञप्रणीतत्वस्य उभयत्राविशेषाद् अन्यत् कारणं प च्छति – **कथं पुनः सुगताद्यागमेषु अनादरश्च्छान्द-सानाम्?** इति। वैदिकधर्मावलम्बिनां कथं पुनः सुगताद्यागमेषु अनादरः? वेदविद्वेषि यद्दर्शनं तदन्तःपातिभिः पुरुषैः परिचिन्तितत्वेन तेषु अनादरो वैदिकधर्मावलम्बिनाम्। युक्तश्च स्वधर्मनिन्दकेष्वनादर इति वक्तुं न शक्यते। जिनेन्द्रबुद्धिप्रभ तिरचितेषु शास्त्रान्तरेष्वपि च्छान्दसां वैदिकधर्मावलम्बिनाम् आदरदर्शनात् इति त्वदभिमतस्य वैदिकधर्मनिन्दकत्वस्य बौद्धागमानादरहेतोः व्यभिचरितत्वात्। जिनेन्द्रबुद्धिप्रभ ति– वेदनिन्दकरचितेषु च्छान्दसां कुत आदर इति मनसिक त्य शङ्कते – **कथं पुनः सुगताद्यागमेषु अनादरश्च्छान्दसानाम्? वेदविद्वेषि दर्शनान्तःपाति-पुरुष-प्रणीतत्वादिति मा शङ्किष्ठाः, जिनेन्द्र-जगदिन्द्र-प्रणीतेष्वपि आदरात्।** तथाच सुगतागमेषु वैदिकधर्मावलम्बिनाम् यो नादरः स किं वेदविद्वेषिदर्शनान्तःपातिप्रणीतत्वात् न वेति सन्देहस्याभावे हेतुः जिनेन्द्रेत्यादिना प्रतिपादितः। एककोटिकनिश्चयस्य एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्मावगाहिज्ञानरूपसंशयप्रतिबन्धकत्वात्। जिनेन्द्रप्रभ तयो वेदविरोधिनः, तैः रचितागमेषु वैदिकधर्मावलम्बिन आदर इति तद्घटकैककोटिकनिश्चय

इति।

वेदविरोधिजिनेन्द्रादिप्रणीतागमेषु च्छान्दसामादरः कुतः इति प च्छति – **तत्कस्य हेतोः?** इति। कथं वेदविरोधिजिनेन्द्रादिरचितआगमेषु च्छान्दसानां समादरः? तत्र किं कारणम् इति प्रश्नः। उत्तरयति – **महाजनपरिग हीतपूर्वागमाविरुद्धतया तदनुसारित्वात्** इति। महाजनैः परिग हीताः ये आगमाः तदविरुद्धत्वेन महाजनपरिग हीत–पूर्वागमानुसारित्वात् तदागमेषु च्छान्दसामादरः। तथा च जिनेन्द्रप्रभ तिरचितागमेषु च्छान्दसानामादरे महाजनपरिग हीतपूर्वागमानुसारित्वं हेतुरिति प्रदर्शितम्।

इयं शङ्का मास्तु। तथापि च्छान्दसानां कुतस्तत्र न समादर इत्यत आह – **कुतस्तर्हि** इति। जिनेन्द्रप्रभ तीनां वेदविरोधित्वमेव नास्तीति तद्रचितागमेषु वेदविरोधित्वाभावो दर्शितः। कथं न तेषां विरोधित्वम् इत्यत्र तदनुसारित्वादिति हेतुः। महाजनपरिग हीतवेदविरोधिनां ताद शवेदानुसारित्वं न संभवति, विरोधिनि तदनुसारित्वाभावस्य सत्त्वात्। वेदानुसारित्वेन वेदाविरोधित्वं तेषु सिद्धम्।

जिनेन्द्रप्रभ तिरचितागमान्तरे कथमादरः च्छान्दसानामिति शङ्कायाः निरासे पि बौद्धागमेषु तेषां कथं नादर इत्यत्र हेतुं प च्छति – **कुतस्तर्हि?** इति। तर्हि बौद्धागमेषु च्छान्दसानां कुतो नादर इत्यत्र को हेतुरिति प्रश्नः। तत्र कारणं वदति सिद्धान्ती – **सिद्धप्रामाण्यवेदविरोधादिति**। महाजनपरिग हीतत्वेन सिद्धं प्रामाण्यं येषु, ताद शा ये वेदाः, तद्विरोधात् बौद्धागमेषु च्छान्दसानामनादर इति तदागमेषु अनादरे सिद्धप्रामाण्यवेदविरुद्धत्वं हेतुः। तथा च सिद्धप्रामाण्यतज्जातीयपूर्वागमानुसारित्वं परिग्रहहेतुः। तदननुसारित्वं च तदपरिग्रहहेतुरिति बोध्यम्।

बौद्धागमानामपि कथं कतिपयैर्जनैः परिग्रहः संगच्छते? इति शङ्कते – **कथं तर्हि कतिपयैरपि तत्परिग्रहः?** इति। वेदविरुद्धानां बौद्धागमानाम् कतिपयैर्जनैः कथं परिग्रहः संगच्छते? वेदविरुद्धत्वेन सर्वैस्तेषां अपरिग्रहस्यैव उचितत्वादिति प्रश्नः। धर्मार्थतया बौद्धागमानां न परिग्रहः किन्तु फलैरेव परिग्रह इति उत्तरयति सिद्धान्ती – **अलस**(आयास)**भीरुभिः दुःखमयजात्यकर्मविद्वेषादिति।** आयासः प्रयासः, तस्मात् भीरवः आलस्येन वैदिककर्मणो भीरवः, तैः बौद्धागमानां परिग्रहः कृतः। ननु वैदिककर्मणि अनादरः, बौद्धागमेषु आदरः इति तेषां नोपपद्यते। अलसस्य भीरोश्च वैदिककर्मपरित्यागहेतोः बौद्धागमविहितकर्मपरित्यागे संभवेन, तद् अपरित्यागात्। स हेतुर्वैदिककर्मत्यागे न युक्त इत्यत आह – **दुःखमयजात्यकर्मविद्वेषादिति।** आलस्येन स्वजात्या (नीचजात्या) महतो वैदिककर्मणो भीतैः महत्सु वैदिककर्मसु द्वेषाद् वेदापरिग्रहेण अकर्मबहुलबुद्धागमानां परिग्रहः। तत्र द ष्टान्तमाह – **उदुम्बरगर्तीय-तन्तुवायवत्** इति। उदुम्बर गर्तनामको देशः, तत्रस्था ये कुविन्दाः, ते अलसाः महतो वैदिककर्मण भीताः सन्तः अकर्मप्रचुरान् बोद्धागमान् सुलभान् द ष्टफलान् ग हीतवन्तः। वेदपरिग्रहे द ष्टफलाभावमाह – **नत्वेवं वेदे, कर्मण्येव निर्भरत्वात्** इति। यथा

बौद्धागमे द ष्टफलं, न तथा वेदे। वेदे द ष्टफलाभावात्। कर्मण्येव निर्भरत्वात्। वैदिककर्मण्येव आदरत्वात्। बौद्धागमपरिग्रहे हेत्वन्तरं कथयति – **त्रैवर्णिकबहिः-कृतैरनधिकारिभिर- नन्यगतिकत्वात्** इति। ब्रह्मणक्षत्रियवैश्यजातीयैः ये बहिष्कृताः तैः तद्बहिष्कृतजातीयैः वैदिककर्मानधिकारिभिः भ्रष्टाचारोपदेशकबौद्धागमानां परिग्रहः। तेषां वैदिकर्मानुष्ठानरूपगत्यभावेन अनन्यगतिकत्वात् बौद्धागमानां परिग्रहः। अत्र द ष्टान्तमाह – **कीर्तिप्रज्ञाकरवत्** इति। **धर्मकीर्तिः प्रज्ञाकरश्च** जातिबहिष्कृतौ बौद्धागमं ग हीत्वा बुद्धधर्मावलम्बिनावभूताम्। वेदपरिग्रहे बौद्धागमात् व्यतिरेकमाह – **न त्वेवं श्रुतौ, परैः पूज्यानामप्यत्र अप्रवेशात्** इति। यथा पतितानां जातिबहिष्कृतानां नीचजातीयाना च बौद्धागमे प्रवेशः, न तथा तेषां श्रुतौ (वेदे) प्रवेशः। तेषां प्रवेशस्य वेदे निषेधात्। परैः वैदिकधर्मावलम्बिभिन्नैः पूज्यानामपि मोलवीयानां पादरीविशेषाणां शूद्रजातित्यागिनां वेदे अप्रवेशात्। 'न स्त्रीशूद्रौ वेदम् अधीयेयाताम्' इति निषेधात्।

वेदात् व्यतिरेकं बौद्धगमानां परिग्रहे कारणान्तरं चाह – **इतः पतितानामपि परैरुपादानादिति।** त्रैवर्णिकात् पतितानामपि परैः (बौद्धैः) उपादानात् = ग्रहणात्। पतितान् अपि बौद्धः बुद्धधर्मावलम्बिनः कुरुते। बौद्धागमेषु तदनिषेधात्, वेदे तन्निषेधात् वेदाद् व्यतिरेको बौद्धागमे। पतितानामपि तत्र प्रवेशः, न तु वैदिकधर्मे इति व्यतिरेकः। पतिता अनन्यगतिकत्वेन सौलभ्येन च तत्र प्रविशन्ति। किं भक्ष्यं किं नेति तथा किं पेयं किं नेति विचारशून्याः रागात् बौद्धागमेषु प्रविशन्ति। तत्र मक्ष्याभक्ष्यविचारो नास्ति। नापि ताद शी व्यवस्था, न पेयापेयव्यवस्था तद्विचारश्च, किन्तु स्वेच्छाचार इति। स्वेच्छाचारः सुखकरः। अतो बौद्धागमस्य स्वेच्छाचारिभिः परिग्रहः। वेदे स्वेच्छाचारिणां न प्रवेशः। तत्र भक्ष्याभक्ष्यपेयापेययोः व्यवस्था वर्तते। यथा शरभादेः (पक्षिविशेषस्य शरभस्य) प्रव त्तिः, तथा बौद्धधर्मे प्रव त्तिः। तत्र प्रवेशे अन्यदपि कारणं व्यतिरेकश्चेति दर्शयितुमाह – **कुतर्काभ्यासिभिश्च मोहात् काणाचार्यवत्। नत्वेवं ब्रह्मणि आबालभावं प्रव त्तेरिति**। ये कुतर्काभ्यासिनः ते बौद्धागमेषु मोहात् प्रविशन्ति, यथा काणाचार्याः। काणत्वेनापि ते सम्यग् न पश्यन्ति न विचारयन्ति तथा कुतर्काभ्यासिनो न सम्यग् विचारयन्ति मोहात् वेदं न आलोचयन्ति। खेदविगमः समानः गम्यायाम्, अगम्याया च। क्षुन्निव त्तिः समाना भक्ष्यभक्षणे अभक्ष्यभक्षणे च। पिपासानिव त्तिः समाना पेयपानेन अपेयपानेनेति। उभयत्र समानत्वमेव पश्यन्ति तर्कयन्ति च ते। वेदे आबालभावं प्रव त्तेः कुतर्कस्य नावसरः। बालकानां तर्ककरणयोग्यताया अभावेन कुतर्काभावात्। तथा च वेदे आबालभावं कुतर्काभ्यासात् प्रागेव बाल्यात्प्रभ ति प्रव त्तेः। बौद्धागमे कुतर्कात् यूनां प्रव त्तिः। तत्र अन्यदपि कारणमाह – **अविवेकिभिश्च पाषण्डिसंसर्गात् शौण्डिकादिवत्, नत्वेवं प्रकृते। पित्रादिक्रमेण प्रवर्तनात्** इति। यैः विचारकर्तुमसमर्थैः अज्ञानिभिः नास्तिकसंसर्गात् बौद्धागमः परिग ह्यते, नत्वेवं वेदे प्रवेशः। तत्र पित्रादिक्रमेण प्रवर्तनात्। अच्युताधिकारपरम्पराकत्वात्। तत्र अन्यदपि कारणं उभयोः वेदबौद्धागमयोः व्यतिरेकं

च दर्शयति – **योगाभ्यासाभिमानिभिः अव्यग्रताभिसन्धेः सुभूत्यादिवत्, नत्वेवं प्रकृते** इति। योगाभ्यासाभिमानिनः न तु योगाभ्यासिनः ते अव्यग्रताज्ञानात् सौलभ्य–ज्ञानात् बौद्धधर्मं बौद्धागमं च ग ह्णन्ति। नत्वेवं वेदे प्रवेशः, न वा तद्धर्मस्य ग्रहणम्। अत्र हेतुमाह – **प्रथमतः कर्मकाण्ड एव नियोगात्।** वेदाधिकारिण उपनयनानन्तरं कर्मकाण्डे नियोगेन कष्टसाध्यवैदिकधर्माधिकारिणो भवन्ति वैदिकधर्मावलम्बिनः। वेदे कष्टधर्मोपदेशेन स्वेच्छाचाराभावेन च वैदिकाः न प्रविशन्ति। यद्यप्यत्रापि ज्ञानकाण्डे नियोगः, तथापि प्रथमतः कर्मकाण्डे नियुक्तस्य पश्चादेव ज्ञानकाण्डे नियोगः। अतः प्रथमं कर्मणि व्यग्रतायां नान्यगताभिसन्धिना (अव्यग्रताभिसन्धिना) वेदे प्रव त्तिः। बौद्धागमे तु कर्मकाण्डे प्रथमं प्रव त्यभावेन अव्यग्रताभिसन्धानात् प्रव त्तिव्यतिरेकः स्पष्टः।

व्यतिरेकैः बौद्धधर्मस्वीकारे च हेत्वन्तरमाह – **अयोग्यैः आजीवनात् सामान्यश्रमणकवत्। नत्वेवं प्रकृते, आगन्तुकानाम् अनधिकारात्** इति। जीविकायामक्षमैः जीविकोपायतया बौद्धधर्मस्य बौद्धागमस्य वा परिग्रहः कृतः। यथा सामान्यश्रमणकः (बीजभूतः बौद्धसंन्यासी) बहुधनं दत्त्वा बुद्धधर्मावलम्बिनो कार्षीत्। तथा जीविकायाम् असमर्थाः तद्धर्मं तदागमं च जीवनरक्षायै ग ह्णन्ति। धूर्तताया उभयत्र समानत्वात् पाण्डित्यस्य वा उभयत्राप्यविशेषात्। वेदे तथा न प्रवेशः। आगन्तुकानाम् (पाषण्डानाम्) वेदे अनधिकारात्। उभयत्र व्यतिरेकं बौद्धागमे तद्धर्मे च प्रवेशस्य कारणान्तरं दर्शयति – **कुहकव चितैः समीचीनप्रत्ययात् दीपङ्करसुषिरदर्शिबालिशवदित्यादि।** बहुशिरः पुरुषप्रमाणस्थूलकाष्ठखण्डः, तत्र एकेनैव दीपेन बहुशिरःनिःसरत्प्रभं येन दीपभ्रमं जनयति ऐन्द्रजालिकः, तेन व चिताः पुरूषा तद्दर्शिनः यथार्थज्ञानेन ताद शदीपस्य सत्यत्वं स्वीकुर्वन्ति, तथा आदित्यस्तम्भनपाषाणस्फोटकादीनां बौद्धागमेषु प्रतिपादनात् तदव चितैः अज्ञानिपुरुषैः तद्धर्मस्तदागमश्च ग ह्यते। नत्वेवं सूर्यस्तम्भनपाषाणस्फोटनादिकं प्रतिपादितमस्ति वेदे, येन व चिताः पुरुषाः तत्र प्रवर्तेरन्। उपसंहरति – **किन्तु महाजनपरिग्रहाद् वक्त प्रामाण्यमनुमाय आयुर्वेदे नैरुज्यकामवदिति** इति। वेदस्य महाजनपरिग हीतत्वेन तद्वक्तरि प्रामाण्यमनुमाय वेदोक्ते "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादौ वैदिकधर्मावलम्बिनः तत्र तथा स्वर्गादिकामाः प्रवर्तन्ते, नैरुज्यकामा आयुर्वेदे यथा वर्तन्ते। न तु विप्रलम्भात् बोद्धागमेषु इव वेदेषु प्रवर्तन्ते च्छान्दसाः।

किं पुनरमीषां मूलम्, न ह्येतावन्तो ग्रन्थराशयः परविप्रलम्भनार्थं प्रणीयन्ते। न च विश्वमेव विप्रलभ्यमिति चेत्? भवतु कि चिन्मूलं किमनेन चिन्तितेन। अतिनिर्बन्धे तु क्षणिकनैरात्म्यादिप्रतिपादकानां तर्काभ्यासः। प्रतिपादितं च तथा। शून्यसाकारादिप्रतिपादकानां तु दुरभ्यासः। योगशास्त्रेष्व-भ्यस्यतः स्वरूपशून्यमिव भाव्यमेकमेवेति, प्रतिपादनात्। चैत्यचीवरादिप्रति-

पादकानां तु स्वस्थितिमभिसन्धाय दर्शनान्तरस्थितिद्वेषः। स्वस्थितौ प्रमाणमनपेक्ष्य परस्थितौ विगानात्। ब्रह्मचर्यप्रतिपादकानां तु वेदा एव, न्यायाविरुद्धं परतन्त्रोक्तमप्यानुकूल्यप्रसिद्धेर्ग ह्यत इति विमर्शात्। मन्त्रकोषप्रतिपादकानां तु प्रणवबीजजातयः सर्वसाधारण्यः, श्रद्धेयदेवतानामाङ्कस्त्वधिकः। श्रद्धापरिग हीतश्चाकारो देवतेति हस्तसमालोचः। सत्यतपःशालीनां वचनं मन्त्रो विषयवत्यां चिन्तायां चित्तस्थैर्यं प्रयोजनं, कममन्यथा महर्षीणां शापानुग्रहक्षमता, कथं वा चतुर्भुजाष्टभुजाद्यवस्थेति दुरूहत्वादिति। एकविप्रलम्भनार्थं वा केनचित् कियदेव प्रणीतं तेनानुष्ठितं अपरैस्तदनुयायिभिर्ग हीतमनुष्ठितं व्याख्यातं विवर्द्धितं चेति किमनुपपन्नम्। तस्माद्विरुद्धागमव्युदासेन वेदा एवार्वाचीनपुरुषपूर्वकत्व-शङ्काव्युदासेन परमेश्वरप्रणीतत्वादेव भूतार्थभागस्याप्रामाण्यशङ्काव्युदासेन प्रमाणमेवेति नियमः।

कथं चरम इति चेत्? महाजनपरिग्रहस्य तत्साध्यस्य वा सर्वज्ञपूर्वक-त्वस्य पुरुषदोषाभावस्य वा प्रामाण्यहेतोर्भूतभाव्यार्थभागयोः साधारणत्वात्। किं तस्य फलमिति चेत्? स्वार्थप्रतिपादनं, किं तेन प्रयोजनं? यथायथमुपादानं हानं मोक्षश्च। तत्रानर्थहेतूनां तत्त्वज्ञानाद्धानं अर्थहेतूनामुपादानमात्मनो मोक्ष इति।

[आम्नायमूलव्यवस्थापनम्]

आक्षिपति बौद्धः – **किं पुनरमीषां मूलम्? न ह्येतावन्तो ग्रन्थराशयः परविप्रलम्भनार्थं प्रणीयन्ते, न च विश्वमेव विप्रलभ्यमिति चेत्?** इति। सुगतागमानां किं पुनर्मूलम्? संसारमोचकमेतेषां मूलं त्वया व चकत्वं दर्शयित्वा खण्डितम्। एतावन्तो बौद्धागमाः परविप्रलम्भनार्थमेव न प्रणीयन्ते। विप्रलम्भका हि अक्लेशसाध्येन व्यापारेण क चित् विप्रलभन्ते, न तु अतिक्लेशसाध्यैः एतावद्भिः ग्रन्थराशिभिः। अतो व चकनिर्मिताः बौद्धागमा इति तव कथनं न सङ्गतमिति चेत्? समाधत्ते – **भवतु कि चिन्मूलम्। किमनेन चिन्तितेन? अतिनिर्बन्धे तु क्षणिकनैरात्म्यादिप्रतिपादकानां कुतर्काभ्यासः। प्रतिपादित च तथा** इति। वेदे बौद्धागमे च मया भेदो दर्शितः। वेदस्य परिग्रहे हेतुः प्रदर्शितः। बौद्धागमस्य अपरिग्रहे हेतुश्च प्रदर्शितः। तत्र दोष उच्यताम्। तं निराकरिष्याम्यहम्। बौद्धागमे किं मूलम् इत्यत्र उदासीनो हम्। भवतु कि चिन्मूलम्। तस्य परिचिन्तनेन किं प्रयोजनम्? स्वागमप्रामाण्यसाधनेन अहं कृतकृत्यः। तत्र आग्रहश्चेत् तदा कुतर्काभ्यासः तत्र मूलमिति अत्रावधारय। सर्वे भावाः क्षणिकाः, आत्मा नास्ति इत्यादि–प्रतिपादकानां बौद्धानाम् कुतर्काभ्यासः तदागमनिर्माणे कारणम्। कुतर्काभ्यासी कमपि कुतर्कं करोत्येव, तद्व्यसनत्वात्। यदि स्थैर्यं स्यात् भावानां तत्, क्रमयौपगद्ये न स्याताम्। आत्मा यदि स्यात् तदा

आत्मदर्शी तत्र अनुरक्तो न मुच्येत इत्यादि कुतर्काभ्यासो बौद्धेषु द ष्ट इति, स एव तत्र मूलं ग ह्यताम्। क्षणिकत्वे नैरात्म्ये च मूलस्य तर्कस्य तर्काभासत्वं मया प्रतिपादितं प्राग्।

बौद्धस्य दुस्तर्काभ्यासं दर्शयति – **शून्यसाकारादिप्रतिपादकानां तु दुरभ्यासः। योगशास्त्रेष्वभ्यस्यतः स्वरूपशून्यत्वमेव भाव्यमिति प्रतिपादनात्** इति। बाह्यार्थशून्यं साकारमिति प्रतिपादकानां योगाचाराणां बौद्धानाम् तु दुरभ्यासः। योगशास्त्रेषु अभ्यस्यतः बहिर्व्याव त्तमनः प्रणिधानबलात् जगच्छून्यमेवेति भावयता केनापि (शून्यवादिना) शून्यतैव सिद्धान्तितम्, स्वरूपशून्यत्वमेव भाव्यमिति प्रतिपादनात्।

बौद्धागमे मूलान्तरमाह – **चैत्य-चीवरादि-प्रतिपादकानान्तु स्वस्थितिमभिसन्धाय दर्शनान्तरस्थितिद्वेषः, स्वस्थितौ प्रमाणमनुपेक्ष्य परस्थितौ विगानात्** इति। चैत्यवन्दन–चीवरधारणादि–प्रतिपादकानां बौद्धागमानाम् प्रमाणमन्तरेणैव स्वसिद्धान्तस्थितिम् अभिसन्धाय दर्शनान्तरस्थितिविद्वेष एव मूलम् बौद्धागमेषु। एव च स्वशास्त्रप्रतिपादितेषु प्रमाणमनपेक्ष्य परशास्त्रस्थितेषु निन्दैव मूलं बौद्धागमस्य। चैत्यो बौद्धदेवता, चीवरं (वस्त्रम्), त्याज्यमित्यर्थः। चैत्यवन्दनात् चीवरपरित्यागाच्च न कि चिदन्यदुपेयमिति दिगम्बराणां स्वस्थितिः = स्वाभ्युपगमः। तत्रैव च प्रमाणपरिकल्पनया न्यत्र विगानादित्यर्थ इति **मिश्राः।**

स्वागमे वैशिष्ट्यं दर्शयति – **ब्रह्मचर्यादिप्रतिपादकानान्तु वेदा एव, न्यायाविरुद्धं परतन्त्रोक्तमप्यानुकुल्यप्रसिद्धेर्ग ह्यते एवेति विमर्शात्** इति। ब्रह्मचर्याहिंसासत्यवचनादीनां कर्तव्यप्रतिपादकानां धर्माणां वेदा एव मूलं न्यायाविरुद्धं परतन्त्रमप्यानुकूल्यप्रसिद्धेः ग ह्यत इति विमर्शात्। अप्रतिषिद्धं परमतमपि अनुमतं भवति। तथा च ब्रह्मचर्याहिंसासत्यवचनादीनां कर्तव्यप्रतिपादकानां मूलं वेद एव प्रमाणम्। किन्तु तत्प्रतिपादकं परशास्त्रं चेत् अनुकूलम्, तदपि प्रमाणं भवतु, का क्षतिः? अप्रतिषिद्धं परमतमपि अनुमतं भवति। बौद्धागमे यत् चमत्करोति आदित्यस्तम्भनं प्रतिमाजल्पनादि, तत् सर्वसाधारणम्, इति कथयितुम् आह – **मन्त्रकोषप्रतिपादकानान्तु प्रणवबीजजातयः सर्वसाधारण्यः** इति। बौद्धानाम् मन्त्रसमुदायः, मन्त्रकोषः। यो स्माकं प्रणवः तज्जातीय एव। तद्बलादेव आदित्यस्तम्भनम्, प्रतिमाजल्पनमित्यादि बोद्धानां ताः ताः शक्तयः प्रणवजातयः अस्माकमपि वेदे वर्तन्ते। ताः शक्तयो न अपूर्वाः, तासां सर्वसाधारणत्वात्।

नन्वेवं तर्हि सूर्यादिदेवता स्वीकारः तेषां कथं संगच्छते इत्यत आह – **श्रद्धेयदेवतानामाङ्कस्त्वधिक** इति। तत्तद्देवतानामेव चैत्यादिनामान्तरधारणं परं विशेषः इत्यर्थः। लक्षणयुक्तेष्वपि तेषु मन्त्रेषु श्रद्धेयदेवतानाम् अप्रक्षेप एव अधिकः (चैत्यादिरिति विशेषः)।

ननु य एव आकारो ध्यायते सैव देवता न तु त्वदभ्युपगतसूर्यादिरित्यत आह – **श्रद्धापरिगृहीतश्चाकारो देवतेति हस्तसमालोचनः** इति। देवता श्रद्धापरिगृहीतः आकारविशेष एव, नान्या काचिदिति यत्त्वत्र कथ्यते, तत्र हस्तसमारोपमूलं, स्वोत्प्रेक्षा एव वा इत्यर्थः। उक्तेषु अर्थेषु बौद्धानुमितिं दर्शयति – **सत्यतपःशालिनां वचनं मन्त्रः। विषयवत्यां चिन्तायां चित्तस्थैर्यं प्रयोजनम्। कथमन्यथा महर्षीणां शापानुग्रहक्षमता? कथं वा चतुर्भुजाष्टभुजादिव्यवस्थितिः? दुरूहत्वाद् इति।** सत्यवादिनां महर्षीणां वाच एव मन्त्राः। तल्लक्षणयुक्ताः सर्वे पि मन्त्राः। विषयवत्यां भूमौ (स्थाने) चित्तस्य स्थैर्यमेव देवताया प्रयोजनम्। अतः श्रद्धापरिगृहीत एव आकारो विषयभावेन अवस्थितः, तस्मिन् चित्तं स्थिरीकर्तुं समर्थः, नान्यत्र। अतएव चित्तभूतो देवतेति (अतश्चैत्यवन्दनम्)। प्रथमे युक्तिमाह **कथमन्यथेति**। द्वितीये पि युक्तिमाह – **कथं वेति**। चतुर्भुजाष्टभुजाद्याकारेषु श्रद्धैव व्यवस्थापिकेति। वस्तुतः चतुर्भुजो विष्णुः देवता नास्ति। अष्टभुजा देवी देवता नास्ति। किन्तु श्रद्धया तं तं देवं परिकल्प्य चित्तस्थैर्यं कार्यमिति बौद्धस्य अभिप्रायः।

मिश्रास्तु – **सत्येति।** तद्वचनमेव इन्द्रो न तु वेदभागः त्वदभ्युपगतः; अष्टभुज–चतुर्भुजादयः अपि त्वदभ्युपगता न देवता, किन्तु एताद शविषयस्य यच्चिन्तनं क्रियते, तदा मनः स्थिरं भवति इत्येतावन्मात्रार्थं तदभिधानम्। अत्रैव उपपाद्ये उपपादकद्वयमाह – **कथम् अन्यथेति** वदन्ति। एतावद् बौद्धाद्यागमानामपि किंचिन्मूलम् उपन्यस्तम्।

इदानीं तु परविप्रलम्भनार्थमेव तेषां (बौद्धाद्यागमानाम्) प्रणयनम् इति वक्तुं शक्यते इत्याह – **एकविप्रलम्भनार्थं वा केनचित् कियदेव प्रणीतम् तेनानुष्ठितमित्यादि।** एकस्य बौद्धभिन्नस्य बौद्धधर्मं स्वीकर्तुं विप्रलम्भाय कियदेव = किंचिदेव बौद्धधर्मप्रतिपादकागमशास्त्रं केनचिद् बौद्धेन प्रणीतम्, तेन अनुष्ठित च। अपरैः तदनुयायिभिः तच्छास्त्रं गृहीतम्, अनुष्ठितम्, व्याख्यातम्, विवर्द्धित च। अतो बौद्धागमो महान् जातः। नत्वेकेनैव बौद्धागमः रचितः। अतो न ह्येतावन्तो ग्रन्थ–राशयः परविप्रलम्भनार्थं प्रणीयन्ते वचकैः। अक्लेशसाध्येन व्यापारेण कश्चित् विप्रलभ्यते इति तव कथनावसरो भ्रष्टः। तदागमस्य अनेककर्तृकत्वात्। एतदेव किमनुपपन्नमिति मूलेन ध्वनितम्। एकविप्रलम्भनार्थमित्यनेन हि विश्वमेव विप्रलभ्यमिति शङ्का परिहृता। कियदेव इत्यनेन "तर्ह्येतावन्तो ग्रन्थराशय" इति शङ्का परिहृता। न तु एकविप्रलिप्सया प्रणयने कथं विश्वपरिग्रहः (बौद्धागमस्य) इत्याह – **तेन अनुष्ठितमि**त्यादि। तेन विप्रलब्धेन अनुष्ठितम्, अपरैः तदनुयायिभिः = विप्रलब्धानुयायिभिः गृहीतम् = अवगतम्, अनुष्ठितं, व्याख्यातं, तत एव विवर्धितम्। अथवा तच्छायापन्नार्थान्तरविषयग्रन्थनिर्माणेन विवर्धितं चेति।

वेदाः सर्वज्ञप्रणीता एव प्रमाणमिति पूर्वप्रघट्टकसाधितं नियमत्रयहेतुत्रयोपरक्तम्

उपसंहरति – **तस्माद् विरुद्धागमव्युदासेन वेद एव अर्वाचीनपुरुषपूर्वकत्व-शङ्काव्युदासेन, परमेश्वरप्रणीततत्वादेव भूतार्थभागस्य अप्रामाण्यशङ्काव्युदासेन प्रमाणमेवेति नियम** इति। विरुद्धागमानां परविप्रलम्भार्थतया प्रणीतत्वेन तेषाम् अप्रमाणत्वम्, अनाप्तोक्तत्वात्। तस्मादतीन्द्रियार्थपूर्वको यमिति विशेषः। तथा च अनेन द ष्टान्तेन महाजनपरिग हीतत्वाद् वेदा अपि सर्वज्ञपूर्वका इत्युन्नीयते इत्यादिग्रन्थैः। वेदानाम् अर्वाचीनपुरुषप्रणीतत्वं निवारितम्। परमेश्वरप्रणीततत्वादेव भूतार्थभागस्य = पूर्वपदार्थकथनस्य भाविपदार्थकथनस्य च, अप्रामाण्यशङ्काव्युदासेन वेदाः प्रमाणमेवेति नियमः।

ननु प्रमाणमेव इत्ययोगव्यवच्छेदपरेण एवकारेण सकलवेदस्य प्रामाण्य–मभिधीयते। न चैतद् युक्तम्। अनुवादानाम् अप्रमाणत्वाद् इत्याशङ्कते – **कथं चरम इति चेत्?** इति। वेदाः प्रमाणमेवेति कथं कथ्यते इति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **महाजनपरिग्रहस्य** (हेतोः) **तत्साध्यस्य वा सर्वज्ञपूर्वकत्वस्य पुरुषदोषाभावस्य वा प्रामाण्यहेतोः भूतभाव्यार्थभागयोः साधारणत्वात्** इति। वेदाः सर्वज्ञपूर्वकाः (सर्वज्ञरचिताः) महाजनपरिग हीतत्वात्। महाजनपरिग हीतत्वं सर्वेषु वेदेषु सर्वेषु वेदभागेषु च वर्तते। यः सर्वज्ञः स न प्रमादी न वा विप्रलम्भक इति। सर्वज्ञरचितत्वस्य सर्वेषु वेदेषु सर्वेषु वेदभागेषु सत्त्वेन च यः सर्वज्ञः स न साधारणदोष–युक्तः, सर्वज्ञत्वादिति साधारणपुरुषदोषभ्रमप्रमादविप्रलम्भादिदोषरहितपुरुषरचितत्वेन च सर्वेषु वेदेषु सर्वेषु वेदभागेषु सत्त्वेन सर्वेषां वेदानां वेदभागानां च प्रामाण्येन वेदाः प्रमाणमेव इत्यस्य उपपन्नत्वात्।

ननु भाव्यार्थस्य प्रव त्तिनिव त्ती न भूतार्थस्येति भूतार्थभागवेदस्य किं फलमिति शङ्कते – **किं तस्य फलमिति चेत्?** इति। किं वा भूतार्थभागस्य भव्यार्थवत् पुरुषप्रवर्तकत्वाभावेन तत्प्रव त्तिफलता असंभवात्प च्छति – **किं तस्य फलमिति चेत्?** इति। भूतार्थप्रतिपादकवेदभागस्य किं फलम्? फलाभावात् तदप्रमाणमिति भावः, इति चेत्? उत्तरयति सिद्धान्ती – **स्वार्थप्रतिपादनम्** इति। स्वीयानाम् अर्थानां = भूतार्थानाम्, वेदार्थानां, प्रतिपादनं (कथनं) प्रयोजनं वेदस्य भूतार्थप्रतिपादकस्येति। भूतस्यार्थस्य प्रव त्तिनिव त्त्यजनकत्वेन वेदेन भूतार्थप्रतिपादनस्य किं प्रयोजनम्? किमपि नास्ति प्रयोजनम् इति अप्रयोजनार्थप्रतिपादकत्वेन तद्वाक्यस्य उन्मत्तवाक्यस्येव उपेक्ष्यत्वमिति शङ्कते – **किं तेन प्रयोजनम्?** इति। स्वीयार्थस्य प्रव त्तिनिव त्त्यजनक–भूतस्य प्रतिपादनेन किं प्रयोजनम्? किमपि नेति निष्प्रयोजनकप्रतिपत्तिजनकस्य रथ्यावद् अनादेयत्वात्। समाधानपूर्वकं प्रयोजनमाह – **यथायथमुपादानं हानं मोक्षश्च। तत्रानर्थकहेतूनां तत्त्वज्ञाद्धानम्, अर्थहेतुनामुपादानम्, मोक्षश्चेति**। "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादीनाम् तत्त्वज्ञानात् उपादानं फलम्। "अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जना" इत्यादीनां तत्त्वज्ञानात् हानं फलम्। उपनिषद्भागस्य च

तत्त्वज्ञानात् मोक्षः फलमित्यर्थः।

कः पुनरयं मोक्षः? आत्यन्तिकी दुःखनिव त्तिरात्मनः। किमात्यन्तिकत्वं? तज्जातीयात्यन्ताभावविशिष्टत्वम्। तेषामभावः कथम्? कारणमात्रोच्छेदात्। अपुरुषार्थो यमिति चेत्, न। असत्यस्याकाम्यस्याशक्यस्य दुरन्तस्य तथाभावात्। नत्वयं तथा। सत्यो यं, प्रमाणसिद्धत्वात्, सर्वैरभ्युपगमात्, काम्यश्च। दुःखस्य स्वभावहेयत्वात्। सुखार्थं तद्धानमिति चेत्, न। अतद्धेतुत्वात्। व्याप्तेरिति, चेत्, न। असिद्धेः। न हि दुःखाभावः सुखेन व्याप्यत इति। सुखं तावत्तेन व्याप्यत इति चेत्? तर्हि सुखे सत्यवश्यं दुःखाभावो भवेदिति सुखप्रार्थनेति विपरीतापत्तिः। नावेद्यत्वादसौ काम्य इति चेत्, न। दुःखार्तानां तदभाववेदन-मनभिसन्धायैव तज्जिहासादर्शनात्। कथमन्यथा देहमपि जह्युः। अविवेकिनस्ते इति चेत्? किमत्र विवेकेन, इष्यमाणतामात्रानुबन्धित्वात् पुरुषार्थत्वस्य, गम्यागम्ययोः, कामत्ववत्। बहुतरानर्थप्रसक्तिशङ्कया शास्त्रमनुकूलयन्तस्त इतरेभ्यो भिद्यन्ते।

[दुःखाभावापवर्गस्य पुरुषार्थत्वम्]

मोक्षस्य अनुपादेयात् न तस्य फलत्वमिति शङ्कते – **कः पनुरयं मोक्षः?** इति। उपनिषद्भागार्थस्य तत्त्वज्ञानाद् यो मोक्षः स को मोक्षः? मोक्षस्य अनेकार्थत्वेन वक्त तात्पर्यनिश्चयं विना त्वदभिलषितमोक्षस्य ज्ञानं न भवितुं योग्यमस्ति। तात्पर्यं च इच्छा। नित्यसुखाभिव्यक्तिः मोक्षः, आत्यन्तिकदुःखाभावो मोक्षः, आत्महानिः मोक्षः, दुःखात् मोक्षः (मुक्तिः), कष्टमयग्रामात् मोक्षः (मुक्तः) इत्याद्यनेकार्थत्वं मोक्षशब्दस्य। उत्तरयति – **आत्यन्तिकी दुःखनिव त्तिरात्मनः** इति। आत्मन आत्यन्तिकी दुःखनिव त्तिः मोक्षः। लोष्टादीनां मुक्तित्वापत्तिवारणाय आत्मन इति। दुःखाभावे किम् आत्यन्ति–कत्वमिति प च्छति – **किमात्यन्तिकत्वम्?** इति। उत्तरयति – **तज्जातीयात्यन्ताभाव-विशिष्टत्वम्** इति। दुःखत्वावच्छिन्नप्रतियोगिक– दुःखात्यन्ताभाववत्त्वमेव दुःखाभावे आत्यन्तिकत्वम्। पूर्वपक्षी प च्छति – **कथम्?** इति। दुःखत्वजातीयात्यन्ताभावः आत्मनः कथं भवतीति प्रश्नः। उत्तरयति – **कारणमात्रोच्छेदात्** इति। दुःखकारणस्य उच्छेदात् (नाशात्) आत्मनि दुःख्यात्यन्ताभावो भवति।

ननु सुखस्यैव पुरुषार्थत्वं न तु आत्यन्तिकदुःखनिव त्तेरिति मन्वानः प च्छति – **अपुरुषार्थो यमिति चेत्?** इति। उत्तरयति – **न। असत्यस्य अकाम्यस्य दुरन्तस्य तथाभावात्। नत्वयं तथा सत्यो ह्ययं प्रमाणसिद्धत्वात्, सर्वैरभ्युपगमाच्च, काम्यश्च। दुःखस्य स्वभावहेयत्वात्** इति। असत्यस्य = वेदप्रमाणरहितस्य, अकाम्यस्य दुरन्तस्य = आत्यन्तिकात्यन्ताभावस्य, तथाभावात् = अपुरुषार्थत्वात्। मोक्षरूप

आत्यन्तिकदुःखात्यन्ताभावो न असत्यः (वेदप्रमाणरहितो), न वा अकाम्यश्च, किन्तु सत्यः = वेदप्रमाणकः, काम्यश्च। आत्यन्तिकदुःखाभावस्य मोक्षरूपस्य प्रमाणसिद्धत्वात्। "अशरीरं वा वसन्तम्" इत्यादिभिः मोक्षदशायां दुःखाभावस्य प्रमाणसिद्धत्वात्। सर्वे जनाः दुःखेन परिपीडिताः मोक्षमिच्छन्ति इत्यस्य आत्यान्तिकदुःखाभावस्य मोक्षरूपस्य काम्यत्वं सर्वैः अभ्युपगमात्। दुःखस्य स्वभावेन हेयत्वात् = त्याज्यत्वात्। एव च नित्यसुखाभिव्यक्तिमूर्तिः आनन्दात्मको मोक्ष इत्यादिवादिभिरपि दुःखाभावस्य इष्टत्वात्। दुःखाभावरूपत्वाभ्युपगमाच्चेति **नारायणभट्टः।** आत्यन्तिकीं दुःखनिव त्तिं सर्वे इच्छन्ति। स च मोक्षः कार्य एवेति आत्मतत्त्वज्ञानेन तदुपयोगिपदार्थतत्त्वज्ञानेन च जायमानत्वात्, ध्वंसाभाववत्। अतो मोक्षो न नित्य इति हेयम्।

ननु अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वं मुख्यत्वम्, यथा सुखस्य। सुखेच्छाया अन्येच्छानधीनत्वात्। आत्यन्तिकदुःखाभावस्य मोक्षस्य सुखेच्छाधीनत्वेन अन्येच्छाधीनेच्छाविषयत्वात् न मुख्यः पुरुषार्थः, किन्तु गौण इति आशङ्कते – **सुखार्थं तद्धानमिति चेत्?** इति। सुखार्थमेव दुःखस्य हानमिति मुख्यस्य सुखस्यैव मोक्षत्वं न तु दुःखाभावस्य गौणस्य। गौणमुख्ययोः मुख्यस्यैव ग्रहणात् इति चेत्? उत्तरयति – **अतद्धेतुत्वात्** इति। दुःखाभावस्य सुखहेतुत्वाभावेन सुखेच्छाधीनेच्छा–विषयत्वाभावस्य तस्य मुख्यत्वसिद्धेः। सुखस्य हेतुश्च अभिलषितस्य प्राप्तिः।

ननु दुःखाभावस्य सुखहेतुत्वाभावे पि सुखाविनाभावेन सुखार्थं तद् (दुःखहानम्)हानमिति शङ्कते – **व्याप्तेरिति चेत्?** इति। उत्तरयति – **न। असिद्धेः। नहि दुःखाभावः सुखेन व्याप्यते इति**। दुःखाभावे सुखस्य व्याप्तिरिति तव कथनं न युक्तम्। दुःखाभावे सुखस्य व्याप्त्यसिद्धेः। न हि दुःखाभावः सुखेन व्याप्यते इति भारस्य निव त्त्या भारवाहको 'अहं सुखी जात' इति मनुते। तत्र दुःखाभाव एव न सुखमिति बोध्यम्। दुःखाभावे सुखस्य भ्रमो, न तेन वस्तु सिद्ध्यति। सुषुप्त्यादौ दुःखाभावे पि सुखाभावात्, तेन तस्य न व्याप्तिः। सुखाभाववति सुषुप्त्यादौ दुःखाभावस्य व त्तित्वेन व्यभिचरितत्वात्। साध्याभाववद्व त्तित्वं हि व्यभिचारः।

ननु यदा सुखं तदा दुःखाभावो स्त्येवेति सुखस्य दुःखाभावव्याप्यत्वमिति शङ्कते – **सुखं तावत् तेन व्याप्यत इति चेत्?** इति। सुखं दुःखाभावेन व्याप्यते। एव च सुषुप्त्यादौ व्यापकस्य दुःखाभावस्य सत्त्वे पि तत्र सुखाव त्त्यापि न क्षतिः। व्याप्याभाववति व्यापकस्य व त्तित्वं विषमव्याप्तिमत्स्थले 'वह्निमान् धूमाद्' इत्यत्र द ष्टम्। वह्नेः धूमाभाववति आयोगोलके व त्तित्वात्। एव च दुःखाभावे एव सुखलाभाभावात् सुखार्थमेव दुःखहानमिति दुःखस्य न मुख्यत्वमिति चेत्? समाधत्ते – **एवं तर्हि सुखे सति अवश्यं दुःखाभावो भवेत् इति सुखप्रार्थने पि विपरीतापत्तिः** इति। सुखस्य दुःखाभावव्याप्यत्वे सुखे सति दुःखाभावस्य अवश्यं भावात् दुःखाभावार्थैव

सुखप्रार्थनेति विपरीतापत्तिः। मुख्यत्वं दुःखाभावस्यैव न तु सुखस्येति दुःखाभावो मुख्यो मोक्षः, न तु सुखमिति विपरीतः।

शङ्कते – **नावेद्यत्वादसौ काम्य इति चेत्?** इति। आत्यन्तिकदुःखनिव त्तेः अवेद्यत्वात् न काम्यत्वम्; वेद्यस्यैव काम्यत्वादिति चेत्? उत्तरयति – **न। दुःखार्त्तानां तदभाववेदनमनभिसन्धायैव तज्जिहासादर्शनात्** इति। दुःखनिव त्तेर्नो वेद्यत्वम्, दुःखेन पीडितानां दुःखाभावसंवेदनमभिसन्धायैव दुःखत्यागेच्छादर्शनात्। तथा च दुःखाभावस्य संवेदनेन न वेद्यत्वमसंगतम्। वेद्यत्व च ज्ञानविषयत्वम्। दुःखाभावसंवेदनस्य कथं प्रतिसंन्धानमित्यत आह – **कथमन्यथा देहमपि जह्युः** इति। दुःखाभावस्य यदि संवदेनं न भवति तदा दुःखेनातिपीड़िता जनाः कथं शरीरं परित्यजन्ति? अतो दुःखभावसंवेदनमभिसन्धानं मन्तव्यम्। त्वङ्मनःसंयोगस्य इन्द्रियादेश्च ज्ञानं प्रति कारणत्वेन शरीराभावे तयोः अभावात्। दुःखासंवेदने न दुःखाभावसंवेदनमभिसन्धानस्य सत्त्वात्। आत्मनि शरीरावच्छेदेनैव ज्ञानं भवति, नान्यथेति शरीरस्यापि ज्ञानहेतुत्वं केचिन्मन्यन्ते। तथा च न हि शरीराभावे दुःखाभावसंवेदनं संभवति। देहस्यापि ज्ञानहेतुत्वेन तदभावे तदभावादिति।

शङ्कते – **अविवेकिनस्ते इति चेत्?** इति। विवेकिनो दुःखाभावसंवेदनम् अप्रतिसन्धायैव शरीरं त्यजन्ति। अतः स न द ष्टान्तः। अविवेकिनां कार्यस्य द ष्टान्तत्वे महती अव्यवस्था स्यात्। दुःखाभावसंवेदनम् अभिसन्धाय विवेकिनः शरीरत्यागेन दुःखाभावसंवेदनं न सिद्धम्। भ्रमात्मकज्ञानस्य वस्त्वसाधकत्वात्। अन्यथा शुक्तौ इदं रजतम् इति ज्ञानात् सत्यरजतस्य सिद्ध्यापत्तेरिति चेत्? उत्तरयति – **किमत्र विवेकेन? इष्यमाणतामात्रानुबन्धित्वात् पुरुषार्थस्य। गम्यागम्ययोः काम्यत्ववत्** इति। दुःखाभावे विवेकेन किम्? पुरुषार्थस्य इष्यमाणतामात्रानुबन्धित्वात्, पुरुषार्थो हि इष्यमाणतामात्रकारणकः। ईप्सितत्वमात्रमनुसन्धाय पुरुषाः प्रवर्तन्ते। तथा च दुःखाभावस्य ज्ञानं भवतु न वा इत्यत्र उदासीनो हम्। दुःखाभावे ईप्सितत्वं तु वर्तते एवेति तत्र प्रव त्तिः भविष्यति। सर्वे दुःखाभावमभिलषन्ति, न तु दुःखम्। गम्यागम्ययोः काम्यत्ववत्। काम्ययोः गम्यागम्ययोः विचारेण न प्रवर्तन्ते जनाः। किन्तु ईप्सितत्वेनैव प्रवर्तन्ते।

ननु गम्यागम्ययोः उभयोरपि दुःखाभावयोः पुरुषार्थत्वे अविवेकिभ्यो विवेकिनां को विशेष इत्याशङ्क्योत्तरयति – **बहुतरानर्थप्रसक्तिशङ्कायां तु शास्त्रमनुकूलयन्तस्ते इतरेभ्यो भिद्यन्ते** इति। विवेकिनो बहुतरानर्थप्रसक्तिशङ्कायां शास्त्रानुकूलं प्रवर्तन्ते, न तथा विवेकिन इत्युभयोर्भेदः। तथा च उभयेषामपि पुरुषार्थप्रव त्तित्वे समाने शास्त्रानुसाराननुसाराभ्यां विशेषो भवति। एव च ये प्रेक्षावन्तः ते शास्त्रानुसारेण प्रवर्तन्ते, ये अप्रेक्षाकारिणस्ते शास्त्राननुसारेण प्रवर्तन्ते इत्युभयोः भेदः सिद्ध्यति।

अपि चैवं कण्टकादिजन्यदुःखनिव त्तिरपि पुरुषार्थो न स्यात्, अवेद्यत्वात्। प्रथमं विद्यते तावदसाविति चेत्? तुल्यं मोक्षे पि। नाध्यक्षेणेति चेत्। तर्हि दुरितक्षयकामस्य कर्मानुष्ठानानर्थक्यप्रसङ्गः। तदभावतत्फलाभावयोरप्यनध्यक्ष-त्वात्। उपलब्धियोग्यतापन्नानिष्टनिव त्तिरूपत्वादयमदोष इति चेत्, तुल्यम् दुःखवत् सुखस्याप्युच्छेदादकाम्यो यमिति चेत्, न। त ष्णाया दोषतिरस्कारेण प्रव त्तिवदलम्प्रत्ययेन गुणतिरस्कारान्निव त्तेरपि दर्शनात्। मधुविषसंप क्तमन्नमत्रो-दाहरणम्। सन्ति च केचनालम्प्रत्ययवन्तः। न च समत्वं, दुःखस्यैव प्राचुर्यात्। दुःखे सुखहेत्वननुषङ्गे पि सुखे दुःखहेत्वनुषङ्गनियमात्। तथा हि न्यायपार्जितेष्वेव विषयेषु कियती सुखखद्योतिका कियन्ति चार्जनरक्षणादि-भिर्दुःखदुर्दिनानि। अन्यायोपार्जितेषु यद्भविष्यति तन्मनसापि चिन्तयितुमशक्यम्। विदाङ्कुर्वन्तु च सन्तो यदि कण्टकादिजन्येषु दुःखेषु लेशतो पि सुखानुषङ्गः। अस्ति च स्वर्गादिसुखेष्वपि बहुलो दुःखशल्यसम्भेदः। अत एव विविच्य भुज्यतां तुषतण्डुलवदित्यशक्यमिति। शक्यश्चायं निर्वर्त्यत्वात्। स्वन्तश्च, अपराव त्तेरनर्थवासनाननुकूलाभिसन्धित्वाच्चेति।

अवेद्यस्य अपुरुषार्थत्वे दोषमाह – **अपि चैवं कण्टकादिजन्य- दुःखनिव त्तिरपि पुरुषार्थो न स्यात्, अवेद्यत्वात्।** न हि कण्टकादिजन्यदुःखस्य निव त्तिं जनाः सर्वदा स्मरन्ति। पूर्वपक्षी शङ्कते – **प्रथमं वेद्यते तावदसाविति चेत्?** उत्पन्नमात्रे कण्टकाद्युद्धरणानन्तरं तज्जन्यदुःखाभावो जनैरनुसन्धीयते इति तस्य न अवेद्यत्वम्। तत्समये तस्य वेद्यत्वात्। त्वदीयापवर्गस्य आत्यन्तिकीदुःखनिव त्तिरूपस्य कदापि न वेद्यत्वमिति तस्या न पुरुषार्थत्वमिति चेत्? उत्तरयति – **तुल्यं मोक्षे पि** इति। आत्यन्तिकदुःखनिव त्तिरूपमोक्षो पि शब्दानुमानादिना वेद्य इति वेद्यता कण्टकाद्युद्धरणा-नन्तरजन्यदुःखाभावस्य उपनिषज्जन्यतत्त्वज्ञानजन्यात्यन्तिकदुःखनिव त्तिरूपमोक्षस्य च इत्युभयोः वेद्यतायाः तुल्यत्वात्। तथा च कण्टकादिजन्यदुःखाभावः पुरुषार्थः, उपनिषज्जन्यतत्त्वज्ञानजन्यदुःखाभावो न पुरुषार्थ इति विनिगमनाविरहेण कथयितुम-शक्यत्वात्। शङ्कते – **नाध्यक्षेणेति चेत्?** इति। यथा कण्टकाद्युद्धरणानन्तरं तज्जन्यदुःखाभावस्य प्रत्यक्षेण वेद्यत्वं न तथा उपनिषज्जन्यतत्त्वज्ञानजन्यात्यन्तिक-दुःखनिव त्तिरूपमोक्षस्य इत्युभयोः वेद्यतयोः भेदात् त्वदीयमोक्षस्य न पुरुषार्थत्वम्, शास्त्रत एव मोक्षे दुःखाभावो वगम्यते नाध्यक्षेण। उत्तरयति – **तर्हि दुरितक्षयकामस्य कर्मानुष्ठानानर्थक्यप्रसङ्गः, तदभावतत्फलाभावयोः अनध्यक्षत्वात्** इति। एवं सति पापक्षयकामस्य पुरुषस्य प्रायश्चित्तादिकर्मानुष्ठानस्य आनर्थक्यापत्तेः। प्रायश्चित्तादिजन्यपापनाशः, ताद शपापनाशप्रयोज्यदुःखाभावयोरतीन्द्रियप्रतियोगिकत्वेन तयोः प्रत्यक्षाविषयत्वात्। पूर्वपक्षी शङ्कते – **उपलब्धियोग्यतापन्नानिष्टनिव त्ति-रूपत्वादयमदोष इति चेत्?** इति। या दुःखनिव त्तिः उपलब्धियोग्या तत्रैव वेद्यान्तर्भावेन

पुरुषार्थत्वं नान्यत्र। एव च नोक्तदोषः। दुरितक्षयस्य अतीन्द्रियप्रतियोगिकत्वेन प्रत्यक्षवेद्यत्वाभावात्। यद्वा उपलब्धियोग्यतापन्ना या अनिष्टनिव त्तिः तत्सजातीया या अनिष्टनिव त्तिः, उपलब्धियोग्यं यत् अनिष्टनिव त्तिफलं तत्सजातीयं यदनिष्टनिव त्तिफलं तस्य पुरुषार्थत्वम्। तथाच उपलब्धियोग्यं कण्टकादिजन्यं यद् दुःखं तत्सजातीयं निषिद्धाचरणजन्यपापजन्यं दुःखं, किं वा प्रत्यक्षयोग्या कण्टादिजन्यदुःखनिव त्तिः तत्सजातीया निषिद्धाचरणजन्यदुरितनिव त्तिरिति तस्याः पुरुषार्थत्वम् उपपन्नमिति। दुरितक्षयकामस्य कर्मानुष्ठानानां नानर्थक्यमिति चेत्? उत्तरयति – **तुल्यम्** इति। मोक्षे पि उपलब्धिः या कण्टादिविद्धजन्यदुःखनिव त्तिः तत्सजातीयत्वस्य आत्यन्तिक–दुःखनिव त्तौ सत्त्वेन तस्या अपि पुरुषार्थत्वोपपत्तेः।

तदेवं दुःखाभावस्य सतो नाकाम्यत्वं नाप्यवेद्यत्वम् इत्युक्तम्। इदानीं प्रकारान्तरेणाशङ्कते – **दुःखवत् सुखस्याप्युच्छेदादकाम्यो यम् इति चेत्?** इति। **मिश्रास्तु** – समव्ययफलत्वमाशङ्क्य निराकरोति – **दुःखवदिति।** (आयव्यययोः, व्ययफलयोर्वा समानत्वे न किमपि फलम्, किन्तु परिश्रमो धिकः)। मोक्षे यथा दुःखस्य निव त्तिः, तथा सुखस्यापि। मोक्षः अकाम्यः, सुखस्यैव काम्यत्वादिति चेत्? सुखनिव त्तेः इष्टापत्तिं क त्वोत्तरयति – **न। त ष्णया दोषतिरस्कारेण प्रव त्तिवद् अलंप्रत्ययेन गुणतिरस्कारान्निव त्तेरपि दर्शनात्। मधुविषसम्प क्तमन्नम् अत्रोदाहरणम्** इति। यथा मधुविषसम्प क्तम् अन्नम् अलं प्रत्ययेन गुणतिरस्कारेण निव त्तिविषयं तथा सुखदुःखसम्प क्तः संसारो पि निव त्तिविषयः। संसारनिव त्तिश्च मोक्षादेव। अतो मोक्षः काम्य एव न त्वकाम्य इति सिद्धम्। **मिश्रास्तु** – त ष्णया नरकादिदोषं तिरस्कृत्य यथा अगम्यागमने अभक्ष्यभक्षणादौ च प्रव त्तिः, तथा विषजन्यसुखादिगुणं तिरस्कृत्यापि संसारनिव त्तिरिति मोक्षः काम्यः। संसारे दुःखसंप क्तमेव सुखमिति ताद शं सांसारिकं सुखमपि त्याज्यम्। यथा मधुविषसम्प क्तमन्नम्। मधुगुणेन दुष्टविषेण च युक्तमन्नं त्याज्यमेव। तथा च विषयजन्यसुखयुक्तो यं संसारः दुःखयुक्तत्वात् त्याज्य एवेति मोक्षः काम्यः। तत्र सुखदुःखयोः उभयोः अभावात्।

संसारे सुखात् अधिकं दुःखम् अस्ति। अतो मोक्षेण संसारो हेय इति दर्शयितुमाह **सन्ति** इत्यारभ्य **अभिसन्धित्वाच्च** इत्यन्तेन। **सन्ति च केचिदलंप्रत्ययवन्तः** इति। शास्त्रप्रामाण्यात् अलंप्रत्ययवन्तः केचित् सन्ति। सांसारिकसुखस्य दुःखयुक्तत्वेन तत्सुखम् अलंप्रत्ययेन (सांसारिकसुखं व्यर्थं दुःखयुक्तत्वादिति ज्ञानेन) संसारं नेच्छन्ति केचिज्जनाः। अतः सुखदुःखयोः उभयस्मान्निव त्तिः संभवत्येवेति दर्शितम्।

इदानीं संसारे सुखदुःखयोर्न साम्यं किन्तु दुःखमेवाधिकमिति विवेकिनो लंप्रत्ययवन्तः संसारं (अलं संसारेण इति ज्ञानवन्तः) त्यज्यन्ति। स च संसारत्यागो मोक्षादेव भवतीति मोक्षः काम्य इति दर्शयितुमाह – **न च समत्वम्, दुःखस्यैव प्राचुर्यात्। दुःखे सुखहेत्वननुषङ्गे पि सुखे दुःखहेत्वनुषङ्गनियमात्**

इति। संसारे सुखदुःखयोः न समत्वं, दुःखस्यैव आधिक्यात्। दुःखे सुखहेत्वननुषङ्गेण सुखकारणाभावेन सुखाभावात् केवलं दुःखम् इति सुखादधिकं दुःखं भवति। सुखे दुःखहेत्वनुषङ्गनियमेन यत्र सुखं तत्र दुःखमपि। सुखदुःखसामग्र्योः समव्याप्तत्वात् दुःखसमाग्र्याः सत्त्वेन तत्र दुःखस्य अवश्यंभावात्। न हि सुखं दुःखैः विना लभ्यते इति लोकप्रवादो पि संगच्छते। न हि दुःखे सुखहेत्वनुषङ्ग आवश्यकः नरकदुःखादौ सुखलेशस्यापि अभावात्।

सुखे दुःखहेत्वनुषङ्गध्रौव्यात् यत्र सुखं तत्र दुःखमप्यस्ति इति उपपादयितुमाह – **तथा हि न्यायोपार्जितेष्वेव विषयेषु कियती सुखखद्योतिका, कियन्ति च अर्जनरक्षणादिभिः दुःखदुर्दिनानि, अन्यायोपार्जितेषु यद्भवति, तन्मनसा पि चिन्तयितुमशक्यम्** इति। न्यायोपार्जितं धनम् अत्यन्तं सुखहेतुः। तत्र सुखम् अल्पीयः, तद्धानपरिपालनदुःखम् अधिकम्। न्यायोपार्जितेष्वेव धनेषु कियती (अल्पीयसी) सुखरूपा या खद्योतिका ('जुगनू' इति प्रसिद्धं लोके), यथा खद्योतिका अल्पा कदाचित् कदाचित् बहुले अन्धकारे प्रकाशयति तथा कियन्ति = बहूनि, तद्धनार्जने रक्षणादिभिः दुःखरूपाणि दुर्दिनानि, बहुलान्धकारमयरात्रयो वा। सुखमल्पं दुःखमधिकं न्यायोपार्जिते धने भवति। अन्यायोपार्जितेषु धनेषु यद् दुःखं भवति तन्मनसा पि चिन्तयितुमशक्यम्। तत्र अत्यल्पं सुखं बहूनि च दुःखानि सन्ति। रक्षणे पालने भयेन च बहूनि दुःखानि तत्र सन्ति। अनेन सुखे दुःखानुषङ्गो दर्शितः, इदानीं दुःखे सुखानुषङ्गाभावं दर्शयति – **विदाङ्कुर्वन्तु च सन्तो यदि कण्टकादिजन्येषु दुःखेषु लेशतो पि सुखानुषङ्गः। अस्ति च स्वर्गादिसुखेष्वपि बहुलो दुःखशल्यसंभेदः। अतएव विविच्य भुज्यन्तां तुषतण्डुलवद् इत्यशक्यम्। शक्यश्चायं, निर्वर्त्यत्वात्। स्वन्तश्च, अपराव त्तेः, अनर्थवासनाननुकूलाभिसन्धित्वाच्च** इति सज्जनाः विदाङ्कुर्वन्तु। यदि कण्टकादिविद्धजन्येषु दुःखेषु कि चिदपि सुखसंबन्धो वर्तते। अननुभवात् नैव तत्र सुखम्। अविदितसुखे मानाभावात्। ऐहिकदुःखेषु सुखाननुषङ्गं तथा सुखे दुःखानुषङ्ग च दर्शयित्वा पारलौकिकसुखेषु दुःखानुषङ्गं दर्शयति – अस्ति च स्वर्गादिसुखेष्वपि बहुलो दुःखरूपं यत् शल्यं *(वर्छीति)* शस्त्रविशेषरूपम् तस्य संभेदः प्रकारो स्ति। स्वर्गादिसुखस्य कार्यत्वेन क्षयित्वात् क्षयित्वनिबन्धनं तत्र दुःखम्, कर्मतारतम्यजन्यफलतारतम्यनिबन्धनं दुखं तत्र दुःखम्। परसम्पदुत्कर्षः हीनसम्पदं जनं दुःखाकरोतीति फलातिनिबन्धनं दुःखम् तत्रापि वर्तते।

ननु दुःखात्प थक् कृत्य सुखं भुज्यतामित्यत आह – **अत एव विविच्य भुज्यतां तुषतण्डुलवदित्यशक्यम्** इति। सुखस्य दुःखानुषङ्गस्य अवर्जनीयत्वादेव यथा तुषात् प थक् कृत्य तण्डुलो भुज्यते, तथा दुःखात् प थक्कृत्य सुखस्य भोगो न संभवति। सुखसमनियतत्वस्य दुःखसामग्र्यां सत्त्वेन सुखे दुःखानुषङ्गस्य प थक्करणासंभवात्।

ननु आत्यन्तिकदुःखनिव त्तेः असंभवेन सा न भवितुमर्हतीत्यत आह – **शक्यश्चायं, निर्वर्त्यत्वात्** इत्यारभ्य **तारतम्याभिसन्धित्वाद्** इत्यन्तम्। दुःखात्यन्ताभावः, दुःखध्वंसो वा निर्वर्त्यत्वेन कार्यत्वेन शक्यो न तु अशक्यः। आधिभौतिकाध्यात्मिकाधि–दैविकदुःखत्रयस्य ध्वंसः, तद्धेतुभूतमिथ्याज्ञाननाशस्य उपनिषज्जन्यतत्त्वज्ञानजन्यत्वेन शक्यः। दुःखात्यन्ताभावः दुःखप्रागभावश्च दुःखकारणविघटनेन साध्यः। ताद शतत्त्वज्ञानेन दुःखस्य सम्यग् नाशे पराव त्तिर्न भवति। अतो मोक्षे सति न पुनः दुःखम्। जन्मनः कारणं मूल च मिथ्याज्ञानं, तस्य तत्त्वज्ञानेन नाशे तज्जन्यवासनाया अपि नाशः, तथा च मिथ्याज्ञानजन्यवासनारूपः संसारः कथं संभवति? कारणाभावात्। अनर्थकारणीभूतायाः मिथ्याज्ञानजन्यवासनायाः प्रतिकूलाभिसन्धित्वात् न दुःखपुनराव त्तिः संभवति।

नित्यं तु सुखं न सत्यम्। योग्यानुपलम्भबाधितत्वात्। श्रुतिस्तत्र मानमिति चेत्, न। योग्यानुपलब्धिबाधिते तदनवकाशात्। अवकाशे वा ग्रावप्लवनश्रुतेरपि तथाभावप्रसङ्गात्। नापि काम्यं सदातनत्वात्। न हि यद्यस्यास्ति स तत् कामयते, भ्रान्तेरेवं, कण्ठस्थचामीकरवदिति चेत्, न। स्वसंवेद्ये तदभावात्। नापि शक्यम्। न हि तन्निर्वर्त्यं नित्यत्वात्। नापि विकार्यम्। अपरिणामित्वात्। नापि संस्कार्यमनाधेयातिशयत्वात्। न प्राप्यं नित्यसंबन्धवत्त्वात्। न ज्ञेयं ज्ञानस्यापि नित्यत्वात्। अनित्यत्वे वा शरीरादिकारणापाये तदनुत्पत्तेः। उत्पत्तौ वा तेषामकारणत्वप्रसङ्गात्। तथा च सर्वः सर्वदर्शी स्यात्। आत्ममनःसंयोगादेः सर्वत्राविशेषात्। ज्ञानज्ञेययो-र्नित्यत्वे पि तत्सबन्धो जन्यते, स च षट्पदार्थव्यतिरेकात् उत्पन्नो पि न निवर्तते ध्वंसवदिति चेत्, न। भावाभावयोः प्रकारान्तराभावात्। तत्र स नाभावः। प्रतियोग्यनुपपत्तेः। भावत्वे त्ववश्यमुत्पन्नो निवर्त्तेत उपाध्यन्तराभावात्। अविद्याविध्वंसनमेव तत्प्राप्तिरिति चेत्? अत्र न नो विवादः। न ह्येकविंशति-प्रभेदभिन्नदुःखव्यतिरिक्ता अविद्या नाम। तद्विध्वंसन च पुरुषार्थ इति प्रतिपादनादिति। दुरन्तं च तत्। तदभिसन्धेः सुखसंस्कारसहकारितया तदुद्भवे विशिष्टसुखाभिलाषिणो वैषयिके पि प्रव त्तिसंभवात्।

अलाभे मत्तकाशिन्या द ष्टा तिर्यक्षु कामिता। इति उदाहरणादिति।

[मुक्तेर्नित्यसुखात्मकत्वनिरासः]

पराभिमतस्यैव मोक्षस्य अपुरुषार्थत्वमित्याह – **नित्यत्वं तु सुखं न सत्यम्, योग्यानुपलम्भबाधितत्वात्** इति। आत्मनो नित्यानन्दस्वरूपस्य उपलब्धियोग्यत्वे (मानसप्रत्यक्षयोग्यत्वे) सति नित्यस्य सुखस्य अनुपलम्भात् नित्यस्य सुखस्य न

सत्यत्वम्। यदि नित्यं सुखं स्यात् तदा आत्मनि उपलभ्येत। नित्यस्य सुखस्य नाशासंभवेन तत्र आत्मनि अवश्यं सत्त्वं स्यात्। तत्र नोपलभ्यते अतो नित्यं सुखं नास्तीति।

ननु "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति श्रुतिः नित्यसुखे प्रमाणम्। ब्रह्मणो नित्यत्वेन ब्रह्मात्मकस्य सुखापरपर्यायस्य आनन्दस्य नित्यत्वादिति शङ्कते – **श्रुतिस्तत्र प्रमाणमिति चेत्?** इति। "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति श्रुतिः नित्यसुखे प्रमाणमिति नित्यसुखस्य श्रुतिसंवेद्यत्वेन न असंविदितत्वमिति चेत्? उत्तरयति – **न। योग्यानुपलब्धिबाधिते तदनवकाशात्। अवकाशे वा ग्रावप्लवनश्रुतेरपि तथाभावप्रसङ्गात्** इति। योग्यानुपलब्ध्या बाधिते नित्ये सुखे श्रुतेस्तत्र अनवकाशात् श्रुतेः नित्यसुखे न प्रामाण्यं मन्तव्यम्, किन्तु ब्रह्मणः स्तावकत्वम्। ननु अभिधया प्रतिपादिते वाच्यार्थे लक्षणा– नुपयुक्ता। तत्र सुखस्य अनुपलब्धिः कारणान्तरादपि संभवति। "अतिसामीप्यात् अतिदूरात् मनो नवस्थानाद्" इति सांख्ये सत्यपि वस्तुनि तस्य अनुपलब्धिः प्रतिपादिता इति चेत् अत आह – **अवकाशे वा ग्रावप्लवनश्रुतेः तथाभावप्रसङ्गात्** इति। यदि "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति श्रुतिबलात् नित्यं सुखम् अभिमन्यते, तदा "ग्रावाणः प्लवन्ते" इति श्रुत्या प्रस्तरस्य जले प्लवनमपि स्वीकर्तव्यम् स्यात्। अत उपलब्धिबाधितवस्तुप्रतिपादिकायाः श्रुतेस्तत्र प्रामाण्यस्य वारणायान्यत्र तात्पर्यं कल्पनीयम्। अतो लक्षणया ब्रह्मस्तावकत्वस्य विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इति श्रुतौ आवश्यकत्वात्। अन्यथा प्रत्यक्षबाधितार्थप्रतिपादकत्वेन तस्याः अप्रामाण्यापत्तेः। "यस्य प्रसादात् वारिधौ नलक तसेतुसमये ग्रावाणः अपि प्लवन्ते स ईश्वर एव रामः" इति ईश्वरस्तावकत्वमेव ग्रावाणः प्लवन्ते इत्यादिश्रुतेः मन्तव्यम्। श्रुतेः भूत–भविष्यत्–वर्तमान–पदार्थप्रतिपादकत्वेन राम ईश्वरो यस्य तस्य प्रसादात् ग्रावाणः समुद्रे प्लवन्ते इत्यस्य नाप्रामाण्यम्। नलस्य मुनिप्रसादो पि ईश्वरकृत एव। ईश्वरस्य कार्यमात्रं प्रति कारणत्वात्। एतेन नलस्य हस्तेन जले यत् पतेत् तत् प्लविष्यते इति मुनिप्रसादो स्येति रामं प्रति कथनात्। तत्र मुनिप्रसादः कारणम् इति न तस्या श्रुतेः ईश्वरस्तावकत्वमिति परास्तम्। ईश्वरस्य कार्यमात्रं प्रति कारणत्वेन ताद शप्रसादवशात् ग्रावाणां प्लवने तस्य कारणत्वात्। वेदस्य दुरूहत्वे नान्यदपि ताद शश्रुतेस्तात्पर्यमित्य–न्यदेतत्।

नित्यं सुखम् अभ्युपगम्यम्, तस्य मोक्षत्वं न संभवतीत्याह – **नापि काम्यम्, सदातनत्वात्।** अस्तु नित्यं सुखं त्वदभिलषितम्, तथापि तस्य न मोक्षत्वम्। मोक्षस्य काम्यत्वेन तस्य अकाम्यत्वात्। कथं न नित्यसुखस्य काम्यत्वमिति चेत्? न। तस्य नित्यस्य सुखस्य सदातनत्वेन अकाम्यत्वात्। जन्यं सुखं हि काम्यं भवति न तु नित्यं सुखम्। अनुत्पन्नं वस्तु कामयते जनः। किं वा अप्राप्यम्। नित्यं सुखं किमणुसद शमव्यापकं भवेत्? नित्यस्य तथात्वात्। मध्यमपरिमाणं तत्सद शं वा नित्यं

न भवति। घटादेः अनित्यत्वदर्शनात्। अणुपरिमाणकं परमाण्वादि तत्सद शं विशेषादि नित्यं तथा च महत्परिमाणकं आत्मादि नित्यम् द ष्टम्। एवं च नित्यस्य सुखस्य परमाणुसद शत्वे प्रत्यक्षानुपपत्तिः। प्रत्यक्षे महत्त्वस्य संबन्धस्य वा कारणत्वात्। अन्यथा परमाण्वादेः प्रत्यक्षत्वापत्तेः। नहि प्रत्यक्षभिन्नज्ञानेन वस्तु काम्यं भवति। स्वर्गादिसुखस्य प्रत्यक्षत्वमनुमायैव काम्यत्वात्, नान्यथा। यदि नित्यसुखस्य व्यापकसद शत्वं तदा तस्य व्यापकाप्राप्यत्वाभावान्न काम्यत्वम्। एवम् अप्रामाणिकनित्य–सुखस्वीकारे पि न तस्य मोक्षत्वं संभवति। अकाम्यत्वादिति हृदयम्।

ननु योगिनः सर्वप्रत्यक्षवत्त्वेन अणुपरिमाणसद शं नित्यं सुखं कामयन्ते इति चेत्? न। मोक्षस्य योगिभिरयोगिभिः सर्वैः काम्यत्वेन नित्यसुखरूपमोक्षस्य सर्वकाम्यत्वोपपत्तेः। ननु नित्यं सुखं ब्रह्म कामयते इत्यत आह – **न हि यद् यस्यास्ति स तत् कामयते** इति। नित्यं सुखं ब्रह्मणो स्त्येवेति तस्य कामनायाः ब्रह्मणि कल्पयितुमशक्यत्वात्। यस्य जनस्य यद् वस्तु नास्ति तद् वस्तु स कामयते = इच्छति। अप्राप्तस्य प्राप्तुं योग्यस्य च इच्छा भवति। अलभ्यं लब्धुं लोका यतन्ते। किं च पूर्णकामस्य ब्रह्मणो नित्यसुखकामनापि न संभवति। अन्यथा तस्य अपूर्णत्वापत्तेः। पूर्णमित्यादि श्रुत्या तस्य पूर्णकामत्वात्।

शङ्कते – **भ्रान्तेरेव, कण्ठचामीकरवदिति चेत्** इति। कण्ठगत–चामीकरस्य (सुवर्णस्य, सुवर्णानिर्मितभूषणस्य वा) विद्यमानत्वे पि कश्चिद् यथा तत् प्रार्थ्यते, तथा नित्यानन्दरूपत्वे पि आत्मनः तदभावभ्रान्त्या तत्प्रार्थना युक्तेति तस्यापि नित्यसुखस्य काम्यत्वमुपपद्यते इति चेत्? उत्तरयति – **न। स्वसंवेद्ये तदभावात्** इति। स्वसंवेद्य एव आनन्दरूपात्मा इत्येवं वदतां परेषां (वेदान्तिनाम्) नित्यत्वसंवेदनेन तद्विपरीतासत्त्वारोपानुपपत्तेः। न हि तत्त्वे स्फुरति तद्विपरीतासत्त्वसमारोपसंभव इति। आत्मनः वेदान्तिमते स्वप्रकाशत्वेन आनन्दरूपे ब्रह्मणि नित्यसुखस्यापि प्रकाशितत्वेन तदारोपस्य तत्र असत्त्वेन तस्य काम्यत्वानुपपत्तेः। न हि तत्स्फुरणे तदारोपो भवति। अन्यथा घटादिसत्वे पि घटाद्यारोपापत्तेः। कि च ब्रह्मणो भ्रमत्वकल्पनमपि न युक्तम्। अन्यथा जीवत्वापत्तेः। भ्रमप्रमादादिशून्यत्वं हि ब्रह्म। भ्रमो पि तत्रारोप्यते इति न युक्तम्। तदारोपे नित्यसुखस्य दुराग्रह एव मूलम् नान्यदिति पश्यामि। तव मते ब्रह्मणो नित्यमुक्तत्वात् नापि मोक्षेच्छा तस्य संभवति। न त्वाग्रहेण वस्तु सिद्ध्यति। अन्यथा गर्दभो पि घोटकः स्यात्।

ननु भवतु कथचित् नित्यं सुखं काम्यं (तथापि) प्रयत्नविषयत्वात् तत् पुरुषार्थ इत्यत आह – **नापि शक्यम्, न हि निर्वर्त्यं, नित्यत्वात्।** नित्यं सुखं कर्तुं न शक्यम्। येन यत्नविषयत्वात् तस्य पुरुषार्थत्वं सिद्ध्येत्। न हि तत् = नित्यसुखं निर्वर्त्यं घटादिवत् यत्नसाध्यम्। तस्य नित्यत्वेन त्वया अभ्युपगमात्। न हि नित्यं निर्वर्त्यं कार्यं यत्नसाध्यं भवति। नित्यत्व–निर्वर्त्यत्व(कार्यत्व)योः परस्परविरोधात्।

निर्वर्त्यं हि कामयते वैषयिकसुखवत्। इदं नित्यसुखं न निर्वर्त्यं नित्यत्वात्।

ननु नित्ये सुखात्मके ब्रह्मणि सुखयोग(संबन्ध)विधिना कथंचिद् विकार आधीयते, येन मोक्षो विधास्यते इत्यत आह – **नापि विकार्यम्, अपरिणामित्वात्** इति। न नित्ये सुखात्मके ब्रह्मणि विकार्यम् = विकारित्वम्, ब्रह्मणो अपरिणामित्वात्। यथा दुग्धं दधिरूपेण विपरिणमते, किं वा सुवर्णं कटकादिरूपेण विपरिणमते तथा ब्रह्म सुखरूपेण परिणमते इति कार्यत्वम् घटादिवत् काम्यं स्यादिति कथयितुं न शक्यते। ब्रह्मणो नित्यत्वेन तस्य अपरिणामित्वात्। अन्यथा अनित्यत्वापत्तेः। परिणाम एव विकारः।

ननु सुखात्मकं ब्रह्म संस्कार्यमस्तु। तथा च सुखस्य काम्यत्वम् उपपद्यते इत्यत आह – **न संस्कार्यम्, अनाधेयातिशयत्वात्** इति। ब्रह्म न संस्कार्यम्। तव मते (वेदान्तिनो मते) ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वेन अनाधेयातिशयत्वात्। यो तिशयः, यो विलक्षणः आधेयो भवति तस्य संस्कार्यम्। ब्रह्मणि न को पि आधेयः, निर्धर्मकत्वात्। ननु प्राप्यं सुखात्मकं ब्रह्मेति तस्य नित्यसुखस्य काम्यत्वमित्यत आह – **न प्राप्यम्, नित्यसंबन्धत्वात्** इति। सुखं न प्राप्यं कर्म येन काम्यं स्यादिति। आनन्देन सह ब्रह्मणो नित्यतादात्म्यसंबन्धात्, न प्राप्यं कर्म सुखं (ब्रह्म) भवितुमर्हति।

ननु सुखात्मकं ब्रह्म ज्ञेयं कर्म इति सुखस्य काम्यत्वमुपपन्नम्। कर्मणः काम्यत्वाद्, अत आह – **न ज्ञेयम्, ज्ञानस्यापि नित्यत्वात्** इति। असंबन्धे संबन्ध इति ज्ञानसंबन्धाच्च ज्ञेयं कर्म भवति। तच्च ब्रह्मणि न संभवति। वेदान्तिमते आत्मनो ज्ञानात्मकत्वेन ब्रह्म नित्यतया ज्ञानस्यापि नित्यत्वमिति ज्ञान–ब्रह्मणोः नित्यतादात्म्य–संबन्धात्। न हि ब्रह्म ज्ञेयं कर्म संभवति। किंच ज्ञानविषयस्य जड़त्वेन ब्रह्मणो ज्ञानविषयत्वे जड़त्वापत्तिः। यो यो ज्ञानविषयः, स स जड़ इति व्याप्तिः वेदान्तिभिः स्वीक्रियते।

ननु अनित्यमेव ज्ञानं तत्रास्तु इति। तेन सह ब्रह्मसंबन्धात् ज्ञेयत्वं कर्म उपपन्नमित्यत आह – **अनित्यत्वे वा शरीरादिकारणापाये तद् अनुत्पत्तेः। उत्पत्तौ वा तेषामकारणत्वप्रसङ्गात्। तथा च सर्वः सर्वदर्शी स्यात्। आत्ममनःसंयोगादेः सर्वत्राविशेषात्** (क्रियाविशेषनियमाभावात्) इति। ब्रह्मणो ज्ञानमनित्यम् इति न कथयितुं शक्यते, ब्रह्मणः शरीराभावेन इन्द्रियादेरभावात्। ज्ञानस्य तत्रानुत्पत्तेः। न हि कारणं विना कार्यमुत्पद्यते, अतिप्रसङ्गात्। जन्यज्ञानं प्रति शरीरादेः कारणत्वात्। शरीरादिकं विनापि ज्ञानस्योत्पत्तौ व्यतिरेकव्यभिचारेण ज्ञानं प्रति शरीरादेः अकारणत्वापत्तेः। न च इष्टापत्तिः। तथा सति सर्वः जनः सर्वदर्शी = सर्वज्ञः स्यात्। आत्मनो व्यापकत्वेन सर्वपदार्थेन सह आत्ममनःसंयोगादेः ज्ञानकारणस्य सत्त्वात्। मोक्षे पि आत्म–मनः–संयोगस्य विद्यमानत्वेन आत्ममनः संयोगतद्व्यभिचाराभावेन ज्ञानतत्कारणात् तन्नियमेन ज्ञाननियमः। आत्ममनःसंयोगादेः विषयविशेषनियमाभावात्।

ज्ञानमात्रं प्रति तस्य कारणत्वात्। शङ्कते – **ज्ञान- ज्ञेययोः नित्यत्वे पि तत्संबन्धो जन्यते। स च षट्पदार्थव्यतिरेकाद् उत्पन्नो पि न निवर्तते, प्रध्वंसवदिति चेत्?** इति।

ननु "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति श्रुत्या ज्ञानानन्दयोः उभयोः नित्यत्वे पि विषयविषयिणोः ज्ञानसुखयोः सम्बन्धो नित्यः, तस्य जायमानत्वात्। स च संबन्धः द्रव्यादिषट्पदार्थभिन्नाद् उत्पन्नो पि निवर्तते = नश्यति। तथा च तत्संबन्धनाशदशायां संसारापत्तिरिति चेत्? न। ध्वंसस्य जायमानत्वेन अनित्यत्वे पि तन्नाशो यथा न भवति तथा तत्संबन्धस्य नाशो न भवतीति न मुक्तस्य पुनः संसारापत्तिरिति। ज्ञानसुखयोरनित्यसंबन्धात् ज्ञेयं कर्म सुखम् आत्मा वेति चेत्?

उत्तरयति – **भावाभावयोः प्रकारान्तराभावात्। तत्र स नाभावः, प्रतियोग्यनुपपत्तेः। भावत्वे तु अवश्यमुत्पन्नो निवर्तते, उपाध्यन्तराभावात्** इति। स च ज्ञानसुखसम्बन्धो भावो भावो वा? भावभिन्नपदार्थाभावात्। यदि प्रतियोगिरूपः स संबन्धः तर्हि प्रतियोगी उपलभ्येत, नोपलभ्यते, अतः स प्रतियोगी नास्तीति निष्प्रतियोगिको नाभाव इति, स ज्ञानसुखसंबन्धो नाभावः। यदि सः संबन्धो भावरूपः स्यात् तर्हि उत्पन्नो भावो निवर्तेत एवेति तस्य संबन्धस्य नाशदशायां मुक्तस्य पुनः संसारापत्तेः दुर्वारत्वात्। अतः ज्ञानविषयत्वं ज्ञेयकर्मत्वं न नित्यसुखस्येति न तस्य काम्यत्वमिति नित्यसुखस्य मोक्षत्वमितिवादिनां मोक्षस्य अकाम्यत्वापत्तिः दुर्वारेति विज्ञेयम्। न च स च संबन्धो खण्डोपाधिः तस्य अनाशात् नोक्तदोष इति वाच्यम्। तस्य अखण्डोपाधित्वे प्रमाणाभावेन तत्कथयितुम् अशक्यत्वात्।

ननु ज्ञाननित्यसुखयोः संबन्धो ध्वंस एव। स च न विनाशीति नोक्तदोष इति। शङ्कते – **अविद्याविध्वंसनमेव तत्प्राप्तिरिति चेत्?** इति। आत्मनो या अविद्या अज्ञानरूपा भावरूपा च तस्या ध्वंस एव नित्यसुखेन सह ज्ञानस्य संबन्धः। स च जन्यो पि अविनाशीति न पुनर्मुक्तस्य संसारापत्तिरिति ज्ञानं प्राप्यं कर्म नित्यसुखे वर्तते इति। प्राप्यकर्मत्वात् तस्य काम्यत्वमुपपन्नमिति चेत्? उत्तरयति – **अत्र न नो विवादः** इति। नः अस्माकम् अविद्याध्वंस एव ज्ञाननित्यसुखयोः संबन्ध इत्यत्र न विवादः। ममेष्टसिद्धेः। एकविंशतिभेदभिन्नदुःखात्मिका चेद् अविद्या तद्ध्वंसस्य पुरुषार्थत्वम् अस्मदभिमतमेवेति दर्शयति – **नास्ति तर्ह्येकविंशतिविधदुःखव्यतिरिक्ता अविद्या नाम। तद्विध्वंसनं च पुरुषार्थ इति प्रतिपादनादिति** इति। एकविंशतिप्रकारकं यद् दुःखं तदतिरिक्ता अविद्या नास्ति। किन्तु तत्स्वरूपा च एवेति अविद्याध्वंस–दुःखध्वंसयोः समानार्थकत्वेन ममेष्टसिद्धेः। दुःखध्वंसो मोक्ष इति मया उच्यते। किन्तु एकार्थप्रतिपादकशब्दयोरभेदः इति शब्दभेदस्य घटकलसयोरिव एकार्थत्वेन अकिचित्करत्वात्। षडिन्द्रियाणि (चक्षुः–श्रौत्र–घ्राण–जिह्वा–त्वक्–मनांसि) षड्विषयाः (रूपादयः प च मनसो विषयाः द्रव्यादयो पि) षड्बुद्धयः (चाक्षुष– श्रौत्र–घ्राणज–

रासन–त्वाच–मानसाश्चेति भेदाः) शरीरं सुखं दुःखं च इत्येकविंशतिप्रभेदभिन्नमेव (दुःखं यथा **न्यायवार्त्तिकम्**) अविद्या। दुःखोच्छेद एव अविद्याविध्वंसनम्। ततश्च अविद्याविध्वंसनरूपज्ञानज्ञेयप्राप्तेरेव पुरुषार्थत्वं वदता दुःखोच्छेदस्य एव पुरुषार्थत्वमिति प्रतिपादने नास्ति विवाद इति **नारायणभट्टः। मिश्रा**स्तु एकविंशतिभेदभिन्ना दुःखात्मिका चेत् अविद्या तद्विध्वंसनस्य पुरुषार्थत्वम् अस्मदभिमतमेवेत्याह – **नहीति।** नित्ये ज्ञाने सुखे च प्रमाणमेव नास्ति, योग्यानुपलब्धिनिरस्तत्वादिति भाव इति वदन्ति।

महत्प्रयासेन भवति अविद्याया विध्वंसनम्। तदुक्तं **खण्डनखण्डखाद्ये** यद्विचित्रमेवाह ***अनेकजन्मसंसिद्ध्या विचित्रमेव जायते***। इत्यत आह – **दुरन्त च तत्** इति। अविद्यायाः विध्वंसनं दुरन्तं च। दुः अन्तं विध्वंसनं यस्या अविद्यायाः तदिति विग्रहः। नित्यसुखाभिलाषिणो विषयसुखेष्वपि अभिलाषः स्यात्, तस्य सुखाभिलाषित्वात्। स च मुक्तिविरोधी। आत्यन्तिकदुःखनिव त्तिर्मोक्ष इतिवादिनो मम तु नोक्तदोषः। सांसारिकसुखस्य दुःखसंयुक्तत्वेन तदभिलाषाया अभावाद्। आत्यन्तिकी–दुःखनिव त्तिः दुःखसंश्लिष्टं सुखं च उभौ परस्परविरोधिनौ। अभावस्य प्रतियोगिना सह विरोधात्। कि च सुखाभिलाषसत्त्वे संसारे न विरागः। आत्यन्तिकदुःख–निव त्तिमिच्छतस्तु ऐहिकपारलौकिषु सुखेषु विराग इति। वैराग्यसहितस्य आत्मसाक्षात्कारस्य मोक्षं प्रति कारणत्वात्। नित्यसुखाभिलाषिणो मुक्तत्वाभाव इति ह्रदयम्। एतत्सर्वं मनसिकृत्याह – **तदभिसन्धेः सुखसंस्कारसहकारितया तदुद्भवे विशिष्टसुखाभिलाषिणो वैषयिके पि प्रव त्तिसंभवात्। "अलाभे मत्तकाशिन्या द ष्टा तिर्यक्षु कामिता" इत्युदाहरणात्** इति। नित्यसुखकाम्यत्वाभिसन्धेः = स्मरणस्य, पूर्वविषयानुभवजन्यसुखसंस्कारसहकारिकारणकत्वेन नित्यसुखस्य उद्भवे = उत्पत्तौ विशिष्टसुखाभिलाषिणो जनस्य वैषयिके पि = स्रक्चन्दनवनितादिरूपविषयजन्य–सुखे पि प्रव त्तिसंभवात्। पूर्वविषयजन्यसुखानुभवसंस्कारस्य विद्यमानत्वेन सुखार्थिनो वैराग्याभावेन च विषयजन्यसुखे प्रव त्तिसंभवात्। वैराग्यापूर्णत्वाच्च। अत्रोदाहरणम् "मत्तकाशिन्या स्त्रिया अलाभे तिर्यक्षु पक्षिणीषु (उपलक्षणमिदं, पश्वादिस्त्रीषु) कामिता द ष्टा" इति। अतो नित्यसुखस्य न मोक्षत्वम्। तत्र प्रमाणाभावात्। वैषयिकसुखे प्रव त्तिसंभवात्। सुखाभिलाषिणः कुतो विरागः? अतो दुःखनिव त्तिः आत्यन्तिकी मोक्ष इति सिद्धम्।

स्यादेतत्, आत्मा तु किं स्वप्रकाशसुखस्वभावो न्यथा वेति प च्छामः। श्राद्धो सि चेदुपनिषदः प च्छ। मध्यस्थो सि चेत्, अनुभवं प च्छ। नैयायिको सि चेत् न वैषयिकसुखज्ञानस्वभाव इति निश्चिनुयाः। तदतिरिक्ते तु सुखज्ञान-व्यवहारे बीजाभावात् तद्व्यवहाराभावः। अनुग्रहाभिष्वङ्गेन्द्रियप्रसादादिलक्षणं हि कार्यं तद्व्यवहारबीजम्, अर्थप्रवणत्वं स्म तिसंस्कारादिकार्यं ज्ञानव्यवहारादि-बीजं लोके, तदभावश्चात्मनीति।

[आत्मस्वभावकथनम्]

पर(वेदान्ति)सिद्धान्तवद् आत्मनः स्वप्रकाश—सुखस्वभावत्वे मोक्षस्य यथोक्तप्रकारानुपपत्तेः (आत्यन्तिकदुःखनिव त्तिरूपत्वस्य मोक्षे अनुपपत्तेः विरोधिनः सुखस्य आत्मनि सत्त्वात्); तत्(आत्म)स्वरूपप्रश्नम् आशङ्कते — **स्यादेतत्, आत्मा तु किं स्वप्रकाशसुखस्वभावो न्यथा वेति प च्छामः** इति। **मिश्रास्**तु 'सुहृद्भावेन प च्छति **आत्मेति।** प्रतिभाबलेन त्वया आत्मनः नित्यसुखस्वाभाव्ये निरस्ते पि न मम संशयोच्छेद इति भाव इति' वदन्ति। आत्मा किं स्वप्रकाशस्वभावः सुखस्वभावः किं वा तदन्यस्वभावो वेति वयं संशयवन्तः प च्छामः। "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यस्य त्वया अन्यार्थकरणत्वात् भवति मम सन्देहः आत्मा सुखस्वभावः स्वप्रकाश—स्वभावो न्यथा वेति। प्रतिवक्ता (उत्तरदाता) तु प्रष्टुः (प्रश्नकर्तुः) स्वरूपं त्रेधा विकल्प्य प्रथमद्वितीयाभ्यां न वयं प्रष्टव्याः, उपनिषदनुभवावेव प्रष्टव्यावित्याह — **श्राद्धो सि चेत् औपनिषदं प च्छ। मध्यस्थो सि चेत् अनुभवं प च्छ, नैयायिको सि चेत् न वैषयिकसुखज्ञानस्वभाव इति निश्चिनुया** इति। तत्त्वावगमे (पदार्थानां तत्त्वावगमे) प्रमाणपारतन्त्र्यं विहाय श्रद्धामात्रपरतन्त्रो सि यदि त्वम् आत्मस्वरूपे प्रश्नकर्ता चेत् तर्हि आपातत आत्मनः स्वप्रकाशसुखप्रतिपादिकाम् उपनिषदं प च्छेति। यदि न उपनिषदि श्रद्धामात्रपरतन्त्रो पि किन्तु मध्यस्थः, उपनिषत्सूदासीनः, तर्हि आत्मविषयकं स्वानुभवं प च्छेति। नच अनुभवेन आत्मनः सुखज्ञानस्वभावत्वमनुभूयते इति भावः। अहं सुखी, अहं जाने इत्यनुभवेन आत्मनि तदुभयवत्ता प्रतीतेः। मध्यस्थस्य स्वपक्षरागो नुचितः। स्वपक्षरागे सति मध्यस्थत्वानुपपत्तेः। यदि नैयायिको सि चेत्, तर्हि अहं सुखी, अहं जानामीति वैषयिकसुखज्ञानयोः आत्मधर्मतयानुभवात्। अनुभवस्तावत्, आत्मनः सुखात्मकत्वज्ञानात्मकत्वविरोधी आधाराधेययोरैक्ये आधाराधेय—भावानुपपत्तेः, घटो घटवानित्यप्रतीतेः। आत्मनः ज्ञानस्वरूपत्वे अहं ज्ञानवान् इत्यनुभवविरोधः। तस्य सुखस्वरूपत्वे अहं सुखीत्यनुभवविरोधश्च। स्वस्मिन् आधाराधेयभावाभावात्। कि च वैषयिकसुखज्ञानयोः विषयजन्यत्वेन अनित्यत्वमिति नित्यस्य आत्मनः तत्स्वरूपत्वे न्यायविरोधः। न नित्यो अनित्यस्वभावः। नित्यत्वानित्यत्वयोः परस्परविरोधात्। तयोः सहानवस्थानत्वम्। अतो न वैषयिकसुखज्ञानस्वभाव आत्मा। नित्यस्य सुखस्य ज्ञानस्य अनुपलब्ध्या तयोरभावात्। अतो न नित्यज्ञानस्वरूपत्वं नित्यसुखस्वरूपत्वं च आत्मन इति निश्चिनुयाः = निश्चयं कुरु।

नन्वागमविरुद्धो यं न्यायः न प्रमाणं भवितुमर्हति। आगमस्य सर्वतो बलवत्त्वात्। आगमेन नित्यस्य ज्ञानस्य सुखस्य च प्रतिपादनात् नित्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति आगमे द ष्टत्वात् ब्रह्मात्मनोरैक्यात्। अतः तदतिरिक्त(विषयजन्यसुखज्ञानातिरिक्त) सुखज्ञानस्वभावत्वमेवात्मनो स्वरूपम् इति वेदान्ती इष्यते इत्यत आह — **तदतिरिक्ते तु सुखज्ञानव्यवहारबीजाभावात् तद्व्यवहाराभावः** इति। विषयजन्यात् सुखात्

ज्ञानाच्च भिन्ने नित्ये सुखे ज्ञाने च सुखज्ञानव्यवहारयोः बीजस्य अभावात्। नित्ये सुखे ज्ञाने च सुखव्यवहाराभावः ज्ञानव्यवहाराभावः।

कथं नित्ये सुखे सुखव्यवहारबीजाभावः नित्ये ज्ञाने च ज्ञानव्यवहारबीजाभाव इत्यत आह – **अनुग्रहाभिष्वङ्गेन्द्रियप्रसादादिलक्षणकार्यं हि तद्व्यवहारबीजम्। अर्थप्रवणत्वस्म तिसंस्कारादिकार्य च हि तद् बीजं लोके, तयोश्चाभाव आत्मनि** इति। अनुकूलेषु सुखजनकेषु वस्तुषु अङ्गस्य संबद्धेषु इन्द्रियसंबद्धेषु सुखादिर्भवति। तथा च प्रसादादिलक्षणकार्यं सुखव्यवहारे बीजम् = कारणम्। अर्थप्रवणत्वम् अर्थस्म तिः अर्थसंस्कारश्च ज्ञानस्य कार्यं ज्ञानव्यवहारे बीजं, ताद श कार्यं द श्यते। शरीरस्येन्द्रियस्य च अशरीरिणि आत्मनि अभावात् कथं तत्र नित्यं सुखं ज्ञानं च भवेत्? सुखव्यवहारकारणस्य ज्ञानव्यवहारकारणस्य च पूर्वोक्तस्य नित्ये सुखे ज्ञाने च अभावात्। न हि कारणं विना कार्यं भवति। तथा च सुखज्ञानव्यवहारकारणाभावात् ताद शसुखज्ञानयोः अमन्तव्यत्वमिति हृदयम्। **मुक्तावल्याम्** आत्मप्रकरणे **विश्वनाथेन** ज्ञानतत्त्वं सुखतत्त्वं साधितं, तत्र द्रष्टव्यम्। सुखज्ञानयोः ब्रह्मात्मकत्वादेव नित्यत्वं तदसत्वे कथं नित्यत्वं सेत्स्यति इत्यनित्यत्वमेव। साधारणतया आत्मनः परमेश्वरस्य ज्ञानेच्छायत्ना भवन्ति, न तु सुखम्। तच्च ज्ञानं नित्यमनित्यं वेत्यन्यदेतत्।

तस्मात्-

श्रुतेः श्रुत्वा त्मानं तदनु समनुक्रान्तवपुषो
विनिश्चित्य न्यायादथ विहतहेयव्यतिकरणम्।
उपासीत श्रद्धाशमदमविरामैकविभावो
भवोच्छित्यै चित्तप्रणिधिविहितैर्योगविधिभिः।।

उपास्यमाने च तस्मिन् प्रथमं बहिरर्था एव भासन्ते, यानाश्रित्य कर्ममीमांसोपसंहारः, चार्वाकसमुत्थानं च। तत्प्रतिपादनार्थं च 'पराचि खानी'त्यादि। तद्धानाय 'परं कर्मभ्य'इत्यादि। अथार्थाकारः यमाश्रित्य त्रैदण्डिकमतोपसंहारः, योगाचारसमुत्थानं च तत्प्रतिपादनार्थ'मात्मैवेदं सर्वमि'त्यादि तद्धानार्थ'मगन्धमरसमि'त्यादि। अथार्थाभावः, यमाश्रित्य वेदान्तद्वारमात्रोपसंहारः शून्यनैरात्म्यसमुत्थानं च तत्प्रतिपादनार्थ'मसदेवेदमग्र आसीदित्यादि' तद्धानार्थ'मन्धंतमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जना' इत्यादि। ततो विवेकं यमाश्रित्य सांख्यमतोपसंहारः शक्तिसत्त्वसमुत्थानं च। तत् प्रतिपादनार्थं 'प्रकृतेः परस्तादित्यादि तद्धानाय नान्यत् सदि'त्यादि। ततः केवल आत्मा प्रकाशते यमाश्रित्याद्वैतमतोपसंहारः, तत्प्रतिपादनार्थं 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेति', सा चावस्था न हेया। तत्प्रतिपादनार्थं

'न पश्यतीत्याहुरेकीभवतीत्यादि' तद्धानार्थं 'नाद्वैतं नापि द्वैतमित्यादि'। ततः समस्तसंस्काराभिभवात् केवलो पि न विकल्प्यते, यमाश्रित्य चरमवेदान्तोपसंहारः। मोक्षनगरगोपुरायमाणत्वात्। निर्वाणं तु तस्याः स्वयमिव यमाश्रित्य न्यायदर्शनोपसंहारः तत्प्रतिपादनार्थमथ 'यो निष्काम आत्मकाम आप्तकामः स ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति तत्रैव समवलीयन्त'इत्यादीनि। तस्मादभ्यासकामो प्यपद्वाराणि विहाय द्वारैरेव प्रविशेत् यतो मार्गविमार्गसंमोहमाशङ्कमानैरुच्यते 'लक्ष्येण धनुषां योग' इति।

[आत्मोपासनोपसंहारः]

एवं तावद् देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तं नित्यम् आत्मानं प्रसाध्य, ईद शस्य च मोक्षाख्यपरमपुरूषार्थसाधनत्वात् उपादेयत्वम्, अस्य च उपादाने देहेन्द्रियाद्यनात्म–विवेकज्ञानात् मोक्षसिद्धिः इत्यत्रापि न्यायागमौ प्रमाणमित्युक्त्वा न्यायस्वरूपं चोपपाद्य, आगमस्वरूपं चोक्त्वा आगमप्रामाण्यं चाप्तोक्तत्वेन तदुक्तत्व च विश्वकर्तुरनुमान–सिद्धत्वादिति सर्वज्ञं तावत्प्रसाध्य तत्प्रणीतत्वं च वेदस्य महाजनपरिग्रहेण प्रसाध्य वेदे पि आत्मविषयीभूतार्थवादभागस्य आत्मनः फलं तस्य च मोक्ष इत्युक्त्वा प्रसङ्गात् मोक्षस्वरूपं मोक्षतदुपयोगित्वेन च आत्मस्वरूपं चोपवर्णितम्। इदानीं न्यायागमाभ्या–मात्मज्ञानस्य मोक्षोपायत्वसिद्धेः मोक्षार्थी श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति विधित्रयविहितश्रवणादिभिः उपायैः क्रमेण आत्मानम् उपासीत इत्युपसंहरन्नाह – **तस्मात्** -

> **श्रुतेः श्रुत्वात्मानं तदनु समनुक्रान्तवपुषो**
> **विनिश्चित्य न्यायादथ विहतहेयव्यतिकरम्।**
> **उपासितश्रद्धाशमदमविरामैकविभवो,**
> **भवोच्छित्यै चित्तप्रणिधिविहितैः योगविधिभिः।।** इति।

इदानीं दर्शनात्मकैकवाक्यतां दर्शयितुं प्रतिपत्तिचतुष्टय–(प्रत्यक्षानुमानो–पमानशाब्द)उत्पादनक्रममुपपादयति **श्रुतेरिति मिश्राः**। श्रुतेः = वेदात् उपनिषत् प्रप चात् आत्मानं श्रुत्वा, तदनु = वेदात् आत्मश्रवणानन्तरम्, तदनुसारेण (वेदानुसारेण) वा, समनुक्रान्तम् = असम्भवानादिविप्लवराहित्येनोपक्रान्तम्, आश्रयासिद्धि–व्यभिचारादिदोषराहित्येन उपक्रान्तम्, वपुः शरीरं यस्य एताद शन्यायात्, विहतः = नष्टः हेयस्य त्याज्यस्य व्यतिकरः = संबन्धो यस्मिन् (आत्मनि) एताद शम् आत्मानं विनिश्चित्य = विशेषेण निश्चयं कृत्वा, चित्तप्रणिधिविहितैः = चित्तस्य प्रणिधिः = एकाग्रता, तस्याः विहितः विधानं यत्र तैः = योगविधिभिः; योगस्य चित्तव त्ति–निरोधस्य विधयः प्रकाराः तैः श्रद्धा = आत्मनि योगशास्त्रे वा श्रद्धा, शमः, दमः, योगशास्त्रप्रसिद्धः, विरामः वैराग्यम् चेति। श्रद्धाशमदमविरामाः ते एके असाधारणानि कारकाणि, ते एव विभवाः संपत्तयः यस्य पुरुषस्य सः पुरुषः, आत्मनि श्रद्धावान्

योगशास्त्रविहितशमदमवान्, तान्येव असाधारणकारणानि, तान्येव विभवः धनानि, तद्वान् पुरुषः। अथवा श्रद्धावान् शमदमादिभ्यां विरामः विश्रान्तिः स एव विभवः तद्वान् पुरुषः भवोच्छित्यैः = संसारस्य नाशाय उपासीत। श्रद्धावान् शमदम–विरामसाधारणविभववान् पुरुषः योगशास्त्रविहितप्रकारैः चित्तैकाग्र्यं कृत्वा आत्मानम् उपनिषद्–वेदान्तवाक्यात् श्रुत्वा, असिद्ध्यादिदोषरहितात् न्यायात् विहतहेयव्यतिकरम् असन्दिग्धम् आत्मानम् संसारस्य नाशाय (मोक्षाय) उपासीत। आत्मन उपासनं कुर्यात् इत्यर्थः।

नारायणी – श्रुतेरिति। अस्मिन् **आत्मतत्त्वविवेकाख्ये** प्रकरणे निरूपितशरीरात् श्रुतेः = वेदान्तवाक्यात् आत्मानं श्रुत्वा तदनुसारेण, समनुक्रान्तम् = असंभावनादिविप्लवराहित्येनोपक्रान्तं वपुः = शरीरं यस्य, तस्मात् न्यायात् विहतहेयव्यतिकरम् = श्रुत्यवगतात्मानम् असंभावनाविपरीतसंभावनाव्युदासेन एवमेवेति निश्चित्य एताद शस्यात्मनो निश्चयं कृत्वा, अनेन श्रुतेर्न्यायस्य च निश्चयजनकतया फलाधिक्यं दर्शितम्। एवं श्रवणमननाभ्यां (श्रुत्याः श्रवणेन न्यायात् मननेन च) हेयशरीरादिव्यतिरिक्तात्मलाभाद् विहतव्यतिकरम् यथा स्यात् तथेति क्रियापदम्, अथवा आत्मनो विशेषणम्। श्रद्धाशमदमविरामैकविभवः, (कर्तुर्विशेषणम्) एकः विभवः सामग्री यस्य स इत्यनेन अधिकारी आत्मोपासकः सूचितः। शमः बाह्येन्द्रियनिग्रहः, स्व–स्व–विषयात् निवर्तनम्। दमो मन–इन्द्रिय–निग्रहः,निवर्तनम्। विरामः = विषयविरतिः विषयेषु = स्रक्चन्दनविनिताषु विरागः। भवोच्छित्त्यै = संसारमोक्षाय, चित्तप्रणिधिविहितैः क तैः चित्तस्य मनसः प्रणिधिः प्रणिधानम् = चित्तैकाग्रम् निरिन्द्रियप्रदेशावधानम् तदर्थं कृतैः (एतेन श्रद्धाशमदमादीनां दौर्लभ्यं निरस्यते) योगविधिभिः योगप्रकारैः; स च योगशास्त्रे उपदिष्टो ग्राह्यः। अत एवोक्तं गौतमेनापि "तं गुरु–शिष्य–सब्रह्मचारिभिः श्रेयो र्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयादिति" (अ.४ आ.२ सूत्र. ४२।)

"आत्मानमुपासीत" आत्मविषयकसाक्षात्कारसिद्ध्यर्थम् आत्मानं ध्यायेद् इत्यर्थः इति। अत्र मोक्षनगरं प्रवेष्टुकामस्य आत्मोपासितुः बहूनि अपद्वाराणि मोक्षानङ्गशास्त्र–तदाभासालम्बनानि संभवन्ति। तदुपहितचेताः तत उपहितचेतना अपद्वाराणि विहाय द्वारैरेव प्रविशेदिति वक्ष्यन् अपद्वाराणि तन्मूलानि च शास्त्रतदाभासान्याह – **उपास्यमाने तस्मिन् प्रथमं बहिरर्था एव भासन्ते यान् आश्रित्य कर्ममीमांसोप- संहारः, चार्वाकसमुत्थान च, तत्प्रतिपादनार्थं "पराचि खानि" इत्यादि, तद्धानार्थं "परं कर्मभ्य" इत्यादि** इति। **मिश्रास्**तु – ननु दर्शनानां वैमत्यात् कथमात्मन उपासना स्यात्? इत्यत आह – **उपास्यमान** इति। आत्मश्रवणार्थं जैमिनिमहर्षिणा श्रुतावनुस्रियमाणायां कर्मकाण्डप्रतिपादिका एव श्रुतयः "प्रथमं प्राप्ताः ग्रामकामो यजते, पशुकामश्चित्रया यजेत" इत्यादिदर्शनात् ग्रामपश्वादयो बहिरर्थाः कथं

स्युरित्याकाङ्क्षायां कर्ममीमांसा प्रणीता न तु ब्रह्मकाण्डे अस्य औदासिन्यमित्याह – **बहिरर्था** इति वदन्ति। **बहिरर्था** इति। इन्द्रियाणां स्वरसतः (स्वभावतः) बहिर्वृत्ति–मत्वादिति भावः। कर्ममीमांसोपसंहार इति उपसंहारशब्देन कर्मकर्तव्यतायां मीमांसायाः तात्पर्यप्रदर्शनद्वारेण प्रामाण्यं सूच्यते। (बहिरर्थाप्रतिपादकत्वात् आत्मन उपसानायां कर्ममीमांसाया अपद्वारत्वमेव।) चार्वाकमतसमुत्थान चेति। उत्थानशब्देन तस्य (चार्वाकदर्शनस्य) उत्थानमेव न तूपसंहारः। अतो न तात्पर्यं तन्मतप्रतिपत्तृणां ब हस्पतिप्रभ तीनाम्। अतो न तस्य शास्त्रत्वं किन्तु तदाभासत्वमेव सूचितम्। "अत एव बहिरर्थमाश्रित्य ब हस्पतिनापि चार्वाकमतं समुत्थापितं "नाप्रत्यक्षं प्रमाणमित्यादिना" इति भावः। एतेन शास्त्राभासत्वं बोध्यम्। अपद्वारो पि बहिरर्थप्रतिपादकत्वात्। तत्प्रतिपादनार्थम् "परा चि खानि" इत्यादि। प्रथमं बहिरर्था एव प्रतिभासन्ते इत्येतत्प्रतिपादनार्थिकाः 'परा चि खानि' इत्यादि श्रुतयः सन्ति।

"परा चि खानि व्यत णत् स्वयंभूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
न कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आव त्तचक्षुरम तत्वमिच्छन्।"

यस्मात् स्वयंभूः ब्रह्मा (खानि इन्द्रियाणि), परा चि परमाणुदर्शन– फलानि अस जन् नात्मदर्शनफलानि, तस्मात्तानि द्रष्टव्यानि इत्यभिमतानि इत्यर्थः।

नन्वेतावता (श्रुत्या) चार्वाकमतमेव आयातम्, अत आह – **तद्धानार्थम् परं कर्मभ्य इत्यादि** इति। ताद गवस्थाहानार्थम् बाह्येन्द्रियेभ्यो भिन्न आत्मा नास्तीति खण्डयितुं कर्मभिः मुत्युम षयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः।

"**अथापरे मनीषिणः परं कर्मभ्यो म तत्वम् आनशुः**" इत्यादिश्रुतयः मोक्षप्रतिपादिकाः सन्ति आत्मोपासिकाश्च। **"तमेवं विदित्वातिम त्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यते अयनाय**" इति श्रुतिः प्रमाणम्। आत्मानमेव ज्ञात्वा मोक्षं प्राप्नोति। तस्माद् भिन्नो मोक्षोपायो (मोक्षमार्गो) न विद्यते। पूर्वमात्मा न भासते किन्तु बहिरर्था भासन्ते इत्युक्तम्। इदानीम् अर्थाकारात्मा भासते इत्युच्यते। आत्मार्थाकारः (आत्माभासः) यमाश्रित्य त्रैदण्डिकमतोपसंहारः, योगाचारसमुत्थान च तत्प्रतिपादनार्थम् **"आत्मैवेदं सर्वम्"** इत्यादि, तद्धानार्थम् **"अगन्धमरसम्**" इत्यादि इति। अर्थाकार इति। अर्थस्य आकारमात्रमात्मा अध्यस्तं प्रकाश्यते न तु कार्यार्थो पीत्यर्थः।

मिश्रास्तु – ननु व्यासब हस्पत्योः अत्र कीद शो वेदभागो मूलम् इत्यत आह – **आत्मैवे**ति। इदं नामरूपस्कन्धप चात्मकं विश्वमेव आत्मा (न तु ततो भिन्न आत्मा इति बाह्यार्थवादिबौद्धः)। तत्र आत्मपदं ज्ञानपरतया ग हीतं **योगाचारेण** व्यामोहतः। आत्मैव तत्त्वतो ज्ञेय इत्युपचारमाश्रित्य त्रिदण्डिमतम् उपसंहृतं व्यासेनेति वदन्ति।

अत्रापि उपसंहारसमुत्थानयोः पूर्ववदेव अर्थो ज्ञेयः। अथ तर्हि सिद्धं

योगाचारमतमित्यत आह – **तद्धानार्थम् "अगन्धमरसम्" इत्यादि** इति। न नामरूपस्कन्धप चात्मकः, न वा ज्ञानरूप आत्मेति बोधनाय **"अगन्धमरसम्"** इत्युक्तं वेदे। ज्ञानाकारा एवार्थाः न तु ज्ञानाद् भिन्नाः इति **योगाचारा** वदन्ति। अगन्धेति कथनेन उभौ बौद्धौ परास्तौ। परमार्थतः अर्थाकारशून्य आत्मेति तदर्थः। पारमार्थिकगन्धाद्यन्योन्याभाववत्तया आत्मनः प्रतिपादनादिति **मिश्राः**।

अथार्थाभावः, यमाश्रित्य वेदान्तद्वारमात्रोपसंहारः शून्यनैरात्म्यसमुत्थान च, तत्प्रतिपादनार्थम् "असदेवेदमग्र आसीत्" इत्यादि, तद्धानाय "अन्धंतमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जना" इत्यादि। **अर्थाभावः** इत्यत्र **ततो र्थाभाव** इति **नारायण**सम्मतपाठः। स्वरूपतः आकारतश्च अर्थाभावो भासते इत्यर्थः। यम् अर्थाभावम् आश्रित्य वेदान्तद्वारमात्रोपसंहारः। अर्थाभावे सिद्धे तद्द्वारा अद्वैतसिद्धिरित्यर्थः। प्रप चमिथ्यात्वदर्शनादेव आत्मनो पि प्रप चान्तर्गतत्वम् अभिमानिभिः **दिगम्बरा**–दिभिः (**शून्यवादिमाध्यमिकेन** च) सिद्धान्तीकृतत्वात् इति **मिश्रा** वदन्ति। **वेदान्तद्वारेति**। द्वारशब्देन नानार्थाभावे तात्पर्यम्। शास्त्रस्य द्वारमात्रं तत्, केवलात्मज्ञाने निष्प्रप च आत्मा ध्येयो मुमुक्षुभिः इत्यत्र तात्पर्यमिति सूचितम्। सत्यपि अर्थे तदभावप्रतिपादकत्वात् शास्त्राभासत्वं वेदान्तस्य। आत्मनः प्रतिपादकत्वात् कथ चिच्छास्त्रत्वमपि इत्युपसंहारशब्देन प्रतिपादितम्। यदि वैराग्याय अर्थाभाव इत्युक्तं वेदान्ते, तदा शास्त्रत्वमेव। किन्तु अर्थाभावः किं वैराग्याय, वस्तुतो र्थो नास्त्येवेति सन्दिग्धत्वात्, तस्य शास्त्राभासत्वमपि संभवति।

अर्थाभावमाश्रित्य शून्यत्वनैरात्म्यसमुत्थान च इत्यनेन **माध्यमिकदिगम्बरादि**-निर्मितशास्त्राणामशास्त्रत्वं समुत्थानेन प्रतिपाद्यते। आत्मापि अर्थः। अर्थाभावात् आत्मा नास्ति। यथा घटाद्यर्थाः न सन्ति, तथा आत्मापि नास्ति, उभयत्र अर्थत्वाविशेषात्। आत्मनो र्थान्तरस्य च अभावप्रतिपादनार्थम् "असदेव सौम्येदमग्र आसीद्" इत्यादि वेदवाक्यम् अस्ति। हे सौम्य! अग्रे पि पूर्वे पि इदं जगत् असदेव, न परमार्थसत् किन्तु मायिकमात्मनि ब्रह्मणि अध्यस्तमिति वेदान्तिमते। असदेव शून्यमेव इदं जगत् अग्रे पि आसीदिति शून्यवादिमते बोध्यम्। "**धाता यथापूर्वम् अकल्पयद्**" इति पूर्वश्रुत्या अग्रे पि मायिकत्वं शून्यत्वं च जगदिति मतभेदेन योज्यम्। शून्यवादि–नैरात्म्यवादिमतहानाय ये केचन आत्महनो जना अन्धंन्तमः नरकं प्रविशन्त्यादि श्रुतयः सन्ति।

सांख्यशास्त्रस्याभासं दर्शयति – **ततो विवेकः, यमाश्रित्य सांख्य-मतोपसंहारः, शक्तिसत्त्वसमुत्थान च। तत्प्रतिपादनार्थ च "प्रकृतेः परस्तात्" इत्यादि। तद्धानाय "नान्यत् सत्" इत्यादि।** अर्थात् आत्मनो विवेकः = पार्थक्यम्। अर्थात् आत्मनो विवेकमाश्रित्य सांख्यमतोपसंहारः "शक्तिसत्त्वसमुत्थान च" शक्तेः सत्त्वमस्तीति समुत्थानम्। वस्तुतः शक्तेः अभावात् समुत्थानमित्युक्तम्।

सांख्यमतप्रतिपादनार्थ च अर्थात् आत्मनो विवेकः भेदः, तस्य प्रतिपादनाय "प्रकृतेः परस्ताद्" इत्यादिश्रुतिः। यदा आत्मनः प्रकृतेः भेदज्ञानं तदा स आत्मा युक्तः, अभेदज्ञाने च तस्य संसारो भवतीति विज्ञेयम्। प्रकृतेः मूलप्रकृतेः परस्तात्, परः भिन्नः आत्मा इति श्रुत्यर्थः। तद्धानाय सांख्यमतहानाय "नान्यत् सत्" इत्यादि (श्रुतिः)। आत्मनो भिन्नं प्रकृत्याख्यं तत्त्वं न सत्। न सत्तया आत्मवत् ज्ञातव्यम्। अतस्ततो विवेको पि हातव्य इति। एव च सांख्यशास्त्रस्य मोक्षोपयोगित्वाभावेन अग्रिमश्रुतिविरोधेन आभासत्वं सूचितम्। न वा शक्तिः सिद्ध्यति, प्रकृतेः खण्डनात्।

अद्वैतवादिवेदान्तशास्त्रस्य आभासत्वं दर्शयितुमाह – **ततः केवल आत्मा प्रकाशते यमाश्रित्य अद्वैतमतोपसंहारः। तत्प्रतिपादनार्थं "न पश्यतीत्याहुरेकी-भवति"[१४] इत्यादि। तद्धानार्थं "नाद्वैतं नापि च द्वैतम्" इत्यादि** इति। नान्यत् सत् इति श्रुत्या प्रकृतेः पर आत्मेति च विशेषरूपायाः प्रकृतेः खण्डनात् केवलः आत्मा एव स्वरूपतः प्रकाशते इत्यायातम्। इदमाश्रित्यैव अद्वैतमतोपसंहारो भवति। एतन्मतप्रातिपादनार्थम् अद्वैतप्रतिपादनार्थं वा "न पश्यति" इत्यादि श्रुतिः। आत्मव्यतिरिक्तं न पश्यति। योग्यानुपलब्ध्याा आत्मभिन्नपदार्थो नास्ति। द्रष्टव्यं हि सर्वम्। आत्मना एकीभवति, आत्मैव द श्यते इत्यर्थः। एव च आत्मभिन्नो न को पि पदार्थः इति सिद्धम्। तत्खण्डनाय "नाद्वैतं नापि द्वैतम्" इति। अद्वितीयात्मप्रतिभासावस्थापि हेया इत्याभिप्रायः। एव च तच्छात्रस्यापि आवश्यकत्वमेव सिद्ध्यति।

चरमवेदान्तमतं दर्शयति – **ततः समस्तसंस्काराभिभवात्, केवलो पि न विकल्पते, यमाश्रित्य चरमवेदान्तोपंसहारः। तत्प्रतिपादनार्थं "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादि। ततः समस्ते**ति। द्वैताद्वैतविपरीतावस्थया द्वैताद्वैतसंस्काराभिभवात् शब्दादिस्मरणाभावात् केवलो पि आत्मा न ग ह्यते, किन्तु निर्विकल्पकेनैव (प्रकारतादिशून्यज्ञानेनैव) प्रतिभासते। **यमाश्रित्य चरमे**ति। यां चरमावस्थाम् आश्रित्य चरमावस्थाप्रतिपादकत्वात् चरमवेदान्तोपसंहार इति। अथ सर्वविकल्पशून्यम् अवाङ्मनसगोचरम् आत्मस्वरूपं ब्रह्मेति, आत्मविषयनिर्विकल्प–कावस्था पूर्वावस्थावत् न हेया, मोक्षप्रत्यासत्तेरिति कथयति – **सा च अवस्था न हेया, मोक्षनगरगोपुरायमाणत्वात्** इति। सा = आत्मविषयकनिर्विकल्पकावस्था न त्याज्या अपि तु रक्षणीया, कुत इत्यत आह – **मोक्षे**ति। मोक्षस्वरूपं यन्नगरं तस्य गोपुरम् नगरप्रवेशद्वारम्, तद् इवाचरति निर्विकल्पकमात्मविषयकं ज्ञानम्।

ननु **न्यायदर्शने** सकलविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष इति वर्तते। तथा च मोक्षावस्थायां कथं निर्विकल्पकज्ञानस्य सत्त्वमित्याशङ्क्याह – **निर्वाणं तु तस्य स्वयमेव** इति। यथा वह्नेर्दाह्यं काष्ठादिकं विनाश्य स्वयमेव निर्वाणम्, एवं ज्ञानस्य निर्विकल्पकस्य आत्मविषयकस्य स्वयमेव निर्वाणम् नाश इति। उपसंहरति – **यमाश्रित्य न्यायमतोपसंहारः, तत्प्रतिपादनार्थम्, "अथ यो निष्काम आत्मकामः स ब्रह्मैव**

सन् ब्रह्माप्येति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति तत्रैव समवलीयन्ते" इत्यादीनि इति। निःशेषविशेषगुणोच्छेदलक्षणाम् आत्मनो याम् अवस्थाम् आश्रित्य न्यायमतोपसंहारः। उपसंहारशब्देन न्यायस्य ताद शमोक्षे तात्पर्यप्रदर्शनद्वारेण प्रामाण्यं सूच्यते।

ननु मीमांसादिशास्त्राणाम् आस्तिकप्रणीतत्वेन तत्खण्डनं विद्वेषमूलकं प्रतिभाति। न हि किल सज्जनाः स्वसद शान् जनान् निन्दन्तीति चेत्? न। वेदस्य कुत्र तात्पर्यम्, ऐहिके र्थे पारलौकिके वा मोक्षे इति सन्देहनिवारणाय तन्निर्णयाय च तस्य आवश्यकत्वात्। अन्यथा वेदम् आश्रित्य प्रवर्तकानां शास्त्राणां विमतप्रतिपादकानां प्रामाण्येन ग हीतानां विरुद्धकोटिस्थापकत्वेन सन्देहानुच्छेदापत्त्या प्रमेयनिश्चयानुपपत्तेः। संशयान्यज्ञानस्यैव निश्चयत्वात्। अतस्तन्मूलं वेदमुद्ध त्य तत्तत्सिद्धान्तं दर्शयित्वा तत्तच्छास्त्रप्रतिपादितप्रमेयानां तत्त्वानाम् अतत्त्वप्रतिपादनाय तत्तन्मतोपयोगी वेदानां बोधनाय तद् विरुद्धप्रतिपादकवेदान् दर्शयित्वा तत्तच्छात्रस्याभासत्वप्रदर्शनस्य आवश्यकत्वात्। तत्र न विद्वेषः, किन्तु तत्त्वप्रदर्शनाय तथा कथनम् उचितम्।

ननु वेदानां परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेन अप्रामाण्यम् उन्मत्तप्रलपितं चेति चेत्? न। शाखा–अरुन्धतीन्यायेन "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते" इत्यनेन वा तथाप्रतिपादकत्वेन वेदस्य चरमे तात्पर्येण तथा प्रतिपादकत्वाद–प्रामाण्याभावात् उन्मत्तप्रलपितत्वाभावात्। वेदस्य कुत्र तात्पर्यमिति अनिश्चित्यैव वेदा अप्रमाणम्, उन्मत्तप्रलपिता वेदा इति वचनमश्रद्धेयम्। ....[१४] किन्तु जना भ्रमे न पतेयुः इत्युद्देश्येन तत्तन्मतखण्डनं कृतमिति लोकदयैव मूलं तत्रेति बोध्यम्। विमतखण्डनं विना सिद्धान्तप्रतिपादकन्यायशास्त्रे लोकोपकारकत्वं सिद्धान्तप्रतिपादकत्वं च न सिद्ध्येत्। एकदेशिकत्व च स्यात्। तद्वारणाय तथाभिधानं बोध्यमिति दिक्।

न्यायमतप्रतिपादनार्थम् **अथ यो निष्काम** इत्यादीनि वेदान्तवाक्यानि सन्ति। यः कामनारहितः प्राप्तकामः आत्मकामः सः ब्रह्मसाद श्यात् ब्रह्मैव ब्रह्मण अभिन्न एव सन् ब्रह्म प्राप्नोति। तस्य मुक्तस्य जनस्य प्राणा नोत्क्रामन्ति न गच्छन्ति, किन्तु तत्रैव ब्रह्मण्येव समवलीयन्त इति। ब्रह्मणो निष्कामत्वेन आप्तकामत्वेन च साद श्यमत्र बोध्यम्।

अतएव उपास्यमानैः ईप्सितात्मप्राप्तिविरोधिन्यो पि काश्चिद् अवस्थाः संभवन्ति। तस्मान्मोक्षनगरं प्रवेष्टुं योगाभ्यासकामो वा एता एव अवस्थाः, अपद्वाराणि विहाय द्वारैरेव अहेयतया उक्तावस्थाविशेषेण (ब्रह्म निर्विकल्पकेन भासते इत्यवस्थाविशेषेण) प्रविशेदित्याह – **तस्मात् अभ्यासकामो प्यपद्वाराणि विहाय पुरद्वारं प्रविशेत्। यतो मार्गविमार्गसम्मार्गसम्मोहमाशङ्कमानैरुच्यते "लक्ष्येण धनुषो योग" इति**। कुत एतद् इत्याह – **यत** इति। योगशास्त्रे पि योगाभ्यासिनो बहुभिर्मार्गैः संसर्गात् मार्गसंमोहमाशङ्क्य तत् परिहाराय "लक्ष्येण धनुषां योगो वारणस्य असम्मत" इत्यादिना प्रत्यूहनिरसनद्वारेण उपलक्षणभूतेन सर्व–

प्रकारकरक्षोक्तेरित्यर्थः। स्वप्रत्यूहनिवारणाय लक्ष्येण = ध्येयेन सह धनुषो यथा योगः = संबन्धः तथा कर्तव्यः। स्वध्येयस्य कुमार्गात् रक्षणीयः।

बहुतरपरतन्त्रप्रान्तरध्वान्तभीत-
स्तिमितपथिकरक्षासार्थवाहेन यत्नात्।
तदिदमुदयनेन न्यायलोकागमानां
व्यतिहतिमवधूय व्यजितं वर्त्म मुक्तेः।।१।।

नास्य श्लाघामकलितगुणः पोषयन् प्रीयते नः
को न्धैश्चित्रस्तुतिशतविधौ शिल्पिनः स्यात् प्रकर्षः।
निन्दामेव प्रथयतु जनः किन्तु दोषान्निरूप्य
प्रेक्षांस्तथ्यस्खलितकथनं प्रीणयेदेव भूयः।।२।।

इत्याचार्योदयनकृत आत्मतत्त्वविवेकः सम्पूर्णः।

इदानीं प्राधान्येन प्रकरणप्रतिपाद्यम् अर्थम् ग ह्णन् प्रकरणप्रणेत त्वेन स्वग्रन्थे स्वनाम्नि **उदयनाचार्ये**ति नाम्नि (उदयनाचार्य शब्दप्रतिपाद्ये) भास्करस्य साधर्म्यं प्रदर्शयन् निबध्नाति –

बहुतरपरतन्त्रप्रान्तरध्वान्तभीति-
स्तिमितपथिकरक्षासार्थवाहेन यत्नात्।
तदिदमुदयनेन न्यायलोकागमानाम्,
व्यतिहतिमवधूय व्यजितं वर्त्म मुक्तेः।१।

उदयनेन = उदयनाचार्येण इदम् **आत्मतत्त्वविवेक**नामकं ग्रन्थम् व्यजितमित्यनेन संबन्धः। न्यायशास्त्राण्येव लोकाः = जनाः, प्रकाशा वा, तद्रूपा ये आगमाः तेषां व्यतिहतिम् प्रतिघातम् अवधूय = निराकृत्य, मुक्तेः मोक्षस्य, वर्त्म = पन्थाः, व्यजितम् = प्रकाशितम्। बहूनि यानि परतन्त्राणि शास्त्राणि सन्ति तान्येव प्रान्तरध्वान्तानि तमांसि अन्धकाराः तेभ्यः या भीतिः = भयः तेन स्तिमिताः अभिभूताः पथिकाः, तेषां या रक्षा, तस्याः सार्थवाहेन कारकेन अर्थसमूहेन कारणेन अथवा उदयनेन, यत्नात् परिश्रमात् इदं ग्रन्थं मुक्तिवर्त्म व्यजितमित्यनेन संबन्धः। सूर्यो पि स्वप्रकाशेन अन्धकारात् भीतान् पथिकान् रक्षति **उदयनाचार्यो** पि तथैवेति। यथा सूर्यः पन्थानं प्रकाशयति तथा **उदयनाचार्यो** पि मोक्षमार्गं प्रकाशयति इति मार्गप्रकाशकत्वेन उभयोः साम्यम्। उदयतीति उदयनः सूर्यः **उदयनाचार्य**श्च व्युत्पत्तिलभ्यो योगार्थः। स्वसमये उदयः सर्वम् अस्य स्वरूप आसीत्।१।

इदानीम् अस्य प्रकरणस्य (ग्रन्थस्य) गुणदोषपरीक्षार्थं गुणदोषौ अनाकलय्य (गुणस्य दोषस्य च विचारम् अकृत्वा) केवलं श्लाघां कुर्वन् नः (अस्माकम्) प्रीतये न

भवति किन्तु यथार्थरूपेण दोषानुसन्धानेन निन्दामेव प्रथयन् (कुर्वन्) अस्मत्प्रीणनाय (प्रीतये) भवतीत्याह –

नास्य श्लाघामकलितगुणः पोषयन् पीतये नः
को न्धैश्चित्रस्तुतिशतविधौ शिल्पिनः स्यात् प्रकर्षः।
निन्दामेव प्रथयतु जनः किन्तु दोषान् निरूप्य
प्रेक्ष्यांस्तथ्यस्खलितवचनं प्रीणयेदेव भूयः।२।

अस्य ग्रन्थस्य अकलितगुणः अकल्पिताः अविचारिताः गुणाः येन सः श्लाघाम् अस्य ग्रन्थस्य प्रशंसाम् पोषयन् कुर्वन् नः = अस्माकं प्रीतये = सुखाय न भवति भविष्यति च। अन्धैः नेत्रविहीनैः चित्रस्य स्तुति(प्रशंसा)शतविधौ (अनेकवारकृतौ) शिल्पिनः = चित्रनिर्मातुः कः प्रकर्षः स्यात्? उत्कर्षजनकः स्यात्? न स्यादिति भावः। यो न्धः चित्रमद ष्ट्वैव प्रशंसति तस्य प्रशंसा निष्फला, चित्रनिर्मातुः प्रकर्षाजनकत्वात्। किन्तु अस्मिन् ग्रन्थे ये दोषाः सन्ति तान् प्रेक्ष्यान् दोषान् निरूप्य विचार्य जनः प्रेक्षकः निन्दाम् एव प्रथयतु करोतु। तस्य = प्रेक्षकस्य स्खलितवचनं मां भूयः अतिशयेन प्रीणयेदेव। अस्य ग्रन्थस्य गुणान् अविचार्य प्रशंसाकर्तुः प्रशंसा न सुखकरी किन्तु दुःखकर्येव। अस्य ग्रन्थस्य दोषान् विचार्य निन्दा सुखकरी। इदं ग्रन्थं मम निर्मितं सम्यग् द ष्ट्वा यो दोषमुद्भावयतीति स्वदोषं ज्ञात्वा आनन्दकरी निन्दा भविष्यति। वस्तुतः मया यत्नेनेदं ग्रन्थं रचितं, नात्र दोषः लेशतो पि वर्तते इति ध्वन्यते। तेन स्वग्रन्थस्योपादेयत्वम् लभ्यते।

इति उदयनाचार्यकृतात्मतत्त्वविवेकस्य
विवेकार्थप्रकाशिका नाम संक्षिप्ता व्याख्या समाप्ता।।

---

१. न च स्म तिरियम् इति पाठः (१९८३ वाराणसीमुद्रितपुस्तके, प. ३३७)।

२. बाह्यप्रत्यक्षत्वनिव त्तावेव इति पाठः (१९८३ वाराणसीमुद्रितपुस्तके, प. ३३६)।

३. **अचेतनमप्यवान्तरजातीयं ज्ञानोपादानं भवेत्** इति पाठः (१९८३ वाराणसीमुद्रितपुस्तके, प. ३५२–५३)।

४. **उपपद्यते** इति पाठः (१९८३ वाराणसीमुद्रितपुस्तके, प. ३५७)।

५. **चरमक्षणानामकिञ्चित्करणे** इति पाठः (१९८३ वाराणसीतः मुद्रितपुस्तके, प. ३५६)।

६. **सन्दधानस्य स्फटिकस्येव विज्ञानस्य विषयोपधानमपगम्य** इति पाठः (१९८३ वाराणसीतः मुद्रितपुस्तके, प. ३६६)।

७. **संस्कारान्तरसन्ताने पि स्म तिप्रसङ्गात्** इति पाठः (१९८३ वाराणसीतः मुद्रितपुस्तके, प. ३६८)।

८. "**सर्वविषयत्वात्तस्य किं विषयनियमार्थेन ज्ञानेनेति चेत्? न। तस्य स्वरूपेणार्थप्रवणत्वाभावात् भावे वा ज्ञानत्वप्रसङ्गादित्युक्तम्**"। अयं पाठः अधिको द श्यते (१६८३ वाराणसीतः मुद्रितपुस्तके, प. ३६०), सो त्र न व्याख्यातः।

९. **जीवनयोनि-प्रयत्नवत्** इति पाठः (१६८३ वाराणसीतः मुद्रितपुस्तके, प. ३६०)।

१०. **अद श्योपाध्यभावनिश्चयोपायाभावात्** इति पाठः (१६८३ वाराणसीतः मुद्रितपुस्तके, प. ३६१)।

११. **देहस्यानुपाधित्वे तस्याप्यनुपाधित्वात्, तयोः** इति अधिको पाठः (१६८३ वाराणसीतः मुद्रितपुस्तके, प. ३६७)।

१२. **कार्यत्वमादाय वा सन्देहः** इति पाठान्तरम्

१३ **"न पश्यतीत्याहुरेकीभवति"** इति पाठः वाराणसीतः मुद्रितपुस्तके, प. ४७०–४७१।

१४. अत्रैका पङ्क्तिः कीटैः बल्मिकैर्वा भुक्ता इत्यतः पठितुं ज्ञातुं वा न शक्यते। विदुषामनुमेया सेति परित्यज्यत अस्माभिः।